भट्टाकलंकदेवविरचितम्

तत्त्वार्थवार्तिकम्

[राजवार्तिकम्]

हिन्दीसारसहितम्

प्रथमो भागः

सम्पादक

(स्व०) प्रो० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : संस्कृत ग्रन्थांक १०

भट्टाकलंकदेवविरचितम्

तत्त्वार्थवार्तिकम्

[राजवार्तिकम्]

हिन्दीसारसहितम्

प्रथमो भागः

सम्पादक
(स्व०) प्रो० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

माघ वीर नि० सं० २५०८ : वि० सं० २०३८ : मार्च १९८२
द्वितीय आवृत्ति, मूल्य ५० रु०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवी की पवित्र स्मृति में

स्व० साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा संस्थापित

एवं

उनकी धर्मपत्नी स्वर्गीया रमा जैन द्वारा संपोषित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तमिल आदि प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन-भण्डारों की सूचियां, शिलालेख संग्रह, कला एवं स्थापत्य, विशिष्ट विद्वानों के अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहे हैं।

ग्रन्थमाला सम्पादक

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान कार्यालय : बी/४५-४७, कनॉट प्लेस, नयी दिल्ली-११०००१

मुद्रक : जैयद प्रेस, बल्ली मारान, दिल्ली-११०००६

स्थापना : फाल्गुन कृष्ण ९, वीर नि० २४७०; विक्रम सं० २०००; १८ फरवरी, १९४४

सर्वाधिकार सुरक्षित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय ज्ञानपीठ : संस्थापना 1944

मूल प्रेरणा
दिवंगता श्रीमती मूर्तिदेवी जी
मातुश्री श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन

अधिष्ठात्री
दिवंगता श्रीमती रमा जैन
धर्मपत्नी श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

JNANPITH MURTIDEVI JAINA GRANTHAMALA : SANSKRIT GRANTHA NO. 10

TATTVĀRTHA-VĀRTIKA

of

ŚRĪ AKALAṄKADEVA

Edited with Hindi Translation, Introduction, appendices,
variant readings, comparative notes etc.

by

(Late) Prof. MAHENDRA KUMAR JAIN, Nyayacharya

BHARATIYA JNANPITH PUBLICATION

MAGHA, VIR SAMVAT 2508 : VIKRAMA SAMVAT 2038 : MARCH, 1982.
Second Edition : Price Rs. 50/-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

BHARATIYA JNANPITH
MURTIDEVI JAINA GRANTHAMALA

FOUNDED BY
LATE SAHU SHANTI PRASAD JAIN
IN MEMORY OF HIS LATE MOTHER SHRIMATI MURTIDEVI
AND
PROMOTED BY HIS BENEVOLENT WIFE
LATE SHRIMATI RAMA JAIN

IN THIS GRANTHAMALA CRITICALLY EDITED JAINA AGAMIC, PHILOSOPHICAL PURANIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRAKRIT, SANSKRIT, APABHRAMSA, HINDI, KANNADA, TAMIL, ETC., ARE BEING PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

ALSO BEING PUBLISHED ARE CATALOGUES OF JAINA-BHANDARAS, INSCRIPTIONS, ART AND ARCHITECTURE, STUDIES BY COMPETENT SCHOLARS AND POPULAR JAINA LITERATURE.

General Editors
Siddhantacharya Pt. Kailash Chandra Shastri
Dr. Jyoti Prasad Jain

Published by
BHARATIYA JNANPITH
Head Office : B/45-47, Connaught Place, New Delhi-110001
Printed at Jayyad Press, Balli Maran, Delhi-110006

Founded on Phalgun Krishna 9, Vira Sam. 2470, Vikrama Sam. 2000, 18th Feb., 1944 : All Rights Reserved.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रधान सम्पादकीय

आचार्य भट्टाकलंक देव विरचित तत्त्वार्थवार्तिक का प्रथम संस्करण दो जिल्दों में भारतीय ज्ञानपीठ से १९५३-५७ में प्रकाशित हुआ था। स्व. पं. महेन्द्रकुमार जैन ने इसका सम्पादन किया था।

आचार्य भट्ट अकलंक एक बहु प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान थे। उनके सम्बन्ध में हमने न्यायकुमुद-चन्द्र के प्रथम भाग की प्रस्तावना में विस्तार से प्रकाश डाला है। स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन के पश्चात् उन्हीं की प्रभावक कृतियों ने जैन वाङ्मय को समृद्ध बनाया था। उन्हें जैन न्याय के सर्जक कहे जाने का सौभाग्य प्राप्त है। उनके नाम के आधार पर जैन न्याय को अकलंक-न्याय भी कहा गया है।

प्रभाचन्द्र के गद्य कथाकोश, ब्रह्मचारी नेमिदत्त के कथाकोश और कन्नड़ भाषा के 'राजाबलि-कथे' ग्रन्थों में अकलंक की कथाएँ मिलती हैं। 'कथाकोश' के अनुसार, अकलंक की जन्मभूमि मान्यखेट थी और वहाँ के राजा प्रभुतुंग के मन्त्री पुरुषोत्तम के वे पुत्र थे। अकलंक के तत्त्वार्थवार्तिक के प्रथम अध्याय के अन्त में एक श्लोक पाया जाता है। उसमें उन्हें लघुहव्व नृपति का पुत्र कहा है। इसमें कोई संदेह नहीं, कि वे दक्षिण भारत के निवासी थे। कथाओं में दिये गये नगरों के नामों से भी इसका समर्थन होता है।

'राजाबलिकथे' आदि के आधार पर राईस सा. ने अकलंक देव का जीवन वृत्तान्त लिखा था।[1] उन्होंने लिखा है कि जिस समय कांची में बौद्धों ने जैन धर्म की प्रगति को रोक दिया था उस समय अकलंक निकलंक ने गुप्तरीति से बौद्धगुरु से पढ़ना शुरू किया। गुरु को उन पर सन्देह हो गया। और उन्हें मारने निश्चय किया तो दोनों भाग निकले। निकलंक मारे गये और अकलंक बच गये। उन्होंने दीक्षा लेकर सुधापुर के देशीयगण का आचार्य पद सुशोभित किया। उस समय अनेक मतों के आचार्य बौद्धों से वाद-विवाद में हारकर दुःखी हो रहे थे। उनमें से वीरशैव सम्प्रदाय के लोग आचार्य अकलंक देव के पास आये और उनसे सब हाल कहा। इस पर अकलंक देव ने बौद्धों पर विजय प्राप्त करने का निश्चय किया।

शास्त्रार्थ में हारने पर बौद्ध बहुत क्रुद्ध हुए। उन्होंने अपने राजा हिमशीतल को इस बात के लिए उत्तेजित किया कि अकलक को इस शर्त के साथ उनसे वाद करने को बुलाया जाये कि जो कोई वाद में हारे उसके सम्प्रदाय के सारे लोग कोल्हु में पिलवा दिये जायें। उस वाद में जैनों की विजय हुई। राजा ने बौद्धों को कोल्हु में पिलवा देने की आज्ञा दे दी, परन्तु अकलंक की प्रार्थना पर वे सब बौद्ध सीलोन के एक नगर कैंडी को निर्वासित कर दिये गये।

हिमशीतल की सभा में अकलंक के शास्त्रार्थ और बौद्धों की देवी तारा की पराजय का उल्लेख श्रवणबेलगोला की मल्लिषेण प्रशस्ति में भी है। उसमें राजा साहसतुंग की सभा में अकलंक के जाने और वहाँ आत्मश्लाघा करने का भी वर्णन है। प्रशस्ति के श्लोक इस प्रकार हैं—

> तारा येन विनिर्जिता घटकुटी - गूढावतारा समं
> बौद्धैर्यो धृत-पीठ-पीडित-कुदृग्देवार्थ-सेवांजलिः ।
> प्रायश्चित्तमिवांघ्रिवारिज-रजः स्नानं च यस्याचर-
> द्दोषाणां सुगतस्स कस्य विषयो देवाकलङ्कः कृती ॥

---

१ जैन हितैषी, भाग ११, अंक ७-८ में भट्टाकलंक नामक लेख।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चूर्णि: —यस्येदमात्मनोऽनन्यसामान्यनिरवद्यविद्याविभवोपवर्णनमाकर्ण्यते—

राजन् साहसतुंग सन्ति बहवः श्वेतातपत्राः नृपाः
किन्तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभाः ।
तद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वादीश्वरा वाग्मिनो
नानाशास्त्रविचारचातुरधियः काले कलौ मद्विधाः ॥१॥
राजन् ! सर्वारिदर्पप्रविदलनपटुस्त्वं यथात्र प्रसिद्ध-
स्तद्वत्ख्यातोऽहमस्यां भुवि निखिलमदोत्पाटने पण्डितानाम् ।
नोचेदेषोऽहमेते तव सदसि सदा सन्ति सन्तो महान्तो
वक्तुं यस्यास्ति शक्तिः स वदतु विदिताशेषशास्त्रो यदि स्यात् ॥२॥
नाहङ्कारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया ।
राज्ञः श्री हिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो
बौद्धौघान् सकलान् विजित्य सुगतः (स घटः) पादेन विस्फोटितः ॥६॥

अर्थात्—'जिसने गुप्तरूप से घट में अवतारित तारादेवी को बौद्धों सहित परास्त किया, सिंहासन के भाग से पीडित मिथ्यादृष्टि देवों ने भी जिसकी सेवा की, और मानो अपने दोषों का प्रायश्चित करने ही के लिए बौद्धों ने जिसके चरण-कमल की रज में स्नान किया, उस कृती अकलंक की प्रशंसा कौन कर सकता है ?'

सुना जाता है कि उन्होंने अपने असाधारण निरवद्य पांडित्य का वर्णन इस प्रकार किया था—

'राजन् साहसतुंग ! श्वेत छत्र के धारण करने वाले राजा बहुत से हैं किन्तु आपके समान रण-विजयी और दानी राजा दुर्लभ हैं । इसी तरह पण्डित तो बहुत से हैं किन्तु मेरे समान नानाशास्त्रों के जानने वाले कवि, वादी औन वाग्मी इस काल में नहीं हैं । राजन्, जिस प्रकार समस्त शत्रुओं के अभि-मान को नष्ट करने में तुम्हारा चातुर्य प्रसिद्ध है उसी प्रकार विद्वानों के मद को जड़-मूल से उखाड़ फेकने में मैं पृथ्वी पर ख्यात हूं । यदि ऐसा नहीं है तो आपकी सभा में बहुत से विद्वान मौजूद हैं उनमें से यदि किसी की शक्ति हो और वह समस्त शास्त्रों का पारगामी हो तो मुझ से शास्त्रार्थ करे ।

राजा हिमशीतल की सभा में समस्त विद्वानों को जीत कर मैंने तारादेवी के घड़े को पैर से फोड़ दिया । सो किसी अहंकार या द्वेष की भावना से मैंने ऐसा नहीं किया, किन्तु नैरात्म्यवाद के प्रचार से जनता को नष्ट होते देखकर करुणा बुद्धि से ही मुझे वैसा करना पड़ा ।'

उक्त प्रशस्ति का 'तारा येन विनिर्जिता' आदि श्लोक तो प्रशस्तिकार का ही रचा हुआ प्रतीत होता है । किन्तु शेष तीन पद्य पुरातन हैं और प्रशस्तिकार ने उन्हें जनश्रुति के आधार पर प्रशस्ति में सम्मिलित किया है । इससे कथाओं में वर्णित अकलंक के शास्त्रार्थ की कथा-प्रशस्ति-लेखन का समय शक सं. १०५० से भी प्राचीन प्रमाणित होता है ।

श्रवणबेलगोल के एक अन्य शिलालेख में भी अकलंक का स्मरण इस प्रकार किया गया है—

भट्टाकलङ्कगोऽकृत सौगतादिदुर्वाक्यपङ्कैः सकलङ्कभूतम् ।
जगत्स्वनामेव विधातुमुच्चैः सार्थं समन्तादकलङ्कमेव ॥२१॥

—विन्ध्यगिरि पर्वत का शिलालेख नं. १०५ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात्—बौद्ध आदि दार्शनिकों के मिथ्या उपदेश रूपी पंक से सकलंक हुए जगत् को मानो अपने नाम को सार्थक बनाने ही के लिए भट्टाकलंक ने अकलंक कर दिया।

कुछ ग्रन्थकारों ने भी अकलंक को बौद्धविजेता के रूप में स्मरण किया है। वादिराज सूरि अपने 'पार्श्वनाथचरित' (शक सं. ९४८) में लिखते हैं—

'तर्कभूवल्लभो देवः स जयत्यकलंकधीः।
जगद् द्रव्यमुषो येन दण्डिताः शाक्यदस्यवः॥'

अर्थात्—वे तार्किक अकलंक जयवन्त हों, जिन्होंने जगत् की वस्तुओं के अपहर्ता अर्थात् शून्यवादी बौद्ध दस्युओं को दण्ड दिया।

'पाण्डवपुराण' में तारादेवी के घड़े को पैर से ठुकराने का उल्लेख इस प्रकार है—

'अकलंकोऽकलंकः स कलौ कलयतु श्रुतम्।
पादेन ताडिता येन मायादेवी घटस्थिता॥'

'कलिकाल में वे कलंक रहित अकलंक श्रुत को भूषित करें जिन्होंने घट में बैठी हुई माया रूपधारिणी देवी को पैर से ठुकराया। हनुमच्चरित में कहा है—

अकलंकगुरुर्जीयादकलंकपदेश्वरः।
बौद्धानां बुद्धिवैधव्यदीक्षागुरुरुदाहृतः॥

'अकलंक पद के स्वामी वे अकलंक गुरु जयवन्त हों, जो बौद्धों की बुद्धि को वैधव्य की दीक्षा देने वाले गुरु कहे जाते हैं।'

अकलक देव रचित न्यायविनिश्चय के टीकाकार वादिराज ने उन्हें 'तार्किकलोकमस्तकमणि' लिखा है। अकलंक देव के 'लघीयस्त्रय' पर न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता प्रभाचन्द्र उन्हें इतरमतावलम्बी वादीरूपी गजेन्द्रों का दर्प नष्ट करनेवाला सिंह बतलाया है। अष्टसहस्री के टिप्पणकार लघु समन्तभद्र ने उन्हें 'सकलतार्किक-चूड़ामणिमरीचिमेचकितचरणनखकिरणो भगवान् भट्टाकलंकदेव' लिखकर उनके प्रति अपनी गहरी श्रद्धा प्रकट की है।

ग्रन्थकार अकलंक

उक्त प्रकार से भट्टाकलंक के वैदुष्य का परिचय प्राचीन उल्लेखों से मिलता है। यह परिचय साक्षात् न होकर परम्परया है। उनके अगाध पाण्डित्य और अनुपम वैदुष्य तथा प्रौढ़ लेखनी का परिचय तो उनकी कृतियों से मिलता है। उन्होंने अपने मौलिक ग्रन्थों पर भाष्य भी रचे हैं। फिर भी वे इतने दुरूह और जटिल हैं कि उनके टीकाकारों को भी उनका व्याख्यान करने में अपनी असमर्थता प्रकट करना पड़ी है। अकलंक के व्याख्याकार भी कोई साधारण विद्वान नहीं थे। वे थे जैन न्याय के मूर्धन्य विद्वान अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, वादिराज और प्रभाचन्द्र।

अकलंक के सिद्धि-विनिश्चय ग्रन्थ की टीका प्रारम्भ करते हुए अनन्तवीर्य लिखते हैं—

देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः।
न जानीतेऽकलंकस्य चित्रमेतद् परं भुवि॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात्—यह बड़े अचरज की बात है कि अनन्तवीर्य (अनन्त शक्तिशाली) भी अकलंक देव के पदों को पूरी तरह व्यक्त करना नहीं जानता।

अकलंक के 'न्यायविनिश्चय' पर विवरण लिखते हुए वादिराज लिखते हैं—

'गूढमर्थमकलंकवाङ्मयागाधभूमिनिहितं तदर्थिनाम् ।
व्यञ्जयत्यमलमनन्तवीर्यवाक् दीपवर्तिरनिशं पदे-पदे ॥

अर्थात्—अकलंक की वाङ्मयरूपी अगाध भूमि में निहित गूढ़ आशय को अनन्तवीर्य की वचनरूपी दीपशिखा रात दिन पद-पद पर उसके जानने को इच्छुक जनों के लिए व्यक्त करती है।

अकलंक देव की कृतियाँ दो प्रकार की हैं—एक, पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों पर भाष्य रूप, और दूसरी स्वतन्त्र। प्रथम प्रकार की दो रचनाएँ हैं—तत्त्वार्थवार्तिक और अष्टशती। द्वितीय प्रकार की रचनाएँ हैं—सभाष्य लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह। ये सभी प्रकाशित हो चुकी हैं। सभी मौलिक रचनाएँ जैन न्याय या जैन प्रमाणशास्त्र से सम्बद्ध हैं। जैन प्रमाणशास्त्र एक तरह से अकलंक देव की ही देन है, उन्होंने ही उसका संवर्द्धन-संपोषण किया है। अकलक देव के पहले पात्रकेसरी, श्रीदत्त आदि कई जैनाचार्य हुए जिन्होंने त्रिलक्षणकदर्थन, जल्पनिर्णय आदि ग्रन्थ रचकर जैन न्याय का विकास किया था। किन्तु उनका साहित्य उपलब्ध न होने से उनके सम्बन्ध में कुछ लिखना सम्भव नहीं है। अतः उपलब्ध साहित्य के आधार पर स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन दिवाकर ने जैनन्यायय का जो शिलान्यास किया उसी पर अकलंक देव ने जैनन्याय का भव्य प्रासाद निर्माण किया।

तत्त्वार्थवार्तिक (सभाष्य)

अकलंकदेव रचित तत्त्वार्थवार्तिक आपके सामने है। यह तत्त्वार्थसूत्र पर रचा गया महान् ग्रन्थ है। इसीसे इसका नाम तत्त्वार्थवार्तिक है जो ग्रन्थकार ने आद्य मंगलश्लोक में स्वयं दिया है। तत्त्वार्थसूत्र की प्रथम टीका सर्वार्थसिद्धि है जो पूज्यपाद देवनन्दि रचित है। इस टीका की अनेक पंक्तियाँ तत्त्वार्थवार्तिक रूप में पाई जाने से यह स्पष्ट है कि अकलंक देव ने उसका भी आश्रय लिया है।

तत्त्वार्थसूत्र के दो सूत्रपाठ प्रचलित हैं। दूसरा पाठ जो श्वेताम्बर मान्य है उसका स्वोपज्ञ भाष्य भी है जिसे श्वेताम्बर सूत्रकार कृत मानते हैं। यह पाठ भी अकलंक देव के सामने रहा है; क्योंकि उन्होंने स्थान-स्थान पर उसकी आलोचना की है।

चूंकि तत्त्वार्थसूत्र में दस अध्याय हैं अतः तत्त्वार्थवार्तिक में भी दस अध्याय हैं और दोनों का विषय भी समान है किन्तु अकलंक देव तो प्रखर दार्शनिक थे अतः प्रथम और पंचम अध्याय उनकी दार्शनिक समीक्षा और मन्तव्यों से ओत-प्रोत हैं। प्रथम सूत्र की व्याख्या में ही नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य और बौद्ध-दर्शन के मोक्ष और संसार के कारणों की समीक्षा की है। जहाँ भी दार्शनिक चर्चा का प्रसंग आया है वहाँ अकलंक देव की तार्किक सरणि के दर्शन होते हैं। इस तरह यह सैद्धान्तिक ग्रन्थ दर्शनशास्त्र का एक अपूर्व ग्रन्थ बन गया है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि तत्त्वार्थवार्तिक में सैद्धान्तिक विवेचन नहीं है या कम है, प्रसंगानुसार उसकी चर्चा है। जैन सिद्धान्तों के जिज्ञासु इस एक ही ग्रन्थ के स्वाध्याय से अनेक शास्त्रों का रहस्य हृदयंगम कर सकते हैं। उन्हें इसमें ऐसी भी अनेक चर्चाएँ मिलेंगी जो अन्यत्र नहीं हैं।

प्रथम अध्याय के ७वें सूत्र की व्याख्या में अजीवादि तत्त्वों के साथ निर्देश, स्वामित्व आदि की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योजना, २०वें सूत्र की व्याख्या में द्वादशांग के विषयों का परिचय, २१-२२वें सूत्र की व्याख्या में अवधि-ज्ञान का वर्णन, इसी प्रकार दूसरे अध्याय के ७वें सूत्र की व्याख्या में सान्निपातिक भावों का विवेचन, जो अन्यत्र नहीं है, तीसरे अध्याय में अधोलोक तथा मध्यलोक का और चौथे अध्याय में ऊर्ध्वलोक का बड़े विस्तार से निरूपण किया गया है।

अकलंक देव के सामने षट्खण्डागम उपस्थित था तथा वे उसके विशेषज्ञ थे, यह बात तत्त्वार्थ-वार्तिक में आगत उद्धरणों से स्पष्ट है। षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड जीवस्थान का नामोल्लेख आगम और आर्ष विशेषण के साथ आया है।

सूत्र १/२१/७ में लिखा है—'आगमे जीवस्थानादौ।' इसी प्रकार सूत्र २/४९ में लिखा है—आह चोदकः जीवस्थाने योगभंगे इत्यादि।

पाँचवें अध्याय के सूत्र ३७ की व्याख्या में लिखा है—'तदुक्तमार्षे वर्गणायां बन्धविधाने' यहाँ षट्खण्डगम के वर्गणाखण्ड के बन्धन अनियोगद्वार के अन्तर्गत द्रव्यबन्ध की प्ररूपणा के सूत्र ३२-३३ का निर्देश किया है और लिखा है कि तत्त्वार्थसूत्र में 'बन्धेऽधिकौ पारिणामकौ' सूत्र उसी के अनुसार रखा गया है।

इसी प्रकार, नौवें अध्याय के ७वें सूत्र के अन्तर्गत चौदह मार्गणा का कथन षट्खण्डागम के सत्प्ररूपणा का अनुगामी है।

अनेकान्तवाद के तो अकलंक देव महापण्डित ही थे। इसी से प्रायः सूत्रस्थ विवादों का निराकरण अनेकान्त के आधार पर किया गया है। इतना ही नहीं, प्रथम अध्याय के 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्र की व्याख्या में सप्तभगी का और चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत अनेकान्तवाद का बहुत विस्तार से विवेचन है।

इस प्रकार 'तत्त्वार्थवार्तिक' तत्त्वार्थसूत्र पर एक मौलिक भाष्य है।

अकलंक देव का समय

'अकलंकचरित में' एक श्लोक इस प्रकार पाया जाता है—

विक्रमार्कशकाब्दीय-शत सप्त-प्रमाजुषि।
कालेऽकलंकयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत्॥

इसमें कहा है कि विक्रमार्क शक संवत् ७०० में अकलंक यति का बौद्धों के साथ महान् शास्त्रार्थ हुआ।

'इन्सक्रिप्शन्स एट श्रवणबेलगोला' के दूसरे संस्करण की भूमिका में आर. नरसिंहाचार्य ने उक्त श्लोक उद्धृत किया है और उसका अर्थ विक्रम संवत् ७०० ही किया, तथा यही काल उचित प्रतीत होता है किन्तु कुछ विद्वान् इसे शक संवत् ७०० अर्थात् वि. सं. ८३५ लेते हैं जो उचित प्रतीत नहीं होता।

स्व. डॉ. हीरालाल जी ने धवला टीका की समाप्ति का काल शक सं. ७३८ निश्चित किया है और उसकी रचना का प्रारम्भ काल शक सं. ७१४ माना है। धवला टीका के प्रारम्भ में ही अकलंक देव के तत्त्वार्थवार्तिक के उद्धरण तत्त्वार्थ-भाष्य नाम से मिलते हैं।[1] यदि अकलंक का समय शक सं. ७०० माना जाता है तो वे एक तरह से धवला टीकाकार वीरसेन के दीर्घ समकालीन ठहरते हैं। ऐसी स्थिति

१ 'उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये'—षट्खं. पु. १, पृष्ठ. १०४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में उस काल में उनकी कृति के उद्धरण धवला में पाया जाना संभव नहीं क्योंकि ग्रन्थ की ख्याति समय सापेक्ष होती है।

इसके सिवाय धवला में 'इति' के अनेक अर्थ बतलाने के लिए एक श्लोक उद्धृत किया है जो धनंजयकृत अनेकार्थ नाममाला का है, इसी नाममाला में 'प्रमाणमकलकस्य' लिखकर अकलंक के प्रमाण, पूज्यपाद के लक्षण तथा धनंजय के द्विसंधानकाव्य को अपश्चिम कहा है अर्थात् उनके समान बाद में ऐसा कोई नहीं लिख सका।

इसका मतलब हुआ कि धवलाकार के पूर्ववर्ती धनंजय कवि के समय में अकलंक देव के प्रमाण-शास्त्र की सुख्याति फैल चुकी थी। अतः यदि अकलंक का समय शक सं. ७०० माना जाता है तो यह सम्भव नहीं है। उनके शास्त्रार्थ का समय विक्रम संवत् ७०० ही होना चाहिये।

श्वेताम्बराचार्य हरिभद्र सूरि के दार्शनिक प्रकरणों पर अकलंक का प्रभाव परिलक्षित होता है। उनकी अनेकान्त जयपताका और अकलंक के तत्त्वार्थवार्तिक के कई स्थल परस्पर में मेल खाते हैं। बौद्धों के प्रत्यक्ष के लक्षण[1] कल्पनापोढ़ की निराकरण शैली और भाव में तत्त्वार्थवार्तिक में विहित निराकरण की स्पष्ट झलक है तथा अकलंक की अष्टशती[2] का भी अनुसरण उसमें पाया जाता है। एक स्थल पर तो 'इति अकलंक न्यायानुसारि चेतोहरं वचः' स्पष्ट लिखा है।[3] हरिभद्र सूरि का समय विक्रम संवत् ७५७-८२० निश्चित है। अतः अकलंक का समय इससे पूर्व होना चाहिये।

श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेन गणि ने तत्त्वार्थ-भाष्य की टीका में अकलंक देव के सिद्धि-विनिश्चय का तो उल्लेख किया ही है, तत्त्वार्थवार्तिक के कई दार्शनिक मन्तव्यों को भी अपनाया है। सूत्र ५-२४ की व्याख्या में अकलंक देव ने प्रतिबिम्ब का विचार किया है, गणि जी ने भी उसी स्थल पर उसकी चर्चा की है। तत्त्वार्थवार्तिक में ४-४२ सूत्र की व्याख्या में सप्तभंगी का वर्णन करते हुए काल, आत्मा आदि की जो चर्चा की है गणि जी ने भी ५-३१ की व्याख्या में उसे थोड़े से शाब्दिक परिवर्तन के साथ सम्मिलित किया है। ४-४२ सूत्र की ही व्याख्या के अन्त में अकलंक देव ने विकलादेश में सप्तभंगी का प्रतिपादन करते हुए जो प्रचित, अप्रचित तथा अर्थनय और शब्दनय का उल्लेख करते हुए नययोजना की है, गणिजी ने ५-३१ की व्याख्या में वह सब सम्मिलित कर लिया है। अतः अकलंकदेव गणिजी के पूर्ववर्ती थे। गणिजी का समय आठवीं शताब्दी माना जाता है। अतः अकलंक को आठवीं शताब्दी का विद्वान न मानकर ईसा की सातवीं शताब्दी का विद्वान मानना चाहिए।

['तत्त्वार्थवार्तिक' के प्रथम संस्करण में उस समय ग्रन्थ-सम्पादक (स्व.) पं. महेंद्रकुमार न्यायाचार्य से प्रस्तावना प्राप्त नहीं हो सकी होगी, अतः इसके पुनर्मुद्रण के अवसर पर यह बहुत आवश्यक हो गया कि इसका प्रधान सम्पादकीय कुछ इस प्रकार का हो जो प्रस्तावना का भी कार्य करे। यही प्रयास यहाँ पर किया गया है।]

कैलाशचन्द्र शास्त्री

---

१. अनेका० ज० २०२ और तत्त्वार्थ०, ३६। २. अष्टसहस्री सं० पृ० ११६, और अने० ज ४.१२२।
३. अनेका० ज० पृ० २५३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थवार्तिक

विषय-सूची

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
प्रथम अध्याय		
मंगलाचरण	१	२६५
सूत्रकारने मार्गका ही क्यों उपदेश दिया ?	१	२६५
मोक्षका अस्तित्व निरूपण	२	२६५
बन्धका कारण बतलाकर ही मोक्षका कारण बतलाना इष्ट है	२	२६६
मोक्षमार्गका स्वरूप	३	२६६
सम्यग्दर्शनका स्वरूप	३	२६६
सम्यक्चारित्रका स्वरूप	४	२६७
सम्यग्ज्ञान आदि शब्दोंकी व्युत्पत्ति	४	२६७
आत्मा और ज्ञान आदिका एकान्ततः भेदाभेद पक्षका खण्डन और कथंचिद्भेदाभेद पक्षका स्थापन	४	२६७
समवायसम्बन्धका निषेध	६	२६८
पर्याय और पर्यायीमें कथंचिद्भेदाभेद का निरूपण	७	२६९
सूत्रस्थ ज्ञानादि पदोंका पौर्वापर्य विचार	९	२६९
मोक्षके स्वरूपका वर्णन	१०	२६९
मार्गशब्दकी व्युत्पत्ति	१०	२६९
सांख्य, वैशेषिक, न्याय तथा बौद्धमत-सम्मत मोक्षकारणका खण्डन करके जैन मतानुसार सम्यग्दर्शनादिकी मोक्ष-कारणताका निरूपण	११	२७१
ज्ञानसे ही मुक्ति होती है इस मतका खण्डन	१४	२७३
ज्ञान और दर्शनकी युगपत् प्रवृत्ति होनेसे उनके एकत्वका परिहार	१६	२७४
ज्ञान और चारित्रमें कालभेद न होनेसे उनमें अभेद है इस मतका परिहार	१७	२७४
सम्यग्दर्शनादिमें लक्षणभेदसे वे मिलकर एक मार्ग नहीं हो सकते इस शंकाका समाधान	१७	२७५
सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें अविनाभावका निरूपण	१७	२७५
सम्यग्दर्शनका लक्षण	१९	२७६
सम्यक् शब्दकी निरुक्ति और उसका अर्थ	१९	२७६
दर्शन शब्दके अर्थका विचार	१९	२७६
तत्त्व शब्दके अर्थका निरूपण	१९	२७६
तत्त्वार्थ और श्रद्धान शब्दकी निरुक्ति व अर्थनिरूपण	१९	२७६
'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' इस सूत्र में 'तत्त्व' और 'अर्थ' पदके ग्रहणकी सार्थकता	२०	२७७
श्रद्धानका अर्थ इच्छा माननेपर दोषापत्ति	२१	२७८
सम्यग्दर्शनके भेद और उनका लक्षण	२२	२७८
सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके प्रकार	२२	२७८
निसर्ग और अधिगम शब्दकी निरुक्ति	२२	२७८
सम्यग्दर्शनके निसर्गज और अधिगमज ये दो भेद माननेपर आनेवाले दोषोंका परिहार	२२	२७८
सूत्रमें आये हुए 'तत्' शब्दकी सार्थकता	२४	२७९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
जीवादि सात पदार्थोंका निर्देश	**२४**	**२७६**
जीवादि सात पदार्थ ही क्यों कहे इसका कारण	२४	२८०
आस्रव आदिकका जीव और अजीवमें अन्तर्भाव हो जानेपर भी उनके पृथक् ग्रहणका प्रयोजन	२५	२८०
जीव आदि शब्दोंका निर्वचन	२५	२८०
जीवादि पदार्थोंका लक्षण निर्देश	२६	२८१
सूत्रमें जीवादि पदोंके यथाक्रम रखनेकी सार्थकता	२७	२८१
'तत्त्व' शब्दके साथ जीवादि पदोंके समानाधिकरणका विचार	२७	२८२
जीवादि तत्त्वोंके संव्यवहारके लिए निक्षेप प्रक्रियाका निरूपण	**२८**	**२८२**
नाम आदि निक्षेपोंका लक्षण	२८	२८२
नाम और स्थापनाके एकत्वकी आशंका का परिहार	२९	२८२
द्रव्य और भावकी एकताकी आशंका का परिहार	२९	२८३
नाम आदि पदोंके पौर्वापर्यका निरूपण	३०	२८३
एक शब्दार्थके नाम आदि चार निक्षेप माननेमें आनेवाले दोषोंका निराकरण	३०	२८३
द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिकमें नाम आदि निक्षेपोंके अन्तर्भाव हो जानेके कारण उनके पुनः उल्लेखसे होनेवाले पुनरुक्ति दोषका निराकरण	३२	२८४
सूत्रमें आये हुए 'तत्' शब्दकी सफलता	३३	२८४
तत्त्वाधिगम के उपाय	**३३**	**२८४**
सूत्रमें 'प्रमाण' शब्दके पहले रखनेका कारण	३३	२८४
अधिगम हेतु भेद	३३	२८५
सप्तभंगीका लक्षण तथा उसका स्वरूप	३३	२८५
अनेकान्तमें विधिप्रतिषेधकल्पनाकी सिद्धि	३५	२८७
अनेकान्तका निरूपण न तो छल है और न संशयका हेतु है इस बातका समर्थन	३६	२८७
जीवादि पदार्थोंके अधिगमके अन्य उपाय	**३८**	**२८८**
निर्देश आदि पदोंके क्रम-निर्देशका कारण व उनका स्वरूप निर्देश	३८	२८८
जीव पदार्थमें दो नयका अवलम्बन लेकर निर्देश आदिकी योजना	३८	२८८
अजीव आदिमें निर्देश आदिकी योजना	३९	२८९
जीवादिके अधिगमके अन्य उपाय	**४१**	**२९१**
'सत्' शब्दका अर्थ	४१	२९१
सूत्रमें आये हुए 'सत्' आदि पदोंका पौर्वापर्यविचार व स्वरूपनिर्देश	४१	२९१
निर्देश आदि पदोंसे सत् आदि पदोंको भिन्न रखनेकी सार्थकता	४२	२९२
सम्यग्ज्ञानके पाँच भेद	**४४**	**२९३**
सूत्रमें आये हुए मति आदि शब्दोंकी व्युत्पत्ति	४४	२९३
अन्य मतोंमें ज्ञान शब्दकी करण आदि साधनोंमें सिद्धि नहीं होती इसका प्रतिपादन	४५	२९४
मति आदि पदोंके पौर्वापर्य क्रमका निरूपण	४७	२९६
मति और श्रुतके एकत्वका निराकरण	४८	२९७
श्रुतज्ञानके स्वरूपका निर्देश व शंका-समाधान	४८	२९७
मति आदि ज्ञान दो प्रमाणोंमें विभक्त हैं इस बातका निर्देश	**४९**	**२९७**
'प्रमाण' शब्दकी निरुक्ति व उसका स्वरूप निर्देश	४९	२९७
प्रमाणके फलका निर्देश	५०	२९८
ज्ञाता और प्रमाणमें सर्वथा भेद है इस मतका खण्डन	५०	२९८
सन्निकर्ष प्रमाण है इस मतका खण्डन	५१	२९९
मति और श्रुतमें परोक्षत्वकी व्यवस्था	**५२**	**३००**
आद्य शब्दका अर्थ	५२	३००
परोक्ष शब्दका अर्थ और उसकी प्रमाणता	५२	३००
अवधि आदि ज्ञान प्रत्यक्ष हैं	**५३**	**३००**
प्रत्यक्षका लक्षण	५३	३००
अन्य द्वारा प्रत्यक्ष तथा परोक्षके माने गये लक्षणोंका निराकरण	५३	३०१
मतिज्ञानके नामान्तर	**५७**	**३०४**
मति आदि नामान्तरोंका मति शब्द के साथ अभेदार्थ कथन तथा उस विषयमें शंका-समाधान	५७	३०४
मति ज्ञानकी उत्पत्तिके कारण	**५९**	**३०५**
इन्द्रिय और अनिन्द्रिय शब्दका अर्थ	५९	३०५

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
सूत्रमें आये हुए 'तत्' पदकी सार्थकता	५९	३०६
मतिज्ञानके अवग्रह आदि चार भेद	**६०**	**३०६**
अवग्रह आदिके लक्षण व आनुपूर्वी निरूपणकी सार्थकता	६०	३०६
अवग्रह तथा ईहा ज्ञानकी अप्रमाणता का निराकरण	६०	३०६
अवाय शब्दके समान अपाय शब्दकी सार्थकता	६१	३०७
दर्शन और अवग्रहमें भेद	६१	३०७
अवग्रह आदिके कार्यभेदका निरूपण	६१	३०७
अवग्रह आदि किन अर्थोंके होते हैं?	**६२**	**३०८**
युक्ति पूर्वक बहु आदि शब्दोंका अर्थ	६२	३०८
बहु आदिको प्रारम्भमें रखनेका कारण	६३	३०९
इन्द्रिय और मनके आलम्बनसे बहु आदिककी योजना	६३	३०९
बहु बहुविध आदि शब्दोंके अर्थमें भेद	६४	३०९
ये बहु आदि भेद पदार्थके हैं	**६५**	**३१०**
अवग्रहकी विशेषता	**६६**	**३१०**
व्यंजनावग्रह चक्षु और मनसे नहीं होता	**६७**	**३११**
चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं	६७	३११
मनके अनिन्द्रियत्व तथा अननिन्द्रियत्वका विचार	६९	३१३
मतिज्ञानका विषय	७०	३१३
श्रुतज्ञानका विवेचन	**७०**	**३१४**
श्रुतज्ञानके अङ्ग प्रविष्ट और अङ्ग बाह्य ये दो मूल भेद तथा इनके उत्तर भेदोंका विवेचन	७२	३१५
भवप्रत्यय अवधिज्ञान और उसके स्वामीका निर्देश	**७९**	**३१९**
देवों और नारकियोंके द्रव्य, क्षेत्र आदिकी अपेक्षा अवधिज्ञानका निरूपण	८०	३२०
क्षयोपशमनिमित्तक अवधि व उसके स्वामीका विचार	**८१**	**३२१**
अवधिज्ञानके अनुगामी आदि भेदों का विवेचन	**८१**	**३२१**
प्रकारान्तरसे अवधिज्ञानके देशावधि आदि तीन भेद तथा उनके जघन्य आदि भेदोंका तारतम्य	**८१**	**३२१**
मनःपर्ययज्ञान और उसके भेद	**८३**	**३२२**
ऋजु आदिका लक्षण तथा मनःपर्ययके अर्थका विचार	८३	३२३
ऋजुमति तथा विपुलमतिके भेद	८४	३२४
दोनों मनःपर्ययज्ञानोंकी परस्पर विशेषता	**८५**	**३२४**
अवधि तथा मनःपर्ययज्ञानकी परस्पर विशेषता	**८६**	**३२४**
मनःपर्ययज्ञान किनके होता है?	८६	३२५
मति और श्रुतका विषय	**८७**	**३२५**
अवधिज्ञानका विषय	**८८**	**३२६**
मनःपर्ययज्ञानका विषय	**८८**	**३२६**
केवलज्ञानका विषय	**८८**	**३२६**
द्रव्य और पर्यायका विवेचन	८८	३२६
एक ही आत्मामें एक साथ कितने ज्ञान होते हैं?	**९०**	**३२७**
सूत्रस्थ पदोंका तात्पर्य एवं ज्ञान सम्बन्धी विशेष विचार	९०	३२७
मति, श्रुत और अवधि विपर्यय भी होते हैं	९१	३२८
विपर्यय होनेका हेतु निर्देश	९१	३२८
ये तीन ज्ञान विपर्यय क्यों हैं इस बातका विवेचन	**९२**	**३२८**
अन्य मतवालोंके द्वारा मानी गई पदार्थ व्यवस्था विपर्ययका कारण	९३	३२९
भेदपूर्वक नयोंका कथन	**९४**	**३३०**
नयका लक्षण व उसके दो मूल भेद	९४	३३०
सातों नयोंका लक्षणपूर्वक विस्तृत विवेचन	९५	३३०
सात नयोंकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मता व पूर्व पूर्वहेतुताका विचार	९९	३३४

द्वितीय अध्याय

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
जीवके औपशमिक आदि भावोंका कथन	**१००**	**३३६**
औपशमिक आदि पदोंका अर्थ व उनका क्रमनिर्देश	१००	३३६
औपशमिक आदि भावोंके भेद	**१०३**	**३३७**
द्वि आदि शब्दोंका भेद शब्दके साथ तथा द्वि आदि शब्दोंका परस्पर सम्बन्ध कथन	**१०३**	**३३७**
औपशमिक भावके भेद	**१०४**	**३३८**
औपशमिक सम्यक्त्वका लक्षण	१०४	३३८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
कर्मके उपशम होनेका कारण काल-लब्धि आदि	१०४	३३८
औपशमिक चारित्रका स्वरूप और सम्यक्त्व तथा चारित्रका पौर्वापर्य विचार	१०५	३३९
क्षायिक भावके भेद तथा उनके लक्षण	**१०५**	**३३९**
अभयदान आदि कार्य सिद्धोंमें क्यों नहीं होते ?	१०६	३४०
मिश्र भावके भेद	**१०६**	**३४०**
सूत्रगत पदोंका परस्पर सम्बन्ध कथन	१०६	३४०
क्षयोपशमका स्वरूप	१०६	३४१
स्पर्धकका लक्षण	१०७	३४१
क्षायोपशमिक भावके भेदोंका विशेष विचार	१०७	३४१
संज्ञित्व आदि भावोंका अन्तर्भाव	१०८	३४२
औदयिक भावके भेद	**१०७**	**३४२**
औदयिक भावके गति आदि भेदोंका स्वरूप	१०८	३४२
पारिणामिक भावके भेद	**११०**	**३४३**
जीवत्व आदिके पारिणामिकत्वका समर्थन व उनका स्वरूप	११०	३४३
'च' शब्दकी सार्थकता	१११	३४४
अस्तित्व आदि भाव अन्य द्रव्योंमें भी पाये जाते हैं, इसलिए उनका सूत्रमें संग्रह नहीं किया इसका विचार	१११	३४४
सान्निपातिक भावका मिश्र भावमें अन्तर्भाव	११४	३४५
औपशमिक आदि भाव आत्माके ही परिणाम हैं	११६	३४७
अमूर्त आत्मा भी कर्मसे बद्ध है	११७	३४७
जीवका लक्षण उपयोग	**११८**	**३४८**
हेतुके भेद	११८	३४८
लक्षण विचार	११९	३४८
तादात्म्यस्वरूप उपयोग आत्माका लक्षण कैसे हो सकता है इस शंकाका परिहार	११९	३४९
आत्माके अभावमें दिखाई गई युक्तिका खण्डन	१२१	३५०
उपयोगके भेद-प्रभेद	**१२३**	**३५२**
उपयोगके साकार और अनाकार ये दो भेद	१२३	३५२
सूत्रस्थ पदोंका पौर्वापर्य विचार	१२४	३५२
जीवके संसारी और मुक्त दो भेद	**१२३**	**३५२**
सूत्रमें आये हुए पदोंका अर्थ	१२४	३५३
'च' शब्दकी सार्थकता	१२५	३५३
संसारी जीवके समनस्क और अमनस्क भेद	**१२५**	**३५३**
सूत्रगत पदोंका तात्पर्य	१२५	३५३
'समनस्कामनस्काः' पृथक् सूत्र बनानेका तात्पर्य	१२५	३५३
संसारीके त्रस और स्थावर भेद	**१२६**	**३५४**
त्रस शब्दका तात्पर्य	१२६	३५४
स्थावर शब्दका अर्थ	१२६	३५४
सूत्रस्थ पदोंका पौर्वापर्यविचार	१२७	३५४
स्थावरके पाँच भेद	**१२७**	**३५४**
पृथिवी आदि प्रत्येकके चार भेद	१२७	३५४
सूत्रस्थ पदोंका पौर्वापर्य विचार	१२७	३५४
त्रस कौन हैं ?	**१२८**	**३५५**
सूत्रस्थ शब्दोंका तात्पर्य विवेचन	१२८	३५५
द्वीन्द्रिय आदिमें किसके कितने प्राण हैं	१२९	३५५
इन्द्रियोंकी संख्या	**१२९**	**३५५**
इन्द्रिय शब्दका अर्थ	१२९	३५५
मन इन्द्रिय न होनेका कारण	१२९	३५५
यहाँ इन्द्रिय शब्द द्वारा कर्मेन्द्रियोंका ग्रहण नहीं किया	१२९	३५६
प्रत्येक इन्द्रिय दो दो प्रकारकी है	**१३०**	**३५६**
द्रव्येन्द्रियके दो भेद	**१३०**	**३५६**
निर्वृत्तिका लक्षण व उसके भेद	१३०	३५६
उपकरणका लक्षण व उसके भेद	१३०	३५६
भावेन्द्रियके दो भेद	**१३०**	**३५६**
लब्धिका लक्षण	१३०	३५१
उपयोगका लक्षण	१३०	३५६
उपयोग इन्द्रिय क्यों है इसका विचार	१३०	३५६
पाँच इन्द्रियोंके नाम	**१३१**	**३५७**
इन्द्रियोंके नामोंकी व्युत्पत्ति	१३१	३५७
पहले स्पर्शन अनन्तर रसना इत्यादि क्रमसे कथन करनेका कारण	१३१	३५७
ये इन्द्रियाँ परस्पर और आत्मासे कथञ्चित् भिन्न हैं और कथञ्चित् अभिन्न हैं	१३२	३५७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
इन्द्रियोंका विषय	१३२	३५८
सूत्रस्थ शब्दोंकी व्युत्पत्ति	१३२	३५८
पौर्वापर्य विचार	१३३	३५८
पृथिवी आदिमें किसमें कितने गुण हैं इसका विचार	१३३	३५८
ये स्पर्शादिक परस्पर और आत्मासे कथञ्चित् अभिन्न हैं	१३३	३५८
मनका विषय	**१३४**	**३५९**
श्रुत श्रोत्र इन्द्रियका विषय नहीं है	१३४	३५९
वनस्पत्यन्त जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय है	**१३४**	**३५९**
सूत्रस्थ पदोंका विशेष खुलासा	१३४	३५९
कृमि आदि जीवोंके एक एक इन्द्रिय अधिक है	**१३५**	**३५९**
सूत्रस्थ पदोंका विचार	१३५	३५९
समनस्क शब्दका व्याख्यान	**१३६**	**३६०**
संज्ञा शब्दका अर्थ	१३६	३६०
विग्रह गतिमें जीवके कर्मयोग होता है	**१३६**	**३६०**
विग्रह पदका अर्थ	१३६	३६०
कर्म शब्दका अर्थ	१३७	३६०
योग शब्दका अर्थ	१३७	३६०
जीवकी गति श्रेणीके अनुसार होती है	**१३७**	**३६०**
मुक्त जीवकी गति	**१३८**	**३६१**
संसारी जीवोंकी विग्रहगति कितने समयवाली है	**१३९**	**३६१**
सूत्रस्थ पदोंका स्पष्टीकरण	१३९	३६१
जीवकी चार गतियोंके नाम और उनका समय	१३९	३६१
अविग्रहवाली गतिका कालनिर्धारण	**१३९**	**३६१**
आत्मा क्रियावान् है इसकी सिद्धि	१३९	३६१
जीव कितने कालतक अनाहारक रहता है	**१४०**	**३६२**
आहारका लक्षण	१४०	३६२
विग्रहगतिमें आहारका ग्रहण क्यों नहीं होता	१४०	३६२
किस गतिमें किस समय जीव आहार ग्रहण करता है	१४०	३६२
जन्मके भेद	**१४०**	**३६२**
सम्मूर्च्छन आदि शब्दोंके अर्थ	१४०	३६२
पौर्वापर्यपर विचार	१४०	३६२
जन्मके अनेक भेद क्यों हैं इसका कारण	१४१	३६२
योनियोंके सचित्त आदि नौ भेद	**१४१**	**३६३**
सचित्त आदि शब्दोंका अर्थ	१४१	३६३
सूत्रस्थ 'च' शब्दकी सार्थकता	१४१	३६३
सूत्रमें आये हुए 'एकशः' और 'तत्' पदकी सार्थकता	१४२	३६३
योनि और जन्ममें भेद है	१४२	३६३
सचित्त आदि पदोंके पौर्वापर्यका विचार	१४२	३६३
किन जीवोंके कौन योनि होती हैं इस बातका निर्देश	१४३	३६३
उत्तर योनियाँ चौरासी लाख हैं इस बातका कथन	१४३	३६३
गर्भ जन्म किन जीवोंके होता है	**१४३**	**३६४**
जरायुज आदि शब्दोंका तात्पर्य	१४३	३६४
पोतज शब्द न रखनेका कारण	१४४	३६४
जरायुज आदिके पौर्वापर्यका विचार	१४४	३६४
उपपाद जन्म किन जीवोंके होता है	**१४५**	**३६४**
देवादि गतिके उदयसे जन्म भिन्न है	१४५	३६४
सम्मूर्च्छन जन्म किन जीवोंके होता है	**१४५**	**३६५**
शरीरके पाँच भेद	**१४५**	**३६५**
शरीर शब्दका अर्थ	१४५	३६५
औदारिक आदि पदोंकी व्युत्पत्ति तथा उनका अर्थ	१४६	३६५
सब शरीर कार्मण क्यों नहीं हैं इस बातका स्पष्टीकरण	१४६	३६५
कार्मण शरीरके अस्तित्वकी सिद्धि	१४६	३६५
औदारिक आदि पदोंके पौर्वापर्यका विचार	१४७	३६६
औदारिक आदि शरीरोंके यथाक्रम सूक्ष्मत्वका कथन	**१४७**	**३६६**
तैजसके पूर्वके शरीरोंके प्रदेशोंका विचार	**१४७**	**३६६**
प्रकृतमें प्रदेश शब्दका अर्थ	१४७	३६६
असंख्येय शब्दका अर्थ	१४७	३६६
उत्तरोत्तर शरीरोंके प्रदेश असंख्यात गुणे होनेसे वे महापरिमाण वाले क्यों नहीं हैं इस बातका निर्देश	१४८	३६६
अन्तिम दो शरीरोंके प्रदेशोंका विचार	**१४८**	**३६६**
तैजस और कार्मण शरीरकी इन्द्रियों द्वारा उपलब्धि न होनेका कारण	१४८	३६७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
अन्तिम शरीरके अप्रतिघातित्व का समर्थन	**१४९**	**३६७**
प्रतीघातका अर्थ	१४६	३६७
यहाँ तैजस और कार्मण शरीर ही अप्रतीघाती क्यों कहे इसका कारण	१४६	३६७
अन्तके दो शरीर अनादि सम्बन्धवाले हैं	**१४९**	**३६७**
सूत्रमें आये हुए 'च' शब्दका तात्पर्य	१४६	३६७
शरीर सम्बन्धको सर्वथा सादि माननेमें दोष	१४६	३६७
शरीर सम्बन्धको सर्वथा अनादि माननेमें दोष	१४६	३६७
अन्तके दो शरीर किनके होते हैं	**१५०**	**३६७**
एक जीवके एक साथ कितने शरीर होते हैं इसका कथन	**१५०**	**३६७**
एक जीवके वैक्रियिक और आहारक एक साथ नहीं होते इस बातका कथन	१५०	३६८
अन्तिम शरीर निरुपभोग है	**१५१**	**३६८**
उपभोग शब्दका अर्थ	१५१	३६८
तैजस शरीरका उपभोग प्रकरणमें विचार क्यों नहीं किया	१५१	३६८
औदारिक शरीर किस जन्मसे उत्पन्न होता है इसका निरूपण	**१५१**	**३६८**
वैक्रियिक शरीर किस जन्मसे उत्पन्न होता है इसका कथन	**१५१**	**३६८**
वैक्रियिक शरीर लब्धिप्रत्यय भी है	**१५१**	**३६८**
लब्धिका अर्थ	१५१	३६८
सब शरीर वैक्रियिक क्यों नहीं हैं? इस बातका विचार	१५२	३६८
तैजस शरीर लब्धिज है	**१५२**	**३६९**
आहारक शरीरका स्वरूप	**१५२**	**३६९**
सूत्रमें आये हुए पदोंका विचार	१५२	३६९
सूत्रमें आये हुए 'च' शब्दकी सार्थकता	१५२	३६९
संज्ञा आदिके द्वारा सब शरीरोंका परस्पर भेद-प्रदर्शन	१५३	३६९
कौन गतिके जीव नपुंसक होते हैं	**१५६**	**३७१**
नपुंसक होनेका कारण	१५६	३७१
देव नपुंसक नहीं होते	**१५६**	**३७१**
शेष गतिके जीव तीन वेदवाले होते हैं	**१५६**	**३७२**
तीनों वेदोंकी उत्पत्तिके कारण	१५७	३७२
वेद अर्थात् लिङ्गके भेद और उनका अर्थ	१५७	३७२
अकाल मृत्युका नियम	**१५७**	**३७२**
सूत्रस्थ औपपादिक आदि पदोंका अर्थ	१५७	३७२

तृतीय अध्याय

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
सात नरक भूमियोंका नाम निर्देश व उनका आधार	**१५९**	**३७३**
सूत्रस्थ पदोंका साफल्य प्रदर्शन	१५९	३७३
सातों भूमियोंकी मुटाई	१६०	३७३
'पृथुतराः' श्वेताम्बर पाठका खण्डन	१६१	३७४
सातों भूमियोंमें नरक संख्या	**१६१**	**३७४**
नरकोंका निश्चित स्थान व उनके इन्द्रक आदि भेद तथा प्रत्येक भूमिमें प्रस्तार विचार व उनके नाम	१६२	३७४
प्रत्येक भूमिमें इन्द्रक आदि नरकोंकी गहराई	१६३	३७५
नारकी अशुभतर लेश्या आदिवाले होते हैं	**१६३**	**३७५**
सूत्रस्थ पदोंके अनुसार लेश्यादिका विशेष खुलासा	१६३	३७५
नारकियोंको एक दूसरेके द्वारा दिये जानेवाले दुखोंका वर्णन	**१६४**	**३७६**
प्रारम्भकी तीन भूमियोंमें संक्लिष्ट असुरों द्वारा दिये गये दुख	**१६५**	**३७६**
सूत्रस्थ पदोंका तात्पर्य	१६५	३७६
क्रमसे नरकोंमें जीवोंकी उत्कृष्ट आयु का वर्णन	**१६६**	**३७७**
सूत्रस्थ शब्दोंका परस्पर सम्बन्ध	१६६	३७७
रत्नप्रभा आदिमें प्रति प्रस्तार जघन्य स्थितिका वर्णन	१६७	३७७
प्रति प्रस्तार आयु लानेका करणसूत्र	१६८	३७८
नरकोंमें उत्पत्तिका विरहकाल	१६८	३७८
नरकमें कौन जीव कहांतक उत्पन्न होते हैं	१६८	३७८
किस नरकसे आकर जीव किस अवस्थाको प्राप्त होते हैं और किस अवस्थाको नहीं प्राप्त होते	१६८	३७८
द्वीप और समुद्रोंके नाम	**१६९**	**३७९**
जम्बू द्वीप संज्ञाका कारण	१६९	३७९
लवणोद संज्ञाका कारण	१६९	३७९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
द्वीप और समुद्रोंका विष्कम्भ आदि	१७०	३८०
सूत्रमें आये हुए पदोंकी सार्थकता	१७०	३८०
जम्बूद्वीपका वर्णन	१७०	३८०
सात क्षेत्रोंका नाम निर्देश	१७१	३८०
प्रथम क्षेत्रका नाम भरत क्यों पड़ा ?	१७१	३८०
भरत क्षेत्र कहां है और उसके छह खण्ड कैसे होते हैं ?	१७१	३८०
विजयार्द्ध अर्थात् रजताद्रिका वर्णन	१७१	३८१
हैमवत आदि क्षेत्र कहां हैं और उनमें क्या-क्या विशेषता है ?	१७२	३८१
विदेहक्षेत्रके भेद तथा उनका विशेष वर्णन	१७३	३८२
मेरुपर्वत कहां है और उसका अवगाह व व्यास आदि कितना है इस बातका विशेष विचार	१७७	३८२
रम्यक आदि क्षेत्र कहां हैं और उनमें क्या विशेषता है ?	१८१	३८२
हिमवान् आदि पर्वतोंके नाम	१८२	३८३
हिमवान् आदि शब्दोंका अर्थ तथा उनकी स्थिति	१८२	३८३
पर्वतोंका रङ्ग	१८४	३८४
पर्वतोंकी अन्य विशेषताएँ	१८४	३८४
पर्वतोंके ऊपर छह सरोवरोंका वर्णन	१८४	३८४
प्रथम सरोवरके आयाम और विष्कम्भका वर्णन	१८४	३८४
प्रथम सरोवरके अवगाहका निर्देश	१८५	३८४
प्रथम सरोवरके बीचके पुष्करका परिमाण	१८५	३८५
अन्य सरोवर व उनके पुष्करोंके परिमाणका विवेचन	१८५	३८५
सूत्रमें आये हुए 'तद्द्विगुणद्विगुणाः' पदकी सार्थकता	१८६	३८५
सरोवरोंमें रहनेवाली देवियोंके नाम व उनकी अन्य विशेषताएँ	१८६	३८५
चौदह नदियोंके नाम व उनका स्थान-निर्देश	१८७	३८६
दो-दो नदियोंमें प्रथम नदीका पूर्व समुद्र गमन निरूपण	१८७	३८६
दो-दो नदियोंमें द्वितीय नदीका पश्चिम समुद्राभिमुख गमन	१८७	३८६
गंगा, सिन्धु आदि नदियोंका पद्महृद आदि सरोवरोंसे उत्पत्तिका वर्णन	१८७	३८६
गंगा, सिन्धु आदि नदियोंकी परिवार-नदियोंका वर्णन	१८०	३८७
भरतक्षेत्रका विस्तार	१९०	३८८
विदेह पर्यन्त पर्वतों व क्षेत्रोंका विस्तार	१९०	३८८
उत्तरके क्षेत्र आदि दक्षिणके क्षेत्र आदिके समान हैं	१९१	३८८
भरत व ऐरावतमें काल विचार	१९१	३८८
वृद्धि और ह्रास किनका होता है इसका विचार	१९१	३८८
अवसर्पिणी व उत्सर्पिणीका लक्षण	१९१	३८८
कालके छः भेद व उनका परिमाण	१९२	३८८
अन्य भूमियाँ अवस्थित हैं	१९२	३८९
हैमवतक हारिवर्षक और दैवकुरवक मनुष्योंकी आयुका वर्णन	१९२	३८९
उक्त मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई व आहारका नियम	१९२	३८९
दक्षिणके क्षेत्रोंमें स्थित मनुष्योंके समान उत्तरके क्षेत्रोंमें स्थितमनुष्य हैं	१९२	३८९
विदेह क्षेत्रके मनुष्योंकी आयु	१९२	३८९
विदेह क्षेत्रके मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई व आहारका नियम	१९२	३८९
भरतक्षेत्रके विष्कम्भका प्रकारान्तरसे वर्णन	१९३	३८९
लवण समुद्रका विष्कम्भ व मध्यमें जलकी ऊँचाईका परिमाण	१९३	३८९
चार महापातालोंका व अन्य पातालोंका वर्णन	१९३	३८९
जलको धारण करनेवाले नागोंका व उनके आवासोंका वर्णन	१९४	३९०
गौतम द्वीपका वर्णन	१९४	३९०
लवण समुद्र कहाँ कितना गहरा है	१९४	३९०
सब समुद्रोंके पानीका स्वाद	१९४	३९०
जलचर जीव किन समुद्रोंमें हैं आदि	१९४	३९०
धातकीखण्डका वर्णन	१९४	३९०
धातकीखण्डमें भरत आदि क्षेत्रोंके विष्कम्भ आदिका निरूपण	१९५	३९०
पुष्करार्ध द्वीपका वर्णन	१९६	३९१
'च' शब्दकी सार्थकता	१९६	३९१
पुष्करार्धमें भरत आदि क्षेत्रोंके विष्कम्भ आदिका वर्णन	१९६	३९५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
पुष्करार्ध संज्ञाका कारण	१९७	३९१
मानुषोत्तरके पूर्व ही मनुष्योंका निवास है	**१९७**	**३९१**
किस प्रकारके मनुष्य मनुष्यलोकके बाहर पाये जाते हैं इस बातका विचार	१९८	३९१
नन्दीश्वर द्वीपका वर्णन	१९८	३९१
कुण्डलवर द्वीपका वर्णन	१९९	३९१
मनुष्योंके दो भेद आर्य और म्लेच्छ	**२००**	**३९२**
आर्योंके भेद व उनके लक्षण	२००	३९२
अनृद्धिप्राप्त आर्योंके भेद-प्रभेद व उनका स्वरूप	२००	३९२
ऋद्धिप्राप्त आर्योंके भेद-प्रभेद व उनका स्वरूप	२०१	३९२
म्लेच्छोंके भेद व उनका वर्णन	२०४	३९५
कौन-कौन क्षेत्र कर्मभूमि हैं इसका कथन	**२०४**	**३९५**
कर्म शब्दका अर्थ	२०४	३९५
मनुष्योंकी उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु का वर्णन	**२०५**	**३९५**
प्रमाणके भेद	२०५	३९६
लौकिक प्रमाणके भेद व उनका विशेष विचार	२०६	३९६
लोकोत्तर प्रमाणके भेद व उनका विशेष विचार	२०६	३९६
द्रव्य प्रमाणके भेद व उनका विचार	२०७	३९६
संख्या प्रमाणके भेद व उनका विशेष विचार	२०६	३९६
उपमान प्रमाणके भेद व उनका विशेष विचार	२०७	३९८
पल्यके भेद तथा उनका वर्णन	२०७	३९८
क्षेत्र प्रमाणके भेद	२०८	३९९
काल प्रमाणका वर्णन	२०९	३९९
भाव प्रमाणके भेद	२०९	३९९
तिर्यग्योनिजोंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयु	**२०९**	**३९९**
तिर्यग्योनि शब्दका अर्थ	२०९	३९९
तिर्यञ्चोंके भेद तथा उनकी उत्कृष्ट भवस्थितिका वर्णन	२०९	३९९
भवस्थिति और कायस्थितिकी विशेषता	२१०	४००
तिर्यञ्चोंकी कायस्थिति	२१०	४००

चतुर्थ अध्याय

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
देवोंके चार भेद	**२११**	**४०१**
देव शब्दका अर्थ	२११	४०१
निकाय शब्दका अर्थ	२११	४०१
आदिके तीन निकायोंमें लेश्या विचार	**२११**	**४०१**
भवनवासी आदि निकायोंके अवान्तर भेद	**२१२**	**४०१**
प्रत्येक अवान्तर भेदके इन्द्र आदि दस भेद	२१२	४०१
इन्द्र आदिका स्वरूप	२१२	४०१
व्यन्तर और ज्योतिष्क निकायोंमें त्रायस्त्रिंश तथा लोकपालको छोड़ कर आठ भेद	**२१३**	**४०२**
भवनवासी और व्यन्तर देवोंके अवान्तर प्रत्येक भेदमें दो दो इन्द्रका कथन	**२१३**	**४०२**
भवनवासी और व्यन्तर इन्द्रोंके नाम	२१४	४०२
ऐशान कल्पतकके देवोंमें प्रवीचार का विचार	**२१४**	**४०२**
शेष कल्पवासी देवोंमें प्रवीचारका विचार	२१४	४०३
कल्पातीत देवोंमें अप्रवीचारका कथन	**२१५**	**४२०**
भवनवासी देवोंके भेद	**२१६**	**४०३**
भवनवासी शब्दका अर्थ	२१६	४०३
असुर संज्ञाका कारण युद्ध नहीं है	२१६	४०३
कुमार शब्दकी सार्थकता	२१६	४०४
भवनवासी देवोंका निवासस्थान व उनके वैभवका वर्णन	२१६	४०४
व्यन्तर देवोंके भेद	**२१७**	**४०४**
व्यन्तर शब्दका अर्थ	२१७	४०४
किन्नर आदि संज्ञाओंका कथन	२१७	४०४
व्यन्तर देवोंका निवासस्थान	२१७	४०५
ज्योतिष्क देवोंके भेद	**२१८**	**४०५**
ज्योतिष्क शब्दका अर्थ	२१८	४०५
सूर्य आदि शब्दोंका पौर्वापर्य विचार	२१८	४०५
ज्योतिष्क देवोंका निवास-स्थान	२१९	४०५
ज्योतिष्कोंके विमान आदि वैभवका वर्णन	२१९	४०५
मनुष्यलोकमें ज्योतिष्कोंका गमन विचार	**२२०**	**४०६**
ज्योतिष्क विमानोंके गमन करनेका कारण	२२०	४०६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
ढाई द्वीपमें और उसके बाहर सूर्य चन्द्र आदि कितने हैं	२२०	४०६
इस सम्बन्धी अन्य आवश्यक जानकारी	२२०	४०६
ज्योतिषियोंकी गतिसे दिन-रात आदि व्यवहारकालका कथन	२२१	४०७
मुख्य कालकी सिद्धि	२२२	४०८
अस्तिकायोंमें कालके स्वीकार न करने का कारण	२२२	४०८
मनुष्यलोकके बाहर ज्योतिषियोंकी अवस्थिति	२२२	४०८
चतुर्थ निकायका नाम निर्देश	२२१	४०८
वैमानिक शब्दका अर्थ तथा विमानोंके भेद	२२२	४०८
वैमानिक देवोंके भेद	२२३	४०८
वैमानिक देवोंके निवासस्थान ऊपर हैं	२२३	४०८
वैमानिक देवोंके सौधर्म आदि स्थानों के नाम	२२३	४०९
सौधर्म आदि शब्दोंकी कल्प संज्ञाका कारण	२२४	४०९
सर्वार्थसिद्धि शब्दको पृथक् ग्रहण करने का कारण	२२४	४०९
ग्रैवेयक आदिको पृथक् ग्रहण करनेका कारण	२२४	४०९
नव पदको पृथक् ग्रहण करनेका कारण	२२४	४०९
'उपर्युपरि' पदके साथ दो दो कल्पों का सम्बन्ध है	२२५	४०९
सोलह कल्पोंमें इन्द्र विचार	२२५	४०९
'आनतप्राणतयोः' व 'आरणाच्युतयोः' पदोंको पृथक् रखनेका कारण	२२५	४०९
सौधर्म आदि स्वर्गोंके स्थान, विमान प्रस्तार, देव परिषद् तथा देवताओंकी आयु आदिका विस्तृत वर्णन	२२५	४०९
स्थिति प्रभाव आदिसे उत्तरोत्तर देवों की विशेषता	२३५	४१०
स्थिति आदि शब्दोंका अर्थ	२३५	४१०
देवोंकी गति आदि आगे आगे हीन है	२३६	४१०
गति आदि शब्दोंका अर्थ	२३६	४१०
गति आदि शब्दोंका पौर्वापर्य विचार	२३६	४११
देवोंके उत्तरोत्तर अभिमान हीनतामें युक्ति	२३६	४११
सौधर्म आदि कल्पोंमें लेश्याका कथन	२३७	४११
पाठान्तरका निर्देश	२३८	४१२
निर्देश, वर्ण और परिणाम आदिके द्वारा लेश्याकी सिद्धि	२३८	४१२
ग्रैवेयकसे पहलेतक कल्प संज्ञाका कथन	२४१	४१४
छह निकाय और सात निकाय देवोंका चार निकाय देवोंमें अन्तर्भाव हो जाता है	२४२	४१५
लौकान्तिक देवोंका स्थान	२४२	४१५
लौकान्तिक शब्दका अर्थ	२४२	४१५
लौकान्तिक देवोंके भेद	२४३	४१५
'च' शब्दसे सारस्वत तथा आदित्य आदिके मध्यवर्ती देवोंके नाम और विस्तारपूर्वक उनका वर्णन	२४३	४१५
विजय आदि विमानोंमें द्विचरमत्वका कथन	२४४	४१६
द्विचरम शब्दका अर्थ व शंका समाधान	२४४	४१६
अर्थविरोधका परिहार	२४४	४१६
औपपादिक मनुष्योंसे इतर तिर्यञ्च हैं इसका कथन	२४५	४१७
सूत्रस्थ 'शेष' पदका स्पष्टीकरण	२४५	४१७
तिर्यग्योनि शब्दका अर्थ	२४५	४१७
तिर्यञ्च सर्वलोकमें निवास करते हैं इसका कथन	२४५	४१७
भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन	२४६	४१७
सौधर्म और ऐशान देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति	२४६	४१७
'अधिके' पदका अध्याहार सहस्रार कल्पतक होता है	२४६	४१७
सानत्कुमार तथा माहेन्द्र कल्पके देवों की उत्कृष्ट स्थिति	२४६	४१७
ब्रह्मलोकसे लेकर अच्युत पर्यन्त देवों की उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन	२४७	४१८
सूत्रमें आये हुए 'तु' शब्दकी सार्थकता	२४७	४१८
अच्युतसे ऊपरके विमानोंकी उत्कृष्ट स्थिति	२४७	४१८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
सूत्रमें सर्वार्थसिद्धि पदको पृथक् ग्रहण करनेका कारण	२४७	४१८
सौधर्म और ऐशान देवोंकी जघन्य स्थिति	२४७	४१८
अन्य देवोंकी जघन्य स्थिति	२४८	४१८
द्वितीय आदि नरकोंकी जघन्य स्थिति का वर्णन	२४८	४१८
प्रथम नरककी जघन्य स्थिति	२४८	४१९
भवनवासी देवोंकी जघन्य स्थिति	२४९	४१९
व्यन्तरोंकी जघन्य स्थिति	२४९	४१९
व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति	२४९	४१९
ज्योतिषियोंकी उत्कृष्ट स्थिति	२४९	४१९
ज्योतिषियोंकी जघन्य स्थिति	२४९	४१९
ज्योतिष्क देवोंके चन्द्र आदि भेदोंकी उत्कृष्ट स्थिति	२४६	४१६
लौकान्तिकोंकी स्थितिका वर्णन	२५०	४१६
एक जीवपदार्थ नाना रूप है इस बात का विविध युक्तियों द्वारा समर्थन	२५०	४१६
अनेकात्मक एक जीवका ज्ञान कराने वाला शब्द दो प्रकारसे प्रवृत्त होता है	२५२	४२१
वे क्रम और यौगपद्य कालादिके भेदकी मुख्यता और गौणतासे होते हैं	२५२	४२१
सकलादेश और विकलादेशका अर्थ	२५२	४२२
सकलादेशमें सप्तभङ्गीकी संघटना	२५३	४२२
सात भङ्ग ही क्यों होते हैं इस बातका विचार	२५३	४२२
'स्यादस्त्येव जीवः' भङ्गका स्पष्टीकरण	२५३	४२३
'स्यादस्त्येव जीवः' यह भङ्ग पर्याप्त है, अन्य भङ्गोंकी क्या आवश्यकता इस शंकाका परिहार व अन्य उपयोगी शंका-समाधान	२५३	४२३
काल आत्म रूप आदिके द्वारा विचार	२५७	४२५
शेष भङ्गोंका विचार व शंका-समाधान	२५६	४२७

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितं

तत्त्वार्थवार्तिकम्

प्रणम्य सर्वविज्ञानमहास्पदमुरुश्रियम् ।
[1]निर्धूतकल्मषं वीरं वक्ष्ये तत्त्वार्थवार्तिकम् ॥१॥

श्रेयोमार्गप्रतिपित्सात्मद्रव्यप्रसिद्धेः ।१। उपयोगस्वभावस्यात्मनः श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रसिद्धौ सत्यां तन्मार्गप्रतिपित्सोत्पद्यते । कथम् ?

चिकित्साविशेष[2]प्रतिपत्तिवत् ।२। यथा व्याधिनिवृत्तिजफलश्रेयसा योक्ष्यमाणस्य चिकित्स्यस्य प्रसिद्धौ चिकित्सामार्गविशेषप्रतिपित्सोत्पद्यते तथा आत्मद्रव्यप्रसिद्धौ श्रेयोमार्गप्रतिपित्सेति । तस्मात् साधीयसी मोक्षमार्गव्याख्या स्वायम्भवीति । किञ्च,

सर्वार्थप्रधानत्वात् ।३। संसारिणः पुरुषस्य सर्वेष्वर्थेषु मोक्षः प्रधानम्, प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति तस्मात्तन्मार्गोपदेशः कार्यः तदर्थत्वात् ।

मोक्षोपदेशः पुरुषार्थप्रधानत्वादिति चेत्; न; जिज्ञासमानार्थिप्रश्नापेक्षिप्रतिवचनसद्भावात् ।४। आह मोक्षोपदेश एव कार्यो न मार्गोपदेशः । कस्मात् ? पुरुषार्थप्रधानत्वात् । सर्वश्रेयोभ्यः पुंसो मोक्ष एव परं श्रेयः आत्यन्तिकानुपमश्रेयस्त्वादिति; तन्न; जिज्ञासमानार्थिप्रश्नापेक्षिप्रतिवचनसद्भावात् । योऽसौ [3]मोक्षेणार्थी जिज्ञासमानः स मार्गमेव पृष्टवान् न मोक्षम्, अतस्तन्मार्गोपदेश एव न्याय्यः ।

मोक्षमेव कस्मान्नाप्राक्षीदिति चेत् ? न; कार्यविशेषसम्प्रतिपत्तेः ।५। स्यादेतत्–अयं प्रष्टा मोक्षमेव कस्मान्न पृष्टवान् कैमर्थक्यान्मार्गं पृष्टवानिति ? तन्न; कार्यविशेषसम्प्रतिपत्तेः । मोक्षकार्यं प्रति सर्वेषां सद्वादिनां [4]सम्प्रतिपत्तेर्न कारणं प्रति ।

कारणं तु प्रति विप्रतिपत्तिः, पाटलिपुत्रमार्गविप्रतिपत्तिवत् ।६। यथा केचित् पुरुषा नानादिग्भागापेक्षिषु मार्गेषु विप्रतिपद्यन्ते न पाटलिपुत्रे प्राप्तव्ये, तथा मोक्षकार्यं प्रतिपद्य तदर्थमादृताः सर्वे सद्वादिनस्तत्कारणेषु[5] विप्रतिपद्यन्ते । तद्यथा, [6]केचित्तावदाहुः–ज्ञानादेव मोक्ष इति । [7]अपर आहुः–ज्ञानवैराग्याभ्यामिति । पदार्थविबोधो ज्ञानम्, विषयसुखानभिष्वङ्गलक्षणं वैराग्यमिति । [8]अपर आहुः–क्रियात एव मोक्ष इति **"नित्यकर्महेतुकं निर्वाणम्"** [ ] इति वचनात् । किञ्च,

---

१ निर्धौत– मु०, आ०, ब०, द० । २ –वप्रवृत्ति– मु०, आ०, ब०, द० । ३ मोक्षेणार्थि जि– मु०, आ०, ब०, द० । ४ सम्प्रतिपत्तिर्न मु०, आ०, ब०, द० । ५ ज्ञानचारित्राविषु –सम्पा० । ६ नैयायिकाः –सम्पा० । ७ योगदर्शनिनः –सम्पा० । ८ मीमांसकाः –सम्पा० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पराभिप्रायनिवृत्त्यशक्यत्वात् ।७। न च परस्य प्रष्टुः प्रश्नाभिप्रायोऽस्मदादिभिः शक्यो निवर्तयितुं 'मा प्राक्षीर्मार्गं मोक्षं पृच्छ' इति[1], भिन्नरुचित्वाल्लोकस्य ।

कल्पनाभेदात्तद्विप्रतिपत्तिरिति चेत्; न; कर्मविप्रमोक्षसामान्यात् ।८। आह– न मोक्षं प्रति सम्प्रतिपत्तिरस्ति किन्तु विप्रतिपत्तिरेव । कस्मात् ? कल्पनाभेदात् । [2]अन्येऽन्यथालक्षणं मोक्षं परिकल्पयन्ति–'रूपवेदनासंज्ञा[3]संस्कार[4]विज्ञानपञ्चकस्कन्धनिरोधादभावो मोक्षः' इति । 'गुणपुरुषान्तरोपलब्धौ प्रतिस्वप्नलुप्तविवेकज्ञानवत् अनभिव्यक्तचैतन्यस्वरूपावस्था मोक्षः' इत्यपरे[5] । 'बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारनवात्मगुणात्यन्तोच्छेदो मोक्षः' इत्यन्ये[6] । तस्मात् कल्पनाभेदात् मोक्षं प्रति विप्रतिपत्तिरिति; तन्न; कर्मविप्रमोक्षसामान्यात् । सर्वेषां हि प्रवादिनां यां तामवस्थां प्राप्य कृत्स्नकर्मविप्रमोक्ष एव मोक्षोऽभिप्रेत इति आस्माकीनसमयाविरोधात् मोक्षकार्यं प्रति सम्प्रतिपत्तिः ।

कार्यविशेषोपलम्भात् कारणान्वेषणप्रवृत्तिरिति चेत्; न; अनुमानतस्तत्सिद्धेर्घटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्तिवत् ।९। आह–कार्यविशेषमुपलभ्य लौकिकाः कारणान्वेषणं प्रति आद्रियन्ते यथा ज्वरादिरोगदर्शनात्तत्कारणान्वेषणे भिषक् प्रवर्तते चिकित्साप्रसिद्ध्यर्थं तथा मोक्षदर्शनात्तत्कारणान्वेषणं न्याय्यम् । न चासौ दृश्यते, तस्मान्मोक्षकारणान्वेषणाभाव इति; तन्न; अनुमानतस्तत्सिद्धेः । प्रत्यक्षतोऽनुपलभ्यमानस्यापि मोक्षकार्यस्यानुमानत उपलब्धौ मोक्षकारणान्वेषणं युक्तं घटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्तिवत् । यथा बलीवर्दपरिभ्रमणापादितारगर्तभ्रान्ति घटीयन्त्रभ्रान्तिजनिकां बलीवर्दपरिभ्रमणाभावे चारगर्तभ्रान्त्यभावाद् घटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्ति च प्रत्यक्षत उपलभ्य सामान्यतोदृष्टादनुमानाद् बलीवर्दतुल्यकर्मोदयापादितां चतुर्गत्यरगर्तभ्रान्ति शारीरमानसविविधवेदनाघटीयन्त्रभ्रान्तिजनिकां प्रत्यक्षत उपलभ्य ज्ञानदर्शनचारि[7]त्राग्निनिर्दग्धस्य कर्मण उदयाभावे चतुर्गत्यरगर्तभ्रान्त्यभावात् संसारघटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्त्या भवितव्यमित्यनुमीयते । यासौ संसारघटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्तिः स एव मोक्ष इति । तस्मादनुमानतो मोक्षकार्यसिद्धेरध्यवस्यामो मोक्षकारणान्वेषणं न्याय्यमिति । किञ्च,

सर्वशिष्टसम्प्रतिपत्तेः ।१०। सर्वे शिष्टाः प्रत्यक्षतोऽनुपलभ्यमानस्यापि मोक्षकार्यस्यानुमानादस्तित्वमभ्युपेत्य प्रतिनियतमोक्षकारणेषु प्रयतन्ते । किञ्च,

आगमात्तत्प्रतिपत्तेः ।११। प्रत्यक्षतोऽनुपलभ्यमानोऽपि मोक्षः आगमादस्तीति निश्चीयते । कथम् ?

सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहणवत् ।१२। यथा सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहणममुष्यां वेलायाम् अमुना वर्णेन अमुना [8]दिग्विभागेन सर्वग्रासि नवेत्येवमादि सांवत्सरैरप्रत्यक्षमपि आगमाज्ज्ञायते तथा मोक्षोऽपीति । किञ्च,

स्वसमयविरोधात्[9] ।१३। 'अप्रत्यक्षत्वात् मोक्षो नास्ति' इति यस्य मतं तस्य स्व[10]समयविरोधो भवति । सर्वे हि समयवादिनो मोक्षादीनर्थानप्रत्यक्षानभिवाञ्छन्ति ।

बन्धकारणानिर्देशादयुक्तमिति चेत्; न; मिथ्यादर्शनादिवचनात् ।१४। स्यादेतत्–अन्यत्र[11]

---

१ –ति चेन्न भि– मु०, श्रा०, ब०, द० । २ बौद्धाः । "प्रदीपस्येव निर्वाणं विमोक्षस्तस्य चेतसः।" –प्रमाणवार्तिकाल० १।४५ । ३ निमित्तोद्ग्रहणात्मकं विकल्पविज्ञानम् –सम्पा० । ४ रागद्वेषादि –सम्पा० । ५ सांख्याः । "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" –योगसू० १।३ । ६ वैशेषिकाः । "नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्षः ।" –प्रश० व्यो० पृ० ६३८ । ७ –त्राग्निर्द –मु०, श्रा०, ब०, द० । ८ दिग्भागेन मु०, श्रा०, ब०, द० । ९ –विरोधः मु०, श्रा०, ब०, द० । १० समयविरोधः –सम्पा० । ११ सांख्यादिशास्त्रेषु –सम्पा० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्धकारणनिर्देशः कृतः *"**विपर्ययाद् बन्धः**" [सांख्य का० ४४] इत्यादिः[1], इह तु न कृतः, ततो मोक्षकारणनिर्देशस्यायुक्तिरिति; तन्न; मिथ्यादर्शनादिवचनात्। वक्ष्यते एतत्-*"**मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः।**" [त० सू०८।१] इति।

बन्धपूर्वकत्वान्मोक्षस्य प्राक् तत्कारणनिर्देश इति चेत्; न, आश्वासनार्थत्वात् ।१५। स्यादारेका-प्राङ् मोक्षकारणनिर्देशाद् बन्धकारणनिर्देशो न्याय्यः यतो बन्धपूर्वको मोक्ष इति; तन्न; आश्वासनार्थत्वात्। कथम्?

बन्धनबद्धवत् ।१६। यथा काराबन्धनबद्धः प्राणी बन्धकारणश्रवणाद् बिभेति मोक्षकारणश्रवणादाश्वसिति, तथा अनादिसंसारकारावरुद्ध आत्मा प्रथममेव बन्धकारणश्रवणात् मा भैषीत् मोक्षकारणश्रवणाच्च कथमाश्वासं यायादिति प्रथमं बन्धकारणमनुक्त्वा मोक्षकारणोपदेशः कृतः। किञ्च,

मिथ्यावादिप्रणीतमोक्षकारणनिराकरणार्थं वा ।१७। मिथ्यावादिप्रणीतैकद्विमोक्षकारणनिराकरणार्थोऽयमार्हतो मोक्षकारणनिर्देश आदौ कृतः, 'त्रयमेतत् संगतं मोक्षमार्गो नैकशो द्विशो वा' इति।

अतो विपर्ययमात्रप्रभवां संसारप्रक्रियां परिकल्प्य ज्ञानविशेषात्तद्विनिवृत्तिरित्येवमाद्यनेकमिथ्यावादिप्रणीतमतनिवृत्तये त्रैविध्यविजृम्भितमोक्षकारणप्रदर्शनार्थमाह—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥ [2]इति।

अपरे 'आरातीयपुरुष[3]शक्त्यपेक्षत्वात्सिद्धान्तप्रक्रियाऽऽविष्करणार्थं मोक्षकारणनिर्देशसम्बन्धेन शास्त्रानुपूर्वीं रचयितुमन्विच्छन् इदमवोचत्' इत्याचक्षते। नात्र शिष्याचार्यसम्बन्धो विवक्षितः। किन्तु संसारसागर[4]निमग्नानेकप्राणिगणाभ्युज्जिहीर्षा प्रत्यागूर्णः[5] 'अन्तरेण मोक्षमार्गोपदेशं हितोपदेशो [6]दुःष्प्रापः' इति निश्चित्य मोक्षमार्गं व्याचिख्यासुरिदमाह[7]।

प्रणिधानविशेषाहितद्वैविध्यजनितव्यापारं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।१। प्रणिधानम् उपयोगः परिणामः[8] इत्यनर्थान्तरम्। [9]येनार्थोऽर्थान्तराद्विशेष्यते यो वाऽर्थान्तरगतात्पर्यायाद्[10] विशिष्यते स विशेषः, विशिष्टिर्वा विशेषः, प्रणिधानमेव विशेषः प्रणिधानविशेषः, प्रणिधानस्य वा विशेषः प्रणिधानविशेषः[11]। आहितम् आत्मसात्कृतं परिगृहीतम् इत्यनर्थान्तरम्। विधयुक्तगतप्रकाराः समानार्थाः। निसर्गाधिगमभेदाद् द्वौ विधावस्येति द्विविधम्, द्विविधस्य भावः कर्म वा द्वैविध्यम्। प्रणिधानविशेषेणाहितं प्रणिधानविशेषाहितम्। प्रणिधानविशेषाहितं द्वैविध्यमस्य प्रणिधानविशेषाहितद्वैविध्यम्। जनितः प्रादुर्भावितः, व्यापृतिर्व्यापारः अर्थप्रापणसमर्थः क्रियाप्रयोगः। जनितो व्यापारोऽस्य जनितव्यापारम्। कश्चास्य व्यापारः? इह अन्तर्दर्शनमोहोपशमक्षयक्षयोपशमपर्यायपरिणामाद् बाह्यपरिणामकारणापादितात् आत्मनो जीवादिपदार्थविचारविषयोऽधिगमो निसर्गश्च व्यापारः। प्रणिधानविशेषा-

१ -वि इ -मु०, श्रा०, ब०, द०। २ 'इति' नास्ति श्रा०। ३ -च सक्त्यपेक्ष-ता०। ४ -गरेनि ता०, श्र०, द०। ५ उद्यतः। ६ तुलना-"नर्ते च मोक्षमार्गाद् हितोपदेशोऽस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन्।" -त० भा० का० ३१। ७ तत्र सम्यग्दर्शनस्य कारणभेदलक्षणानां वक्ष्यमाणत्वादिह उद्देशमात्रमाह। ८ विशुद्धमध्यवसायमित्यर्थः। ९ सान्तरिमत्वाविना गवादिः प्रश्वादेः। १० केसरादेः। ११ परोपदेशानपेक्षत्वमितियावत्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हितद्वैविध्यमेव जनितव्यापारं प्रणिधानविशेषाहितद्वैविध्यजनितव्यापारं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । अस्यार्थ उत्तरत्र वक्ष्यते ।

[1]**नयप्रमाणविकल्पपूर्वको जीवाद्यर्थयाथात्म्यावगमः सम्यग्ज्ञानम् ।२।** नयौ च प्रमाणे च नयप्रमाणानि, तेषां विकल्पाः नयप्रमाणविकल्पाः । द्वौ नयौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च, द्वे प्रमाणे प्रत्यक्षं परोक्षं च, तेषां विकल्पा नैगमादयो मत्यादयश्च वक्ष्यन्ते । पूर्वशब्दस्तत्कारणवाची । नयप्रमाणविकल्पपूर्वको नयप्रमाणविकल्पहेतुक इत्यर्थः । येन येन प्रकारेण जीवादयः पदार्था अवस्थिताः तेन तेनावगमः जीवाद्यर्थयाथात्म्यावगमः सम्यग्ज्ञानम् । मोहसंशयविपर्ययनिवृत्त्यर्थं सम्यग्विशेषणम् ।

[2]**संसारकारणविनिर्वृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतो [3]बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषोपरमः[4] सम्यक्चारित्रम् ।३।** संसारः पञ्चविधः द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपरिवर्तनभेदात् । तस्य कारणं कर्म अष्टिवधम्, तस्य विशेषेणात्यन्तिकी निवृत्तिः संसारकारणविनिवृत्तिः, तां प्रत्यागूर्णस्योद्यतस्य, ज्ञानवत इति प्रशंसायां मतुः, यथा रूपवानिति प्रशंसायुक्तस्य सत्ता कथ्यते । नहि कस्यचिद्रूपं नास्ति, प्रशस्तं तु नास्ति, तथा ज्ञानमस्यास्तीति ज्ञानवानिति प्रशंसायुक्तस्य सत्ता कथ्यते । न कस्यचिज्ज्ञानं नास्ति सर्व एवात्मा ज्ञानवान् चैतन्यात्, मिथ्यादर्शनोदये विपरीतार्थग्राहित्वात् मिथ्यादृष्टिरज्ञः, तदभावे याथात्म्येनार्थविभावनात् सम्यग्दृष्टिः प्रशस्तज्ञानः, तस्य ज्ञानवतः । क्रिया क्रियान्तराद्विशिष्यते येन स विशेषः, विशिष्टिर्वा विशेषः । स द्विविधो बाह्य आभ्यन्तरश्चेति । बाह्यो वाचिकः कायिकश्च बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्, आभ्यन्तरो मानसः छद्मस्थाप्रत्यक्षत्वात् , तस्योपरमः सम्यक्चारित्रमित्युच्यते[5] । स पुनः परमोत्कृष्टो भवति वीतरागेषु यथाख्यातचारित्रसंज्ञकः । आरातीयेषु संयतासंयतादिषु सूक्ष्मसाम्परायिकान्तेषु प्रकर्षाप्रकर्षयोगी भवति ।

ज्ञानदर्शनयोः करणसाधनत्वं कर्मसाधनश्चारित्रशब्दः ।४। ज्ञानं दर्शनमिति करणसाधनावेतौ शब्दौ, *"करणाधिकरणयोः" [जैने० २।४।९९] इति युटो विधानात् । कर्मसाधनश्चारित्रशब्दः *"भूवदिगृभ्यो णित्रश्चरेर्वृत्ते"[उणादि० ४।१७७-७८] इति कर्मणि विधानात् । ज्ञानदर्शनशक्तिविशेषशुद्धिसन्निधाने जीवादीनर्थानात्मा जानाति पश्यति वा येन तज्ज्ञानं दर्शनं च । चारित्रमोहोपशमक्षयक्षयोपशमसद्भावे चर्यते तदिति चारित्रम् ।

कर्तृकरणयोरन्यत्वादन्यत्वमात्मज्ञानादीनां परश्वादिवदिति चेत्; न; तत्परिणामादग्निवत् ।५। स्यादारेका–ज्ञानदर्शनयोरात्मद्रव्यादन्यत्वम्, कस्मात् ? दृष्टत्वात् देवदत्तपरशुवदिति; तन्न; किं कारणम् ? तत्परिणामादग्निवत् । यथा बाह्यद्रव्यादिपञ्चतयहेतुसन्निधाने सति आभ्यन्तरपरिणामवशात् [6]तेजस्कायिकनामकर्मोदयाविर्भावितौष्ण्यपर्याय आत्मा

---

१ तथैव निर्वेक्ष्यमाणत्वात् सम्यग्ज्ञानलक्षणमिह निरुक्तिलभ्यं व्याचष्टे । २ सम्यक्चारित्रं निरुक्तिगम्यलक्षणमाह । ३ विनिवृत्तिः सम्यक्चारित्रमित्युच्यमाने शीर्षोपहारादिषु स्वशीर्षादिद्रव्यनिवृत्तिः सम्यक्त्वादिस्वगुणनिवृत्तिश्च तन्माभूदिति क्रियाग्रहणम् । ४ बहिःक्रियायाः कायवाग्योगरूपाया एव आभ्यन्तरक्रियाया एव वा मनोयोगरूपाया विनिवृत्तिः सम्यक्चारित्रं माभूदिति क्रियाया बाह्याभ्यन्तरविशेषणम् । लाभाद्यर्थं तदृशक्रियाविनिवृत्तिरपि (तन्माभूदिति संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्येति वचनम्) नापि मिथ्यादृशः सा तद् भवति इति ज्ञानवत इति वचनात् । सम्यग्विशेषणादिह ज्ञानाभ्यता संसारकारणविनिवृत्तिता च लभ्यते । चरित्रशब्दात् बहिरभ्यन्तरक्रियाविनिवृत्तिता सम्यक्चारित्रस्य सिद्धा तदभावे तद्भावानुपपत्तेः । ५ –त्रमुच्यते ता०, श्रा०, ब०, द० । ६ तैज– मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्परिणामादग्निव्यपदेशभाग् भवति, स एवम्भूतनयवक्तव्यतया उष्णपर्यायादनन्यः, तथा एवम्भूतनयवक्तव्यवशाज्[1] ज्ञानदर्शनपर्यायपरिणत आत्मैव ज्ञानं[2] दर्शनं च तत्स्वाभाव्यात् ।

अतत्स्वाभाव्येऽनवधारणप्रसङ्गोऽग्निवत् ।६। यथा अग्निरुष्णपर्यायेणान्यद्रव्यासाधारणेनावधार्यते 'अयमग्निः' इति, स चेत्तत्स्वभावो न भवेत् प्रतिविशिष्टासाधारणपर्यायाभावादग्नेरनवधारणप्रसङ्गः । तथा आत्मनोऽपि ज्ञानादन्यत्वेऽनवधारणम्, यतोऽयमन्यद्रव्यासाधारणज्ञानपर्यायः तत्स्वभावात्, ततोऽनन्यो द्रव्यार्थादेशात् । स चेन्न ज्ञानस्वभावः सत्येवमज्ञः स्यात्, ततश्चास्यानवधारणप्रसङ्गः ।

अर्थान्तरात् संप्रत्यय इति चेत्; न; उभयासत्त्वात् ।७। स्यादेतत्–अन्यत्वे सत्यपि नानवधारणम् । कुतः ? यस्मादर्थान्तरात् संप्रत्ययः नीलीद्रव्यसम्बन्धाच्छाटीपटकम्बलादिषु नीलसम्प्रत्ययवत् । यथा अर्थान्तरभूतेन नीलीद्रव्येण [3]सम्बद्धत्वाच्छाटीपटकम्बलादिषु नीलसम्प्रत्ययः तथा अर्थान्तरभूतोष्णगुणसमवायादुष्णोऽग्निः, आत्मा[4]चार्थान्तरभूतज्ञानगुणसमवायाज् ज्ञ इति; तन्न; किं कारणम् ? उभयासत्त्वात् । दण्डदण्डिवत्[5]। यथा दण्डसम्बन्धात् प्राग्दण्डी जात्यादिभिर्लक्षणैः स्वतः सिद्धत्वात् सन्,[6] दण्डोऽपि प्राग्दण्डिसम्बन्धाद्वृत्तद्राघिमादिना लक्षणेन स्वतः सिद्धत्वात् सन्, [7]अतो दण्डयोगाद्दण्डीत्येतन्न्याय्यम्, तथा नीलद्रव्ययोगाच्छाटयादि नीलमित्येतन्न्याय्यम्, तथोष्णगुणयोगान्न प्रागग्नेरस्त्यद्विशेषलक्षणं सद्भावस्य प्रख्यापकमस्तीति असन्नग्निः, उष्णस्यापि प्रागग्नियोगादसत्त्वं निराश्रयगुणाभावात् । न चासतोः सम्बन्धो दृष्ट इष्टो वा । आत्मनोऽपि ज्ञानगुणयोगात् प्रागसत्त्वं विशेषलक्षणाभावात् । ज्ञानस्याप्यात्मद्रव्यसंबन्धात् प्रागसत्त्वं निराश्रयगुणाभावात् । नचासतोः सम्बन्धो दृष्ट इष्टो वा । तस्मादुभयासत्त्वान्नार्थान्तरात् संप्रत्ययः । किञ्च,

उभयथाप्यसद्भावात् ।८। कथम् ?

[8]**सर्वासिद्धादिवत् ।९।** इदमसि[9]त्वं प्रष्टव्यः–उष्णगुणयोगात् प्रागग्ना उष्ण इति ज्ञानं स्याद्वा, न वेति ? यदि प्रागुष्णगुणयोगादग्नावुष्ण इति ज्ञानं[10] स्यात्; कैमर्थक्यादुष्णगुणयोगः प्रार्थ्यते ? अथ नास्ति; अतोऽप्युष्णज्ञानाभावात्, अनुष्णस्वभावस्याग्नेः उष्णगुणयोगादुष्ण इति व्यपदेशाभावः[11] । किञ्च,

अनवस्थाप्रतिज्ञाहानिदोषप्रसङ्गात् ।१०। कथम् ?

सर्वसत्प्रतिपक्षवादिवत् ।११। यथा यद्युष्णगुणयोगादग्निरुष्णः; अथोष्णगुणः, केन योगादुष्णः ? स्वभावादिति चेत्; अग्नौ कोऽपरितोषः ? उष्णत्वादुष्णगुणस्योष्णत्वमिति चेत्; उष्णत्वस्योष्णत्वं कुतः ? स्वत एवेति चेत्; अग्नौ कोऽपरितोषः ? अथाग्नेरुष्णत्वं स्वत एव मासिधदिति उष्णत्वस्याप्यन्यदुष्णत्वमस्ति तस्याप्यन्यदित्यनवस्था । अथानवस्था माभूदिति स्वत एवोष्णत्वस्योष्णत्वम्, ननु प्रतिज्ञाहानिः 'अर्थान्तरात् संप्रत्ययः' इति । तथा यदि ज्ञानगुणयोगादात्मा ज्ञः, अथ ज्ञानगुणः केन योगात् ? स्वभावादिति चेत्; आत्मनि कोऽपरितोषः । ज्ञानत्वाज्ज्ञानगुणस्य ज्ञानव्यपदेश इति चेत्; ज्ञानत्वस्य ज्ञानत्वं कुतः ? स्वत एवेति चेत्; आत्मनि कोऽपरितोषः ? अथात्मनो ज्ञत्वं स्वत

१–वक्तव्यतावशा–मु०, श्रा०, ब०, द० । २ –नं च दर्शनं मु०, श्रा०, ब०, द० । ३ सम्बन्ध–श्रा०, ब०, मु० । ४ वार्था–मु०, श्रा०, ब० । ५ व्यतिरेकदृष्टान्तोऽयम् । ६ स दण्डो मु०, श्रा०, ब० । ७ सतो मु०, श्रा०, ब० । ८ सर्वसद्वादि– अ० । ९ इवमस्तित्वं मु०, श्रा०, ब० । 'इदं त्वं प्रष्टव्योऽसि' इत्यर्थः–सम्पा० । १० –नं कै– मु०, श्रा०, ब०, द० । ११ –भावात् किञ्च ता०, मु०, श्रा०, ब०, द० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एव मासिषदिति ज्ञानत्वस्याप्यन्यज्ज्ञानत्वमस्ति [1]तस्याप्यन्यत् तस्याप्यन्यदित्यनवस्था। अथानवस्था माभूदिति स्वत एव ज्ञानत्वस्य ज्ञानत्वमिष्टं ननु प्रतिज्ञाहानिः 'अर्थान्तरात् संप्रत्ययः' इति। किञ्च,

तत्परिणामाभावात् ।१२। यथा दण्डसंबन्धेऽपि दण्डिनो न दण्डपरिणामः दण्डिव्यपदेशमात्रप्रतिलम्भात्, तथा उष्णगुणस्योष्णत्वसामान्यविशेषसंबन्धे नोष्णत्वं गुण-सामान्य-विशेषपदार्थभेदात्, अत 'उष्णत्ववानुष्णगुणः' इत्यासक्तं न तु 'उष्णः' इति। तथोष्णगुणसंबन्धेऽप्यग्नेर्नोष्णत्वं द्रव्य-गुणपदार्थभेदात्, अत 'उष्णवानग्निः' इत्यासक्तं न तु स्वयम् 'उष्णः' इति।

समवायादिति चेत्; न; प्रतिनियमाभावात् ।१३। स्यान्मतम्–समवायो नामायुतसिद्धलक्षणः संबन्ध इहेदंबुद्धयभिधानप्रवृत्तिहेतुः तेनैकत्वमिव[2] नीतानां व्यपदेशो भवति–उष्णत्वसमवायादुष्णो गुणः, उष्णगुणसमवायाच्चाग्निरुष्ण इति; तन्न; कुतः? प्रतिनियमाभावात्। उष्णत्वोष्णगुणयोः अग्न्युष्णयोश्चान्यत्वे कोऽयं प्रतिविशिष्टो नियमो यदुष्णगुणस्याग्नावेव समवायो नाप्सु, शीतगुणस्य चाप्स्वेव समवायो नाग्नौ। उष्णत्वस्य चोष्णगुणेनैव समवायो न शीतादिगुणान्तरेणेति। [3]तद्येन विशेषेणायं प्रतिनियम इष्यते न तं पश्यामः। अत एव द्रव्यपरिणाम एवौष्ण्यमिति सिद्धं नान्यस्तत्प्रतिनियमहेतुरस्ति। स्वभावो हेतुरिति चेत्; तत एव तत्परिणामसिद्धिः[4]। किञ्च,

समवायाभावो वृत्त्यन्तराभावात् ।१४। नास्ति तत्परिकल्पितः समवायः। कुतः? वृत्त्यन्तराभावात्। यथा गुणादीनां पदार्थानां द्रव्ये समवायसंबन्धाद्वृत्तिरिष्टा तथा समवायः पदार्थान्तरं भूत्वा केन संबन्धेन द्रव्यादिषु वर्त्स्यति समवायान्तराभावात्? एक एव हि समवायः [5]"**तत्त्वं भावेन व्याख्यातम्**" [वैशे० ७।२।२८] इति वचनात्। न च संयोगेन वृत्तिः युतसिद्धयभावात्, युतसिद्धानामप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः संयोगः। न चान्यः संबन्धः संयोगसमवायविलक्षणोऽस्ति येन समवायस्य द्रव्यादिषु वृत्तिः स्यात्। अतः समवायिभिरनभिसंबन्धात् नास्ति खरविषाणवत् समवायः।

प्राप्तित्वात् प्राप्त्यन्तराभाव इति चेत्; न; व्यभिचारात् ।१५। स्यान्मतम्–द्रव्यादीनि प्राप्तिमन्ति अतस्तेषां यया कयाचित् प्राप्त्या भवितव्यम्, समवायस्तु प्राप्तिर्न प्राप्तिमान्, अतः प्राप्त्यन्तराभावेऽपि स्वत एव प्राप्नोतीति; तच्च न; कस्मात्? व्यभिचारात्। यथा संयोगः प्राप्तिरपि सन् प्राप्त्यन्तरेण समवायेन वर्तते तथा समवायस्यापि स्यादिति।

प्रदीपवदिति चेत्; न; तत्परिणामादनन्यत्वसिद्धेः ।१६। स्यादेतत्–यथा प्रदीपः प्रदीपान्तरमनपेक्षमाण आत्मानं प्रकाशयति घटादींश्च, तथा समवायः संबन्धान्तरापेक्षामन्तरेणात्मनश्च द्रव्यादिषु वृत्तिहेतुर्द्रव्यादीनां च परस्परत इति; तन्न; कुतः? तत्परिणामादनन्यत्वसिद्धेः। यथा प्रदीपः स्वयं प्रकाशपरिणामात् प्रकाशात्मनोऽनन्यः प्रकाशान्तरं नापेक्षते, अन्यथा प्रकाशात्मनोऽन्यत्वे प्रदीपस्याप्रदीपत्वप्रसङ्गः, यतो न प्रकाशात्मानं [6]प्रोज्झ्यान्यः प्रदीपोऽस्ति, तथा न द्रव्यादन्ये गुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः सन्ति द्रव्यस्यैवोभयपरिणामकारणापेक्षस्य गुणः कर्म

---

१ तस्याप्यन्यदि–आ०, ब०, द०, मु०, ता०। २–वानी–मु०। ३ तस्मात्तेन मु०, आ०, ब०, द०। ४ –सिद्धेः ता०। ५ "व्याख्यातमिति शेषः। तत्त्वमेकत्वं, भावेन सत्तया व्याख्यातम्। यथैका सत्ता सर्वत्र सद्बुद्धिप्रवर्तिका तथैक एव समवायः सर्वत्र समवेतबुद्धिप्रवर्तकः स्वलिङ्गाविशेषात् विशेषलिङ्गाभावाच्च" –वैशे० उप०। ६ प्रोह्यान्यः मु०, आ०, ब०।

सामान्यं विशेषः समवाय इत्येवमादिपर्यायान्तरेण परिणामः। यथा प्रदीपः स्वलक्षणप्रसिद्धो घटादिभ्योऽन्यो नैवं समवायः स्वलक्षणप्रसिद्धः द्रव्यादन्योऽस्ति, द्रव्यस्यैव गुणादि-पर्याय-परिणामात्। तस्मान्न प्रदीपवत् समवायसिद्धिः। अन्यथा च द्रव्यादन्यत्वे गुणादीनां द्रव्यस्याद्रव्यत्वप्रसङ्गो यतो न गुणादिपर्यायान् प्रोज्झ्यान्यद् द्रव्यमस्ति। यदि वा गुणादीन् प्रोज्झ्य द्रव्यं केनचिदन्येन स्वविशेषेण प्रसिद्धं यद् गुणादिभिः सम्बध्यते स विशेष उच्यताम्? यतो न गुणादिपरित्यागेनान्यो द्रव्यस्य विशेषः स्वतः प्रसिद्धोऽस्ति। अतो द्रव्यपरिणामा एव गुणादय [1]इति सिद्धम्। किञ्च,

[2]**विशेषविज्ञानाभावात्** ।१७। यस्य युतायुतसिद्धार्थग्राहकं विज्ञानमेकमस्ति तस्य अयुतसिद्धानां समवायः युतसिद्धानां संयोग इति स्याद्विशेषविज्ञानम्, भवतस्तु [3]क्षणिकैकार्थविषयत्वाज्ज्ञानानां तद्विशेषविज्ञानाभावः, तदभावात्तद्विवेकाभावः।

संस्कारादिति चेत्; न; तस्यापि तादात्म्यात् ।१८। स्यादेतत्–ज्ञानजो ज्ञानहेतुश्च संस्कारोऽस्ति, तस्यादः सामर्थ्यमिति; तन्न; कुतः? तस्यापि तादात्म्यात्। एकार्थग्राहिज्ञानजस्य[4] संस्कारस्य चैकार्थग्राहिज्ञानहेतुत्वात्, अनेकार्थग्राहिज्ञानाभावाच्चानेकार्थग्राहिज्ञानसंस्काराभावः, तस्मात् पूर्वोक्तो दोषस्तदवस्थ एव।

अथवा, अयमर्थः–'कर्तृकरणयोरन्यत्वादन्यत्वमात्मज्ञानादीनां परश्वादिवदिति चेत्; न; तत्परिणामादग्निवदिति। यथा अग्निरग्निस्वभावादन्यो दहन्[5]–दाहक्रियायाः कर्ता। किंकरणो दहति? तत्परिणामादन्यात्मैव करणम्, तथा आत्मा ज्ञस्वभावत्वात् ज्ञानादन्यः, तत्परिणामादर्थान् जानन् ज्ञानक्रियायाः कर्ता। किंकरणो जानाति? तत्परिणामात् तदेव ज्ञानं करणत्वेन विवक्ष्यते। अन्यथा '[6]चाऽतत्स्वाभाव्ये अनवधारणप्रसङ्गोऽग्निवत्' इत्येवमादिवाक्यार्थविवरणं दहनस्वभावापेक्षया योज्यम्। किञ्च,

अनेकान्तात् पर्यायपर्यायिणोरर्थान्तरभावस्य घटादिवत् ।१९। यथा घटकपालशकलशर्करादीनां नयद्वयार्पणाभेदात् स्यादेकत्वं स्यादन्यत्वम्। कथम्? इह पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् पर्यायार्थानर्पणात् मृद्रूपद्रव्याजीवानुपयोगादिद्रव्यार्थार्पणात् स्यादेकत्वम्, यतो घटकपालादयो मृद्रूपद्रव्यार्थं न जहति। तेषामेव द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्याद् द्रव्यार्थानर्पणात् कारणविशेषापादितभेदपर्यायार्थार्पणात् स्यादन्यत्वम्, यतोऽन्यो घटपर्यायः अन्यश्च कपालादिपर्यायः, तथा मृदो घटादिपर्यायाणां च स्यादेकत्वं स्यादन्यत्वम्। कथम्? तत्परिणामात् स्यादेकत्वम्, यतो मृद्रूपमेव उभयपरिणामकारणवशाद् घटकपालादिपर्यायपरिणतं तद्व्यपदेशभाग् भवति, नान्या मृत् नान्ये घटादयो मृद्रूपव्यतिरिक्तघटादिपर्यायाभावात्। पर्यायि-पर्यायभेदाच्च स्यादन्यत्वम्, यतः पर्यायि मृद्द्रव्यं पर्याया घटादयः। तथा आत्मनोऽपि ज्ञानादिपर्यायाणां च स्यादेकत्वं स्यान्नानात्वम्। कथम्? पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् पर्यायार्थानर्पणात् अनादिपारिणामिकचैतन्य[7]जीवद्रव्यादिद्रव्यार्थार्पणात् स्यादेकत्वम्, यतो ज्ञानादयोऽनादिपारिणामिकचैतन्यजीवद्रव्यादिद्रव्यार्थं न जहति। तेषामेव द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्याद् द्रव्यार्थानर्पणात् कारणविशेषापादितभेदपर्यायार्थार्पणात् स्यादन्यत्वम्, यतोऽन्यो ज्ञानपर्यायोऽन्ये च दर्शनादिपर्यायाः, तथा आत्मनो ज्ञानादिपर्या-

---

१ इति प्रति– मु०। २ विशेषपरिज्ञा–मु०, आ०, ब०, द०। ३ क्षणिकम् एकार्थविषयञ्च ज्ञानं यतः। ४ –नस्य संस्का– आ०, ब०, मु०, द०। ५ कोऽर्थः। ६ वा त– मु०, आ०, ब०, द०। ७ –जीवद्रव्यार्था– मु०, आ०, ब०, द०।

याणां च स्यादेकत्वं स्यादन्यत्वम् । कथम् ? तत्परिणामादेशात् स्यादेकत्वम्, यत आत्मैवोभयपरिणामकारणवशात् ज्ञानादिपर्यायिपरिणतो ज्ञानादिव्यपदेशभाग् भवति, नान्य आत्मा नान्ये ज्ञानादयः आत्मद्रव्यव्यतिरिक्तज्ञानादिपर्यायाभावात् । पर्यायिपर्यायभेदाच्च स्यादन्यत्वम्, यतः पर्यायी आत्मा पर्याया ज्ञानादयः । तस्मादेकत्वान्यत्वं प्रत्यनेकान्तोपपत्तेः तत्परिणामत्वेऽपि करणभावो युक्तः ।

इतरथा हि एकार्थपर्यायादन्यत्वप्राप्तिर्वृक्षवत् ।२०। यस्यैकान्तिकं कर्तृकरणयोरन्यत्वं तस्यैकार्थपर्यायादन्यत्वं प्राप्तम् । कथम्? वृक्षवत् । यथा 'प्रासादं करोति परश्वादिभिः' इत्यत्र कर्तृकरणयोरन्यत्वं तथा 'भज्यते वृक्षः शाखाभारेण' इत्येकस्य वृक्षस्य शाखाभारार्थपर्यायादन्यत्वं प्राप्तम्, [1]न चादोऽस्ति, यतो न शाखाभारादृते अन्यो वृक्षः । न च शाखाभारादन्यो वृक्षो न भवतीति 'भज्यते वृक्षः शाखाभारेण' इति एकार्थपर्यायात्मकः करणनिर्देशो न [2]भवति ? तथा नात्मद्रव्यादृते अन्यज्ज्ञानम् । न चात्मद्रव्यादृते नान्यज्ज्ञानमिति 'जानात्यनेनार्थानात्मा' इत्येकार्थपर्यायात्मकं करणं न भवति ? किञ्च,

करणस्योभयथोपपत्तेर्द्रव्यस्य मूर्तिमदमूर्तिभेदवत् ।२१। यथा द्रव्यस्य मूर्तिमदमूर्तिभेदादेकान्तपरिग्रहो नास्ति–पुद्गलद्रव्यं मूर्तिमत्, धर्माधर्माकाशकाला अमूर्तयः, आत्मा [3]चामूर्तिः द्रव्यार्थादेशात् न पर्यायार्थादेशात्, तस्यानादिकार्मणशरीरसंबन्धात् । तथा करणं द्वेधा–विभक्ताऽविभक्तकर्तृकभेदात् । कर्तुरन्यद्विभक्तकर्तृकं यथा 'परशुना छिनत्ति देवदत्तः' इति । कर्तुरनन्यदविभक्तकर्तृकं यथा 'अग्निरिन्धनं दहत्यौष्ण्येन[4]' इति । तथा 'आत्मा ज्ञानेनार्थान् जानाति' इत्यविभक्तकर्तृकं करणम् । किञ्च,

दृष्टान्ताच्च कुशूलस्वातन्त्र्यवत् ।२२। यथा 'भिनत्ति कुशूलं देवदत्तः' इत्यत्र कुशूलो यदा भिदिक्रियायाः सुकरतया स्वातन्त्र्येण विवक्षितः स्वयमेवात्मानं भिनत्ति इति, तदा 'किं करणोऽसावात्मानं भिनत्ति' इति विवक्षायां कुशूलात्मैव करणत्वेनोपादीयते । तथा आत्मैव ज्ञाता करणं च भवति । किञ्च,

एकार्थपर्यायविशेषोपपत्तेरिन्द्रादिव्यपदेशवत् ।२३। इहैकस्यार्थस्य अनेक[5]पर्यायविशेषोपपत्तिर्दृष्टा । न चास्य तेभ्यः पर्यायेभ्योऽन्यत्वम् । कथम् ? इन्द्रादिव्यपदेशवत् । यथैकस्य देवराजार्थस्य इन्द्रशक्रपुरन्दराद्यनेकव्यञ्जनपर्यायविशेषोपपत्तिः । नच देवराजस्य इन्द्रशक्रपुरन्दरा[6]दिपर्यायेभ्योऽन्यत्वम् । न चानन्यत्वात् येनायमिन्द्रस्तेनैव शक्रः पुरन्दरो वा, येन वा शक्रस्तेनैवेन्द्रः पुरन्दरो वा, येन वा पुरन्दरस्तेनैवेन्द्रः शक्रो वा । कथम् ? इह यत इन्द्रादीनां प्रतिनियतव्यञ्जनपर्यायोपपत्तिः–इन्दनादिन्द्रः शकनाच्छक्रः पूर्दारणात् पुरन्दर इति । न चेन्दनशकनपूर्दारणव्यञ्जनपर्यायभेदात् देवराज इन्द्रः शक्रः पुरन्दरो वा न भवति । भवत्येव । तथैकस्य आत्मनो ज्ञानादिपर्यायविशेषोपपत्तिः, तस्मादेकार्थपर्यायविशेषोपपत्तेः नान्यत्वमात्मद्रव्यादेकान्तेन ज्ञानादीनाम् ।

कर्तृसाधनत्वाद्वा दोषाभावः ।२४। अथवा, नेमौ ज्ञानदर्शनशब्दौ करणसाधनौ । किं तर्हि ? कर्तृसाधनौ । तथा चारित्रशब्दोऽपि न कर्मसाधनः । किं तर्हि ? कर्तृसाधनः । कथम् ? एवम्भूतनयवशात् । ज्ञानदर्शनचारित्राणि आत्मैवेष्टः, अतस्तत्परिणामाज्ज्ञानादिपरिणत आत्मैव

---

१ न चादोऽस्ति ता० । २ भवतीति मा०, ब०, द०,मु० । ३ चामूर्तः मा०, ब, द ०, मु०, ता० । ४ –ष्ण्येनेति मा० । ५–कव्यप– श्र० । ७ –रपर्या– श्र० ।

जानातीति ज्ञानम्, पश्यतीति दर्शनम्, चरतीति चारित्रम्। अतो [1]य उक्तः–'कर्तृकरणयोरन्यत्वादन्यत्वमात्मज्ञानादीनाम्' इति दोषः; स न भवति।

लक्षणाभाव इति चेत्; न; बाहुलकात् ।२५। स्यादेतत्–न लक्षणमस्ति कर्तरि युटो विधायकमिति; तन्न; कुतः? बाहुलकात् *"**युड् व्याबहुलम्**" [जैने० २।३।९४] इति कर्तरि युट् णित्रश्च यत्र विहिताः ततोऽन्यत्रापि दृश्यन्ते–[2]त्या भावकर्मणोर्विहिताः करणादिष्वपि भवन्ति–स्नात्यनेन स्नानीयश्चूर्णः, ददात्यस्मै इति दानीयोऽतिथिः, समावर्तन्ते तस्मादिति समावर्तनीयो गुरुः। करणाधिकरणयोर्युङुक्तः कर्मादिष्वपि दृश्यते–निरदति तदिति निरदनम्, प्रस्कन्दति तस्मादिति प्रस्कन्दनम्। अथवा,

भावसाधना ज्ञानादिशब्दाः तत्त्वकथनात् दात्रस्य करणव्यपदेशवत् ।२६। यथौदासीन्येनावस्थितमच्छिन्ददत्तृणादि दात्रं करणमिति व्यपदिश्यते, तथौदासीन्येनावस्थितानि ज्ञानदर्शनचारित्राणि प्रतिनियतज्ञानदर्शनचरणक्रियाव्यापारं प्रति निवृत्तौत्सुक्यानि कथ्यन्ते–कोऽसौ मोक्षमार्गः? ज्ञानदर्शनचारित्राणि–ज्ञातिर्ज्ञानम्, दृष्टिर्दर्शनम्, चरणं चारित्रमिति। क्रियाव्यापृतानां तु ज्ञानादीनां कर्त्रादिकारकव्यवहारः।

व्यक्तिभेदादयुक्तमिति चेत्; न; एकार्थे शब्दान्यत्वाद् व्यक्तिभेदगतेः ।२७। स्यादेतत्–'ज्ञानमात्मा' इत्ययुक्तम्। कस्मात्? व्यक्तिभेदात्, अभिधेयवल्लिङ्गसंख्ये भवतोऽभिधानस्येति'ज्ञान आत्मा' इति प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? एकार्थे शब्दान्यत्वाद् व्यक्तिभेदगतेः–एकस्मिन्नप्यर्थे शब्दभेदाद् व्यक्तिभेदा दृश्यन्ते, यथा 'गेहं कुटी मठः, पुष्यः तारका नक्षत्रम्' इति, एवं 'ज्ञानमात्मा' इत्यपि स्यात्।

ज्ञानग्रहणमादौ न्याय्यं तत्पूर्वकत्वाद्दर्शनस्य ।२८। आह–इह ज्ञानग्रहणमादौ न्याय्यम्। कुतः? तत्पूर्वकत्वाद्दर्शनस्य, यतः पदार्थतत्त्वोपलब्धिपूर्वकं श्रद्धानम्।

अल्पाच्तरत्वाच्च ।२९। दर्शनात् ज्ञानमल्पाच्तरम्, अतश्च पूर्वं वाच्यम्।

न; उभयोर्युगपत्प्रवृत्तेः, [3]प्रकाशप्रतापवत् ।३०। नैष दोषः। कुतः? उभयोर्युगपत्प्रवृत्तेः। कथम्? प्रकाशप्रतापवत्। यथा सवितुर्घनपटलावरणविगमे प्रतापप्रकाशप्रवृत्तिर्युगपद् भवति तथा ज्ञानदर्शनयोर्युगपदात्मलाभः। तद्यथा–यदा दर्शनमोहस्योपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा आत्मा सम्यग्दर्शनपर्यायेणाविर्भवति तदैव तस्य मत्यज्ञानश्रुताज्ञाननिवृत्तिपर्वकं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं चाविर्भवति।

दर्शनस्यैवाभ्यर्हितत्वात् ।३१। यदप्युक्तम्–'अल्पाच्तरत्वाज्ज्ञानस्य पूर्वनिपातः' इति; तदसत्; कस्मात्? दर्शनस्यैव अभ्यर्हितत्वात्। ज्ञानाद्दर्शनमेवाभ्यर्हितम्, दर्शनसन्निधाने सत्यज्ञानस्यापि ज्ञानभावात्, ज्ञात्वाप्यश्रद्दधतस्तदभावात्।

मध्ये ज्ञानवचनम्, ज्ञानपूर्वकत्वाच्चारित्रस्य ।३२। यतो जीवादिपदार्थतत्त्वज्ञानसन्निधाने सति [4]चारित्रमोहस्योपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा कर्मादानहेतुक्रियाविशेषोपरमश्चारित्रपरिणामो भवति, ततश्चारित्रस्य ज्ञानपूर्वकत्वात् ज्ञानं पूर्वं प्रयुक्तम्।

इतरेतरयोगे द्वन्द्वः, मार्गं प्रति परस्परापेक्षाणां प्राधान्यात् ।३३। अयमितरेतरयोगे द्वन्द्वो दर्शनं च ज्ञानं च चारित्रं च दर्शनज्ञानचारित्राणीति। कुतः? मार्गं प्रति परस्परापेक्षाणां प्राधान्यात्।

---

१ यदुक्तं क–अ०, ता०, मू०। २ ण्याभाव–आ०, ब०, द०, मु०। त्याः इति प्रत्यया इत्यर्थः। –अ० टि०, ता० टि०। ३ प्रतापप्रकाशवत् मु०, आ०, ब०, द०,। ४ चारित्रमोहोप–मु०, आ०, ब०।

सर्वपदार्थप्रधानत्वाद् बहुवचनान्तः ।३४। यथा प्लक्षन्यग्रोधपलाशा इति अस्त्यादिसमानकालक्रियाणां प्लक्षादीनां परस्परापेक्षाणामितरेतरयोगे द्वन्द्वः सर्वपदार्थप्रधानत्वात् बहुवचनान्तः, तथा दर्शनज्ञानचारित्राणामस्त्यादिसमानकालक्रियाणां परस्परापेक्षाणामितरेतरयोगे द्वन्द्वः सर्वपदार्थप्रधानत्वाद् बहुवचनान्तः । यतस्त्रयाणामपि दर्शनादीनां [1]सहितानां परस्परापेक्षाणां मोक्षमार्गत्वं प्रति प्राधान्यं नैकस्य न द्वयोः ।

प्रत्येकं सम्यग्विशेषणपरिसमाप्तिर्भुजिवत् ।३५। यथा 'देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यन्ताम्' इति भुजिः प्रत्येकं परिसमाप्यते, तथा प्रशंसावचनस्य सम्यक्शब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धो दर्शनादिभिः–सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमिति ।

पूर्वपदसामानाधिकरण्यात् तद्व्यक्तिवचनप्रसङ्ग इति चेत्; न; मोक्षोपायस्यात्मप्रधानत्वात् ।३६। स्यादेतद्–दर्शनादिभिः सामानाधिकरण्यात् तद्व्यक्तिवचने मोक्षमार्गस्य प्राप्नुत इति; तन्न; किं कारणम् ? मोक्षोपायस्य आत्मप्रधानत्वात् । यो मोक्षमार्गो मोक्षोपायस्तस्य आत्मा स्वभावः [2]येनात्मना येन स्वभावेन मोक्षमार्ग उच्यते, स दर्शनज्ञानचारित्राणां सर्वेषामविशिष्ट एकः पुल्लिङ्गश्च तस्य प्राधान्यात् सत्यपि सामानाधिकरण्ये न तद्व्यक्तिवचनप्राप्तिः, यथा 'साधवः प्रमाणम्' इति ।

आत्यन्तिकः सर्वकर्मनिक्षेपो मोक्षः ।३७। 'मोक्ष असने' इत्येतस्य घञ् भावसाधनो मोक्षणं मोक्षः असनं क्षेपणमित्यर्थः, स आत्यन्तिकः सर्वकर्मनिक्षेपो मोक्ष इत्युच्यते ।

मृजेः शुद्धिकर्मणो मार्ग इवार्थाभ्यन्तरीकरणात् ।३८। मृष्टः शुद्धोऽसाविति मार्गः, मार्ग इव मार्गः । क उपमार्थः ? यथा स्थाणुकण्टकोपलशर्करादिदोषरहितेन मार्गेण मार्गगाः सुखमभिप्रेतस्थानं गच्छन्ति, तथा मिथ्यादर्शनाऽसंयमादिदोषरहितेन त्र्यंशेन श्रेयोमार्गेण सुखं मोक्षं गच्छन्ति ।

अन्वेषणक्रियस्य वा करणत्वोपपत्तेः ।३९। अथवा, 'मार्ग अन्वेषणे' इत्यस्य मार्गः सिध्यति । कुतः ? सम्यग्दर्शनादीनां करणत्वोपपत्तेः । मोक्षो येन मार्ग्यते स मोक्षमार्ग इति ।

युक्त्यनभिधानादमार्ग इति चेत्; न; मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयमानां प्रत्यनीकत्वादौषधवत् ।४०। स्यादेतत्, नात्र युक्तिरुक्ता–'सम्यग्दर्शनादित्रयमित्थं मोक्षमार्गः' इति, अतोऽस्य मार्गत्वं नोपपद्यते इति; तन्न; किं कारणम् ? मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयमानां प्रत्यनीकत्वात् । कथम् ? औषधवत् । यथा वातादिकारोद्भूतरोगाणां निदान[3]प्रत्यनीकं स्निग्धरूक्षाद्यौषधमुच्छेदकारणम्, तथा मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयमादीनां निदानप्रत्यनीकं सम्यग्दर्शनाद्यौषधमुच्छेदकारणम् ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके[4] व्याख्यानालङ्कारे प्रथमेऽध्याये प्रथममाह्निकम्[5] ॥ १ ॥

---

१ संहतानां मु० । २ येनात्मीयेन स्वभावेन स मो–मु०, श्रा०, ब० । येनात्माना येन स्वभावेन स मो– द०, ध० । ३ आदिकारणं वातादि । ४ –कव्या– ब०, ता० । सूत्राणामनुपपत्तिचोदनातत्परिहारो विशेषाभिधानञ्चेति वार्तिकलक्षणम् । ५ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कारे शास्त्रलक्षणव्याख्यानावसरे आह्निकलक्षणमप्युक्तम्– वर्णात्मकं हि पदम्, पदसमुदायविशेषः सूत्रम्, सूत्रसमूहः प्रकरणम्, प्रकरणसमितिराह्निकम् । आह्निकसंघातोऽध्यायः, अध्यायसमुदायः शास्त्रमिति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विपर्ययाद् बन्धस्यात्मलाभे सति ज्ञानादेव तद्विनिवृत्तेस्त्रित्वानुपपत्तिः ।४१। अत्र कश्चिदाह–विपर्ययाद् बन्धस्यात्मलाभो भवति तदभावात्तत्त्वज्ञाने सति [1]बन्धविनिवृत्तिर्भवति। कारणाभावाद्धि कार्याभाव इति । बन्धनिवृत्तिरेव च मोक्षः । अतो मोक्षमार्गस्य त्रित्वं नोपपद्यते ।

प्रतिज्ञामात्रमिति चेत्; न; सर्वेषामविसंवादात् ।४२। स्यादेतत्–प्रतिज्ञामात्रमेतत्–'विपर्ययाद् बन्धो भवति' इति; तन्न; किं कारणम् ? सर्वेषामविसंवादात् । नात्र [2]प्रवादिनो विसंवदन्ते । तद्यथा–

'धर्मेण गमनम्[3]' इत्यादिवचनमेकेषाम् ।४३। *"**धर्मेण गमनमूर्ध्वम्**" [सांख्यका० ४४] भवति-अष्टसु ब्राह्मयसौम्यप्राजापत्यैन्द्रगान्धर्वयक्षराक्षसपिशाचेषु । *"**गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण**" अधर्मेण खलु षट्सु स्थानेषु मानुषपशुमृगमत्स्यसरीसृपस्थावरेषु गमनम् । *"**ज्ञानेन चापवर्गो**" यदास्य रजस्तमसोर्गुणभावात् सत्त्वस्य प्राधान्यात् [4]प्रकृतिपुरुषान्तरपरिज्ञानमाविर्भवति तेनापवर्गः । *"**विपर्ययादिष्यते बन्धः**" यो[5]ऽस्याव्यक्तमहदहङ्कारतन्मात्रसंज्ञास्वष्टासु प्रकृतिषु अनात्मीयासु आहङ्कारिकेषु वैकारिकेषु चेन्द्रियेषु आत्मत्वाभिमानः स विपर्ययः, तस्माद् बन्ध इत्येकेषां वचनम् ।

तथा अनात्मीयेष्वात्माभिमानविपर्ययात्[6] तस्य शब्दाद्युपलब्धिरादिः गुणपुरुषान्तरोपल[7]ब्धिरन्तः । [8]यावदस्याविभक्तः प्रत्ययः–श्रोत्रादीन्द्रियवृत्तिषु श्रवणादिषु 'अहं श्रोता' इत्येवमादिः, पाञ्चभौतिके च शिरःपाण्यादिसमूहे शरीरे 'अहं पुरुषः' इति प्रत्ययो भवति, तावदप्रतिबुद्ध[9]त्वात् संसारः । गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरन्तः, यदा पुरुषवर्जं सर्वं प्रकृतिकृतं त्रिगुणमचेतनं भोग्यमिति जानाति भोक्तारमकर्तारं चेतनं च पुरुषमन्यं प्रधानादवैति अचेतनांश्च गुणान् तदा तस्य गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरन्तः संसारस्य । इति ज्ञानान्मोक्षो विपर्ययाद् बन्ध इत्येकेषाम् ।

इच्छाद्वेषाभ्यामपरेषाम्[10] ।४४। इच्छाद्वेषपूर्विका [11]धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिस्ताभ्यां सुखदुःखं तत इच्छाद्वेषौ । न च विमोहस्य तौ मिथ्यादर्शनाभावात् । मोहश्चाज्ञानम् । विमोहस्य यतः षट्पदार्थतत्त्वज्ञस्य वैराग्यवतः सुखदुःखेच्छाद्वेषाभावः, इच्छाद्वेषाभावाद्धर्माधर्माभावः, तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च, स मोक्षः, तयोर्धर्माधर्मयोरभावे भवत्यपवर्गः । कथम् ? प्रदीपोपरमे प्रकाशाभाववत् । यद्धि यद्भावं प्रतीत्यात्मानं प्रतिलभते तत्तस्योपरमात्तिरोभावं याति तद्यथा प्रदीपोपरमात् प्रकाशाभावः । बन्धश्चादृष्टाद् भवति, कथम् ? अधर्मसंज्ञाददृष्टादज्ञानं भवति, अज्ञानाच्च मोहः,[12] मोहवत इच्छाद्वेषौ जायेते, इच्छाद्वेषाभ्यां धर्माधर्मौ, स [13]एष बन्धः, अतः संसारस्य प्रसूतिः । तस्माद् भवत्यदृष्टाभावे संयोगाभावः । कतरस्य संयोगस्याभावः ? जीवनसंज्ञकस्य । धर्माधर्मापेक्षः सदेहस्यात्मनो मनसा संयोगो जीवनम्,[14] तस्य धर्माधर्मयोरभावादभावोऽप्रादुर्भावश्च प्रत्यग्रशरीरस्यात्यन्तमभावः[15] स मोक्षः । कथमभावो

---

१ बन्धनिवृ –आ०, ब०, द०, ता०, मु० । २ प्रतिवा– अ०, ब०, द०, ता०, मु० । ३ गमनमूर्ध्वमि– आ०, ब०, मु० । "धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण । ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥" –सांख्यका० ४४ । ४ सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रधानम् । ५–स्याव्यक्तम– आ०, ब०, मु० । ६ बन्ध इत्येकेषां वचनमित्यत्रापि योज्यम् । ७ ज्ञानम् । ८ यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवारणे इत्यवधौ । ९ अज्ञानात् । १० वैशेषिकाणाम् –सम्पा० । "इच्छा द्वेषपूर्विका धर्माधर्मप्रवृत्तिः ।" –वैशे० सू० ६।२।१४ । द्रष्टव्यम् –प्रश० भा० पृ० १४४-४५ । ११ धर्माधर्मप्रवृ– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । १२ अन्यथादर्शनम् । १३ एव मु०, आ०, ब० । १४ सकायपुरुषमानससंयोगो धर्माद्यपेक्षो जीवनमिति प्रतिपादनात् । १५ –त्यन्ताभावः आ०, ब०, द० मु० ।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

धर्माधर्मयोः ? अनागतानुत्पत्ति-सञ्चितनिरोधाभ्याम् । अनागतानुत्पत्तिः संचितनिरोधश्च द्विविधोऽभावः । तत्रानागतानुत्पत्तिस्तावत् धर्माधर्मयोः –शरीरेन्द्रियमनोव्यतिरिक्तात्मदर्शनाद् अकुशलस्या[1]धर्मस्यानुत्पत्तिः तत्साधनानां परिवर्जनात्, धर्मस्यापि तत्साधनानामनभिसम्बन्धात्, नानभिसंहितं कर्म बध्नातीति । संचितनिरोधोऽपि–तदुद्वेगपरिखेदफलादधर्मनाशः, तस्मात् संसारादुद्वेगः । शरीरतत्त्वावलोकनात् शीतोष्णशोकादिनिमित्तं शरीरपरिखेदं प्रदायाधर्मोऽतिरिच्यते । भोगदोषदर्शनात् षण्णां च पदार्थानां तत्त्वविनिर्णयात् प्रीतिमारभ्य धर्मस्य विनाशः, अतो मोक्ष इत्यपरेषां दर्शनम् ।

'दुःखादिनिवृत्तिः' इत्यन्येषाम्[2] ।४५। *"**दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावान्निःश्रेयसाधिगमः**" [न्यायसू० १।१।२] इत्यन्येषां दर्शनम् । पाठं प्रत्युत्तरं मिथ्याज्ञानम् । सर्वेषामुत्तरस्य तत्त्वज्ञानान्निवृत्तौ यस्तदनन्तरोऽर्थस्तस्य निवृत्तिः । कश्चासौ ? दोषः, स हि मिथ्याज्ञानादनन्तरः तत्कार्यत्वात् । स चोत्तरः [3]प्रवृत्तेः, प्रवृत्तिश्चानन्तरा तत्कार्यत्वात्, ततो दोषाभावे प्रवृत्त्यभावः । प्रवृत्तिरप्युत्तरा जन्मनः, प्रवृत्तेरभावाज्जन्माभावः तत्कार्यत्वात् । तथा जन्मोत्तरं दुःखात्, अतो जन्माभावाद् दुःखनिवृत्तिः । तन्निवृत्तौ [4]च आत्यन्तिकः सुखदुःखानुपभोगो निःश्रेयसमिति ।

'अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः' इत्यादिवचनं केषाञ्चित्[5] । ४६। अविद्या विपर्ययात्मिका, सर्व-

---

१ अ० प्रतौ 'अधर्मस्य' इति पदम् 'अकुशलस्य' इति पदस्य टिप्पणभूतम् । २ नैयायिकानाम् । ३ धर्माधर्मरूपायाः । ४ य आ–आ०, ब०, द०, मु० । ५ बौद्धानाम् । "तत्र प्रतीत्यसमुत्पादः शालिस्तम्बसूत्रेऽभिहितः । तत्र आध्यात्मिकस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य हेतूपनिबन्धनः कतमः यदिदम्–अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः यावज्जातिप्रत्ययं जरामरणमिति...।" –शिक्षासमुच्चय पृ० २१६ । "तद्यथोक्तमार्यशालिस्तम्बसूत्रे– एवमुक्ते मैत्रेयो बोधिसत्त्वो महासत्त्व आयुष्मन्तं शारिपुत्रमेतदवोचत् । यदुक्तं भगवता धर्मस्वामिना सर्वज्ञेन । यो भिक्षवः प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति स धर्मं पश्यति । यो धर्मं पश्यति स बुद्धं पश्यति । तत्र कतमः प्रतीत्यसमुत्पादो नाम । यदिदमविद्याप्रत्ययाः संस्काराः । संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम्, विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम्, नामरूपप्रत्ययं षडायतनम्, षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः, स्पर्शप्रत्यया वेदना, वेदनप्रत्यया तृष्णा, तृष्णाप्रत्ययमुपादानम्, उपादानप्रत्ययो भवः, भवप्रत्यया जातिः, जातिप्रत्ययाः जरामरणशोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्यादयः ।......तत्राविद्या कतमा एतेषामेव षण्णां धातूनां यैकसंज्ञा, पिण्डसंज्ञा, नित्यसंज्ञा, ध्रुवसंज्ञा, शाश्वतसंज्ञा, सुखसंज्ञा, आत्मसंज्ञा, सत्त्वसंज्ञा, जीवसंज्ञा, जन्तुसंज्ञा, मनुजसंज्ञा, मानवसंज्ञा, अहङ्कारममकारसंज्ञा, एवमादिविविधमज्ञानमियमुच्यते अविद्या । एवमविद्यायां सत्यां विषयेषु रागद्वेषमोहाः प्रवर्तन्ते, तत्र ये रागद्वेषमोहा विषयेषु अमी अविद्याप्रत्ययाः संस्कारा इत्युच्यन्ते । वस्तुप्रतिविज्ञप्तिर्विज्ञानम् । चत्वारि महाभूतानि च उपादानानि रूपम् ऐकध्यरूपम्, विज्ञानसम्भूताश्चत्वारोऽरूपिणः स्कन्धा नाम, तन्नामरूपम् । नामरूपसन्निःसृतानि इन्द्रियाणि षडायतनम् । त्रयाणां धर्माणां सन्निपातः स्पर्शः । स्पर्शानुभवो वेदना । वेदनाध्यवसानं तृष्णा । तृष्णावैपुल्यमुपादानम् । उपादाननिर्जातं पुनर्भवजनकं कर्म भवः । भवहेतुकः स्कन्धप्रादुर्भावो जातिः । जात्यभिनिर्वृत्तानां स्कन्धानां परिपाको जरा । स्कन्धविनाशो मरणमिति ।" –बोधिचर्या० पं० पृ० ३६८ । शिक्षासमु० पृ० २२२ । माध्यमिकका० पृ० ५६४ । मध्यान्तवि० सू० टी० पृ० ४२ । "पुनरपरं तत्त्वेऽप्रतिपत्तिः मिथ्याप्रतिपत्तिः अज्ञानम् अविद्या । एवम् अविद्यायां सत्यां त्रिविधाः संस्कारा अभिनिवर्तन्ते– पुण्योपगा अपुण्योपगा आनिञ्ज्योपगाश्च इम उच्यन्ते अविद्याप्रत्ययाः संस्कारा इति । तत्र पुण्योपगानां संस्काराणां पुण्योपगमे च विज्ञानं भवति, अपुण्योपगानां संस्काराणाम् अपुण्योपगमे च विज्ञानं भवति, आनिञ्ज्योपगानां संस्काराणाम् आनिञ्ज्योपगमे च विज्ञानं भवति । इदमुच्यते संस्कारप्रत्ययं विज्ञानमिति । एवं नामरूपम् । नामरूपविवृद्धया षड्भिः आयतनद्वारैः कृत्यक्रिया प्रवर्तन्ते, तत् नामरूपप्रत्ययं षडायतनमुच्यते......।" –शिक्षासमु० पृ० २२३ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावेष्वनित्याऽनात्माशुचिदुःखेषु[1] नित्यसात्मकशुचिसुखाभिमानरूपा। [2]तत्प्रत्ययाः संस्कारा इत्यादिवचनं केषाञ्चित्। के पुनस्ते संस्काराः? रागादयः[3]। ते च त्रिधा[4]पुण्यापुण्यानेञ्ज्य-[5]संस्काराः, यत इदमुच्यते अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः। वस्तुप्रतिविज्ञप्तिर्विज्ञान[6]मिति। तत्र पुण्योपगानां संस्काराणां पुण्योपगमे च विज्ञानं भवति, अपुण्योपगानां संस्काराणामपुण्योपगमे च विज्ञानं भवति, आनेञ्ज्योपगानां संस्काराणामानेञ्ज्योपगमे च विज्ञानं भवति, यत इदमुच्यते संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम्। विज्ञानसंभूताश्चत्वारः स्कन्धा नाम, चत्वारि महाभूतानि रूपम्, नाम च [7]रूपं च नामरूपमिति। यत इदमुच्यते विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम्। नामरूपसन्निहितानीन्द्रियाणि षडायतनमिति। नामरूपवृद्ध्या षड्भिरायतनद्वारैः कृत्यं क्रिया च प्रजायते इति नामरूपप्रत्ययं षडायतनमुच्यते। त्रयाणां धर्माणां सन्निपातः स्पर्शः। केषाम् त्रयाणाम्? विषयेन्द्रियविज्ञानानाम्, संगतिः स्पर्शः। षड्भ्य आयतनेभ्यः षट् स्पर्शकायाः प्रवर्तन्त इति षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः। स्पर्शानुभवनं[8] वेदना। यज्जातीयः स्पर्शो भवति तज्जातीया वेदना प्रवर्तत इतीदमुच्यते स्पर्शप्रत्यया वेदनेति। वेदनाऽध्यवसाना तृष्णा। यतस्तान् वेदनाविशेषानास्वादयत्यभिनन्दयत्यध्यवस्यति तृष्यति[9] सा वेदनाप्रत्यया तृष्णोच्यते। तृष्णावैपुल्यमुपादानम्। सा मे प्रिया सानुरागेति भवेन्नित्यमपरित्यागो भूयो भूयश्च प्रार्थना, तदुच्यते तृष्णाप्रत्ययमुपादानमिति। उपादाननिमित्तं पुनर्भवजनकं कर्म भवः, एवं प्रार्थयमानः पुनर्भवजनकं कर्म समुत्थापयति कायेन मनसा वाचा। तद्धेतुकः स्कन्धप्रादुर्भावो जातिः। जातिस्कन्धपरिपाको जरा। जात्यभिनिर्वृत्तानां स्कन्धानामपचयः परिपाकः, परिपाकाद्विनाशो भवति तन्मरणम्। तदेव[10]जातिप्रत्ययं जरामरणमुच्यते।[11]एवमयं द्वादशाङ्गः प्रतीत्यसमुत्पादोऽन्योन्यहेतुकः। तत्र सर्वभावेष्वविपरीतदर्शनं विद्या। यत्सर्वभावेष्वनित्यानात्मकाशुचिदुःखेषु अनित्यानात्मकाशुचिदुःखदर्शनं सा विद्या। ततो मोक्षः। कथम्? अविद्याया विद्यातो निवृत्तिः, अविद्यानिवृत्तेः संस्कारनिरोधः, संस्कारनिरोधाद्विज्ञाननिरोधः, एवमुत्तरेष्वपीति। तदेवमविद्यातो बन्धो भवति विद्यातश्च मोक्ष इति।

मिथ्यादर्शनादेरिति[12] मतं भवताम्।४७। *"**मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः**" [त० सू० ८।१] इति भवतामार्हतानामपि मतम्। पदार्थविपरीताभिनिवेशश्रद्धानं मिथ्यादर्शनम्, विपरीताभिनिवेशश्च मोहात्, मोहश्चाज्ञानमित्यज्ञानाद् बन्धः। अतो मिथ्यादर्शनमादिर्बन्धस्य। सामायिकमात्रप्रतिपत्तेश्च *"**अनन्ताः सामायिकमात्रसिद्धाः**"[ ] इति[13] वचनात्, सामायिकं च ज्ञानम्, अतः आर्हतानामपि ज्ञानान्मोक्ष इत्यविसंवादात् त्रितयमोक्षमार्गकल्पना न युक्ता। किञ्च,

दृष्टान्तसामर्थ्याद् वणिक्स्वप्रियैकपुत्रवत्।४८। [14]तद्यथा वणिक् स्वप्रियैकपुत्रसदृशविग्रहं

---

१ –नित्यानात्मकाशु –आ०, ब०, मु०। २ अविद्याकारणकाः। ३ आदिशब्देन उपेक्षोपादीयते। ४ त्रिष्ठाः द०, ता०, श्र०। ५ औदासीन्य। ६ विकल्पज्ञानमित्यर्थः। ७ नाम च रूपनाम च नाम– मु०। ८ –भवने वे– श्र०। ९ –ष्यतीति आ०, ब०, द०, मु०। १० तदेवं आ– आ०, ब०, द०, मु०। ११ अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः संस्कारप्रत्ययं विज्ञानं विज्ञानप्रत्ययं नामरूपं नामरूपप्रत्ययं षडायतनम् षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः स्पर्शप्रत्यया वेदना वेदनाप्रत्यया तृष्णा तृष्णाप्रत्ययमुपादानम् उपादानप्रत्ययो भवः भवप्रत्यया जातिः जातिप्रत्ययं जरामरणमिति द्वादशाङ्गं प्रतीत्यसमुत्पाद इति। १२–नादिरिति मु०। १३ "श्रूयन्ते चानन्ताः सामायिकमात्रपदसिद्धाः" –तत्त्वार्थभा० सम्बन्धका० २७। १४ यथा मु०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गजेनावमृद्यमानं बालमुपलभ्यातिदुःखाभिभवमूर्च्छया गतप्राण इवाभवत्, विनिवृत्तकायादिक्रियस्य चास्य कुशलसुहृद्भिरुपायपूर्वकं प्रत्याहितप्राणवृत्तेः स्वपुत्र एव दर्शनविषयमुपनीते 'अयं मम पुत्रः' इत्याविर्भूततत्त्वज्ञानस्य स्वपुत्रसादृश्योद्भूतमिथ्याज्ञानजनितं दुःखं तदभूतपूर्वमिवाभवत् । एवमज्ञानाद् बन्धः केवलाच्च ज्ञानान्मोक्ष इति ।

न वा नान्तरीयकत्वाद् रसायनवत् ।४९। न वा एष दोषः । किं कारणम् ? नान्तरीयकत्वात्, नहि त्रितयमन्तरेण मोक्षप्राप्तिरस्ति । कथम् ? रसायनवत् । यथा न रसायनज्ञानादेव रसायनफलेन[1] अभिसंबन्धः रसायनश्रद्धानक्रियाभावात्, यदि वा रसायनज्ञानमात्रादेव रसायनफलसंबन्धः कस्यचिद् दृष्टः सोऽभिधीयताम् ? न चासावस्ति । न च रसायनक्रियामात्रादेव;[2] ज्ञानश्रद्धानाभावात् । न च [3]श्रद्धानमात्रादेव; रसायनज्ञानपूर्वक्रियासेवनाभावात् । अतो रसायनज्ञानश्रद्धानक्रियासेवनोपेतस्य तत्फलेनाभिसंबन्ध इति निःप्रतिद्वन्द्वमेतत् । तथा न मोक्षमार्गज्ञानादेव मोक्षेणाभिसंबन्धो दर्शनचारित्राभावात् । न च श्रद्धानादेव; मोक्षमा[4]र्गज्ञानपूर्वक्रियानुष्ठानाभावात् । न च क्रियामात्रादेव; ज्ञानश्रद्धानाभावात् । यतः क्रिया ज्ञानश्रद्धानरहिता निःफलेति । यदि च ज्ञानमात्रादेव क्वचिदर्थसिद्धिर्दृष्टा साभिधीयताम् ? न चासावस्ति । अतो मोक्षमार्गत्रितयकल्पना ज्यायसीति । **'अनन्ताः सामायिकसिद्धाः'** इत्येतदपि त्रितयमेव साधयति । कथम् ? ज्ञस्वभावस्यात्मनस्तत्त्वं श्रद्दधानस्य सामायिकचारित्रोपपत्तेः । समय एकत्वमभेद इत्यनर्थान्तरम्, समय एव सामायिकं चारित्रं सर्वसावद्यनिवृत्तिरिति अभेदेन संग्रहादिति । उक्तञ्च—

***"हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया ।**
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पङ्गुलः ॥१॥
संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञा न ह्येकचक्रेण रथः प्रयाति ।
अन्धश्च पङ्गुश्च वने प्रविष्टौ तौ संप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ ॥२॥" [ ] इति ।

ज्ञानादेव मोक्ष इति चेत्; अनवस्थानादुपदेशाभावः ।५०। यस्य ज्ञानादेव मोक्षः तस्यानवस्थानादुपदेशाभावः । यथा प्रदीपस्य तमोनिवृत्तिहेतुत्वात् प्रदीपे सति न मुहूर्तमपि तमोऽवतिष्ठते । नह्येतदस्ति 'प्रदीपश्च नाम ज्वलति तमश्चावतिष्ठते' इति । तथा [5]आत्मपरस्वरूपावबोधाविर्भावानन्तरमेव आप्तस्य मोक्षः स्यात् । न ह्येतद्युक्तिमत् 'ज्ञानं च नाम मोक्षस्य कारमस्ति न च मोक्षः' इति । ततो ज्ञानानन्तरमेवाप्तस्य शरीरेन्द्रियवृत्त्यादि[6]निवृत्तेः प्रवचनोपदेशाभावः ।

संस्काराक्षयादवस्थानादुपदेश इति चेत्; न; प्रतिज्ञातविरोधात् ।५१। स्यादेतत्–यावदस्य संस्कारा न क्षीयन्ते तावदवस्थानमित्युपदेश उपपन्न इति; तन्न; किं कारणम् ? प्रतिज्ञातविरोधात् । यद्युत्पन्नज्ञानोऽपि संस्कारक्षयापेक्षत्वादवतिष्ठते न मुच्यते, न तर्हि ज्ञानादेव मोक्षः । कुतः ? संस्कारक्षयात् । इति यत्प्रतिज्ञातम्–***"ज्ञानेन चापवर्गः"** [सांख्यका० ४४] इति तद्विरोधः । किञ्च,

उभयथा दोषोपपत्तेः ।५२। इदमिह संप्रधार्यम्–संस्कारक्षयस्य ज्ञानं वा हेतुः स्यात्, अन्यो वेति ? यदि ज्ञानम्; ननु ज्ञानादेव संस्कारनिरोध इति प्रवचनोपदेशाभावः । अथान्यः; स कोऽन्यो भवितुमर्हति अन्यतरश्चारित्रात्, इति पुनरपि प्रतिज्ञातविरोध इति । किञ्च,

---

१ आरोग्येण । २ तत्फलेनाभिसम्बन्धः एवमुत्तरत्रापि । ३ न च रसायनश्रद्धान– मु० आ०, ब०, द० । ४ मार्गोज्ञा– मु० । ५ आत्मस्वरूपा– मु०, आ०, ब०, द०, । ६ इच्छावाक्प्रवृत्त्यादि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रव्रज्याद्यनुष्ठानाभावप्रसङ्गश्च ।५३। यदि ज्ञानादेव मोक्षः, ननु ज्ञान एव यत्नः कार्य्यः, शिरस्तुण्डमुण्डन-काषायाम्बरधारणादिलक्षणप्रव्रज्या-यम-नियम-भावनाद्यभावप्रसङ्गः स्यात् ।

ज्ञानवैराग्यकल्पनायामपि ।५४। किम् ? 'अवस्थानाभावादुपदेशाभावः' इत्यादि । पदार्थपरिज्ञाने सति विषयानभिष्वङ्गलक्षणे च वैराग्य आप्तस्य तत्क्षण एव मोक्षोपपत्तेः[1] । किञ्च,

नित्यानित्यैकान्तावधारणे तत्कारणासंभवः ।५५। नित्या एवार्था अनित्या एव वेत्येकान्तावधारणे तत्कारणा सम्भवः तत्कारणस्य [2]ज्ञानस्य वैराग्यस्य वाऽसंभवः । तद्यथा–

नित्यत्वैकान्ते विक्रियाभावाद् ज्ञानवैराग्याभावः ।५६। विक्रिया द्विविधा–ज्ञानादिविपरिणामलक्षणा, देशान्तरसंक्रमरूपा च । येषां नित्य एवात्मा सर्वगतश्चेति दर्शनम्, तेषामुभय्यपि सा नास्ति । ततश्चतुष्टय[3]त्रयद्वयसन्निकर्षजविज्ञानाभावाद् वैराग्यपरिणामाभावाच्च पूर्वापरकालतुल्यवृत्तेरात्मन आकाशस्येव मोक्षाभावः । समवायादिति चेत्; न; तस्य प्रत्याख्यातत्वात् ।

क्षणिकैकान्तेऽप्यवस्थानाभावात् ज्ञानवैराग्यभावनाभावः ।५७। येषां मतम्–*"**क्षणिकाः सर्वसंस्काराः**" [ ] इति[4]; तेषामप्युत्पत्त्यनन्तरं[5] विनाशे सति ज्ञानादीनामवस्थानं नास्ति । नच तेभ्योऽन्यदवस्थास्नु वस्तु विद्यते । अतस्तदभावाज्ज्ञानवैराग्यभावनाभावः । तत एवोत्पत्त्यनन्तरं निरन्वयविनाशाभ्युपगमात् परस्पर[6]संश्लेषाभावे निमित्तनैमित्तिकव्यवहारापह्नवाद् 'अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः' इत्येवमादि विरुध्यते । सन्तानादिकल्पनायां वा अन्यत्वानन्यत्वयोरनेकदोषानुषङ्गः[7] ।

विपर्ययाभावः प्रागनुपलब्धेः उपलब्धौ वा बन्धाभावः ।५८। इह लोके प्रागनुभूतस्थाणुपुरुषविशेषस्य प्रकाशाभावात् अभिभवात् करणक्लमाद्वा [8]विशेषानुपलब्धौ विपर्ययो दृष्टः । न चावनितलभवनसंभूतस्य प्रागप्रतीततदन्तरस्य विपर्ययप्रत्ययो भवति । नच तथा अनादौ संसारेऽनभिव्यक्तशक्तेः पुरुषस्य गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरस्ति, अतः प्रागनुपलब्धेर्नास्ति विपर्ययः । तथा सर्वभावेष्वनित्यानात्मकाशुचिदुःखेषु नित्यसात्मकशुचिसुखरूपेण विपर्ययो नास्ति, प्रागननुभूतविशेषत्वात् । यदि वा क्वचिदप्रसिद्धसामान्यविशेषस्य कस्यचिद्विपर्ययो दृष्टः सोऽभिधीयताम् ? न नोच्यते अतो विपर्ययाभावाद् बन्धाभावः । तत्र यदुक्तम्–'विपर्ययाद् बन्धः' इति तद् व्याहन्यते । अथ प्राक् तद्विषेषोपलब्धिरभ्युपगम्यते; ननु तदैव तद्धेतुकेन मोक्षेण भवितव्यमिति बन्धाभावः स्यात् । किञ्च,

प्रत्यर्थवशवर्तित्वाच्च ।५९। 'विपर्ययाभावः' इत्यनुवर्तते । येषां दर्शनं प्रत्यर्थवशवर्ति विज्ञानमिति तेषां पुरुषविषयं विज्ञानं न स्थाणुमवगृह्णाति, स्थाणुविषयं च यद्विज्ञानं न तत्पुरुषमवबुध्यते, अतः परस्परविषयसंक्रमाभावान्न संशयो न विपर्ययः, तथा सर्वेषु पदार्थे-

---

१ तर्हि सयोगकेवलिनः । २ ज्ञानवैराग्यस्यासंभ– आ०, ब०, द०, मु० । ३ आत्ममनः इन्द्रियार्थसम्प्रयोगात् घटादिज्ञानं चतुष्टयसन्निकर्षजम् । आत्ममनःसुखाद्यर्थसम्बन्धाज्जायमानं सुखादिज्ञानं त्रयसन्निकर्षजम् । आत्ममनःसम्प्रयोगाज्जायमानमात्मज्ञानं द्वयसन्निकर्षजम् –सम्पा० । ४ "क्षणिकाः सर्वसंस्काराः स्थिराणां कुतः क्रिया । भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥" इति पूर्णः श्लोकः सम्पा० । ५ –नन्तरवि– श्र०, ता० । ६ –रं सं–आ०, ब०, द० मु०– । ७......प्रकल्पितम् । सन्तानिव्यतिरेकेण यतः काचिन्न सन्ततिः । व्यतिरेकेऽपि नित्यत्वं सन्तानस्य यदीष्यते । प्रतिज्ञाहानिदोषः स्यात् क्षणिकैकान्तवादिनाम् । क्षणिकत्वेऽपि सन्तानपक्षनिक्षिप्तदूषणम् । कृतनाशादिकं तस्य सर्वमेव प्रसज्यत इति । ८ कोटरादि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ष्वनेकार्थग्रहणैकविज्ञानाभावात् असति विपर्यये बन्धाभावः । तत एव पदार्थविशेषानुपलब्धेर्मोक्षाभावः । नह्येकार्थग्राहि विज्ञानं तदन्तरमवच्छिनत्ति ।

ज्ञानदर्शनयोर्युगपत्प्रवृत्तेरेकत्वमिति चेत्; न; तत्त्वावायश्रद्धानभेदात् तापप्रकाशवत् ।६०। स्यादेतद्–ज्ञानदर्शनयोरेकत्वम् । कुतः ? युगपत्प्रवृत्तेरिति; तन्न; किं कारणम् ? तत्त्वावायश्रद्धानभेदात् । कथम् ? तापप्रकाशवत् । यथा तापप्रकाशयोर्युगपदात्मलाभेऽपि दाहद्योतनसामर्थ्यभेदान्नैकत्वम्, तथा ज्ञानदर्शनयोस्तत्त्वावायश्रद्धानभेदान्नैकत्वम् । तत्त्वस्य ह्यवगमो ज्ञानम्, श्रद्धानं दर्शनमिति ।

दृष्टविरोधाच्च[1] ।६१। यस्य मतं युगपदात्मलाभ एकत्वे हेतुरिति तस्य दृष्टविरोध आपद्यते । दृष्टं हि गोविषाणादीनां युगपदुत्पद्यमानानामपि नानात्वम् ।

उभयनयसद्भावे अन्यतरस्याश्रितत्वाद्वा रूपादिपरिणामवत् ।६२। उभयनयसद्भावे अन्यतरस्याश्रितत्वाद्वा न दोषः । कथम् ? रूपादिपरिणामवत् । यथा परमाण्वादिपुद्गलद्रव्याणां बाह्याभ्यन्तर[2]परिणामकारणापादिते युगपद् रूपादिपरिणामेऽपि न रूपादीनामेकत्वं तथा ज्ञानदर्शनयोरपि ।

अथवा, उभयनयसद्भावेऽन्यतरस्याश्रितत्वात् । यथा रूपादिपरिणामानां द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोरन्यतरगुणप्रधानभावार्पणात् स्यादेकत्वं स्यान्नानात्वम् । कथम् ? इह पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् पर्यायार्थानर्पणात् अनादिपारिणामिकपुद्गलद्रव्यार्थादेशात् स्यादेकत्वम्, यथा रूपपर्यायः पुद्गलद्रव्यं तथा रसादयोऽपि द्रव्यार्थादेशात् पुद्गलद्रव्यम् । तेषामेव द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्यात् द्रव्यार्थानर्पणात् प्रतिनियतरूपादिपर्यायार्थार्पितानां स्यादन्यत्वम्, यतोऽन्यो रूपपर्यायः अन्ये च रसादयः । तथा ज्ञानदर्शनयोरनेन विधिना अनादिपारिणामिकचैतन्यजीव[3]द्रव्यार्थादेशात् स्यादेकत्वम्, यतो द्रव्यार्थादेशाद् यथा ज्ञानपर्याय आत्मद्रव्यं तथा दर्शनमपि । तयोरेव प्रतिनियतज्ञानदर्शनपर्यायार्थार्पणात् स्यादन्यत्वम्, यस्मादन्यो ज्ञानपर्यायोऽन्यश्च दर्शनपर्यायः ।

ज्ञानचारित्रयोरकालभेदादेकत्वम् अगम्यावबोधवदिति चेत्; न; आशूत्पत्तौ सूक्ष्मकालाप्रतिपत्तेः उत्पलपत्रशतव्यधनवत् ।६३। स्यादेतत्–ज्ञानचारित्रयोरेकत्वम् । कस्मात् ? अकालभेदात् । कथम् ? अगम्यावबोधवत् । यथा केनचित् मोहोदयापादितान्याङ्गनाभिसरणोत्सुकमतिना पुंसा मेघोदयोद्भूतबहलान्धकारायां रात्रौ वीथ्यन्तराले 'मातृपुंश्चली 'स्वाभिलषिता' इति स्पृष्टा, तदैव विद्युता च विद्योतितम् । तेन द्योतेन 'मातेयम्' इति तस्य ज्ञानं यदोत्पन्नं तदैव अगम्यावबोधाद् अगम्यागमननिवृत्तिः, न अगम्यावबोध-अगम्यागमननिवृत्त्योः कालभेदोऽस्ति । तथा यदैव 'ज्ञानावरणक्षयोपशमाज्जीवेषु ज्ञानं 'जीवाः' इत्याविर्भवति, तदैव 'ते न हिंस्याः' इति जीवे हिंसाप्रत्ययस्य[5] निवृत्तिः, निवृत्तिश्च चारित्रम् । न च जीवज्ञान–हिंसानिवृत्त्योः कालभेदोऽस्तीति; तन्न; किं कारणम् ? आशूत्पत्तौ सूक्ष्मकालाप्रतिपत्तेः । तत्राप्यस्त्येव कालभेदः सौक्ष्म्यात्तु न प्रतीयते । कथम् ? उत्पलपत्रशतव्यधनवत् । यथा उत्पलपत्रशतव्यधनक्रम आसंख्येयसमयिकः सर्वज्ञप्रत्यक्षोऽतिसूक्ष्मोऽस्ति न तु विभाव्यते छद्मस्थैः, यतो यावदेकमुत्पलपत्रमासिश्छित्त्वा द्वितीयं छिनत्ति तावदसंख्येयाः समया अतीता इति कालसूक्ष्मोपदेशः । तथा अन्योऽगम्यावबोधकालः, अन्यश्च निवृत्तिकालः ।

---

१ –रोधात् तस्य भा० १ । २ –रकार –श्र० । ३ जीवादिद्रव्या –ता० । ४ निम्बे पाषाणकेनेति समासः । ५ कारणस्य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थभेदाच्च ।६४। किम् ? 'नैकत्वम्' इति वर्तते । 'ज्ञानस्य तत्त्वावबोधोऽर्थः, चारित्रस्य कर्मादानहेतुक्रियाविशेषोपरमोऽर्थः' इत्यतो नानात्वम् ।

कालभेदाभावो नार्थभेदहेतुः गतिजात्यादिवत् ।६५। न[1]कालभेदाभावोऽर्थभेदहेतुर्न्यायिः । कथम् ? गतिजात्यादिवत् । यथा यदैव देवदत्तजन्म तदैव मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातिशरीरवर्णगन्धादीनां जन्म, नान्यो देवदत्तजन्मकालः, अन्यश्च मनुष्यगत्यादिपर्यायजन्मकालः । न चैककालत्वात् मनुष्यगत्यादीनामेकत्वम् । यस्य पुनः कालभेदाभाव एकत्वहेतुरिष्टः तस्य मनुष्यगत्यादिपर्यायाणामेकत्वप्रसङ्गः । न चेष्यते, अतो न कालभेदाभावाज्ज्ञानचारित्रयोरेकत्वम् ।

उक्तं च ।६६। किमुक्तम् ? 'उभयनयसद्भावात् स्यादेकत्वं स्यान्नानात्वम्' इति ।

लक्षणभेदात्तेषामेकमार्गत्वानुपपत्तिरिति चेत्; न; परस्परसंसर्गे सत्येकत्वं प्रदीपवत् ।६७। स्यादेतत्—तेषां सम्यग्दर्शनादीनामेकमार्गत्वं नोपपद्यते । कुतः ? लक्षणभेदात् । नहि भिन्नलक्षणानामेकत्वं युज्यते । ततस्त्रयोऽमी मोक्षमार्गाः प्रसक्ता इति; तन्न; किंकारणम् ? परस्परसंसर्गे सत्येकत्वम् । कथम् ? प्रदीपवत् । यथा परस्परविलक्षणवर्तिस्नेहानलार्थानां बाह्याभ्यन्तरपरिणामकारणापादितसंयोगपर्यायाणां [2]समुदयो भवत्येकः प्रदीपो न त्रयः, तथा परस्परविलक्षणसम्यग्दर्शनादित्रयसमुदये भवत्येको मोक्षमार्गो न त्रयः । किञ्च,

सर्वेषामविसंवादात् ।६८। विलक्षणानामेकत्वावाप्तौ न प्रतिवादिनो विसंवदन्ते । [3]केचित्तावदाहुः—[4]प्रसादलाघवशोषतापावरणसादनादिभिन्नलक्षणानां सत्त्वरजस्तमसां साम्ये प्रधानमेकम्, न तेषां त्रित्वात् प्रधानस्य त्रैविध्यमिति । [5]अपर आहुः—कक्खडतादीनां[6] चतुर्णां भूतानां भौतिकानां च वर्णादीनां विलक्षणानां समुदय एको रूपपरमाणुः, न तेषां भेदात् परमाणोरनेकत्वम् । तथा रागादीनां धर्माणां प्रमाणप्रमेयाधिगमरूपाणां च विलक्षणानां समुदय एकं विज्ञानम्, न तेषां भेदाद्विज्ञानभेद इति । [7]इतर आहुः—चित्राणां तन्तूनां समुदयश्चित्रपट एकः, न तेषां भेदात्पटस्य भेद इति । तद्वदिहापि सम्यग्दर्शनादीनां भिन्नलक्षणानां समुदय एको मोक्षमार्ग इति को विरोधः ?

एषां पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम् ।६९। एषां सम्यग्दर्शनादीनां पूर्वस्य लाभे [8]भजनीयमुत्तरं वेदितव्यम् ।

उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः ।७०। उत्तरस्य तु लाभे नियतः पूर्वलाभो द्रष्टव्यः । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां पाठं प्रति पूर्वत्वमुत्तरत्वं च । पूर्वस्य सम्यग्दर्शनस्य लाभे ज्ञानमुत्तरं भजनीयम्, उत्तरज्ञानलाभे तु नियतः पूर्वसम्यग्दर्शनलाभः । तथा पूर्वज्ञानलाभे उत्तरं चारित्रं भजनीयम्, उत्तरचारित्रलाभे तु नियतः सम्यग्दर्शनज्ञानलाभः ।

तदनुपपत्तिः, अज्ञानपूर्वकश्रद्धानप्रसङ्गात् ।७१। 'पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम्' इत्येतस्याऽनुपपत्तिः । कुतः ? अज्ञानपूर्वकश्रद्धानप्रसङ्गात् । यदि पूर्वसम्यग्दर्शनलाभे उत्तरज्ञानलाभो भजनीयः, ननु [9]ज्ञानाभावादज्ञानपूर्वकश्रद्धानप्रसङ्गः । किञ्च ।

---

१ कालभेदाभावः अर्थभेद– ता० । कालभेदाभावः नार्थभेद श्र० । २ समुदये भ–श्रा०, ब०, द०, मु० । ३ सांख्याः । ४ "सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टवष्टम्भकं चलं च रजः । गुरुवरणकमेव तमः साम्यावस्था भवेत् प्रकृतिः ॥" सांख्यका० १३ । ५ बौद्धाः । ६ काकवडता–मु० । कावखडता–श्रा०, ब०, द० । कर्कशतेति पाठान्तरम् । तुलना–"यत्किञ्चिद् बाह्यं कक्खटत्वं खरगतमनुपात्तम्, अयमुच्यते बाह्यः पृथिवी धातुः" –शिक्षासमु० पृ० २४५ । ७ वैशेषिकाः । ८ विकल्पनीयम् । ९ ज्ञानालाभाद –श्र० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुपलब्धस्वतत्त्वेऽर्थे श्रद्धानानुपपत्तिः अविज्ञातफलरसोपयोगवत् ।७२। यथा नाविज्ञाते फले 'तद्रसोपयोगः अमुष्य फलस्य[1] च सन्निष्पादयिता' इति श्रद्धानमस्ति, तथा नाविज्ञातेषु जीवादिषु श्रद्धानमस्तीति श्रद्धानाभावः स्यात् । किञ्च,

आत्मस्वरूपाभावप्रसङ्गात् ।७३। यदि सम्यग्दर्शनलाभे ज्ञानं[2] भजनीयत्वाद् असत्, विरोधात् मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ सम्यग्ज्ञानस्य चाभावाज्ज्ञानोपयोगाभाव आत्मनः प्रसक्तः । ततश्च लक्षणाभावाल्लक्ष्यस्यात्मनोऽप्यभावः स्यात्, तदभावाच्च मोक्षमार्गपरीक्षा व्यर्थेति ।

न वा; यावति ज्ञानमित्येतत् परिसमाप्यते तावतोऽसंभवान्नयापेक्षं वचनम् ।७४। न वा एष दोषः । किं कारणम् ? यावति ज्ञानमित्येतत् परिसमाप्यते तावतोऽसंभवान्नयापेक्षमिदं वचनम् 'भजनीयमुत्तरम्' इति । [3]क्व च ज्ञानमित्येतत् परिसमाप्यते ? श्रुतकेवलयोः, यतः श्रुतकेवलज्ञानग्राही शब्दनयः श्रुतकेवले एवेच्छति नान्यज्ज्ञानम् अपरिपूर्णत्वादिति । [4]तदपेक्ष्य संपूर्णद्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वलक्षणं श्रुतं केवलं च भजनीयमुक्तम् । तथा पूर्वसम्यग्दर्शनलाभे देशचारित्रं संयतासंयतस्य, सर्वचारित्रं[5] च प्रमत्तादारभ्य सूक्ष्मसाम्परायान्तानां यच्च यावच्च नियमादस्ति, संपूर्णं यथाख्यातचारित्रं तु भजनीयम् ।

पूर्वसम्यग्दर्शनज्ञानलाभे भजनीयमुत्तरमिति चेत्; न; निर्देशस्याऽगमकत्वात् ।७५। स्यादेतत्—नाज्ञानपूर्वकश्रद्धानप्रसङ्गोऽस्ति । कुतः ? पूर्वसम्यग्दर्शनज्ञानलाभे चारित्रमुत्तरं भजनीयमित्यभिसम्बन्धादिति; तन्न; किं कारणम् ? निर्देशस्यागमकत्वात् । युक्तोऽयमर्थो न तु तस्य निर्देशो गमकः,[6] 'पूर्वस्य लाभे' इति 'पूर्वयोः' इति हि वक्तव्यं स्यात् । अथ सामान्यनिर्देशादुभयगतिः कल्प्यते; नैवं शक्यम्; व्यवस्थाविशेषस्य विवक्षितत्वात् । इतरथा हि [7]उत्तरेऽपि तथा प्रक्लृप्तौ तद्दोषानतिवृत्तिः स्यात् । तस्मात्पूर्वोक्त एवार्थो नयापेक्षं वचनमिति । अथवा, क्षायिकसम्यग्दर्शनस्य [8]लाभे क्षायिकं सम्यग्ज्ञानं भजनीयम् । अथवा, युगपदात्मलाभे साहचर्यादुभयोरपि पूर्वत्वम्, यथा साहचर्यात् पर्वतनारदयोः, पर्वतग्रहणेन नारदस्य ग्रहणं नारदग्रहणेन वा पर्वतस्य[9] तथा सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानस्य [10]वा अन्यतरस्यात्मलाभे चरित्रमुत्तरं भजनीयम् ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके[11]व्याख्यानालङ्कारे प्रथमेऽध्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥२॥

---

१ आरोग्यलक्षणस्य । –स्य रसं संपादयतेति आ०, ब०, द०, मु० । २ ज्ञानं भजनीयत्वादसिद्धिरो–द० । ज्ञानस्य भजनीयत्वादसिद्धिरो –श्र० । ३ क्वचन ज्ञा–आ०, ब०, द०, मु० । ४ तदपेक्ष आ०, ब०, द०, मु० । तदपेक्ष्यं श्र०, ता० । ५ –त्रं प्र–आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ६ ज्ञापकः । ७ उत्तरे हि तथा श्र० । उत्तरमित्यस्मिन् सामान्यकल्पनायां सत्याम् । ८ –र्शनलाभे आ०, ब०, ता०, द०, मु० । ९ –स्य ग्रहणं तथा आ०, ब०, ता०, द० । १० –स्यान्य– आ०, ब०, ता०, द०, मु०, श्र० । ११ –कथ्या–आ०, द०, ज०, मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अमीषां मोक्षकारणसामान्ये सत्यविशिष्टानां विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमाह—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥२॥

सम्यगिति कोऽयं शब्दः ?

सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातः क्वचन्तो वा ।१। सम्यगित्ययं निपातः प्रशंसार्थो वेदितव्यः सर्वेषां प्रशस्तरूपगतिजातिकुलायुर्विज्ञानादीनाम् आभ्युदयिकानां मोक्षस्य च प्रधानकारणत्वात् । प्रशस्तं दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । ननु च *"**सम्यगिष्टार्थतत्त्वयोः**" [ ]इति वचनात् प्रशंसार्थाभाव इति; तन्न; अनेकार्थत्वान्निपातानाम् । अथवा, सम्यगिति तत्त्वार्थो निपातः, तत्त्वं दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । अविपरीतार्थविषयं तत्त्वमित्युच्यते । अथवा, क्वचन्तोऽयं शब्दः, समञ्चतीति सम्यक् । यथा[1]अर्थोऽवस्थितस्तथैवावगच्छतीत्यर्थः । अथ किमिदं दर्शनमिति ?

करणादिसाधनो दर्शनशब्दः उक्तः ।२। दृशेः करणादिसाधने युटि दर्शनशब्दो व्याख्यातः ।

दृशेरालोकार्थत्वादभिप्रेतार्थासंप्रत्यय इति चेत्; न; अनेकार्थत्वात् ।३। स्यादेतत्—दृशिरयमालोकार्थे वर्त्तते । आलोकश्चेन्द्रियानिन्द्रियार्थप्राप्तिः, नचासाविहाभिप्रेतः श्रद्धानमिष्टम्, न तस्यार्थस्य [2]संप्रत्ययोऽस्तीति । तन्न; किं कारणम् ? अनेका[3]र्त्वात्, इह श्रद्धानमिष्टमभिसंबध्यते । कथं पुनर्ज्ञायते आलोक इह नेष्टः श्रद्धानमिष्टमिति[4] ? अत उत्तरं पठति—

मोक्षकारणप्रकरणाच्छ्रद्धानगतिः ।४। मोक्षकारणं प्रकृतम् । तत्त्वार्थविषयं श्रद्धानं मोक्षस्य कारणं नालोक [5]इत्यतः प्रकरणाच्छ्रद्धा[5]नस्यार्थस्य गतिर्भवति ।

अथ तत्त्वमित्यनेन किं प्रत्याय्यते ?

प्रकृत्यपेक्षत्वात् प्रत्ययस्य [6]भावसामान्यसंप्रत्ययः तत्त्ववचनात् ।५। तदित्येषा प्रकृतिः सामान्याभिधायिनी सर्वनामत्वात् । प्रत्ययश्च भावे उत्पद्यते । कस्य भावे ? तदित्यनेन योऽर्थ उच्यते । कश्चासौ ? सर्वोऽर्थः । अतस्तदपेक्षत्वाद्भावस्य भावसामान्यमुच्यते तत्त्वशब्देन । योऽर्थो यथा अवस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः ।

तत्त्वेनार्यत इति तत्त्वार्थः ।६। अर्यते गम्यते ज्ञायते इत्यर्थः, तत्त्वेनार्थस्तत्त्वार्थः । येन भावेनार्थो व्यवस्थितस्तेन भावेनार्थस्य ग्रहणं यत्सन्निधानाद्भवति[7] तत्सम्यग्दर्शनम् ।

श्रद्धानशब्दस्य करणादिसाधनत्वं पूर्ववत् ।७। यथा दर्शनशब्दस्य करणादिसाधनत्वं व्याख्यातं तथा श्रद्धानशब्दस्यापि वेदितव्यम् ।

स त्वात्मपरिणामः ।८। स तु [8]श्रद्धानशब्दवाच्योऽर्थः करणादिव्यपदेशभाग् आत्मपरिणामो वेदितव्यः ।

वक्ष्यमाणनिर्देशादिसूत्रविवरणात् पुद्गलद्रव्यसंप्रत्यय इति चेत्; न; आत्मपरिणामेऽपि[9] तदुपपत्तेः ।९। स्यादेतत्—वक्ष्यमाणनिर्देशादिसूत्रविवरणात् पुद्गलद्रव्यस्य संप्रत्ययः प्राप्नोति; तन्न; किं कारणम् ? आत्मपरिणामेऽपि तदुपपत्तेः । किं तत्त्वार्थश्रद्धानम् ? आत्मपरिणामः । कस्य ? आत्मन इत्येवमादि ।

---

१ अर्थो व्यव–मु०, आ०, ब०, द० । २ निश्चयः । ३ –ष्ट इति ता०, श्र०, । ४ इत्यर्थः ता०, श्र० । ५ –नगतिर्भ–आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ६ सत्तासामान्यनिश्चयः । ७ आत्मनः । ८ श्रद्धानवा–ता० । ९ –मे तदु –श्र० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्माभिधायित्वेऽप्यदोष इति चेत्; न; मोक्षकारणत्वेन स्वपरिणामस्य विवक्षितत्वात् ।१०। स्यादेतत्–सम्यक्त्वकर्मपुद्गलाभिधायित्वेऽप्यदोष इति; तन्न; किं कारणम् ? मोक्षकारणत्वेन स्वपरिणामस्य विवक्षितत्वात् । औपशमिकादिसम्यग्दर्शनमात्मपरिणामत्वात् मोक्षकारणत्वेन विवक्ष्यते न च सम्यक्त्वकर्मपर्यायः, पौद्गलिकत्वेऽस्य परपर्यायत्वात् ।

स्वपरनिमित्तत्वादुत्पादस्येति चेत्; न; उपकरणमात्रत्वात् ।११। स्यादेतत्–स्वपरनिमित्त उत्पादो दृष्टो यथा घटस्योत्पादो मृन्निमित्तो दण्डादिनिमित्तश्च, तथा सम्यग्दर्शनोत्पाद आत्मनिमित्तः सम्यक्त्वपुद्गलनिमित्तश्च, तस्मात्तस्यापि मोक्षकारणत्वमुपपद्यते इति; तन्न; किं कारणम् ? उपकरणमात्रत्वात् । उपकरणमात्रं हि बाह्यसाधनम् । किञ्च,

आत्मपरिणामादेव तद्रसघातात् ।१२। यदिदं दर्शनमोहाख्यं कर्म तदात्मगुणघाति, कुतश्चिदात्मपरिणामादे[1]वोपक्षीणशक्तिकं सम्यक्त्वाख्यां लभते । अतो न तदात्मपरिणामस्य प्रधानं कारणम्, आत्मैव स्वशक्त्या दर्शनपर्यायेणोत्पद्यत इति तस्यैव मोक्षकारणत्वं युक्तम् । किञ्च,

अहेयत्वात् स्वधर्मस्य ।१३। न हीयते न परित्यज्यत इत्यहेयोऽयमाभ्यन्तर आत्मनः सम्यक्त्वपरिणामः, यतः सत्याभ्यन्तरे आत्मनः सम्यक्त्वपरिणामे नियमेनात्मा सम्यग्दर्शनपर्यायेणाविर्भवति । बाह्यस्तु हेयः कर्मपुद्गलः, तमन्तरेणापि क्षायिकसम्यक्त्वपरिणामात् । किञ्च,

प्रधानत्वात् ।१४। आभ्यन्तर आत्मीयः सम्यग्दर्शनपरिणामः प्रधानम्, सति तस्मिन् बाह्यस्योपग्राहकत्वात् । अतो बाह्य आभ्यन्तरस्योपग्राहकः [2]पारार्थ्येन वर्तत इत्यप्रधानम् । किञ्च,

प्रत्यासत्तेः ।१५। प्रत्यासन्नं हि कारणमात्मपरिणामो मोक्षस्य तादात्म्येनाविर्भावात्, नतु सम्यक्त्वं कर्म, विप्रकृष्टान्तरत्वात् तादात्म्ये[3]नाऽपरिणामाच्च । तस्मात् अहेयत्वात् प्रधानत्वात् प्रत्यासत्तेश्च मोक्षस्य कारणमात्मपरिणामो युक्तो न कर्मेति ।

अल्पबहुत्वकल्पनाविरोध इति चेत्; न; उपशमाद्यपेक्षस्य सम्यग्दर्शनत्रयस्यैव तदुपपत्तेः ।१६। स्यादेतत्–सम्यग्दर्शनस्यात्मपरिणामत्वे अल्पबहुत्वकल्पनाविरोध इति; तन्न; किं कारणम् ? उपशमाद्यपेक्षस्य सम्यग्दर्शनत्रयस्यैव तदुपपत्तेः । सर्वे[4]षु स्तोका उपशमसम्यग्दृष्टयः । संसारिणः क्षायिकसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । सिद्धाः क्षायिकसम्यग्दृष्टयोऽनन्तगुणा इति । तस्मात् सम्यग्दर्शनमात्मपरिणामं श्रेयोऽभिमुखमध्यवस्यामः ।

तत्त्वाग्रहणम्, अर्थश्रद्धानमित्यस्तु लघुत्वात् ।१७। कश्चिदाह–तत्त्वग्रहणमनर्थकम्, अर्थश्रद्धानमित्येवास्तु । कुतः ? लघुत्वादिति ।

न; सर्वार्थप्रसङ्गात् ।१८। नैतद्युक्तम्; कुतः? सर्वार्थप्रसङ्गात् । तत्त्वग्रहणादृते मिथ्यावादिप्रणीतेषु सर्वार्थेषु श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं प्राप्नोति ।

सन्देहाच्च, अर्थशब्दस्याऽनेकार्थत्वात् ।१९। अर्थशब्दोऽर्थमनेकार्थः–क्वचिद् द्रव्यगुणकर्मसु वर्तते ***"अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु"** [वैशे० ७।२।३] इति वचनात् । क्वचित् प्रयोजने वर्तते 'किमर्थमिहागमनं भवतः ?' किं प्रयोजनमिति । क्वचिद्धने वर्तते अर्थवानयं देवदत्तः

---

[1] –वेवापक्षीण–आ०, ब०, द०, मु० । [2] परेऽर्थे–मु०,आ०, ब०, द० । परोऽर्थे भा० २ । [3] –न्येनैवापरि–आ०, ब०, द०, मु० । [4] तदुक्तम्–संखावलिहिदपल्ला खइया तत्तो य वेदगुवसमया । आवलि-असंखगुणिदा असंखगुणहीणया कमसो । (गो० जी०, गा० ६५७) इति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धनवानिति । क्वचिदभिधेये वर्तते शब्दार्थसंबन्ध इति । एवमर्थशब्दस्यानेकार्थाभिधायित्वे सन्देहः–'कस्यार्थस्य श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' इति ?

सर्वानुग्रहाददोष इति चेत्; न; असदर्थविषयत्वात् ।२०। स्यादेतत्–नायं दोषः सर्वार्थप्रसङ्ग इति, अस्तु सर्वार्थविषयं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्, तथा सति सर्वानुग्रहः कृतो भवति। कश्चेदानीं भवतो मत्सरः सर्वो लोकोऽभ्युदये न युज्यतामिति ? तन्न; किंकारणम् ? असदर्थविषयत्वात् । न खलु कश्चिन्नो मत्सरः । असदर्थविषयं हि तच्छ्रद्धानं संसारकारणमिति । अतः सर्वानुग्रहार्थमेव तत्त्वेन विशिष्यते ।

अर्थग्रहणादेव तत्सिद्धिरिति चेत्; न: विपरीतग्रहणदर्शनात् ।२१। स्यादेतत्–अर्यत इत्यर्थो निश्चीयत इत्यर्थः । न च मिथ्यावादिप्रणीता अर्थाः;[1]असत्त्वात् । तस्मादर्थग्रहणादेव तत्त्वसंप्रत्ययात् नार्थस्तत्त्वग्रहणेनेति; तन्न; किं कारणम् ? विपरीतग्रहणदर्शनात् । यथा पित्तोदयाकुलितकरणः पुमान् मधुररसं कटुकं मन्यते, तथात्मा मिथ्याकर्मोदयदोषाद् अस्तित्वनास्तित्वानित्यत्वाऽनित्यत्वाऽन्यत्वाऽनन्यत्वाद्येकान्तरूपेण मिथ्या अध्यवस्यति । अतः तन्निराकरणार्थं तत्त्वग्रहणमिति

अर्थग्रहणं किमर्थम् ? ननु [2]"तत्त्वान्येवार्थाः" इत्यर्थानां तत्त्वसामानाधिकरण्यात् तत्त्ववचनेनैव संप्रत्ययः सिद्धः ? उच्यते—

अर्थग्रहणमव्यभिचारार्थम् ।२२। अर्थ ग्रहणं क्रियते अव्यभिचारार्थम् ।

तत्त्वमिति श्रद्धानमिति चेत्; एकान्तनिश्चितेऽपि प्रसङ्गः ।२३। यदि 'तत्त्वमिति श्रद्धानं तत्त्वश्रद्धानम्' इत्युच्यते; एकान्तनिश्चितेऽपि प्राप्नोति । एकान्तवादिनोऽपि हि 'नास्त्यात्मा' इत्येवामादि 'तत्त्वम्' इति श्रद्दधति ।

तत्त्वस्य श्रद्धानमिति चेत्; भावमात्रप्रसङ्गः ।२४। यदि 'तत्त्वस्य श्रद्धानं तत्त्वश्रद्धानम्' इत्युच्यते; भावमात्रप्रसङ्गः स्यात् । तत्त्वं भावः सामान्यमिति केचित्[3] कथयन्ति । द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादिसामान्यं द्रव्यादिभ्योऽर्थान्तरम्, तस्य श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं प्राप्नोति । न हि द्रव्यादिभ्योऽन्यत् सामान्यं युक्तिमदिति परीक्षितमेतत्[4] ।

अथवा, तत्त्वमेकत्वमित्यर्थः *"पुरुष एवेदं सर्वम्"[ऋग्० ८।४।१७] इत्यादि, तस्य श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं प्राप्नोति । नचादो युक्तम्, [5]क्रियाकारकभेदलोपप्रसङ्गादिति ।

तत्त्वेन श्रद्धानमिति चेत्; कस्य 'कस्मिन्न्वेति प्रश्नानिवृत्तिः ।२५। यदि 'तत्त्वेन श्रद्धानम्' इत्युच्यते; कस्य कस्मिन्न्वेति[6] प्रश्नो न विनिवर्तते । तस्मात् सूक्तम्–'अर्थग्रहणमव्यभिचारार्थम्' इति ।

[7]इच्छाश्रद्धानमित्यपरे ।२६। इच्छा श्रद्धानमित्यपरे वर्णयन्ति ।

तदयुक्तम्, मिथ्यादृष्टेरपि प्रसङ्गात् । २७। यतो मिथ्यादृष्टयो बाहुश्रुत्यप्रचिख्याप-

---

१ अतत्त्वात् आ०, ब०, मु० । २ भावेन भाववतोऽभिधानं तदव्यतिरेकादिति मत्वा भावस्तत्त्वं भाववानर्थः । ३ वैशेषिकाः । ४ 'अर्थान्तरात्संप्रत्ययः' इत्यादि प्राक् प्रबन्धेन । ५ तथा चोक्तं स्वामिना–अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते । कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात् प्रजायते ॥ (आप्तमी० २।१) इति । ६ कस्मिन्निति अ० । ७ इच्छाश्रद्धानमित्यपरे वर्णयन्ति आ०, ब०, मु०, द० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यिषया अर्हन्मतविजिगीषया वा[1]अर्हन्मतमधीयन्ते । नचेच्छामन्तरेण अध्ययनमस्ति, अलस्तेषामपि सम्यग्दर्शनं प्राप्नोति । इत्ययुक्तमुक्तम्–'इच्छा श्रद्धानम्' इति ।

केवलिनि सम्यक्त्वाभावप्रसङ्गाच्च ।२८। यदि च, इच्छा सम्यक्त्वम्, इच्छा च लोभपर्यायः, न च क्षीणमोहे केवलिनि लोभोऽस्ति, तदभावादिच्छाभाव इति सम्यक्त्वाभावः स्यात् । तस्मात् यद्भावात् यथाभूतमर्थं गृह्णात्यात्मा तत् सम्यग्दर्शनमिति प्रत्येतव्यम् ।

तद् द्विविधं सरागवीतरागविकल्पात् ।२९। एतत्सम्यग्दर्शनं द्विविधम् । कुतः ? सराग[2]वीतरागविकल्पात् ।

प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तलक्षणं प्रथमम् ।३०। रागादीनामनुद्रेकः प्रशमः । संसाराद्भीरुता संवेगः । सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकम्पा । जीवादयोऽर्था [3]यथास्वं भावैः सन्तीति मतिरास्तिक्यम् । एतैरभिव्यक्तलक्षणं प्रथमं सरागसम्यक्त्वमित्युच्यते ।

[4]आत्मविशुद्धिमात्रमितरत् ।३१। सप्तानां कर्मप्रकृतीनाम् आत्यन्तिकेऽपगमे सत्यात्मविशुद्धिमात्रमितरद् वीतरागसम्यक्त्वमित्युच्यते[5]। अत्र पूर्वं साधनं भवति, उत्तरं साधनं साध्यं च ।

अथैतत्सम्यग्दर्शनं जीवादिपदार्थविषयं कथमुत्पद्यत इति ? अत आह––

तन्निसर्गादधिगमाद् वा ॥३॥

निसर्ग इति कोऽयं शब्दः ? निपूर्वात् सृजेर्भावसाधनो घञ्, निसर्जनं निसर्गः स्वभाव इत्यर्थः । अथाधिगम इति कः? अधिपूर्वाद् गमेर्भावसाधनोऽच्, अधिगमनमधिगमः । तयोर्हेतुत्वेन निर्देशो निसर्गादधिगमादिति[6] । [7]कस्याः ? क्रियायाः । का च क्रिया ? 'उत्पद्यते' इत्यध्याह्रियते, सोपस्कारत्वात् सूत्राणाम् । तदेतत्सम्यग्दर्शनं निसर्गादधिगमाद्वा उत्पद्यत इति ।

कश्चिदाह–

सम्यग्दर्शनद्वैविध्यकल्पनानुपपत्तिः; अनुपलब्धतत्त्वस्य श्रद्धानाभावात् रसायनवत् ।१। द्विविधं सम्यग्दर्शनमिति कल्पना नोपपद्यते । कुतः ? अनुपलब्धतत्त्वस्य श्रद्धानाभावात्, कथम् ? रसायनवत् । यथा अत्यन्तपरोक्षरसायनत[8]त्त्वफलस्य[9] न रसायने श्रद्धानं दृष्टम्, तथा अनधिगतजीवादितत्त्वस्य न तत्र श्रद्धानमिति नैसर्गिकसम्यग्दर्शनाभावः ।

[10]**शूद्रवेदभक्तिवदिति चेत्; न; वैषम्यात्** ।२। स्यादेतत्–यथा शूद्रस्याऽनधिगतवेदार्थस्य वेदार्थे [11]आत्यन्तिकी भक्तिः,तथाऽनुपलब्धजीवादितत्त्वस्य श्रद्धानमिति; तन्न; किं कारणम् ? वैषम्यात् । युज्यते शूद्रस्य भारतादिश्रवणात् तज्ज्ञवचनानुवृत्त्यादिभिश्च वेदार्थभक्तिः, नासौ नैसर्गिकी । इह तु नैसर्गिकी रुचिरिष्टेति वैषम्यम् । अथवा, सम्यक्त्वाधिकारात् जीवादिपदार्थतत्त्वोपलब्धिपूर्वकेण सम्यग्दर्शनेन मोक्षकारणेनेह भवितव्यम्, न च शूद्रस्य तादृशं श्रद्धानमिति वैषम्यम् ।

---

१ आर्हतमतमभिधीयते–आ०, ब०, द०, मु० । आर्हतमधीयन्ते ता० । २ –विराग –श्र० । ३ यथास्वभावैः आ०, ब०, मु० । ४ आत्मशु –श्र० । ५ –ते पू–आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ६ हेतुः । ७ कस्य क्रि–आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ८ स्वरूप । ९ आरोग्य । १० अत्राचार्याभिप्रायानभिज्ञः कश्चिज्जनाभासः तं प्रत्युत्तरं ददाति, तमप्याचार्यः प्रतिषेधयति । ११ आत्यन्तिकभ- आ०, ब०, द०, मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मणिग्रहणवदिति चेत्; न; [1]प्रत्यक्षोपलब्धिसद्भावात् ।३। स्यादेतत्–यथा अनधिगतमणिविशेषस्यापि पुंसो मणिग्रहणं भवति तस्य च फलं दृष्टम्, तथा अनधिगतजीवादितत्त्वस्यापि तत्त्वग्रहणं भवति तस्य च फलं [2]भवतीति तन्नैसर्गिकं दर्शनमिति; तन्न; किं कारणम् ? प्रत्यक्षोपलब्धिसद्भावात् । नात्यन्तपरोक्षं मणिं गृह्णाति किन्तु प्रत्यक्षत उपलभ्य गृह्णाति । [3]वीर्यविशेषं तु न प्रतिपद्यते, अतोऽस्य अनुपलब्धमणिविशेषस्यापि प्रत्यक्षदर्शनाद् ग्रहणं न्याय्यम् । अत्यन्तपरोक्षे तु जीवादितत्त्वे कथमस्य निसर्गजसम्यग्दर्शनसिद्धिः ? सामान्याधिगमे तु अधिगमसम्यग्दर्शनमेवेति ।

तापप्रकाशवत् युगपदुत्पत्तेरभ्युपगमाच्च ।४। किम् ? 'निसर्गजसम्यग्दर्शनाभावः' [4]इत्यनुवर्तते । यदा अस्य सम्यग्दर्शनमुत्पद्यते तदैव प्राक्तनं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं च [5]सम्यक्त्वेन परणमतीत्यधिगमजमेव तद्भवति । यस्य ज्ञानात् प्राग् दर्शनं स्यात् तस्य नैसर्गिकं स्यात् । तच्चाऽनिष्टमिति । उच्यते—

उभयत्र तुल्ये अन्तरङ्गहेतौ बाह्योपदेशापेक्षाऽनपेक्षभेदाद् भेदः ।५। उभयत्र सम्यग्दर्शने अन्तरङ्गो हेतुस्तुल्यः दर्शनमोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा, तस्मिन् सति यद् बाह्योपदेशादृते प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकम्, यत् परोपदेशपूर्वकं जीवाद्यधिगमनिमित्तं तदुत्तरम्, इत्यनयोरयं भेदः ।

अपरोपदेशपूर्वके निसर्गाभिप्रायो लोकवत् ।६। यथा लोके हरिशार्दूलवृकभुजगादयो निसर्गतः [7]क्रौर्यशौर्याहारादिसंप्रतिपत्तौ वर्तन्त इत्युच्यन्ते । नचासावाकस्मिकी कर्मनिमित्तत्वात् । अनाकस्मिक्यपि सती नैसर्गिकी भवति, परोपदेशाभावात् । तथेहाप्यपरोपदेशपूर्वके निसर्गाभिप्रायः । अपर आह—

भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः अधिगमसम्यक्त्वाभावः ।७। यदि अवधृतमोक्षकालात् प्रागधिगमसम्यक्त्वबलात् मोक्षः स्यात् स्यादधिगमसम्यग्दर्शनस्य साफल्यम् । न चादोऽस्ति । अतः कालेन योऽस्य मोक्षोऽसौ, स निसर्गजसम्यक्त्वादेव सिद्ध इति ।

न, विवक्षितापरिज्ञानात् ।८। नैतद्युक्तम् । कुतः ? विवक्षिताऽपरिज्ञानात् । सम्यग्दर्शनादित्रयान्मोक्ष उक्तः । तत्र यत्प्रथमं[8] तत् 'कुत उत्पद्यते' इत्युक्ते 'निसर्गादधिगमाद्वा' इत्ययमर्थोऽत्र विवक्षितः । यदि सम्यग्दर्शनादेव[9] केवलान्निसर्गजादधिगमजाद्वा ज्ञानचारित्ररहितान्मोक्ष इष्टः स्यात्, तत इदं युक्तं स्यात्–'भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः' इति । नचायमर्थोऽत्र विवक्षितः ।

अथवा, यथा कुरुक्षेत्रे क्वचित् कनकं बाह्यपौरुषेयप्रयत्नाभावात् जायते,[10] तथा बाह्यपुरुषोपदेशपूर्वकजीवाद्यधिगममन्तरेण यज्जायते तन्निसर्गजम् । यथा कनकाश्मः[11] विध्युपायज्ञपुरुषप्रयोगापेक्षः[12] कनकभावमापद्यते,तथा यत् सम्यग्दर्शनं[13]विध्युपायज्ञमनुष्यसंपर्काज्जीवादिपदार्थतत्त्वाधिगमापेक्षमुत्पद्यते तदधिगम[14]सम्यग्दर्शनम् इत्ययमर्थो विवक्षितः, नचान्यतरस्याभाव इति । अतो विवक्षितापरिज्ञानात् न सम्यगुक्तम्–'अधिगमाभावः' इति ।

---

१ प्रत्यक्षेणोप –आ०, ब०, द०, मु०, ता० । २ भवति त –श्र० । ३ विपर्ययविशे –आ०, ब०, द०, मु०। ४ इति वर्तते श्र० । ५ समीचीनत्वेन । ६ –श्र दर्श–आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ७ क्रौर्यशौर्याशौर्याहारा–आ०, ब०, द०, मु० । ८ सम्यग्दर्शनम् । ९ निसर्गादधिगमाद्वा ता०, श्र०, मू० । १० जायते मू०, ता० । ११ –श्मवि–आ०, द०, मु० । १२ –श्रक–आ०, द०, मु० । १३–नवि आ०, ब०, द०, मू० । –नविशुद्धयुपा–ता० । १४ –गमजस–आ०, ब० मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालानियमाच्च निर्जरायाः ।९। यतो न भव्यानां कृत्स्नकर्मनिर्जरापूर्वकमोक्षकालस्य नियमोऽस्ति । केचिद् भव्याः संख्येयेन कालेन सेत्स्यन्ति, केचिदसंख्येयेन, केचिदनन्तेन, अपरे अनन्तानन्तेनापि न सेत्स्यन्तीति । ततश्च न युक्तम्–'भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः' इति ।

चोदनानुपपत्तेश्च ।१०। सर्वस्येयं चोदना नोपपद्यते । ज्ञानात् क्रियाया द्वयात् त्रितयाच्च मोक्षमाचक्षाणस्य सर्वस्य नेदं युक्तम्–'भव्यस्य कालेन मोक्षः' इति । यदि हि सर्वस्य कालो हेतुरिष्टः स्यात्, बाह्याभ्यन्तरकारणनियमस्य दृष्टस्येष्टस्य वा विरोधः स्यात् ।

तदित्यनन्तरनिर्देशार्थम् ।११। 'तत्' इत्येतदनन्तरस्य सम्यग्दर्शनस्य निर्देशार्थं क्रियते । ननु तत्प्रकृतम्, अन्तरेणापि तद्वचनं सिद्धम्;

इतरथा हि मार्गसम्बन्धप्रसङ्गः ।१२। अक्रियमाणे हि तद्वचने मोक्षमार्गोऽपि प्रकृतः तेनाभिसंबन्धः प्रसज्येत । ततो निसर्गमात्रेणापि मोक्षमार्गलाभ उक्तः स्यात् । बाहुश्रुत्यप्रचिख्यापयिषया च मोक्षमार्गाधिगममात्रादेव मिथ्यादृष्टीनामपि मोक्षः स्यात् । [1]ननु च *"**अनन्तरस्य वा विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा**" [पा० म० १।२।४७] इत्यनन्तरत्वात् सम्यग्दर्शनेनैव संबन्धो न्याय्यः । [2][इति चेत्; न;] *"**प्रत्यासत्तेः प्रधानं बलीयः**" [ ] इति मार्ग एव संबध्येत । तस्मात्तद्वचनं क्रियते विस्पष्टार्थम् ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे प्रथमेऽध्याये तृतीयमाह्निकं[3]समाप्तम् ।।३।।

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमित्युक्तम् । अथ 'किं तत्त्वम्' इति ? अत इदमाह–

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।।४।।

किमर्थमेषामुपादानम् ? ननु द्रव्यमित्येव[4] वक्तव्यं तद्भेदा हि सर्वे पदार्था भवन्तीति ? अत[5] उत्तरं पठति–

एकाद्यनन्तविकल्पोपपत्तौ विनेयाशयवशान्मध्यमाभिधानम् ।१। एको द्वौ त्रयः संख्येया असंख्येया अनन्ता इति पदार्था भिद्यन्ते । तत्रैकः पदार्थो भवति, [6]*"**एकं द्रव्यमनन्तपर्यायम्**" [ ]इति वचनात् । द्वौ पदार्थौ, जीवाजीवभेदात् । त्रयः पदार्था [7]अर्थाभिधानप्रत्ययभेदात् । एवमुत्तरे[8] च [9]वचनविकल्पापेक्षया असंख्येया ज्ञानज्ञेयविकल्पापेक्षया असंख्येया अनन्ताश्चा भवन्ति । तत्र विनेयाशयवशात् पदार्थनिरूपणाभेद इति मध्यमेन क्रमेणाभिधानं कृतम् । अतिसंक्षेपे सुमेधसामेव प्रतिपत्तिः स्याद् अतिप्रपञ्चे [10]चाचिरेण संप्रतिपत्तिर्न स्यादिति । कश्चिदाह–

---

१ तर्हि । २ इति चेन्न । ३ कं । ता०, आ०, ब०, द०, मु० । ४ –त्येवंव–ता०, द० । ५ अस्मिन् । ६ सत्ता सकलपदार्था सविश्वरूपा ह्यनन्तपर्याया । स्थितिभङ्गोदयसहिता सप्रतिपक्षा भवेदेका । (पंचा० गा० ८) । ७ बुद्धिशब्दार्थसंज्ञास्तास्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचकाः । तुल्या बोधादिबोधाश्च त्रयस्तत्प्रतिबिम्बकाः ।। (आप्तमी० श्लोक ८५) इति स्वामिभिः प्रोक्तम् । ८ –रे च–ता० । ९ शब्द । १० चातिचिरेण आ०, ब०, द०, मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवाजीवयोरन्यतरत्रैवान्तर्भावाद् आस्रवादीनामनुपदेशः ।२। आस्रवो हि जीवो वा स्यात्, अजीवो वा ? यदि जीवः; [1]जीवेऽन्तर्भाव इति । अथाऽजीवः; अजीवे । एवं संवरादयोऽपि । तस्मादेषामनुपदेशः–अनर्थक उपदेशोऽनुपदेशः ।

न वा; परस्परोपश्लेषे संसारप्रवृत्तितदुपरमप्रधानकारणप्रतिपादनार्थत्वात् ।३। न वाऽनर्थक उपदेशः । कुतः ? जीवाजीवयोः परस्परोपश्लेषे सति संसारप्रवृत्तितदुपरमप्रधानकारणप्रतिपादनार्थत्वात् । इह मोक्षमार्गः प्रकृतः, तस्य फलमवश्यं मोक्षो निर्देष्टव्यः । 'स कस्य' इति जीव उपात्तः । स च संसारपूर्वकः । स च सत्यजीवे जीवस्य भवति, इत्यजीव उपात्तः । तयोश्च परस्परोपश्लेषः संसारः । तत्प्रधानहेतू आस्रवो बन्धश्चेत्युपात्तौ । तदुपरमस्य मोक्षस्य प्रधानहेतू संवरनिर्जरे इत्युपादानं तयोः । एवमेषां [2]निर्ज्ञाने सति [3]प्राप्तव्यमोक्षस्य निर्ज्ञानं भवतीति । दृश्यते सामान्ये अन्तर्भूतस्यापि विशेषस्य पृथगुपादानं प्रयोजनार्थम्, क्षत्रिया आयाताः सूरवर्माऽपीति ।

उभयथापि [4]चोदनानुपपत्तिः ।४। यो जीवाजीवयोरन्तर्भावात् आस्रवादीनामनुपदेशं चोदयति, तस्योभयथापि चोदना नोपपद्यते । कथम् ? आस्रवादीनि जीवाजीवाभ्यां पृथगुपलभ्य वा चोदयेत्, अनुपलभ्य वा ? यदि पृथगुपलभ्य; अत एव ततोऽर्थान्तरत्वं सिद्धम् । [5]अथाऽनुपलभ्य; अनुपलम्भादेव चोदनाभावः । किञ्च, जीवाजीवाभ्यां पृथक्सिद्धान् वा चोदयेत्, असिद्धान् वा ? यदि सिद्धांश्चोदयेत्; अत एवाऽर्थान्तरभावः । अथाऽसिद्धांश्चोदयति; कथमत्रान्तर्भावश्चोद्यते ? न हि खरविषाणादीनामन्तर्भावश्चोदनार्हः ।

अनेकान्ताच्च ।५। 'चोदनानुपपत्तिः' इति वर्तते । कथम् ? द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोर्गुणप्रधानभावेन अर्पणानर्पण[6]भेदात् जीवाजीवयोरास्रवादीनां स्यादन्तर्भावः स्यादनन्तर्भावः । पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् आस्रवादिप्रतिनियतपर्यायार्थानर्पणात् अनादिपारिणामिकचैतन्याचैतन्यादिद्रव्यार्थार्पणाद् आस्रवादीनां स्याज्जीवेऽजीवे वान्तर्भावः । तथा द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्याद् आस्रवादिप्रतिनियतपर्यायार्थार्पणाद् अनादिपारिणामिकचैतन्याचैतन्यादिद्रव्यार्थाऽनर्पणाद् आस्रवादीनां जीवाजीवयोः स्यादनन्तर्भावः । [7]तदपेक्षया स्यादुपदेशोऽर्थवान् ।

तेषां निर्वचनलक्षणक्रमहेत्वभिधानम् ।६। तेषां जीवादीनां पृथगुपदेशे प्रयोजनमुक्तम् । इदानीं निर्वचनलक्षणक्रमहेत्वभिधानं कर्तव्यम् । तदुच्यते–

त्रिकालविषयजीवनानुभवनात् जीवः ।७। दशसु प्राणेषु यथोपात्तप्राणपर्यायेण त्रिषु कालेषु जीवनानुभवनात् 'जीवति, अजीवीत्, जीविष्यति' इति वा जीवः । तथा सति सिद्धानामपि जीवत्वं सिद्धं जीवितपूर्वत्वात् । संप्रति न जीवन्ति सिद्धाः, भूतपूर्वगत्या जीवत्वमेषाम् इत्यौपचारिकत्वं स्यात्, मुख्यं चेष्यते; नैष दोषः; भावप्राणज्ञानदर्शनानुभवनात् सांप्रतिकमपि जीवत्वमस्ति । अथवा रूढिशब्दोऽयम् । रूढौ च क्रिया व्युत्पत्त्यर्थेवेति कादाचित्कं जीवनमपेक्ष्य सर्वदा वर्तते गोशब्दवत् ।

तद्विपर्ययोऽजीवः ।८। यस्य जीवनमुक्तलक्षणं नास्त्यसौ तद्विपर्ययाद् अजीव इत्युच्यते ।

---

१ जीवेऽन्तर्भवति श्रा०, ब०, द०, मु०, ता० । २ विज्ञाने ता० । ३ प्राप्यस्य मो– श्रा०, ब०, द०, ज०, मु०, ता० । ४ प्रश्नानुपपत्तिः । ५ अथवाऽनुप –श्र० । ६ –र्पणाभे–मु०, ब० । ७ पर्यायापेक्षया ।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

आस्रवत्यनेन आस्रवणमात्रं वा आस्रवः ।९। येन कर्मास्रवति यद्वा आस्रवण[1]मात्रं वा स आस्रवः ।

[2]**बध्यतेऽनेन [3]बन्धनमात्रं वा बन्धः** ।१०। बध्यते येन अस्वतन्त्रीक्रियते येन, अस्वतन्त्रीकरणमात्रं वा बन्धः ।

संव्रियतेऽनेन संवरणमात्रं वा संवरः ।११। येन संव्रियते येन संरुध्यते, संरोधनमात्रं वा संवरः ।

निर्जीर्यते यया निर्जरणमात्रं वा निर्जरा ।१२। निर्जीयते निरस्यते यया, निरसनमात्रं वा निर्जरा ।

मोक्ष्यते येन मोक्षणमात्रं वा मोक्षः ।१३। मोक्ष्यते अस्यते येन असनमात्रं वा मोक्षः । एतेषामितरेतरयोगे[4] द्वन्द्वः । उक्तं निर्वचनम् । इदानीं लक्षणमुच्यते–

चेतनास्वभावत्वात्तद्विकल्पलक्षणो जीवः ।१४। जीवस्वभावश्चेतना, यत इतरेभ्यो द्रव्येभ्यो भिद्यते । तद्विकल्पा ज्ञानादयः । यत्सन्निधानादात्मा ज्ञाता द्रष्टा कर्ता भोक्ता च भवति तल्लक्षणो जीवः ।

तद्विपरीतत्वादजीवस्तदभावलक्षणः ।१५। तद्विपरीतत्वात् अचेतनस्वभावत्वात् ज्ञानादीनामभावो यस्य लक्षणं सोऽजीवः । कथमभावो [5]निरुपाख्यो वस्तुनो लक्षणं भवति? अभावोऽपि वस्तुधर्मो हेत्वङ्गत्वादेः[6]भाववत्[7] । अतोऽसौ[8] लक्षणं युज्यते । स हि यदि वस्तुनो लक्षणं न स्यात् सर्वसङ्करः स्यात् । यद्येवं वनस्पत्यादीनामजीवत्वं प्राप्नोति तदभावात् । ज्ञानादीनां हि प्रवृत्तित उपलब्धिः, न च तेषां तत्पूर्विका प्रवृत्तिरस्ति हिताहितप्राप्तिपरिवर्जनाभावात् । उक्तं च–

*"**बुद्धिपूर्वां क्रियां दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात् ।**
मन्यते बुद्धिसद्भावः सा न येषु न तेषु धीः ॥" [सन्ताना० सि० श्लो० १] इति[9]।

नैष दोषः; तेषामपि ज्ञानादयः सन्ति सर्वज्ञप्रत्यक्षाः, इतरेषामागमगम्याः । आहारलाभालाभयोः पुष्टि[10]म्लानादिदर्शनेन[11] युक्तिगम्याश्च । अण्डगर्भस्थमूर्च्छितादिषु सत्यपि जीवत्वे तत्पूर्वकप्रवृत्त्यभावात् हेतुर्व्यभिचारः ।

पुण्यपापागमद्वारलक्षण आस्रवः ।१६। पुण्यपापलक्षणस्य कर्मण [12]आगमनद्वारमास्रव इत्युच्यते । आस्रव इवास्रवः । क उपमार्थः ? यथा महोदधेः सलिलमापगामुखैरहरहरापूर्यते, तथा मिथ्यादर्शनादिद्वारानुप्रविष्टैः कर्मभिरनिशमात्मा समापूर्यत[13] इति मिथ्यादर्शनादि द्वारमास्रवः ।

आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशलक्षणो बन्धः ।१७। मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययोपनीतानां कर्मप्रदेशानाम् आत्मप्रदेशानां च परस्परानुप्रवेशलक्षणो बन्धः । बन्ध इव बन्धः । क उपमार्थः ?

---

१ –णमास्रवः ता०, व०। २ बध्यतेऽस्वतन्त्रीक्रियते येन भा० २ । ३ बन्धमात्रं ता० । ४ आविर्भूतावयवभेद इतरेतरः, तिरोहितावयवभेदः समाहारः । ५ निःस्वभावः । ६ यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा ह्रदे इत्यभावः अग्निरूपवस्तुधर्मः । ७ यत्र धूमस्तत्राग्निः यथा महानस इति (वत्) । ८ अभावः । ९ तुलना– "बुद्धिपूर्वां क्रियां दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात् । ज्ञायते बुद्धिरन्यत्र अभ्रान्तैः पुरुषैः क्वचित् ॥"– सिद्धिवि० द्वि० परि० । १० –म्लानयादि–आ०, ब०, द०, मु० । ११ –ने यु–ता०, श्र० । १२ आगमद्वा–आ०, ब०, द० । १३ पूर्यते श्र० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यथा निगडादिद्रव्यबन्धनबद्धो देवदत्तोऽस्वतन्त्रत्वाद् अभिप्रेतदेशगमनाद्यभावाद् अतिदुःखी भवति, तथा आत्मा कर्मबन्धनबद्धः पारतन्त्र्यात् शारीरमानसदुःखाभ्यर्दितो भवति ।

आस्रवनिरोधलक्षणः संवरः ।१८। पूर्वोक्तानामास्रवद्वाराणां शुभपरिणामवशान्निरोधः संवरः ।.संवर इव संवरः । क उपमार्थः ? यथा सुगुप्तसुसंवृतद्वारकवाटं[1] पुरं सुरक्षितं दुरासदमरातिभिर्भवति, तथा सुगुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रात्मनः सुसंवृतेन्द्रियकषाययोगस्य अभिनवकर्मागमद्वारसंवरणात् संवरः ।

एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा ।१९। उपात्तस्य कर्मणः तपोविशेषसन्निधाने सत्येकदेशसंक्षयलक्षणा निर्जरा । निर्जरेव निर्जरा । क उपमार्थः ? यथा मन्त्रौषधबलान्निर्जीर्णवीर्यविपाकं विषं न दोषप्रदं तथा सविपाकाऽविपाकनिर्जराप्रत्ययतपोविशेषेण निर्जीर्णरसं कर्म न संसारफलप्रदम् ।

कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्षः ।२०। सम्यग्दर्शनादिहेतुप्रयोगप्रकर्षे सति कृत्स्नस्य कर्मणश्चतुर्विधबन्धवियोगो मोक्षः । मोक्ष इव मोक्षः । क उपमार्थः ? यथा निगडादिद्रव्यमोक्षात् सति स्वातन्त्र्ये अभिप्रेतप्रदेशगमनादेः पुमान् सुखी भवति, तथा कृत्स्नकर्मवियोगे सति स्वाधीनात्यन्तिकज्ञानदर्शनानुपमसुख[2] आत्मा भवति । लक्षणमुक्तम् । इदानीं क्रमहेतुरुच्यते–

तादर्थ्यात् परिस्पन्दस्य आदौ जीवग्रहणम् ।२१। योऽयं मोक्षमार्गतत्त्वाविष्करणपरिस्पन्दः स आत्मार्थः, तस्य मोक्षपर्यायपरिणामात् । यो वा जीवाद्युपदेशपरिस्पन्दः स आत्मार्थः, तस्योपयोगस्वाभाव्ये सति ग्राहकत्वात् । अत आदौ जीवग्रहणम् ।

तदनुग्रहार्थत्वात् तदनन्तरमजीवाभिधानम् ।२२। यतः शरीरवाङ्मनःप्राणापानादिनोपकारेणाऽजीव आत्मानमनुगृह्णाति, अतस्तदनन्तरमजीवाभिधानम् ।

तदुभयाधीनत्वात् तत्समीपे आस्रवग्रहणम् ।२३। यत आत्मकर्मणोः परस्पराश्लेषे सत्यास्रवप्रसिद्धिर्भवति, अतस्तत्समीपे आस्रवग्रहणम् ।

तत्पूर्वकत्वाद् बन्धस्य ततः परं बन्धवचनम् ।२४। यत आस्रवपूर्वको बन्धः, ततः परं वचनं तस्य क्रियते ।

संवृतस्य बन्धाभावात् तत्प्रत्यनीकप्रतिपत्त्यर्थं संवरवचनम् ।२५। यतः संवृतस्यात्मनो बन्धो नास्ति ततस्तत्प्रत्यनीकप्रतिपत्त्यर्थं तदनन्तरं संवरवचनम् ।

संवरे सति निर्जरोपपत्तेस्तदन्तिके[3] निर्जरावचनम् ।२६। यतः संवरपूर्विका निर्जरा ततस्तदन्तिके निर्जरावचनम् ।

अन्ते [4]प्राप्यत्वात् मोक्षस्यान्ते वचनम् ।२७। निर्जीर्णेषु कर्मस्वन्ते मोक्षः प्राप्यत इत्यन्ते वचनम् ।

पुण्यपापपदार्थोपसंख्यानमिति चेत्; न; आस्रवे बन्धे वा अन्तर्भावात् ।२८। स्यादेतत्–पुण्यपापपदार्थयोरुपसंख्यानं कर्तव्यम् अन्यैरप्युक्तत्वादिति; तन्न; किं कारणम् ? आस्रवे बन्धे वा अन्तर्भावात्, यत आस्रवो बन्धश्च पुण्यपापात्मकः ।

तत्त्वशब्दस्य भाववाचित्वात् जीवादिभिः सामानाधिकरण्याऽनुपपत्तिः ।२९। तत्त्वशब्दो भाववाचीति व्याख्यातमेतत् । अतस्तस्य जीवादिभिर्द्रव्यवचनैः समानाधिकरण्यं नोपपद्यते ।

---

१ –कपाटं श्रा०, ब०, द०, मु० । २ - सुखमात्मानुभवति श्रा०, ब०, द०, मु० । ३ तदनन्तरे नि- श्रा०, ब०, द०, मु० । ४ प्राप्तत्वा–ता०, श्र०, मू० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न वा, अव्यतिरेकात्[1] तद्भावसिद्धेः ।३०। [2]न वा एष दोषः । किं कारणम् ? अव्यतिरेकात्तद्भावसिद्धेः । न हि द्रव्याद् व्यतिरिक्तो भावोऽस्ति अतस्तद्भावेनाऽध्यारोप्यते यथा 'ज्ञानमेवात्मा' इति । यदि तद्भावोऽध्यारोप्यते तल्लिङ्गसंख्यानुवृत्तिः प्राप्नोति ?

तल्लिङ्गसंख्यानुवृत्तौ चोक्तम् ।३१। किमुक्तम् ? 'न, उ[3]पात्तव्यक्तिवचनत्वात्' इति ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे प्रथमेऽध्याये चतुर्थमाह्निकम् ।।४।।

एवं संज्ञास्वालक्षण्यादिभिरुद्दिष्टानां जीवादीनां संव्यवहारविशेषव्यभि[4]चारनिवृत्त्यर्थमाह–

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ।।५।।

नीयते गम्यतेऽनेनार्थः, नमति वाऽर्थमभिमुखीकरोतीति नाम । स्थाप्यते प्रतिनिधीयतेऽसाविति स्थापना[5]। द्रोष्यते गम्यते गुणैः,द्रोष्यति गमिष्यति गुणानिति वा द्रव्यम् । भवनं भवतीति वा भावः । नामादीनामितरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वः । नामस्थापनाद्रव्यभावैर्नामस्थापनाद्रव्यभावतः । *"**आद्यादित्वात्**" [जैने० वा० ४।२।४९] *"**दृश्यन्तेऽन्यतोऽपि**" [जैने० ४।१।७९] इति वा तसिः । न्यसनं न्यस्यत इति वा न्यासो निक्षेप इत्यर्थः । तेषां[6] न्यासस्तन्न्यासः । एतेषां नामादीनां किं लक्षणमिति ? अत्रोच्यते–

निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञाकर्म नाम ।१। निमित्ता[7]दन्यन्निमित्तं निमित्तान्तरम्, तदनपेक्ष्य[8] क्रियमाणा संज्ञा नामेत्युच्यते । यथा परमैश्वर्यलक्षणेन्दनक्रियानिमित्तान्तरानपेक्षं कस्यचित् 'इन्द्रः' इति नाम । तथा जीवनक्रियानपेक्षं श्रद्धानक्रियानपेक्षं वा कस्यचित् 'जीवः सम्यग्दर्शनम्' इति वा नाम ।

सोऽयमित्यभिसंबन्धत्वेन अन्यस्य व्यवस्थापनामात्रं स्थापना ।२। यथा परमैश्वर्यलक्षणो यः शचीपतिरिन्द्रः, 'सोऽयम्' इत्यन्यवस्तु प्रतिनिधीयमानं स्थापना भवति । एवं 'जीव इति वा सम्यग्दर्शनम्[9] इति वा अक्षनिक्षेपादिषु[10] 'सोऽयम्' इति व्यावस्थापनामात्रं स्थापना ।

अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यम् ।३। यद् भाविपरिणामप्राप्तिं प्रति योग्यतामादधानं तद् द्रव्यमित्युच्यते ।

[11]**अतद्भावं वा** ।४। अथवा, अतद्भावं वा द्रव्यमित्युच्यते । यथेन्द्रार्थमानीतं काष्ठमिन्द्रप्रतिमापर्यायप्राप्तिं प्रत्यभिमुखम् 'इन्द्रः' इत्युच्यते, तथा [12]जीव-सम्यग्दर्शनपर्यायप्राप्तिं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यं द्रव्यजीवो द्रव्यसम्यग्दर्शनमिति चोच्यते । युक्तं तावत् सम्यग्दर्शनप्राप्तिं प्रति गृहीताभिमुख्यमिति, अतत्परिणामस्य जीवस्य संभवात्, इदं त्वयुक्तम्–जीवनपर्यायप्राप्तिं

---

१ अभेदात् । २ नवा न दोषः ता० । ३ विशेषणविशेष्यसम्बन्धे सत्यपि शब्दशक्तिव्यपेक्षया उपात्तलिङ्गसंख्याव्यतिक्रमो न भवतीत्यर्थः । ४ अप्रकृतनिराकरणाय प्रकृतनिरूपणाय च निक्षेपविधिना शब्दार्थः प्रस्तीर्यत इत्यर्थः । ५ –ना गम्यते आ०, ब०, द०, मु०, मू० । ६ सम्यग्दर्शनादीनां जीवादीनाञ्च । ७ –दन्यन्निमित्तान्त–आ०, ब०, द०, मु० । ८ जातिद्रव्यक्रियागुणाः निमित्तम्,ताननपेक्ष्य । द्रव्यं द्विविधम् विषाणादिकं समवायिद्रव्यम्, घण्टादिकं संयोगिद्रव्यम् । ९ –नमित्यक्ष–आ०, ब०, द०, मु० । १० आदिशब्देन काष्ठपुस्तचित्रादि गृह्यते । ११ अतद्भवं मु० । १२ जीवनस–ता०, मू० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रति गृहीताभिमुख्यमिति । कुतः ? सदा [1]तत्परिणामात् । यदि न स्यात्; प्रागजीवः प्राप्नोति । नैष दोषः; मनुष्यजीवादिविशेषापेक्षया स व्यपदेशो वेदितव्यः ।

तद्द्विविधम्–आगम-नोआगमभेदात् ।५। तदेतद् द्रव्यं द्विविधम् । कुतः ?आगम-नोआगमभेदात् । आगमद्रव्यजीवः नोआगमद्रव्यजीवः, आगमद्रव्यसम्यग्दर्शनं नोआगमद्रव्यसम्यग्दर्शनमिति च ।

अनुपयुक्तः प्राभृतज्ञाय्यात्मा आगमः ।६। अनुपयुक्तः प्राभृतज्ञायी[2] आत्मा आगमद्रव्यमित्युच्यते ।

इतरत् त्रिविधम्–ज्ञायकशरीर-भावि-तद्व्यतिरिक्तभेदात् ।७। इतरन्नोआगमद्रव्यं त्रैविध्यमास्कन्दति । कुतः ? ज्ञायकशरीर-भावि-तद्व्यतिरिक्तभेदात् । ज्ञातुर्यच्छरीरं[3] त्रिकालगोचरं तज्ज्ञायकशरीरम् । [4]जीवन-सम्यग्दर्शनपरिणामप्राप्तिं [5]प्रत्यभिमुखं द्रव्यं भावीत्युच्यते । तद्व्यतिरिक्तं कर्म–नोकर्मविकल्पम्[6] ।

वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः ।८। वर्तमानेन तेन[7] जीवन-सम्यग्दर्शनपर्यायेणोपलक्षितं द्रव्यं भावजीवो भावसम्यग्दर्शनमिति चोच्यते । यथा इन्द्रनामकर्मोदयापादितेन्दनक्रियापर्यायपरिणत आत्मा भावेन्द्रः ।

स द्विविधः पूर्ववत् ।९। स एष भावो द्विविधो वेदितव्यः पूर्ववत् आगम-नोआगमभेदात् ।

तत्प्राभृतविषयोपयोगाविष्ट आत्मा आगमः ।१०। जीवादिप्राभृतविषयेणोपयोगेनाविष्ट आत्मा आगमतो [8]भावजीवो भावसम्यग्दर्शनमिति चोच्यते ।

जीवनादिपर्यायाविष्टोऽन्यः ।११। जीवनादिपर्यायेणाऽऽविष्ट आत्माऽन्यो नोआगमतो भाव इत्युच्यते ।

नामस्थापनयोरेकत्वं संज्ञाकर्माऽविशेषादिति चेत्; न; आदरानुग्रहाकाङ्क्षित्वात् स्थापनायाम् ।१२। स्यान्मतम्–नामस्थापनयोरेकत्वम् । कुतः ? संज्ञाकर्माविशेषात् । यतो नाम्नि स्थापनायां च संज्ञाकरणं समानम्, न ह्यकृते नाम्नि स्थाप्यत इति । तच्च न; कुतः ? आदरानुग्रहाकाङ्क्षित्वात् स्थापनायाम् । यथा अर्हदिन्द्रस्कन्देश्वरादिप्रतिमासु आदरानुग्रहाकाङ्क्षित्वं जनस्य, न तथा परिभाषिते वर्तते । ततोऽन्यत्वमनयोः ।

द्रव्यभावयोरेकत्वम् अव्यतिरेकादिति चेत्; न; कथञ्चित् संज्ञास्वालक्षण्यादिभेदात् तद्भेदसिद्धेः ।१३। स्यादारेका–द्रव्यभावयोस्तह्येकत्वं प्रसज्यते । कुतः ? तदव्यतिरेकात् । नहि द्रव्यव्यतिरेकेण भाव उपलभ्यते भावव्यतिरेकेण वा द्रव्यम्, अतोऽनयोरेकत्वमिति । तच्च न; कुतः ? संज्ञास्वालक्षण्यादिभेदात् तद्भेदसिद्धेः । इह ययोः संज्ञास्वालक्षण्यादिकृतो भेदः तयोर्नानात्वमुपलभ्यते तथा [9]द्रव्यभावयोरपीति । कश्चिदाह–

---

१ तत्परिणामो यदि आ०, ब०, द०, मु० । २ –ज्ञाय्यागम–आ०, ब०, द०, मु० । ३ ज्ञातुः शरीरं त्रिधा-भूत-वर्तमान-भविष्यद्भेदात् । भूतमपि त्रिधा च्युतं च्यावितं त्यक्तञ्चेति । पक्वफलमिव स्वयमेव आयुषः क्षयेण पतितं च्युतम् । कदलीघातेन पतितं च्यावितम् । त्यक्तं पुनस्त्रिधा–भक्तप्रत्याख्यान–इङ्गिनी–प्रायोपगमनमरणैः । ४ अनागत । ५ प्रत्यनभिमु–ता० । ६ ...द्विविधं कर्मनोकर्मभेदेन, जीवादिप्राभृतविषयेणोपयोगेन परिणतजीवेनार्जिततीर्थंकरादिशुभप्रकृतिस्वरूपं कर्म नोआगमद्रव्यकर्म । एवं नोकर्म–नोआगमद्रव्यनोकर्म–शरीरोपचयापचयनिमित्तपुद्गलद्रव्यस्यानेकरूपत्वात् । ७ तेन तेन जी– आ०, ब०, द०, मु० । ८ आगमभावजीव इत्यर्थः, स्यानिप्यकर्माधारे इत्यपादानम् । ९ भविष्यत्परिणामाभिमुखम् अतीतपरिणामं वा वस्तु द्रव्यम्, वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भाव इति स्वालक्षण्याद् भेदः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यस्यादौ वचनं न्याय्यं तत्पूर्वकत्वान्नामादीनाम् ।१४। द्रव्यस्यादौ वचनं न्याय्यम् । कुतः ? तत्पूर्वकत्वान्नामादीनाम् । सतो हि संज्ञिनो नामादिभिर्भवितव्यमिति; नैष दोषः;

संव्यवहारहेतुत्वात् संज्ञायाः पूर्ववचनम् ।१५। संव्यवहारहेतुत्वात् संज्ञायाः पूर्ववचनं क्रियते । सर्वो हि लोकसंव्यवहारः संज्ञापूर्वकः तदात्मकत्वात्, तदनात्मकत्वे वस्तुव्यवहार-विच्छेदः । तदात्मकत्वाच्च स्तुतिनिन्दयो रागद्वेषप्रवृत्तिः सिद्धा ।

ततः स्थापनावचनम्, आहितनामकस्य स्थापनोपपत्तेः ।१६। ततः परं स्थापना विधीयते । कुतः ? आहितनामकस्य स्थापनोपपत्तेः । आहितनामकस्य 'सोऽयम्' इति किञ्चित् प्रति-निधीयते ।

द्रव्यभावयोः [1]पूर्वपरन्यासः पूर्वोत्तरकालवृत्तित्वात् ।१७। द्रव्यभावयोः पूर्वपरन्यासः क्रियते । किं कारणम् ? पूर्वोत्तरकालवृत्तित्वात् । पूर्वकालविषयं[2] हि द्रव्यम् । उत्तरकालभावी भाव इति ।

[3]तत्त्वप्रत्यासत्तिप्रकर्षाऽप्रकर्षभेदाद्वा तत्क्रमः ।१८। अथवा, तत्त्वप्रत्यासत्तेः प्रकर्षाप्रकर्ष-भेदात्तेषां नामादीनामुद्दिष्टः क्रमो वेदितव्यः । तत्त्वं भावः प्रधानम्, तदर्थानीतराणि, तत्र प्रत्यासत्तेस्तत्समीपे द्रव्यं प्रयुक्तं तद्भावापत्तेः । ततः पूर्वं स्थापनोपादानम्, अतद्भावेपि तद्भावं प्रति प्रधानहेतुत्वात् । ततः पूर्वं नामोपादानम् भावं प्रति विप्रकृष्टत्वात्[4] ।

नामादिचतुष्टयाभावो विरोधात् ।१९। अत्राह–नामादिचतुष्टयस्याभावः । कुतः ? विरोधात् । एकस्य शब्दार्थस्य नामादिचतुष्टयं विरुध्यते । यथा नामैकं नामैव, न स्थापना । अथ नाम स्थापना इष्यते न नामेदं नाम । स्थापना तर्हि; न चेयं स्थापना, नामेदम् । अतो[5] नामार्थ एको विरोधान्न स्थापना । तथैकस्य जीवादेरर्थस्य सम्यग्दर्शनादेर्वा विरोधान्नामाद्यभाव इति ।

न वा; सर्वेषां संव्यवहारं प्रत्यविरोधात् ।२०। न वैष दोषः । किं कारणम् ? सर्वेषाम् संव्यवहारं प्रत्यविरोधात् । लोके हि सर्वैर्नामादिभिर्दृष्टः संव्यवहारः । इन्द्रो देवदत्तः इति नाम । प्रतिमादिषु चेन्द्र इति स्थापना । इन्द्रार्थे[6] च काष्ठे द्रव्ये इन्द्रसंव्यवहारः 'इन्द्र आनीतः' इति वचनात् । अनागतपरिणामे [7]चार्थे द्रव्यसंव्यवहारो लोके दृष्टः– "द्रव्यमयं माणवकः, आचार्यः श्रेष्ठी वैयाकरणो राजा वा भविष्यतीति व्यवहारदर्शनात् । शचीपतौ च भावे इन्द्र इति । न च विरोधः । किञ्च,

अभिहितानवबोधात् ।२१। 'यथा नामैकं नामैवेष्यते न स्थापना' इत्याचक्षाणेन त्वया अभिहितानवबोधः[8] प्रकटीक्रियते । यतो नैवमाचक्ष्महे–'नामैव स्थापना' इति, किन्तु एकस्या-र्थस्य नामस्थापनाद्रव्यभावैर्न्यासः इत्याचक्ष्महे ।

अनेकान्ताच्च ।२२। नैतदेकान्तेन [9]प्रतिजानीमहे–नामैव स्थापना भवतीति न वा, स्थापना वा नाम भवति नेति च । कथम् ?

मनुष्यब्राह्मणवत् ।२३। यथा ब्राह्मणः स्यान्मनुष्यो ब्राह्मणस्य मनुष्यजात्यात्मकत्वात् । मनुष्यस्तु ब्राह्मणः स्यान्न वा, मनुष्यस्य ब्राह्मणजात्यादिपर्यायात्मकत्वादर्शनात्[10] । तथा स्थापना-स्यान्नाम, अकृतनाम्नः स्थापनानुपपत्तेः । नाम तु स्थापना स्यान्न वा, उभयथा दर्शनात् ।

---

१ पूर्वापर– आ०, ब०, मु० । २ –यं द्र– श्र० । ३ भाव । ४ प्रतिदूरत्वात् । ५ यतो श्र० । ६ वार्थे आ०, ब०, मू०, मु० । ७ योग्योऽयं बालः –सम्पा० । ८ अज्ञत्वम् । ९ प्रतिज्ञां कुर्महे । १० –नाच्च तथा आ०, ब०, द०, मु० ।

तथा द्रव्यं स्याद्भावः, [1]भावद्रव्यार्थादेशात् न भावपर्यायार्थादेशाद् द्रव्यम्[2]। भावस्तु द्रव्यं स्यान्न वा, उभयथा दर्शनात् । किञ्च,

अतस्तत्सिद्धेः ।२४। यत एव नामादिचतुष्टयस्य विरोधं भवानाचष्टे अत एव नाभावः[3] । कथम् ? इह योऽयं सहानवस्थानलक्षणो विरोधो वध्यघातकवत्[4] स सतामर्थानां भवति नाऽसतां [5]काकोलूक-छायातपवत्, न काकदन्त-खरविषाणयोर्विरोधोऽसत्त्वात् । किञ्च,

नामाद्यात्मकत्वाऽनात्मकत्वे विरोधस्याऽविरोधकत्वात् ।२५। यो नामादिचतुष्टयस्य विरोधः स नामाद्यात्मको वा स्यात्, न वा ? उभयथा च विरोधाभावः । यदि नामाद्यात्मकः; नासौ विरोधको नामाद्यात्मवत् । अथ तदात्मकोऽपि विरोधो नामादीनां विरोधकः; नामाद्यात्मापि विरोधकः स्यात्, ततो नामादीनामभावाद्विरोध एव न स्यात् । अथ न नामाद्यात्मकः; एवमपि नामादीनां नासौ विरोधकोऽर्थान्तरत्वात् । [6]अथ अर्थान्तरभावेऽपि विरोधकत्वमिष्यते; सर्वेषां पदार्थानां परस्परतो नित्यं विरोधः स्यात् । न चासावस्तीति । अतो विरोधाभावः ।

तादगुण्याद् भावस्य प्रामाण्यमिति चेत्; नः इतरव्यवहारनिवृत्तेः ।२६। स्यादेतत्—तादगुण्याद् भाव एव प्रमाणं न नामादिः । स जीवनादिर्गुणो यस्य स तद्गुणः, तस्य भावस्तादगुण्यम्, अतो भाव एव प्रमाणं न नामादिः, तादगुण्याभावादिति; तन्न; किं कारणम् ? इतरव्यवहारनिवृत्तेः । एवं हि सति नामाद्याश्रयो व्यवहारो निवर्तेत । स चास्तीति । अतो न भावस्यैव प्रामाण्यम् ।

उपचारादिति चेत्; न; तद्गुणाभावात् ।२७। स्यादेतत्—यद्यपि भावस्यैव प्रामाण्यं तथापि[7] नामादिव्यवहारो न निवर्तते । कुतः ? उपचारात्, माणवके सिंहशब्दव्यवहारवदिति । तन्न; किं कारणम् ? तद्गुणाभावात् । युज्यते माणवके सिंहशब्दव्यवहारः क्रौर्यशौर्यादिगुणैकदेशयोगात्, इह तु नामादिषु जीवनादिगुणैकदेशो न कश्चिदप्यस्तीत्युपचाराभावाद् व्यवहारनिवृत्तिः स्यादेव ।

मुख्यसंप्रत्ययप्रसङ्गाच्च ।२८। यद्युपचारान्नामादिव्यवहारः स्यात्, *"**गौणमुख्ययोर्मुख्ये संप्रत्ययः**" [पात० महा० ८।३।८२] इति मुख्यस्यैव संप्रत्ययः स्यान्न नामादीनाम् । यतस्त्वर्थप्रकरणादिविशेषलिङ्गाभावे सर्वत्र संप्रत्ययः [8]अविशिष्टः कृतसंगतेर्भवति, अतो न नामादिषूपचाराद् व्यवहारः ।

*"**कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्ययो भवति**" [पात० महा० १।१।२२] **इति चेत्; न; उभयगतिदर्शनात्** ।२९। स्यादेतत्—कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्ययो भवतीति लोके । तद्यथा 'गोपालकमानय कटेजकमानय' इति, यस्यैषा संज्ञा भवति स आनीयते, न यो गाः पालयति यो वा कटे जातः । एवमिहापि यस्यैषा 'जीवादिः' इति संज्ञा कृता तस्यैव संप्रत्ययः स्यान्नेतरेषामिति; तन्न; किं कारणम् ? उभयगतिदर्शनात् । लोके ह्यर्थात् प्रकरणाद्वा कृत्रिमे संप्रत्ययः स्यात् अर्थो वाऽस्यैवंसंज्ञकेन भवति, प्रकृतं वा तत्र भवति 'इदमेवंसंज्ञकेन कर्तव्यम्' इति, [9]अर्थात् प्रकरणाद्वा लोके संप्रत्ययो भवति । [10]अङ्ग [11]हि भवान्,

१ भावस्यं द्रव्यं भावद्रव्यं तदेवार्थः तस्यादेशस्तस्मात् । २ 'द्रव्यम्' इति पदधर्मिकं भाति —सम्पा० । ३ विरोधः – ता० टि० । ४ –कवच्च सता– आ०, ब०, द०, मु०, ता०, श्र० । ५ –लूकवच्छाया– मु०, आ०, ब० । ६ अर्था– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ७ तथा ना– ता०, श्र० । ८ विशेषरहितः । ९ प्रतस्त्वार्था– ता०, आ०, ब०, द०, मु० । १० अङ्गेति प्रियत्वामान्त्रणे । ११ कष्टम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]ग्राम्यं [2]पांशुलपादकमप्रकरणज्ञमागतं ब्रवीतु–'गोपालकमानय कटेजकमानय' इति, [3]उभयगतिस्तस्य भविष्यति । किञ्च,

अनेकान्तात् ।३०। नायमेकान्तः कृत्रिममेवेदं न कृत्रिममेवेति । किं तर्हि ? अनेकान्तः । [4]नाम सामान्यापेक्षया स्यादकृत्रिमं विशेषापेक्षया कृत्रिमम् । एवं स्थापनादयश्चेति । ततः किम् ? *"**कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्ययः**" इत्यस्याभावः । किञ्च,

नयद्वयविषयत्वात् ।३१। द्वौ नयौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च, तयोर्विषयो नामादिन्यासः । तत्र नामस्थापनाद्रव्याणि [5]प्राच्यस्य, सामान्यात्मकत्वात् । पाश्चात्यस्य भावः, परिणतिप्रधानत्वात् । ततः किम् ? *"**गौणमुख्ययोर्मुख्ये संप्रत्ययः**" "**कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्ययः**" इति च न भवति । प्रतिविषयं नयभेदात् ।

द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकान्तर्भावान्नामादीनां तयोश्च नयशब्दाभिधेयत्वात् पौनरुक्त्यप्रसङ्गः ।३२। यतो नामस्थापनाद्रव्याणि द्रव्यार्थिकस्य, भावः पर्यायार्थिकस्येत्युक्तम्, ततो नामादीनां नयान्तर्भावात्, नयविकल्पानां च वक्ष्यमाणत्वात् पौनरुक्त्यं प्राप्नोति ।

न वा; विनेयमतिभेदाधीनत्वाद् द्व्यादिनयविकल्पनिरूपणस्य ।३३। न वा एष दोषः । किं कारणम् ? विनेयमतिभेदाधीनत्वाद् द्व्यादिनयविकल्पनिरूपणस्य । ये सुमेधसो विनेयास्तेषां द्वाभ्यामेव द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाभ्यां सर्वनयवक्तव्यार्थप्रतिपत्तिः तदन्तर्भावात् । ये त्वतो मन्दमेधसः तेषां [6]त्र्यादिनयविकल्पनिरूपणम् । अतो विशेषोपपत्तेर्नामादीनामपुनरुक्तत्वम् ।

तच्छब्दाग्रहणं प्रकृतत्वात् ।३४। सम्यग्दर्शनादित्रयस्य प्रकृतत्वादेव नामादिन्यासाभि[7]संबन्धः । ततस्तच्छब्दस्य ग्रहणमनर्थकम् ।

प्रत्यासन्नत्वाज्जीवादिषु प्रसङ्ग इति चेत्; न; सम्यग्दर्शनविषयत्वात् ।३५। स्यादेतत्– तच्छब्दाद् विना प्रत्यासन्ना जीवादयस्तेषामेव न्यासाभिसंबन्धो भवेत् न सम्यग्दर्शनादीनाम् । कुतः ? *"**अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा**" [पात० महा० १।२।४७] इति; तन्न; किं कारणम् ? सम्यग्दर्शनविषयत्वात् । सम्यग्दर्शनादित्रयस्य प्राधान्येनोपदेशः तदर्थत्वाच्छास्त्रारम्भस्य, सम्यग्दर्शनादिविषयत्वेन तु जीवादीनां गुणभूतत्वेनोपदेशः । अतस्तच्छब्दादृतेऽपि सम्यग्दर्शनादित्रयस्य प्राधान्यात् नामादिन्यासेनाभिसंबन्धो युक्तः ।

विशेषातिदिष्टत्वाच्च ।३६। जीवादयः सम्यग्दर्शनविषयत्वेन विशेषेणातिदिष्टाः प्रकृतं सम्यग्दर्शनादित्रयं न बाधिष्यन्ते *"**विशेषातिदिष्टः प्रकृतं न बाधन्ते**" [ ] इति ।

सर्वभावाधिगमार्थं तु ।३७। सर्वेषां भावानां जीवाजीवादीनामप्रधानानां प्रधानानां च सम्यग्दर्शनादीनाम् अधिगमार्थं[8] तर्हि तच्छब्दग्रहणम् । इतरथा हि प्रधानाभिसंबन्ध एव स्यात् ।

एवमजीवादिषु ज्ञानचारित्रयोश्च नामादिन्यासविकल्पो योजयितव्यः ।

अधिकृतानामेव सम्यग्दर्शनादिजीवादीनां पदार्थानाम् अभिधानाभिधेयसंव्यवहाराऽव्यभिचाराय नामादिभिर्निक्षिप्तानां तत्त्वाधिगमहेतुर्वक्तव्य इति । अत आह–

१ भ्राम्यन् श्र० । २ प्राघूर्णकमित्यर्थः । पांशुलखुरपाद– आ०, ब०, द०, मु० । पांशुखुरपा– भा० २ । ३ गोपालकस्य गोःपालयितुश्च परिज्ञानम् । ४ अनादिसम्बन्ध इन्द्र इति । ५ द्रव्यार्थिकस्य । ६ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकशब्द । ७ –सम्बन्धस्तच्छ– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ८ –र्थं तच्छ– ता० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाणनयैरधिगमः ॥६॥

प्रमाणे च नयाश्च प्रमाणनयाः, तैरधिगमो भवति सम्यग्दर्शनादीनां जीवादीनाम् । प्रमाणनया वक्ष्यमाणलक्षणाः । ननु च नयशब्दस्या[1]ल्पाच्तरत्वात् पूर्वनिपातेन भवितव्यम् ?

अभ्यर्हितत्वात् प्रमाणशब्दस्य पूर्वनिपातः ।१। ***"अभ्यर्हितं पूर्वम् निपतति"** [पात० महा० २।२।३४] इति प्रमाणशब्दस्य पूर्वनिपातो वेदितव्यः । कथमभ्यर्हितत्वम् ?

प्रमाणप्रकाशितेष्वर्थेषु नयप्रवृत्तेर्व्यवहारहेतुत्वादभ्यर्हः ।२। यतः प्रमाणप्रकाशितेष्वर्थेषु नयप्रवृत्तिर्व्यवहारहेतुर्भवति नान्येषु अतोऽस्याभ्यर्हितत्वम् ।

समुदायाऽवयवविषयत्वाद्वा ।३। अथवा, समुदायविषयं प्रमाणम् अवयवविषया नया इति प्रमाणस्याभ्यर्हितत्वम् । तथा चोक्तम्– ***"सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः"** [ ] इति ।

अधिगमहेतुर्द्विविधः ।४। [अधिगमहेतुर्द्विविधः] स्वाधिगमहेतुः, पराधिगमहेतुश्च । स्वाधिगमहेतुर्ज्ञानात्मकः प्रमाणनयविकल्पः, पराधिगमहेतुर्वचनात्मकः । तेन श्रुताख्येन प्रमाणेन स्याद्वादनयसंस्कृतेन प्रतिपर्यायं सप्तभङ्गीमन्तो जीवादयः पदार्था अधिगमयितव्याः ।

अत्राह–केयं सप्तभङ्गी इति ? अत्रोच्यते–

प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधविकल्पना सप्तभङ्गी ।५। एकस्मिन् वस्तुनि[2] प्रश्नवशाद् दृष्टेनेष्टेन च प्रमाणेनाऽविरुद्धा विधिप्रतिषेधविकल्पना[3] सप्तभङ्गी विज्ञेया । तद्यथा–स्याद् घटः, स्यादघटः, स्याद् घटश्चाऽघटश्च, स्यादवक्तव्यः, स्याद् घटश्चाऽवक्तव्यश्च, स्यादघटश्चावक्तव्यश्च, स्याद् घटश्चाऽघटश्चाऽवक्तव्यश्चेति अर्पितानर्पितनयसिद्धेर्निरूपयितव्या ।

तत्र स्वात्मना स्याद् घटः, परात्मना स्यादघटः । को वा घटस्य स्वात्मा को वा परात्मा ? घटबुद्ध्यभिधानप्रवृत्तिलिङ्गः स्वात्मा, यत्र तयोरप्रवृत्तिः स परात्मा पटादिः । स्वपरात्मोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वम् । यदि स्वस्मिन् पटाद्यात्मव्यावृत्तिविपरणतिर्न स्यात् सर्वात्मना घट इति व्यपदिश्येत । अथ [4]परात्मना व्यावृत्तावपि स्वात्मोपादानविपरणतिर्न स्यात् खरविषाणवदवस्त्वेव स्यात् ।

अथवा, नामस्थापनाद्रव्यभावेषु यो विवक्षितः स स्वात्मा, इतरः परात्मा । तत्र विवक्षितात्मना घटः, नेतरात्मना । यदीतरात्मनापि घटः स्यात् विवक्षितात्मना वाऽघटः; नामादिव्यवहारोच्छेदः स्यात् ।

अथवा, तत्र विवक्षितघटशब्दवाच्यसादृश्यसामान्यसंबन्धिषु कस्मिंश्चिद् घटविशेषे परिगृहीते प्रतिनियतो यः संस्थानादिः स स्वात्मा, इतरः परात्मा । तत्र प्रतिनियतेन रूपेण घटः नेतरेण । यदीतरात्मकः स्यात्; एकघटमात्रप्रसङ्गः । ततः सामान्याश्रयो व्यवहारो विनश्येत् ।

अथवा, तस्मिन्नेव घटविशेषे कालान्तरावस्थायिनि पूर्वोत्तरकुशूलान्तकपालाद्यवस्थाकलापः परात्मा, तदन्तरालवर्ती स्वात्मा । स तेनैव घटः तत्कर्मगुणव्यपदेशदर्शनात्,

---

१ –ल्पाक्षर– मु० । २ –नि अविरोधेन प्र– आ०, ब०, द०, मु० । ३ –धकल्पना आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ४ परात्मव्यावृ–श्र० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नेतरात्मना । यदि हि कुशूलान्तकपालाद्यात्मनापि घटः स्यात्; घटावस्थायामपि तदुपलब्धिर्भवेत्,[1] उत्पत्तिविनाशार्थं पुरुषप्रयत्नफलाभावश्चानुषज्येत । अथान्तरालवर्तिपर्यायात्मनाप्यघटः स्यात्; घटकृत्यं फलं नोपलभ्येत ।

अथवा, प्रतिक्षणं द्रव्यपरिणामोपचयापचयभेदादर्थान्तरत्वोपपत्तेः ऋजुसूत्रनयापेक्षया प्रत्युत्पन्नघटस्वभावः स्वात्मा, घटपर्याय एवातीतोऽनागतश्च परात्मा । तेन प्रत्युत्पन्नस्वभावेन सता स घटः नेतरणासता, तथोपलब्ध्यनुपलब्धिसद्भावात् । इतरथा हि प्रत्युत्पन्नवदतीतानागतात्मनापि घटत्वे एकसमयमात्रमेव सर्वं स्यात्, अतीतानागतवद्वा प्रत्युत्पन्नाभावे घटाश्रयव्यवहाराभाव [2]आपद्येत विनष्टानुत्पन्नघटव्यवहाराभाववत् ।

अथवा, तस्मिन् प्रत्युत्पन्नविषये रूपादिसमुदये परस्परोपकार[3]वर्तिनि पृथुबुध्नाद्याकारः स्वात्मा, इतरः परात्मा । तेन पृथुबुध्नाद्याकारेण स घटोऽस्ति नेतरेण; घटव्यवहारस्य तद्भावे भावात् तदभावे[4] चाऽभावात् । यदि हि पृथुबुध्नाद्यात्मनापि घटो न स्यात्; स एव न स्यात् । अथेतरात्मनापि घटः स्यात्; तदाकारशून्येऽपि घटव्यवहारः प्राप्नुयात् ।

अथवा, रूपादिसन्निवेशविशेषः संस्थानम् । तत्र 'चक्षुषा घटो गृह्यते' इत्यस्मिन् व्यवहारे रूपमुखेन घटो गृह्यत इति रूपं स्वात्मा, रसादिः परात्मा । स घटो रूपेणास्ति नेतरेण रसादिना; प्रतिनियतकरणग्राह्यत्वात् । अथ हि 'चक्षुषा घटो गृह्यते' इत्यत्र रसादिरपि घट इति गृह्येत; सर्वेषां रूपत्वप्रसङ्गः, ततश्च करणान्तरकल्पनाऽनर्थिका । यदि वा रसादिवद्रूपमपि घट इति न गृह्येत; चक्षुर्विषयताऽस्य न स्यात् ।

अथवा, शब्दभेदे ध्रुवोऽर्थभेद इति घटकुटादिशब्दानामप्यर्थभेदः–घटनाद् घटः कौटिल्यात् कुट इति तत्क्रियापरिणतिलक्षण[5] एव तस्य शब्दस्य वृत्तिर्युक्ता । तत्र घटनक्रियाविषयकर्तृभावः स्वात्मा, इतरः परमात्मा । तत्राद्येन घटः नेतरेण, तथार्थसम[6]भिरोहणात् । यदि च घटनक्रियापरणतिमुखेनाप्यघटः स्यात्; तद्व्यवहारनिवृत्तिः स्यात् । यदि वा [7]इतरव्यपेक्षयापि घटः स्यात्, पटादिष्वपि तत्क्रियाविरहितेषु तच्छब्दवृत्तिः स्यात्, एकशब्दवाच्यत्वं वा वस्तुनः ।

अथवा, घटशब्दप्रयोगानन्तरमुत्पद्यमान उपयोगाकारः स्वात्मा अहेयत्वादन्तरङ्गत्वाच्च । बाह्यो घटाकारः परात्मा तदभावेऽपि घटव्यवहारदर्शनात् । स घट उपयोगाकारेणास्ति नान्येन । यदि हि उपयोगाकारात्मनाऽप्यघटः स्यात्; वक्तृश्रोतृहेतुफलभूतोपयोगघटाकाराभावात् तदधीनो व्यवहारो विनाशमाप्नुयात् । इतरोऽसन्निहितोऽपि यदि घटः स्यात्; पटादीनामपि स्याद् घटत्वप्रसङ्गः ।

अथवा, चैतन्यशक्तेर्द्वावाकारौ ज्ञानाकारो ज्ञेयाकारश्च । अनुपयुक्तप्रतिबिम्बाकारादर्शतलवत् ज्ञानाकारः, प्रतिबिम्बाकारपरिणतादर्शतलवत् ज्ञेयाकारः । तत्र ज्ञेयाकारः स्वात्मा, तन्मूलत्वाद् घटव्यवहारस्य । ज्ञानाकारः परात्मा, सर्वसाधारणत्वात् । स घटो ज्ञेयाकारेणास्ति नान्यथा । यदि ज्ञेयाकारेणाप्यघटः स्यात्; तदाश्रयेतिकर्तव्यतानिरासः स्यात् । अथ हि ज्ञानाकारेणापि घटः स्यात्; पटादि[8]ज्ञानाकारकालेऽपि तत्सन्निधानाद् घटव्यहारवृत्तिः प्रसज्येत ।

---

१ –त् तदुप– मु०, ता० । २ आपद्यते मु०, श्रा०, ब०, द० । ३ –वर्तिपृथु–श्र० । ४ –वेऽभा– मु०, श्रा०, ब०, द० । ५ –लक्षण श्रा०, ब०, द०, मु० । ६ –समभिरो –श्र० । ७ चेतर–मु०, श्रा०, ब०, द० । ८ –ज्ञानकालेऽपि श्रा०, ब०, द०. मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्तैः प्रकारैरर्पितं घटत्वमघटत्वं च परस्परतो न भिन्नम् । यदि भिद्येत; सामानाधिकरण्येन तद्बुद्ध्यभिधानवृत्तिर्न स्याद् घटपटवत् । ततश्चेतरेतराविनाभावे उभयोरप्यभावात् तदाश्रयव्यवहारापह्नवः कृतः स्यात् । अतस्तदुभयात्मकोऽसौ क्रमेण तच्छब्दवाच्यतामास्कन्दन् 'स्याद् घटश्चाघटश्च' इत्युच्यते । यदि तदुभयात्मकं वस्तु घट इत्येवोच्येत; इतरात्माऽसंग्रहादतत्त्वमेव स्यात् । अथाघट एवेत्युच्यते; घटात्मानुपादानाद् अनृतमेव स्यात्, न वस्तु तावदेवेति । नचान्यः शब्दः तदुभयात्मावस्थतत्त्वाभिधायी विद्यते, अतोऽसौ घटो वचनगोचरातीतत्वात् 'स्यादवक्तव्यः' इत्युच्यते । [1]घटात्मार्पणामुखेन उक्तावक्तव्यस्वरूपनिरूपणेन चादिश्यमानः स एवार्थ इति 'स्याद् घटश्चावक्तव्यश्च' । निरूपिताऽघटभङ्गसङ्गेन प्रदर्शितावक्तव्यवर्त्मना चापदेश्यः स एवार्थ इति 'स्यादघटश्चावक्तव्यश्च' । तदुभयाभिधानक्रमाक्रमार्पणावशाद् आविर्भूततद्व्यपदेशः स एवार्थः 'स्याद् घटश्चाघटश्चावक्तव्यश्च भवति' ।

एवमियं सप्तभङ्गी जीवादिषु सम्यग्दर्शनादिषु च द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयार्पणाभेदाद्योजयितव्या । तत्र [2]द्रव्यार्थैकान्तोऽनिश्चिततत्त्वः [3]"अतत्तदेव' इत्यवधारणाद् उन्मत्तवत् । [4]पर्यायार्थैकान्तोऽपि तथैव, 'अतद्वस्तु [5]तदेव' (तद्वस्तु अतदेव)इत्यवधारणादुन्मत्तवत् । स्याद्वादो निश्चितार्थः अपेक्षितयाथातथ्यवस्तुवादित्वात् अनुन्मत्तवचनवत् । अवक्तव्यैकान्तोऽप्यसद्वादः, स्ववचनविरोधात् सदा [6]मौनवृत्तिकवत् । अमृषार्थः स्यादवक्तव्यवादः वक्तव्यावक्तव्यवादित्वात् सत्येतरवचनविशेषज्ञवादवत् ।

[7]अनेकान्ते तदभावादव्याप्तिरिति चेत्; न; तत्रापि तदुपपत्तेः ।६। स्यादेतत्—अनेकान्ते सा विधिप्रतिषेधविकल्पना नास्ति । यदि स्यात्; यदा अनेकान्तो न भवति तदैकान्तदोषानुषङ्गो भवेत् अनवस्थाप्रसङ्गश्च । ततस्तत्र[8] अनेकान्तत्वमेव', इति सा सप्तभङ्गी व्याप्तमती न भवतीति; तन्न; किं कारणम् ?तत्रापि तदुपपत्तेः । स्यादेकान्तः, स्यादनेकान्तः, स्यादुभयः स्यादवक्तव्यः, स्यादेकान्तश्चावक्तव्यश्च, स्यादनेकान्तश्चावक्तव्यश्च, स्यादेकान्तश्चानेकान्तश्चावक्तव्यश्चेति । तत्कथमिति चेत् ? उच्यते—

प्रमाणनयार्पणाभेदात् ।७। एकान्तो द्विविधः—सम्यगेकान्तो मिथ्यैकान्त इति । अनेकान्तोऽपि द्विविधः—सम्यगनेकान्तो मिथ्यानेकान्त इति । तत्र सम्यगेकान्तो हेतुविशेषसामर्थ्यापेक्षः प्रमाणप्ररूपितार्थैकदेशादेशः । एकात्मावधारणेन अन्याशेषनिराकरणप्रवण[9]प्रणिधिर्मिथ्यैकान्तः । एकत्र सप्रतिपक्षानेकधर्मस्वरूपनिरूपणो युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धः सम्यगनेकान्तः । तदतत्स्वभाववस्तुशून्यं परिकल्पितानेकात्मकं केवलं वाग्विज्ञानं मिथ्याऽनेकान्तः । तत्र सम्यगेकान्तो नय इत्युच्यते । सम्यगनेकान्तः प्रमाणम् । नयार्पणादेकान्तो भवति एकनिश्चयप्रवणत्वात्, प्रमाणार्पणादनेकान्तो भवति अनेकनिश्चयाधिकरणत्वात् । यद्यनेकान्तोऽनेकान्त एव स्यान्नैकान्तो भवेत्; एकान्ताभावात् तत्समूहात्मकस्य तस्याप्यभावः स्यात्, शाखाद्यभावे वृक्षाद्यभाववत् । यदि चैकान्त एव स्यात्; तदविनाभाविशेषनिराकरणादात्मलोपे सर्वलोपः स्यात् । एवमुत्तरे च भङ्गा योजयितव्याः ।

---

१ घटात्मार्पि–ता० । २ द्रव्यार्थिकैकान्तः आ०, ब०, द०, मु० । ३ वस्तुनस्तदतत्स्वभावत्वं तदेवेत्यवधृतं सदुन्मत्तप्रलपितमिव भवेत्–द० टि० । ४ पर्यायार्थिकैका–आ०, ब०, मु० । ५ अतदेव–श० । ६ यावज्जीवमहं मौनीत्यादिवत् स्ववचनविरोधोपपत्तेः । ७ अनेकान्तेऽनेकान्तत्वं न व्याप्नोति अतस्तत्र सप्तभङ्गी व्याप्तिमती न स्यात्; तन्न तत्रापि संभवात् –द० टि० । ८ अनेकान्ते । ९ व्यभिचारित्वम् । १० –प्रणीति–श० ।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

छलमात्रमनेकान्त इति चेत्; नः छललक्षणाभावात् ।८। स्यान्मतम्–'तदेवास्ति तदेव नास्ति तदेव नित्यं तदेवानित्यम्' इति चानेकान्तप्ररूपणं छलमात्रमिति; तन्न; कुतः ? छललक्षणाभावात्। छलस्य हि लक्षणमुक्तम् *"**वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्**" [न्यायसू० १।२।१०] इति। यथा 'नवकम्बलोऽयम्' इत्यविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पनम् 'नवास्य कम्बला न चत्वार इति, नवो वास्य कम्बलो न पुराणः' इति नवकम्बलः। न तथा अनेकान्तवादः। यत '[1]उभयनयगुणप्रधानभावापादितार्पितानर्पितव्यवहारसिद्धिविशेषबललाभप्रापितयुक्तिपुष्कलार्थः अनेकान्तवादः।

संशयहेतुरिति चेत्; न; विशेषलक्षणोपलब्धेः ।९। स्यान्मतम्–संशयहेतुरनेकान्तवादः। कथम्? एकत्राधारे विरोधिनोऽनेकस्यासंभवात्। आगमश्चैवं प्रवृत्तः–*'**एकं द्रव्यमनन्तपर्यायम्**" [ ] इति। किमागमप्रामाण्यादस्ति वा नास्ति वा नित्यं वा अनित्यं वेति ? तच्च न; कस्मात् ? विशेषलक्षणोपलब्धेः। इह सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च[2] संशयः। तद्यथा स्थाणुपुरुषोचिते देशे नातिप्रकाशान्धकारकलुषायां वेलायामूर्ध्वत्वमात्रं सारूप्यं पश्यतो वक्रकोटर[3]वयो[4]निलयनादीन् स्थाणुगतान् विशेषान् [5]वस्त्रसंयमन-शिरःकण्डूयन-शिखाबन्धनादीन् पुरुषगतांश्चाऽनुपलभमानस्य तेषां[6] च स्मरतः संशय उत्पद्यते, नच तद्वदनेकान्तवादे विशेषानुपलब्धिः, यतः [7]स्वरूपाद्यादेशवशीकृता विशेषा उक्ता व्यक्ताः [8]प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते। ततो 'विशेषोपलब्धेर्न संशयहेतुः' इति यदगदिष्म तत्सम्यग्निरजैष्म[9]।

एवमपि संशयः। कथम् ? इदं [10]तावदसि प्रष्टव्यः–एषामस्तित्वादीनां धर्माणां साधकाः प्रतिनियता हेतवः [11]सन्ति वा, न वा ? यदि न सन्ति; [12]विप्रतिपन्नप्रतिपादनासंभवः। अथ सन्ति; एकत्र [13]विरुद्धसाधनहेतुसन्निधाने सति भवितव्यं संशयेनेति ? उच्यते–

विरोधाभावात् संशयाभावः ।१०। यदि विरोधोऽभविष्यत्[14] संशयोऽजनिष्यत्। न च **विरोधो** नयोपनीतानां धर्माणामस्ति। कुतः ?

अर्पणाभेदादविरोधः [15]पितापुत्रादिसम्बन्धवत् ।११। उक्तादर्पणाभेदाद् एकत्राऽविरोधेनावरोधो[16] धर्माणां पितापुत्रादिसबन्धवत्। तद्यथा–एकस्य देवदत्तस्य जातिकुलरूपसंज्ञाव्यपदेशविशिष्टस्य 'पिता पुत्रो भ्राता भागिनेयः' इत्येवंप्रकाराः संबन्धा जन्यजनकत्वादिशक्त्यर्पणाभेदान्न विरुध्यन्ते। न ह्येकापेक्षया पितेति शेषापेक्षयापि पिता भवति, शेषापेक्षया वा पुत्रादिव्यपदेशार्हः इति उक्तापेक्षयापि पुत्रादिव्यपदेशभाक्। न च पितापुत्रादिकृतं संबन्धबहुत्वं देवदत्तस्यैकत्वेन विरुध्यते। तद्वदस्तित्वादयोऽपि[17] न यान्ति विरोधमेकत्र।

---

१ उभयगुण–आ०, ब०, द०, मु०। २ धारणाबलोद्भूता अतीतार्थविषया तदिति परामर्शिनी स्मृतिः। तुलना–वैशे० सू० २।२।१७। ३ –र विशेषवयो–आ०, ब०, द०, मु०। ४ पक्षिस्थान; नीड इत्यर्थः –सम्पा०। ५ वस्त्रसंसयन– आ०, ब०, द०, मु०। ६ स्मरतेः कर्मणि षष्ठी प्रयोक्तव्येति– द० टि०। ७ स्वपराद्या– आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ८ प्रत्यर्थमुप– आ०, ब०, द०, मु०। ९ –र वैष्म आ०, ब०, द०, मु०। १० तावदस्ति प्र– आ०, ब०, द०, मु०। ११ स्युर्वा ता०, श्र०, म०, द०, ब०, ज०–। १२ वादि। १३ 'साध्यविपर्ययव्याप्तस्तु विरुद्धः, स यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वात् घटवत्। कृतकत्वं हि साध्यनित्यत्वविपरीतानित्यत्वेन व्याप्तं यतो यत्कृतकं तदनित्यमिति, अतो विरुद्धं कृतकत्वम्' इत्यभिप्रायो न वाच्योऽत्र किन्तु विरुद्धानां नित्यानित्यत्वादिधर्माणां साधनं स एव हेतुरिति वक्तव्यम्, अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्, नित्यः शब्दः प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् व्योमवदिति, अन्यथा हेत्वाभासप्रसङ्गः प्रसज्येत। १४ लिङ्निमित्तेऽवृत्तौ भूते च लुङ्। १५ पितृपुत्रादि– आ०, ब०, मु०। १६ स्वीकारः। १७ –स्त्वादयो न आ०, ब०, द०, मु०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सपक्षासपक्षापेक्षोपलक्षितसत्त्वासत्त्वादिभेदोपचितैकधर्मवद्वा ।१२। -अथवा, [1]सपक्षाऽ-[2]सपक्षापेक्षयोपलक्षितानां सत्त्वासत्त्वादीनां भेदानामाधारेण[3] पक्ष[4]धर्मेणैकेन तुल्यं सर्वद्रव्यम् । निरपेक्षयोर्ह्येकत्र वादिप्रतिवादिप्रयोगापेक्षया[5] संशय उक्तः, इतरथा हि पक्षधर्मेऽपि संशयः कल्प्येत ।

एकस्य हेतोः साधकदूषकत्वाऽविसंवादवद्वा ।१३। अथैवमुपपत्त्याऽविरोधे प्रतिपादितेऽपि मिथ्यादर्शनाभिनिवेशात्तत्त्वं न प्रतिपद्यते यस्तं प्रति सार्वलौकिकहेतुवादमाश्रित्योच्यते–इह [6]स्वपक्षमर्यादानतिक्रमेण [7]न्यायधर्ममनुपालयता वादिना अभिप्रेतप्रतिज्ञार्थसिद्धिमाशंसता [8]हेत्वनुपदेशे [9]सर्वाभिलषितार्थसिद्धिः प्रतिज्ञामात्रादेव मा प्रापत्' इत्यतिप्रसङ्गदोषनिवृत्तये यो हेतुरुपदिश्यते स साधको दूषकश्च–स्वपक्षं साधयति परपक्षं दूषयति । न तौ साधनदूषणार्थौ हेतोरन्यौ भवतः । नचानन्यत्वमस्तीति कृत्वा येन साधकस्तेन दूषको येन वा दूषकस्तेन साधकः । न तयोः संकरो विरोधो वा । एवं सर्वार्थेषु विरोधदोषमपनुदन्ती विसर्पत्यनेकान्तप्रक्रियेति ।

सर्वप्रवाद्यविप्रतिपत्तेश्च ।१४। नात्र प्रतिवादिनो विसंवदन्ते एकमनेकात्मकमिति । केचित्[10] तावदाहुः–'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानम्' इति । तेषां प्रसादलाघवशोषतापावरणसादनादिभिन्नस्वभावानां प्रधानात्मना[11] मिथश्च न विरोधः । अथ मन्येथाः 'न प्रधानं नामैकं गुणेभ्योऽर्थान्तरभूतमस्ति, किन्तु त एव गुणाः साम्यमापन्नाः प्रधानाख्यां लभन्ते' इति; यद्येवं [12]भूमा प्रधानस्य स्यात् । स्यादेतत्–तेषां समुदयः प्रधानमेकमिति; अत एवाविरोधः सिद्धः गुणानामवयवानां समुदायस्य च ।

अपरे[13] मन्यन्ते–'अनुवृत्तिविनिवृत्तिबुद्ध्यभिधानलक्षणः सामान्यविशेषः' इति । तेषां च सामान्यमेव विशेषः [14]सामान्यविशेषः इत्येकस्यात्मन उभयात्मकं न विरुध्यते ।

अपरे[15] आहुः–'वर्णादिपरमाणुसमुदयो रूपपरमाणुः' इति । तेषां [16]कक्खडत्वादिभिन्नलक्षणानां [17]रूपात्मना [18]मिथश्च न विरोधः । अथ मतम् 'न परमाणुर्नामैकोऽस्ति बाह्यः, किन्तु [19]विज्ञानमेव तदाकारपरिणतं परमाणुव्यपदेशार्हम्' इत्युच्यते; अत्रापि ग्राहक-विषयाभास[20]-संवित्ति[21]शक्तित्रयाकाराधिकरणस्यैकस्याभ्युपगमान्न विरोधः[24] ।

किञ्च, [22]सर्वेषामेव तेषां पूर्वोत्तरकालभाव्यवस्थाविशेषार्पणाभेदादेकस्य[23] कार्यकारणशक्तिसमन्वयो न विरोधस्यास्पदमित्यविरोधसिद्धिः ।

एवं प्रमाणनयैरधिगतानां जीवादीनां पुनरप्यधिगमोपायान्तरप्रदर्शनार्थमाह–

---

१ महानस । २ महाह्रद । ३ पर्वत । ४ हेतुना । ५ शब्दो नित्य उतानित्य इति । एको ब्रूते शब्दो नित्य इति अपरोऽनित्य इति । तयोर्विप्रतिपत्त्या मध्यस्थस्य पुंसो भवति संशयः–किमयं शब्दो नित्य उतानित्य इति । ६ स्वदर्शनसीमा । ७ अनुमान । ८ हेत्वनपदेशे आ०, ब०, द०, भा० १, भा० २ । ९ सर्वेषां वादिनाम् । १० सांख्याः । ११ एकेन । प्रधानात्मनां आ०, ब०, मु०, द० । १२ बहुत्वम्–ता० टि० । १३ वैशेषिकाः । १४ सामान्यविशेषाः पृथिवीत्वादयः अपरसामान्यात्मकाः । १५ बौद्धाः । १६ काकखडत्वा– आ०, ब०, द०, मु० । कर्कश । पृथ्व्यादीनाम्– ता० टि० । १७ रूपात्मनां आ०, ब०, द०, मु० । १८ वर्णादीनाम् । १९ ज्ञान –श्र० । २० आकार इत्यर्थः –सम्पा० । आभासशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते ग्राहकाकारो विषयाकारश्चेति । २१ संवेदन । २२ वादिनां लौकिकानाञ्च । २३ पदार्थस्य । २४ –धः सिद्धः आ०, ब०, द०, मु० ।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥७॥

के पुनरिमे निर्देशादयः ? निर्देशोऽर्थस्वरूपावधारणम्[1] । स्वामित्वमाधिपत्यम् । साधनं [2]कारणम् । अधिकरणं प्रतिष्ठा । स्थितिः कालकृता व्यवस्था । विधानं प्रकारः । 'अधिगमः' इत्यनुवर्तते । एतैरेतेभ्यो वा अधिगमः, [3]पूर्ववत्तसिः । केषामधिगमः ? जीवादीनां सम्यग्दर्शनादीनां च । स तर्हि तथा निर्देशः कर्तव्यः ? न कर्तव्यः, अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामो भवति । तद्यथा 'उच्चानि देवदत्तस्य गृहाण्यामन्त्रयस्वैनम्' 'देवदत्तम्' इति गम्यते ।

अथ किमर्थमादौ निर्देशः ? उच्यते–

अवधृतार्थस्य धर्मविकल्पप्रतिपत्तेरादौ निर्देशवचनम् ।१। स्वरूपेणावधृतस्यार्थस्य स्वामित्वादिका धर्मविकल्पप्रतिपत्तिर्भवति, अतोऽस्य निर्देशस्यादौ वचनं क्रियते ।

इतरेषां प्रश्नवशात् क्रमः ।२। इतरेषां स्वामित्वादीनां प्रश्नवशात् क्रमो वेदितव्यः । यद्येवं स एव [4]तावदुच्यतां को जीव इति ?

औपशमिकादिभावपर्यायो जीवः पर्यायादेशात् ।३। वक्ष्यमाण औपशमिकादिभावपर्यायो जीव इत्युच्यते पर्यायादेशात् ।

द्रव्यार्थादेशान्नामादिः ।४। द्रव्यार्थादेशान्नामादिः[5] 'जीवः' इत्युच्यते ।

तदुभयसंग्रहः प्रमाणम् ।५। तस्योभयस्य[6] संग्रहः प्रमाणनिर्देश इत्युच्यते ।

कस्य जीवः[7] ?

तत्परिणामस्य, भेदादग्नेरौष्ण्यवत् ।६। स परिणामो यस्य सोऽयं तत्परिणामः तस्यासौ[8] व्यपदिश्यते । कुतः ? कथञ्चिद्भेदात्, परिणामपरिणामिनोर्भेदकल्पनासद्भावात् अग्नेरौष्ण्यवत् । तद्यथा–औष्ण्यात्मकस्याग्नेः दहनपचनस्वेदनादिक्रियासामर्थ्यमौष्ण्यं भेदेनोच्यते[9] ।

व्यवहारनयवशात् सर्वेषाम् ।७। जीवादीनां सर्वेषां पदार्थानां व्यवहारनयवशाज्जीवः स्वामी । किं साधनो जीवः ?

पारिणामिकभावसाधनो निश्चयतः ।८। योऽसौ जीवात्मा पारिणामिकस्तत्साधनो जीवो निश्चयनयेन । तेन ह्यसावात्मानं[10] सर्वकालं लभत इति ।

औपशमिकादिभावसाधनश्च व्यवहारतः ।९। व्यवहारनयवशात् औपशमिकादिभावसाधनश्चेति व्यपदिश्यते । चशब्देन शुक्रशोणिताहारादिसाधनश्च । किमधिकरणो जीवः ?

स्वप्रदेशाधिकरणो निश्चयतः ।१०। योऽसौ स्वप्रदेशोऽसंख्यातस्वरूपः कर्मकृतशरीरपरिमाणानुविधायित्वेऽप्यपरिप्राप्तहीनाधिकभावः, तदधिकरणो जीवः, स्वात्मप्रतिष्ठाकाशवत् ।

व्यवहारतः शरीराद्यधिष्ठानः ।११। कर्मोपात्तं शरीरम् [11]इतरच्चाधिकरण[12]मात्मा व्यवहारनयवशादधितिष्ठतीत्युच्यते । किं स्थितिको जीवः ?

स्थितिस्तस्य द्रव्यपर्यायापेक्षाऽनाद्यवसाना समयादिका च ।१२। तस्य जीवस्य स्थितिर्द्रव्यपर्यायापेक्षा द्विधा कल्प्यते । द्रव्यापेक्षाऽनाद्यवसाना, जीवद्रव्यं हि चैतन्यजीवद्रव्योपयोगाऽसं-

---

१ जीवादिस्वरूपनिश्चयः । २ उत्पत्तिनिमित्तमित्यर्थः । ३ आद्यादित्वात्, दृश्यन्तेऽन्यतोऽपि इति वा तसिः । ४ तावदुच्यते को आ०, ब०, द०, मु० । ५ आदिशब्देन स्थापनाद्रव्ये गृह्येते । ६ द्रव्यपर्यायस्य । ७ स्वामीति शेषः –श्र० टि० । जीवः स्वामी तत्प– आ०, ब०, मु०, भा० २ । ८ परिणामः, अस्यायं परिणाम इति व्यपदिश्यते । अस्य परिणामस्य अयं जीवः स्वामीति व्यपदिश्यत इत्यर्थः । ९ अग्नेरौष्ण्यमिति । १० स्वस्वरूपम् । ११ स्वर्गादि । शरीरमेतच्चाधि– आ०, ब०, द०, मु० । १२ शीङस्थासावेराधारः इति द्वितीया ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ख्येयप्रदेशादिसामान्यादेशान्न प्रच्यवते सर्वकालमिति । पर्यायस्त्वन्यश्चान्यश्च भवति, तदपेक्षा समयादिका कल्प्यते । किमस्य विधानम् ?

नारकादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रकारो जीवः ।१३। नारकादयः [1]संख्येया [2]असंख्येया [3]अनन्ताश्च प्रकारा भिद्यन्ते जीवस्य ।

[4]**तथैवेतरेषामागमाविरोधात् निर्देशादिवचनम् ।१४।** तेनैव प्रकारेण आगमाविरोधेन इतरेषामजीवादीनां निर्देशादयो वक्तव्याः[5] । तद्यथा–[6]अजीवस्तावद्दशप्राणपर्यायरहितः नामादिश्च । अजीवात्मैव अजीवस्य स्वामी, जीवो वा भोक्तृत्वात् । पुद्गलानाम् अणुत्वादिसाधनं भेदादि, तन्निमित्तं वा कालादि । धर्माधर्मकालाकाशानां गतिस्थितिवर्तनावगाहहेतुता पारिणामिकी अगुरुलघुगुणानुगृहीता, स्वात्मभूतसत्ता[7]संबद्धा जीवपुद्गला वा[8] तदपेक्षत्वाद् गत्यादिहेतुताभिव्यक्तेः । स्वात्मैवाधिकरणं सर्वद्रव्याणां स्वात्मव्यवस्थितत्वात्, आकाशं साधारणम्, असाधारणं च [9]घटादिर्जलादीनाम् । स्थितिर्द्रव्यापेक्षाऽनाद्यवसाना, पर्यायापेक्षा समयादिका । विधानं धर्मादित्रिकं प्रतिनियतानादिपारिणामिकद्रव्यार्थादेशादेकैकम्, [10]पर्यायार्थिकनयादेशादनेकम्, संख्येयासंख्येयानन्तानां [11]द्रव्याणां गतिस्थित्यवगाहनाद्युपकार[12]पर्यायादेशात् स्यादेकं स्यादनेकं स्यात्संख्येयं स्यादसंख्येयं स्यादनन्तम् । कालः संख्येयोऽसंख्येयोऽनन्तश्च भवति[13] परप्रत्ययात्[14]। पुद्गलद्रव्यं रूपस्पर्शादिपारिणामिकद्रव्यार्थादेशात् स्यादेकम्, प्रतिनियतैकानेकसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशपर्यायादेशात् स्यादनेकं स्यात्संख्येयं स्यादसंख्येयं स्यादनन्तम् ।

आस्रवनिर्देशः–कायवाङ्मनःक्रियापरिणामो नामादिर्वा । जीवोऽस्य स्वामी, कर्म वा तन्निमित्तत्वात् । [15]स्वात्मैव साधनं शुद्धस्य तदभावात्, कर्म वा सति तस्मिन् प्रवृत्तेः । अधिकरणम् [16]आत्मन्येवासौ[17] तत्र तत्फलदर्शनात्, कर्मणि कर्मकृते च कायादावुपचारतः । स्थितिः वाङ्मनसास्रवयोर्जघन्येनैकसमयः, उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः; कायास्रवस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्तः उत्कर्षेणानन्तः [18]कालः, असंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः । विधानम् वाङ्मनसास्रवयोश्चतुर्विकल्पसंख्यं सत्यमृषोभयानुभयभेदात् । कायास्रवः सप्तविधः औदारिकवैक्रियिकाहारकमिश्रकार्मणभेदात् । औदारिकौदारिकमिश्रकौ मनुष्यतिरश्चाम् । वैक्रियिकवैक्रियिकमिश्रकौ देवनारकाणाम् । आहारकाहारकमिश्रकौ संयतानाम् ऋद्धिप्राप्तानाम् । कार्मणकायास्रवो [19]विग्रहापन्नानां केवलिनां वा समुद्घातगतानाम् । अथवा, आस्रवस्य प्रकारः शुभाऽशुभः । तत्र कायिको हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मादिषु प्रवृत्तिनिवृत्तिसंज्ञः । वाचिकः परुषाक्रोशपिशुनपरोपघातादिषु वचस्सु प्रवृत्तिनिवृत्तिसंज्ञः । मानसो [20]मिथ्याश्रुत्यभिघातेर्ष्यासूयादिषु[21] मनसः प्रवृत्तिनिवृत्तिसंज्ञः ।

बन्धनिर्देशः–जीवकर्मप्रदेशान्योन्यसंश्लेषो बन्धः, नामादिर्वा । स जीवस्य तत्र तत्फलदर्शनात्, कर्मणश्च तस्य द्विष्ठत्वात् । मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धस्य साधनम्, तत्परिणतो वा आत्मा । स्वामिसंबन्धार्हमेव वस्त्वधिकरणं भवति, विवक्षातः कारकप्रवृत्तेः ।

१ श्रुतकेवलिभिः । २ अवधिज्ञानिभिः । ३ केवलज्ञानिभिः । ४ तथेतरे– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ५ व्याख्येयाः । ६ अजीवद्रव्यस्य तु दशप्राणरहितत्वमेव भावपर्यायत्वम् । ७ सम्बन्धात् जी– मु० । सम्बन्धा जी– आ०, ब०, द० । ८ साधनम् । ९ अधिकरणम् । १० अर्थपर्याय । ११ जीवपुद्गलादीनाम् । १२ व्यञ्जनपर्याय । १३ संख्येयासंख्येयानन्तजीवपुद्गलान् प्रति । १४ जीवपुद्गलादेः पराधीनत्वात् । १५ स्वस्य व्यापारवानात्मैव आस्रवस्य, व्यापारवान् जीवः आस्रवस्य साधनमित्यर्थः । १६ आत्मैवासौ मु० । १७ आस्रवः । १८ –णानन्तकालः आ०, ब०, द०, मु० । १९ विग्रहगतिमाप– आ०, ब० । २० मिथ्याश्रुतेर्ष्या– आ०, ब०, द०, मु० । २१ अक्षान्तिरीर्ष्याऽसूया तु दोषारोपो गुणेष्वपि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थितिर्जघन्या उत्कृष्टा च। तत्र जघन्या वेदनीयस्य द्वादश मुहूर्ताः। नामगोत्रयोरष्टौ। शेषाणामन्तर्मुहूर्ताः। उत्कृष्टा ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयः। मोहनीयस्य सप्ततिः। नामगोत्रयोर्विंशतिः। त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः। अथवा बन्धसन्तानपर्यायादेशात् स्यादनादिरनिधनश्चाभव्यानाम्, भव्यानां च केषाञ्चित् ये अनन्तेनापि कालेन न सेत्स्यन्ति। ज्ञानावरणादिकर्मोत्पादविनाशात् स्यात्सादिः सनिधनश्च। विधानम्–[1]बन्धः सामान्यादेशात् एकः, द्विविधः शुभाशुभभेदात्, त्रिधा द्रव्यभावोभयविकल्पात्, चतुर्धा प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदात्, पञ्चधा मिथ्यादर्शनादिहेतुभेदात्, षोढा नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावैः, सप्तधा तैरेव भवाधिकैः, अष्टधा ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतिभेदात्। एवं [2]संख्येयाऽसंख्येयानन्तविकल्पश्च भवति हेतुफलभेदात्।

संवरनिर्देशः–आस्रवनिरोधः नामादिर्वा। जीवोऽस्य स्वामी, कर्म वा निरुध्यमानविषयत्वात्। निरोधस्य साधनं गुप्तिसमितिधर्मादयः। 'स्वामिसंबन्धार्हमेवाधिकरणम्' इत्युक्तम्। स्थितिर्जघन्येनान्तर्मुहूर्ता, उत्कृष्टा पूर्वकोटी देशोना। विधानम् एकादिरष्टोत्तरशतविधः, तत उत्तरश्च संख्येयादिविकल्पो निरोध्यनिरोधकभेदाद्वेदितव्यः। तत्राष्टोत्तरशतविध उच्यते–तिस्रो गुप्तयः, पञ्च समितयः, धर्मो दशविधः, अनुप्रेक्षा द्वादश, परीषहा द्वाविंशतिः, तपो द्वादशविधम्, प्रायश्चित्तं नवविधम्, विनयश्चतुर्विधः, वैयावृत्यं दशविधम्, स्वाध्यायः पञ्चविधः, व्युत्सर्गो द्विविधः, धर्मध्यानं दशविधम्, शुक्लध्यानं चतुर्विधमिति।

निर्जरानिर्देशः–यथाविपाकात्तपसो वा उपभुक्तवीर्यं कर्म निर्जरा, नामादिर्वा। सा आत्मनः कर्मणो वा द्रव्यभावभेदात्। साधनं तपो यथाकर्मविपाकश्च। अधिकरणमात्मा निर्जरात्मैव वा। स्थितिर्जघन्येनैकसमयः उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः, सादिः सपर्यवसाना वा। विधानम् सामान्यादेका निर्जरा, द्विविधा यथाकालौपक्रमिकभेदात्, अष्टधा मूलकर्मप्रकृतिभेदात्। एवं संख्येयाऽसंख्येयानन्तविकल्पा भवति कर्मरस[3]निर्हरणभेदात्।

मोक्षनिर्देशः–कृत्स्नकर्मसंक्षयो मोक्षः, नामादिर्वा। तस्य स्वामी परमात्मा मोक्षात्मैव वा। साधनं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि। स्वामिसंबन्धार्हमेवाधिकरणं तद्विषयत्वात्। स्थितिस्तस्य सादिरनिधना। विधानम्–सामान्यादेको मोक्षः, द्रव्यभावमोक्तव्यभेदाद[4]नेकोऽपि।

सम्यग्दर्शननिर्देशः–तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं नामादिर्वा। तत्पुनरात्मनः स्वस्यैव वा। दर्शनमोहोपशमादि साधनम्, बाह्यं चोपदेशादि, स्वात्मा वा। स्वामिसंबन्धभागेवाधिकरणम्। स्थितिर्जघन्येनान्तर्मुहूर्ता, उत्कर्षेण[5] षट्षष्टिसागरोपमाणि सातिरेकाणि। अथवा सादिसनिधनमौपशमिकक्षायोपशमिकम्, साद्यनिधनं क्षायिकम्। विधानम् सामान्यादेकम्, द्विधा निसर्गजाधिगमजभेदात्, त्रिधौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकविकल्पात्। एवं [6]संख्येयासंख्येया[7]नन्तविकल्पं च भवत्यध्यवसाय[8]भेदात्।

ज्ञाननिर्देशः–जीवादितत्त्वप्रकाशनं ज्ञानं नामादिर्वा। तत् आत्मनः स्वाकारस्य वा। ज्ञानावरणादिकर्मक्षयोपशमादि साधनम्, स्वाविर्भावशक्तिर्वा। अधिकरणम्–आत्मा स्वाकारो

---

१ बन्धसा– आ०, ब०, ता०। २ संख्येया असंख्येया अनन्तविकल्पाश्च भवन्ति आ०, ब०, मु०। ३ –निर्हाणभे– ता०। ४ नेकः स– आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ५ वेदकसम्यक्त्वं प्रति। लांतवकप्पे तेरस अच्चुदकप्पे य होंति बावीसा। उवरिम एक्कत्तीसं एवं सव्वाणि छावट्ठी। ६ शब्दतः संख्येयविकल्पम्। ७ श्रद्धातृश्रद्धातव्यभेदात्। ८ –सान भे– आ०, ब०, द०, मु०,। रुचिविकल्पात्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वा तत्र प्रतिष्ठानात्। स्थितिः–सादिसनिधनं क्षायोपशमिकं ज्ञानं [1]चतुर्विकल्पम्, साद्यनिधनं क्षायिकम्। विधानम्–सामान्यादेकं ज्ञानम्, प्रत्यक्षपरोक्षभेदाद् द्विधा, द्रव्यगुणपर्यायविषयभेदात् त्रिधा, नामादिविकल्पाच्चतुर्धा, मत्यादिभेदात् पञ्चधा। इत्येवं संख्येयासंख्येयानन्तविकल्पं च भवति ज्ञेयाकारपरिणतिभेदात्।

चारित्रनिर्देशः– कर्मादानकारणनिवृत्तिश्चारित्रम्, नामादिर्वा। तत्पुनरात्मनः स्वरूपस्य वा। चारित्रमोहोपशमादि साधनं स्वशक्तिर्वा। स्वामिसंबन्धभागेवाधिकरणम्। स्थितिर्जघन्येनान्तर्मुहूर्ता, उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना। अथवा सादिसपर्यवसानम् औपशमिकक्षायोपशमिकम्, साद्यपर्यवसानं क्षायिकम्, [2]शुद्धिव्यक्त्यपेक्षया। विधानम्–सामान्यादेकम्, द्विधा बाह्याभ्यन्तरनिवृत्तिभेदात्, त्रिधा औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकविकल्पात्, चतुर्धा [3]चतुर्यमभेदात्, पञ्चधा सामायिकादिविकल्पात्। इत्येवं संख्येयासंख्येयानन्तविकल्पं च भवति परिणामभेदात्।

'किमेतैरेव जीवादीनामधिगमो भवति उतान्योऽप्यधिगमोपायोऽस्ति' इति परिपृष्टः 'अस्ति' इत्याह–

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥८॥

'अधिगमः' इत्यनुवर्तते।

प्रशंसादिषु सच्छब्दवृत्तेरिच्छातः सद्भावग्रहणम् ।१। सच्छब्दः प्रशंसादिषु वर्तते। तद्यथा–प्रशंसायां तावत् 'सत्पुरुषः, सदश्वः'[4] इति। क्वचिदस्तित्वे 'सन् घटः, सन् पटः' इति। क्वचित्[5]प्रज्ञायमाने–प्रव्रजितः सन् कथमनृतं ब्रूयात्? 'प्रव्रजितः' इति 'प्रज्ञायमान इत्यर्थः। क्वचिदादरे 'सत्कृत्यातिथीन् भोजयति' 'आदृत्य' इत्यर्थः। तत्रेहेच्छातः [6]सद्भावे गृह्यते।

[7]**अव्यभिचारात् सर्वमूलत्वाच्च तस्यादौ वचनम्** ।२। सत्त्वं ह्यव्यभिचारि सर्वपदार्थविषयत्वात्। नहि कश्चित्पदार्थः सत्तां व्यभिचरति। यदि व्यभिचरेत्; वाग्विज्ञानगोचरातीतः स्यात्। गुणास्तु रूपादयो ज्ञानादयश्च केषुचित् सन्ति केषुचिन्न सन्ति। क्रिया च परिस्पन्दात्मिका जीवपुद्गलेष्वस्ति नेतरेष्विति न व्याप्तिमती। सर्वेषां च विचारार्हाणामस्तित्वं मूलम्। तेन हि निश्चितस्य वस्तुन उत्तरा चिन्ता युज्यते। अतस्तस्यादौ वचनं क्रियते।

सतः [8]परिमाणोपलब्धेः संख्योपदेशः ।३। सतो हि वस्तुनः संख्याताऽसंख्याताऽनन्तपरि[8]माणोपलब्धेः संख्याताद्यन्यतमपरिमाणावधारणार्थं संख्या भेदलक्षणा उपदिश्यते।

निर्ज्ञातसंख्यस्य निवासविप्रतिपत्तेः क्षेत्राभिधानम् ।४। निश्चयेन ज्ञातसंख्यस्यार्थस्य ऊर्ध्वाधस्तिर्यङ्निवासविप्रतिपत्तेः ऊर्ध्वाद्यन्यतमनिवासनिश्चयार्थं क्षेत्राभिधानम्।

अवस्थाविशेषस्य वैचित्र्यात् त्रिकालविषयोपश्लेषनिश्चयार्थं स्पर्शनम् ।५। [9]अवस्थाविशेषो विचित्रः त्र्यस्रचतुरस्रादिः, तस्य त्रिकालविषयमुपश्लेषणं स्पर्शनम्। [10]कस्यचित्तत्क्षेत्र-

---

१ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययभेदात्। २ शुद्ध्यव्यक्त्य– ता०। ३ चतुर्थमभे–मु०। चतुर्यतिभे– ता०, श्र०, मू०। ···रिति स्यातां प्रमत्तमुख्येषु वै गुणेषु चर्तुषु। ४ सदश्वश्चेति मु०, द०, ता०। ५ प्रतिज्ञायमा– श्रा०, ब०, द०, मु०। ६ सद्भावो श्रा०, ब०, द०, ता०, मु०। ७ अव्यभिचारत्वात् श्र०। ८ परिणामो– श्रा०, ब०, द०, मु०। ९ विमानादेः। १० देवादेः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेव[1] स्पर्शनम्, [2]कस्यचिद् द्रव्यमेव,[3] [4]कस्यचिद् रज्जवः षडष्टौ वेति एकसर्वजीवसन्निधौ, तन्निश्चयार्थं तदुच्यते।

स्थितिमतोऽवधिपरिच्छेदार्थं कालोपादानम् ।६। 'स्थितिमतोऽर्थस्यावधिः परिच्छेत्तव्यः' इति कालोपादानं क्रियते।

अन्तरशब्दस्यानेकार्थवृत्तेः छिद्रमध्यविरहेष्वन्यतमग्रहणम् ।७। [अन्तर शब्दः] [5]बहुष्वर्थेषु दृष्टप्रयोगः। क्वचिच्छिद्रे वर्तते सान्तरं काष्ठम्, सच्छिद्रम् इति। क्वचिदन्यत्वे *"**द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते**[6]" [वैशे० सू० १।१।१०] इति। क्वचिन्मध्ये हिमवत्सागरान्तर इति। क्वचित्सामीप्ये 'स्फटिकस्य शुक्लरक्ताद्यन्तरस्थस्य तद्वर्णता' इति 'शुक्लरक्तसमीपस्थस्य' इति गम्यते। क्वचिद्विशेषे–

*"**वाजिवारणलोहानां काष्ठपाषाणवाससाम्। नारीपुरुषतोयानामन्तरं महदन्तरम्** ॥" [गरुडपु० ११०।१५] इति, महान् विशेष इत्यर्थः। क्वचिद् बहिर्योगे [7]'ग्रामस्यान्तरे कूपाः' इति। क्वचिदुपसंव्याने[8] अन्तरे 'शाटका' इति। क्वचिद्विरहे अनभिप्रेतश्रोतृजनान्तरे मन्त्रं मन्त्रयते, तद्विरहे मन्त्रयते इत्यर्थः। तत्रेह[9] छिद्रमध्यविरहेष्वन्यतमो वेदितव्यः।

अनुपहतवीर्यस्य न्यग्भावे पुनरुद्भूतिदर्शनात्तद्वचनम् ।८। अनुपहतवीर्यस्य द्रव्यस्य [10]निमित्तवशात् कस्यचित् पर्यायस्य[11] न्यग्भावे सति पुनर्निमित्तान्तरात् तस्यैवाविर्भावदर्शनात् तदन्तरमित्युच्यते।

परिणामप्रकारनिर्णयार्थं भाववचनम् ।९। औपशमिकादिः परिणामप्रकारो निर्णेतव्यः इति भाववचनं क्रियते।

संख्याताद्यन्यतमनिश्चयेऽपि अन्योन्यविशेषप्रतिपत्त्यर्थमल्पबहुत्ववचनम् ।१०। संख्यातादिष्वन्यतमेन [12]परिमाणेन निश्चितानामन्योन्यविशेषप्रतिपत्त्यर्थमल्पबहुत्ववचनं क्रियते–[13]इमे [14]एभ्योऽल्पा [15]इमे बहवः' इति[16]। आह–

निर्देशवचनात् सत्त्वप्रसिद्धेरसद्ग्रहणम् ।११। निर्देशवचनादेव सत्त्वं सिद्धम्, न ह्यसतो निर्देश इति, तस्माद् असद्ग्रहणम्–अनर्थकं सद्ग्रहणमसद्ग्रहणम्।

न वा, क्वास्ति क्व नास्तीति चतुर्दशमार्गणास्थानविशेषणार्थत्वात् ।१२। न वैष दोषः। किं कारणम्? नानेन सम्यग्दर्शनादेः सामान्येन सत्त्वमुच्यते किन्तु गतीन्द्रियकायादिषु चतुर्दशसु मार्गणास्थानेषु 'क्वास्ति सम्यग्दर्शनादि, क्व नास्ति' इत्येवं विशेषणार्थं सद्वचनम्।

सर्वभावाधिगमहेतुत्वाच्च[17] ।१३। अविकृतानां सम्यग्दर्शनादीनां जीवादीनां च निर्देशवचनेन अस्तित्वमधिगतं स्यात्, ये त्वनधिकृता जीवपर्यायाः क्रोधादयो ये चाऽजीवपर्याया वर्णादयो घटादयश्च तेषामस्तित्वाधिगमार्थं पुनर्वचनम्।

---

१ विमानादि। २ निगोदादेः। ३ कन्दादिः। ४ यः कश्चिज्जीवोऽस्मिल्लोके तपस्तप्त्वाऽच्युतकल्प उत्पन्नः ततश्च्युत्वाऽस्मिल्लोके जातः तस्य त्रिकालविषयं गमनागमनं प्रति षड् रज्जवः स्पर्शनम्। तस्यैवातृतीयनरकात् त्रिकालविषयं विहरणं प्रत्यष्टौ रज्जवः स्पर्शनम्। ५ अवकाशे क्षणे वस्त्रे बहिर्योगे व्यतिक्रमे। मध्येऽन्तःकरणे रन्ध्रे विश्लेषे विरहेऽन्तरम्। इति भट्टधनञ्जयः। ६ उत्पादयन्ति। ७ अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोरिति सर्वादि। ८ अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्यधोंऽशुके। ९ नरकबिलादिषु छिद्रार्थः। १० मिथ्यात्वादिकारणवशात्। ११ सम्यग्दर्शनादेः। सम्यग्दर्शनादिनिमित्तवशात् मिथ्यात्वाविपर्यायस्येत्यादि वा। १२ परिणामेन आ०, ब०, मु०। १३ उपशमसम्यग्दृष्टयः। १४ संसारिक्षायिकसम्यग्दृष्टिभ्यः। १५ क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टयः। ततः सिद्धाः क्षायिकसम्यग्दृष्टयः। १६ एवं सर्वत्र योज्यम्। १७ –त्वात् भा० १।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनधिकृतत्वादिति चेत्; न; सामर्थ्यात् ।१४। स्यादेतत्–अनधिकृतास्ते ततो न पुनर्युक्तमेषां ग्रहणमिति; तन्न; किं कारणम् ? सामर्थ्यात् तेषामपि ग्रहणं भवति ।

विधानग्रहणात् संख्यासिद्धिरिति चेत्; न; भेदगणनार्थत्वात् ।१५। स्यादेतत्–विधानग्रहणादेव संख्यासिद्धिरिति; तन्न; किं कारणम् ? भेदगणनार्थत्वात् । [1]प्रकारगणनं हि तत्, भेदगणनार्थमिदमुच्यते–'उपशमसम्यग्दृष्टय इयन्तः, क्षायिकसम्यग्दृष्टय एतावन्तः' इति ।

क्षेत्राधिकरणयोरभेद इति चेत्; न; उक्तत्वात् ।१६। स्यादेतत्–यदेवाधिकरणं तदेव क्षेत्रम्, अतस्तयोरभेदात् पृथग्ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? उक्तार्थत्वात् । उक्तमेतत्–सर्वभावाधिगमार्थत्वादिति ।

क्षेत्रे सति स्पर्शनोपलब्धेरम्बुघटवत् पृथग्ग्रहणम् ।१७। यथेह सति घटे क्षेत्रे अम्बुनोऽवस्थानात् नियमाद् घटस्पर्शनम्, नह्येतदस्ति–'घटे अम्बु अवतिष्ठते न च घटं स्पृशति' इति । तथा आकाशक्षेत्रे जीवावस्थानां नियमादाकाशे स्पर्शनमिति क्षेत्राभिधानेनैव स्पर्शनस्यार्थगृहीतत्वात् पृथग्ग्रहणमनर्थकम् ।

न वा, विषयवाचित्वात् ।१८। नवैष दोषः । किं कारणम् ? विषयवाचित्वात् । विषयवाची क्षेत्रशब्दः, यथा राजा जनपदक्षेत्रेऽवतिष्ठते, न च कृत्स्नं जनपदं स्पृशति । स्पर्शनं तु कृत्स्नविषयमिति ।

त्रैकाल्यगोचरत्वाच्च ।१९। यथा साम्प्रतिकेनाम्बुना सांप्रतिकं घटक्षेत्रं स्पृष्टं नातीतानागतम्, नैवमात्मनः सांप्रतिकक्षेत्रस्पर्शने स्पर्शनाभिप्रायः, स्पर्शनस्य त्रिकालगोचरत्वात् ।

स्थितिकालयोरर्थान्तरत्वाभाव इति चेत्; न; मुख्यकालास्तित्वसंप्रत्ययार्थम् ।२०। स्यादेतत्–स्थितिरेव कालः, काल एव च स्थितिरित्यतो नास्त्यनयोरर्थान्तरभाव इति; तन्न; किं कारणम् ? मुख्यकालास्तित्वसंप्रत्ययार्थं पुनः कालग्रहणम् । द्विविधो हि कालो मुख्यो व्यावहारिकश्चेति । तत्र मुख्यो निश्चयकालः । पर्यायिपर्यायावधिपरिच्छेदो व्यावहारिकः । तयोरुत्तरत्र निर्णयो वक्ष्यते ।

उक्तं च ।२१। किमुक्तम् ? सर्वभावाधिगमहेतुत्वादिति ।

नामादिषु भावग्रहणात् पुनर्भावाग्रहणमिति चेत्; न; औपशमिकाद्यपेक्षत्वात् ।२२। स्यादेतत्–नामादिषु भावग्रहणं कृतं तेनैव सिद्धत्वात् पुनर्भावग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? औपशमिकाद्यपेक्षत्वात् । पूर्वं भावग्रहणं 'द्रव्यं न भवति' इत्येवंपरम्, इदं तु औपशमिकादिवक्ष्यमाणभावापेक्षम्–'किं सम्यग्दर्शनमौपशमिकं क्षायिकम्' इत्यादि ।

विनेयाशयवशो वा तत्त्वाधिगमहेतुविकल्पः ।२३। अथवा, सर्वेषामेव परिहारः–विनेयाशयवशो हि तत्त्वाधिगमहेतुविकल्पो वेदितव्यः । केचित् संक्षेपेण प्रतिपाद्याः, केचिद्विस्तरेण[3] केचिदनतिसंक्षेपेण केचिदनतिविस्तरेण । इतरथा हि प्रमाणग्रहणादेव सिद्धेरितरेषामधिगमोपायानां ग्रहणमनर्थकं स्यादिति ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे प्रथमेऽध्याये पञ्चममाह्निकम् ॥५॥

---

१ संख्या हि गणनामात्ररूपा व्यापिनी, विधानं तु प्रकारगणनारूपम् । तथोक्तम्– गणनामात्ररूपेयं संख्योक्ताऽतः कथञ्चन । भिन्ना विधानतो भेदगणनालक्षणादिह ॥ इति । २ तन्नि– आ०, ब०, द०, मु० । ३ –ण इत– आ०, ब०, द०, मु० । –ण केचिदनतिसंक्षेपेणानतिविस्तरेण इ– श्र० ।

एवं सम्यग्दर्शनस्यादावुद्दिष्टस्य[1] लक्षणोत्पत्तिस्वामिविषयन्यासाधिगमोपाया निर्दिष्टाः, तत्संबन्धेन च जीवादीनां संज्ञापरिणामादि[2]र्निर्दिष्टः। तदनन्तरमिदानीं सम्यग्ज्ञानं विचारार्हमित्याह–

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

मत्यादय इति क एते शब्दाः ?

मतिशब्दो भावकर्तृकरणसाधनः ।१। अयं मतिशब्दो भावकर्तृकरणेष्वन्यतमसाधनो वेदितव्यः। मनेर्भावसाधने क्तिः। तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति इन्द्रियानिन्द्रियापेक्षमर्थस्य मननं मतिः औदासीन्येन तत्त्वकथनात्। बहुलापेक्षया कर्तृसाधनः करणसाधनो वा, 'मनुतेऽर्थान् मन्यतेऽनेन' इति वा मतिः, भेदाभेदविवक्षोपपत्तेः।

श्रुतशब्दः कर्मसाधनश्च ।२। किञ्च पूर्वोक्तविषयसाधनश्चेति वर्तते। श्रुतावरणक्षयोपशमा[3]द्यन्तरङ्गबहिरङ्गहेतुसन्निधाने सति [4]श्रूयते स्मेति श्रुतम्। कर्तरि श्रुतपरिणत आत्मैव [5]शृणोतीति श्रुतम्। भेदविवक्षायां श्रूयतेऽनेनेति श्रुतम्, श्रवणमात्रं वा।

अवपूर्वस्य दधातेः कर्मादिसाधनः किः[6] ।३। कर्मादिषु साधनेष्वन्यतमे किरयं वेदितव्यः। अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमाद्युभयहेतुसन्निधाने [7]सति अवाग् धीयते अवाग्दधाति अवाग्धानमात्रं वाऽवधिः। [8]'अवशब्दोऽधःपर्यायवचनः, यथा 'अधःक्षेपणम् अवक्षेपणम्' इति। अधोगतभूयोद्रव्यविषयो ह्यवधिः। अथवा, अवधिर्मर्यादा, अवधिना प्रतिबद्धं ज्ञानमवधिज्ञानम्। तथाहि वक्ष्यते– *"रूपिष्ववधेः" [त० सू० १।२७] इति। [10]सर्वेषां प्रसङ्ग इति चेत्; न; रूढिवशाद् व्यवस्थोपपत्तेर्गोशब्द[11]प्रवृत्तिवत्।

मनः प्रतीत्य प्रतिसंधाय वा ज्ञानं मनःपर्ययः ।४। तदावरणकर्मक्षयोपशमादिद्वितयनिमित्तवशात् परकीयमनोगतार्थज्ञानं मनःपर्ययः। भावादिसाधनत्वं पूर्ववद्वेदितव्यम्। कथं मनः प्रतीत्य प्रतिसंधाय वा ज्ञानमिति ? अत्रोच्यते–परकीयमनसि गतोऽर्थः 'मनः' इत्युच्यते, तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति। स च कः मनोगतोऽर्थः ? भावघटादिः,[12] तमर्थं समन्तादेत्य अवलम्ब्य वा स्वप्रसादादात्मनो ज्ञानं मनःपर्ययः।

मतिज्ञानप्रसङ्ग इति चेत्; न; अपेक्षामात्रत्वात् ।५। स्यादेतत्–[13]मनःपर्ययज्ञानं मतिज्ञानं प्राप्तम्। कुतः ? मनोनिमित्तत्वात्। एवं ह्यार्षी प्रक्रिया[14] मनसा मनः संपरिचिन्त्येति; तन्न; किं कारणम् ? अपेक्षामात्रत्वात्। स्वपरमनोऽपेक्षामात्रं तत्र क्रियते यथा 'अभ्रे[15] चन्द्रमसं पश्य' इति, न [16]तत्कार्यं मतिज्ञानवत्, आत्मशुद्धिनिमित्तत्वादे[17]तस्येति।

बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषान् यदर्थं केवन्ते तत्केवलम् ।६। तपःक्रियाविशेषान् वाङ्मनसकायाश्रयान् [18]बाह्यानाभ्यन्तरांश्च यदर्थमर्थिनः केवन्ते सेवन्ते तत्केवलम्।

---

१ –दावुपदिष्टस्य ता०, श्र०, द०। २ –दि निर्दिष्टम् आ०, ब०, द०, मु०। ३ आदिशब्देन वीर्यान्तरायादिकस्य क्षयोपशमादिकं गृह्यते। ४ कर्मसाधनोऽयं ज्ञायते। स्वसंवेदनेन। ५ जानाति। ६ धोः किः इति। ७ सत्यवधीयते आ०, ब०, द०, मु०। अवशब्दार्थोद्ये.तकोऽयमवाक्शब्दः। ८ अवधिशब्दो मु०, द०, ब०, आ०, ता०, श्र०, मू०। ९ कल्पना स्याधि (?) भवप्रत्ययस्यापेक्षया व्युत्पत्तिरियं रूढिशब्दत्वादन्यत्रापि। १० मत्यादिमनःपर्ययान्तानाम्, तेषां मननमात्रसद्भावात्। ११ यथा गच्छतीति गौरित्युक्ते गमनक्रिया अश्वादिष्वपि वर्तते, न गोष्ठे (स्थितायां गवि?)। १२ ज्ञानविषयत्वात्। १३–पर्यय– श्र०। १४ तुलना–"मणेण माणसं पडिविंदइत्ता…"–महाबंध पृ० २४। १५ मेघे। १६ मनसः। १७–वेदतस्येति ता०, श्र०। १८ बाह्याभ्यन्तरा– ता०, श्र०, द०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अव्युत्पन्नो वाऽसहायार्थः केवलशब्दः ।७। 'यथा केवलमन्नं भुङ्क्ते देवदत्तः' इति 'असहायं व्यञ्जनरहितं भुङ्क्ते' इति गम्यते, तथा क्षायोपशमिकज्ञानासंपृक्तम् असहायं केवलम् इत्यव्युत्पन्नोऽयं शब्दो द्रष्टव्यः ।

करणादिसाधनो ज्ञानशब्दो व्याख्यातः ।८। अयं ज्ञानशब्दः करणादिसाधन इति व्याख्यातः पुरस्तात् ।

इतरेषां तदभावः ।९। इतरेषामेकान्तवादिनां तस्य ज्ञानस्य करणादिसाधनत्वं नोपपद्यते । तत्कथमिति चेत् ? उच्यते–

आत्माभावे ज्ञानस्य करणादित्वानुपपत्तिः कर्तु रभावात् ।१०। येषामात्मा न विद्यते तेषां ज्ञानस्य करणादित्वं नोपपद्यते । कुत ? कर्तु रभावात् । सति हि देवदत्ते छेत्तरि परशोः करणत्वं दृष्टम् । तथा चात्मन्यसति नास्य[1] करणत्वम् । तत एव भावसाधनत्वमपि नोपपद्यते– 'ज्ञातिर्ज्ञानम्' इति । न ह्यसति भाववति[2] भाव इति ।

स्यादेतत्–जानातीति ज्ञानमिति कर्तृसाधनत्वमिति; तन्न; निरीहकत्वात्[3] । न हि निरीहको भावः कर्तृत्वमास्कन्दति । निरीहकाश्च[4] सर्वे भावाः ।

किञ्च, पूर्वोत्तरापेक्षस्य लोके कर्तृत्वं दृष्टम् । न च तस्य ज्ञानस्य पूर्वोत्तरापेक्षास्ति क्षणिकत्वात्, अतो निरपेक्षस्य कर्तृत्वाभावः ।

किञ्च, करणव्यापारापेक्षस्य लोके कर्तृत्वं दृष्टम् । न च ज्ञानस्यान्यत् करणमस्ति । अतोऽस्य कर्तृत्वमपि नोपपद्यते । स्वशक्तिरेव करणमिति चेत्; न; शक्तिशक्तिमद्भेदाभ्युपगमे आत्मास्तित्वसिद्धेः । अभेदे च स [5]दोषस्तदवस्थ एवेति । सन्तानापेक्षया कर्तृकरणभेदोपचार इति चेत्; न; परमार्थविपरीतत्वे मृषावादोपपत्तेः, भेदाभेदविकल्पनयोरुक्तदोषप्रसङ्गाच्च । मनश्चेन्द्रियञ्चास्य करणमिति चेत्; न; तस्य तच्छक्त्यभावात् । मनस्तावन्न करणम्; विनष्टत्वात् *"**षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः**[6]" [अभिध० १।१७] इति वचनात् । नेन्द्रियमप्यतीतम्; तत[7] एव । नाप्युपजायमानस्य[8] करणत्वम् । नहि सव्यविषाणं युगपदुपजायमानमितरस्य विषाणस्य करणं भवति ।

किञ्च, प्रकृत्यर्थादन्यस्याभावात् । 'ज्ञा' इत्यस्याः प्रकृतेरवबोधनमर्थः, न तस्मादन्यः कश्चिदर्थोऽस्ति यः कर्तृत्वमनुभवेत्, अतोऽस्य कर्तृत्वाभावः ।

किञ्च, एकक्षणविषयं यत्कर्तृत्वं तदनेकक्षणगोचरोच्चारणलब्धजन्मना कर्तृशब्देन कथमुच्यते ? कथं वाऽयमेकक्षणेऽसन् वाचकः स्यात् ? सन्तानावस्थानाद् वाच्यवाचकभावसंबन्ध इति चेत्; न; तस्य [9]प्रतिविहितत्वात् ।

अथ मतमेतत्–खात्पतिता नो रत्नवृष्टिः, अवाच्यमेव हि तत्त्वमिष्यते । अव्यापारेषु हि सर्वधर्मेषु वाग्व्यवहारो नास्त्येवेति; तदपि नोपपद्यते; स्ववचनविरोधात्, तत्त्वप्रतिपत्त्युपायापह्नवप्रसङ्गाच्च ।

किञ्च, जानातीति ज्ञानमिति कर्तृसाधनत्वं नोपपद्यते । कुतः ? विशेषानुपलब्धेः ।

---

१ ज्ञानस्य । २ आत्मनि । आत्माभावे तद्धर्मो न घटत इति यावत्– ता० टि० । ३ निर्व्यापारत्वात्, वाञ्छा तावदात्मन्येव वर्तते न तु ज्ञाने –ता० टि० । ४ यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः । न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते ॥ इति भवन्मते प्रतिपादनात् । ५ कर्तृत्वाभावदोषः । ६ "चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वाकायमनोविज्ञानानाम् अनन्तरमतीतं (पूर्वकालिकं) च यद्विज्ञानं तदेव मन इत्युच्यते । यथैक एव पुरुषः पितापि पुत्रोपि, एकमेव बीजं धान्यमपि बीजमपि ।"– अभि० व्या० १।१७ । सम्पा०– । ७ विनष्टत्वादेव । ८ युगपत् –ता० टि० । ९ –क स–. अ० । १० निराकृतत्वात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

येन हि कर्तृसाधनत्वमवगतं करणादिसाधनत्वं च तेनेदं युज्यते वक्तुम्–'कर्तृसाधनमिदं न करणादिसाधनम्' इति । नच क्षणिकवादिनः प्रत्यर्थवशवर्तिज्ञानविकल्पनायाम् अनवधारितोभयस्वभावस्य तद्विशेषोपलब्धिरस्ति । न हि शुक्लेतरविशेषानभिज्ञस्य 'शुक्लमिदं न नीलादि' इति विशेषणमुपपद्यते ।

अस्तित्वेऽर्थविक्रियस्य तदभावः, अनभिसंबन्धात् ।११। आत्मनः अस्तित्वेऽपि ज्ञानस्य [1]करणाद्यभावः । कुतः ? अनभिसंबन्धात् । [2]यस्य मतम्–आत्मनो ज्ञानाख्यो गुणः, तस्माच्चार्थान्तरभूतः, *"**आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् यन्निष्पद्यते तदन्यत्**" [वैशे० सू० ३।१।१८] इति वचनादिति; तस्य ज्ञानं करणं न भवितुमर्हति । कुतः ? पृथगात्मलाभाभावात् । दृष्टो हि लोके छेत्तुर्देवदत्ताद् अर्थान्तरभूतस्य परशोः तैक्ष्ण्यगौरवकाठिन्यादिविशेषलक्षणोपेतस्य सतः करणभावः, नच तथा ज्ञानस्य स्वरूपं पृथगुपलभामहे ।

किञ्च, अपेक्षाभावात् । दृष्टो हि परशोः देवदत्ताधिष्ठितो[3]द्यमननिपातनापेक्षस्य करणभावः, न च तथा ज्ञानेन किञ्चित्कर्तृसाध्यं क्रियान्तर[4]मपेक्ष्यमस्ति ।

किञ्च, तत्परिणामाभावात् । छेदनक्रियापरिणतेन हि देवदत्तेन तत्क्रियायाः साचिव्ये नियुज्यमानः परशुः 'करणम्' इत्येतद्युक्तम्, न च तथा आत्मा ज्ञानक्रियापरिणतः ।

[5]अर्थान्तरत्वे तस्याऽज्ञत्वात् । इह यज्ज्ञानादन्यद्भवति तदज्ञं दृष्टं यथा घटादिद्रव्यम्, तथा च ज्ञानादन्य आत्मा इत्यज्ञत्वप्रसङ्गः । ज्ञानयोगाज्ज्ञत्वं दृष्टत्वात् दण्डिवदिति चेत्; न; तत्स्वभावाभावे संबन्धनियमानुपपत्तिः इन्द्रियमनोवत् । ज्ञस्वभावाभावे सति 'आत्मन्येव योगो न मनसेन्द्रियेण वा' इति नियमाभावः । युतसिद्धयोश्च दण्डदण्डिनोः संबन्धः, दण्डस्य च प्रसिद्धस्य सतो विशेषणमात्रत्वेनोपादानात्, आत्मनश्च तदुत्पत्तौ हिताहितविचारणाविक्रिया[6]-नुपपत्तेरसाम्यम् । उभयोश्चाज्ञयोः संबन्धेऽप्यज्ञत्वप्रसङ्गः, दृष्टत्वात्, जात्यन्धयोः संबन्धे दर्शनशक्त्यभावात् ।

किञ्च, इन्द्रियमनःप्रसङ्गात् । यदि 'ज्ञायतेऽनेन ज्ञानम्' इति करणमभ्युपगम्यते, तेनेन्द्रियाणां मनसश्च [7]ज्ञानत्वप्रसङ्गः विशेषाभावात्, तैरपि ज्ञायत इति ।

किञ्च, उभयोर्निष्क्रियत्वात् । सर्वगतस्य तावदात्मनः क्रिया नास्ति, नापि ज्ञानस्य । *"**क्रियावत्त्वं द्रव्यस्यैव 'लक्षणम्**" [ ] इति वचनात् । ततः क्रियाविरहितस्य कथं कर्तृत्वं करणत्वं वा स्यात् ?

[9]यस्यापि [10]मतम्–'अनित्यगुणव्यतिरेकाच्छुद्धः पुरुषो नित्यश्च निर्विकारत्वात्' इति; तस्य ज्ञानं करणं न भवतुमर्हति । कुतः ? अनभिसंबन्धात् । या बुद्धिः इन्द्रियमनोऽहङ्कारमहद्वृत्त्युपनीता आलोचनसंकल्पाभिमानाध्यवसायरूपा सा प्रकृतिः, पुरुषः पुनरविक्रियः[11] शुद्धश्च, तस्य सा करणं कथं स्यात् ? क्रियापरिणतस्य हि देवदत्तस्य लोके करणसंप्रयोगो दृष्टः । इत्येवमादि योज्यम् ।

नापि कर्तृसाधनत्वं युज्यते । लोके हि करणत्वेन प्रसिद्धस्यासेः तत्प्रशंसापरायामभिधानप्रवृत्तौ [12]समीक्षितायां "तैक्ष्ण्यगौरवकाठिन्याहितविशेषोऽयमेव छिनत्ति' इति कर्तृधर्मा-

---

१ करणत्वाभाव इति वा पाठः –श्र० टि० । २ वैशेषिकस्य । ३ उत्पतन । ४ –रं समपेक्ष्य– मु०, द०, श्रा०, ब० । ५ अन्यत्वे । ६ –क्रियोपपत्ते– श्रा०, ब०, द०, मु० । ७ ज्ञानप्र– श्र०, ता० । ८ तुलना–"क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्" –वैशे० सू० १।१।१५ । ९ सांख्यस्यापि । १० मतमन्यत् गु– श्रा०, ब०, द०, मु० । ११ नित्यत्वात् । १२ विवक्षितायाम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यारोपः क्रियते, न च तथा ज्ञानं करणत्वेन प्रसिद्धमस्ति पूर्वदोषोपपत्तेः। अतोऽस्य कर्तृत्वमयुक्तम्।

नच भावसाधनत्वमुपपत्तिमत्; अविक्रियस्य तत्परिणामाभावात्। विक्रियास्वभावस्य[1] हि वस्तुनस्तण्डुलादेः विक्लेदादिदर्शनात्, 'पचनं पाकः' इत्येवमादि भावनिर्देशो युक्तः नाकाशस्येति।

किञ्च, फलाभावात्। ज्ञानं हि प्रमाणमिष्टम्। प्रमाणेन च फलवता भवितव्यम्। न चावबोधनमन्तरेण फलमन्यदुपलभ्यते। तस्मादन्येन ज्ञानेन भवितव्यं यस्मिन् सति सा ज्ञातिरवबोधः फलमात्मनो भवति, तच्च नास्त्यतो न भावसाधनत्वम्।

अधिगमश्चात्र न भावान्तरमिति 'फले प्रामाण्योपचारः' इति चाऽयुक्तम्; मुख्याभावात्। आकारभेदात् फलप्रमाणपरिकल्पना चाऽयुक्ता; आकाराकारवतोर्भेदाभेदयोरनेकदोषोपपत्तेः। निर्विकल्पकत्वाच्च तत्त्वस्य आकारकल्पनाभावः। बाह्यवस्त्वाकारापोहे अन्तरङ्गाकारानुपपत्तिश्चेति। जैनेन्द्राणां तु परमर्षिसर्वज्ञप्रणीतनयभङ्गगहनप्रपञ्चविपश्चितां स्याद्वादप्रकाशोन्मीलितज्ञानचक्षुषाम् एकस्मिन्नप्यर्थेऽनेकपर्यायसंभवादुपपद्यते इति [2]विमृष्टार्थमेतत्।

मत्यादीनां ज्ञानशब्देन प्रत्येकमभिसंबन्धो भुजिवत्।१२। यथा 'देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यन्ताम्' इति देवदत्तादीनां भुजिना प्रत्येकमभिसंबन्धो भवति, एवमिहापि प्रत्येकमभिसंबन्धः–'मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानम्' इति। सत्यपि 'तत्सामानाधिकरण्ये 'उपात्तलिङ्गसंख्या[3]त्वात्त[4]लिङ्गसंख्योपादानं नास्ति' इत्युक्तं पुरस्तात्।

स्वन्तत्वाद् अल्पाच्तरत्वाद् अल्पविषयत्वाच्च मतिग्रहणमादौ।१३। 'मतिः' इत्येतत् पदं स्वन्तम्[6] अल्पाच्तरं च अवध्यादिभ्यो विषयश्चास्याल्पः चक्षुरादीनां प्रतिनियतविषयत्वात्, तस्मादस्यादौ ग्रहणं क्रियते।

तदनन्तरम् [7]श्रुतम् तत्पूर्वकत्वात्।१४। ***"मतिपूर्वं हि श्रुतम्"** [त० सू० १।२०] इति वक्ष्यते। ततस्तदनन्तरं श्रुतं क्रियते। इतश्च[8]–

विषयनिबन्धनतुल्यत्वाच्च।१५। ***"मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु"** [त० सू० १।२६] इति वक्ष्यते, अतस्तत्तुल्यत्वाच्च तदनन्तरं श्रुतम्।

तत्सहायत्वाच्च।१६। यथा नारदपर्वतयोः सहायत्वात् यत्र नारदस्तत्र पर्वतः, यत्र पर्वतस्तत्र नारदः परस्परापरित्यागात्, तथा मतिश्रुतयोः परस्परापरित्यागः–'यत्र मतिस्तत्र श्रुतं यत्र श्रुतं तत्र मतिः' इति।

प्रत्यक्षत्रयस्यादाववधिवचनम्, विशुद्धचभावात्।१७। सत्यपि मतिश्रुताभ्यां प्रत्यक्षत्वाद् [9]विशुद्धत्वेऽवधेः औपरिष्टं[10] प्रत्यक्षज्ञानमपेक्ष्यावधिर्न विशुद्धस्ततोऽस्य प्रागुपन्यासः।

ततो विशुद्धतरत्वात् मनःपर्ययग्रहणम्।१८। ततोऽवधेर्मनःपर्ययज्ञानं विशुद्धतरम्। [11]किं कृतोऽस्य विशुद्धिप्रकर्षः? संयमगुणसन्निधानकृतः। अतोऽस्य तदनन्तरं ग्रहणम्।

अन्ते केवलग्रहणम्, ततः परं ज्ञानप्रकर्षाभावात्।१९। सर्वेषां ज्ञानानां परिच्छेदने

---

१ –स्वाभाव्यस्य श्र०। २ परामृष्टार्थम्। ३ मत्यादिभिः। ४ ज्ञानस्य। ५ मत्यादि। ६ स्वमते इवुदन्तस्य सुरिति संज्ञा। घिसंज्ञकमित्यर्थः –सम्पा०। ७ श्रुतं तत्पूर्वं हि आ०, ब०, द०, मु०। ८ वक्ष्यमाणप्रकारेणेत्यर्थः। ९ –शुद्धित्वे ता०, श्र०। १० औपविष्टम् आ०, मु०, द०। उपरिभवम्। ११ केन कृतः।

[1]केवलस्य सामर्थ्यात्, अस्य चान्येन ज्ञानेनाऽपरिच्छेद्यत्वात् नातोऽन्यत्प्रकृष्टं ज्ञानमस्तीति, ततः परं ज्ञानप्रकर्षाभावः ।

तेनैव सह निर्वाणाच्च ।२०। यतश्च केवलेनैव सह निर्वाणं न क्षायोपशमिकज्ञानैः सह, अतोऽन्ते केवलग्रहणम् । कश्चिदाह–

मतिश्रुतयोरेकत्वम्; साहचर्यादेकत्रावस्थानाच्चाऽविशेषात् ।२१। मतिश्रुतयोरेकत्वं प्राप्नोति । कुतः ? साहचर्यात्, एकत्रावस्थानाच्च अविशेषात् ।

न; अतस्तत्सिद्धेः ।२२। नाविशेषः । कुतः ? अतस्तत्सिद्धेः । यत एव मतिश्रुतयोः साहचर्यमेकत्रावस्थानं चोच्यते अत एव [2]विशेषः सिद्धः । प्रतिनियतविशेषसिद्धयोर्हि साहचर्यमेकत्रावस्थानं च युज्यते, नान्यथेति ।

तत्पूर्वकत्वाच्च ।२३। ***"मतिपूर्वं श्रुतम्"** [त० सू० १।२०] इति वक्ष्यते । ततश्चानयोर्विशेषः । यत्पूर्वं यच्च पश्चात्तयोः कथमविशेषः ?

तत एवाविशेषः, कारणसदृशत्वात् युगपद्वृत्तेश्चेति चेत्; न; अत एव नानात्वात् ।२४। स्यादेतत्–यतो मतिपूर्वकत्वमत एवाविशेषः । कुतः ? कारणसदृशत्वात् कार्यस्य । कथम् ? तन्तुपटवत् । यथा शुक्लादितन्तुकार्यं पटद्रव्यं शुक्लादिगुणमेव, तथा मतिकार्यत्वाच्छ्रुतस्यापि मत्यात्मकत्वम् । युगपद्वृत्तेश्च । यथा अग्नौ औष्ण्यप्रकाशनयोर्युगपद्वृत्तेः अग्न्यात्मकत्वम्, तथा सम्यग्दर्शनाविर्भावादनन्तरं युगपन्मतिश्रुतयोर्ज्ञानव्यपदेश[3]वृत्तेरविशेष इति; तन्न; किं कारणम्? अत एव नानात्वात् । यत एव कारणसदृशत्वं युगपद्वृत्तिश्च चोद्यते अत एव नानात्वं सिद्धम् । द्वयोर्हि सादृश्यं [4]युगपद्वृत्तिश्चेति ।

विषयाविशेषादिति चेत्, न; ग्रहणभेदात् ।२५। स्यादेतत्–विषयाविशेषात् मतिश्रुतयोरेकत्वम् । एवं हि वक्ष्यते–***"मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु"** [त० सू० १।२६] इति; तन्न; किं कारणम् ? ग्रहणभेदात् । अन्यथा हि मत्या गृह्यते अन्यथा श्रुतेन । यो हि मन्यते 'विषयाभेदादविशेषः' इति; तस्य एकघटविषयदर्शनस्पर्शनाविशेषः स्यात् ।

उभयोरिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वादिति चेत्; न; असिद्धत्वात् ।२६। स्यादेतत्–उभयोरिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वादेकत्वम् । मतिज्ञानं [5]तावत् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमिति प्रतीतम्, श्रुतमपि वक्तृश्रोतृजिह्वाश्रवणनिमित्तत्वादन्तःकरणनिमित्तत्वाच्च तदुभयनिमित्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? असिद्धत्वात् । जिह्वा हि शब्दोच्चारक्रियाया निमित्तं न ज्ञानस्य, श्रवणमपि स्वविषयमतिज्ञाननिमित्तं न श्रुतस्य, इत्युभयनिमित्तत्वमसिद्धम् । सिद्धो हि हेतुः साध्यमर्थं साधयेन्नासिद्धः । किन्निमित्तं तर्हि श्रुतम् ?

अनिन्द्रियनिमित्तोऽर्थावगमः श्रुतम् ।२७। इन्द्रियानिन्द्रियबलाधानात् पूर्वमुपलब्धेऽर्थे नोइन्द्रियप्राधान्यात् यदुत्पद्यते ज्ञानं तत् श्रुतम् ।

ईहादिप्रसङ्ग इति चेत्; न; अवगृहीतमात्रविषयत्वात् ।२८। स्यादेतत्–ईहादीनामपि श्रुतव्यपदेशः प्राप्तः, तेऽप्यनिन्द्रियनिमित्ता इति; तन्न; किं कारणम् ? अवगृहीतमात्रविषयत्वात् । इन्द्रियेणावगृहीतो योऽर्थस्तन्मात्रविषया ईहादयः, श्रुतं पुनर्न तद्विषयम् । किं विषयं तर्हि श्रुतम् ? अपूर्वविषयम् । एकं घटमिन्द्रियानिन्द्रियाभ्यां निश्चित्याऽयं घट इति तज्जातीयमन्यमनेकदेशकालरूपादिविलक्षणमपूर्वमधिगच्छति यत्तत् श्रुतम् ।

---

१ केवलसा– श्रा०, ब०, द०, मु०, ता० । २ भेदः । ३ –व्यपदेश इति श्रा०, ब०, द०, मु० । कुमतिकुश्रुतयोः सम्यग्ज्ञानव्यपदेशवृत्तेरभेदः । ४ देवदत्तजिनदत्तयज्ञदत्ता युगदायाता इति । ५ तावत्तदिन्द्रि– ता०, श्र० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नानाप्रकारार्थप्ररूपणपरं यत् तद्वा श्रुतम् ।२९। अथवा, इन्द्रियानिन्द्रियाभ्यामेकं जीवमजीवं चोपलभ्य तत्र सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वादिभिः प्रकारैरर्थप्ररूपणे कर्तव्ये यत्समर्थं तत् श्रुतम् ।

श्रुत्वाऽवधारणात् श्रुतमिति चेत्; न; मतिज्ञानप्रसङ्गात् ।३०। श्रुत्वा यदवधारयति तत् श्रुतमिति केचिन्मन्यन्ते; तन्न युक्तम्; कुतः ? मतिज्ञानप्रसङ्गात् । तदपि शब्दं श्रुत्वा 'गोशब्दोऽयम्' इति प्रतिपद्यते । असाधारणेन नाम लक्षणेन भवितव्यम् । श्रुतं पुनस्तस्मिन्निन्द्रियानिन्द्रियगृहीतागृहीतपर्यायसमूहात्मनि शब्दे तदभिधेये च श्रोत्रेन्द्रियव्यापारमन्तरेण जीवादौ नयादिभिरधिगमोपायैर्याथात्म्येनाऽवबोधः ।

"प्रमाणनयैरधिगमः" [त० सू० १।६] इत्युक्तम् । 'प्रमाणं च केषाञ्चित् ज्ञानमभिमतम्, केषाञ्चित् सन्निकर्षः' इति, अतोऽधिकृतानामेव मत्यादीनां प्रमाणत्वख्यापनार्थमाह–

तत्प्रमाणे ॥१०॥

प्रमाणशब्दस्य कोऽर्थः ?

भावकर्तृकरणत्वोपपत्तेः प्रमाणशब्दस्य इच्छातोऽर्थाध्यवसायः ।१। अयं प्रमाणशब्दः भावे कर्तरि करणे च वर्तते । तत्र भावे तावत् प्रमेयार्थं प्रति निवृत्तव्यापारस्य तत्त्वकथनात् प्रमा प्रमाणमिति । कर्तरि प्रमेयार्थं प्रति प्रमातृत्वशक्तिपरिणतस्याश्रितत्वात्[1] प्रमिणोति प्रमेयमिति प्रमाणम् । करणे [2]प्रमातृप्रमाणयोः प्रमाणप्रमेययोश्च स्यादन्यत्वात् प्रमिणोत्यनेनेति प्रमाणम् ।

अनवस्थेति चेत्; न; दृष्टत्वात् प्रदीपवत् ।२। स्यान्मतम्–इदमिह संप्रधार्यं प्रमाणसिद्धिः परतो वा स्यात्, स्वत एव वेति ? यदि यथा प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाधीना[3] एवं प्रमाणसिद्धिरपि प्रमाणान्तराधीनेति, तस्याप्यन्यत् तस्याप्यन्यदित्यनवस्था । अथ स्वत एव सिद्धिः; एवमपि यथा प्रमाणस्य स्वत एव सिद्धिस्तथा प्रमेयस्यापि [4]प्रमेयात्मन एव सिद्धिरिति प्रमाणव्यवस्थाकल्पना न घटते । [5]इच्छामात्रत्वं (त्वे) विशेषहेतुवचनं चेति; तन्न; किं कारणम् ? दृष्टत्वात् प्रदीपवत् । दृष्टो हि प्रदीपो घटादीनां प्रकाशकः स्वस्य च, तथा प्रमाणमपि[6] इति ।

अथवा, अयमपरोऽर्थः–यदि भावकर्तृकरणानामन्यतमसाधनः प्रमाणशब्दः; अनवस्था प्राप्नोति[7] । [8]न ह्येकस्मिन्नर्थात्मनि विरुद्धशक्त्यवस्थानमिति; तन्न; किं कारणम् ? दृष्टत्वात् प्रदीपवत् । यथैकस्य प्रदीपस्य 'प्रदीपनं प्रदीपयति प्रदीप्यतेऽनेन' इति वा भावादिशक्त्यविरोधः तथा प्रमाणस्यापि इति[9] ।

इतरथा हि प्रमाणव्यपदेशाभावः ।३। यदि प्रमाणं स्वस्याप्रकाशकं स्यात् परसंवेद्यत्वात् अस्य प्रमाणव्यपदेशो न स्यात् ।

विषयज्ञानतद्विज्ञानयोरविशेषः ।४। विषयाकारपरिच्छेदात्मनि ज्ञाने यदि स्वाकारपरिच्छेदो न स्यात् [10]तद्विषये विज्ञाने विषयाकाररूपतैवेति तयोरविशेषः स्यात् ।

---

१ अङ्गीकृतत्वात् । २ प्रमातृप्रमेययोः आ०, ब०, द०, मु० । ३ प्रमाणादर्थसंसिद्धिरिति वचनात् । ४ स्वरूपतः । ५ इच्छामात्रवि– आ०, ब०, द०, मु० । ६ –णमिति ता० । ७ न चैवं सर्वेषु तस्य विवक्षितत्वात् । ८ तथा सति विरोध इत्याह न विरोध इति, नेति परिहरति । ९ समत्वम्– ता० टि० । १० विषयभूते वस्तुनि तद्ग्राहके च विज्ञाने । तद्विषये– घटज्ञानविषयके घटज्ञानेऽपि विषयाकारतैवेति तयोः घटज्ञान–घटज्ञानज्ञानयोः अभेदः प्राप्नोति । तुलना– "विषय–ज्ञानतज्ज्ञानभेदाद् बुद्धेर्द्विरूपता ।" –प्रमाणसमु० १ । १२ । –सम्पा० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्मृत्यभावप्रसङ्गश्च ।५। न ह्यनुपलब्धपूर्वेऽर्थे 'स एवायम्' इति स्मृतिर्भवति यदि च विज्ञानं स्वात्मानं न विजानीयात् । उत्तरकालम् अनधिगतस्वात्मविज्ञानः कथं ब्रूयात् 'ज्ञोऽहम्' इति ? ततः स्मृतेरभावः स्यात् ।

फलाभाव इति चेत्; न; अर्थावबोधे प्रीतिदर्शनात् ।६। स्यादेतत्--भावसाधने प्रमाणे प्रमैव प्रमाणमिति न फलमन्यदुपलभ्यत इति फलाभाव इति; तन्न; किं कारणम् ? अर्थावबोधे प्रीतिदर्शनात् । ज्ञस्वभावस्यात्मनः कर्ममलीमसस्य [1]करणालम्बनादर्थनिश्चये प्रीतिरुपजायते, सा फलमित्युच्यते ।

उपेक्षाऽज्ञाननाशो वा ।७। रागद्वेषयोरप्रणिधानमुपेक्षा, अज्ञाननाशो वा फलमित्युच्यते ।

ज्ञातृप्रमाणयोरन्यत्वमिति चेत्; न; अज्ञत्वप्रसङ्गात् ।८। स्यान्मतम्--'प्रमिणोत्यात्मानं परं वा प्रमाणम्' इति कर्तृसाधनत्वमयुक्तम्; यस्मादन्यत्प्रमाणं ज्ञानम्, स च गुणः, अन्यश्च प्रमाता आत्मा स च गुणी, गुणिगुणयोश्चाऽन्यत्वं द्रव्यरूपवत् । तथा च *"**आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत्**" [वैशे० सू० ३।१८] इति वचनात् अन्यत्प्रमाणम् अन्यः प्रमाता, ततः करणसाधनत्वमेव युक्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? अज्ञत्वप्रसङ्गात् । यदि ज्ञानादन्य आत्मा, तस्याऽज्ञत्वं प्राप्नोति घटवत् ।

ज्ञानयोगादिति चेत्; न; अतत्स्वभावत्वे ज्ञातृत्वाभावः अन्धप्रदीपसंयोगवत् ।९। स्यादेतत्--ज्ञानयोगाज्ज्ञातृत्वं भवतीति; तन्न; किं कारणम् ? अतत्स्वभावत्वे ज्ञातृत्वाभावः । कथम् ? अन्धप्रदीपसंयोगवत् । यथा जात्यन्धस्य प्रदीपसंयोगेऽपि न द्रष्टृत्वं तथा ज्ञानयोगेऽपि अज्ञस्वभावस्यात्मनो न ज्ञातृत्वम् ।

प्रमाणप्रमेययोरन्यत्वमिति चेत्; न; अनवस्थानात् ।१०। स्यान्मतम्--अन्यत् प्रमाणमन्यत् प्रमेयम् । कुतः ? लक्षणभेदात् दीपघटवत् इति; तन्न; किं कारणम् ? अनवस्थानात् । यदि यथा [2]बाह्यप्रमेयाकारात् प्रमाणमन्यत् तथाभ्यन्तर[3]प्रमेयाकारादप्यन्यत् स्यात्, अनवस्थाऽस्य स्यात् ।

प्रकाशवदिति चेत्; न; प्रतिज्ञाहानेः ।११। तत्रैतत्स्यात्--नानवस्थादोषः । कथम् ? प्रकाशवत् । यथा प्रकाशस्य घटादीनामात्मनश्च प्रकाशकस्य नानावस्थादोषः एवमिहापीति; तन्न; किं कारणम् ? प्रतिज्ञाहानेः । प्रकाशो हि [4]स्वात्मनोऽनन्यः स्वपरप्रकाशने समर्थः प्रदर्श्यमानः प्रमाणप्रमेययोरन्यत्वप्रतिज्ञां हापयति ।

[5]**अनन्यत्वमेवेति चेत्; न; उभयाभावप्रसङ्गात्** ।१२। यद्यन्यत्वे दोषोऽनन्यत्वं तर्हि ज्ञातृप्रमाणयोः प्रमाणप्रमेययोश्चेति; तन्न; किं कारणम् ? उभयाभावप्रसङ्गात् । यदि ज्ञातुरनन्यत्प्रमाणं प्रमाणाच्च प्रमेयम्; अन्यतराभावे तदविनाभाविनोऽवशिष्टस्याप्यभाव इत्युभयाभावप्रसङ्गः । कथं तर्हि सिद्धिः ?

अनेकान्तात्सिद्धिः ।१३। स्यादन्यत्वं स्यादनन्यत्वमित्यादि । संज्ञालक्षणादिभेदात् स्यादन्यत्वम्, व्यतिरेकेणानुपलब्धेः स्यादनन्यत्वमित्यादि । ततः सिद्धमेतत्--'प्रमेयं नियमात् प्रमेयम्, प्रमाणं तु स्यात्प्रमाणं स्यात्प्रमेयम्' इति ।

---

१ करणलम्बनाऽर्थ- अ० । २ बाह्यात् प्र- आ०, ब०, द०, मु० । ३ भावघट इत्यर्थः । ४ वाविनस्तथेत्यर्थः । स्वात्मनोऽनाशः अ०, ता०, ब० । स्वात्मनो भासः आ० । स्वात्मनो स्वपर-मु० । ५ अथ मीमांसकः प्रत्यवतिष्ठते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वक्ष्यमाणभेदापेक्षया द्वित्वनिर्देशः ।१४। * "आद्ये परोक्षम् । प्रत्यक्षमन्यत्" । [त० सू० १।११,१२] इति वक्ष्यते । तदपेक्षया 'प्रमाणे' इति द्वित्वनिर्देशः क्रियते[1] ।

तद्वचनं सन्निकर्षादिनिवृत्त्यर्थम् ।१५। तत् मत्यादिज्ञानं वर्णितं प्रमाणव्यपदेशं लभते न सन्निकर्षादीनि । अथ सनिकर्षादेः प्रमाणत्वे को दोषः ?

सन्निकर्षे प्रमाणे सकलपदार्थपरिच्छेदाभावः तदभावात् ।१६। यस्य[2] मतम्-सन्निकर्षः प्रमाणम्, अर्थाधिगमः फलमिति; तस्य सकलपदार्थपरिच्छेदो नास्ति । कुतः ? तदभावात् । तस्य सन्निकर्षस्याभावात् । कथमिति चेत् ? उच्यते—येन केनचित्सर्वज्ञेन भवितव्यम् । तस्यार्थपरिच्छेदहेतुर्यदि सन्निकर्षः; स चतुष्टयत्रयद्वयविषयः स्यात् । तत्र चतुष्टयविषयस्त्रयविषयश्च न संभवति; मनस इन्द्रियाणां चाऽयुगपत्प्रवृत्तित्वात्, प्रतिनियतविषयत्वाच्च । अनन्तो हि ज्ञेयस्त्रिकालविषयः [3]सूक्ष्मान्तरितविप्रकृष्टरूपः, स कथमिह तैः सन्निकृष्यते ? असन्निकृष्टे [4]नैतत्फलमवबोधः प्रवर्तते । अतः सर्वज्ञाभावः स्यात् । तत एव द्वयसन्निकर्षोऽपि न भवति । सर्वगतत्वादात्मनः सकलेनार्थेन सन्निकर्ष इति चेत्; न; तस्य परीक्षायामनुपपत्तेः । यदि हि सर्वगत आत्मा स्यात्; तस्य क्रियाभावात् पुण्यपापयोः कर्तृत्वाभावे तत्पूर्वकसंसारः तदुपरति[5]रूपश्च मोक्षो न योक्ष्यते इति । करणग्रामस्य संसार इति चेत्; न; तस्याचेतनत्वात्, तस्यैव मोक्षप्रसक्तेश्च ।

सर्वेन्द्रियसन्निकर्षाभावश्च ।१७। चक्षुर्मनसोः प्राप्यकारित्वाभावात् सर्वेन्द्रियविषयः सन्निकर्षो न संभवति ? प्राप्यकारित्वाभावश्चोपरिष्टाद्वक्ष्यते[6] ।

सर्वथा ग्रहणप्रसङ्गश्च; सर्वात्मना सन्निकृष्टत्वात् ।१८। यानीन्द्रियाणि प्राप्यकारीणि तैरपि सर्वथा अर्थस्य ग्रहणं प्राप्नोति । कुतः ? सर्वात्मना सन्निकृष्टत्वात् ।

तत्फलस्य साधारणत्वप्रसङ्गः स्त्रीपुरुषसंयोगवत् ।१९। तस्य सन्निकर्षस्य प्रमाणस्य यत्फलमर्थावबोधनम्, तेन च साधारणेन भवितव्यम् । कथम् ? स्त्रीपुरुषसंयोगवत् । यथा स्त्रीपुरुष[7]संयोगजं सुखमुभयोरपि साधारणं तथेन्द्रियाणां मनसोऽर्थस्य चावबोधनं प्राप्नोति ।

शय्यादिवदिति चेत्; न; अचेतनत्वात् ।२०। स्यान्मतम्—यथा शय्यादीनां पुरुषस्य च संयोगे साधारणेऽपि तत्फलं सुखं न शय्यादीनां भवति, किं तर्हि ? पुरुषस्यैवेति, तथेहापीति; तन्न; किं कारणम् ? अचेतनत्वात् । अचेतनानां शय्यादीनां सत्यपि संयोगे सुखं न भवति ।

इहापि तत एवेति चेत्; न; अविशेषात् ।२१। स्यादेतत्—मनःप्रभृतीनां सत्यपि सन्निकर्षे न तत्फलमवबोधनं भवति । कुतः ? अचेतनत्वादेवेति; तन्न; किं कारणम् ? अविशेषात् । अज्ञस्वभावत्वं तावत् सर्वेषामात्मादीनामविशिष्टं तत्र किंकृतोऽयं विशेषः—"सन्निकर्षजं फलमवबोधनमर्थान्तरभूतमपि सत् आत्मनैव सम्बध्यते न मनःप्रभृतिभिः' इति । ज्ञस्वभावत्वे चात्मनः प्रतिज्ञाहानिः ।

समवायादिति चेत्; न; अविशेषात् ।२२। स्यादेतत्—समवायो नामायुतसिद्धिलक्षणः सम्बन्धोऽस्ति, तत्कृतोऽयं विशेष इति; तन्न; किं कारणम् ? अविशेषात् । 'समवायो हि

---

१ स च द्विवचननिर्देशः प्रमाणान्तरसंख्यानिवृत्त्यर्थः । प्रत्यक्षञ्चानुमानञ्च शाब्दञ्चोपमया सह । अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः ॥ जैमिनेः षट् प्रमाणानि चत्वारि न्यायवादिनः । सांख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्वे वैशेषिकबौद्धयोः । २ नैयायिकस्य –सम्पा० । ३ परमाण्वादि, रामरावणादि, मेर्वादि । ४ न तत्फल– आ०, ब०, द०, मु० । ५ निवृत्ति । ६ न चक्षुरनिन्द्रियाभ्यामित्यत्र । ७–षसंगजं श्र० । ८ सन्निकर्षफल– आ०, ब०, द०, मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वगतः ज्ञस्वभावशून्यत्वे समानेऽपि आत्मनैव ज्ञानं योजयति, न मनःप्रभृतिभिः' इति वचनं न विपश्चिन्मनःप्रीतिकरम् । एवमिन्द्रियेऽपि योज्यम् ।

अनुमानौपम्ययोः अनुमानागमयोः अनुमानप्रत्यक्षयोः औपम्यप्रत्यक्षयोः औपम्यागमयोः आगमप्रत्यक्षयोः प्रत्यक्षपरोक्षयोश्च [1]विपर्ययप्रसङ्गे [2]मत्यादीनाञ्चाविशेषेण प्रमाणद्वयासक्तेरवधारणार्थमाह—

आद्ये परोक्षम् ॥११॥

आदिशब्दस्यानेकार्थवृत्तित्वे विवक्षातः प्राथम्यार्थसङ्ग्रहः ।१। अयमादिशब्दोऽनेकार्थवृत्तिः । क्वचित्प्राथम्ये वर्तते, 'अकारादयो वर्णाः, ऋषभादयस्तीर्थकराः' इति । क्वचित्प्रकारे, 'भुजङ्गादयः परिहर्तव्याः' इति । क्वचिद्व्यवस्थायाम् *"**सर्वादि सर्वनाम**" [जैने० १।१।३५] इति । क्वचित्सामीप्ये 'नद्यादीनि क्षेत्राणि' इति । क्वचिदवयवे, *"**टिदादिः**" [जैने० १।१।५३] इति । तत्रेह आदिशब्दस्य विवक्षातः प्राथम्यार्थो वेदितव्यः । आदौ भवमाद्यम् । किं पुनस्तत् ? मतिः श्रुतं च ।

श्रुताग्रहणमप्रथमत्वात् ।२। श्रुतस्य ग्रहणं न प्राप्नोति । कुतः ? अप्रथमत्वात् । नहि सूत्रे श्रुतं प्रथमम् ।

उत्तरापेक्षया आदित्वमिति चेत्; न; अतिप्रसङ्गात् ।३। स्यान्मतम्–अवध्याद्युत्तारमपेक्ष्य श्रुतस्यादित्वमिति; तन्न; किं कारणम् ? अतिप्रसङ्गात् । उत्तारमपेक्ष्य यद्यादित्वं कल्प्यते; केवलं व्युदस्य सर्वस्यादित्वं प्राप्नोति ।

द्वित्वनिर्देशादिति चेत्; न; तदवस्थत्वात्[3] **।४।** स्यादेतत्–द्वित्वनिर्देशेन सर्वस्य ग्रहणं न भवति, अतो नातिप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम् ? तदवस्थत्वात् । एवमप्यतिप्रसङ्ग एव भवति–'कयोर्द्वयोर्ग्रहणम्' इति ।

न वा; प्रत्यासत्तेः श्रुतग्रहणम् ।५। न वैष दोषः । किं कारणम् ? प्रत्यासत्तेः श्रुतग्रहणं भवति । द्वित्वनिर्देशाद् गृह्यमाणं यदाद्यस्य प्रत्यासन्नं तदेव गृह्यते । तस्य हि सामीप्यादौपचारिकं प्राथम्यमस्तीति, तथा[4]सामीप्यं श्रुते[5]रर्थाच्च[6] ।

उपात्तानुपात्तपरप्राधान्यादवगमः परोक्षम् ।६। उपात्तानीन्द्रियाणि मनश्च, अनुपात्तं प्रकाशोपदेशादि[7] परः तत्प्राधान्यादवगमः परोक्षम् । यथा गतिशक्त्युपेतस्यापि स्वयमेव गन्तुमसमर्थस्य यष्ट्याद्यवलम्बनप्राधान्यं गमनम्, तथा मतिश्रुतावरणक्षयोपशमे सति ज्ञस्वभावस्यात्मनः स्वयमेवार्थानुपलब्धुमसमर्थस्य पूर्वोक्तप्रत्ययप्रधानं ज्ञानं परायत्तत्वात्तदुभयं परोक्षमित्युच्यते ।

अत एव प्रमाणत्वाभावः इत्यनुपालम्भः ।७। अत्राऽन्ये उपालभन्ते–'परोक्षं प्रमाणं न भवति, प्रमीयतेऽनेनेति हि प्रमाणम्, न च परोक्षेण किञ्चित्प्रमीयते 'परोक्षत्वादेव' इति; सोऽनुपालम्भः । कुतः ? अत एव । यस्मात् 'परायत्तं परोक्षम्' इत्युच्यते न 'अनवबोधः' इति ।

---

१ अप्रमाणत्वप्रसङ्गे । २ मत्यादीनामवि– आ०, ब०, द०, मु० । ३ अतिप्रसङ्गस्य, अतिप्रसङ्गो न निवर्तते इत्यर्थः । ४ सामीप्यश्रुतेरर्थाच्च आ०, ब०, द०, मु० । ५ उच्चारणकाले श्रवणात् । ६ मतेः सकाशात् मतिश्रुतयोरित्यादिसूत्रे (तयोः समानार्थविषयत्वसूचनात्) । ७ –दि तत्प्रा– मु०, मू०, ता०, श्र०, द०, ब०, ज० । केवलं भा० २ प्रतौ– दि परः तत्प्रा– इति पाठः । ८ अविषयत्वात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिहितलक्षणात् परोक्षादितरस्य सर्वस्य प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनार्थमाह–

प्रत्यक्षमन्यत् ॥१२॥

अन्यत्त्रिविधं प्रत्यक्षमित्युच्यते । किमिदं प्रत्यक्षं नाम ?

इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम् ।१। इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि पञ्च, अनिन्द्रियं मनः, तेष्वपेक्षा यस्य न विद्यते । 'अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं व्यभिचारः' सोऽतीतोऽस्य । आकारो[1] विकल्पः, यत्सह आकारेण वर्तते तत्प्रत्यक्षमित्युच्यते । 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षम्' इति विशेषणं मतिश्रुतनिवृत्त्यर्थम् । 'अतीतव्यभिचारम्' इत्येतद्विभङ्गज्ञाननिवृत्त्यर्थम्, तद्धि मिथ्यादर्शनोदयाद् व्यभिचरतीति । 'साकारग्रहणम्' इत्येतदवधिकेवलदर्शनव्युदासार्थम् । [2]अनाकारं हि तदिति । किं [3]गतमेतदियता सूत्रेण, आहोस्विदेवं वक्तव्यमिति ? गतं प्रतिपन्नम् । कथमिति चेत् ? उच्यते–

अक्षं प्रति नियतमिति परापेक्षानिवृत्तिः ।२। 'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानाति' इति अक्ष आत्मा, प्राप्तक्षयोपशमः प्रक्षीणावरणो वा, तमेव प्रति नियतं प्रत्यक्षमिति विग्रहात् परापेक्षानिवृत्तिः कृता भवति ।

अधिकारात् अनाकारव्यभिचारव्युदासः ।३। अधिकृतमेतत्–'ज्ञानं सम्यक्' इति च, ततोऽनाकारस्य दर्शनस्य व्यभिचारिणो ज्ञानस्य च व्युदासः कृतो भवति ।

करणात्यये ग्रहणाभाव इति चेत्; न; दृष्टत्वात् ईशवत् ।४। स्यादेतत्–करणात्यये अर्थस्य ग्रहणं न प्राप्नोति, न ह्यकरणस्य [4]कस्यचित् ज्ञानं दृष्टमिति; तन्न; किं कारणम् ? दृष्टत्वात् । कथम् ? ईशवत् । यथा रथस्य कर्ता [5]अनीशः उपकरणापेक्षो रथं करोति, स तदभावे न शक्तः, यः पुनरीशः तपोविशेषात् परिप्राप्तर्द्धिविशेषः स बाह्योपकरणगुणानपेक्षः स्वशक्त्यैव रथं निर्वर्तयन् प्रतीतः, तथा कर्ममलीमस आत्मा क्षायोपशमिकेन्द्रियानिन्द्रियप्रकाशाद्युपकरणापेक्षोऽर्थान् संवेत्ति, स एव पुनः क्षयोपशमविशेषे क्षये च सति करणानपेक्षः स्वशक्त्यैवार्थान् वेत्ति इति को विरोधः ?

ज्ञानदर्शनस्वभावत्वाच्च भास्करादिवत् ।५। यथा भास्करादयः प्रकाशस्वभावत्वात् प्रकाशान्तरानपेक्षाः प्रकाश्यानर्थान् प्रकाशयन्ति, तथा ज्ञानदर्शनस्वभाव आत्मा तदावरणक्षयक्षयोपशमविशेषे सति स्वशक्त्यैवार्थानाविष्करोतीति सिद्धम् ।

[6]**'इन्द्रियनिमित्तं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, तद्विपरीतं परोक्षम्' इत्यविसंवादिलक्षणमिति चेत्; न; आप्तस्य प्रत्यक्षाभावप्रसङ्गात् ।६।** स्यान्मतम्–'इन्द्रियव्यापारजनितं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, व्यतीतेन्द्रियविषयव्यापारं परोक्षम्' इत्येतदविसंवादि लक्षणम् । तथा चोक्तम्–

***[7]"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं [8]नामजात्यादियोजना[9] ।
असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद् व्यपदिश्यते ।।"** [प्रमाणसमु० १। ३, ४]

***"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम[10]व्यपदेश्यमव्यभिचारि [11]व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्"** [न्यायसू० १।१।४] ***"आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत्"** [वैशे० ३।१।१८]

१ भेदग्रहणमाकारः । भेद इत्यर्थः । २ किंस्विदिति भासमानम् । ३ ज्ञातम् । ४ कस्यापि मु० । ५ असमर्थः । ६ अथ बौद्धः प्रत्यवतिष्ठते । ७ "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्यादियोजना । असाधारणहेतुत्वाद् व्यपदेश्यं तदिन्द्रियैः ॥" –प्रमाणसमु० । ८ कल्पना केत्यत्राह । ९ आदिशब्देन क्रियागुणद्रव्याणि गृह्यन्ते । तथा चोक्तम्–जातिः क्रिया गुणो द्रव्यं संज्ञा पञ्चैव कल्पना । अश्वो याति सितो घण्टी कत्तलाख्यो यथाक्रमम् । १० शब्दरहितम् । ११ निश्चयरूपम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

***"श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्[1] ।"** [ ] ***[2]"सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्"** [मी० द० १।१।४][3] इति च सर्वैरभ्युपगम्यते। अत एव तल्लक्षणमविसंवादि निश्चेतव्यमिति; तन्न; किं कारणम्? आप्तस्य प्रत्यक्षाभावप्रसङ्गात्। यदीन्द्रियनिमित्तमेव ज्ञानं प्रत्यक्षमिष्यते; एवं सत्याप्तस्य प्रत्यक्षज्ञानं न स्यात्। नहि तस्येन्द्रियपूर्वोऽर्थाधिगमः। अथ तस्यापि करणपूर्वकमेव ज्ञानं कल्प्यते; तस्यासर्वज्ञत्वं पुरस्तादुक्तम्।

आगमादिति चेत्; न; तस्य प्रत्यक्षज्ञानपूर्वकत्वात् ।७। स्यादेतत्–आगमादतीन्द्रियार्थाधिधिगमेऽव्याहतशक्तेः सर्वार्थविबोध इति; तन्न; किं कारणम्? तस्य प्रत्यक्षज्ञानपूर्वकत्वात्। आप्तेन हि क्षीणदोषेण प्रत्यक्षज्ञानेन प्रणीत आगमो भवति न सर्वः। यदि सर्वः स्यात्; अविशेषः स्यात्। स च नास्ति, इत्यागमस्य प्रामाण्याभावः।

अपौरुषेयादिति चेत्; न; तदसिद्धेः ।८। स्यादेतत्–अपौरुषेय आगमोऽस्ति अनादिनिधनोऽत्यन्तपरोक्षेष्वप्यर्थेष्वप्रतिहतगतिः, ततः [4]सर्वार्थाधिगम इति; तन्न; किं कारणम्? तदसिद्धेः। न च कश्चिदागमोऽपौरुषेयः सिद्धोऽस्ति, हिंसादिविधायिनः प्रामाण्यासिद्धेः।

अतीन्द्रियं योगिप्रत्यक्षमिति चेत्; न; अर्थाभावात् ।९। स्यान्मतम्–योगिनोऽतीन्द्रियप्रत्यक्षं ज्ञानमस्ति आगमविकल्पातीतम्, तेनासौ सर्वार्थान् प्रत्यक्षं वेत्ति। उक्तञ्च–***"योगिनां गुरु[5]निर्देशाद् व्यतिभिन्नार्थमात्रदृक्"**[6] [प्रमाणसमु० १।६] इति; तन्न; किं कारणम्? अर्थाभावात्। 'अक्षमक्षं प्रति वर्तते' इति प्रत्यक्षम्। न चायमर्थो योगिनि विद्यते अक्षाभावात्।

अथवा, न सन्ति सर्वे भावाः स्वपरोभयहेत्वहेतुभ्य उत्पत्त्याद्यभावात्, [7]सामान्यविशेषयोश्चैकानेकयोर्वृत्त्यसंभवादिदोषोपपत्तेः, अतोऽर्थाभावान्निरालम्बनं योगिनो ज्ञानं कथं स्यात्? "[8]परिकल्पितात्मना न सन्ति भावा निर्विकल्पात्मना सन्ति' इति चायुक्तम्; तदधिगमोपायाभावात्। न हि निर्विकल्पोऽर्थोऽस्ति, तद्विषयं ज्ञानं चेति प्रतिपादयितुं शक्यम्, लक्षणाभावात्।

तदभावाच्च ।१०। तस्य योगिनोऽभावाच्च। न हि कश्चित्त[9]त्परिकल्पितो योगी विद्यते, विशेषलक्षणविरहात्, सर्वविरहाच्च निर्वाणप्राप्तौ। [10]तन्नैतत्स्यात्–*"[11]**निर्वाणं द्विविधम्**–[12]सोप-

---

१ सांख्यमतम्। २ सम्यगर्थे च संशब्दो दुष्प्रयोगनिवारणः। प्रयोग इन्द्रियाणाञ्च व्यापारोऽर्थेषु कथ्यते ॥ –ता० टि०। मीमांसकभाट्टप्राभाकराणां मतम्। ३ इति वा तत्प्रत्यक्षमिति च स– आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ४ सर्वाधिगम इति श्र०। ५ –शाद्यति– आ०, ब०, द०, मु०। ६ इन्द्रियादिनिरपेक्षम्, आत्मेन्द्रियमनोनिरपेक्षदर्शनमित्यर्थः। "योगिनां गुरुनिर्देशादसंकीर्णार्थमात्रदृक्– ''आगमस्य सविकल्पकत्वं निर्देशशब्देनोक्तम्, तेन असंकीर्णं रहितमित्यर्थः। अनेन स्फुटाभत्वमपि श्रूयते। 'निर्विकल्पकं हि स्फुटाभत्वाव्यभिचरितम्। मात्रशब्दः आरोपितार्थव्यवच्छेदार्थम् अतः यत् शुद्धार्थविषयकमार्यसत्यदर्शनात्मकं तदेव प्रमाणम्।" –प्रमाणसमु० टी०।–सम्पा०। ७ एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावाद् बहूनि वा। भागित्वाद्वास्य नैकत्वं दोषो वृत्तेरनार्हते। ८ नामजात्यादि। ९ बौद्ध। १० तन्नैतत्स्यात् ता०, श्र०, मु०। ११ तुलना– "इह हि भगवता उषितब्रह्मचर्याणां तथागतशासनप्रतिपन्नानां धर्मानुधर्मप्रतिपत्तियुक्तानां पुद्गलानां द्विविधं निर्वाणमुपवर्णितं सोपधिशेषम्, निरुपधिशेषं च। तत्र निरवशेषस्याविद्यारागादिकस्य क्लेशगणस्य प्रहाणात् सोपधिशेषं निर्वाणमिष्यते। तत्रोपधीयतेऽस्मिन्नात्मस्नेह इत्युपधिः। उपधिशब्देनात्मप्रज्ञप्तिनिमित्ताः पञ्चोपादानस्कन्धा उच्यन्ते। शिष्यत इति शेषः। उपधिरेव शेषः उपधिशेषः। सह उपधिशेषेण वर्तते इति सोपधिशेषम्। किं तत्? निर्वाणम्। तच्च स्कन्धमात्रकमेव केवलं सत्कायदृष्ट्यादिक्लेशसंस्काररहितमवशिष्यते निहताशेषचौरगणग्राममात्रावस्थानसाधर्म्येण तत्सोपधिशेषं निर्वाणम्। यत्र तु निर्वाणे स्कन्धमात्रकमपि नास्ति तन्निरुपधिशेषं निर्वाणम्। निर्गत उपधिशेषोऽस्मिन्निति कृत्वा। निहताशेषचौरगणस्य ग्राममात्रस्यापि विनाशसाधर्म्येण।" –माध्यमिकवृ० पृ० ५१९। १२ सोपाधि– ता०, द०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धिविशेषं, निरुपधिविशेषं चेति। तत्र सोपधिविशेषे निर्वाणे बोद्धाऽस्ति" [ ] इति; तत्रापि यथा [1]बाह्यस्याभावः कल्प्यते[2] तथागतैः तथाभ्यन्तरस्यापीति बोद्धुरभाव एव।

[3]योगजधर्मानुग्रहादात्मा[4] करणविरहितोऽप्यवैतीति चेत्; न; तस्य निष्क्रियस्य नित्यस्य [4]सततत्क्रियावदनुग्रहविकाराभावात्।

[5]**तल्लक्षणानुपपत्तिश्च स्ववचनव्याघातात्** ।११। तस्य प्रत्यक्षस्योक्तं लक्षणमपि नोपपद्यते। कुतः ? स्ववचनव्याघातात्। 'आन्यापोहिकप्रतिविहितान्येव[6]' शेषप्रमाणलक्षणानि। ततस्तत्र नो नातितरां प्रतिविधानादरः, किन्तु तत्प्रमाणलक्षणगुणसंभावनातिरस्कारार्थं किञ्चिद्व्याप्रियामहे। यदुक्तम्-*"**कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्**" [प्रमाणसमु० १।३] इति। '[7]कल्पना हि जातिद्रव्यगुणक्रियापरिभाषाकृतो वाग्बुद्धिविकल्पः, ततोऽनापोपोढं कल्पोढम्। किं तत् सर्वथा कल्पनापोढम्, उताहो कथञ्चिदिति ? यदि सर्वथा; 'अस्ति प्रमाणं ज्ञानं कल्पनापोढम्' इत्येवमादि कल्पनाभ्योऽप्यपोढमिति अस्त्यादिवचनव्याघातः। अथ अस्त्यादिकल्पनाभ्योऽनपोढमिष्यते; 'सर्वथा कल्पनापोढम्' इति वचनव्याघातः। अथ कथञ्चित्कल्पनापोढम्; एकान्तवादत्यागात् पुनरपि स्ववचनव्याघात एव।

अथ मतम्-नास्माकमेकान्तः 'कल्पनापोढमेव' इति। किमर्थं तर्हि विशेषणम् ?परमतापेक्षं विशेषणम्। परमते हि नामजात्यादिभेदोपचारकल्पना प्रोक्ता, ततोऽपोढं न स्वविकल्पादिति। उक्तञ्च- *"**सवितर्कविचारा हि पञ्च विज्ञानधातवः**[8]।
निरूपणानुस्मरणविकल्पेनाविकल्पकाः ॥" [अभिध० १।३२] इति।

अत्रोच्यते-'आलम्बने अर्पणा वितर्कः, तत्रैवानुमर्शनं विचारः[10], तस्य नामादिभिः प्रकल्पना निरूपणम्, पूर्वानुभूतानुसारेण विकल्पनमनुस्मरणम्, इति। एते धर्माः क्षणमात्रावस्थानेष्वक्षविषयविज्ञानेषु[11]निरन्वयेषु[12]नोपपद्यन्ते युगपदुत्पत्तेरनवस्थानाच्च। अतो ग्राह्यग्रहणभावाभावश्च स्यात् सव्येतरगोविषाणवत्। क्रमवृत्तित्वे च तेषां स्वार्थभावप्रसङ्गश्चेति। सन्तानाद्यपेक्षया तदुपपत्तिरिति चेत्; न तत्, परीक्षाऽक्षमत्वात्। अतः सर्वस्मिन्नसति विकल्पे 'अयं[13] विकल्पोऽस्ति अयं [14]नास्ति' इति विज्ञानस्य विवेको नोपपद्यते। सर्वविकल्पविरहाच्च नास्तित्वमेवास्य स्यात्। अनुस्मरणाद्यभ्युपगमे च एकस्यानेकक्षणवर्तिनो वस्तुनोऽस्तित्वं सिद्धम्। अनुस्मरणादि हि स्वयमनुभूतस्यार्थस्य दृष्टम्, नाननुभूतस्य नान्यानुभूतस्येति।

तथा मानसमपि प्रत्यक्षं नोपपद्यते। अपि च, *"**षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः**" [अभिध० १।१७] इति-अतीतमसत् कथं विज्ञानस्य कारणं स्यात् ? अथ पूर्वोत्तरनाशोत्पत्त्योर्युगपद्वृत्तेः कार्यकारणभावः कल्प्यते; भिन्नसन्तानयोरपि विनश्यदुत्पद्यमानयोः कार्यकारणभावः स्यात्। एकसन्ताने शक्त्यनुगमाभ्युपगमे प्रतिज्ञाहानिश्च स्यात्।

---

१ वस्तुनः। २ -ते तैस्त- आ०, ब०, द०, मु०। ३ अथ लब्धावकाशा नैयायिकादयः प्रत्यवतिष्ठन्ते। ४ आत्मनः। ५ अथ नैयायिकमतं निराकृत्येदानीं प्रकृतमनुसन्दधन् बौद्धपरिकल्पितप्रत्यक्षं निराकरोति। ६ अन्यापोहेन युक्तः बौद्ध इत्यर्थः अन्यापोहो व्यावृत्तिः। ७ -वाशेष-मु०। नैयायिकादीनाम्। ८ "अथ कल्पना कीदृशी चेदाह- नामजात्यादियोजना। यदृच्छाशब्देषु नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते डित्थ इति। जातिशब्देषु जात्या गौरयमिति। गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति। क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति। द्रव्यशब्देषु द्रव्येण विषाणीति।" -प्र० स० टी० पृ० १२। -सम्पा०। ९ कारणानि। १० "वितर्कविचारौदार्यसूक्ष्मते- चित्तस्य औदार्यं वितर्कः, सूक्ष्मावस्था विचारः"- अभिध० टी० २।३२। ११ -यज्ञानेषु आ०। अक्षश्च विषयाश्च ज्ञानानि च तेषु। १२ त्रुटयद्रूपेषु।- १३ सवितर्कादि। १४ नामजात्यादिभेदोपचारकल्पना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपूर्वाधिगमलक्षणानुपपत्तिश्च सर्वस्य ज्ञानस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः ।१२। 'अपूर्वाधिगमलक्षणं प्रमाणम्' इत्येतच्च नोपपद्यते । कुतः ? सर्वस्य ज्ञानस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः । प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्, सर्वेण च ज्ञानेन प्रमीयते । यथा अन्धकारेऽवस्थितानां घटादीनामुत्पत्त्यनन्तरं प्रकाशकः प्रदीप उत्तरकालमपि न तं व्यपदेशं जहाति तदवस्थानकारणत्वात्, एवं ज्ञानमप्युत्पत्त्यनन्तरं घटादीनामवभासकं भूत्वा प्रमाणत्वमनुभूयोत्तरकालमपि न तं व्यपदेशं त्यजति तदर्थत्वात् । अथ मतम्–क्षणे क्षणेऽन्य एव प्रदीपोऽपूर्वमेव प्रकाशकत्वमवलम्बत इति; एवं सति ज्ञानमपि तादृगेवेति क्षणे क्षणेऽन्यत्वोपपत्तेरपूर्वाधिगमलक्षणमविशिष्टमिति[1]; [2]तत्र यदुक्तम्–*"**स्मृतीच्छाद्वेषादिवत् पूर्वाधिगतविषयत्वात् पुनः पुनरभिधानं ज्ञानं न प्रमाणम्**" [ ] इति, तद् व्याहन्यते ।

स्वसंवित्तिफलानुपपत्तिश्च अर्थान्तरत्वाभावात् ।१३। प्रमाणं लोके फलवदुपलब्धम् । अस्य च प्रमाणस्य केनचित् फलेन भवितव्यमिति । कश्चिदाह–द्व्याभासं हि ज्ञानमुत्पद्यते–[3]स्वाभासं विषयाभासं च । तस्योभयाभासस्य यत्संवेदनं तत्फलमिति; तन्नोपपद्यते; कुतः ? अर्थान्तरत्वाभावात् । लोके प्रमाणात् फलमर्थान्तरभूतमुपलभ्यते । तद्यथा–छेतृछेत्तव्यछेदनसन्निधाने द्वैधीभावः फलम्, न च तथा स्वसंवेदनमर्थान्तरभूतमस्ति । तस्मादस्य फलत्वं नोपपद्यते । सत्यम्, एवमेतत्, अतएव तस्मिन्नधिगमरूपे फले सव्यापारप्रतीततामु[4]पादाय प्रमाणोपचार इति;[5]

प्रमाणोपचारानुपपत्तिः मुख्याभावात् ।१४। सति मुख्ये लोके उपचारो दृश्यते, यथा सति सिंहे विशिष्टतिर्यग्गतिपञ्चेन्द्रियजातिनखदंष्ट्रासटाटोपभासुरकपिलनयनतारकाद्यवयवविशिष्टे अन्यत्र क्रौर्यशौर्यादिगुणसाधर्म्यात् सिंहोपचारः क्रियते । न च तथेह मुख्यं प्रमाणमस्ति, तदभावात् फले प्रमाणोपचारो न युज्यते ।

आकारभेदाद्भेद इति चेत्; न; एकान्तवादत्यागात् ।१५। स्यादेतत्–ग्राहकविषयाभाससंवित्तिशक्तित्रयाकारभेदात् प्रमाणप्रमेयफलकल्पनाभेद इति; तन्न; किं कारणम् ? एकान्तवादत्यागात् । 'एकमनेकाकारम्' इत्येतज्जैनेन्द्रं दर्शनम्, तत्कथमेकान्तवादे युज्यते ? यदि ह्येवमभ्युपगम्येत; द्रव्ये कोऽपरितोषः ; 'रूपाद्यनेकात्मकमेकं परमाणुद्रव्यम्, ज्ञानाद्यनेकात्मकमात्मद्रव्यम्' इति । अथ द्रव्यसिद्धिर्माभूदिति 'आकारा एव न ज्ञानम्' इति कल्प्यते; एवं सति कस्य ते आकारा इति तेषामप्यभावः स्यात् । किञ्च, तेषामाकाराणां यौगपद्येन वा उत्पत्तिः स्यात्, क्रमेण वा ? यदि यौगपद्येन; हेतुहेतुमद्भावो विरुध्यते । अथ क्रमेण; क्षणिकस्य विज्ञानस्याकाराणां कथं क्रमः ? यदि स्यात्; *"**अधिगमश्चात्र न भावान्तरम्**" [ ] इति व्याहन्यते । अपि च बाह्यस्य विज्ञेयस्याभावे अन्तरङ्गाकारत्रयकल्पनायां प्रमाणप्रमाणाभा[6]सविशेषो नोपपद्यते अन्तरङ्गाकाराभेदात् । 'असद्वस्तु यत्सदिति कल्पयति तत् प्रमाणाभासम्, असदेवेति यत्प्रतिपद्यते तत्प्रमाणम्' इत्यस्ति विशेष इति चेत्; '[7]प्रमेयद्वयव्यवस्थापितप्रमाणद्वयकल्पनाव्याघातः । स्वलक्षणविषयं हि प्रत्यक्षम्, सामान्यलक्षणविषयमनुमानम् । स्वलक्षणमसाधारणो धर्मः विकल्पातीतत्वात् 'इदं तत्' इत्यव्यपदेश्यः । तद्विपरीतं सामान्यलक्षणमिति । सर्वस्यासत्त्वे किं कृतोऽयं विशेषः ? असत्त्वं हि न स्वतो भिद्यते । संबन्धिभेदात् स्याद्भेदः–'घटस्यासत्त्वं पटस्यासत्त्वम्' इति; तेषां घटादीनां संबन्धिनामभावे तद्विशेषाभाव इति ।

---

१ अधिगमः प्रमाणमित्येव वक्तव्यम् । २ तथा सति । ३ स्वाकारम् । तुलना– "स्वसंवित्तिः फलं वात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः ।" –प्रमाणसमु० १।१०। ४ –तामुपधाय मु०, आ०, ब० । तुलना– "सव्यापारप्रतीतत्वात् प्रमाणं फलमेव तत् । प्रमाणत्वोपचारस्तु निर्व्यापारे न विद्यते ॥"–प्रमाणसमु० १।६। ६ प्रमाणाद्भेदः । ७ –णाभासौ नोपपद्येते –आ०, ब०, द०, मु० । ८ तुलना–"तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते ।"–प्रमाण वा० २।६०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्यान्मतम्–जात्यनिता नो रत्नवृष्टिः, दृष्टमेवाप्रतर्कितमुपस्थितम्, अत एव सर्वं विज्ञानाभिधानमयथार्थं परिकल्पितार्थत्वात्, निर्विकल्पार्थगोचरमात्मीयमेव विज्ञानं प्रमाणमिति। उक्तञ्च–

*"शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते[1]।
अनागमविकल्पा हि स्वयं विद्या प्रवर्तते ॥" [वाक्यप० २।२३५] इति।

एतच्चानुपपन्नम्; तदधिगमोपायाभावात्। उक्तञ्च–

*"प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते[2] न यत्र तल्लिङ्गगम्यं न तदर्थलिङ्गम्।
वाचो न वा तद्विषयेण योगः का तद्गतिः कष्टमशृण्वतां ते[3]॥" [युक्त्यनु०श्लो०२२]इति।

आहितोभयप्रकारस्य प्रमाणस्य आदिप्रकारविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह[4]–

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

इतिशब्दस्यानेकार्थसंभवे विवक्षावशादाद्यर्थसंप्रत्ययः ।१। इतिशब्दोऽनेकार्थः[5] संभवति। क्वचिद्धेतौ वर्तते–'हन्तीति पलायते, वर्षतीति धावति'। क्वचिदेवमित्यस्यार्थे वर्तते–इति स्म उपाध्यायः कथयति 'एवं स्म' इति गम्यते। क्वचित्प्रकारे वर्तते–यथा 'गौरश्वः[6] शुक्लो नीलः, चरति प्लवते, जिनदत्तो देवदत्तः' इति, 'एवं प्रकाराः' इत्यर्थः। क्वचिद्व्यवस्थायां वर्तते–यथा *"उवलितिकसंताण्णः" [जैने० २।१।११२] इति। क्वचिदर्थविपर्यासे वर्तते–यथा 'गौरित्ययमाह-गौरिति जानीते' इति। क्वचित्समाप्तौ वर्तते–'इति प्रथममाह्निकम्' इति 'द्वितीयमाह्निकम्' इति। क्वचिच्छब्दप्रादुर्भावे वर्तते–इति [7]श्रीदत्तम्, इति सिद्धसेनमिति। तत्रेह विवक्षावशादादिशब्दार्थो वेदितव्यः। मतिस्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधादयः इत्यर्थः। के पुनस्ते ? 'प्रतिभाबुद्ध्युपलब्ध्यादयः[8]'। प्रकारे वा, एवं प्रकाराः इति। कथमेषां शब्दानामनर्थान्तरत्वम् ?

मतिज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्तार्थोपलब्धिविषयत्वादनर्थान्तरत्वं रूढिवशात् ।२। एतेषां मत्यादीनां शब्दानां मतिज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्तायामर्थोपलब्धौ वृत्तेरनर्थान्तरत्वं वेदित-

---

१ –र्यैव प्रव– ता०। २ वर्तते, 'वृत्तिसर्गतायने क्रमः' (जैने० १।१।३४) इति वृत्त्यर्थे तङ्, वृत्तिरात्मयापनमतिप्रबन्धो वा, तत्र आत्मानं यापयति न प्रतिहन्यते वेत्यर्थः। नञा सह अत्र प्रतिहन्यते न वर्तत इति यावत्। ३ –मशृण्वतस्ते आ०, द०, ब०, मु०, ता०। तव मतम्। "यत्र संविदद्वैते तत्त्वे प्रत्यक्षबुद्धिर्न क्रमते न प्रवर्तते कस्यचित्तथा निश्चयानुत्पत्तेः। तल्लिङ्गगम्यं स्यात् स्वर्गप्रापणशक्त्यादिवत्। न च तत्रार्थरूपं लिङ्गं सम्भवति तत्स्वभावलिङ्गस्य तद्वत् प्रत्यक्षबुद्ध्यतिक्रान्तत्वात्, लिङ्गान्तरगम्यत्वेऽनवस्थानुषङ्गात्। तत्कार्यलिङ्गस्य वाऽसम्भवात्, सम्भवे वा द्वैतप्रसङ्गात्। न च वाचः परार्थानुमानरूपायास्तद्विषयेण संविदद्वैतरूपेण योगः, परम्परयाऽपि सम्बन्धायोगात्। ततः का तस्य तत्त्वस्य गतिः ? न काचित् प्रत्यक्षा लैङ्गिकी शाब्दी वा प्रतिपत्तिरस्तीति कष्टं दर्शनं ते तव शासनमशृण्वतां ताथागतानामिति ग्राह्यम्।"
–युक्त्यनु० टी० पृ० ४६।

४ उक्तञ्च– मत्यादिद्विविध बोधेषु स्मृत्यादीनामसंग्रहः। इत्याशङ्क्याह मत्यादिसूत्रं मत्यात्मसंविदे। इति। ५ हेतावेवंप्रकारादौ व्यवच्छेदे विपर्यये। प्रादुर्भावे समाप्तौ च इति शब्दः प्रकीर्तितः॥ इति धनञ्जयसूरिः। ६ जातिगुणक्रियाद्रव्य। इतिशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते गौरितीति। ७ शब्दप्रथेत्याविसर्गेण अव्ययीभावसमासः। शब्दप्रादुर्भावः प्रकर्षण ख्यातिः। श्रीदत्तादिशब्दो लोके सुष्ठु प्रथते इत्यर्थः। ८ तथा चोक्तम्– इतिशब्दात् प्रकारार्थात् बुद्धिर्मेधा च गृह्यते। प्रज्ञा च प्रतिभा भानं संभवोपमिती तथा॥ ९ प्रत्येकमिति शब्दस्य ततः सङ्गतिरिष्यते। समाप्तावि‌ति शब्दोऽयं सूत्रेस्मिन्न विरुध्यते॥ मतिरिति स्मृतिरिति संज्ञेति चिन्तेति अभिनिबोध इति प्रकारोऽनर्थान्तरमेव, मतिज्ञानमेकमिति विज्ञेयम्, मत्यादिभेदं मतिज्ञानमिति परिसमाप्तम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यम् । कथं पुनः 'मननं मन्यत इति वा मतिः' इत्येवमाद्यर्थविषयाणामेषामनर्थान्तरत्वम् इति ? अत आह–रूढिवशादिति । यथा गच्छतीति गौरित्यङ्गीकृतमपि गमनं न शब्दवृत्तिनियमकारणं रूढिवशात् क्वचिदेव वर्तते, तथा मत्यादयः शब्दा व्युत्पत्तिकर्मणि सत्यप्यर्थाश्रयेण भेदे क्वचिदेव वर्तन्त इत्यनर्थान्तरत्वमवसीयते ।

शब्दभेदादर्थभेदो गवाश्वादिवदिति चेत्; न; अतः संशयात् ।३। स्यादेतत्–मत्यादीनां शब्दानां परस्परतोऽर्थान्तरत्वमस्ति । कुतः ? शब्दभेदात्, गवाश्वादिवदिति; तन्न; किं कारणम्; अतः संशयात् । यत एव मत्यादीनां शब्दभेदादन्यत्वमाह भवान्, अत एव संशयः । कथम् ? इन्द्रादिवत् । यथा इन्द्रशक्रपुरन्दरादिशब्दभेदेऽपि नार्थभेदः तथा मत्यादिशब्दभेदेऽप्यर्थाभेद इति । न हि यत एव संशयस्तत एव [1]निर्णयः । किञ्च,

शब्दाभेदेऽप्यर्थैकत्वप्रसङ्गात् ।४। यस्य शब्दभेदोऽर्थभेदे हेतुरिति मतम्, तस्य वागादि[2]नवार्थेषु गोशब्दाभेददर्शनाद् वागाद्यर्थानामेकत्वमस्तु । अथ नैतदिष्टम्; न तर्हि शब्दभेदोऽन्यत्वस्य हेतुः । किञ्च,

आदेशवचनात् ।५। यथा इन्द्रादीनामेकद्रव्यपर्यायादेशात् स्यादेकत्वं प्रतिनियतपर्यायार्थादेशाच्च स्यादन्यत्वम्–इन्दनादिन्द्रः, शकनाच्छक्रः, पूर्दारणात्पुरन्दर इति । तथा मत्यादीनामेकद्रव्यपर्यायादेशात् स्यादेकत्वम्, प्रतिनियतार्थपर्यायादेशाच्च स्यान्नानात्वम्–'मननं मतिः स्मरणं स्मृतिः सञ्ज्ञानं संज्ञा चिन्तनं चिन्ता आभिमुख्येन नियतं बोधनमभिनिबोधः'[3] इति ।

पर्यायशब्दो लक्षणं नेति चेत्; न; ततोऽनन्यत्वात् ।६। स्यान्मतम्–मत्यादय [4]अभिनिबोधपर्यायशब्दा नाभिनिबोधस्य लक्षणम् । कथम् ? मनुष्यादिवत् । यथा मनुष्यमर्त्यमनुजमानवादयः पर्यायशब्दाः मनुष्यस्य लक्षणं न भवन्तीति; तन्न; किं कारणम् ? ततोऽनन्यत्वात् । इह पर्यायिणोऽनन्यः पर्यायशब्दः, स लक्षणम् । कथम् ? औष्ण्याग्निवत् । यथा पर्यायशब्दः औष्ण्यमग्नेः पर्यायिणोऽनन्यत्वादग्नेर्लक्षणं भवति तथा पर्यायशब्दा मत्यादय आभिनिबोधिकज्ञानपर्यायिणोऽनन्यत्वेन अभिनिबोधस्य लक्षणम् । अथवा, ततोऽनन्यत्वात् । यथा मनुष्यमर्त्यमनुजमानवादय असाधारणत्वादन्यघटादिद्रव्यासंभविनो[5] मनुष्यादनन्यत्वात्तस्य लक्षणम्, अन्यथा हि मनुष्यादिपर्यायालक्षणत्वात् मनुष्याभावो भवेत्, यतो न मनुष्यादिलक्षणव्यतिरेकेणास्यान्यल्लक्षणमस्तीति । न चाभाव इष्टः, अतः पर्यायशब्दो लक्षणम् । तथा मतिस्मृत्यादयोऽसाधारणत्वाद् अन्यज्ञानासंभविनोऽभिनिबोधादनन्यत्वात्तस्य लक्षणम् ।

इतश्च पर्यायशब्दो लक्षणम् । कस्मात् ?

गत्वा प्रत्यागतलक्षणग्रहणात् ।७। कथम् ? अग्न्युष्णवत् । यथा अग्निरिति गत्वा ज्ञात्वा बुद्धिरुष्णपर्यायशब्दं गच्छति । कथं गच्छति ? कोऽयमग्निः ? य उष्ण इति । उष्ण इति च गत्वा बुद्धिः प्रत्यागच्छति । कोऽयमुष्णः ? योऽग्निरिति । तथा मतिरिति गत्वा बुद्धिः स्मृतिं गच्छति । का मतिः ? या स्मृतिरिति । ततः स्मृतिरिति गत्वा बुद्धिः प्रत्यागच्छति । का स्मृतिः ? या मतिरिति । एवमुत्तरेष्वपि । तस्माद् गत्वा प्रत्यागतलक्षणग्रहणात् पश्यामः 'पर्यायशब्दो लक्षणम्' इति । किञ्च,

---

१ निश्चयः आ०, ब०, मु० । २ गौः स्वर्गे वृषभे रश्मौ वज्रे चन्द्रमसि स्मृतः । अर्जुने नेत्रदिग्बाणे भूवाग्वारिषु गौर्मता ।। इति विश्वप्रकाशिका । ३ –बोधनः ता०, श्र० । ४ मतिज्ञानमित्यर्थः । 'अभिमुखनियमितबोधनमाभिनिबोधनमनिन्द्रियेन्द्रियजम्' इत्युक्तत्वात् –ता० टि० । ५ –संबंधिनो आ०, ब०, मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्यायद्वैविध्यादग्निवत् ।८। यथा अग्नेरात्मभूत उष्णपर्यायो लक्षणं न धूमः, तस्य बाह्येन्धननिमित्तत्वे कादाचित्कत्वात्, तथा आभ्यन्तरो मत्यादिपर्याय आत्मभूतत्वाल्लक्षणं नाऽनात्मभूतो बाह्यो मत्यादिशब्दः पुद्गलः तत्प्रत्यायनसमर्थः, तस्य बाह्यकरणप्रयोगनिमित्तत्वात् ।

इति करणस्य वाऽभिधेयार्थत्वात् ।९। अथवा इतिकरणोऽयम् अभिधेयार्थः प्रयुज्यते । मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ता अभिनिबोध इति योऽर्थोऽभिधीयते तन्मतिज्ञानमिति । ततो लक्षणत्वमुपपद्यते ।

श्रुतादीनामेतैरनभिधानात् ।१०। न ह्येतैर्मत्यादिभिः श्रुतादीन्यभिधीयन्ते ।

वक्ष्यमाणलक्षणसद्भावाच्च ।११। श्रुतादीनां हि लक्षणं वक्ष्यते । ततः तेषां मत्यप्रसङ्गः ।

[1]यद्येवंलक्षणं मतिज्ञानमवध्रियते अथास्यात्मलाभे किन्निमित्तमिति ? अत आह—

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥१४॥

अथवा, आत्मप्रसादाविशेषात् सर्वज्ञानानामेकत्वप्रसङ्गे निमित्तभेदान्नानात्वं प्रतिपिपादयिषन्[2] ब्रवीति–सत्यपि अमुष्मिन्नविशेषे पृथक्त्वमेषामवेमः । कुतः ? यस्मात्तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमिति । किमिदमिन्द्रियं नाम ?

इन्द्रस्यात्मनोऽर्थोपलब्धिलिङ्गमिन्द्रियम् ।१। इन्द्र आत्मा, तस्य कर्ममलीमसस्य स्वयमर्थान् ग्रहीतुमसमर्थस्याऽर्थोपलम्भने यल्लिङ्गं तदिन्द्रियमित्युच्यते ।

अथ किमिदमनिन्द्रियम् ?

अनिन्द्रियं मनोऽनुदरावत् ।२। मनोऽन्तःकरणमनिन्द्रियमित्युच्यते । कथमिन्द्रियप्रतिषेधेन मन उच्यते ? यथा 'अयमब्राह्मणः' इत्युक्ते ब्राह्मणत्वरहिते कस्मिंश्चित् संप्रत्ययो भवति, तथा इन्द्रलिङ्गविरहिते अन्यस्मिन् अनिन्द्रियमिति संप्रत्ययः स्यात्, न तु इन्द्रलिङ्ग एव मनसि; नैष दोषः; ईषत्प्रतिषेधात् । कथम् ? अनुदरावत् । यथा 'अनुदरा कन्या' इति नास्या उदरं न विद्यते, किन्तु गर्भभारोद्वहनसमर्थोदराभावादनुदरा, तथा अनिन्द्रियमिति नास्येन्द्रियत्वाभावः, किन्तु चक्षुरादिवत् प्रतिनियतदेशविषयावस्थानाभावात् अनिन्द्रियं मन इत्युच्यते ।

अन्तरङ्गं तत्करणम्, इन्द्रियानपेक्षत्वात् ।३। नास्येन्द्रियेष्वपेक्षास्तीति इन्द्रियानपेक्षम् । न ह्यस्य गुणदोषविचारस्वविषयप्रवृत्तौ इन्द्रियापेक्षास्ति ततोऽन्तरङ्गं तत्करणमिति वेदितव्यम् । तदुभयमवष्टभ्य यदुत्पद्यते तन्मतिज्ञानमिति ।

तदित्यग्रहणम्, अनन्तरत्वादिति चेत्; न; उत्तरार्थत्वात् ।४। स्यादेतत्–मतिज्ञानस्यानन्तरत्वादनेनाभिसंबन्धो भवतीति तदित्येतद्ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? उत्तरार्थत्वात् । उत्तरार्थं [3]हि तत् । इतरथा हि अवग्रहेहावायधारणा मतिज्ञानभेदा इति विज्ञातुमशक्याः । तद्ग्रहणे पुनः क्रियमाणे तन्मतिज्ञानमवग्रहादय इति संबन्धः सुगमो भवति ।

यदेतस्मिन्निमित्तद्वयसन्निधाने सत्यात्मलाभं प्रत्यागूर्णमनिर्वर्णितभेदमिति तद्भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह–

---

१ यदेवं ता० । २ –यिष्यन् आ०, ब०, मु० । ३ ह्येतत् आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवग्रहेहावायधारणाः ॥१५॥

विषयविषयिसन्निपातसमनन्तरमाद्यं[1] ग्रहणमवग्रहः ।१। विषयविषयिसन्निपाते दर्शनं भवति, तदनन्तरमर्थस्य ग्रहणमवग्रहः ।

अवगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकाङ्क्षणमीहा ।२। यथा 'पुरुषः' इत्यवगृहीते तस्य भाषावयोरूपादिविशेषैराकाङ्क्षणमीहा ।

विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः ।३। भाषादिविशेषनिर्ज्ञानात्तस्य याथात्म्येनावगमनमवायः । 'दाक्षिणात्योऽयम्, युवा, गौरः' इति वा ।

[2]**निर्णीतार्थाऽविस्मृतिर्धारणा ।४।** भाषावयोरूपादिविशेषैर्याथात्म्येन निर्णीतस्य पुरुषस्योत्तरकालम्[3] 'स एवायम्' इत्यविस्मरणं यतो भवति सा धारणा । त एते मतिज्ञानभेदाः ।

अत्राह–इदमानुपूर्व्यं किं कृतमेषाम् ? उच्यते–

अवग्रहादीनामानुपूर्व्यमुत्पत्ति[4]क्रमापेक्षम् ।५। अवग्रहपूर्वकत्वात् इतरेषाम् आदाववग्रहः क्रियते । [5]तथेतरेष्वपि योज्यम् । अत्राह–

अवग्रहेहयोरप्रामाण्यं तत्सद्भावेऽपि संशयदर्शनाच्चक्षुर्वत् ।६। यथा चक्षुषि न निर्णयः, सत्येव तस्मिन् 'किमयं स्थाणुराहोस्वित् पुरुषः' इति संशयदर्शनात्, तथा अवग्रहेऽपि सति न निर्णय ईहादर्शनात्, ईहायां च न निर्णयः, यतो निर्णयार्थमीहा नत्वीहैव निर्णयः । यश्च निर्णयो न भवति स संशयजातीय इत्यप्रामाण्यमनयोरिति ।

अवग्रहवचनादिति चेत्; न; संशयानतिवृत्तेरालोचनवत् ।७। स्यादेतत्–नावग्रहः संशयः । कुतः ?[6] अवग्रहवचनात् । यत उक्तः 'पुरुषोऽयम्' इति अवग्रहः, 'तस्य भाषावयोरूपादिविशेषाकाङ्क्षणमीहा' इति । संशयस्तु अप्रतिपत्तिरेवेति; तन्न; किं कारणम् ? संशयानतिवृत्तेः । कथम् ? आलोचनवत् । यथा ऊर्ध्वार्थालोचने 'किमयमूर्ध्वोऽर्थः स्थाणुः, उत पुरुषः' इति संशयानतिवृत्तिः तथा 'ऊर्ध्वोऽयमर्थः' इत्यवग्रहे ईहाद्यपेक्षत्वात् संशयानतिवृत्तिः । उच्यते–

लक्षणभेदादन्यत्वमग्निजलवत् ।८। यथा अग्निजलयोः दहनप्रकाशनादि–द्रवतास्नेहनादिप्रतिनियतलक्षणभेदात् अन्यत्वं तथा अवग्रहसंशययोर्लक्षणभेदादन्यत्वम् । कोऽसौ लक्षणभेदः ? उच्यते–

अनेकार्थाऽनिश्चिताऽपर्युदासात्मकः संशयः तद्विपरीतोऽवग्रहः ।९। स्थाणुपुरुषाद्यनेकार्थालम्बनसन्निधानादनेकार्थात्मकः संशयः, एकपुरुषाद्यन्यतमात्मकोऽवग्रहः । स्थाणुपुरुषानेकधर्मानिश्चितात्मकः संशयः, यतो न स्थाणुधर्मान् पुरुषधर्मांश्च निश्चिनोति, अवग्रहस्तु पुरुषाद्यन्यतमैकधर्मनिश्चयात्मकः । स्थाणुपुरुषानेकधर्माऽपर्युदासात्मकः संशयः, यतो न प्रतिनियतान् स्थाणुपुरुषधर्मान् पर्युदस्यति संशयः, अवग्रहः पुनः पर्युदासात्मकः, स ह्यन्यान् [7]ध्रुवादीन् पर्यायान् पर्युदस्य 'पुरुष' इत्येकपर्यायालम्बनः ।

संशयतुल्यत्वमपर्युदासादिति चेत्; न; निर्णय[8]विरोधात् संशयस्य ।१०। स्यादेतत्–संशयतुल्योऽवग्रहः । कुतः ? अपर्युदासात् । यथा संशयः स्थाणुपुरुषविशेषापर्युदासात्मकः तथा अवग्रहोऽपि 'पुरुषः' इति भाषावयोरूपाद्यपर्युदासात्मकः । अतश्चैतदेवं यदुत्तरकालं तद्विशेषार्थमीहामारभत इति; तन्न ; किं कारणम् ? निर्णयविरोधात् संशयस्य । संशयो हि निर्णयविरोधी नत्ववग्रहः निर्णयदर्शनात् ।

---

१ –माद्यग्र– आ०, ब०, मु० । २ निर्ज्ञातार्था– मु० । ३ –काले भा० २ । ४ –त्तिक्रियापे– मु० । ५ तयोत्तरे– मु० । ६ प्रतिपत्ति । ७ –न् भावादीन् मु० । –न् भवादीन् आ०, ब०, द०, ता०, भा० २ । स्थाणुरस्त्री ध्रुवः शङ्कुः । स्थाण्वादीनित्यर्थः । ८ –यनिरो– मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ईहायां तत्प्रसङ्ग इति चेत्; न; अर्थादानात् ।११। स्यादेतत्–यदि निर्णयाविरोध्यवग्रह इति न संशयः, ननु ईहाया निर्णयविरोधिनीत्वात् संशयत्वप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम् ? अर्थादानात्। अवगृह्यार्थं तद्विशेषोपलब्ध्यर्थमर्थादानमीहा। संशयः पुनरनर्थविशेषालम्बनः।

संशयपूर्वकत्वाच्च ।१२। संशयो हि पूर्वमुपजायते ईहायाः । कथम् ? इह पुरुषमवगृह्य 'किमयं दाक्षिणात्य उत औदीच्यः' इत्येवमाद्यप्रतिपत्तौ संशयः, एवंसंशयितस्योत्तरकालं विशेषोपलिप्सां प्रति यतनमीहेति संशयादर्थान्तरत्वम् ।

अत एव संशयावचनम् अर्थगृहीतेः ।१३। अत एव सूत्रे संशयो नोक्तः । कुतः ? अर्थगृहीतेः । सति[1] हि संशये ईहायाः प्रवृत्तिर्नाऽसतीति ।

आह–किमयम् अपाय उत अवाय इति ? उभयथा न दोषः । अन्यतरवचनेऽन्यतरस्यार्थगृहीतत्वात् । यदा 'न दाक्षिणात्योऽयम्' इत्यपायं त्यागं करोति तदा 'औदीच्यः' इत्यवायोऽधिगमोऽर्थगृहीतः । यदा च 'औदीच्यः' इत्यवायं करोति तदा 'न दाक्षिणात्योऽयम्' इत्यपायोऽर्थगृहीतः ।

कश्चिदाह–यदुक्तं भवता विषयविषयिसन्निपाते दर्शनं भवति, तदनन्तरमवग्रह इति; तदयुक्तम्; अवैलक्षण्यात् । न ह्यवग्रहाद्विलक्षणं दर्शनमस्तीति । अत्रोच्यते–न; वैलक्षण्यात् । कथम्? इह चक्षुषा चक्षुर्दर्शना[2]वरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामावष्टम्भाद् अविभावितविशेषसामर्थ्येन 'किञ्चिदेतद्वस्तु' इत्यालोकनमनाकारं दर्शनमित्युच्यते बालवत् । यथा जातमात्रस्य बालस्य प्राथमिक उन्मेषोऽसौ अविभावितरूपद्रव्यविशेषालोचनाद्दर्शनं विवक्षितं तथा सर्वेषाम् । ततो [3]द्वित्रादिसमयभाविषून्मेषेषु चक्षुरवग्रहमतिज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामावष्टम्भाद् 'रूपमिदम्' इति विभावितविशेषोऽवग्रहः । यत् प्रथमसमयोन्मेषितस्य बालस्य दर्शनं तद् यदि अवग्रहजातीयत्वात् ज्ञानमिष्टम्; तन्मिथ्याज्ञानं वा स्यात्, सम्यग्ज्ञानं वा ? मिथ्याज्ञानत्वेऽपि संशयवि[4]पर्ययानध्यवसायात्मकं [वा] स्यात् ? तत्र न तावत् संशयविपर्ययात्मकं[5] वाञ्चेष्टि; तस्य[6] [7]सम्यग्ज्ञानपूर्वकत्वात् । प्राथमिकत्वाच्च तन्नास्तीति । न वाऽनध्यवसायरूपम्; जात्यन्धबधिररूपशब्दवत् वस्तुमात्रप्रतिपत्तेः । न सम्यग्ज्ञानम्; अर्थाकारावलम्बनाभावात् । किञ्च,

कारणनानात्वात् कार्यनानात्वसिद्धेः । यथा मृत्तन्तुकारणभेदात् घटपटकार्यभेदः तथा दर्शनज्ञानावरणक्षयोपशमकारणभेदात् तत्कार्यदर्शनज्ञानभेद इति । अस्ति प्राक् अवग्रहाद्दर्शनम् । ततः शुक्लकृष्णादिरूपविज्ञानसामर्थ्योपेतस्यात्मनः 'किं शुक्लमुत कृष्णम्' इत्यादिविशेषाप्रतिपत्तेः संशयः । ततः शुक्लविशेषाकाङ्क्षणं प्रतीहनमीहा । ततः 'शुक्लमेवेदं न कृष्णम्' इत्यवायनमवायः । [8]अवेतस्यार्थस्याविस्मरणं धारणा । एवं श्रोत्रादिषु मनस्यपि योज्यम् । तदावरणकर्मक्षयोपशमविकल्पात् प्रत्येकमवग्रहादिज्ञानावरणभेद इष्यते । कथम् ? ज्ञानावरणमूलप्रकृतेः पञ्चोत्तरप्रकृतयः, तासामप्युत्तरोत्तराः प्रकृतिविशेषाः सन्ति । [9]**"ज्ञानावरणस्योत्तरोत्तरप्रकृतयः 'असंख्येया लोकाः"** [ ] इति वचनात् ।

---

१ सति संशये ईहायाः प्रवृत्तिर्नास्तीति द०, मु० । असति सं– आ०, ब० । २ –वरणीयवी– आ०, ब०, मु० । ३ सुज्वेत्यादिना समासः । ४ –पर्यासानध्य– ता० । ५ वाचेष्टितस्य मु०, आ०, ब०, द० । बालेऽस्ति तस्य मु० । लुङ चेष्टितम्– ता० टि० । न तावत् संशयविपर्ययात्मकं वा बालेन अचेष्टि चेष्टितमित्यर्थः । ६ संशयविपर्ययात्मकस्य । ७ समीचीन । ८ निश्चितस्य । ९ नाना-जीवापेक्षया । असंख्येयलोकाः मु० ।

आह–ईहादीनाममतिज्ञानप्रसङ्गः । कुतः ? परस्परकार्यत्वात् । अवग्रहः कारणम् ईहा कार्यम्, ईहा कारणम् अवायः कार्यम्, अवायः कारणं धारणा कार्यम् । न चेहादीनाम् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वमस्तीति; नैष दोषः; ईहादीनाम् अनिन्द्रियनिमित्तत्वात् मतिज्ञानव्यपदेशः । यद्येवं श्रुतस्यापि प्राप्नोति; इन्द्रियगृहीतविषयत्वादीहादीनाम् अनिन्द्रियनिमित्तत्वमभ्युपचर्यते, न तु श्रुतस्यायं विधिरस्ति तस्यानिन्द्रियविषयत्वादिति श्रुतस्याप्रसङ्गः । यद्येवं चक्षुरिन्द्रियेहादिव्यपदेशाभाव इति चेत्; न; इन्द्रियशक्तिपरिणतस्य जीवस्य भावेन्द्रियत्वे तद्व्यापारकार्यत्वात् । इन्द्रियभावपरिणतो हि जीवो भावेन्द्रियमिष्यते, तस्य विषयाकारपरिणामा ईहादय इति चक्षुरिन्द्रियेहादिव्यपदेश इति ।

य इमे अवग्रहादयो **मतिज्ञानप्रभेदा** उक्तास्ते ज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्ताः[1] केषां भवन्तीति ? उच्यते–

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥१६॥

संख्यावैपुल्यवाचिनो बहुशब्दस्य ग्रहणमविशेषात् ।१। बहुशब्दो हि संख्यावाची वैपुल्यवाची च, तस्योभयस्यापि ग्रहणम् । कस्मात् ? अविशेषात् । संख्यायाम् 'एको द्वौ बहवः' इति, वैपुल्ये 'बहुरोदनो बहुः सूपः' इति ।

बह्ववग्रहाद्यभावः प्रत्यर्थवशवर्तित्वादिति चेत्; न; सर्वदैकप्रत्ययप्रसङ्गात् ।२। स्यादेतत्–प्रत्यर्थवशवर्ति विज्ञानं नानेकमर्थं ग्रहीतुमलम्, अतो बह्ववग्रहादीनामभाव इति; तन्न; किं कारणम् ? सर्वदैकप्रत्ययप्रसङ्गात् । यथा [2]इरिणाटव्यां कश्चिदेकमेव पुरुषमवलोकयन् नानेक इत्यवैति, मिथ्याज्ञानमन्यथा स्यात् एकत्र अनेकबुद्धिर्यदि भवेत्, तथा नगरवनस्कन्धावारावगाहिनोऽपि तस्यैकप्रत्ययः स्यात् सार्वकालिकः । अतश्चानेकार्थग्राहिविज्ञानस्यात्यन्तासंभवात् नगरवनस्कन्धावारप्रत्ययनिवृत्तिः । नैताः संज्ञा ह्येकार्थनिवेशिन्यः, तस्माल्लोकसंव्यवहारनिवृत्तिः । किञ्च,

[3]**नानार्थप्रत्ययाभावात् ।३।** यस्यैकार्थमेव नियमाज्ज्ञानं तस्य पूर्वज्ञाननिवृत्तावुत्तरज्ञानोत्पत्तिः स्यात्, अनिवृत्तौ वा ? उभयथा च दोषः । यदि पूर्वमुत्तरज्ञानोत्पत्तिकालेऽस्ति; यदुक्तम् ***"एकार्थमेकमनस्त्वात्"** [ ] इत्यदो विरुध्यते । यथैकं मनोऽनेकप्रत्ययारम्भकं तथैकप्रत्ययोऽनेकार्थो भविष्यति, अनेकस्य प्रत्ययस्यैककालसंभवात् । [4]नन्वनेकार्थोपलब्धिरुपपत्स्यते; तत्र [5]यदभिमतम्'–***"एकमेव एकस्य ज्ञानमेकं चार्थमुपलभते"** [ ] इत्यमुष्य व्याघातः । अथ [6]पुनर्विनिवृत्ते पूर्वस्मिन्नुत्तरज्ञानोत्पत्तिः प्रतिज्ञायते; ननु सर्वथैकार्थमेकमेव ज्ञानमिति, अतः 'इदमस्मादन्यत्' इत्येष व्यवहारो न स्यात् । अस्ति च सः, तस्मान्न किञ्चिदेतत् । किञ्च,

आपेक्षिकसंव्यवहार[7]विनिवृत्तेः ।४। यस्यैकज्ञानमनेकार्थविषयं न विद्यते; तस्य [8]मध्यमाप्रदेशिन्योर्युगपदनुपलम्भात् तद्विषयदीर्घह्रस्वव्यवहारो विनिवर्तेत । आपेक्षिको ह्यसौ, न चापेक्षास्ति । किञ्च,

संशयाभावप्रसङ्गात् ।५। एकार्थविषयवर्तिनि विज्ञाने, स्थाणौ पुरुषे वा प्राक्प्रत्ययजन्म स्यात्, नोभयोः प्रतिज्ञातविरोधात् । यदि स्थाणौ; पुरुषाभावात् स्थाणुवन्ध्यापुत्रवत्

१ –त्ताः पुनः के –ता० । २ शून्याटव्याम् । संकीर्णों निचिताशुद्धाविरिणं शून्यमूषरमित्यमरः । यथारण्याटव्याम्– श्रा०, द०, ब०, मु० । ३ नानात्वप्रत्य– श्र०, ब०, द० मु०, मू० । ४ नत्वनेका– मु० । नत्वेका – ब० । ५ यदभिमतमेवैकस्य श्रा०, द०, ब०, मु० । ६ पुनर्निवृ– श्रा०, द०, ब०, मु० । ७ –र नि– श्रा०, द०, ब०, मु० । ८ मध्यमाङ्गुल्योः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संशयाभावः स्यात् । अथ पुरुषे; तथा स्थाणुद्रव्यानपेक्षत्वात् संशयो न स्यात्, तत्पूर्ववत् । नत्वभाव[1] इष्टः, अतो नैकार्थग्राहिविज्ञानकल्पना श्रेयसीति । किञ्च,

ईप्सितनिष्पत्त्यनियमात् ।६। विज्ञानस्यैकार्थावलम्बित्वे चित्रकर्मणि निष्णातस्य चैत्रस्य पूर्णकलशमालिखतः[2] तत्क्रियाकलशतत्प्रकारग्रहणविज्ञानभेदात् इतरेतरविषयसंक्रमाभावात् अनेकविज्ञानोत्पादनिरोध[3]क्रमे सति अनियमेन निष्पत्तिः स्यात् । दृष्टा तु सा नियमेन । सा चैकार्थग्राहिणि विज्ञाने विरुध्यते । तस्मान्नानार्थोऽपि प्रत्ययोऽभ्युपेयः ।

द्वित्र्यादिप्रत्ययाभावाच्च ।७। एकार्थविषय[4]वर्तिनि विज्ञाने 'द्वाविमौ इमे त्रयः' इत्यादि प्रत्ययस्याभावः, यतो नैकं विज्ञानं द्वित्राद्यर्थानां ग्राहकमस्ति ।

सन्तानसंस्कारकल्पनायां च विकल्पानुपपत्तिः ।८। सन्ताने संस्कारे च कल्प्यमाने विकल्पयोरनुपपत्तिः[5] । स सन्तानः संस्कारश्च ज्ञानजातीयो वा स्यात्, अज्ञानजातीयो वा ? यद्यज्ञानजातीयः; न ततः किञ्चित् प्रयोजनमस्ति । ज्ञानजातीयत्वेऽपि एकार्थग्राहित्वं वा स्यात्, अनेकार्थग्राहित्वं वा ? यद्येकार्थग्राहित्वम्; दोषविधिस्तदवस्थः । अथानेकार्थग्राहित्वम्; प्रतिज्ञाहानिः प्रसज्यते ।

विधग्रहणं प्रकारार्थम् ।९। 'विधयुक्तगतप्रकाराः समानार्थाः' इति प्रकारार्थो विधशब्दः। बहुविधं बहुप्रकारमित्यर्थः ।

क्षिप्रग्रहणमचिरप्रतिपत्त्यर्थम् ।१०। 'अचिरप्रतिपत्तिः कथं स्यात्' इति क्षिप्रग्रहणं क्रियते ।

अनिःसृतग्रहणमसकलपुद्गलोद्गमार्थम् ।११। अनिःसृतग्रहणं क्रियते असकलपुद्गलोद्गमार्थम् ।

अनुक्तमभिप्रायेण प्रतिपत्तेः[6] ।१२। 'अभिप्रायेण प्रतिपत्तिरस्ति' इत्यनुक्तग्रहणं क्रियते ।

ध्रुवं यथार्थग्रहणात् ।१३। ध्रुवग्रहणं क्रियते 'यथार्थग्रहणमस्ति' इति ।

सेतरग्रहणाद्विपर्ययावरोधः[7] ।१४। 'अल्पमल्पविधं चिरं निःसृतमुक्तमध्रुवम्' इत्येतेषामवरोधो भवति सेतरग्रहणात् ।

अवग्रहादिसंबन्धात् कर्मनिर्देशः ।१५। 'बह्वादीनाम्' इति कर्मनिर्देशोऽवग्रहाद्यपेक्षो वेदितव्यः ।

बह्वादीनामादौ वचनं विशुद्धिप्रकर्षयोगात् ।१६। ज्ञानावरणक्षयोपशमविशुद्धिप्रकर्षयोगे सति बह्वादीनामवग्रहादयो भवन्ति इति तेषां ग्रहणमादौ क्रियते ।

ते च प्रत्येकमिन्द्रियानिन्द्रियेषु द्वादशविकल्पा नेयाः । तद्यथा–प्रकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामोपष्टम्भात् संभिन्नश्रोताऽन्यो वा युगपत्तत[8]वितत[9]घन[10]सुषिर[11]ादिशब्दश्रवणाद् बहुशब्दमवगृह्णाति । अल्पश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमपरिणाम आत्मा ततशब्दादीनामन्यतममल्पं शब्दमवगृह्णाति । प्रकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमादिसन्निधाने सति ततादिशब्दविकल्पस्य प्रत्येकमेकद्वित्रिचतुःसंख्येयासंख्येयानन्तगुणस्यावग्राहकत्वात् बहु-

---

१ संशयस्याभावः – ता० टि० । २ –तः क्रिया– ता०, मू० श्र० । –तः सत्क्रिया– द० । ३ नाश । ४ –विषयविज्ञाने ता० । ५ –त्तिः सन्ता– श्र० । ६ –पत्तिः श्र०, द० । –पत्त्यर्थं भा० १ । ७ अङ्गीकारः । ८ वीणादिवाद्य । ९ मुरजादि । १० तालादि । ११ वंशादि । ततं वीणादिकं वाद्यमानद्धं मुरजादिकम् । वंशादिकं तु सुषिरं कांस्यं तालादिकं घनम् ॥ इत्यमरः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विधमवगृह्णाति । अल्पविशुद्धिश्रोत्रेन्द्रियादिपरिणामकारण आत्मा ततादिशब्दानामेकविधावग्रहणात् एकविधमवगृह्णाति । प्रकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमादिपरिणामित्वात् क्षिप्रं शब्दमवगृह्णाति । अल्पश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमादिपारिणामिकत्वात् चिरेण शब्दमवगृह्णाति। [1]सुविशुद्धश्रोत्रादिपरिणामात् साकल्येनानुच्चारितस्य ग्रहणात् अनिःसृतमवगृह्णाति । निःसृतं प्रतीतम् । प्रकृष्टविशुद्धिश्रोत्रेन्द्रियादिपरिणामकारणत्वात् एकवर्णानिर्गमेऽपि[2] अभिप्रायेणैव अनुच्चारितं शब्दमवगृह्णाति 'इमं भवान् शब्दं वक्ष्यति' इति । अथवा, स्वरसंचारणात् प्राक् तन्त्रीद्रव्यातोद्यामर्शनेनैव अवादितम् अनुक्तमेव शब्दमभिप्रायेणावगृह्य आचष्टे-'भवानिमं शब्दं वादयिष्यति' इति । उक्तं प्रतीतम् । संक्लेशपरिणामनिरुत्सुकस्य यथानुरूपश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमादिपरिणामकारणावस्थितत्वात् यथा प्राथमिकं शब्दग्रहणं तथावस्थितमेव[3] शब्दमवगृह्णाति नोनं नाभ्यधिकम् । पौनःपुन्येन संक्लेशविशुद्धिपरिणामकारणापेक्षस्यात्मनो यथानुरूपपरिणामोपात्तश्रोत्रेन्द्रियसान्निध्येऽपि तदावरणस्येषदीषदाविर्भावात् पौनःपुनिकं प्रकृष्टावकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरणादिक्षयोपशमपरिणामत्वाच्च अध्रुवमवगृह्णाति शब्दम्-क्वचिद् बहु क्वचिदल्पं क्वचिद् बहुविधं क्वचिदेकविधं क्वचित् क्षिप्रं क्वचिच्चिरेण क्वचिदनिःसृतं क्वचिन्निसृतं क्वचिदुक्तं क्वचिदनुक्तम् ।

[4]अत्राह--बहुबहुविधयोः कः प्रतिविशेषो [5]यावतोभयत्रापि ततादिशब्दग्रहणमविशिष्टमस्ति ? उच्यते-न, [6]विशेषदर्शनात् । यथा कश्चित् बहूनि शास्त्राणि [7]मौलेन सामान्यार्थेनाविशेषितेन व्याचष्टे न तु बहुभिर्विशेषितार्थैः, कश्चिच्च तेषामेव बहूनां शास्त्राणां बहुभिरर्थैः परस्परातिशययुक्तैर्बहुविकल्पैर्व्याख्यानं करोति, तथा ततादिशब्दग्रहणाविशेषेऽपि यत्प्रत्येकं ततादिशब्दानाम् एकद्वित्रिचतुःसंख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तगुणपरिणतानां ग्रहणं तद् बहुविधग्रहणम्, यत्ततादीनां सामान्यग्रहणं तद् बहुग्रहणम् ।

आह-उक्तनिःसृतयोः कः प्रतिविशेषः, यतः सकलशब्दनिःसरणान्निःसृतम् उक्तमप्येवंविधमेव ? उच्यते-अन्योपदेशपूर्वकं शब्दग्रहणम् उक्तम् 'गोशब्दोऽयम्' इति । स्वत एव ग्रहणं निःसृतम् ।

[8]चक्षुषा तु विशुद्धचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमपरिणामकारणत्वात् शुक्लकृष्णरक्तनीलपीतरूपपर्यायं बहुमवगृह्णाति । अल्पं पूर्ववत् । प्रकृष्टविशुद्धिचक्षुरिन्द्रियादिक्षयोपशमपरिणामकारणत्वात् शुक्लादिपञ्चतयरूपगुणस्य प्रत्येकमेकद्वित्रिचतुःसंख्येयासंख्येयानन्तगुणपरिणामिनोऽवग्राहकत्वसामर्थ्याद् बहुविधं रूपमवगृह्णाति । एकविधं पूर्ववत् । क्षिप्रचिरयोरप्युक्त एव क्रमः । पञ्चवर्णवस्त्रकम्बलचित्रपटादीनां सकृदेकदेशविषयपञ्चवर्णग्रहणात् कृत्स्नपञ्चवर्णेष्वदृष्टेष्वनिःसृतेष्वपि तद्वर्णाविष्करणसामर्थ्याद् अनिःसृतमवगृह्णाति । अथवा, देशान्तरस्थपञ्चवर्णपरिणतैकवस्त्रादिकथनात् साकल्येनाऽकथितस्यापि एकदेशकथनेनैव तत्कृत्स्नपञ्चवर्णग्रहणाद् अनिःसृतम् । निःसृतं प्रतीतम् । [9]सुविशुद्धचक्षुरिन्द्रियादिक्षयोपशम आत्मा शुक्लकृष्णादिवर्णमिश्रीकरणदर्शनात् परेणाकथितमपि वर्णमभिप्रायेणैव प्रतिपद्यते-'भवानिमं वर्णमे-[10]तद्वर्णद्वयमिश्रणात् करिष्यति' इत्येवं ग्रहणादनुक्तं रूपमवगृह्णाति । अथवा, देशान्तरस्थपञ्च-

---

१ सुविशुद्धिश्रो- आ०, ब०, द०, मु० । २ -र्णनिर्ग- आ०, ब०, द०, मु० । ३ -मेव गु- श्र० । ४ आह आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ५ यस्मात् कारणात् । ६ एकप्रकारनानाप्रकारकृतविशेषदर्शनात् । ७ मौलेन आ०, ब०, द०, मु० । ८ चक्षुषा वि- श्र० । चक्षुषा स तु वि- ता० । ९ सुविशुद्धिचक्षु आ०, ब०, द०, मु० । १० -तद्वर्णमि- ।

वर्णैकद्रव्यकथने ताल्वादिकरणसंश्लेषात् प्राक् सकृदप्यकथितमेव द्रव्यमाचष्टे 'भवानेवंविधमस्माकं [1]पञ्चवर्णद्रव्यं व्याकरिष्यति' इत्यनुक्तं रूपमवगृह्णाति । परकीयाभिप्रायानपेक्षम् आत्मीयचक्षुरिन्द्रियपरिणामसामर्थ्यादेवोक्तं रूपमवगृह्णाति । संक्लेशपरिणामनिरुत्सुकस्य यथानुरूपचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमपरिणामकारणावस्थितत्वात् यथा प्राथमिकं रूपग्रहणं तथावस्थितमेव रूपमवगृह्णाति नोनं नाभ्यधिकम् । पौनःपुन्येन संक्लेशविशुद्धिपरिणाम[2]कारणापेक्षस्य आत्मनो यथानुरूपपरिणामोपात्तचक्षुरिन्द्रियसान्निध्येऽपि तदावरणस्येषदीषदाविर्भावात् पौनःपुनिकं प्रकृष्टावकृष्टचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमपरिणामकारणत्वाच्च अध्रुवमवगृह्णाति [3]रूपं क्वचिद् बहु क्वचिदल्पं क्वचिद् बहुविधं क्वचिदेकविधं क्वचित् क्षिप्रं क्वचिच्चिरेण क्वचिदनिःसृतं क्वचिन्निःसृतं क्वचिदनुक्तं क्वचिदुक्तम् । एवं घ्राणाद्यवग्रहेष्वपि योज्यम् । तथेहावायधारणा अपि बह्वादिभिः सेतरैरवसेयाः ।

कश्चिदाह—श्रोत्रघ्राणस्पर्शनरसनचतुष्टयस्य प्राप्यकारित्वात् अनिःसृतानुक्तशब्दाद्यवग्रहेहावायधारणा न युक्ता इति; उच्यते—

अप्राप्तत्वात् ।१७। कथम् ?

पिपीलिकादिवत् ।१८। यथा पिपीलिकादीनां घ्राणरसनदेशाप्राप्तेऽपि गुडादिद्रव्ये गन्धरसज्ञानम्, तच्च यैश्च यावद्भिश्चास्मदाद्यप्रत्यक्षसूक्ष्मगुडावयवैः पिपीलिकादिघ्राणरसनेन्द्रिययोः [4]परस्परानपेक्षा प्रवृत्तिस्ततो न दोषः ।

अस्मदादीनां तदभाव इति चेत्; न; श्रुतापेक्षत्वात् । १९ । यथा भूगृहसंवर्द्धितोत्थितस्य पुंसः चक्षुरादिभिरवभासितेष्वपि घटादिषु 'घटोऽयं रूपमिदम्' इत्यादि यद्विशेषपरिज्ञानं तत् श्रुतापेक्षं परोपदेशापेक्षत्वात्, तथा अस्मदादीनामप्यनिःसृतानुक्तमपि [5]ज्ञानविकल्पशब्दात्[6] यदवग्रहादिज्ञानं तत् श्रुतापेक्षम् । किञ्च,

[7]**लब्ध्यक्षरत्वात्** ।२०। श्रुतज्ञानप्रभेदरूपणायां लब्ध्यक्षरश्रुतकथनं षोढा प्रविभक्तम् । तद्यथा—**"चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनमनोलब्ध्यक्षरम्"** [ ] इत्यार्ष उपदेशः । अतः चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनेन्द्रियमनोलब्ध्यक्षरसान्निध्यात् एतत्सिध्यति अनिसृतानुक्तानामपि शब्दादीनां अवग्रहादिज्ञानम् ।

यद्यवग्रहादयो बह्वादीनां कर्मणामाक्षेप्तारो[8] बह्वादीनि पुनर्विशेषणानि कस्येति ? अत आह—

अर्थस्य ॥१७॥

चक्षुरादिविषयोऽर्थः, तस्य बह्वादिविशेषणविशिष्टस्य अवग्रहादयो भवन्ति ।

इयर्ति पर्यायैनर्यते वा तैरित्यर्थो द्रव्यम् ।१। प्रत्यात्म[9]संबन्धिनः पर्यायान् उभयनिमित्तवशादुत्पत्तिं प्रत्यागूर्णान् इयर्ति गच्छति, अर्यते गम्यते वा तैरित्यर्थः । कः पुनरसौ ? द्रव्यम् ।

किमर्थमिदमुच्यते—

---

१ पञ्चवर्णं व्यति- आ०, ब०, द०, मु० । पञ्चवर्णं व्या- ता० । २ –मापेक्ष- आ०, ब०, द०, मु० । ३ अत्राध्यध्रुवस्योदाहरणमाह । ४ परस्परापेक्षा प्रवृत्तिः मू० । परस्परापेक्षावृत्तिः आ०, ब०, द०, मु० । ५ भावश्रुत । ६ –ब्दाद्यव- आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ७ आत्मनोऽर्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः भावेन्द्रियम्, तद्रूपमक्षरं लब्ध्यक्षरम्, आत्मज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वात् । ८ सूचकाः । ९ स्वरूप ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थवचनं गुणग्रहणनिवृत्त्यर्थम् ।२। [1]केचित्–'रूपादयो गुणा एवेन्द्रियैः सन्निकृष्यन्ते ततस्तद्ग्रहणम्' इति मन्यन्ते; तन्मतनिवृत्त्यर्थम् 'अर्थस्य' इत्युच्यते[2]। न हि ते रूपादयो गुणा अमूर्ता इन्द्रियसन्निकर्षमापद्यन्ते इति। [3]तत्प्रचयविशेषे सति सन्निकर्षसंभव इति चेत्; न; गुणानां[4] प्रचयानुपपत्तेः[5]। सत्यपि वा प्रचये [6]अर्थान्तरप्रादुर्भावाभावात् सूक्ष्मावस्थानतिक्रमात् अग्रहणमेवैषां स्यात्। न तर्हीदानीमिदं भवति–'रूपं मया दृष्टं गन्धो वा घ्रातः' इति, भवति च; अर्थग्रहणात् तदव्यतिरेकात् तेषामपि ग्रहणोपपत्तेः।

तेषु सत्सु मतिज्ञानात्मलाभात् सप्तमीप्रसङ्गः ।३। यतो विषयेषु सत्सु मतिज्ञानमाविर्भवति अतः 'अर्थे' इति वाच्यम्।

न; अनेकान्तात् ।४। नायमेकान्तोऽस्ति–'सत्यर्थे मतिज्ञानं भवति' इति, यतः सत्यप्यर्थे अवनितलभवनसंभूतस्य कुमारस्योत्तीर्णमात्रस्य घटरूपादिमतिज्ञानाभावः। अथवा, नायमेकान्तोऽस्ति, अधिकरणस्य सत्त्वात् सप्तमीप्रसङ्ग इति। कस्मात्? तस्याविवक्षितत्वात्। विवक्षावशाद्धि कारकाणि भवन्ति।

क्रियाकारकसंबन्धस्य विवक्षितत्वात् ।५। अवग्रहादयः क्रियाविशेषा उक्ताः, तेषामवश्यं केनचित् कर्मणा भवितव्यमिति 'बह्वादिविकल्पस्यार्थस्य' इत्युच्यते।

बह्वादिसामानाधिकरण्याद् बहुत्वप्रसङ्गः ।६। यतो बह्वादिरेवार्थः नातोऽन्यः, ततो बह्वादिसामान्याधिकरण्यात् 'अर्थानाम्' इति बहुत्वं प्राप्नोति?

न वा, अनभिसम्बन्धात् ।७। न वैष दोषः। किं कारणम्? अनभिसंबन्धात्। न ह्यस्य [7]बह्वादिभिरभिसंबन्धः क्रियते। केन तर्हि? अवग्रहादिभिः। 'कस्य' इत्युक्ते 'अर्थस्य' [8]इत्यभिसम्बध्यते, तद्विशेषणं बह्वादिग्रहणम्।

सर्वस्य वाऽर्यमाणत्वात् ।८। अथवा, सर्वस्यार्यमाणस्यार्थत्वम्, अतो जातिप्रधानत्वान्निर्देशस्य 'अर्थस्य' इत्येकत्वनिर्देशो युक्तः।

प्रत्येकमभिसंबन्धाद्वा ।९। अथवा प्रत्येकमभिसंबन्धः क्रियते–बहोरर्थस्य बहुविधस्यार्थस्य इति।

किममी अवग्रहादयः सर्वस्येन्द्रियानिन्द्रियार्थस्य भवन्ति उत कश्चिद्विषयविशेषोऽस्तीति? अत आह–

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥१८॥

[9]व्यञ्जनमव्यक्तं शब्दादिजातं तस्यावग्रहो भवति। किमर्थमिदम्? नियमार्थम्–'अवग्रह एव नेहादयः' इति। स तर्ह्येवकारः कर्तव्यः?

न वा; सामर्थ्यादवधारणप्रतीतेः अब्भक्षवत्[10] ।१। न वा कर्तव्यः। किं कारणम्? सामर्थ्यादवधारणप्रतीतेः। कथम्? अब्भक्षवत्[10]। यथा न कश्चिदपो न भक्षयतीति सामर्थ्यादव-

१ वैशेषिकाः। २ यावता बह्वादिरर्थ एव, सत्यमेव किन्तु प्रवादिपरिकल्पनानिवृत्त्यर्थमर्थस्येत्युच्यते इत्याह। ३ रूपादीनाम्। ४ गुणादीनां आ०, ब०, द०, मु०। ५सम्बन्धाभावात्। ६ अन्योऽर्थः अर्थान्तरं तस्य, भेदस्य घातभावादणूनां तन्मते अन्यार्थप्रादुर्भावाभाव इत्यर्थः। ७ बहुत्वादिभि– मु०, आ०, द०, ब०। ८ इतीह सम्ब– आ०, ब०, द०, मु०। ९ विगतमञ्जनमभिव्यक्तिर्यस्य तद् व्यञ्जनम्। व्यज्यते भक्ष्यते प्राप्यत इति। व्यञ्जनमिति च व्यक्तिम्रक्षणयोरर्थयोर्ग्रहणात् शब्दादिकं श्रोत्रादिनेन्द्रियेण प्राप्तमपि यावन्नाभिव्यक्तं तावदेव व्यञ्जनमित्युच्यते एकवारजलकणसिक्तनूतनशरावत्। १० अब्भक्षणवत् ता०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धारणं प्रतीयते–'अप एव भक्षयति' इति, तथा सर्वेषामवग्रहादीनां प्रसिद्धौ अवग्रहवचनमवधारणार्थं विज्ञायते ।

तयोरभेदो ग्रहणाविशेषादिति चेत्; न; व्यक्ताऽव्यक्तभेदाद् अभिनवशराववत् ।२। स्यादेतत्–तयोरर्थावग्रहव्यञ्जनावग्रहयोर्नास्ति भेदः–ग्रहणाविशेषात्, न हि शब्दादिग्रहणं प्रति विशेषोऽस्तीति; तन्न; किं कारणम् ? व्यक्ताव्यक्तभेदात् । व्यक्तग्रहणमर्थावग्रहः । अव्यक्तग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः । कथम् ? अभिनवशराववत् । यथा सूक्ष्मजलकणद्वित्रसिक्तः[1] शरावोऽभिनवो नार्द्रीभवति, स एव पुनः पुनः सिच्यमानः शनैस्तिम्यति, तथा आत्मनः [2]शब्दादीनामव्यक्तग्रहणात्[3] प्राक्[4] व्यञ्जनावग्रहः, व्यक्तग्रहणमर्थावग्रहः ।

सर्वेन्द्रियाणामविशेषेण व्यञ्जनावग्रहप्रसङ्गे यत्रासंभवस्तदर्थं प्रतिषेधमाह–

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥

चक्षुषा अनिन्द्रियेण च व्यञ्जनावग्रहो न भवति । कुतः ?

व्यञ्जनावग्रहाभावः चक्षुर्मनसोरप्राप्यकारित्वात् ।१। यतोऽप्राप्तमर्थमविदिक्कं [5]युक्तसन्निकर्षविषयेऽवस्थितं बाह्यप्रकाशाभिव्यक्तमुपलभते चक्षुः, मनश्चाप्राप्तम्, ततो नानयोर्व्यञ्जनावग्रहोऽस्ति ।

इच्छामात्रमिति चेत्; न; सामर्थ्यात् ।२। स्यादेतत्–इच्छामात्रमिदम्–'अप्राप्तार्थग्राहि चक्षुः' इति; तन्न; किं कारणम् ? सामर्थ्यात् । कथं सामर्थ्यम् ? आगमतो युक्तितश्च । आगमतस्तावत्[6]–

*** "पुट्ठं [7]सुणेदि सद्दं अपुट्ठं [8]पुण पस्सदे रूवं ।**
गंधं रसं च फासं [9]बद्धं पुट्ठं विजाणादि ॥" [ ] इति ।

युक्तितोऽपि—

अप्राप्यकारि चक्षुः स्पृष्टानवग्रहात् । यदि प्राप्यकारि स्यात्, त्वगिन्द्रियवत् स्पृष्टमञ्जनं गृह्णीयात् । न च गृह्णाति । अतो मनोवदप्राप्यकारीत्यवसेयम् ।

अत्र केचिदाहुः–प्राप्यकारि चक्षुः आवृतानवग्रहात् त्वगिन्द्रियवदिति[10]; अत्रोच्यते–[11]काचाभ्रपटलस्फटिकावृतार्थावग्रहे सति अव्याप्कत्वादसिद्धो[12] हेतुः, वनस्पतिचैतन्ये स्वापवत्[13]। तथा संशयहेतुः, अप्राप्यकारिण्ययस्कान्तोपले साध्यविपक्षेऽपि दर्शनादिति । भौतिकत्वात् प्राप्यकारि चक्षुरग्निवदिति चेत्; न; अयस्कान्तेनैव प्रत्युक्तत्वात् । बाह्येन्द्रियत्वात् प्राप्यकारि

---

१ –द्वित्रिसिक्तः आ०, ब०, द०, मु०, ता० । २ शब्दादीनां व्य– आ०, ब०, द०, मु० । ३ हेतोः –मू० टि० । ४ अर्थावग्रहात् प्राक् –मू० टि० । ५ युक्तं स– मु०, आ०, ब०, द० । ६ –तावत् गाथा पुट्ठं आ०, ब०, मु० । तावत् गाहा पुट्ठं, द०, ता० । आगमस्तावत्– आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता० । ७ सुणोदि मु०, व० । ८ पुणो वि प– ता० । पुण वि प– आ०, ब०, द०, मु० । ९ पुट्ठमपुट्ठं ता०, आ०, ब०, सा० । आव० नि० गा० ५ । पंचसं० १ ।६८। स्पृष्टं शृणोति शब्दं अस्पृष्टं पुनः पश्यति रूपम् । गन्धं रसं च स्पर्शं बद्धं स्पृष्टं विजानाति ॥ उद्धृतेयम्– स० सि० १ । १९ । –सम्पा० । १० द्रष्टव्यम्– न्यायकुमु० पृ० ७५ टि० २ । ११ तुलना– "काचेन अभ्रपटलेन स्फटिकेन अम्बुना चान्तरितं व्यवहितं कथं दृश्यते सप्रतिघत्वात् । काचादिव्यवहितं चक्षुर्न पश्येत । तच्च पश्यतीति सिद्धान्तः ।" –स्फु० अभि० पृ० ८४ । १२ भागासिद्धः । १३ चेतनास्तरवः स्वापात्, न हि तरुषु सर्वत्र स्वापः, पत्रसंकोचलक्षणस्य तस्य द्विदलेष्वेव भावात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चक्षुरिति चेत्; न; द्रव्येन्द्रियोपकरणस्य भावेन्द्रियस्य प्राधान्यात् । अप्राप्यकारित्वे व्यवहितातिविप्रकृष्टग्रहणप्रसङ्ग इति चेत्; न; अयस्कान्तेनैव प्रत्युक्तत्वात् । अयस्कान्तोपलम् अप्राप्य लोहमाकर्षदपि न व्यवहितमाकर्षति नातिविप्रकृष्टमिति संशयावस्थमेतदिति । अप्राप्यकारित्वे संशयविपर्ययाभाव इति चेत्; न; [1]प्राप्यकारित्वेऽपि तदविशेषात् ।

कश्चिदाह–[2]रश्मिवच्चक्षुः, तैजसत्वात्, तस्मात्प्राप्यकारीति, अग्निवदिति; एतच्चायुयुक्तम्; अनभ्युपगमात् । [3]न वयमभ्युपगच्छामः 'तैजसं चक्षुः' इति । तेजोलक्षणमौष्ण्यमिति कृत्वा चक्षुरिन्द्रियस्थानमुष्णं स्यात् । न च तद्देशं स्पर्शनेन्द्रियम् उष्णस्पर्शोपलम्भि दृष्टमिति । इतश्च, अतैजसं चक्षुः भासुरत्वानुपलब्धेः । अदृष्टवशादनुष्णाभासुरत्वमिति चेत्, न; अदृष्टस्य गुणत्वात्, [4]अक्रियस्य [5]भावस्वभावनिग्रहासामर्थ्यात् । [6]नक्तञ्चररश्मिदर्शनाद् रश्मिवच्चक्षुरिति चेत्; न; अतैजसोऽपि पुद्गलद्रव्यस्य भासुरत्वपरिणामोपपत्तेरिति[7] ।

किञ्च, [8]गतिमद्वैधर्म्यात् । इह यद् गतिमद्भवति न तत् सन्निकृष्टविप्रकृष्टा[9]वर्थावभिन्नकालं प्राप्नोति, न च तथा चक्षुः । चक्षुर्हि शाखाचन्द्रमसावभिन्नकालमुपलभते, यावता कालेन शाखां प्राप्नोति तावता चन्द्रमसमिति स्पष्टं गतिमद्वैधर्म्यम्, तस्मान्न गतिमच्चक्षुरिति ।

यदि च प्राप्यकारि चक्षुः स्यात्; तमिस्रायां रात्रौ दूरेऽग्नौ प्रज्वलति तत्समीपगतद्रव्योपलम्भनं भवति कुतो नान्तरालगतद्रव्यालोचनम् ? प्रकाशाभावादिति चेत्; न; तैजसत्वादग्न्यादिवत् सहायान्तरानपेक्षत्वप्रसङ्गात् ।

किञ्च, यदि प्राप्यकारि चक्षुः स्यात् [10] सान्तराधिकग्रहणं न प्राप्नोति । नहीन्द्रिया[11]न्तरविषये गन्धादौ सान्तरग्रहणं दृष्टं नाप्यधिकग्रहणम् । अथ मतम्–बहिरधिष्ठानाद्वृत्तिरिन्द्रियस्य अत उपपन्नं तद्विषयस्य सान्तराधिकग्रहणमिति; तदयुक्तम्; यस्मान्न बहिरधिष्ठानादिन्द्रियम्, तत्र चिकित्सादिदर्शनात्, अन्यथा अधिष्ठानपिधानेऽपि ग्रहणप्रसङ्गः । मनसश्चाबहिर्भावात् । मनसाऽधिष्ठितं हि इन्द्रियं स्वविषये व्याप्रियते, न च मनो बहिरधिष्ठानादस्ति,[12] तदभावादग्रहणप्रसङ्गः । अनुवृत्तौ[13] च संभवाभावात् विप्रकीर्णं[14] चक्षूरश्मिसमूहं कथमणुमनोऽधिष्ठास्यति ?

कश्चिदाह[15]–श्रोत्रमप्राप्यकारि विप्रकृष्टविषयग्रहणादिति; एतच्चायुक्तम्; [16]असिद्धत्वात् । साध्यं तावदेतत्–विप्रकृष्टं शब्दं गृह्णाति श्रोत्रम् उत घ्राणेन्द्रियवदवगाढं स्वविषयभावपरिणतं

---

१ चेन्न तत्प्राप्य– आ०, ब०, द०, मु० । चक्षुषः । २ द्रष्टव्यम्– न्यायकुमु० पृ० ७६ टि० १ । ३ न हि वय– आ०, ब०, द०, मु० । ४ आत्मनः । ५ पदार्थं । ६ "नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च" –न्यायसू० ३।१।४३ । ७ –पपत्तिरिति– आ०, द० । ८ तुलना–"पश्येच्चक्षुश्चिराद् दूरे गतिमद् यदि तद्भवेत् । अस्त्यभ्यासे च दूरे च रूपं व्यक्तं न तत्र किम् ॥१३॥ यदि चक्षुः प्राप्यकारित्वात् विषयदेशं गच्छेत् तदो न्मिषितमात्रेण न चन्द्रतारकादीनर्थान् गृह्णीयात् ।" –चतुश० पृ० १८६ । ९ –ष्टावभि– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । १० तुलना– "सान्तरग्रहणं न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानाधिकस्य च । अधिष्ठानाद् बहिर्नाक्षं न शक्तिर्विषयेक्षणे ॥ –सान्तरग्रहणं विच्छिन्नग्रहणम् । अधिकग्रहणम् इन्द्रियासम्बद्धग्रहणमिति ।" –प्रमाणसमु० वृ० पृ० ४१–४२ । ११ –न्द्रियान्तरे वि– ता० । –न्द्रियनिरन्तरे वि– मू० । १२ –नमस्ति आ०, ब, द०, मु० । –नादस्ति तदग्रहण– मू० । १३ वृत्तौ वृत्तौ मनसः संभवो नास्ति यतः । –सम्पा० । १४ –र्णः चक्षूरश्मिसमूहः कथ– आ०, ब०, द०, मु० । १५ बौद्धः –सम्पा० । "अप्राप्तान्यक्षिमनःश्रोत्राणि......" –अभिध० १।४३ । १६ अप्रसिद्ध– आ०, मू० । साध्यसमोऽयं हेतुः । –अ० टि० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुद्गलद्रव्यं गृह्णाति इति। विप्रकृष्टशब्दग्रहणे[1] च स्वकर्णान्तर्विलगतमशकशब्दो नोपलभ्येत। नहीन्द्रियं किञ्चिदेकं दूरस्पृष्टविषयग्राहि दृष्टमिति । [3] आकाशगुणत्वाच्छब्दस्य [4]स्पर्शवद्गुणत्वाभाव इति चेत्; न; अमूर्तगुणस्य आत्मगुणवत् इन्द्रियविषयत्वादर्शनादिति । प्राप्ताग्रहे श्रोत्रस्य दिग्देशभेदविशिष्टविषयग्रहणाभाव इति चेत्; न; शब्दपरिणतविसर्पत्पुद्गलवेगशक्तिविशेषस्य तथाभावोपपत्तेः[5], सूक्ष्मत्वात् अप्रतिघातात् समन्ततः प्रवेशाच्च, सिद्धमेतत्– 'चक्षुर्मनसी वर्जयित्वा शेषाणामिन्द्रियाणां व्यञ्जनावग्रहः, सर्वेषामिन्द्रियाणामर्थावग्रहः' इति ।

मनसोऽनिन्द्रियव्यपदेशाभावः स्वविषयग्रहणे करणान्तरानपेक्षत्वाच्चक्षुर्वत् ।३। यथा चक्षू रूपग्रहणे करणान्तरं नापेक्षत इति इन्द्रियव्यपदेशं लभते तथा मनोऽपि गुणदोषविचारादिस्वव्यापारे करणान्तरं नापेक्षत इतीन्द्रियं प्राप्नोति नानिन्द्रियमिति ।

न वा, अप्रत्यक्षत्वात् ।४। नवैष दोषः । किं कारणम् ? अप्रत्यक्षत्वात् । यथा चक्षुरादि परस्परस्यैन्द्रियकत्वात् प्रत्यक्षं न तथा मन ऐन्द्रियकम् । कुतः ? सूक्ष्मद्रव्यपरिणामात्, तस्मादनिन्द्रियमित्युच्यते । अत्राह– कथमवगम्यते अप्रत्यक्षं तद् 'अस्ति' इति ?

अनुमानात्तस्याधिगमः ।५। अप्रत्यक्षाणामप्यर्थानां लोकेऽनुमानादधिगतिर्दृष्टा, यथा आदित्यस्य गतिः, वनस्पतीनां[6] च वृद्धिह्रासौ । तथा मनसोऽप्यस्तित्वमनुमानादधिगम्यते[7] । कोऽसावनुमानः[8] ?

[9]**युगपज्ज्ञानक्रियानुत्पत्तिर्मनसो हेतुः ।६।** सत्सु चक्षुरादिकरणेषु शक्तिमत्सु[10], सत्सु च बाह्येषु रूपादिषु, सति चानेकस्मिन् प्रयोजने यतो ज्ञानानां क्रियाणां च युगपदनुत्पत्तिः, तदस्ति मन इत्यनुमीयते ।

अनुस्मरणदर्शनाच्च ।७। यतः सकृद् दृष्टं श्रुतं वाऽनुस्मर्यते, अतस्तद्दर्शनात्तदस्तित्वमवसेयम् । अत्राह–एकस्यात्मनः कुतः करणभेदः ?

ज्ञस्वभावस्यापि करणभेदः अनेककलाकुशलदेवदत्तवत् ।८। यथा अनेकज्ञानक्रियाशक्तियुक्तस्यापि देवदत्तस्य करणभेदो दृश्यते–चित्रकर्मणि वर्तमानस्य वर्तिकालेखनीकूर्चिकाद्युपकरणापेक्षा, काष्ठकर्मणि वर्तमानस्य [11]वासीघटमुखवृक्षादना[12]दिकरणापेक्षा, तथा आत्मनोऽपि क्षयोपशमभेदात् ज्ञानक्रियापरिणामशक्तियुक्तस्य चक्षुराद्यनेककरणापेक्षा न विरुध्यते ।

स नामकर्मसामर्थ्यात् ।९। स एव करणभेदः नामकर्मसामर्थ्याद्वेदितव्यः[13] । स कथम् ? इह यदेतत् शरीरनामकर्मोदयाद्यापादितं यवनालिकासंस्थानं श्रोत्रेन्द्रियम्, एतदेव शब्दोपलब्धिसहिष्णु नेतराणि । तथा यदेतद् घ्राणेन्द्रियम् अतिमुक्तकचन्द्रकसंस्थानम्, एतदेव गन्धावगमसमर्थं नेतराणि । तथा यदेतज्जिह्वेन्द्रियं क्षुरप्राकृति, एतदेव रसावगमेऽलं नान्यानि । तथा यदेतत् स्पर्शनेन्द्रियमनेकाकृति तदेव स्पर्शोपलम्भनेऽलं नेतराणि । तथा यदेतच्चक्षु-

---

१ –णे स्व– ता० । २ –र्णप्रान्तवि– भा० २ । –र्णतान्तर्वि– मु०, द०, ब०, ज० । ३ तुलना– न्यायकुमु० पृ० ८३ । वैशेषिकाः –सम्पा० । ४ स्पर्शगुण– ता० । ५ तथाभावापत्तेः आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ६ –नां वृ– श्र० । ७ –दवगम्य ते –आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ८ कोऽसावनुमान इति भाष्यम् (पात० महा० १।१।३) –श्र० टि० । "मन्यतेर्घञि अनुमान इति रूपम्" –पात० महा० प्र० १।१।३। ९ "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" –न्यायसू० १ । १ । १६ । १० –मत्सु च बा– आ०, द०, ब०, मु० । –मत्सु सत्सु वा– श्र०, ता० । ११ वासीपुटमुख– मू० । १२ वृक्षादनो वृक्षभेदीत्यमरः । १३–व्यः क– आ०, ब, द०, मु०, मू० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रिन्द्रियं मसूरिकाकारं कृष्णताराधिष्ठानं तदेव रूपाविष्करणेऽलं नेतराणि इति ।

एवमाभिनिबोधिकं द्रव्यक्षेत्रकालभावैरवसेयम् । द्रव्यतो मतिज्ञानी सर्वद्रव्याण्यसर्वपर्यायाण्युपदेशेन जानाति । क्षेत्रत उपदेशेन सर्वक्षेत्राणि जानाति । अथवा क्षेत्रं विषयः । चक्षुषः क्षेत्रं सप्तचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि त्रिषष्ट्यधिके च द्वे योजनशते योजनस्य चैकविंशतिः षष्टिभागाः । श्रोत्रस्य क्षेत्रं द्वादश योजनानि । घ्राणरसनस्पर्शनानां नवयोजनानि । कालत उपदेशेन सर्वकालं जानाति । भावत उपदेशेन जीवादीनामौदयिकादीन् भावान् जानाति । [1]तत् सामान्यादेकम् । इन्द्रियानिन्द्रियभेदाद् द्विधा[2] । अवग्रहादिभेदाच्चतुर्धा । तैरिन्द्रियगुणितैश्चतुर्विंशतिविधम् । तैरेव व्यञ्जनावग्रहाधिकैरष्टाविंशतिविधम् । तैरेव मूलभङ्गाधिकैर्द्रव्यादिसहितैर्वा द्वात्रिंशद्विधम् । त एते त्रयो विकल्पा बह्वादिभिः[3] षड्भिरितरानपेक्षैर्गुणिताः चतुश्चत्वारिंशं शतम् अष्टषष्ट्युत्तरं शतम् द्वानवत्यधिकं शतमिति च भवन्ति[4] । त एव बह्वादिभिर्द्वादशभिर्गुणिता द्वे शते अष्टाशीत्युत्तरे, त्रीणि शतानि षट्त्रिंशानि, चतुरशीत्यधिकानि त्रीणि शतानि च भवन्ति ।

आह—व्यञ्जनावग्रहे बह्वाद्यभावः । कस्मात् ? अव्यक्तत्वात् । उच्यते—अवग्रहवत् तत्सिद्धिः । यथा अव्यक्तग्रहणमवग्रहः तथा बह्वादिविकल्पोऽप्यव्यक्तरूपेणैव वेदितव्यः । अथाऽनिःसृते कथम् ? तत्रापि ये च यावन्तश्च पुद्गलाः सूक्ष्मा निःसृताः सन्ति, सूक्ष्मास्तु साधारणैर्न[5] गृह्यन्ते, तेषामिन्द्रियस्थानावगाहनम् अनिःसृतव्यञ्जनावग्रहः ।

परोक्षे द्वैविध्ये सत्युपक्लृप्तलक्षणविकल्प[6]मतिज्ञानविधर्मि यद् द्वितीयमपदिष्टं[7] तत्किन्निमित्तं कतिविधं चेति ? उच्यते—

श्रुतं मतिपूर्वं द्वि-अनेकद्वादशभेदम् ॥२०॥

श्रुतशब्दो[8] जहत्स्वार्थवृत्ती रूढिवशात् कुशलशब्दवत् ।१। यथा कुशलशब्दः कुशलवनक्रियां प्रतीत्य व्युत्पादितः तद्धित्वा सर्वत्र पर्यवदाते[9] वर्तते, तथा श्रुतशब्दोऽपि श्रवणमुपादाय व्युत्पादितो रूढिवशात् कस्मिंश्चिज्ज्ञानविशेषे[10] वर्तते ।

कार्यप्रतिपालनात् पूरणाद्वा पूर्वं कारणम् ।२। [11]कार्यं पालयति पूरयतीति वा पूर्वं कारणं लिङ्गं निमित्तमित्यनर्थान्तरम् । मतिज्ञानं व्याख्यातं तत्पूर्वमस्येति[12]मतिपूर्वं 'मतिकारणम्'[13] इत्यर्थः ।

मतिपूर्वकत्वे श्रुतस्य तदात्मकत्वप्रसङ्गो घटवत्, अतदात्मकत्वे वा तत्पूर्वकत्वाभावः ।३। कश्चिदाह–मतिपूर्वं श्रुतं तदपि मत्यात्मकं प्राप्नोति, कारणगुणानुविधानं हि कार्यं दृष्टं यथा मृन्निमित्तो घटो मृदात्मकः । अथाऽतदात्मकमिष्यते,[14] तत्पूर्वकत्वं तर्हि तस्य हीयते इति ।

---

१ एक्कचउक्कं चउवीसट्ठवीसं च तिप्पडि किच्चा । इगिछब्बारसगुणिदे मदिणाणे होंति ठाणाणि॥ २ द्विविधम्– ता० । ३ अल्पादिसेतरानपेक्षैः। ४ भवति ता०, श्र०, मू०, द० । ५ पुरुषैः । ६ –ल्पं म– ता०, मू० । ७ –यमुपदिष्टं आ०, ब, द०, मु० । ८ –ब्दोऽज– ता०, श्र० । ९ प्रौढे – ता० टि०, श्र० टि० । १० मतिपूर्वलक्षणे । ११ श्रुतस्य प्रमाणरूपम् । १२ मतिपूर्वकं म– ता० । १३ –णकमि– आ०, ब०, द०, मु० । १४ –त्मकत्वमिष्यते आ०, ब०, द०, ता०, मु० ।

न वा, निमित्तमात्रत्वाद्दण्डादिवत् ।४। न वैष दोषः। किं कारणम्? निमित्तमात्रत्वाद् दण्डादिवत्। यथा मृदः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामाभिमुख्ये, दण्डचक्रपौरुषेयप्रयत्नादि निमित्तमात्रं भवति, [1]यतः सत्स्वपि दण्डादिनिमित्तेषु शर्करादिप्रचितो मृत्पिण्डः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामनिरुत्सुकत्वान्न घटीभवति, [2]अतो मृत्पिण्ड एव बाह्यदण्डादिनिमित्तापेक्ष आभ्यन्तरपरिणामसान्निध्याद् घटो भवति न दण्डादयः, इति दण्डादीनां निमित्तमात्रत्वम्। तथा पर्यायिपर्याययोः स्यादन्यत्वाद् आत्मनः स्वयमन्तःश्रुतभवनपरिणामाभिमुख्ये मतिज्ञानं निमित्तमात्रं भवति, यतः सत्यपि सम्यग्दृष्टेः श्रोत्रेन्द्रियबलाधाने बाह्याचार्यपदार्थोपदेशसन्निधाने च श्रुतज्ञानावरणोदयवशीकृतस्य स्वयमन्तःश्रुतभवननिरुत्सुकत्वादात्मनो न श्रुतं भवति, अतो[3] बाह्यमतिज्ञानादिनिमित्तापेक्ष आत्मैव आभ्यन्तरश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमापादितश्रुतभवनपरिणामाभिमुख्यात् [4]श्रुतीभवति, न मतिज्ञानस्य श्रुतीभवनमस्ति, तस्य निमित्तमात्रत्वात्[5]।

अनेकान्ताच्च ।५। नायमेकान्तोऽस्ति–'कारणसदृशमेव कार्यम्' इति। कुतः? तत्रापि सप्तभङ्गीसंभवात्। कथम्? घटवत्। यथा घटः कारणेन मृत्पिण्डेन स्यात्सदृशः, स्यान्न सदृश इत्यादि[6]। मृद्द्रव्याजीवानुपयोगाद्यादेशात् स्यात्सदृशः, पिण्डघटसंस्थानादिपर्यायादेशात् स्यान्न सदृशः। पूर्ववदुत्तरे च भङ्गा नेतव्याः। यस्यैकान्तेन कारणानुरूपं कार्यम्, तस्य [7]घटपिण्डशिविकादिपर्याया[8] उपालभ्यन्ते[9]। किञ्च, घटेन जलधारणादिव्यापारो न क्रियेत मृत्पिण्डे तददर्शनात्। अपि च, मृत्पिण्डस्य घटत्वेन परिणामवद् घटस्यापि घटत्वेन परिणामः स्यात्, एकान्तसदृशत्वात्। न चैवं भवति। अतो नैकान्तेन कारणसदृशत्वम्। तथा श्रुतं सामान्यादेशात् स्यात्कारणसदृशं यतो मतिरपि ज्ञानं श्रुतमपि। अव्यवहिताभिमुखग्रहण-नानाप्रकारार्थप्ररूपणसामर्थ्यादिपर्यायादेशात् स्यान्न कारणसदृशम्। पूर्ववदुत्तरे[10] च भङ्गा नेतव्याः।

श्रोत्रमतिपूर्वस्यैव श्रुतत्वप्रसङ्गस्तदर्थत्वादिति चेत्; न; उक्तत्वात् ।६। स्यादेतत्–श्रोत्रमतिपूर्वस्यैव[11] श्रुतत्वं प्राप्नोति। कुतः? तदर्थत्वात्। श्रुत्वा अवधारणाद्धि श्रुतमित्युच्यते, तेन चक्षुरादिमतिपूर्वस्य[12] श्रुतत्वं न प्राप्नोति; तन्न; किं कारणम्? [13]उक्तमेतत्–'श्रुतशब्दोऽयं रूढिशब्दः' इति। रूढिशब्दाश्च स्वोत्पत्ति[14]निमित्तक्रियानपेक्षाः प्रवर्तन्त इति सर्वमतिपूर्वस्य श्रुतत्वसिद्धिर्भवति।

आदिमतोऽन्तवत्त्वात् श्रुतस्याऽनादिनिधनत्वानुपपत्तिरिति चेत्; न; द्रव्यादिसामान्यापेक्षया तत्सिद्धेः ।७। स्यादेतत्–श्रुतस्य आदिमत्त्वमभ्युपगतम्–'मतिपूर्वम्' इति वचनात्, आदिमतश्च लोके अन्तवत्त्वं दृष्टम्, तत आद्यन्तसंभवाद् 'अनादिनिधनं श्रुतम्' इति व्याहन्यते, ततश्च पुरुषकृतित्वादप्रामाण्यं स्यादिति; नैष दोषः; द्रव्यादिसामान्यापेक्षया तत्सिद्धेः[15]। द्रव्यक्षेत्रकालभावानां विशेषस्याविवक्षायां श्रुतम् 'अनादिनिधनम्' इत्युच्यते, न हि केनचित्पुरुषेण क्वचित् कदाचित् कथञ्चिदुत्प्रेक्षितमिति। तेषामेव विशेषापेक्षया आदिरन्तश्च संभवतीति मतिपूर्व-

---

१ पूर्वोक्तवाक्यमेव विवृण्वन्नाह यत इति। २ ततो अ०। ३ ततो आ०, ब०, द०, मु०। ४ श्रुतं भ– आ०, ब०, मु०। ५ दण्डादिवत्। ६ –दि इति मृ– आ०, ब०, द०, मु०। ७ घटे पिण्ड– मु०। ८ –या उपल– ता, द०, आ०। –या न उपल– मु०। ९ निराक्रियन्ते –अ० टि०। घटपिण्डशिवकादयः पृथक् पर्याया न स्युरित्यर्थः, सर्वे मृत्पिण्डात्मका एव भवेयुः –सम्पा०। १० –सरे भ– आ०, द०, ब०, मु०, ता०। ११ –वंकस्यैव अ०, ता०, द०। १२ –वंकस्यैव श्रु –आ०, द०, ब०, मु०। १३ उक्तमेव श्रु– आ०, ब०, द०, मु०, ता०, अ०। १४ –त्तिक्रिया– मु०, आ०, स०, द०। १५ –सिद्धिः आ०, ब०, द०, मु०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मित्युच्यते । यथा अङ्कुरो [1]बीजपूर्वः, स च सन्तानापेक्षया अनादिनिधन इति । [2]न चाऽपुरुषकृतित्वं प्रामाण्यकारणम्; चौर्याद्युपदेशस्यास्मर्यमाणकर्तृकस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात् । अनित्यस्य च प्रत्यक्षादेः प्रामाण्ये को विरोधः ?

सम्यक्त्वोत्पत्तौ युगपन्मतिश्रुतोत्पत्तेर्मतिपूर्वकत्वाभाव इति चेत्; न; सम्यक्त्वस्य तदपेक्षत्वात् ।८। स्यान्मतम्–मत्यज्ञानश्रुताज्ञानयोः प्रथमसम्यक्त्वोत्पत्तौ युगपज्ज्ञानपरिणामात् मतिपूर्वकत्वं श्रुतस्य नोपपद्यत इति; तन्न; किं कारणम् ? सम्यक्त्वस्य तदपेक्षत्वात् । तयोर्हि सम्यक्त्वं[3] सम्यग्दर्शनोत्पत्तौ युगपद्भवति [4]आत्मलाभस्तु क्रमवान्, इति मतिपूर्वकत्वं युक्तं पितापुत्रवत् ।

मतिपूर्वकत्वाविशेषात् श्रुताविशेष इति चेत्; न; कारणभेदात्तद्भेदसिद्धेः ।९। स्यादेतत्–सर्वेषां प्राणिनां श्रुतमविशिष्टं प्राप्नोति । कुतः ? कारणाविशेषात् । मतिपूर्वत्वं[5] हि कारणमिष्टम्, तच्च सर्वेषामविशिष्टमिति । तन्न; किं कारणम् ? कारणभेदात्तद्भेदसिद्धेः । प्रतिपुरुषं हि मतिश्रुतावरणक्षयोपशमो बहुधा भिन्नः तद्भेदाद् बाह्यनिमित्तभेदाच्च श्रुतस्य प्रकर्षाप्रकर्षयोगो भवति मतिपूर्वकत्वाविशेषेऽपि ।[6]

श्रुतात् श्रुतप्रतिपत्तेर्लक्षणाव्याप्तिरिति चेत्; न; तस्योपचारतो मतित्वसिद्धेः ।१०। स्यान्मतम्–यदा शब्दपरिणतपुद्गलस्कन्धादाहितवर्णपदवाक्यादिभावात् चक्षुरादिविषयाच्च आद्यश्रुतविषयभावमापन्नाद् अविनाभाविनः [7]कृतसङ्गीतिर्जनो घटाज्जलधारणादिकार्यसंबन्ध्यन्तरं प्रतिपद्यते धूमादेर्वाऽग्न्यादिद्रव्यम्, तदा श्रुतात् श्रुतप्रतिपत्तिरिति कृत्वा [8]मतिपूर्वलक्षणमव्यापीति; तन्न; किं कारणम् ? तस्योपचारतो मतित्वसिद्धेः । मतिपूर्वं हि श्रुतं क्वचित् 'मतिः' इत्युपचर्यते[9] । अथवा, व्यवहिते पूर्वशब्दो वर्तते, तद्यथा 'पूर्वं मथुरायाः पाटलिपुत्रम्' इति । ततः साक्षान्मतिपूर्वं[10] परम्परया वा[10] मतिपूर्वमपि मतिपूर्वग्रहणेन गृह्यते ।

भेदशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुजिवत् ।११। यथा 'देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यन्ताम्' इति भुजिः प्रत्येकं परिसमाप्यते तथेहापि भेदशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते–द्विभेदमनेकभेदं द्वादशभेदं च इति । तत्राङ्गप्रविष्टमङ्गबाह्यं चेति द्विविधम् ।

अङ्गप्रविष्टमाचारादिद्वादशभेदं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तगणधरानुस्मृतग्रन्थरचनम् ।१२। भगवदर्हत्सर्वज्ञहिमवन्निर्गतवाग्गङ्गाऽर्थविमलसलिलप्रक्षालितान्तःकरणैः बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरैरनुस्मृतग्रन्थरचनम् आचारादिद्वादशविधमङ्गप्रविष्टमित्युच्यते । तद्यथा–आचारः, सूत्रकृतम्, स्थानम्, समवायः, व्याख्याप्रज्ञप्तिः, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययनम्, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपादिकदशा, प्रश्नव्याकरणम्, विपाकसूत्रम्, दृष्टिवाद इति । आचारे चर्या-

---

१ बीजपूर्वकः मु०, ता० । २ न वा पुरुषकृतित्वमप्रामाण्यका– आ०, द०, ब०, मु० । तुलना–स०, सि० १ । २० । "तस्मादपौरुषेयत्वे स्यादन्योप्यनराश्रयः । म्लेच्छादिव्यवहाराणां नास्तिक्यवचसामपि ।। अनादित्वाद् भवेदेवं······" –प्रमाणवा० ३ । २४५ । ३ समीचीनत्वम् । ४ उत्पत्तिः । ५ मतिपूर्वकत्वं श्र०, द० । ६ 'मतिपूर्वकत्वाविशेषेपि' इति श्र० प्रतौ 'श्रुताच्छ्रुत' इत्यादि वार्तिक एव सम्मिलितः । ७ कृतसंगति– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ८ मतिपूर्वं ल– श्र० । ९ तथा चोक्तम्–मतिपूर्वं श्रुतं दक्षैरुपचारात् मतिर्मता । मतिपूर्वं ततः सर्वं श्रुतं ज्ञेयं विचक्षणैरिति । अपि च, अर्थादर्थान्तरं ज्ञानं मतिपूर्वं मतं भवेत् । शाब्दं तल्लिङ्गजं चात्र द्व्यनेकद्वादशभेदकम् ।। १० साक्षान्मतिपूर्वमिव परम्परया मतिपूर्वमपि इत्यर्थः । वा शब्द इवार्थः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विधानं शुद्ध्यष्टकपञ्चसमितित्रिगुप्तिविकल्पं कथ्यते[1]। सूत्रकृते ज्ञानविनयप्रज्ञापना [2]कल्प्याकल्प्यच्छेदोपस्थापना व्यवहारधर्मक्रियाः प्ररूप्यन्ते[3]। स्थाने[4] अनेकाश्रयाणामर्थानां निर्णयः क्रियते[5]।

[6]समवाये सर्वपदार्थानां समवायश्चिन्त्यते[7]। स चतुर्विधः–द्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पैः। तत्र धर्माऽधर्मास्तिकायलोकाकाशैकजीवानां तुल्याऽसंख्येयप्रदेशत्वात् एकेन प्रमाणेन द्रव्याणां समवायनाद् द्रव्यसमवायः। जम्बूद्वीपसर्वार्थसिद्धय[8]प्रतिष्ठाननरकनन्दीश्वरैकवापीनां तुल्ययोजनशतसहस्रविष्कम्भप्रमाणेन क्षेत्रसमवायनात् क्षेत्रसमवायः। उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योस्तुल्यदशसागरोपमकोटिकोटिप्रमाणात् कालसमवायनात् कालसमवायः[9]। क्षायिकसम्यक्त्वकेवलज्ञानकेवलदर्शनयथाख्यातचारित्राणां यो भावः[10] तदनुभवस्य तुल्यानन्तप्रमाणत्वात् भावसमवायनाद् भावसमवायः।

व्याख्याप्रज्ञप्तौ[11] षष्टिव्याकरणसहस्राणि[12] 'किमस्ति जीवः, नास्ति' इत्येवमादीनि निरूप्यन्ते[13]। [14]ज्ञातृधर्मकथायाम् आख्यानोपाख्यानानां बहुप्रकाराणां कथनम्[15]। उपासकाध्ययने[16] श्रावकधर्मलक्षणम्। संसारस्यान्तः कृतो यैस्ते अन्तकृतः। नमिमतङ्गसोमिलरामपुत्रसुदर्शनयम[17]लीकवलीककिष्कम्बलपालाम्बष्ठपुत्रा इत्येते दश वर्धमानतीर्थङ्करतीर्थे। एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्येऽन्ये च दश दशानगारा दश दश दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य कृत्स्नकर्मक्षयादन्तकृतः दश अस्यां वर्ण्यन्ते[18] इति अन्तकृद्दशा। अथवा, अन्तकृतां दशा अन्तकृद्दशा, तस्याम् अर्हदाचार्यविधिः सिध्यतां च। उपपादो जन्म प्रयोजनं येषां त इमे औपपादिकाः, विजयवैजयन्तजयन्तापराजितसर्वार्थसिद्धाख्यानि पञ्चानुत्तराणि, अनुत्तरेष्वौपपादिका अनुत्तरौपपादिकाः–ऋषिदास[19]-वान्य-सुनक्षत्र-कार्तिक-नन्द-नन्दन-शालिभद्र-अभय-वारिषेण-चिलातपुत्रा इत्येते दश वर्धमानतीर्थकरतीर्थे। एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्येऽन्ये च दश दशानगारा दश दश दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य विजयाद्यनुत्तरेषूत्पन्ना इत्येवमनुत्तरौपपादिकाः दशास्यां वर्ण्यन्त[20] इत्यनुत्तरौपपादिकदशा। अथवा, अनुत्तरौपपादिकानां दशा अनुत्तरौपपादिकदशा तस्यामायुर्वैक्रियिकानुबन्धविशेषः। आक्षेपविक्षेपैर्हेतुनयाश्रितानां

---

१ आचारे अष्टादशसहस्र (१८०००) पदैः। २ योग्यायोग्य। ३ षट्त्रिंशत्सहस्र (३६०००) पदैः। ४ तिष्ठन्त्यस्मिन् एकाद्येकोत्तराणि स्थानानीति स्थानम्। ५ स्थाने द्वाचत्वारिंशत्सहस्र-(४२०००) पदैः। ६ सं संग्रहेण सादृश्यसामान्येन अवेयन्ते ज्ञायन्ते जीवादिपदार्था द्रव्यक्षेत्रकालभावानाश्रित्य, तस्मिन्निति। संग्रहनयेन स एक एवात्मा, व्यवहारनयेन संसारी मुक्तश्चेति द्विविकल्पः उत्पादव्ययध्रौव्य इति त्रिलक्षणः इत्यादीनि जीवस्य। सामान्यार्पणया एक एव पुद्गलः, विशेषार्पणया अणुस्कन्धभेदात् द्वितयः इत्यादीनि पुद्गलादीनाञ्चैकाद्येकोत्तरस्थानानि प्ररूप्यन्ते। ७ समवाये एकलक्षचतुःषष्टि (१६४०००) पदैः। ८ –द्ध्यर्थप्र– आ०, ब०, मु०। सप्तमपृथिवीनरकनाम। ९ अथवा प्रथमपृथिवीनारकभावनव्यन्तराणां जघन्यायूंषि सदृशानीत्यादि योज्यम्। १० पर्यायः। ११ प्रश्ने। १२ द्विलक्षाष्टाविंशतिसहस्र (२२८०००) पदैः किमस्ति जीवः किं नास्ति जीवः किमेको जीवः किमनेको जीवः किं नित्यो जीवः किमनित्यो जीवः इत्यादीनि षष्टिसहस्रसंख्यानि भगवदर्हत्तीर्थकरसन्निधौ गणधरदेवप्रश्नवाक्यानि निरूप्यन्ते। १३ पञ्चलक्षषट्पञ्चाशत्सहस्र (५५६०००) पदैः। १४ तीर्थकरोक्तं गणधरपृष्टास्तित्वादिस्वरूपम् चक्रवर्त्यादीनां धर्मानुबन्धिकथोपकथानाञ्च कथनम्। १५ कथोपकथा। १६ एकादशलक्षसप्ततिसहस्र (११७००००) पदैः श्रावकाचारक्रियामन्त्राणां निरूपणम्। १७ –यमवाल्मीकवलीकनिष्क– मु०। १८ अन्तकृद्दशायां त्रयोविंशतिलक्षाष्टाविंशतिसहस्र (२३२८०००) पदैः। १९ –स धन्य– आ०, ब०, मु०। २० अनुत्तरौपपादिकदशायां द्विनवतिलक्षचतुश्चत्वारिंशत्सहस्र (९२४४०००) पदैः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्नानां व्याकरणं प्रश्नव्याकरणम्, तस्मिल्लौकिकवैदिकानामर्थानां निर्णयः[१]। विपाकसूत्रे सुकृतदुःकृतानां विपाकश्चिन्त्यते[२]।

द्वादशमङ्गं दृष्टिवाद इति[३]। कौत्कलकाणे[४]विद्धि-कौशिक-हरिस्मश्रु-मांछपिक रोमश-हारीत-मुण्डाश्वलायनादीनां क्रियावाददृष्टीनामशीतिशतम्, मरीचिकुमार-कपिलोलूक-गार्ग्य-व्याघ्रभूति-वाद्वलि-माठर-मौद्गल्यायनादीनामक्रियावाददृष्टीनां चतुरशीतिः, साकल्य-वल्कल-कुथुमि-सात्यमुग्रि-नारायण-कठ-माध्यन्दिन-मौद-पैप्पलाद - बादराय[५]णाम्बष्ठि - कृदौविकायन-वसु-जैमिन्यादीनामज्ञानिकुदृष्टीनां सप्तषष्टिः, वशिष्ठ-पाराशर-जतुकर्णि-वाल्मीकि[६]रौमर्हर्षिणिसत्यदत्त-व्यासैलापुत्रौपमन्यवैन्द्रदत्तायस्थूणादीनां वैनयिकदृष्टीनां द्वात्रिंशत्। एषां दृष्टिशतानां त्रयाणां त्रिषष्ट्युत्तराणां प्ररूपणं निग्रहश्च दृष्टिवादे क्रियते।

[७]स पञ्चविधः-परिकर्म[८] सूत्रं प्रथमानुयोगः [९]पूर्वगतं चूलिका चेति।

तत्र पूर्वगतं[९] चतुर्दशप्रकारम्-उत्पादपूर्वम् अग्रायणं वीर्यप्रवादम् अस्तिनास्तिप्रवादं ज्ञानप्रवादं सत्यप्रवादम् आत्मप्रवादं कर्मप्रवादं[१०] प्रत्याख्याननामधेयं विद्यानुवादं कल्याणनामधेयं प्राणावायं क्रियाविशालं लोकविन्दुसारमिति। कालपुद्गलजीवादीनां यदा यत्र यथा च पर्यायेणोत्पादो वर्ण्यते तदुत्पादपूर्वम्[११]। क्रियावादादीनां प्रक्रिया [१२]अग्राणीव अङ्गादीनां स्वसमय-

---

१ प्रश्नव्याकरणे त्रिनवतिलक्षषोडशसहस्र (९३१६०००) पदैः। दूतप्रश्नमुद्दिश्य नष्टमुष्टिचिन्तादिकं शिष्यप्रश्नमुद्दिश्य आक्षेपणी–विक्षेपिणी संवेजनी–निर्वेजनी चेति चतुर्णां कथानाम्। २ विपाकसूत्रे एककोटि-चतुरशीतिलक्ष (१८४०००००) पदैः। एतेषां विशेषस्वरूपपरिज्ञानाय द्रष्टव्यम्– ध० टी० सं० पृ० १०८–१२२। जयध० प्र० पृ० ९३–९४, १२२–१३२। ३ दृष्टिवादस्वरूपनिर्धारणाय द्रष्टव्यम्– ध० टी० सं० पृ० १०८–१२२। जयध० पृ० ९४–९६, १३२–१४८। ४ –काण्ठेवि– आ०, ब०, मु०। काण्वेवि– द०। ५ –गाम्बरीशस्विष्टिकृदैतिकायन– श्र०। –णाम्बष्ठिकृदैलिकायन ता०। –णास्विष्टिकयदैतिकायन– द०। ६ –रोमर्षिस– आ०, ब० द० मु०। ७ दृष्टिवादः। ८ तत्र परिकर्म पञ्चविधम्– चन्द्रप्रज्ञप्तिः, सूर्यप्रज्ञप्तिः जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः, द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः, व्याख्याप्रज्ञप्तिश्चेति। तत्र चन्द्रप्रज्ञप्तिः षट्त्रिंशल्लक्षपञ्चसहस्र (३६०५०००) पदैः चन्द्रस्य विमानायुःपरिवारर्द्धिगमनवृद्धिहानिसाकारग्रहणादीनि वर्णयति। सूर्यप्रज्ञप्तिः पञ्चलक्षत्रिसहस्र (५०३०००) पदैः सूर्यस्यायुर्मण्डलपरिवारर्द्धिगमनप्रमाणग्रहणादीनि वर्णयति। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः त्रिलक्षपञ्चविंशतिसहस्र (३२५०००) पदैः जम्बूद्वीपगतमेरुकुलशैलह्रदवर्षवेदिकावनषण्डव्यन्तरावासादीन् वर्णयति। द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः द्विपञ्चाशल्लक्षषट्त्रिंशत्सहस्र (५२३६०००) पदैः असंख्यातद्वीपसागरस्वरूपं वर्णयति। व्याख्याप्रज्ञप्तिश्चतुरशीतिलक्षषट्त्रिंशत्सहस्र (८४३६०००) पदैः रूप्यरूपिजीवादिद्रव्यस्वरूपं कथयति। सूत्रम् अष्टाशीतिलक्षपदैः जीवः अबन्धकः अकर्ता निर्गुणः अभोक्ता स्वप्रकाशकः······इत्यादव्ययध्रौव्यलक्षणवस्त्वादीनि वर्णयति।······चूलिका पञ्चविधा– तत्र जलगता द्विकोटिनवलक्षनवाशीतिसहस्रद्विशत (२००९८९२००) पदैः जलस्तम्भनजलगमनाग्निस्तम्भनभक्षणाशनप्रवेशनादिकारणमन्त्रतन्त्रतपश्चरणादीनि वर्णयति। स्थलगता तावद्भिः (२००९८९२००) पदैः मेरुकुलशैलभूम्यादिषु प्रवेशनशीघ्रगमनादिकारणमन्त्रतन्त्रतपश्चरणादीनि वर्णयति। मायागता तावद्भिः पदैः मायारूपेन्द्रजलविक्रिया कारणमन्त्रतपश्चरणादीनि वर्णयति। आकाशगता तावद्भिः पदैः आकाशगमनकारणमन्त्रतन्त्रतपश्चरणादीनि वर्णयति। रूपगता तावद्भिः पदैः सिंहगजतुरगरुरुनरहंसादिरूपपरावर्तनकारणमन्त्रतन्त्रतपश्चरणादीनि चित्रकाष्ठलेप्योत्खातनादिलक्षणधातुवादरसवादखान्यवादादीनि च वर्णयति इति शास्त्रान्तरे (धवलादिषु)कथितम्। ९ पूर्वकृतम् ता०, श्र०। १० –दं च प्र– ब०, मु०, मू०, ता०, श्र०, द०। ११ एककोटि (१००००००) पदम्। १२ अग्रायणीचाङ्गादीनां स्वसमवाय– आ०, ब०, द०, मु०। "अग्रस्य द्वादशाङ्गेषु प्रधानमूलस्य वस्तुनः अयनं ज्ञानमग्रायणं तत्प्रयोजनमग्रायणीयम्।" –गो० जीव० जी० गा० ३६५। जयध० पृ० १४० टि०। –सम्पा०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयश्च यत्र ख्यापितस्तदग्रायणम्[1]। छद्मस्थकेवलिनां वीर्यं सुरेन्द्रदैत्याधिपानां ऋद्धयो नरेन्द्रचक्रधरबलदेवानां च वीर्यलाभो द्रव्याणां सम्यक्त्वलक्षणं च यत्राभिहितं तद्वीर्यप्रवादम्[2]। पञ्चानामस्तिकायानामर्थो नयानां चानेकपर्यायैः 'इदमस्तीदं नास्ति' इति च कार्त्स्न्येन यत्रावभासितं तदस्तिनास्तिप्रवादम्[3]। अथवा, षण्णामपि द्रव्याणां भावाभावपर्यायविधिना स्वपरपर्यायाभ्याम् उभयनयवशीकृताभ्याम् अर्पितानर्पितसिद्धाभ्यां यत्र निरूपणं तदस्तिनास्तिप्रवादम्। पञ्चानामपि ज्ञानानां प्रादुर्भावविषयायतनानां[4] ज्ञानिनाम् अज्ञानिनामिन्द्रियाणां च प्राधान्येन यत्र विभागो विभावितः तज्ज्ञानप्रवादम्[5]।

वाग्गुप्तिसंस्कारकारणप्रयोगो द्वादशधा भाषा वक्तारश्चानेकप्रकारमृषाभिधानं दशप्रकारश्च सत्यसद्भावो यत्र प्ररूपितः तत् सत्यप्रवादम्[6]। वाग्गुप्तिर्वक्ष्यमाणा। वाक्संस्कारकारणानि शिरःकण्ठादीनि अष्टौ[7] स्थानानि। वाक्प्रयोगः शुभेतरलक्षणो वक्ष्यते।

अभ्याख्यानकलहपैशुन्यासंबद्धप्रलाप[8]रत्यरत्युपधिनिकृत्यप्रणतिमोषसम्यङ्मिथ्यादर्शनात्मिका भाषा द्वादशधा। हिंसादेः कर्मणः कर्तुर्विरतस्य विरताविरतस्य वाऽयमस्य कर्तेत्यभिधानम् अभ्याख्यानम्। कलहः प्रतीतः। पृष्ठतो दोषाविष्करणं पैशुन्यम्। धर्मार्थकाममोक्षाऽसंबद्धा वाग् असंबद्धप्रलापः। शब्दादिविषयदेशादिषु रत्युत्पादिका रतिवाक्। तेष्वेवारत्युत्पादिका अरतिवाक्। यां वाचं श्रुत्वा परिग्रहार्जनरक्षणादिष्वासज्यते सोपधिवाक्। वणिग्व्यवहारे यामवधार्य निकृतिप्रवण आत्मा भवति सा [9]निकृतिवाक्। यां श्रुत्वा तपोविज्ञानाधिकेष्वपि न प्रणमति सा अप्रणतिवाक्। यां श्रुत्वा स्तेये वर्तते सा मोषवाक्। सम्यङ्मार्गस्योपदेष्ट्री सा सम्यग्दर्शनवाक्। तद्विपरीता मिथ्यादर्शनवाक्। वक्तारश्च आविष्कृतवक्तृत्वपर्याया द्वीन्द्रियादयः। द्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रयमनेकप्रकारमनृतम्।

दशविधः सत्यसद्भावः– नाम-रूप-स्थापना-प्रतीत्य-संवृति-संयोजना-जनपद-देश-भाव-समयसत्यभेदेन। तत्र सचेतनेतरद्रव्यस्यासत्यप्यर्थे यद्व्यवहारार्थं संज्ञाकरणं तन्नामसत्यम्, इन्द्र इत्यादि। यदर्थासन्निधानेऽपि रूपमात्रेणोच्यते तद्रूपसत्यम्, यथा चित्रपुरुषादिषु असत्यपि चैतन्योपयोगादावर्थे पुरुष इत्यादि। असत्यप्यर्थे यत्कार्यार्थं स्थापितं द्यूताक्षनिक्षेपादिषु तत् स्थापनासत्यम्। आदिमदनादिमदौपशमिकादीन् भावान् प्रतीत्य यद्वचनं तत् प्रतीत्यसत्यम्। यल्लोके संवृत्या नीतं वचस्तत् संवृतिसत्यं यथा पृथिव्याद्यनेककारणत्वेऽपि सति 'पङ्के जातं पङ्कजम्' इत्यादि। धूपचूर्णवासानुलेपनप्रघर्षादिषु पद्म-मकर-हंस-सर्वतोभद्र-क्रौञ्च-व्यूहादिषु वा सचेतनेतरद्रव्याणां यथा भागविधिसन्निवेशाविर्भावकं यद्वचस्तत् संयोजनासत्यम्। [10]द्वात्रिंशज्जनपदेष्वार्यानार्यभेदेषु धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रापकं यद्वचः तत् जनपदसत्यम्। ग्रामनगरराजगणपाखण्डजातिकुलादिधर्माणामुपदेष्टृ यद्वचः तद् देशसत्यम्। छद्मस्थज्ञानस्य द्रव्ययाथात्म्यादर्शनेऽपि संयतस्य संयतासंयतस्य वा स्वगुणपरिपालनार्थं प्रासुकमिदमप्रासुकमित्यादि यद्वचः तत् भावसत्यम्। प्रतिनियतषट्तयद्रव्यपर्यायाणामागमगम्यानां याथात्म्याविष्करणं यद्वचः तत् समयसत्यम्।

---

१ अग्रायणीयपूर्वं षण्णवतिलक्ष (९६००००) पदम्। २ सप्ततिलक्ष (७००००००) पदम्। ३ षष्टिलक्ष (६००००००) पदम्। ४ स्थान। ५ एकोनकोटि (९९९९९९९) पदम्। ६ षडुत्तरैककोटि (१००००००६) पदम्। ७ "अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठःशिरस्तथा। जिह्वामूलञ्च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च॥" –पाणिनिशि० श्लो० १३। ८ –न्याबद्धप्र–ता०, श्र०, मू०। ९ वञ्चना। १० द्वात्रिंशत्सहस्रजन– आ०, ब०, द०।

[1]यत्रात्मनोऽस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादयो धर्माः षड्जीवनिकायभेदाश्च युक्तितो निर्दिष्टाः तदात्मप्रवादम्। बन्धोदयोपशमनिर्जरापर्याया अनुभवप्रदेशाधिकरणानि स्थितिश्च जघन्यमध्यमोत्कृष्टा [2]यत्र निर्दिश्यते तत्कर्मप्रवादम्। व्रत-नियम-प्रतिक्रमण-प्रतिलेखन-तपः-कल्पोपसर्गाचार-प्रतिमा - विरा नाराधनाविशुद्धयुपक्रमाः श्रामण्यकारणं च परिमितापरिमितद्रव्यभावप्रत्याख्यानं च [3]यत्राख्यातं तत्प्रत्याख्याननामधेयम्।

समस्ता[4] विद्या अष्टौ महानिमित्तानि तद्विषयो रज्जुराशिविधिः क्षेत्रं श्रेणी लोकप्रतिष्ठा[5]संस्थानं समुद्घातश्च यत्र [6]कथ्यते तद्विद्यानुवादम्। तत्राङ्गुष्ठप्रसेनादीनामल्पविद्यानां सप्तशतानि[7] महारोहिण्यादीनां महाविद्यानां पञ्चशतानि। अन्तरिक्ष-भौमाङ्ग-स्वर-स्वप्न-लक्षण-व्यञ्जन-छिन्नानि अष्टौ महानिमित्तानि। तेषां विषयो लोकः। क्षेत्रमाकाशं पटसूत्रवच्चर्मावयववद्वा आनुपूर्व्येण ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यवस्थिता असंख्याता आकाशप्रदेश[8]-पङ्क्तयः श्रेणय उक्ताः।

अलोकाकाशस्यानन्तस्य बहुमध्ये सुप्रतिष्ठकसंस्थानो लोकः, ऊर्ध्वमधस्तिर्यङ्मृदङ्गवेत्रासनझल्लर्याकृतिः, तनुवातवलयपरिक्षिप्त ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्षु प्रतरवृत्तश्चतुर्दशरज्ज्वायामः। मेरुप्रतिष्ठवज्रवैडूर्यपटलान्तर[9]रुचक[10]संस्थिता अष्टावाकाशप्रदेशा लोकमध्यम्। लोकमध्याद् यावदैशानान्तः तावत् एका रज्जुरर्धं च। माहेन्द्रान्ते तिस्रः। ब्रह्मलोकान्तेऽर्धचतुर्थाः। कापिष्ठान्ते चतस्रः। महाशुक्रान्तेऽर्धपञ्चमाः। सहस्रारान्ते पञ्च। प्राणतान्तेऽर्धषष्ठाः। अच्युतान्ते षट्। आलोकान्तात् सप्त। तथा लोकमध्यादधो यावच्छर्करापृथिव्यन्तस्तावदेका रज्जुः। ततोऽधः पृथिवीनां पञ्चानां प्रत्येकमन्तेऽन्ते रज्जुरेकैका वृद्धा। ततोऽधस्तमस्तमःप्रभाया आलोकान्तादेका रज्जुः। एवं सप्ताधो रज्जवः।

घनोदधि-घनानिल-तनुवातवलयानि त्रीणि, यैरयं परिक्षिप्तः सर्वः समन्ताल्लोकः। त्रयाणामप्यधोलोकदिग्विदिक्पार्श्वभाविनां प्रत्येकं विस्तारो विंशतियोजनसहस्राणि। तत उपरि क्रमतो हानिवशात्तिर्यग्लोकभाविदिग्विदिक्पार्श्वेष्वष्टासु प्रत्येकं त्रीण्यपि वलयानि [11]पञ्च चत्वारि त्रीणि योजनविस्तीर्णानि। पुनरुपरि वृद्धिवशाद् ब्रह्मलोके दिग्विदिक्पार्श्वेष्वष्टासु प्रत्येकं त्रीण्यपि वलयानि सप्तपञ्चचतुर्योजनविस्तीर्णानि। पुनर्हानिवशाल्लोकाग्रे अष्टास्वपि दिग्विदिक्पार्श्वेषु प्रत्येकं त्रीण्यपि वलयानि पञ्चचतुस्त्रियोजनविस्तीर्णानि। दण्डवलयानि पुनरुपरि अधश्च त्रीण्यपि। उपरि लोकाग्रे घनोदधेर्द्विगव्यूती घनानिलस्य क्रोशः तनुवातस्य देशोनःक्रोशो विस्तारः। अधः कलङ्कलपृथिवीपयन्ते घनोदधेः सप्त घनानिलस्य पञ्च तनुवातस्य चत्वारि योजनानि विस्तारः।

अधः लोकमूले दिग्विदिक्षु विष्कम्भः सप्त रज्जवः। तिर्यग्लोके रज्जुरेका। ब्रह्मलोके पञ्च। पुनर्लोकाग्रे रज्जुरेका। लोकमध्यादधो रज्जुमवगाह्य शर्करान्ते अष्टास्वपि दिग्विदिक्षु

---

१ आत्मप्रवादपूर्वे षड्विंशतिकोटि (२६००००००) पदैः। जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोग्गलो। वेदो विण्हू सयंभू सरीरी तह माणओ। सत्तो जंतू य माणी य माई जोगी य संकुडो (अंग प० गा० ८६–८७) इत्याद्यात्मनः–श्र० टि०। २ कर्मप्रवादपूर्वे एककोटयशीतिलक्ष (१८००००००) पदैः। ३ चतुरशीतिलक्ष (८४०००००) पदैः। ४ समस्तवि– श्र०। ५ लोकाधारसंस्थानम्। ६ एककोटिदशलक्ष (११०००००) पदैः। ७ –नि रोहि– आ०, ब०, द०, मु०। ८ –शभूमयः आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ९ वृत्त। १० चतुरस्र। ११ पञ्चचतुस्त्रियो– आ०, ब०, द०, मु०। भूलोयतले पासे हेट्ठादो जाव रज्जुत्ति। जोयणवीससहस्सं बहलं वलयत्तयाण पत्तेयं।। सत्तमखिदिपणधिम्मि य सगपणचत्तारि पणचदुक्कतियं। तिरिए बम्हे उड्ढे सत्तमतिरिए य उत्तकमं।। कोसाणं दुगमेक्कं देसूणं तच्च लोयसिहरम्मि। ऊणधणूणपमाणं पणुवीसंज्झहिय चारि सयं।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विष्कम्भः रज्जुरेका रज्ज्वाश्च षट्सप्तभागाः। ततो रज्जुमवगाह्य बालुकान्ते द्वे रज्जू रज्ज्वाश्च पञ्चसप्तभागाः। ततो रज्जुमवगाह्य पङ्कान्ते तिस्रो रज्जवः रज्ज्वाश्च चत्वारः सप्तभागाः। ततो रज्जुमवगाह्य धूमान्ते चतस्रो रज्जवः रज्ज्वाश्च त्रयः सप्तभागाः। ततो रज्जुमवगाह्य तमःप्रभान्ते पञ्च रज्जवः रज्ज्वाश्च द्वौ सप्तभागौ। ततो रज्जुमवगाह्य तमस्तमःप्रभान्ते षड् रज्जवः रज्ज्वाः सप्तभागश्चैकः। ततो रज्जुमवगाह्य कलङ्कलान्ते विष्कम्भः सप्त रज्जवः। वज्रतलादुपरि रज्जुमुत्क्रम्य विष्कम्भो द्वे रज्जू रज्ज्वाश्चैकः सप्तभागः। ततो रज्जुमुत्क्रम्य तिस्रो रज्जवः रज्ज्वाश्च द्वौ सप्तभागौ। ततो रज्जुमुत्क्रम्य चतस्रो रज्जवः रज्ज्वाश्च त्रयः सप्तभागाः। ततोऽर्धरज्जुमुत्क्रम्य रज्जवः पञ्च। ततोऽर्धरज्जुमुत्क्रम्य चतस्रो रज्जवः रज्ज्वाश्च त्रयः सप्तभागाः। ततो रज्जुमुत्क्रम्य तिस्रो रज्जवः, रज्ज्वाश्च द्वौ सप्तभागौ। ततो रज्जुमुत्क्रम्य द्वे रज्जू रज्ज्वाश्चैकः सप्तभागः। ततो रज्जुमुत्क्रम्य लोकान्ते रज्जुरेका विष्कम्भः। एष रज्जुविधिः।

हन्तेर्गमिक्रियात्वात् संभूयात्मप्रदेशानां च बहिरुद्हननं[1] समुद्घातः। स सप्तविधः—वेदनाकषायमारणान्तिकतेजोविक्रियाऽऽहारककेवलिविषयभेदात्। तत्र वातिकादिरोगविषादिद्रव्यसंबन्धसन्तापापादितवेदनाकृतो वेदनासमुद्घातः। द्वितयप्रत्ययप्रकर्षोत्पादितक्रोधादिकृतः कषायसमुद्घातः। औपक्रमिकानुपक्रमायुःक्षयाविर्भूतमरणान्तप्रयोजनो मारणान्तिकसमुद्घातः। जीवानुग्रहोपघातप्रवणतेजःशरीरनिर्वर्तनार्थस्तेजस्समुद्घातः। एकत्वपृथक्त्वनानाविधविक्रियशरीरवाक्प्रचारप्रहरणादिविक्रियाप्रयोजनो वैक्रियिकसमुद्घातः। अथोक्तविधिना अल्पसावद्यसूक्ष्मार्थग्रहणप्रयोजनाहारकशरीरनिर्वृत्यर्थ आहारकसमुद्घातः। वेदनीयस्य बहुत्वाद् अल्पत्वाच्चायुषोऽनाभोग[3]पूर्वकमायुःसमकरणार्थं द्रव्यस्वभावत्वात् सुराद्रव्यस्य फेनवेगबुद्बुदाविर्भावोपशमनवद्[4] देहस्थात्मप्रदेशानां बहिःसमुद्घातनं केवलिसमुद्घातः।

आहारकमारणान्तिकसमुद्घातावेकदिक्कौ। यत आहारकशरीरमात्मा निर्वर्तयन् श्रेणिगतित्वात् एकदिक्कानात्मदेशानसंख्यातान्निर्गमय्य आहारकशरीरमरत्निमात्रं निर्वर्तयति। अन्यक्षेत्रसमुद्घातकारणाभावात् यत्रानेन नरकादावुत्पत्तव्यं तत्रैव मारणान्तिकसमुद्घातेन आत्मप्रदेशा एकदिक्काः [5]समुद्धन्यन्ते नान्यक्षेत्रे, अतस्तावेकदिक्कौ। शेषाः पञ्च समुद्घाताः षड्दिक्काः। यतो वेदनादिसमुद्घातवशाद् बहिर्निःसृतानामात्मप्रदेशानां पूर्वापरदक्षिणोत्तरोर्ध्वाधोदिक्षु गमनमिष्टं श्रेणिगतित्वादात्मप्रदेशानाम्। वेदना-कषाय-मारणान्तिक-तेजो-वैक्रियिकाऽऽहारकसमुद्घाताः [6]षडसंख्येयसमयिकाः। केवलिसमुद्घातः अष्टसमयिकः—दण्डकवाटप्रतरलोकपूरणानि चतुर्षु समयेषु पुनः प्रतरकपाटदण्ड[7]स्वशरीरानुप्रवेशाश्चतुर्षु इति।

रविशशिग्रहनक्षत्रतारागणानां चारोपपादगतिविपर्ययफलानि शकुनव्याहृतम् अर्हद्बलदेव-वासुदेव-चक्रधरादीनां गर्भावतरणादिमहाकल्याणानि च यत्रोक्तानि तत्[8] कल्याणनामधेयम्। कायचिकित्साद्यष्टाङ्ग आयुर्वेदः भूतिकर्म जाङ्गुलिकप्रक्रमः प्राणापानविभागोऽपि [9]यत्र विस्तारेण वर्णितस्तत् प्राणावायम्। लेखादिकाः[10] कला द्वासप्ततिः, गुणाश्चतुःषष्टि स्त्रैणाः, शिल्पानि काव्यगुणदोषक्रियाछन्दोविचितिक्रिया-क्रियाफलोपभोक्तारश्च [11]यत्र व्याख्याताः

१–द्गमनं– आ०, ब०, द०, मु०। २ हेतु। ३ मनःपूर्वकरहितम्, चित्ताभोगो मनस्कारः इत्यमरः। ४ –शमवद् अ०। ५ समुद्गम्यन्ते आ०, ब०, द०, मु०। ६ षट्संख्येय– आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ७ –दण्डकस्वश– मू०, ता०, अ०। ८ कल्याणवादपूर्वं षट्विंशतिकोटि (२६००००००) पदैः। ९ त्रयोदशकोटि(१३००००००)पदैः। १० भरतशास्त्रादि। ११ नवकोटि (९००००००) पदैः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्क्रियाविशालम् । [1]यत्राष्टौ व्यवहाराश्चत्वारि बीजानि परिकर्म राशिक्रियाविभागश्च [2]सर्वश्रुतसंपदुपदिष्टा तत्खलु लोकबिन्दुसारम् ।

आरातीयाचार्यकृताङ्गार्थप्रत्यासन्नरूपमङ्गबाह्यम् ।१३। यद् गणधरशिष्यप्रशिष्यै[3]रारातीयैरधिगतश्रुतार्थतत्त्वैः कालदोषादल्पमेधायुर्बलानां प्राणिनामनुग्रहार्थमुपनिबद्धं संक्षिप्ताङ्गार्थवचनविन्यासं तदङ्गबाह्यम् ।

तदनेकविधं कालिकोत्कालिकादिविकल्पात् ।१४। तदङ्गबाह्यमनेकविधम्–कालिकमुत्कालिकमित्येवमादिविकल्पात् । स्वाध्यायकाले नियतकालं कालिकम् । अनियतकालमुत्कालिकम् । तद्भेदा [4]उत्तराध्ययनादयोऽनेकविधाः[5] ।

अत्राह–अनुमानादीनां पृथगनुपदेशः किमर्थः ?

अनुमानादीनां पृथगनुपदेशः श्रुतावरोधात् ।१५। यस्मादेतान्यनुमानादीनि श्रुते अन्तर्भवन्ति तस्मात्तेषां पृथगुपदेशो न क्रियते । तद्यथा–*"**प्रत्यक्षपूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च**" [न्यायसू० १।१।५] इति । तत्र [6]येनाग्नेर्निःसरन् पूर्वं धूमो दृष्टः स प्रसिद्धाग्निधूमसंबन्धाहितसंस्कारः पश्चाद्धूमदर्शनाद् 'अस्त्यत्राग्निः' इति [7]पूर्ववदग्निं गृह्णातीति पूर्ववदनुमानम् । तथा येन पूर्वं विषाणविषाणिनोः संबन्ध उपलब्धः तस्य विषाणरूपदर्शनाद्विषाणिन्यनुमानं शेषवत् । तथा देवदत्तस्य देशान्तरप्राप्तिं गतिपूर्विकां दृष्ट्वा संबन्ध्यतरे सवितरि देशान्तरप्राप्तिदर्शनाद् गतेरत्यन्तपरोक्षाया अनुमानं सामान्यतोदृष्टम् । तदेतत्त्रितयमपि स्वप्रतिपत्तिकाले अनक्षरश्रुतं [8]परप्रतिपादनकाले अक्षरश्रुतम् । 'यथा गौस्तथा गवयः केवलं सास्नारहितः' इत्युपमानमपि स्वपरप्रतिपत्तिविषयत्वादक्षरानक्षरश्रुते अन्तर्भवति । तथा शाब्दमपि प्रमाणं श्रुतमेव । ऐतिह्यस्य च[9] 'इत्याह स भगवान् ऋषभः' इति परंपरीणपुरुषागमाद् गृह्यते इति श्रुतेऽन्तर्भावः । [10]प्रकृतिपुष्टो दिवा न भुङ्क्ते अथ च जीवतीत्यर्थादापन्नं रात्रौ भुङ्क्ते इत्यर्थापत्तिः । 'चत्वारः प्रस्था आढकम्' इति सति ज्ञाने आढकं दृष्ट्वा संभवत्यर्धाढकं [11]कुडवो वेति प्रतिपत्तिः संभवः । तृणगुल्मादीनां स्नेहपर्णफलाद्यभावं दृष्ट्वा अनुमीयते नूनमत्र न वृष्टः पर्जन्य इत्यभावः । एतेषामप्यर्थापत्त्यादीनाम् अनुक्तानामनुमानसमानमिति पूर्ववत् श्रुतान्तर्भावः[12] ।

व्याख्यातं परोक्षम्, प्रत्यक्षमिदानीं वक्तव्यम् । तद् द्वेधा–देशप्रत्यक्षं सर्वप्रत्यक्षं च । देशप्रत्यक्षम्–अवधिमनःपर्ययज्ञाने । सर्वप्रत्यक्षं केवलम् । यद्येवमिदमेव तावदवधिज्ञानं त्रिप्रकारप्रत्यक्षस्याऽऽद्यं व्याक्रियतामिति । अत्रोच्यते–व्याख्यातमस्य लक्षणम्–आत्मप्रसादविशेषे[13] सत्यन्वर्थसंज्ञाकरणादवधीयते तदित्यवधिज्ञानमिति । यद्येवं तस्येदानीं भेदो वक्तव्यः ? उच्यते–द्विविधोऽवधिः, भव-गुणप्रत्ययभेदात्, देशसर्वावधिभेदाद्वा । यद्येवं त्रैविध्यं नोपपद्यते–

---

१ द्वादशकोटिपञ्चाशल्लक्ष (१२५००००००) पदैः । २ त्रिलोकावयवस्वरूपं मोक्षसुखञ्च । ३ –ष्यैः प्रशि– आ०, ब०, मु० । ४ उत्तराणि अधीयन्तेऽस्मिन्निति उत्तराध्ययनम्, अत्र चतुर्विधोपसर्गाणां द्वाविंशतिपरीषहसहनविधानम्, अस्य प्रश्नस्य अयमुत्तर इति विधानञ्च कथ्यते । ५ सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवः वन्दना प्रतिक्रमणमित्यादयः । ६ पुरुषेण । ७ पूर्वं दृष्टधूमवन्तम् । ८ परप्रतिपत्तिका– आ०, ब०, द०, मु० । ९ चेतीह– मु०, मू०, ब०, द०, आ०, श्र०, ता० । १० स्वभावेन प्रकृत्या, रात्रिभोजी इत्यर्थः– सम्पा० । प्रकृतिपुरुषो मु०, ता०, श्र०, द०, ब०, ज० । ११ कुडवो ता०, श्र०, आ०, ब० । १२ इति तत्त्वार्थवार्त्तिकालङ्कारे प्रथमाध्याये सप्तममाह्निकम्– श्र० । १३ –सावाविशेषे– मू०, श्र० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देशावधिः परमावधिः सर्वावधिश्चेति; नैष दोषः; सर्वशब्दस्य निरवशेषवाचित्वात्, सर्वावधिमपेक्ष्य परमावधेर्देशावधित्वमेवेति वक्ष्यामः ।

तत्र योऽसौ भवप्रत्ययस्तत्प्रतिपादनार्थमाह—

[1]भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥२१॥

भव इत्युच्यते[2] । को भवो नाम ?

आयुर्नामकर्मोदयविशेषापादितपर्यायो भवः ।१। आत्मनो यः पर्याय आयुषो नाम्नश्चोदयविशेषाच्छेषकारणापेक्षादाविर्भवति साधारणलक्षणो भव इत्युच्यते ।

प्रत्ययशब्दस्यानेकार्थसंभवे विवक्षातो निमित्तार्थगतिः ।२। अयं प्रत्ययशब्दोऽनेकार्थः । क्वचिज्ज्ञाने वर्तते, यथा 'अर्थाभिधानप्रत्ययाः' इति । क्वचिच्छपथे वर्तते, यथा परद्रव्यहरणादिषु सत्युपालम्भे [3]"प्रत्ययोऽनेन कृतः' इति । क्वचिद्धेतौ वर्तते, यथा अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः इति । तत्रेह विवक्षातो निमित्तार्थो वेदितव्यः । भवप्रत्ययो भवनिमित्त इति ।

क्षयोपशमाभाव इति चेत्; न; तस्मिन् सति सद्भावात् खे पतत्त्रिगतिवत् ।३। स्यादेतत्—यदि तत्र भवनिमित्तोऽवधिः कर्मणः क्षयोपशमोऽनर्थकः इति; तन्न; किं कारणम् ? तस्मिन् सति सद्भावात्[4] खे पतत्त्रिगतिवत् । यथा आकाशे सति पक्षिणो गतिर्भवति तथा अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमे अन्तरङ्गे हेतौ सत्यवधेर्भावः[5], भवस्तु बाह्यो हेतुः ।

इतरथा ह्यविशेषप्रसङ्गः ।४। [6]यदि हि भव एव हेतुः स्यात् सर्वेषां देवनारकाणां तुल्य इत्यवधेरविशेषप्रसङ्गः स्यात् ? इष्यते च प्रकर्षाप्रकर्षभावेन वृत्तिः । कथं पुनर्भवो हेतुः इति चेत् ?

व्रतनियमाद्यभावात् ।५। यथा तिरश्चां मनुष्याणां चाऽहिंसादिव्रतनियमहेतुकोऽवधिः न तथा देवानां नारकाणां चाऽहिंसादिव्रतनियमाभिसन्धिरस्ति । कुतः ? भवं प्रतीत्य कर्मोदयस्य तथाभावात्, तस्मात्तत्र भव एव बाह्यसाधनं[7] प्रधानमित्युच्यते ।

अविशेषात् सर्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; सम्यगधिकारात् ।६। स्यादेतत्—देवनारकाणामित्यविशेषवचनात् मिथ्यादृष्टीनामप्यवधिप्रसङ्ग इति; [8]तन्न; किं कारणम् ? सम्यगधिकारात् । 'सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानम्' [9]इत्यनुवर्तते, तत्संबन्धात् सम्यग्दृष्टीनामवधिः मिथ्यादृष्टीनां विभङ्गो वेदितव्यः । अथवा, वक्ष्यमाणाभिसंबन्धान्न सर्वप्रसङ्गः । वक्ष्यते हि एतत्—*"**मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ।**" [त० सू० १।३५] इति । अथवा, व्याख्यानाद्विशेषप्रतिपत्तिः ।

आगमे प्रसिद्धेर्नारकशब्दस्य पूर्वनिपात इति चेत्; न; उभयलक्षणप्राप्तत्वात् देवशब्दस्य ।७। स्यादेतत्—नारकशब्दस्य पूर्वनिपातेन भवितव्यम् । कुतः ? आगमे प्रसिद्धेः । आगमे हि [10]जीवस्थानादौ सदादिष्वनुयोगद्वारेण आदेशवचने नारकाणामेवादौ सदादिप्ररूपणा कृता, ततो नारक-

---

१ अत्र देशावधेर्जघन्यमिति ज्ञातव्यम् । स गृहस्थतीर्थंकराणामपि भवप्रत्ययो भवति । तदुक्तं नेमिचन्द्रसिद्धान्तिभिः—भवपच्चइगो ओही देसोही होइ परमसव्वोही । गुणपच्चइगो णियमा देसोही वि य गुणो होदि । देसोहिस्स य अवरं णरतिरिये होदि संजदम्हि वरं । परमोही सव्वोही चरमसरीरस्स विरदस्स ॥ इति । —अ० टि० । २ को नाम भवः आ०, ब०, द०, ता०, मु० । ३ प्रत्ययो येन अ० । ४ तद्भावात् आ०, ब०, द०, मु० । ५ उत्पत्तिः । ६ यदि भव– आ०, ब०, मु० । ७–साधनमित्यु– आ०, ब, मु० । ८ चेन्न अ० । ९ –इति वर्तते आ०, ब०, द०, मु०, ता० । १० षट्खं० सं०, पु० २०१ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दस्य पूर्वनिपातेन भवितव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? उभयलक्षणप्राप्तत्वाद् देवशब्दस्य। देवशब्दो हि अल्पाजभ्यर्हितश्चेति [1]वृत्तौ पूर्वप्रयोगार्हः। आगमे वाक्यविषयो निर्देश इति नास्ति नियमः।

आह–उक्तं भवता 'इष्यते प्रकर्षाप्रकर्षभावेन वृत्तिः' इति; तत्कथमिति चेत् ? उच्यते–देवेषु तावद् भवनवासिनां दशप्रकाराणामपि जघन्योऽवधिः पञ्चविंशतियोजनानि। उत्कृष्टः–असुराणां तिर्यगसंख्याता योजनकोटिकोटयोऽधः, ऊर्ध्वमृतुविमानस्योपरिपर्यन्तः। नागादिकुमाराणां नवविधानामप्युत्कृष्टोऽवधिः अधोऽसंख्यातानि योजनसहस्राणि, ऊर्ध्वं मन्दिर[2]चूलिकाया उपरिपर्यन्तः, तिर्यगसंख्यातानि योजनसहस्राणि। व्यन्तराणामष्टविधानां जघन्योऽवधिः पञ्चविंशतियोजनानि। उत्कृष्टोऽप्यसंख्यातानि योजनसहस्राणि अधः, ऊर्ध्वं स्वविमानस्योपरिपर्यन्तः, तिर्यगसंख्याता योजनकोटिकोटयः। ज्योतिषां जघन्योऽवधिरधः संख्येयानि योजनानि, उत्कृष्टश्चाऽसंख्येयानि योजनसहस्राणि, ऊर्ध्वमात्मीयविमानस्योपरिपर्यन्तः, तिर्यगसंख्याता योजनकोटिकोटयः।

वैमानिकेषु सौधर्मैशानीयानां जघन्योऽवधिर्ज्योतिषामुत्कृष्टः, रत्नप्रभाया अधश्चरम उत्कृष्टः। सानत्कुमारमाहेन्द्राणां जघन्योऽवधिः रत्नप्रभाया अधश्चरमः, उत्कृष्टः शर्कराप्रभाया अधश्चरमः। ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठानां जघन्योऽवधिः शर्कराप्रभाया अधश्चरमः, उत्कृष्टो वालुकाप्रभाया अधश्चरमः। शुक्रमहाशुक्रसतारसहस्राराणां जघन्योऽवधिः वालुकाप्रभाया अधश्चरमः, उत्कृष्टः पङ्कप्रभाया अधश्चरमः। आनतप्राणताऽऽरणाऽच्युतानां जघन्योऽवधिः पङ्कप्रभाया अधश्चरमः, उत्कृष्टो धूमप्रभाया अधश्चरमः। नवानां ग्रैवेयिकानां जघन्योऽवधिः धूमप्रभाया अधश्चरमः, उत्कृष्टः तमःप्रभाया अधश्चरमः। नवानामनुदिशानां पञ्चानुत्तरविमानवासिनाञ्च लोकनालिपर्यन्तोऽवधिः। सौधर्मादीनामनुत्तरान्तानामूर्ध्वं स्वविमानस्योपरिपर्यन्तः, तिर्यगसंख्याता योजनकोटिकोटयः।

अथैषां कालद्रव्यभावेषु कोऽवधिरिति ? अत्रोच्यते–यस्य यावत्क्षेत्रावधिस्तस्य तावदाकाशप्रदेशपरिच्छिन्ने कालद्रव्ये [3]भवतः। तावत्सु[4] समयेष्वतीतेष्वनागतेषु च ज्ञानं वर्तते, [5]तावदसंख्यातभेदेषु [6]अनन्तप्रदेशेषु पुद्गलस्कन्धेषु जीवेषु च सकर्मकेषु। भावतः स्वविषयपुद्गलस्कन्धानां रूपादिविकल्पेषु जीवपरिणामेषु चौदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकेषु वर्तते। कुतः ? पौद्गलिकत्वादेषाम्।

नारकेषु च [7]योजनमर्धगव्यूतहीनमागव्यूतात्। तद्यथा–रत्नप्रभायां योजनमवधिः अधः। द्वितीयायामधः अर्धचतुर्थानि गव्यूतानि। तृतीयायामधः त्रीणि गव्यूतानि। चतुर्थ्यामधोऽर्धतृतीयानि गव्यूतानि। प[8]ञ्चम्यां द्वे गव्यूते। षष्ठ्यामधोऽर्धाधिकं गव्यूतम्। सप्तम्यामधो गव्यूतम्। सर्वासु पृथिवीषु नारकाणामवधिरुपरि आत्मीयनरकावासान्तः, तिर्यगसंख्याता योजनकोटीकोटयः। कालद्रव्यभावपरिमाणं पूर्ववद्वेदितव्यम्।

यदि भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्, अथ क्षयोपशमहेतुकः केषामिति ? अत आह—

१ समासे –सम्पा०। २ मेरुपर्वतचूलिकायाः –सम्पा०। ३ देवस्य। ४ कालश्च द्रव्यञ्च ते। ५ आकाशपरिच्छिन्नप्रदेशरूपेषु। ६ द्रव्यावधिं व्याचष्टे। ७ तेषु प्रत्येकं देशेषु। ८ सत्तमखिदिम्मि कोसं कोसस्सद्धं पवड्ढदे ताव। जाव य पढमे णिरए जोयणमेक्कं हवे पुण्णं॥ (गो० जीव० गा० २४३) –अ० टि०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥२२॥

अवधिज्ञानावरणस्य देशघातिस्पर्धकानामुदये सति सर्वघातिस्पर्धकानामुदयाभावः क्षयः, तेषामेवाऽनुदयप्राप्तानां सदवस्थोपशमः, तौ निमित्तमस्येति क्षयोपशमनिमित्तः। स शेषाणां वेदितव्यः। के पुनः शेषाः? मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च।

शेषग्रहणादविशेषप्रसङ्ग इति चेत्; न; तत्सामर्थ्यविरहात्।१। स्यादेतत्-देवनारकेभ्योऽन्ये शेषाः, ततस्तेषामविशेषात् सर्वेषां तिरश्चां मनुष्याणां चाऽवधिप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम्? तत्सामर्थ्यविरहात्। न ह्यसंज्ञिनामपर्याप्तकानां च तत्सामर्थ्यमस्ति, संज्ञिनां पर्याप्तकानां च न सर्वेषाम्। केषां तर्हि?

यथोक्तनिमित्तसन्निधाने सति शान्तक्षीणकर्मणां तदुपलब्धेः।२। यथोक्तसम्यग्दर्शनादि-निमित्तसन्निधाने सति [1]शान्तक्षीणकर्मणां तस्योपलब्धिर्भवति। ननु [2]सर्वः क्षयोपशमनिमित्तः तत्र किमुच्यते-'क्षयोपशमनिमित्तः शेषाणाम्' इति?

सर्वस्य क्षयोपशमनिमित्तत्वे तद्वचनं नियमार्थम् अब्भक्षवत्।३। यथा न कश्चिदपो न भक्षयति इत्यब्ग्रहणं नियमार्थं क्रियते अप एव भक्षयति इति, तथा [3]सर्वस्य क्षयोपशमनिमित्तत्वे क्षयोपशमग्रहणं नियमार्थम् 'क्षयोपशमनिमित्त एव न भवनिमित्तः' इति।

स एषोऽवधिः षड्विकल्पः। कुतः?

अनुगाम्यननुगामिवर्धमानहीयमानाऽवस्थिताऽनवस्थितभेदात् षड्विधः।४। कश्चिदवधिः भास्करप्रकाशवद् गच्छन्तमनुगच्छति। कश्चिन्नानुगच्छति तत्रैवातिपतति [4]उन्मुखप्रश्ना-देशिकपुरुषवचनवत्। अपरोऽवधिः अरणिनिर्मथनोत्पन्नशुष्कपत्रोपचीयमानेन्धननिचयसमिद्ध-पावकवत् सम्यग्दर्शनादिगुणविशुद्धिपरिणामसन्निधानाद् यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो वर्धते आ-असंख्येयलोकेभ्यः। अपरोऽवधिः [5]परिच्छिन्नोपादा[6]नसन्तत्यग्निशिखावत् सम्यग्दर्शनादिगुण-हानिसंक्लेशपरिणामविवृद्धियोगात् यत्प्रमाण उत्पन्नस्ततो हीयते आ अङ्गुलस्याऽसंख्येय-भागात् इति। अपरोऽवधिः सम्यग्दर्शनादिगुणावस्थानात् यत्परिमाण उत्पन्नस्तत्परिमाण एवाव-तिष्ठते न हीयते नापि वर्धते लिङ्गवत्[7], आभवक्षयादाकेवलज्ञानोत्पत्तेर्वा। अन्योऽवधिः सम्यग्दर्शनादि-गुणवृद्धिहानियोगात् यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो वर्धते यावदनेन वर्धितव्यं हीयते च यावदनेन हातव्यं वायुवेगप्रेरितजलोर्मिवत्। एवं षड्विकल्पोऽवधिः भवति।

पुनरपरेऽवधेस्त्रयो भेदाः-देशावधिः परमावधिः सर्वावधिश्चेति। तत्र देशावधिस्त्रेधा-जघन्य उत्कृष्टः अजघन्योत्कृष्टश्चेति। तथा परमावधिरपि त्रिधा। सर्वावधिरविकल्पत्वादेक एव। [8]उत्सेधाङ्गुलासंख्येयभागक्षेत्रो देशावधिर्जघन्यः। उत्कृष्टः कृत्स्नलोकः। तयोरन्तराले असंख्येयविकल्पः अजघन्योत्कृष्टः। परमावधिर्जघन्यः एकप्रदेशाधिकलोकक्षेत्रः। उत्कृष्टोऽ-संख्येयलोकक्षेत्रः। अजघन्योत्कृष्टो मध्यमक्षेत्रः। उत्कृष्टपरमावधिक्षेत्राद् बहिरसंख्यातक्षेत्रः सर्वावधिः।

---

१ क्षयोपशम। २ सर्वस्य श्रा०, ब० द०, मु०। ३ सर्वक्षयो- श्रा०, ब०, द०, मु०। ४ प्रभिमुख। ५ उद्धृत। ६ काष्ठ। ७ स्वस्तिकादिवत्। श्रीवृक्षशङ्खपद्मवज्रस्वस्तिकझषकल-शादिशुभचिह्नानि यथा न हीयन्ते नापि वर्धन्ते तथा प्रकृतमपि। ८ व्यवहाराङ्गुलमत्र ग्राह्यम्। सुहु-मणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि। अवरोगाहणमाणं जहण्णयं ओहिखेत्तं तु। इत्युक्त-त्वात्- श्र० टि०।

'वर्धमानो हीयमानः अवस्थितः अनवस्थितः अनुगामी अननुगामी अप्रतिपाती प्रतिपाती' इत्येतेऽष्टौ भेदा देशावधेर्भवन्ति । हीयमानप्रतिपातिभेदवर्जा इतरे षड् भेदा भवन्ति परमावधेः । 'अवस्थितोऽनुगा[1]म्यननुगाम्यप्रतिपाती' इत्येते चत्वारो भेदाः सर्वावधेः । तत्र षडाद्या उक्तलक्षणाः । प्रतिपातीति विनाशी विद्युत्प्रकाशवत् । तद्विपरीतोऽप्रतिपाती ।

तत्र देशावधेः सर्वजघन्यस्य क्षेत्रम् उत्सेधाङ्गुलस्याऽसंख्येयभागः, आवलिकाया असंख्येयभागः कालः, अङ्गुलस्याऽसंख्येयभागक्षेत्रप्रदेशप्रमाणं द्रव्यम्, तत्प्रमाणपरिच्छिन्नेष्वसंख्येयेषु स्कन्धेष्वनन्तप्रदेशेषु ज्ञानं वर्तते, स्वविषयस्कन्धगतानन्तवर्णादिविकल्पो भावः ।

[2]तस्य वृद्धिरुच्यते–प्रदेशोत्तरा क्षेत्रवृद्धिर्नास्त्येकजीवस्य, नानाजीवानां तु प्रदेशोत्तरक्षेत्र[3]-वृद्धिर्भवति आसर्वलोकात् । एकजीवस्य त्वङ्गुलासंख्येयभागादूर्ध्वं विशुद्धिवशात् मण्डूकप्लुत्या अगुङ्लासंख्येयभागक्षेत्रवृद्धिर्भवति आसर्वलोकात् । नानाजीवा अपि प्रदेशोत्तरवृद्ध्या तावद्वर्धयन्ते यावदङ्गुलस्यासंख्येयभागः । कालवृद्धिरेकजीवस्य नानाजीवानां वा मौलादावलिका[4]संख्येयभागात् क्वचिदेकसमयोत्तरा क्वचिद् द्विसमयोत्तरा क्वचित् संख्येयसमयोत्तरा क्वचिदसंख्येयसमयोत्तरा यावदावलिकाया असंख्येयभागः । सेयं क्षेत्रकालवृद्धिः । कया वृद्ध्या ? चतुर्विधया संख्येयभागवृद्ध्या असंख्येयभागवृद्ध्या संख्येयगुणवृद्ध्या असंख्येयगुणवृद्ध्या वा । एवं द्रव्यमपि वर्धमानं चतुर्विधया वृद्ध्या वर्धते । भाववृद्धिः षोढा–अनन्तभागवृद्धिः असंख्येयभागवृद्धिः संख्येयभागवृद्धिः संख्येयगुणवृद्धिरसंख्येयगुणवृद्धिरनन्तगुणवृद्धिरिति । अनया क्षेत्रकालद्रव्यभाववृद्ध्योक्तया आसर्वलोकात् वृद्धिरवसेया । हानिरपि तथैव । योऽङ्गुलसंख्येयभागक्षेत्रोऽवधिः तस्यावलिकायाः संख्येयभागः कालः, अङ्गुलसंख्येयभागक्षेत्राकाशप्रदेशप्रमाणं द्रव्यम्, भावः पूर्ववदनन्तो वा स्यादसंख्येयो वा स्यात्संख्येयो वा स्यात् । योऽङ्गुलमात्रक्षेत्रोऽवधिः तस्येषदूना आवलिका कालः, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । योऽङ्गुल[5]पृथक्त्वक्षेत्रोऽवधिः तस्य आवलिका कालः द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यो हस्तप्रमाणक्षेत्रोऽवधिः तस्य आवलिकापृथक्त्वं कालः, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यो गव्यूतिमात्रक्षेत्रोऽवधिः तस्य साधिकोच्छ्वासः कालः, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यो योजनमात्रक्षेत्रोऽवधिः तस्य भिन्नमुहूर्तः कालः, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यः पञ्चविंशतियोजनप्रमाणक्षेत्रोऽवधिः तस्येषदूनो दिवसः कालः, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यो भरतक्षेत्रमात्रोऽवधिः तस्य अर्धमासः कालः, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यो जम्बूद्वीपमात्रक्षेत्रोऽवधिः तस्य साधिको मासः कालः, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यो मनुष्यलोकमात्रक्षेत्रोऽवधिः तस्य संवत्सरः कालः, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यो रुचकान्तप्रमाणक्षेत्रोऽवधिः तस्य संवत्सरपृथक्त्वं कालः, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यः संख्येयद्वीपसमुद्रक्षेत्रोऽवधिः तस्य संख्येयाः संवत्सराः कालः, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । योऽसंख्येयद्वीपसमुद्रक्षेत्रोऽवधिः तस्याऽसंख्येयाः संवत्सराः कालः, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । एवं ज(एवमज)-घन्योत्कृष्टस्तिर्यङ्नराणां देशावधिरुक्तः ।

अथ तिरश्चामुत्कृष्टदेशावधिरुच्यते—क्षेत्रमसंख्येया द्वीपसमुद्राः । कालोऽप्यसंख्येयाः संवत्सराः । तैजसशरीरप्रमाणं द्रव्यम् । कियच्च तत् ? असंख्येयद्वीपसमुद्राकाशप्रदेशपरिच्छिन्नाभिः असंख्येयाभिस्तेजःशरीरद्रव्यवर्गणाभिर्निर्वर्तितं तावदसंख्येय[6]स्कन्धाननन्तप्रदेशान् जानातीत्यर्थः । भावः पूर्ववत् । तिरश्चां मनुष्याणां च जघन्यो देशावधिर्भवति । तिरश्चां तु देशावधिरेव न परमावधिर्नापि सर्वावधिः ।

---

१ –गामीवर्धमानाप्र– भा० २ । २ सर्वजघन्यस्य । ३ –क्षेत्रे वृद्धि– आ०, ब०, द०, मु० । ४ –कालासं– आ०, ब०, द०, मु० । ५ –लिपृ– श्र०, ता० । ६ –स्कन्धानन्त– श्र० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ मनुष्याणामुत्कृष्टो देशावधिरुच्यते—क्षेत्रमसंख्येया द्वीपसमुद्राः। कालोऽप्यसंख्येयाः संवत्सराः। द्रव्यं कार्मणद्रव्यम्। कियच्च तत्? असंख्येयद्वीपसमुद्राकाशप्रदेशपरिच्छिन्ना असंख्येया ज्ञानावरणादिकार्मणद्रव्यवर्गणाः। भावः पूर्ववत्। एष देशावधिरुत्कृष्टो मनुष्याणां संयतानां भवति।

परमावधिरुच्यते—जघन्यस्य परमावधेः क्षेत्रं प्रदेशाधिको लोकः। कालः प्रदेशाधिकलोकाकाशप्रदेशावधृतप्रमाणा अविभागिनः समयाः, ते चाऽसंख्याताः संवत्सराः। द्रव्यं प्रदेशाधिकलोकाकाशप्रदेशावधृतप्रमाणम्। भावः पूर्ववत्। अतः परं क्षेत्रवृद्धिः—नानाजीवैकजीवानामविशेषेण विशुद्धिवशादसंख्येया लोकाः, एवं तावदसंख्येया लोका वृद्धिर्यावदुत्कृष्टपरमावधिक्षेत्रम्। कियन्तश्च ते असंख्येयाः? आवलिकाया असंख्येयभागप्रमाणाः। कालद्रव्यभावाः पूर्ववत्। उत्कृष्टपरमावधेः क्षेत्रं सलोकालोकप्रमाणा[1] असंख्येया लोकाः। कियन्तस्ते? अग्निजीवतुल्याः। कालद्रव्यभावाः पूर्ववत्[2]। स एषः त्रिविधोऽपि परमावधिः उत्कृष्टचारित्रयुक्तस्यैव भवति नान्यस्य। वर्धमानो भवति न हीयमानः। अप्रतिपाती न प्रतिपाती। यस्य यावति[3] च लोके लोकप्रमाणासंख्येयलोकक्षेत्रे जातस्तस्य तावत्यवस्थानादवस्थितो भवति, अनवस्थितश्च वृद्धिं प्रति न हानिम्। ऐहलौकिकदेशान्तरगमनादनुगामी पारलौकिकदेशान्तरानुगमनाभावादननुगामी।

सर्वावधिरुच्यते—असंख्येयानामसंख्येयभेदत्वाद् उत्कृष्टपरमावधिक्षेत्रमसंख्येयलोकगुणितमस्य क्षेत्रम्, कालद्रव्यभावाः पूर्ववत्। स एष न वर्धमानो न हीयमानो नानवस्थितो न प्रतिपाती, प्राक्संयतभवक्षयात् अवस्थितोऽप्रतिपाती, भवान्तरं प्रत्यननुगामी देशान्तरं प्रत्यनुगामी। सर्वशब्दस्य साकल्यवाचित्वात् द्रव्यक्षेत्रकालभावैः सर्वावधेरन्तःपाती परमावधिः, अतः परमावधिरपि देशावधिरेवेति द्विविध एवावधिः—सर्वावधिर्देशावधिश्च।

उक्तायां वृद्धौ यदा कालवृद्धिस्तदा चतुर्णामपि वृद्धिर्नियता। क्षेत्रवृद्धौ कालवृद्धिर्भाज्या—स्यात्कालवृद्धिः स्यान्नेति, द्रव्यभावयोस्तु वृद्धिर्नियता। द्रव्यवृद्धौ भाववृद्धिर्नियता, क्षेत्रकालवृद्धिः पुनर्भाज्या—स्याद्वा न वेति। भाववृद्धावपि द्रव्यवृद्धिर्नियता, क्षेत्रकालवृद्धिर्भाज्या—स्याद्वा न वेति।

स एषोऽवधिज्ञानोपयोगो द्विधा भवति एकक्षेत्रोऽनेकक्षेत्रश्च। [4]श्रीवृक्षस्वस्तिकनन्द्यावर्ताद्यन्यतमोपयोगोपकरण एकक्षेत्रः। तदनेकोपकरणोपयोगोऽनेकक्षेत्रः। यद्येवं परायत्तत्वात् परोक्षत्वप्रसङ्गः? न; इन्द्रियेषु परत्वरूढेः।

***"इन्द्रियाणि [5]पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।**
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेः परतरो हि सः[6]॥" [भग० गी० ३।४२] इति।

एवं बहुधा व्याख्यातमवधिज्ञानम्, मनःपर्ययस्येदानीमवसरः[7] प्राप्तः, तस्य भेदपुरस्सरं लक्षणं व्याचिख्यासुरिदमाह—

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥२३॥

[8]ऋज्वी निर्वर्तिता प्रगुणा च। कस्मात्? निर्वर्तितवाक्कायमनस्कृतार्थस्य परकीयमनोगतस्य विज्ञानात्। ऋज्वी मतिर्यस्य सोऽयमृजुमतिः। [9]अनिर्वर्तिता कुटिला च [10]विपुला। कस्मात्?

१ लोकप्रदेशप्रमाण। २ –त् एष मु०। ३– ति स लोके आ०, ब०, द०, मु०, अ०, ता०, ज०, भा० १, भा० २। ४ श्रीवृषभस्व– आ०, ब०, द०, मु०। ५ अन्य। ६ आत्मा। ७ –वसरप्राप्तस्य आ०, ब०, मु०। –सरप्राप्तस्तस्य ब०, द०, मू०, ता०। प्रस्तुतः कालः। ८ सा ऋज्वी इत्युच्यते। ९ असम्पूर्णा। १० या सा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनिर्वर्तितवाक्कायमनस्कृतार्थस्य परकीयमनोगतस्य विज्ञानात् । विपुला मतिरस्य स विपुलमतिः । ऋजुमतिश्च विपुलमतिश्च ऋजुविपुलमती । एकस्य मतिशब्दस्य [1]गतार्थत्वादप्रयोगः[2] । अथवा, ऋजुश्च विपुला च ऋजुविपुले, ऋजुविपुले मती [3]ययोस्तौ ऋजुविपुलमती इति[4] । स एष मनःपर्ययो द्विधा ऋजुमतिर्विपुलमतिरिति । अत्रोक्तो भेदः ।

लक्षणमस्येदानीं वक्तव्यमिति ? अत्रोच्यते—

मनःसंबन्धेन लब्धवृत्तिर्मनःपर्ययः ।१। वीर्यान्तरायमनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभोपष्टम्भाद् आत्मीयपरकीयमनःसंबन्धेन लब्धवृत्तिरुपयोगो मनःपर्ययः ।

मतिज्ञानप्रसङ्ग इति चेत्; न; अन्यदीयमनोऽपेक्षामात्रत्वाद् अभ्रे चन्द्रव्यपदेशवत् ।२। स्यान्मतम्—यथा मनश्चक्षुरादिसंबन्धाच्चक्षुरादिज्ञानमाविर्भवति तन्मतिज्ञानम् तथा मनःपर्ययोऽपि मनःसंबन्धाल्लब्धवृत्तिरिति मतिज्ञानं प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? अन्यदीयमनोऽपेक्षामात्रत्वात् । कथम् ? अभ्रे चन्द्रव्यपदेशवत् । यथा 'अभ्रे चन्द्रमसं पश्य' इति अभ्रमपेक्षाकारणमात्रं भवति, न च चक्षुरादिवन्निर्वर्तकं चन्द्रज्ञानस्य, तथा अन्यदीयमनोऽपि अपेक्षाकारणमात्रं भवति 'परकीयमनसि व्यवस्थितमर्थं जानाति मनःपर्ययः' इति । ततो नास्य तदायत्तः [5]प्रभव इति न मतिज्ञानप्रसङ्गः ।

स्वमनोदेशे वा तदावरणकर्मक्षयोप[6]शमव्यपदेशात् चक्षुष्यवधिज्ञाननिर्देशवत् ।३। अथवा, चक्षुर्देशस्थानामात्मप्रदेशानाम् अवध्यावरणक्षयोपशमात् यथा चक्षुष्यवधिज्ञानव्यपदेश इष्टः, नचाऽवधिः मतिर्भवति, तथा मनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमात् स्वमनोदेशस्थानामात्मप्रदेशानां मनःपर्ययव्यपदेशः, न चास्य मतित्वम् ।

[7]**मनःप्रतिबन्धज्ञानादनुमानप्रसङ्ग इति चेत्; न; प्रत्यक्षलक्षणाऽविरोधात् ।४।** स्यान्मतम्—यथा धूमप्रतिबन्धाद्धूमसंपृक्तेऽग्नावनुमानं तथा अन्यदीयमनःप्रतिबन्धात् [8]तन्मनःसंपृक्तानर्थान् जानन् मनःपर्ययोऽनुमानमिति; तन्न; किं कारणम् ? प्रत्यक्षलक्षणाऽविरोधात् । यत्प्रत्यक्षलक्षणमुक्तम् 'इन्द्रियानिन्द्रियनिरपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम्' इति, तेनाऽविरोधः (धात्), न मनःपर्ययोऽनुमानम् । अनुमानं हि तेन विरुध्यते ।

उपदेशपूर्वकत्वाच्चक्षुरादिकरणनिमित्तत्वाद्वाऽनुमानस्य ।५। उपदेशाद्धि 'अयमग्निरयं धूमः' इत्युपलभ्य पश्चाद्धूमदर्शनादग्नावनुमानं करोति, चक्षुरादिकरणसंबन्धाच्च, ततोऽस्योक्तं प्रत्यक्षलक्षणं विरुध्यते । न च तथा मनःपर्यय उपदेशं चक्षुरादिकरणसंबन्धं चाऽपेक्षते ।

स द्वेधा सूत्रोक्तविकल्पात् ।६। स मनःपर्ययो द्वेधा । कुतः ? सूत्रोक्तविकल्पात् । ऋजुमतिर्विपुलमतिरिति ।

आद्यस्त्रेधा ऋजुमनोवाक्कायविषयभेदात् ।७। आद्य ऋजुमतिमनःपर्ययस्त्रेधा । कुतः ? ऋजुमनोवाक्कायविषयभेदात्—ऋजुमनस्कृतार्थज्ञः ऋजुवाक्कृतार्थज्ञः ऋजुकायकृतार्थज्ञश्चेति । तद्यथा, मनसाऽर्थं व्यक्तं सञ्चिन्त्य वाचं वा[9] धर्मादियुक्तामसंकीर्णामुच्चार्य[10] कायप्रयोगं चोभयलोकफलनिष्पादनार्थमङ्गोपाङ्गप्रत्यङ्गनिपातनाकुञ्चनप्रसारणादिलक्षणं कृत्वा पुनरनन्तरे समये कालान्तरे वा तमेवार्थं चिन्तितमुक्तं कृतं वा विस्मृतत्वान्न शक्नोति चिन्तयितुम्,

---

१ ज्ञातार्थत्वात् । २ द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यत इति न्यायात् । ३ मनःपर्ययभेदयोः । ४ विग्रहः कार्यः, अनेन भेदकथनं कृतम् । ५ उत्पत्तिः । ६ मनसः । ७ प्रतिनियतो बन्धः सम्बन्धः प्रतिबन्धः । ८ तस्य परस्य । ९ च धर्मा– श्र० । १० असंकराम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तमेवंविधमर्थं ऋजुमतिमनःपर्ययः पृष्टोऽपृष्टो वा जानाति 'अयमसावर्थोऽनेन विधिना त्वया चिन्तित उक्तः कृतो वा' इति। कथमयमर्थो लभ्यते? आगमाविरोधात्। 'आगमे ह्युक्तम्–[1]"**मनसा मनः 'परिच्छिद्य परेषां संज्ञादीन् जानाति**" [महाबन्ध पृ० २४] इति। मनसा आत्मनेत्यर्थः[3]। परमनः समन्ताद्विदित्वा परिच्छिद्य मनसा चिन्तितस्य सचेतनेतरस्यार्थस्य मनस्यवस्थात् मनोव्यपदेशः मञ्चस्थानां पुरुषाणां मञ्चव्यपदेशवत्। 'तमात्मना आत्माऽवबुध्य आत्मनः परेषां च चिन्ताजीवितमरणसुखदुःखलाभालाभादीन् विजानाति। [5]"**व्यक्तमनसां जीवानामर्थं जानाति नाऽव्यक्तमनसाम्।**" [महाबन्ध] 'व्यक्तः स्फुटीकृतोऽर्थश्चिन्तया सुनिर्वर्तितो यैस्ते जीवा व्यक्तमनसस्तैरर्थं चिन्तितं ऋजुमतिर्जानाति नेतरैः। कालतो जघन्येन जीवानामात्मनश्च द्वित्राणि, उत्कर्षेण सप्ताष्टानि भवग्रहणानि गत्यागत्यादिभिः प्ररूपयति। क्षेत्रतो जघन्येन [7]गव्यूतिपृथक्त्वस्याभ्यन्तरं न बहिः।

द्वितीयः षोढा ऋजुवक्रमनोवाक्कायविषयभेदात्।८। द्वितीयो विपुलमतिः षोढा भिद्यते। कुतः? ऋजुवक्रमनोवाक्कायविषयभेदात्। ऋजुविकल्पाः पूर्वोक्ताः, वक्रविकल्पाश्च तद्विपरीता योज्याः। तथा आत्मनः परेषां च चिन्ताजीवितमरणसुखदुःखलाभालाभादीन् अव्यक्तमनोभिर्व्यक्तमनोभिश्च चिन्तितान् अचिन्तितान् जानाति विपुलमतिः, कालतो जघन्येन सप्ताष्टानि भवग्रहणानि, उत्कर्षेणाऽसंख्येयानि गत्यागतिभिः प्ररूपयति। क्षेत्रतो जघन्येन योजनपृथक्त्वम्, उत्कर्षेण [8]मानुषोत्तरशैलाभ्यन्तरं न बहिः।

एवं द्विभेदो मनःपर्ययो वर्णितः। तस्य किं परस्परतो विशेषोऽस्त्युत नास्ति? अत आह–

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥२४॥

तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति आत्मनः प्रसादो विशुद्धिः। प्रतिपतनं प्रतिपातः[9]। उपशान्तकषायस्य चारित्रमोहोद्रेकात् प्रच्युतसंयमशिखरस्य प्रतिपातो भवति। क्षीणकषायस्य प्रतिपातकारणाभावादप्रतिपातः। विशुद्धिश्चाऽप्रतिपातश्च विशुद्ध्यप्रतिपातौ ताभ्यां विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां [10]तयोर्विशेषस्तद्विशेषः।

पूर्वसूत्र एव तयोर्विशेषो निर्ज्ञातः किमर्थं पुनरिदमुच्यते?

---

१ "मणेण माणसं पडिविंदइत्ता परेसिं सण्णा सदिमदि चिंतादि विजाणदि, जीविदमरणं लाभालाभं सुहदुक्खं णगरविणासं देसविणासं जणपदविणासं अदिवुट्ठि, अणावुट्ठि सुवुट्ठि दुवुट्ठि दुभिक्खं खेमाखेमं भयरोगं उब्भमं इब्भमं संभमं वत्तमणाणं जीवाणं णो अवत्तमणाणं जीवाणं जाणदि।" –महाबंध० पृ० २४–२५। २ परिच्छिद्य श्र०, ता०, मू०। ३ अथास्य वाक्यस्यावयवार्थं कथयति। ४ समुदायार्थमाह। ५ आगमे वाक्यान्तरमाह। ६ अस्यार्थं विवृणोति। ७ गाउयपुधत्तमवरं उक्कस्सं होदि जोयणपुधत्तं। विउलमदिस्स य अवरं तस्स पुधत्तं वरं खु णरलोयं॥ दुगतिगभवा हु अवरं सत्तट्ठभवा हवंति उक्कस्सं। अडणवभवा हु अवरमसंखेज्जं विउलउक्कस्सं॥ अवरं दव्वमुरालियसरीरणिज्जिणसमयबद्धं। तु चक्खिंदियणिज्जिण्णं उक्कस्सं उजुमदिस्स हवे॥ मणदव्ववग्गणाणमणंतिमभागेण उजुगउक्कस्सं। खंडिदमेत्तं होदि हु विउलमदिस्सावरं दव्वं॥ अट्ठण्हं कम्माणं समयपबद्धं विविस्ससोवचयं। धुवहारेणिगिवारं भजिदे विदियं हवे दव्वं॥ तव्विदियं कप्पाणमसंखेज्जाणं च समयसंखसमं। धुवहारेणवहरिदे होदि तु उक्कस्सयं दव्वं॥ (गो० जीव०) –श्र० टि०। ८ प्राश्निकपुरुषो यदा मानुषोत्तराभ्यन्तरे स्थित्वा प्रश्नं करोति तदा जानातीति भावः, न तावति क्षेत्रे स्थितानर्थान्। ९ प्रच्यवनमित्यर्थः। १० ऋजुविपुलमत्योः। तथा चोक्तम्– पडिवादी पुण पढमा अप्पडिवादी हु होदि विदिमा हु। सुद्धो पढमो बोहो सुद्धतरो विदियबोहो दु॥ इति –श्र० टि०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषान्तरप्रतिपत्त्यर्थं पुनर्वचनम् ।१। यः पूर्वसूत्रे विशेष उक्तः तावतास्य[1] न परितोषस्ततो विशेषान्तरप्रतिपत्त्यर्थं पुनरिदमुच्यते ।

चशब्दप्रसङ्ग इति चेत्; न; प्राथमकल्पिकभेदाभावात् ।२। यथा मनःपर्ययस्य ऋजुविपुलमती भेदौ तथा विशुद्ध्यप्रतिपातावपि तस्यैव यदि भेदौ स्यातां युक्तश्चशब्दः स्यात् । यतस्तु विशुद्ध्यप्रतिपातौ ऋजुविपुलमत्योर्विशेषो न भेदौ, अतश्चशब्दाऽप्रसङ्गः । तत्र विशुद्ध्या तावदृजुमतेर्विपुलमतिर्द्रव्यक्षेत्रकालभावैर्विशुद्धतरः । कथम् ? इह यः[2] कार्मणद्रव्यानन्तभागो[3]ऽन्त्यः सर्वावधिना ज्ञातस्तस्य पुनरनन्तभागीकृतस्य [4]मनःपर्ययज्ञेयोऽ[5]नन्तभागः, अनन्तस्याऽनन्तभेदत्वात् । ऋजुमतिकार्मणद्रव्याऽनन्तभागाद् दूरविप्रकृष्टोऽल्पीयाननन्तभागः[6] विपुलमतेर्द्रव्यम् । क्षेत्रकालविशुद्धिरुक्ता । भावतो विशुद्धिः सूक्ष्मतरद्रव्यविषयत्वादेव वेदितव्या । प्रकृष्टक्षयोपशमविशुद्धिभावयोगादप्रतिपातेनापि विपुलमतिर्विशिष्टा, स्वामिनां प्रवर्धमानचारित्रोदयत्वात् । ऋजुमतिः पुनः प्रतिपाती स्वामिनां कषायोद्रेकाद्धीयमानचारित्रोदयत्वात् ।

यद्यस्य मनःपर्ययस्य प्रत्यात्ममयं विशेषः अथाऽनयोरवधिमनःपर्यययोः कुतो विशेष इति ? अत आह—

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥२५॥

विशुद्धिः प्रसादः । क्षेत्रं यत्रस्थान् भावान् प्रतिपद्यते । स्वामी प्रयोक्ता । विषयो ज्ञेयः ।

अवधिज्ञानान्मनःपर्ययस्य विशुद्ध्यभावोऽल्पद्रव्यविषयत्वादिति चेत्; न; भूयःपर्यायज्ञानात् ।१। स्यान्मतम्—अवधिज्ञानान्मनःपर्ययोऽविशुद्धतरः । कुतः ? अल्पद्रव्यविषयत्वात् । यतः सर्वावधिरूपिद्रव्यानन्तभागो मनःपर्ययद्रव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? भूयःपर्यायज्ञानात् । यथा कश्चिद् बहूनि शास्त्राणि व्याचष्टे एकदेशेन, न साकल्येन तद्गतमर्थं शक्नोति वक्तुम्, अपरस्त्वेकं शास्त्रं साकल्येन व्याचष्टे यावन्तस्तस्यार्थास्तान् सर्वान् शक्नोति वक्तुम्, अयं पूर्वस्माद्विशुद्धतरविज्ञानो भवति । तथा अवधिज्ञानविषयानन्तभागज्ञोऽपि मनःपर्ययो विशुद्धतरः, यतस्तमनन्तभागं रूपादिभिर्बहुभिः पर्यायैः प्ररूपयति । क्षेत्रमुक्तम् । विषयो वक्ष्यते[7] । स्वामित्वं प्रत्युच्यते—

विशिष्टसंयमगुणैकार्थ[8]समवायी मनःपर्ययः ।२। विशिष्टः संयमगुणो यत्र विद्यते तत्रैव वर्तते मनःपर्ययः । तथा चोक्तम्—

"मनुष्येषु मनःपर्यय आविर्भवति; न देवनारकतैर्यग्योनेषु । मनुष्येषु चोत्पद्यमानः पर्याप्तकेषूत्पद्यते न सम्मूर्च्छनजेषु । गर्भजेषु चोत्पद्यमानः कर्मभूमिजेषूत्पद्यते नाकर्मभूमिजेषु । कर्मभूमिजेषूत्पद्यमानः पर्याप्तकेषूत्पद्यते नापर्याप्तकेषु । पर्याप्तकेषूपजायमानः सम्यग्दृष्टिषूपजायते न मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्टिषु । सम्यग्दृष्टिषूपजायमानः संयतेषूपजायते नाऽसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतेषु । संयतेषूपजायमानः प्रमत्तादिषु क्षीणकषायान्तेषूपजायते नोत्तरेषु । तत्र चोपजायमानः प्रवर्धमानचारित्रेषूजायते न हीयमानचारित्रेषु । [9]प्रवर्धमानचारित्रेषूपजायमानः सप्तविधान्यतमर्द्धिप्राप्तेषूपजायते[10] नेतरेषु । ऋद्धिप्राप्तेषु च केषुचिन्न सर्वेषु" [ ] इति ।

---

१ मनःपर्ययस्य । २ द्रव्यतस्तावदाह । ३ अनन्तानन्तपरमाण्वात्मकः पुद्गलस्कन्धः । ४ ऋजुमतिरूप । ५ –योऽन्त्यभा– श्र० । ६ सोऽपि स्कन्धो न परमाणुः । ७ रूपिष्ववधेरित्यादिना । ८ समानाधिकरण । ९ संप्रव– आ०, ब०, द०, मु० । १० –षु जायते आ०, ब०, ब०, मु०, ता० ।

विशिष्टसंयमग्रहणं वाक्ये[1] कृतम् । अवधिः पुनः चातुर्गतिकेष्विति स्वामिभेदादप्यनयोर्विशेषः ।

इदानीं केवलज्ञानलक्षणाभिधानं प्राप्तकालं तदुल्लङ्घ्य ज्ञानानां विषयनिबन्धः परीक्ष्यते । कुतः ? तस्य *"मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्" [त० सू० १०।१] इत्यत्र वक्ष्यमाणत्वात् । यद्येवमाद्ययोरेव तावन्मतिश्रुतयोर्विषयनिबन्ध उच्यतामिति ? आह—

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥२६॥

निबन्धनं निबन्धः । कस्य ? मतिश्रुतविषयस्य । तर्हि विषयग्रहणं कर्तव्यम् ? न कर्तव्यम् ।

प्रत्यासत्तेः प्रकृतविषयग्रहणाभिसंबन्धः ।१। प्रकृतं विषयग्रहणमस्ति । क्व प्रकृतम् ? 'विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्यः' इति । तत्र प्रत्यासत्तेर्विषयग्रहणमिहाभिसंबध्यते । ननु च स विभक्त्यन्तरनिर्दिष्टो न शक्यते इह संबद्धुम् ?

अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः ।२। यथा 'उच्चानि देवदत्तस्य गृहाणि आमन्त्रयस्वैनम्' 'देवदत्तम्' इति गम्यते, 'देवदत्तस्य गावोऽश्वा हिरण्यम्, आढ्यो वैधवेयः' 'देवदत्तः' इति गम्यते, एवमिहापि । निबन्धः कस्य ? 'विषयस्य' इत्यभिसंबध्यते। अथ द्रव्येष्विति बहुत्वनिर्देशः किमर्थः?

द्रव्येष्विति बहुत्वनिर्देशः [2]सर्वद्रव्यसंग्रहार्थः ।३। जीवधर्माऽधर्माकाशकालपुद्गलाभिधानानि षडत्र द्रव्याणि, तेषां सर्वेषां संग्रहार्थः द्रव्येष्विति बहुत्वनिर्देशः क्रियते ।

तद्विशेषणार्थमसर्वपर्यायग्रहणम् ।४। तेषां द्रव्याणामविशेषेण मतिश्रुतयोर्विषयभावप्रसङ्गे तद्विशेषणार्थम् असर्वपर्यायग्रहणं क्रियते । तानि द्रव्याणि मतिश्रुतयोर्विषयभावमापद्यमानानि कतिपयैरेव पर्यायैर्विषयभावमास्कन्दन्ति न सर्वपर्यायैरनन्तैरपीति । तत्कथम् ? इह मतिः चक्षुरादिकरणनिमित्ता रूपाद्यालम्बना, सा यस्मिन् द्रव्ये रूपादयो वर्तन्ते न तत्र सर्वान् [3]पर्यायानेव (सर्वानेव पर्यायान्) गृह्णाति, चक्षुरादिविषयानेवाऽऽलम्बते । श्रुतमपि शब्दलिङ्गम्,[4] शब्दाश्च सर्वे संख्येया एव, द्रव्यपर्यायाः [5]पुनः संख्येयाऽसंख्येयानन्तभेदाः, न ते सर्वे विशेषाकारेण[6] तैर्विषयीक्रियन्ते । उक्तञ्च—

[7]*"पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं[8]।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो ॥" [सन्मति० गा० २।१६] इति ।

अतीन्द्रियेषु मतेरभावात् सर्वद्रव्यासंप्रत्यय इति चेत्; न; नोइन्द्रियविषयत्वात् ।५। स्यान्मतम्–धर्मास्तिकायादिषु मतेरभावोऽतीन्द्रियत्वात्, ततो 'मतिः सर्वद्रव्यविषयनिबन्धा' इति लक्षणमयुक्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? नोइन्द्रियविषयत्वात् । नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमलब्ध्य-

---

१ वार्तिके । २ –द्रव्यपर्यायसं– आ०, ब०, मु० । ३ पर्यायानवगृ– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ४ साधनम् । ५ पुनः संख्येयानन्त –मू०, द० । पुनरसंख्येयानन्त– आ०, ब०, मु० । ६ सर्वपर्यायाः शब्देन विषयीक्रियन्त इत्युक्ते कथं तर्हि अनन्तभेदा इत्युच्यते स्ववचनविरोधात् इत्याशङ्कायां विशेषाकारेणेति विशेषणमाह । शब्दः सामान्येन विषयीक्रियन्त इति भावः । ७ प्रज्ञापनीया भावाः अनन्तभागस्तु अनभिलाप्यानाम् । प्रज्ञापनीयानां पुनः अनन्तभागः श्रुतनिबद्धः ॥ सर्वज्ञेन प्रज्ञापनीया भावाः । ८ अनभिलाप्यानाम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पेक्षं नोइन्द्रियं तेषु व्याप्रियते । अथ हि तत्र न वर्तेत [1]अवधिना सह [2]निर्दिश्येत रूपिष्वेव[3] वृत्तेः ।

अथ मतिश्रुतयोरनन्तरनिर्देशार्हस्यावधेः को विषयनिबन्ध इति ? अत आह–

रूपिष्ववधेः ॥२७॥

रूपशब्दस्याऽनेकार्थत्वे सामर्थ्याच्छुक्लादिग्रहणम् ।१। अयं रूपशब्दोऽनेकार्थः क्वचिच्चाक्षुषे[4] वर्तते यथा–'रूपरसगन्धस्पर्शाः' इति । क्वचित्स्वभावे वर्तते यथा 'अनन्तरूपमनन्तस्वभावम्' इति[5] । तत्रेह सामर्थ्याच्चक्षुर्विषये शुक्लादौ वर्तमानो गृह्यते । यदि स्वभाववाचिनो ग्रहणं स्यात् अनर्थकं स्यात् । न हि कस्यचित् स्वभावो नास्तीति ।

भूमाद्यनेकार्थसंभवे नित्ययोगोऽभिधानवशात् ।२। यद्यपि मत्वर्थीयस्य भूमादयोऽर्थाः बहवः संभवन्ति, इहाभिधानवशात् [6]नित्ययोगो वेदितव्यः । नित्यं हि पुद्गला युक्ता रूपेणेति, यथा क्षीरिणो वृक्षा इति ।

यद्येवमवधिज्ञानस्य पुद्गला रूपमुखेनैव विषयभावं प्रतिपद्येरन् न रसादिमुखेन ? नैष दोषः;

तदुपलक्षणार्थत्वात् तदविनाभाविरसादिग्रहणम् ।३। तद्रूपं द्रव्यस्योपलक्षणत्वेनोपादीयते अतस्तदविनाभाविनो रसादयोऽपि गृह्यन्ते ।

यद्येवं तद्गतेषु सर्वेष्वनन्तेषु पर्यायेषु[7] अवधेर्विषयनिबन्धः प्राप्नोतीति ? अत आह–

असर्वपर्यायग्रहणानुवृत्तेर्न सर्वगतिः ।४। 'असर्वपर्यायेषु' इत्येतद्ग्रहणमनुवर्तते । यथा 'देवदत्ताय गौर्दीयतां जिनदत्ताय कम्बलः' इति 'दीयताम्' इत्यभिसबध्यते, एवमिहापि 'असर्वपर्यायेषु' इत्यभिसंबन्धान्न सर्वगतिर्भवति । ततो रूपिषु पुद्गलेषु प्रागुक्तद्रव्यादि[8]परिमाणेषु जीवपर्यायेषु औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकेषूत्पद्यतेऽवधिज्ञानम् रूपिद्रव्यसंबन्धात्, न क्षायिकपारिणामिकेषु[9] नापि धर्मास्तिकायादिषु तत्संबन्धाभावात् ।

अथ मनःपर्ययस्य[10] को विषयनिबन्ध इति ? अत आह–

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य[11] ॥२८॥

यद्रूपिद्रव्यं सर्वावधिज्ञानस्य विषयत्वेन समर्थितं तस्यानन्तभागीकृतस्यैकस्मिन् भागे मनःपर्ययः[12] प्रवर्तते ।

[13]अथान्ते यन्निर्दिष्टं केवलज्ञानं तस्य को विषयनिबन्ध इति ? अत आह–

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥२९॥

अत्राह– किं द्रव्यम् ?

स्वपर्यायान् द्रवति द्रूयते वा तैरिति द्रव्यम् ।१। आत्मनः पर्यायान् द्रवति गच्छतीति द्रव्यम् । बहुलापेक्षया कर्तरि साधुत्वम् । द्रूयते वा तैरिति द्रव्यम् ।

कथञ्चिद्भेदसिद्धौ तत्कर्तृकर्मव्यपदेशसिद्धिः ।२। द्रव्यस्य पर्यायाणां च कथञ्चिद्भेदे सति उक्तः कर्तृकर्मव्यपदेशः सिद्ध्यति ।

---

१ तर्हि । २ निर्दिश्येत अ० । ३ अवधेः । ४ चक्षुर्ग्रहणयोग्ये । ५ गम्यते । ६ आगमवचनात् । ७ –ष्वनन्तपर्यायेषु आ०, बा०, मु०, । ८ –परिणामेषु मू० । ९ अवान्तरविषयापेक्षया बहुवचननिर्देशः । १० मनःपर्यायस्य मू०, अ०, ता० । ११ मनःपर्यायस्य मू०, ता० । १२ मनःपर्यायः ता० । १३ तथाऽन्ते अ० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतरथा हि तदप्रसिद्धिरत्यन्ताव्यतिरेकात् ।३। यद्येकान्तेन एकत्वमवधार्येत तस्य कर्तृ-कर्मव्यपदेशाप्रसिद्धिः स्यात् । कुतः ? अत्यन्ताव्यतिरेकात् । न हि तदेव निर्विशेषमेकं शक्त्यन्तरापेक्षया विना कर्तृ कर्म च भवितुमर्हति । अथ कः पर्यायः ?

तस्य मिथोभवनं प्रति विरोध्यविरोधिनां धर्माणामुपात्तानुपात्तहेतुकानां शब्दान्तरात्मलाभनिमित्तत्वाद् अर्पितव्यवहारविषयोऽवस्थाविशेषः पर्यायः ।४। मिथोभवनं प्रति केचिद्धर्मा विरोधिनः, केचिदविरोधिनः । तत्र जीवस्य तावदनादिपारिणामिकचैतन्यजीवद्रव्यभव्याभव्योर्ध्वगतिस्वभावास्तित्वादिभिरौदयिकादयो भावा यथासंभवं युगपद्भावाद् अविरोधिनः । विरोधिनश्च नारकतैर्यग्योनदेवमनुष्य-स्त्रीपुंनपुंसकैकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिय-बाल्यकौमार-कोपप्रसादादयः सहानवस्थानात् । तथा पौद्गलिका अनादिपारिणामिकाः रूपरसगन्धस्पर्शशब्दसामान्यास्तित्वादयः शुक्लादिपञ्चकतिक्तादिपञ्चकगन्धद्वयस्पर्शाष्टकशब्दषट्कपर्यायैः प्रत्येकमेकद्वित्रिचतुःपञ्चादिसंख्येयासंख्येयानन्तगुणपरिणामिभिर्यथासंभवं युगपद्भावाद् अविरोधिनः । विरोधिनश्च शुक्लकृष्णनीलतिक्तकटुकसुरभीतरगन्धादयः प्रायोगिका वैश्रसिकाश्च[2] परमाणुषु स्कन्धेषु च, सहानवस्थानात् । एवं धर्मास्तिकायादिष्वपि अमूर्तत्वाऽचेतनत्वाऽसंख्येयप्रदेशत्वगतिकारणस्वभावाऽस्तित्वादयोऽनन्तभेदागुरुलघुगुणहानिवृद्धिविकारैः स्वप्रत्ययैः परप्रत्ययैश्च गतिकारणत्वविशेषादिभिः[3] अविरोधिनः परस्परविरोधिनश्च विज्ञेयाः[4] । तेषु केचिदुपात्तहेतुका द्रव्यक्षेत्रकालभावनिमित्ता औदयिकादयः । अनुपात्तहेतुकाश्च त्रिषु कालेष्वविकारिणः पारिणामिकाश्चैतन्यादयः । तेषां विरोध्यविरोधिनां धर्माणामुपात्तानुपात्तहेतुकानां शब्दान्तरात्मलाभस्य निमित्तत्वात् 'चेतनो नारको 'बालः' इति अर्पितव्यवहारविषयः इति [6]व्यवहार-ऋजुसूत्र[7]त्रिविधशब्दनयात्मकः, द्रव्यार्थिकानर्पणात् पर्यायार्थिकेनार्पितः तस्य[8] विषयः, तस्य द्रव्यस्य अवस्थाविशेषः पर्याय इत्युच्यते ।

तयोरितरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वः ।५। तयोरितरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वो वेदितव्यः । द्रव्याणि च पर्यायाश्च द्रव्यपर्याया इति ।

द्वन्द्वेऽन्यत्वं प्लक्षन्यग्रोधवदिति चेत्; न; तस्य कथञ्चिद्भेदेऽपि दर्शनाद् गोत्वगोपिण्डवत् ।६। स्यान्मतम्-यदि द्वन्द्वः प्लक्षन्यग्रोधवदन्यत्वं द्रव्यपर्यायाणां प्राप्नोतीति; तन्न; कारणम् ? तस्य कथञ्चिद्भेदेऽपि दर्शनात् गोत्वगोपिण्डवत् । यथा 'गोत्वं च गोपिण्डश्च गोत्वगोपिण्डौ' इत्यनन्यत्वेऽपि द्वन्द्वो भवति तथा द्रव्यपर्यायेष्विति । ननु सामान्यविशेषयोरन्यत्वात् साध्यसममेतदिति; नैष दोषः; उक्तमेतत्--अनन्यत्वं सामान्यविशेषयोः ।

द्रव्यग्रहणं पर्यायविशेषणं चेत्; न; आनर्थक्यात् ।७। स्यादेतत्–'द्रव्याणां पर्याया द्रव्यपर्यायाः' इति द्रव्यग्रहणं पर्यायविशेषणमिति; तन्न; किं कारणम् ? आनर्थक्यात् । एवं सति द्रव्यग्रहणमनर्थकं स्यात् । न ह्यद्रव्यस्य पर्यायाः सन्तीति ।

द्रव्याज्ञानप्रसङ्गाच्च ।८। केवलेन पर्याया एव ज्ञायन्ते न द्रव्याणीति द्रव्याज्ञानं प्राप्नोति, उत्तरपदार्थप्रधानत्वात् । अथ मतमेतत्–सर्वेषु पर्यायेषु ज्ञातेषु न किञ्चदज्ञातमस्ति ततो व्यतिरिक्तस्य द्रव्यस्याभावात्; यद्येवं 'द्रव्यग्रहणमनर्थकम्' इत्युक्तं पुरस्तात् । तस्मात्

---

१ –दप्रसिद्धेर– आ०, ब०, द०, मु० । २ स्वाभाविकाः । ३ ऊर्ध्वाधस्तिर्यगादि । ४ –श्च ज्ञेयाः आ०, ब०, द०, ता०, मु० । ५ बालक इति आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ६ कोऽर्थः व्यवहरणं । ७ शब्दसमभिरूढैवम्भूतशब्दनयस्वरूपः । ८ व्यवहारस्य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधूक्तम्–'द्वन्द्वोऽयम्' इति। ननु च द्वन्द्वेऽपि द्रव्यग्रहणमनर्थकं पर्यायिव्यतिरेकेणाऽनुपलब्धेरिति; नैष दोषः; संज्ञास्वालक्षण्यादिभेदाद्भेदोपपत्तेः।

अथ सर्वग्रहणं किमर्थं ननु बहुवचननिर्देशादेव बहुत्वसंप्रत्ययसिद्धेः ?

सर्वग्रहणं निरवशेषप्रतिपत्त्यर्थम् ।९। ये लोकालोकभेदभिन्नास्त्रिकालविषया द्रव्यपर्याया अनन्ताः, तेषु निरवशेषेषु केवलज्ञानस्य[1] विषयनिबन्ध इति प्रतिपत्त्यर्थं सर्वग्रहणम्। यावांल्लोकालोकस्वभावोऽनन्तः तावन्तोऽनन्तानन्ता[2] यद्यपि स्युः, तानपि ज्ञातुमस्य सामर्थ्यमस्तीत्यपरिमितमाहात्म्यं[3] तत् केवलज्ञानं वेदितव्यम्।

आह–विषयनिबन्धोऽवधृतो मत्यादीनाम्, इदं तु न निर्ज्ञातमेकस्मिन्नात्मनि स्वनिमित्तसन्निधानोपजनितवृत्तीनि ज्ञानानि यौगपद्येन कति भवन्तीति ? अत[4] उच्यते–

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥३०॥

एक इति कोऽयं शब्दः ?

अनेकार्थसंभवे विवक्षातः प्राथम्यवचन एकशब्दः ।१। अयमेकशब्दोऽनेकस्मिन्नर्थे दृष्टप्रयोगः। क्वचित्संख्यायां वर्तते, 'एको द्वौ बहवः' इति। क्वचिदन्यत्वे, 'एके आचार्याः–अन्ये आचार्याः' इति। क्वचिदसहाये, 'एकाकिनस्ते विचरन्ति वीराः' इति। क्वचित्प्राथम्ये, 'एकमागमनम्–प्रथममागमनम्' इति। क्वचित्प्राधान्ये, 'एकहतां सेनां करोमि–प्रधानहतां सेनां करोमि' इत्यर्थः। तत्रेह विवक्षातः प्राथम्यवचन एकशब्दो वेदितव्यः।

आदिशब्दश्चावयववचनः ।२। आदिशब्दश्च[5] । किम् ? अनेकार्थसंभवे विवक्षात इहावयववचनो वेदितव्यः। क्वचिद्व्यवस्थायां वर्तते, 'ब्राह्मणादयश्चत्वारो वर्णाः'[6]–ब्राह्मणव्यवस्थाः ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः' इत्यर्थः। क्वचित्प्रकारे, 'भुजङ्गादयः परिहर्तव्याः–भुजङ्गप्रकाराः विषवन्तः' इत्यर्थः। क्वचित्सामीप्ये, 'नद्यादीनि क्षेत्राणि–नदीसमीपानि' इत्यर्थः। क्वचिदवयवे, '[7]ऋगादिमधीते–ऋगवयवमधीते' इत्यर्थः। तेनैतदुक्तं भवति–एकस्यादिरेकादिः प्रथमावयव इति। कस्य ? प्रथमस्य परोक्षस्य। कः पुनरवयवः ? मतिज्ञानम्।

सामीप्यवचनो वा ।३। अथवा, अयमादिशब्दः सामीप्यवचनो द्रष्टव्यः। तेन प्रथमस्य मतिज्ञानस्य श्रुतं समीपमित्युक्तं भवति।

मतेर्बहिर्भावप्रसङ्ग इति चेत्; न; अनयोः सदाऽव्यभिचारात् ।४। स्यादेतत्–एवं सति मतेर्बहिर्भावः प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? अनयोः सदाऽव्यभिचारात्। एते हि मतिश्रुते सर्वकालमव्यभिचारिणी नारदपर्वतवत्। तस्मादनयोरन्यतरग्रहणे इतरस्य ग्रहणं सन्निहितं भवति।

ततोऽन्यपदार्थे[8] वृत्तावेकस्यादिशब्दस्य निवृत्तिरुष्ट्रमुखवत् ।५। यथा, 'उष्ट्रस्य मुखमुष्ट्रमुखम्, उष्ट्रमुखवन्मुखमस्य' इति 'वृत्तौ एकस्य मुखशब्दस्य निवृत्तिः, एवमिहापि 'एकादिरादिर्येषां तानीमान्येकादीनि' इत्येकस्यादिशब्दस्य निवृत्तिः।

---

१ –ज्ञानविषय– आ०, ब०, द०, मु०, ता०। २ –न्तोऽनन्ता य– ब०, ता०, मू०, ज०। ३ –त्म्यं के– आ०, ब०, मु०। ४ अत आह मु०। ५ –श्चायमनेका– आ०, ब०, द०, मु०। ६ वर्णाः स्युः ब्राह्मणादय इत्यमरः। ७ ऋच् आदिरवयवः ऋगादिः। ८ अन्यपदार्थप्रधानसमासे –बहुव्रीहिसमासे इत्यर्थः। ९ समासे –सम्पा०।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

अवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थः ।६। अवयवेन विग्रहः क्रियते, वृत्त्यर्थः समुदायो भवति । तेनैका[1]दीन्यभ्यन्तरीकृत्य भाज्यानि अर्पयितव्यानीत्यर्थः । किं सर्वाणि ? न, इत्याह 'आ चतुर्भ्यः' । कुत एतत् ?

केवलस्याऽसहायत्वादितरेषां च क्षयोपशमनिमित्तत्वाद्यौगपद्याभावः[2] ।७। यतः केवलज्ञानं क्षायिकं तदसहायम्, इतराणि च ज्ञानानि क्षयोपशमनिमित्तानि, अतो विरोधाद्युगपदसंभवः, तस्मादुच्यते 'आ चतुर्भ्यः' इति ।

नाभावोऽभिभूतत्वादहनि नक्षत्रवदिति चेत्; न; क्षायिकत्वात् ।८। स्यादेतत्–नाभावः क्षायोपशमिकानां ज्ञानानां केवलिनि, किन्तु केवलज्ञानेन महताऽभिभूतानि स्वप्रयोजने न व्याप्रियन्ते भास्कर[3]प्रभाभिभूतनक्षत्रवदिति; तन्न; किं कारणम् ? क्षायिकत्वात् । संक्षीणसकलज्ञानावरणे भगवत्यर्हति कथं क्षायोपशमिकानां ज्ञानानां संभवः । न हि परिप्राप्तसर्वशुद्धौ पदे प्रदेशाऽशुद्धिरस्ति ।

इन्द्रियवत्त्वादिति चेत्; न; आर्षार्थानवबोधात् ।९। स्यादेतत्–एवमागमः[5] प्रवृत्तः *"**पञ्चेन्द्रिया असंज्ञिपञ्चेन्द्रियादारभ्य आ अयोगिकेवलिनः**" [षट्खं०] इति । अत इन्द्रियवत्त्वात्तत्कार्येणापि ज्ञानेन भवितव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? आर्षार्थानवबोधात् । आर्षे हि सयोग्ययोगिकेवलिनोः पञ्चेन्द्रियत्वं द्रव्येन्द्रियं प्रति उक्तं न भावेन्द्रियं प्रति । यदि हि भावेन्द्रियमभविष्यत्, [6]अपि तु तर्हि असंक्षीणसकलावरणत्वात् सर्वज्ञतैवास्य न्यवर्तिष्यत । तस्मादेतदुक्तं भवति–एकस्मिन्नात्मनि द्वे मतिश्रुते, क्वचित् त्रीणि मतिश्रुतावधिज्ञानानि, मतिश्रुतमनःपर्ययज्ञानानि वा, क्वचिच्चत्वारि मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानानि, न पञ्चैकस्मिन् युगपत् संभवन्ति ।

संख्यावचनो वैकशब्दः ।१०। अथवा, संख्यावचनोऽयमेकशब्दः । एकमादिर्येषां तानीमान्येकादीनि । कथम् ? मतिज्ञानमेकस्मिन्नात्मनि एकम्, यदक्षरश्रुतं द्व्यनेकद्वादशभेदमुपदेशपूर्वकं तद्भजनीयम्–स्याद्वा न वेति । इतरत् पूर्ववत् ।

अपर आह[7]–संख्याऽसहायप्राधान्यवचने एकशब्दे सति एकादीनि केवलादीनीत्यर्थः। एकस्मिन्नात्मन्येकं केवलज्ञानं क्षायिकत्वात् । द्वे मतिश्रुते इत्यादि पूर्ववत् ।

अथोक्तानि मत्यादीनि ज्ञानव्यपदेशमेव लभन्त उताऽन्यथापीति ? अत आह–

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥३१॥

विपर्ययो[8] मिथ्येत्यर्थः । कुतः ? सम्यगधिकारात् । चशब्दः समुच्चयार्थः । विपर्ययश्च सम्यक् चेति । कुतः पुनरेषां विपर्ययः ?

मिथ्यादर्शनपरिग्रहान्मत्यादिविपर्ययः ।१। योऽसौ दर्शनमोहनीयोदये सति मिथ्यादर्शनपरिणामः तेन सहैकार्थसमवायात् मत्यादीनां विपर्ययो भवति । ननु च मणिकनकादीनां वर्चोगृहगतानामपि स्वभावविनाशो न भवति तद्वन्मत्यादीनामपि स्यात्; नैष दोषः;

---

१ मतिज्ञानम् । २ केवलेन सहेतरेषां युगपदसंभवः । ३ –प्रकाशाभिभू– श्र०, मू० । ४ इन्द्रियत्वा– श्रा०, ब०, मु० । ५ "पंचिंदिया असण्णिपंचिंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति" –षट्खं० सं० सू० ३७ । ६ अपिरत्र संभावनायाम् । ७ –ह असंख्या– आ०, ब०, द०, मु० । ८ –योऽन्यथाकृतः आ०, ब०, मु० ।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

सरजसकटुकालाबूगतदुग्धवत् स्वगुणविनाशः ।२। यथा सरजसकटुकालाबूभाजने निहितं दुग्धं स्वगुणं परित्यजति तथा मत्यादीन्यपि मिथ्यादृष्टिभाजनगतानि दुष्यन्तीति । आधारस्य दोषाद्धि [1]आधेयस्य दोषो जायते ।

ननु च नायमेकान्तः, उक्तमेतत्–'मणिकनकादयो वर्चोगृहगता अपि स्वभावं न त्यजन्ति' इति; तत्र कथमेतदध्यवसीयते[2]–अलाबूदुग्धवद् दुष्यन्ति मत्यादीनि न पुनर्मण्यादिवन्न दुष्यन्तीति ?

[3]**परिणामकशक्तिविशेषात्** ।३। [4]परिणामकस्य हि वस्तुनः शक्तिविशेषादन्यथाभावो भवति । यथा अलाबूद्रव्यं दुग्धं विपरिणामयितुं शक्नोति तथा मिथ्यादर्शनमपि मत्यादीनामन्यथात्वं कर्तुमलं तदुदये अन्यथानिरूपणदर्शनात् । वर्चोगृहं तु मण्यादीनां विकारं नोत्पादयितुमलम्, विपरिणामकद्रव्यसन्निधाने तेषामपि भवत्येवान्यथात्वम्, यदा तु सम्यग्दर्शनं प्रादुर्भूतं तदा मिथ्यापरिणामदर्शनाभावात् (मिथ्यादर्शनपरिणामाभावात्) तेषां मत्यादीनां सम्यक्त्वम्, अतः सम्यग्दर्शनमिथ्यादर्शनोदयविशेषात्तेषां त्रयाणां द्विधा क्लृप्तिर्भवति–मतिज्ञानं मत्यज्ञानं श्रुतज्ञानं श्रुताऽज्ञानम् अवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानमिति ।

अत्राह–रूपादिविषयोपलब्धिव्यभिचाराभावाद्विपर्ययाभावः । यथैव मतिज्ञानेन सम्यग्दृष्टयो रूपादीनुपलभन्ते तथा मिथ्यादृष्टयोऽपि मत्यज्ञानेन । यथैव घटादिषु रूपादीन् श्रुतेन निश्चन्वन्त्युपदिशन्ति च परेभ्यः तथा श्रुताज्ञानेनापि । यथैवावधिना रूपिणोऽर्थानवयन्ति तथा विभङ्गेनापीति । तस्मान्नास्ति विपर्यय इति । अत आह–

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥३२॥

सच्छब्दस्यानेकार्थसंभवे विवक्षातः प्रशंसार्थग्रहणम् ।१। 'अयं सच्छदोऽनेकार्थः' इति व्याख्यातः । तस्येह विवक्षातः प्रशंसार्थस्य ग्रहणं वेदितव्यम्–प्रशस्तं तत्त्वज्ञानमित्यर्थः । असदज्ञानम् । तयोः सदसतोः । अविशेषेण यदृच्छयोपलब्धेर्विपर्ययो भवति । कथम् ? उन्मत्तवत् । यथा उन्मत्तो दोषोदयादुपहतेन्द्रियमतिः विपरीतग्राही भवति, सः अश्वं 'गौः' इत्यध्यवस्यति, गां वा 'अश्वः' इति, लोष्टं '[5]सुवर्णम्' इति, सुवर्णं च लोष्टमिति, लोष्टं लोष्टमिति, सुवर्णं सुवर्णमिति, तस्यैवमविशेषेणाध्यवस्यतोऽज्ञानमेव भवति, तद्वत् मिथ्यादर्शनोपहतेन्द्रियमतेर्मतिश्रुतावधयोऽप्यज्ञानमेव भवन्तीति ।

भवत्यर्थग्रहणं वा ।२। अथवा, सच्छब्दोऽयं भवत्यर्थे वेदितव्यः । **सद्विद्यमानमित्यर्थः**, असदविद्यमानम्, तयोरविशेषेण यदृच्छोपलब्धेः विपर्ययो भवति–**कदाचिद्रूपादि सदप्यसदिति** प्रतिपद्यते असदपि सदिति । कदाचित्तु सत्सदेव असदप्यसदेवेति । कुतः ?

प्रवादिपरिकल्पनाभेदाद्विपर्ययग्रहः ।३। प्रवादिनां कल्पनाभेदात् विपर्ययग्रहो भवति । तद्यथा [6]केचित्तावदाहुः–'द्रव्यमेव न रूपादयः' इति । [7]अपर आहुः–'रूपादय एव न द्रव्यम्' इति । [8]अपरेषां दर्शनम्–'अन्यद् द्रव्यमन्ये च रूपादयः' इति । कथमेषां विपर्ययग्रहः ? उच्यते–यदि द्रव्यमेव न रूपादयः; लक्षणाभावाल्लक्ष्यानवधारणप्रसङ्गः । किञ्च, इन्द्रियेण सन्निकृष्यमाणं द्रव्यं रूपाद्यभावे [9]सर्वात्मना सन्निकृष्येत,[10] ततः सर्वात्मना ग्रहणप्रसङ्गः, करण-

---

१ आधेये भा० । २ –दवसीयते, आ०, ब०, द०, मु० । ३ पारिणामिक– आ०, ब०, मु० । ४ परिणामं करोतीति परिणामकः । ५ सुवर्णं सुवर्णं लोष्टमिति आ०, ब०, द०, मु० । ६ सांख्यादयः । ७ बौद्धाः –सम्पा० । ८ वैशेषिकाणाम् –सम्पा० । ९ रसाद्यात्मना स्वरूपेण । १० सक्षात्क्रियेत ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भेदाभावप्रसङ्गश्च । न चासौ दृष्ट इष्टो वा । अथ रूपादय एव न द्रव्यम्; एवमपि निराधारत्वादभावप्रसङ्गः ।

किञ्च, परस्परविलक्षणानां रूपादीनां समुदयेऽपि सति एकानर्थान्तरभावात् समुदयस्य सर्वाभावः परस्परतोऽर्था(तोऽनर्था)न्तरभूतत्वात् । अथ ह्यन्यद् द्रव्यं अन्ये रूपादयः; एवमपि तेषां लक्ष्यलक्षणभावाभावः परस्परतोऽर्थान्तरभूतत्वात्[1] । दण्डिदण्डवत् लक्ष्यलक्षणभाव इति चेत्; न; वैषम्यात् । पृथक्सतोर्लक्ष्यलक्षणभावो युक्तो नासतोरिति ।

किञ्च, रूपादिषु गुणेष्वमूर्तेषु द्रव्यादर्थान्तरभूतेषु नेन्द्रियसन्निकर्षो युक्तः, ततश्च ज्ञानाभावः । [2]न चार्थान्तरभूतं द्रव्यं कारणं भवितुमर्हति । किञ्च,

मूलकारणविप्रतिपत्तेः ।४। एषां घटरूपादीनां मूलकारणे प्रवादिनां विप्रतिपत्तिः । तद्यथा, [3]केचिदाहुः–"[4]अव्यक्तान्महदहङ्कार[5]तन्मात्रेन्द्रियमहाभूतमृत्पिण्डादि[6]विवृत्तिक्रमेण घटादेर्विश्वरूपस्य जगत उत्पादः' इति; तदयुक्तम्; न हि प्रधानस्य अमूर्तत्वनिरवयवत्वनिष्क्रियत्वात्यतीन्द्रियत्वानन्त्यनित्यत्वापरप्रयोज्यत्वादिविशेषोपेतस्य तद्विलक्षणो घटादिः कार्यो भवितुमर्हति, अदृष्टत्वात् । न वा अपरप्रयोज्यस्य प्रधानस्य स्वयमभिप्राय[7]रहितस्य अभिप्रायपूर्वकप्रसवक्रमो युक्तः । पुरुषस्तावन्निष्क्रियत्वान्न महदादिसगार्थं प्रधानं प्रयुङ्क्ते; स्वयं निष्क्रियत्वात् प्रधानं नात्मानं महदादिसगार्थं प्रयोक्तुमर्हति । न हि स्वयं गतिविकलः पङ्गुरात्मानमेवावष्टभ्योत्थाय गच्छन् दृष्टः । किञ्च, अप्रयोजनस्य प्रधानस्य महदादिसर्गो न युक्तिमान् । पुरुषभोगः प्रयोजनमिति चेत्; न; स्वार्थाभावात्[8], नित्यस्य विभोरात्मनः भोगपरिणामाभावाच्च । किञ्च, अचेतनत्वात् । इह लोके चेतनश्चैत्र ओदनार्थी क्रियाफलसाधनज्ञः तदर्थेष्वग्निसन्धुक्षणादिषु प्रवर्तमानो दृष्टः, न च तथा प्रधानं चेतनम्, अतोऽस्य महदादिक्रियाप्रसवक्रमाभावः । न च पुरुषस्तस्य क्रमस्य प्रयोजकः; निष्क्रियत्वात् ।

अपरे[9] आहुः–'परमाणुभ्यः प्रतिनियतपार्थिवादिजातिविशिष्टेभ्योऽदृष्टादि[10]हेतुसन्निधाने सति संहतेभ्योऽर्थान्तरभूतघटादिकार्यात्मलाभः' इति; तदप्ययुक्तम्; नित्यत्वादणूनां कार्यारम्भशक्त्यभावात् । सति चारम्भे नित्यत्वहानेः[11] । नचार्थान्तरभूतस्य कार्यस्यारम्भो[12] युक्तः; व्यतिरेकानुपलब्धेः, उपलब्धौ चाणुमहत्त्वाभावः[13] । न च [14]जातिप्रतिनियमोऽस्ति; भिन्न-[15]जातीयानामप्यारम्भदर्शनात् । भिन्नजातीयेषु समुदायमात्रमिति चेत्; तुल्यजातीयेष्वपि [16]तत्प्रसङ्गः । न चात्मनो घटाद्यारम्भे कर्तृत्वमुपपन्नम्; निष्क्रियत्वान्नित्यत्वाच्च । नाप्यात्मगुणस्यादृष्टादेः; निष्क्रियत्वादेव । न च निष्क्रियोऽर्थान्तरे [17]क्रियाहेतुर्दृष्टः ।

अन्ये[18] मन्यन्ते–'वर्णादिपरमाणुसमुदयात्मका रूपपरमाणवोऽतीन्द्रियाः समुदिताः सन्तः इन्द्रियग्राह्यत्वमनुभूय [19]घटादिकार्यात्मलाभहेतुत्वं प्रतिपद्यन्ते' इति; [20]तदप्ययुक्तम्; प्रत्येकं रूपपरमाणूनामतीन्द्रियत्वात्ततोऽनन्यस्य कार्यस्याप्यतीन्द्रियत्वप्रसङ्गात्, ततश्च दृश्यविषय-

---

१ –र्थान्तरत्वात् आ०, ब०, द०, मु०, ता० । २ द्रव्यं गुणोत्पादकमिति चेत् । ३ सांख्याः । ४ प्रधानात् । ५ गन्धरसस्पर्शरूपशब्दाः पञ्च तन्मात्राः । ६ –निर्वृत्तिक– आ०, ब०, द०, मु० । विवर्तन । ७ अचेतनत्वात् । ८ स्वस्य प्रयोजनाभावात् । ९ यौगाः । १० –दिस– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ११ –हानिः आ०, ब०, मु० । १२ उत्पाद । १३ तत्त्वे अणुप्रमाणोऽयं महत्प्रमाणोऽयमिति ज्ञातुं न पार्यते । १४ मृत्पिण्डादेरेव घटादिरुत्पद्यते इति । १५ चन्द्रकान्तसूर्यकान्तशिलातेदत्पद्यमानजलाग्न्यादिदर्शनात् । १६ भिन्नानां तुल्यजातीयानां समुदयप्रसङ्गः । १७ वृक्षादिचलने वायुवत् प्रेरकहेतुः । १८ बौद्धाः । १९ जलाहरणादि । २० तदयु– आ०, ब०, द०, मु० ।

प्रमाणप्रमाणाभासविकल्पाभावः । कार्याभावाच्च [1]तल्लिङ्गस्य कारणस्याप्यभावः । किञ्च, क्षणिकत्वान्निष्क्रियत्वाच्च[2] कार्यारम्भाभावः, विविक्तशक्तीनां परस्पराभिसंबन्धाभावश्च । न चान्योऽर्थश्चेतनस्तेषां संबन्धस्य कर्तास्ति, तदभावात्संबन्धाभावः । एवमन्येष्वपि प्रवादिषु सत्यसदिति असत्यपि सदिति विपर्ययो मिथ्यादर्शनोदयवशाद्वेदितव्यः पित्तोदयाकुलितरसनेन्द्रियविपर्ययवत् । ततो यदुक्तम्–'रूपादिविषयोपलब्धिव्यभिचाराभावान्न मिथ्यादृष्टेर्ज्ञाननियमज्ञानम्' इति; तदसम्यक् ।

व्याख्यातं ज्ञानं लक्षणादिभिः । इदानीं चारित्रं निर्देष्टव्यं तदुल्लङ्घ्य नया उच्यन्ते । कस्मात् ? मोक्षविधाने तस्य वक्ष्यमाणत्वात् । कुतः पुनस्तन्मोक्षविधौ वक्ष्यते इति चेत् ? मोक्षं प्रति प्रधानकारणत्वात् । किंकृतं प्राधान्यम् ? कृत्स्नकर्मेन्धननिर्दहनकृतम् । यत आत्मा व्युपरतक्रियाध्यानाविर्भूतात्मबलः कृत्स्नकर्मेन्धननिर्दहनसमर्थो भवति, नतु[3] क्षायिकसम्यक्त्वकेवलज्ञानोपेतोऽपि । यदि स्यात्; क्षायिकसम्यक्त्वकेवलज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमेव कृत्स्नकर्मक्षयः स्यात्, व्युपरतक्रियाध्यानोत्पत्त्यनन्तरमेव भवति । तच्चोत्तमं चारित्रम्, *"**कर्मादानहेतुक्रियाव्युपरतिश्चारित्रम्**" [ ] इति वचनात्[4] । यदीह [5]तदुच्येत मोक्षविधानेऽपि तद्वक्तव्यमिति गौरवं स्यात् । एवमपि जीवादयो निर्देष्टव्या उच्यन्ते । प्रमाणं व्याख्यातम् । प्रमाणैकदेशा नयाः *"**प्रमाणनयैरधिगमः**" [त० सू० १।६] इति वचनात्, तदनन्तरवचनार्हा नयाः । यद्येवं के ते नया इति ? अत आह–

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः ॥३३॥

शब्दापेक्षयैकादिसंख्येयविकल्पा नयाः[6] । तत्रातिसंक्षेपादप्रतिपत्तिः, अतिविस्तरे चाल्पप्रज्ञानामननुग्रह इति [7]मध्ययया प्रतिपत्त्या सप्त नया अत्रोच्यन्ते । तेषां सामान्यविशेषलक्षणं वक्तव्यम् । तत्र सामान्यलक्षणमुच्यते–

प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः ।१। प्रकर्षेण मानं प्रमाणं सकलादेशि[8] इत्यर्थः, तेन प्रकाशितानां न प्रमाणाभासपरिगृहीतानामित्यर्थः, तेषामर्थानाम् अस्तित्वनास्तित्व[9]नित्यत्वानित्यत्वाद्यनन्तात्मनां जीवादीनां ये विशेषाः पर्यायास्तेषां प्रकर्षेण रूपकः प्ररूपकः निरुद्धदोषानुषङ्गद्वारेणेत्यर्थः । एवंलक्षणो नयः ।

तस्य द्वौ मूलभेदौ द्रव्यास्तिकः पर्यायास्तिक इति । द्रव्यमस्तीति मतिरस्य द्रव्यभवनमेव नातोऽन्ये [10]भावविकाराः, नाप्यभावः तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति द्रव्यास्तिकः ।

---

१ तल्लिङ्गका– आ०, ब०, द०, मु० । २ तर्हि भवन्मते निष्क्रियं धर्मादि द्रव्यं जीवादीनां गत्यादेः कथं हेतुरिति चेत्? तेषां धर्मादिर्निमित्तहेतुरित्यनुमननान्न दोषः । तथा चोक्तमार्षे– गतिस्थितिमतामेतौ गतिस्थित्योरुपग्रहे । धर्माधर्मौ प्रवर्तेते न स्वयं प्रेरकौ मतौ । यथा मत्स्यस्य गमनं विना नैवाम्भसा भवेत् । न चाम्भः प्रेरयत्येनं तथा धर्मोऽस्त्यनुग्रहः ॥ ३ ननु आ०, ब०, द० । ४ "संसारकारणविनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः चारित्रम्" –स०, सि० १।१। ५ तदुच्यते आ०, ब०, द०, मु० । ६ सर्वे शब्दाः संख्येया इति वचनात् । कथम् ? त्रयस्त्रिंशत् व्यञ्जनानि सप्तविंशतिः स्वराः चतुर्योगवाहाः इति चतुःषष्टिः । (तानि पृथक् पृथक् स्थाप्य) पित्वा द्विकं दत्वा परस्परं संगुण्य तस्मिन् रूपोन कृते रूपोनएकट्ठिमात्रं वस्तु(?)अपुनरुक्ताक्षराणि भवन्ति– १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ तत्स्वरूपं द्वादशाङ्गश्रुतम् । ७ मध्यतया आ०, ब०, द०, मु० । मध्यमया मू० । ८ –देश इ– आ०, ब, द०, मु०, ता० । ९ –नित्यत्वाद्यनन्तात्मनां आ०, ब०, द०, मु० । १० पर्यंथ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्याय एवास्ति इति मतिरस्य [1]जन्मादिभावविकारमात्रमेव भवनं न ततोऽन्यद् द्रव्यमस्ति तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति पर्यायास्तिकः । अथवा, द्रव्यमेवार्थोऽस्य न गुणकर्मणी तदवस्थारूपत्वादिति[2] द्रव्यार्थिकः । पर्याय एवार्थोऽस्य रूपाद्युत्क्षेपणादिलक्षणो न ततोऽन्यद् द्रव्यमिति पर्यायार्थिकः । अथवा अर्यते गम्यते निष्पाद्यत इत्यर्थः कार्यम् । द्रवति गच्छतीति द्रव्यं कारणम् । द्रव्यमेवार्थोऽस्य कारणमेव कार्यं नार्थान्तरम्, न च कार्यकारणयोः कश्चिद्रूपभेदः तदुभयमेकाकारमेव पर्वाङ्गुलिद्रव्यवदिति द्रव्यार्थिकः । परि समन्तादायः पर्यायः । पर्याय एवार्थः कार्यमस्य न द्रव्यम् अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन[3] व्यवहाराभावात्, स एवैकः कार्यकारणव्यपदेशभागिति पर्यायार्थिकः । अथवा, अर्थनमर्थः प्रयोजनम्, द्रव्यमेवार्थोऽस्य प्रत्ययाभिधानानुप्रवृत्तिलिङ्गदर्शनस्य निह्नोतुमशक्यत्वादिति द्रव्यार्थिकः । पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्य [4]वाग्विज्ञानव्यावृत्तिनिबन्धनव्यवहारप्रसिद्धेरिति पर्यायार्थिकः । तद्भेदा नैगमादयः ।

एषां विशेषलक्षणमुच्यते–

अर्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः ।२। [5]निगच्छन्ति तस्मिन्निति निगमनमात्रं[6] वा निगमः, निगमे कुशलो भवो वा नैगमः । तस्य लोके व्यापारः अर्थसंकल्पमात्रग्रहणं प्रस्थेन्द्रगृहगम्यादिषु । तद्यथा–कश्चित् प्रगृह्य परशुं पुरुषं गच्छन्तमभिसमीक्ष्याह 'किमर्थं गच्छति भवान्' इति ? स तस्मै [7]आचष्टे प्रस्थार्थमिति । एवमिन्द्रगृहादावपि । तथा [8]'कतरोऽत्र गमी' इत्युक्ते आचष्टे– 'अहं गमी' इति, संप्रत्यगच्छत्यपि गमीति व्यवहारः । एवं प्रकारोऽन्योऽपि नैगमनयस्य विषयः ।

भाविसंज्ञाव्यवहार इति चेत्; न; भूतद्रव्यासन्निधानात् ।३। स्यादेतत्–नायं नैगमनयविषयः भाविसंज्ञाव्यवहार इति; तन्न; किं कारणम् ? भूतद्रव्यासन्निधानात् । भूतं हि कुमारतण्डुलादिद्रव्यमाश्रित्य राजौदनादिका भाविनी संज्ञा प्रवर्तते, न च तथा नैगमनयविषये [9]किञ्चिद् भूतं द्रव्यमस्ति यदाश्रया भाविनी संज्ञा विज्ञायेत ।

[10]उपकारानुपलम्भात् संव्यवहारानुपपत्तिरिति चेत्; न; अप्रतिज्ञानात् ।४। स्यादेतत्–नैगमनयवक्तव्ये उपकारो नोपलभ्यते, भाविसंज्ञाविषये तु राजादावुपलभ्यते, ततो नायं युक्त इति; तन्न; किं कारणम् ? अप्रतिज्ञानात् । नैतदस्माभिः प्रतिज्ञातम्–'उपकारे सति भवितव्यम्' इति । किं तर्हि ? अस्य नयस्य विषयः प्रदर्श्यते । अपि च, उपकारं प्रत्यभिमुखत्वादुपकारवानेव ।

स्वजात्यविरोधेनैकत्वोपनयात् समस्तग्रहणं संग्रहः ।५। बुद्ध्यभिधानानुप्रवृत्तिलिङ्गं सादृश्यं स्वरूपानुगमो वा जातिः, सा चेतनाचेतनाद्यात्मिका शब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन प्रतिनियमात् स्वार्थव्यपदेशभाक् । स्वा जातिः स्वजातिः, अप्रच्यवनमविरोधः, स्वजातेरविरोधः स्वजात्यविरोधस्तेन स्वजात्यविरोधेन एकत्वोपनयात् । केषाम् ? भेदानाम् । समस्तग्रहणं संग्रहो यथा सद् द्रव्यं घट इत्यादि । 'सत्' इत्युक्ते सत्तासंबन्धार्हाणां द्रव्यपर्यायतद्भेदप्रभेदानां तदव्यतिरेकात् तेनैकत्वेन संग्रहः । 'द्रव्यम्' इति चोक्ते जीवाजीवतद्भेदप्रभेदानां द्रव्यत्वाविरोधात्तेनैकत्वेन संग्रहः । 'घटः' इति चोक्ते नामादिभेदात् मृत्सुवर्णादिकारणविशेषाद् वर्णसंस्थानादिवि-

---

१ आदिशब्देन अस्तिविकारवृद्धिहानिक्षयाः गृह्यन्ते । २ –रूपादिति आ०, ब०, द०, मु०, श्र०, ता० । श्र० प्रतौ रूपात् इत्यस्य टिप्पणे 'रूपत्वात्' इति लिखितमस्ति । ३ –त्वे व्य– ता०, श्र०, द०, मू०, अ०, भा० १,२ । ४ शब्दबुद्धि । ५ निगच्छन्त्यस्मि– आ०, ब०, द०, मु० । ६ संकल्पमात्रं वा । ७ व्याचष्टे मु० । ८ 'गमेरिन्' इत्ययं त्यो भवति गमिष्यति यास्यतीति गमिन्यर्थ एव । ९ किञ्चित्तद्भूतं मु०, आ०, ब० । १० उपकारानुपपत्ति– भा० २ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काराच्च भिन्नानां घटशब्दवाच्यानां तदव्यतिरेकादेकत्वेन संग्रहः। एवमितरेष्वपीति। [1]तत्राभिधानप्रत्ययौ सामान्यं निराकृतविशेषभावात्।

[2]आह–सत्ताद्यर्थान्तरभूतमस्ति, तदभिसंबन्धात् सदादिव्यपदेश[3] इति; तन्न; उभयथाऽनुपपत्तेः। इदमिह संप्रधार्यम्–सत्तासंबन्धात्प्राग् द्रव्यादिषु सदित्यभिधानं प्रत्ययश्च स्याद्वा, न वेति ? यदि स्यात्; सत्तासंबन्धवैयर्थ्यं प्रकाशितप्रकाशनवैयर्थ्यवत्[4], सत्ताद्वयप्रसङ्गश्च–एका आभ्यन्तरी अपरा बाह्येति। अतश्च समयविरोधः–*"**सल्लिङ्गाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्चैको भावः**" [वै० सू० १।२।१७] इति। अथ नास्ति; खरविषाणादिष्वतिप्रसङ्गः। समवायकृतोऽयं विशेष इति चेत्; न; तस्य प्रतिषिद्धत्वात्।

किञ्च, सत्तायाः सदिति व्यपदेशस्य सत्तान्तरहेतुकत्वाहेतुकत्वयोः अनवस्थाप्रतिज्ञाहानिदोषप्रसङ्गः। अथ पदार्थशक्तिप्रतिनियमाद् द्रव्यादिषु सदिति व्यपदेशो [5]निमित्तान्तरहेतुकः, सत्तायां स्वत एवेति चेत्; संसर्गवादत्यागः, इच्छामात्रकल्पनाप्रसङ्गश्च।

किञ्च, सत्तादेः पदार्थान्तरस्य द्रव्यादिषु वृत्तिः सोऽस्येति वा स्यात्, सोऽयमिति वा ? यदि सोऽस्येति वृत्तिः[6] मत्वर्थीयेन भवितव्यम् 'सत्तावद्द्रव्यम्' इति, यथा **गोमान्** यवमानिति, अतो मत्वर्थस्य[7] (वतोर्मत्वर्थस्य) भावार्थस्य च निवृत्तिर्वक्तव्या[8]। अथ सोऽयमित्यभिसंबन्धेन वृत्तिः; 'सत्ता द्रव्यम्' इति प्राप्नोति यथा 'यष्टिः पुरुषः' इति, न 'सद्द्रव्यम्' इति, तत्र भावार्थस्य निवृत्तिर्वक्तव्या।

किञ्च, दृष्टान्ताभावात्। न ह्येकं किञ्चिदनेकसंबन्धि दृष्टं यदभिसमीक्ष्य सत्तैका अनेकसंबन्धिनी गम्येत। नीलीद्रव्यवदिति चेत्; न; न तस्यानेकत्वात्। [9]नीलीत्ववदिति चेत्; न; तस्यासिद्धत्वात्।

अतो विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः ।६। एतस्माद् अतः। कुतः। संग्रहात् संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः। को विधिः ? संग्रहगृहीतोऽर्थस्तदानुपूर्व्येणैव व्यवहारः[10] प्रवर्तते इत्ययं [11]विधिः। तद्यथा–सर्वसंग्रहेण सत् संगृहीतम्, तच्चानपेक्षितविशेषं नालं संव्यवहारायेति व्यवहारनय आश्रीयते–यत्सत्तद् 'द्रव्यं गुणो वा' इति। द्रव्येणापि च संग्रहाक्षिप्तेन जीवाजीवाविशेषानपेक्षेण न शक्यः संव्यवहार इति 'जीवद्रव्यमजीवद्रव्यम्' इति वा व्यवहार आश्रीयते। जीवाजीवावपि च संग्रहाक्षिप्तौ नालं संव्यवहारायेति प्रत्येकं देवनारकादिर्घटादिश्च व्यवहारेणाश्रीयते। 'कषायो भैषज्यम्' इत्युक्ते च सामान्यस्य विशेषात्मकत्वात् नैयग्रोधादिविशेषसामर्थ्यम्[12] (विशेषस्य सामर्थ्येन ग्रहणम्)। नहि शक्यः प्रभुणापि चक्रभृता सर्वः कषायसमाहारः कर्तुम्। नामस्थापनाद्रव्याणि च संग्रहोपात्तानि नालं व्यवहारायेति भाव एव गृह्यते। एवमयं नयस्तावद्वर्तते यावत्पुनर्नास्ति विभागः।

[13]**सूत्रपातवदृजुत्वात् ऋजुसूत्रः** ।७। यथा ऋजुःसूत्रपातस्तथा ऋजु प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयति ऋजुसूत्रः। [14]पूर्वा स्त्रिकाल[15]विषयानतिशय्य वर्तमानकालविषयमादत्ते। अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्। [16]समयमात्रमस्य निर्दिधिक्षितम्।

---

१ सत्तायाम्, संग्रह इत्यर्थः। २ नैयायिकः –सम्पा०। ३ वस्तुनः। ४ दैवरक्ता हि किंशुकाः केन रज्यन्ते नाम। ५ सत्तासम्बन्ध इति। ६ परार्थाभिधानम्। ७ तलः। तल्प्रत्ययस्येत्यर्थः। ८ सद्द्रव्यमित्याद्युदाहरणे। ९ नीलित्व– आ०, ब०, द०, मु०। १० भेदकल्पना। ११ नियमः। १२ नैयग्रोधादिविशेषस्य सामर्थ्येन ग्रहणमित्यर्थः –सम्पा०। १३ सूत्रपातवदृजुसूत्रः आ०, ब०, द०, मु०। १४ सर्वा –आ०, ब०, द०, मु०। १५ नयान्। १६ समवायमा–आ०, ब०, द०, मु०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'कषायो भैषज्यम्' इत्यत्र च संजातरसः कषायो भैषज्यं न प्राथमिककषायोऽल्पोऽनभिव्यक्तरसत्वादस्य विषयः ।

पच्यमानः पक्वः । [1]पक्वस्तु स्यात्पच्यमानः स्यादुपरतपाक इति । असदेतत्; विरोधात् । 'पच्यमानः' इति वर्तमानः 'पक्वः' इत्यतीतः तयोरेकस्मिन्नवरोधो विरोधीति; नैष दोषः; पचनस्यादावविभागसमये[2] कश्चिदंशो निर्वृत्तो वा, न वा ? यदि न निर्वृत्तः; तद्द्वितीयादिष्वप्यनिर्वृत्तेः पाकाभावः स्यात् । ततोऽभिनिर्वृत्तः[3] तदपेक्षया 'पच्यमानः पक्वः,' इतरथा हि समयस्य त्रैविध्यप्रसङ्गः। स एवौदनः पच्यमानः पक्वः, स्यात्पच्यमान इत्युच्यते पक्तुरभिप्रायस्यानिर्वृत्तेः, पक्तुर्हि सुविशदसुस्विन्नौदने पक्वाभिप्रायः, स्यादुपरतपाक इति चोच्यते [4]कस्यचित् पक्तुस्तावतैव कृतार्थत्वात् ।

एवं क्रियमाणकृत-भुज्यमानभुक्त-बध्यमानबद्ध-सिध्यत्सिद्धादयो योज्याः ।

तथा प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन्निति प्रस्थः, यदैव मिमीते, अतीतानागतधान्यमानासंभवात् ।

कुम्भकाराभावः शिविकादिपर्यायकरणे तदभिधानाभावात् । कुम्भपर्यायसमये च स्वावयवेभ्य एव निर्वृत्तेः ।

स्थितप्रश्ने च 'कुतोऽद्यागच्छसि' इति ? न 'कुतश्चित्' इत्ययं[5] मन्यते, तत्कालक्रियापरिणामाभावात् ।

यमेवाकाशदेशमवगाढुं समर्थ आत्मपरिणामं वा तत्रैवास्य वसतिः ।

न कृष्णः काकः, उभयोरपि स्वात्मकत्वात्—कृष्णः कृष्णात्मको न काकात्मकः । यदि काकात्मकः स्यात्, भ्रमरादीनामपि काकत्वप्रसङ्गः । काकश्च काकात्मको न कृष्णात्मकः । यदि कृष्णात्मकः; शुक्लकाकाभावः स्यात् । पञ्चवर्णत्वाच्च, पित्तास्थिरुधिरादीनां पीतशुक्लरक्तादिवर्णत्वात्, तद्व्यतिरेकेण काकाभावाच्च । न सामानाधिकरण्यम्—एकस्य[6] पर्यायेभ्योऽनन्यत्वात्पर्याया एव विविक्तशक्तयो द्रव्यं नाम न किञ्चिदस्तीति । कृष्णगुणप्राधान्यादिति चेत्; न; [7]आस्तरकादिष्वतिप्रसङ्गात्, कषायमधुरे च मधुनि विरोधात् । अप्रत्यक्षे[8] चाख्यायमाने संशयदर्शनात् । कृष्णकाकविशेषज्ञेन केनचिद् द्वीपान्तरनिवासिन्यनुपलब्धकृष्णकाकविशेषे पुरुषे प्रतिपाद्यमाने संशयो जायते 'किमयं काकस्य कार्ष्ण्यं गुणप्राधान्यादाचष्टे, द्रव्यस्यैव वा तथा परिणामात्' इति ?

अतः पलालादिदाहाभावः प्रतिविशिष्टकालपरिग्रहात् । अस्य हि नयस्याविभागो वर्तमानसमयो विषयः । अग्निसंबन्धनदीपनज्वलन[9]दहनानि[10]असंख्येयसमयान्तरालानि [11]यतोऽस्य दहनाभावः । किञ्च, यस्मिन् समये दाहः[12] न तस्मिन् [13]पलालम्, भस्मताभिनिर्वृत्तेः, यस्मिश्च पलालं न तस्मिन् दाह इति । यत्पलालं तद्दहतीति चेत्; न; सावशेषात्[14] । समुदायाभिधायिनां शब्दानामवयवेषु वृत्तिदर्शनाददोष इति चेत्; न; तदवस्थत्वात्,[15] एकदेशदाहाभावस्योक्तत्वात् ।

---

१ पक्षस्तु आ०, ब०, द०, मु० । २ प्रथमसमये इत्यर्थः । ३ –भिनिर्वृत्तेस्त –आ०, ब०, द०, मु० । ४ आदावेवं पच्यमान इत्यत्र पक्वताबुद्धेः सुस्विन्नेऽन्ने पक्वताबुद्ध्या किं फलमित्याशङ्कायाम् यस्य कस्यचिदत्यन्तपक्वतायामेव बुद्धिर्भवेदित्याह कस्यचिदिति । ५ ऋजुसत्रः । ६ काकस्य । ७ कम्बलादिषु –ता० टि० । कम्बलादौ –अ० टि० । –न्नास्थिरक्तादि– आ०, ब०, मु० । –न्नास्ति रक्ता– द० । ८ कृष्णकाके । ९ अङ्गार । १० भस्म । ११ ततः । १२ भस्मीभावः । १३ पलालस्तृणसञ्चयः । पलालोऽस्त्री निष्फलव्रीह्यादितृणः । १४ अवशेषसद्भावात् । १५ अवयवेऽपि सावशेषसद्भावात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरवशेषदाहासंभवादिति चेत्; न; वचनविरोधात्[1] तदवस्थत्वाच्च । वचनविरोधस्तावत्–यदि निरवशेषस्य पलालस्य दाहस्यासंभव इत्येकदेशदाहात् पलालदाहो नादाहः; ननु भवद्वचनस्य निरवशेषपरपक्षदूषकत्वाभावात् परपक्षैकदेशस्य दूषकत्वम्, अतः एकदेशदूषकत्वात् कृत्स्नमपीदं[2] दूषकमेवेत्यस्य[3] साधकत्वसामर्थ्याभाव इति । तदवस्थत्वमपि 'एकसमये दाहाभावः' इत्युक्तत्वात् । अवयवानेकत्वे यद्यवयवदाहात् सर्वत्र दाहोऽवयवान्तराऽदाहात् ननु सर्वदाहाभावः । अथ दाहः सर्वत्र; कस्मान्नाऽदाहः ? अतो न दाहः । एवं पानभोजनादिव्यवहाराभावः ।

न शुक्लः कृष्णीभवति; उभयोर्भिन्नकालावस्थत्वात्, प्रत्युत्पन्नविषये [4]निवृत्तपर्यायानभिसंबन्धात् । सर्वसंव्यवहारलोप इति चेत्; न; विषयमात्रप्रदर्शनात्, पूर्वनयवक्तव्यात् संव्यवहारसिद्धिर्भवति ।

शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्याययतीति शब्दः ।८। उच्चरितः शब्दः [5]कृतसंगीतेः पुरुषस्य स्वाभिधेये [6]प्रत्ययमादधाति इति शब्द इत्युच्यते ।

स च लिङ्गसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः ।९। लिङ्गं स्त्रीत्वपुंस्त्वनपुंसकत्वानि । संख्या एकत्वद्वित्वबहुत्वानि । साधनमस्मदादि । एवमादीनां व्यभिचारो न न्याय्य इति तन्निवृत्तिपरोऽयं नयः । तद्यथा, लिङ्गव्यभिचारस्तावत्–स्त्रीलिङ्गे पुल्लिङ्गाभिधानं तारका स्वातिरिति । पुल्लिङ्गे स्त्र्यभिधानम् अवगमो विद्येति । स्त्रीत्वे नपुंसकाभिधानम् वीणा आतोद्यमिति । नपुंसके स्त्र्यभिधानम् आयुधं शक्तिरिति । पुल्लिङ्गे नपुंसकाभिधानं पटो वस्त्रमिति । नपुंसके पुल्लिङ्गाभिधानं द्रव्यं परशुरिति । संख्याव्यभिचारः–एकत्वे द्वित्वम्, नक्षत्रं पुनर्वसू इति । एकत्वे बहुत्वम्–नक्षत्रं शतभिषज इति । द्वित्वे एकत्वम्–गोदौ[7] ग्राम इति । द्वित्वे बहुत्वम्–पुनर्वसू पञ्चतारका इति । बहुत्वे एकत्वम्–आम्राः वनमिति । बहुत्वे द्वित्वम्–देवमनुष्या उभौ राशी इति । साधनव्यभिचारः–एहि, [8]मन्ये रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि यातस्ते पितेति । आदिशब्देन कालादिव्यभिचारो गृह्यते । विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो जनिता, भावि कृत्यमासीदिति कालव्यभिचारः । संतिष्ठते प्रतिष्ठते विरमत्युपरमतीति[9] [10]उपग्रहव्यभिचारः । एवमादयो व्यभिचारा अयुक्ताः । कुतः ? अन्यार्थस्याऽन्यार्थेन संबन्धाभावात् । यदि स्यात्; घटः पटो भवतु पटो वा प्रासाद इति । तस्माद्यथालिङ्गं यथासंख्यं यथासाधनादि च न्याय्यमभिधानम् । लोकसमयविरोध इति चेत्; विरुध्यताम्, तत्त्वं मीमांस्यते,[11] सुहृत्सूपचारः[12] ।

नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढः ।१०। यतो नानार्थान् समतीत्यैकमर्थमाभिमुख्येन रूढस्ततः समभिरूढः । कुतः ? वस्त्वन्तरासंक्रमेण तन्निष्ठत्वात् । कथम् ? अवितर्कध्यानवत् । यथा तृतीयं शुक्लं सूक्ष्मक्रियमवितर्कमवीचारं[13] ध्यानम् [14]अर्थव्यञ्जनयोगसङ्क्रान्त्यभावात् सूक्ष्मकाययोगनिष्ठत्वात्, तथा गौरित्ययं शब्दो वागादिषु वर्तमानो गव्यधिरूढः । एवं शेषेष्वपि रूढिशब्दोऽस्य विषयः । अथवा, 'अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः' इति तत्रैकस्यार्थस्यैकेन गतत्वात् पर्यायशब्दप्रयोगोऽनर्थकः । शब्दभेदश्चेदस्ति अर्थभेदेनाप्यवश्यं भवितव्यमिति नानार्थ-

---

१ अत्र वचनविरोधस्तु निरवशेषेत्यादिवचनस्यैवेति न मन्तव्यम्, किन्तु भवदुक्तनीतिं भवदुक्तवचनान्तरे योजयितुं शक्यत्वेन प्रकृतवचनस्य विरोध इति मन्तव्यम् । २ वचनम् । ३ वचनस्य । ४ वर्तमाने । ५ कृतसंगतेः आ०, ब०, द०, मु० । ६ ज्ञानम् । ७ उत्तरदेशे गोद इति कश्चिद् ग्रामविशेषः तस्य द्विवचनमिति । ८ रथेन यास्यसीति गमनाभिधानात् प्रहासगतिः, अनेकस्मिन्नपि प्रत्येकमेव परिहास इत्यभिधानवशात् मन्ये इत्येकवचनमेव । ९–रमत्युपरह –आ०, ब०, द०, मु०, ता० । १० उपसर्ग –ता० टि० । ११ विचार्यते । १२ उपचारः सुहृत्सु भवतीत्यर्थः– सम्पा० । १३ वितर्कः श्रुतम् । १४ शब्दमनोवाक्काय ।

समभिरोहणात् समभिरूढः—इन्दनादिन्द्रः शकनाच्छक्रः पूर्दारणात्पुरन्दर इति । एवं सर्वत्र । अथवा, यो [1]यत्राधिरूढः स तत्र समेत्याभिमुख्येनारोहणात् समभिरूढः । यथा क्व भवानास्ते ? स्वात्मनीति । कुतः ? वस्त्वन्तरे वृत्त्यभावात् । यद्यन्यस्यान्यत्र वृत्तिः स्यात्; ज्ञानादीनां रूपादीनां चाकाशे वृत्तिः स्यात् ।

येनात्मना भूतस्तेनैवाऽध्यवसाययतीत्येवंभूतः ।११। येनात्मना येनाभिधेयेन भूतः शब्दस्तेनैवाऽध्यवसाययति । यथा इन्द्रशब्दः परमेश्वरत्वाभिधेयः, स परिणामो यत्र यदा वर्तते तत्र तदैव युक्तो न नामस्थापनाद्रव्येषु तत्परिणामाभावात् इति । एवमितरेष्वपि शब्देषु स्वाभिधेयक्रियापरिणतिक्षण एव युक्तिर्नान्यदेति । अथवा, येनात्मना येन स्वरूपेण भूतोऽर्थस्तेनैवाध्यवसाययति, यथा गच्छतीति गौरिति—यदैव गच्छति तदैव गौरिति न स्थितो न शयित इति, पूर्वोत्तरकालयोस्तदर्थाभावाड्डिवत् । एवमितरेष्वपि । अथवा, येनात्मना येन ज्ञानेन भूतः परिणतस्तेनैवाध्यवसाययति यथा इन्द्राग्निज्ञानपरिणत आत्मैवेन्द्रोऽग्निश्चेति एवंभूतार्थप्रत्यायनाच्छब्द एवंभूतः तत्कार्यत्वाच्छब्दसिद्धेः ।

दाहकत्वाद्यतिप्रसङ्ग इति चेत्; तदव्यतिरेकादप्रसङ्ग इति ।१२। स्यादेतत्—अग्न्यादिव्यपदेशो यद्यात्मनि क्रियते दाहकत्वाद्यतिप्रसज्यते इति; उच्यते—तदव्यतिरेकादप्रसङ्गः । तानि नामादीनि येन रूपेण व्यपदिश्यन्ते ततस्तेषामव्यतिरेकः प्रतिनियतार्थवृत्तित्वाद्धर्माणाम् । ततो नो आगमभावाग्नौ वर्तमानं दाहकत्वं कथमागमभावाग्नौ वर्तेत ? उक्ता नैगमादयो नयाः ।

उत्तरोत्तरसूक्ष्मविषयत्वादेषां क्रमः पूर्वपूर्वहेतुकत्वाच्च । एवमेते नयाः पूर्वपूर्वविरुद्धमहाविषया उत्तरोत्तरानुकूलाल्पविषया द्रव्यस्यानन्तशक्तेः प्रतिशक्ति भिद्यमाना बहुविकल्पा जायन्ते[2] । त एते गुणप्रधानतया परस्परतन्त्राः सम्यग्दर्शनहेतवः पुरुषार्थक्रियासाधनसामर्थ्यात्, तन्त्वादय इव यथोपायं विनिवेश्यमानाः पटादिसंज्ञाः स्वतन्त्राश्चाऽसमर्थाः । तन्त्वादिवदेव विषम उपन्यासः, तन्त्वादयो निरपेक्षा अपि काञ्चिदर्थमात्रां जनयन्ति । भवति हि कश्चित् प्रत्येकं तन्तुस्त्वक्त्राणे समर्थ एकश्च वल्कलो[3] बन्धने समर्थः । इमे पुनर्नया निरपेक्षाः सन्तः न काञ्चिदपि सम्यग्दर्शनमात्रां प्रादुर्भावयन्तीति । नैष दोषः; अभिहितानवबोधात् । अभिहितमर्थमनवबुध्य परेणेदमुपालभ्यते । एतदुक्तं 'निरपेक्षेषु तन्त्वादिषु पटादिकार्यं नास्तीति । यत्तु तेनोपदर्शितं न तत् पटादिकार्यम् । किं तर्हि ? तन्त्वादिकार्यम् । तन्त्वादिकार्यमपि तन्त्वाद्यवयवेषु[4] निरपेक्षेषु नास्त्येवेत्यस्मत्पक्षसिद्धिरेव । अथ 'तन्त्वादिषु पटादिकार्यं[5] शक्त्यपेक्षया अस्तीत्युच्यते नयेष्वपि निरपेक्षेषु बुद्ध्यभिधानरूपेषु कारणवशात् सम्यग्दर्शनहेतुत्वविपरिणतिसद्भावात् शक्त्यात्मनाऽस्तित्वमिति साम्यमेवोपन्यासस्य ।

ज्ञानदर्शनयोस्तत्त्वं नयानां चैव लक्षणम् ।
ज्ञानस्य च प्रमाणत्वमध्यायेऽस्मिन्निरूपितम् ।। इति ।

इति तत्त्वार्थवार्तिकव्याख्यानालङ्कारे प्रथमोऽध्यायः ।। १ ।।

जीयाच्चिरमकलङ्कब्रह्मा लघुहव्व[7]नृपतिवरतनयः ।
अनवरतनिखिलविद्वज्जननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः[8] ।।

१ यत्राभिरू– मु० । २ –न्ते ए –आ०, ब०, द०, मु० । ३ वल्कजो मु०, श्र०, ता०, मू० । वल्कं वल्कलमस्त्रियाम् श्र० टि० । ४ निरपेक्षिषु आ०, ब०, द०, मु० । ५ तन्त्वादिकार्यं आ०, ब०, द०, मु० । ६ –केष्या –आ०, ब०, द०, मु०, ता०, श्र० । ७ –हव्व– ता० । ८ श्लोकोऽयं नास्ति म०, श्र० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीयोऽध्यायः

अत्राह–मोक्षमार्गव्याख्याप्रसङ्गेन सम्यग्दर्शनादीन्युपदिश्यन्ते। तेषां च लक्षणोत्पत्तिविषयनिबन्धादीनि व्याख्यातानि। तत्र तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शन[1]मुपदिष्टम्। तत्त्वार्थश्च जीवादयः। तत्रादावु[2]पदिष्टस्य जीवस्य किं श्रद्धातव्यं यदवधारणप्रतिपत्त्युपासनादिभ्यस्तन्निष्पद्यत इति? उच्यते–तत्त्वमात्मनः स्वभावः श्रद्धेयः।

यद्येवमुच्यतां तदीयं किं तत्त्वमिति? अत उत्तरं पठति–

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥१॥

अथवा, प्रमाणनया अनन्तरं[3] विनिर्दिष्टाः। ते च प्रमेयाधिगमरूपाः। प्रमेयाश्च जीवादयः पदार्था इदानीं निर्देष्टव्याः। यद्येवमस्यैव तावदादावुपदिष्टजीवस्य किं तत्त्वमिति? अत आह–औपशमिकादीति[4]।

कर्मणोऽनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तितोपशमोऽधःप्रापितपङ्कवत्[5] ।१। यथा सकलुषस्याम्भसः कतकादिद्रव्यसंपर्काद् अधःप्रापितमलद्रव्यस्य तत्कृतकालुष्याभावात् प्रसाद उपलभ्यते, तथा कर्मणः कारणवशादनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तिता आत्मनो विशुद्धिरुपशमः।

क्षयो निवृत्तिरात्यन्तिकी ।२। यथा तस्यैवाम्भसोऽधः[6]प्रापितपङ्कस्य शुचिभाजनान्तरसंक्रान्तस्य प्रसाद आत्यन्तिकः, तथा आत्मनोऽपि कर्मणोऽत्यन्तविनिवृत्तौ विशुद्धिरात्यन्तिकी क्षय इत्युच्यते।

उभयात्मको मिश्रः क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रववत् ।३। यथा प्रक्षालनविशेषात् क्षीणाक्षीणमदशक्तिकस्य [7]कोद्रवस्य द्विधा वृत्तिः, तथा यथोक्तक्षयहेतुसन्निधाने सति कर्मण एकदेशस्य क्षयादेकदेशस्य च वीर्योपशमादात्मनो भाव उभयात्मको मिश्र इति व्यपदिश्यते।

द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मणः फलप्राप्तिरुदयः ।४। द्रव्यादिनिमित्तं प्रतीत्य कर्मणो विपच्यमानस्य फलोपनिपात उदय इतीमामाख्यां लभते।

द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुकः परिणामः ।५। यस्य भावस्य द्रव्यात्मलाभमात्रमेव हेतुर्भवति नान्यन्निमित्तमस्ति स परिणाम इति परिभाष्यते[8]।

तत्प्रयोजनत्वाद्वृत्तिवचनम् ।६। ते उपशमादयः प्रयोजनमस्येति वृत्तिः क्रियते। स उपशमः प्रयोजनमस्येत्यौपशमिकः, क्षयः प्रयोजनमस्येति क्षायिकः, उदयः प्रयोजनमस्येत्यौदयिकः, परिणामः प्रयोजनमस्येति पारिणामिकः। ते भावा जीवस्य स्वतत्त्वम्–स्वं तत्त्वं स्वतत्त्वम्, स्वो भावोऽसाधारणो धर्मः।

व्याप्तेरौदयिकपारिणामिकग्रहणमादाविति चेत्; न; भव्यजीवधर्मविशेषख्यापनार्थत्वात् आदावौपशमिकादिभाववचनम् ।७। स्यादेतत्–सर्वजीवसाधारणत्वाद् व्याप्तेः औदयिकपारिणामिकग्रहणमादौ न्याय्यमिति; तन्न[9], किं कारणम्? भव्यजीवधर्मविशेषख्यापनार्थत्वात्। भव्यस्य मोक्षप्रतिपादनार्थो ह्ययं प्रयासः। अतोऽस्य धर्मविशेष औपशमिकादिभाव आदावुच्यते।

'अत्र चादावौपशमिकवचनं तदादित्वात् सम्यग्दर्शनस्य ।८। सम्यग्दर्शनस्य हि आदिरौप-

---

१ –नमुद्दिष्ट – आ०, ब०, द०, मु०। २ –युद्दिष्ट –आ०, ब०, द०, मु०। ३ प्रता-धिकारे। ४ –दीनि आ०, ब०, मु०, द०। ५ वसः। ६ –धः शमित –आ०, ब०, मु०। ७ –द्रवद्रव्यस्य आ०, ब०, द०, मु०, ता०, मू०। ८ न तु पूर्वोत्तराकारहानोपादानरूपः – सम्पा०। ९ तत्र आ० ब०, द०, मु०, मू०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शमिको भावस्ततः क्षायोपशमिकस्ततः क्षायिक इति, अत औपशमिकस्यादौ ग्रहणं क्रियते ।

अल्पत्वाच्च ।९। अल्पश्चौपशमिको भावः क्षायिकात् क्षायोपशमिकाच्च । कुतोऽल्पत्वम् ? संचयकालस्याल्पत्वात् । तद्यथा—उपशमसम्यग्दर्शनस्य कालोऽन्तर्मुहूर्तः, सोऽन्तर्मुहूर्तोऽसंख्येयाः समयाः । तत्र समये समये नैरन्तर्येण संचीयमाना उपशमसम्यग्दृष्टय आ अन्तर्मुहूर्तसमाप्तेः पल्योपमाऽसंख्येयभागप्रमाणा इति सर्वेभ्योऽल्पे ।

ततो विशुद्धिप्रकर्षयुक्तत्वात् क्षायिकः ।१०। औपशमिकाद्धि क्षायिकः प्रकृष्टशुद्धयुपेतो मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वसम्यक्त्वानां साकल्येन संक्षयात्, तत औपशमिकात् परं क्षायिकवचनम् ।

बहुत्वाच्च ।११। बहवो हि क्षायिकसम्यग्दृष्टय औपशमिकसम्यक्त्वेभ्यः[1] । कुतः ? गुणकारविशेषात् । को गुणकारः ? आवलिकाया असंख्येयभागः, सोऽसंख्येयाः समयाः । कुतः ? असंख्येयस्य राशेरसंख्येया एव भेदा इति । तत आवलिकाया असंख्येयभागेन गुणिता उपशमसम्यग्दृष्टयः क्षायिकसम्यग्दृष्टीन् प्राप्नुवन्ति । कुतः ? संचयकालस्य महत्त्वात् । इह क्षायिकसम्यग्दृष्टेस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि कालः, तस्य प्राथमिकसमयादारभ्य समये समये संचीयमाना आ तत्कालपरिसमाप्तेर्बहवो भवन्ति ।

तदसंख्येयगुणत्वात्तदनन्तरं मिश्रवचनम् ।१२। क्षायिकादसंख्येयगुणः क्षायोपशमिकः, द्रव्यतो न भावतः । क्षायोपशमिकाद्धि क्षायिको भावतोऽनन्तगुणः, विशुद्धिप्रकर्षयोगात्, तस्माद् द्रव्यतोऽसंख्येयगुणः क्षायिकात् क्षायोपशमिकः । कुतः ? गुणकारविशेषात् । को गुणकारः ? आवलिकाया असंख्येयभागः । कुतः ? संचयकालस्य महत्त्वात् । इह क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टेः [2]षट्षष्टिसागरोपमाणि पूर्णानि कालः, तस्य प्रथमसमयादारभ्य समये समये संचीयमानाः क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टय आ तत्कालपरिसमाप्तेर्भूयांसो भवन्ति ।

तदनन्तगुणत्वादन्ते द्वयवचनम् ।१३। तेषां सर्वेषामेवानन्तगुणा औदयिकाः पारिणामिकाश्च, ततोऽन्ते तेषां वचनं क्रियते ।

तैरेव चात्मनः समधिगमात् ।१४। अतीन्द्रियत्वादात्मनो मनुष्यतैर्यग्योनादिभिरौदयिकैः पारिणामिकैश्च चैतन्यजीवत्वादिभिः समधिगमो भवति ।

सर्वजीवतुल्यत्वाच्च ।१५। सर्वेषां हि जीवानां तुल्या औदयिकाः पारिणामिकाश्च ततस्तेषामन्ते वचनं न्याय्यम् ।

तत्त्वमिति बहुवचनप्रसङ्ग इति चेत्; न; भावस्यैकत्वात् ।१६। स्यादेतत्—औपशमिकादिपञ्चतयभावसामानाधिकरण्यात्तत्त्वस्य बहुवचनं [3]प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? भावस्यैकत्वात्, 'तत्त्वम्' इत्येष एको भावः ।

---

१ बसः । बहुव्रीहिसमासः । २ तथाहि—पूर्वकोट्यायुर्मनुष्यो गर्भाद्यष्टवर्षादुपरि प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा अन्तर्मुहूर्तं स्थित्वा पश्चात् वेदकसम्यग्दृष्टिः सन् मनुष्यायुष्यमनुभूय लान्तवकल्पे उपरिमनुष्यायुष्यपूर्वकोटिहीनत्रयोदशसागराण्यनुभूय पूर्वकोट्यायुर्मनुष्यो भूत्वा गर्भाद्यष्टमवर्षादुपरि संयमं स्वीकृत्य पूर्वकोट्यन्ते अच्युतकल्पे उपरिमपूर्वकोट्यायुष्यहीनद्वाविंशतिसागरोपमाण्यनुभूय पूर्वकोट्यायुर्मनुष्यो भूत्वा अष्टवर्षादुपरि संयमं गृहीत्वा मनुष्यायुष्यमनुभूय उपरिमग्रैवेयके उपरिमपूर्वकोट्यायुर्हीन-एकत्रिंशत्सागरोपमाण्यनुभूय पूर्वकोट्यायुर्मनुष्यो भूत्वा अष्टवर्षादुपरि दर्शनमोहनीयक्षपणे चरमसमये । एतदुक्तं सर्वं षट्षष्टिसागरोपमाणि स्युः । उक्तञ्च—लांतवकप्पे तेरस अच्चुदकप्पे य होंति बावीसा । उपरिमएक्कतीसं एवं सव्वाणि छावट्ठी ।। इति –श्र० टि० । ३ प्राप्नोति तन्न अ० ।

फलभेदान्नानात्वमिति चेत्; न; स्वात्मभावभेदस्याऽविवक्षितत्वात् 'गावो धनम्' इति यथा ।१७। स्यादेतत्–औपशमिकादिपञ्च[1]तयतत्त्वफलभेदाद्भावनानात्वमिति; तन्न; किं कारणम् ? स्वात्मभावभेदस्याऽविवक्षितत्वात्, यथा गावो धनमिति । धिनोतेर्धनम्, तच्चैकत्वेन विवक्षितं तथा तत्त्वमिति ।

प्रत्येकमभिसंबन्धाच्च ।१८। एकत्वमुपपद्यते । औपशमिको भावः स्वतत्त्वमित्यादि ।

द्वन्द्वनिर्देशो युक्त इति चेत्; न; उभयधर्मव्यतिरेकेणाऽन्यभावप्रसङ्गात् ।१९। स्यान्मतम्–द्वन्द्वनिर्देशोऽत्र युक्तः–'औपशमिकक्षायिकमिश्रौदयिकपारिणामिकाः' इति । तत्रायमप्यर्थो द्विश्चशब्दो न कर्तव्यो भवतीति; तन्न; किं कारणम् ? उभयधर्मव्यतिरेकेणान्यभावप्रसङ्गात् । [2]उभाभ्यां व्यतिरेकेणान्यो भावः प्राप्नोति, चशब्दे पुनः सति पूर्वोक्तानुकर्षणार्थो (र्थे) युक्तो भवति ।

क्षायोपशमिकग्रहणमिति चेत्; न; गौरवात् ।२०। यद्येवं क्षायोपशमिकग्रहणमेव कर्तव्यमन्यभावनिवृत्त्यर्थम्; तन्न; किं कारणम् ? गौरवात्[3] । तथा सति सूत्रस्य गौरवं स्यादिति ।

मध्ये मिश्रवचनं[4] पूर्वोत्तरापेक्षार्थम् ।२१। मध्ये मिश्रवचनं क्रियते पूर्वोत्तरापेक्षार्थम् । किमपेक्षायां प्रयोजनम् ? भव्यानामौपशमिकक्षायिकौ भावौ सम्यक्त्वचारित्राख्यौ क्षायोपशमिकाश्च ज्ञानदर्शनचारित्रभावाः । औदयिकपारिणामिका अभव्यानामपि क्षायोपशमिकाश्चेति । तत्र चाभव्यानां भव्यानां च मिथ्यादृष्टीनां चारित्रादृते क्षायोपशमिका ज्ञानदर्शनविकल्पाः ।

'जीवस्य' इति वचनम् अन्यद्रव्यनिवृत्त्यर्थम् ।२२। जीवस्येदं स्वतत्त्वं नान्यस्येति ।

स्वभावपरित्यागापरित्यागयोः शून्यताऽनिर्मोक्षप्रसङ्ग इति चेत्; न; आदेशवचनात् ।२३। इदमिह संप्रधार्यम्–आत्मा औपशमिकादिभावपरित्यागी वा स्यात्, अपरित्यागी वा ? किञ्च, अतो यदि तावत् परित्यजति; शून्यता प्राप्नोति आत्मनः, स्वभावाभावाद् अग्नेरौष्ण्यस्वभावपरित्यागेऽभाववत् । अथाऽपरित्यागी; क्रोधादिस्वभावापरित्यागादात्मनोऽनिर्मोक्षः प्राप्नोतीति । तन्न; किं कारणम् ? आदेशवचनात् । अनादिपारिणामिकचैतन्यद्रव्यार्थादेशात् स्यात् स्वभावाऽपरित्यागी, आदिमदौदयिकादिपर्यायार्थादेशात् स्यात् स्वभावपरित्यागी इत्यादि सप्तभङ्गी पूर्ववत् । यस्यैकान्तेन स्वभावपरित्यागः स्यादपरित्यागो वा; तस्य यथोक्तदोषः स्यात्, नानेकान्तवादिनः ।

अप्रतिज्ञानात् ।२४। नैतत्प्रतिजानीमहे–'स्वभावपरित्यागादपरित्यागाद्वा मोक्षः' इति । किं तर्हि ? अष्टतयकर्मपरिणामवशीकृतस्यात्मनः द्रव्यादिबाह्यनिमित्तसन्निधाने सत्याभ्यन्तरसम्यग्दर्शनादिमोक्षमार्गप्रकर्षावाप्तौ कृत्स्नकर्मसंक्षयात् मोक्षो विवक्षितस्ततो न दोषः । न चाग्नेरुष्णस्वभावपरित्यागेऽप्यभावः । कस्मात् ? द्रव्यार्थावस्थानात् । पुद्गलद्रव्यस्य हि पर्याय उष्णभावः, तस्याभावेऽपि सदचेतनत्वादिभिरवस्थानम् । किञ्च,

कर्मसन्निधाने तदभावे चोभयभावविशेषोपलब्धेर्नेत्रवत् ।२५। यथा नेत्रं रूपोपलब्धि[5]स्वभावकं यदा रूपं नोपलभते तदा रूपोपलब्धिस्वभावपरित्यागात्[6] न नास्ति, यथा वा क्षायोप-

---

१ –तयत्वफ– श्रा०, ब०, द०, मु० । २ औपशमिकक्षायिकाभ्याम् –सम्पा० । ३ –त् गौ– श्रा०, ब०, द०, मु० । ४ –नं क्रियते पू–श्रा०, ब०, द०, मु० । ५–स्वभावं य –श्रा०, ब०, द०, मु० । ६ –गान्नास्त्यभावो यथा श्रा०, ब०, मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शमिकत्वे रूपोपलब्धिस्वभावस्य नेत्रस्य संक्षीणसकलावरणे केवलिनि मतिज्ञानाभावान्नेत्रात्मकस्य रूपोपलब्धिस्वभावस्य परित्यागेऽपि द्रव्यनेत्रावस्थानान्न नेत्राभावः तथा कर्मनिमित्तानामौदयिकादीनामभावेऽपि क्षायिकभावसन्निधानादात्मनो नाऽभावो विशेषोपलब्धेरिति ।

अत्राह–तस्यात्मनो ये भावा औपशमिकादयस्ते किं भेदवन्त उताऽभेदा इति ? अत्रोच्यते–भेदवन्तः । यद्येवं ते उच्यतां कति भेदा इति ? अत उत्तरं पठति–

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥२॥

कोऽयं निर्देशः ?

द्वयादीनां कृतद्वन्द्वानां भेदशब्देन वृत्तिः ।१। द्वौ च नव चाष्टादश चैकविंशतिश्च त्रयश्च द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रय इति द्वन्द्वे कृते पश्चाद्भेदशब्देन वृत्तिरियं वेदितव्या । ननु चेतरेतरयोगे द्वन्द्वः । स च तुल्ययोगे भवति । न चात्र तुल्ययोगोऽस्ति । कथम् ? द्वयादयः शब्दाः संख्येयप्रधाना एकविंशतिशब्दः संख्यानप्रधान इति । नैष दोषः; संख्याशब्दानाममीषां संख्येयप्रधानत्वेऽपि निमित्तानुविधानात् संख्यानेऽपि वृत्तिर्भवति । प्रधानं हि किञ्चिन्निमित्तमपेक्ष्य [1]गुणमनुविधत्ते । यथा प्रधानभूतोऽपि राजा मन्त्रिणं गुणमाश्रयते, तत्प्रयुक्तक्रियाफलार्थित्वात् तस्य प्राधान्यमप्यनुजानातीति । अस्त्ययं तर्काश्रयः समाधिः[2] लक्षणशास्त्रेण तु विरुध्यते, एवं तत्रोक्तम्–***"एकादयः प्राग्विंशतेः संख्येयप्रधानाः, विंशत्यादयस्तु कदाचित् संख्यानप्रधानाः कदाचित्संख्येयप्रधानाः"** [ ] इति । यदि च द्वयादयः संख्यानेऽपि वर्तेरन् विंशत्यादिभिस्तुल्याः स्युः । तत्र को दोषः? संबन्धिनि[3] व्यतिरेकनिमित्तविभक्तिश्रवणं स्यात्[4] [5]स्वतश्च संख्यानस्यैकत्वादेकवचनं श्रूयेत 'विंशतिर्गवाम्' इति यथा । ननु च [6]तत्रैव संख्याने वृत्तिरुपलभ्यते ***"द्व्येकयोः"** [पा० सू० १।४।२२] इति; नासौ संख्याने प्रयोगः, किं तर्हि उपसर्जनावयवे समुदाये[7] प्रयोगः यथा 'बहुशक्तिकिटकम्'[8] इति । संख्याप्रधानत्वेऽपि [9]तद्विषयत्वमेव ***"अन्तरेणापि भावप्रत्ययं गुणप्रधानो भवति निर्देशः ।"** [पात० महा० १।४।२१] इति । एवं तर्हि द्वयादयः शब्दाः संख्येयप्रधाना एव, एकविंशतिशब्दोऽपि संख्येयवृत्तिः परिगृह्यत इति तुल्ययोगोपपत्तेर्युक्तो द्वन्द्वः ।

भेदशब्देन किं स्वपदार्था वृत्तिः, आहोस्विदन्यपदार्था ? स्वपदार्थप्रधाना । कथम् ? ***"विशेषणं विशेष्येण"** [पा० सू० २।१।५७] इति । द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रय एव भेदा द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा इति । ननु च 'द्वियमुनम्' इत्येवमादिषु पूर्वपदार्थप्रधाना वृत्तिरिति द्वयादीनां विशेष्यत्वमुक्तं तेन भेदशब्दस्य विशेषणत्वे सति पूर्वनिपातः प्राप्नोति ? नैष दोषः; सामान्योपक्रमे विशेषाभिधाने तदुक्तम् । के? 'द्वे यमुने' इति । 'यमुने' इति ह्युक्ते द्विशब्दप्रयोग एवानर्थक इति । इह तु बहुत्वात् सन्देहः–'भेदाः' इत्युक्ते 'कति' इति । द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयः' इति चोक्ते 'के ते' इति । अत उभयव्यभिचाराद्विशेषणविशेष्ययोर्यथेष्टत्वात् द्वयादीनां गुणशब्दत्वाच्च विशेषणत्वं विवक्षितम् । [10]अथवा, पुनरस्त्वन्यपदार्था वृत्तिः–द्विन-

---

१ अप्रधानम् । २ परिहारः । ३ सम्बन्धिनां व्य– आ०, ब०, द०, मु० । ४ कुतः ? ५ स्वभावतः । ६ संख्येयप्रधानद्वयादिष्वेव । लक्षणशास्त्रे एव –सम्पा० । ७ समुदये अ०, ता० । ८ किटि वृन्दम्, बहुशक्तयः किटयो वराहा यस्मिन् वने तत्तथोक्तम्, दंष्ट्रीः घोणी स्तब्धरोमा क्रोडो भूदार इत्यपि । वराहः शूकरो घृष्टिः कोलः पोत्री किरिः किटिः ॥ इत्यमरः । –कितः कोट– आ०, ब०, द० मु० । ९ संख्येय । १० अथ पुन –आ०, ब०, द० मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाष्टादशैकविंशतित्रयो भेदा येषां त इमे द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः इति । अत्र हि संख्याशब्दस्य विशेष्यत्वेऽपि *"**सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानम्**" [पा० सू० वा० २।२।३५] इति संख्यायाः पूर्वनिपातः । पूर्वस्मिन् अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इत्यौपशमिकादीनामित्यभिसंबन्धः, उत्तरत्र पठितक्रमेणैव ।

भेदशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुजिवत् ।२। यथा देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यन्तामिति प्रत्येकं भुजिः परिसमाप्यते, एवं भेदशब्दस्यापि प्रत्येकं परिसमाप्तिर्वेदितव्या द्विभेद नवभेद इत्यादि ।

यथानिर्दिष्टौपशमिकादिभावाभिसंबन्धार्थं द्व्यादिक्रमवचनम् ।३। क्रमः आनुपूर्व्यम्, यो यः क्रमो यथाक्रमम् । यथा औपशमिकादयो भावा निर्दिष्टास्तथैव द्व्यादिभिरभिसंबन्धः कथं स्यादिति 'यथाक्रमम्' इत्युच्यते ।

तत्रानिर्धारितसंख्येयानां द्व्यादीनां संख्याशब्दानां प्रतिविशिष्टाभिधेयनिर्देशे प्राप्तकाले सति यौगपद्यासंभवात् योऽसावादावुपदिष्ट औपशमिको भावस्तद्भेदप्रदर्शनार्थमाह–

सम्यक्त्वचारित्रे ॥३॥

व्याख्यातलक्षणे सम्यक्त्वचारित्रे । औपशमिकत्वं कथमिति चेत् ? उच्यते–

सप्तप्रकृत्युपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वम् ।१। अनन्तानुबन्धिनः कषायाः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः चारित्रमोहस्य, मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वसम्यक्त्वानि त्रीणि दर्शनमोहनीयस्य[1] । आसां सप्तानां प्रकृतीनामुपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वमिति ।

अनादिमिथ्यादृष्टेर्भव्यस्य कर्मोदयापादिते कालुष्ये सति कुतस्तदुपशमः ?

काललब्ध्याद्यपेक्षया तदुपशमः ।२। काललब्ध्यादीन् प्रत्ययानपेक्ष्य तासां प्रकृतीनामुपशमो भवति । तत्र काललब्धिस्तावत्–कर्माविष्ट आत्मा भव्यः कालेऽर्धपुद्गलपरिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिक इतीयं काललब्धिरेका । अपरा कर्मस्थितिका काललब्धिः–उत्कृष्टस्थितिकेषु कर्मसु जघन्यस्थितिकेषु च प्रथमसम्यक्त्वलाभो न भवति । क्व तर्हि भवति ? [2]अन्तःकोटिकोटिसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापद्यमानेषु, [3]विशुद्धिपरिणामवशात् [4]सत्कर्मसु च ततः संख्येयसागरोपमसहस्रोनायामन्तःकोटिकोटिसागरोपमस्थितौ स्थापितेषु प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति । तथाऽपरा काललब्धि[5]र्भवापेक्षा, सा वक्ष्यते । आदिशब्देन जातिस्मरणादयः परिगृह्यन्ते । स पुनर्भव्यः पञ्चेन्द्रियः संज्ञी[6] मिथ्यादृष्टिः पर्याप्तकः[7] सर्वविशुद्धः 'प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयति[8]' । उत्पादयन्नसौ अन्तर्मुहूर्तमप[9]वर्तयति, अपवर्त्य च मिथ्यात्वकर्म त्रिधा विभजते–सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यङ्मिथ्यात्वं चेति ।

---

१ –मोहस्य आ०, ब०, द०, मु० । २ किञ्चिन्न्यून । ३ विशुद्ध– मु० । ४ विद्यमानेषु, प्राग्बद्धकर्मस्थितिरिति यावत् । ५ भावा –आ०, ब०, द०, मु०, मू० । ६ शिक्षाक्रियालापोपदेशग्राही । ७ सम्पूर्णाहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासभाषामनःपर्याप्तिः । ८ प्रथमं स –आ०, ब०, द०, मु०, मू० । ९ अत्रोपयोग्यार्योक्ता– मिथ्यादृष्टिर्भव्यो द्विविधः संज्ञी समाप्तपर्याप्तः । लब्धिचतुष्टययुक्तोऽत्यन्तविशुद्धश्चतुर्गतिजः ॥ जाग्रदवस्थावस्थः साकारात्मोपयोगसंयुक्तः । योग्यस्थित्यनुभवभाक् सल्लेश्यावृद्धियुक्तश्च ॥ त्रिकरणशुद्धिं कृत्वाप्यन्तरमुत्पादितत्रिदृङ्मोहः । ...त्पाद्यं दर्शनमनन्तसंसारविच्छेदी ॥ १० –मेव वर्तयति आ०, ब०, द०, मु० । –मपवर्तयति अपवर्त्य च मू० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शनमोहनीयं कर्मोपशमयन् क्वोपशमयति ? चतसृषु गतिषु । तत्र नारकाः प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयन्तः पर्याप्तका उत्पादयन्ति नापर्याप्तकाः । पर्याप्तकाश्चान्तर्मुहूर्तस्योपरि उत्पादयन्ति नाधस्तात् । एवं सप्तसु पृथिवीषु[1] । तत्रोपरि तिसृषु पृथिवीषु नारकास्त्रिभिः कारणैः सम्यक्त्वमुपजनयन्ति–केचिज्जातिं स्मृत्वा केचिद्धर्मं श्रुत्वा केचिद्वेदनाभिभूताः । अधस्तात् चतसृषु पृथिवीषु द्वाभ्यां कारणाभ्याम्–केचिज्जातिं स्मृत्वा अपरे वेदनाभिभूताः । तिर्यञ्चश्चोत्पादयन्तः पर्याप्तका उत्पादयन्ति नापर्याप्तकाः । पर्याप्तकाश्च[2] दिवसपृथक्त्वस्योपरि नाधस्तात् । एवं सर्वेषु द्वीपसमुद्रेषु । तिरश्चां त्रिभिः कारणैः सम्यक्त्वस्योत्पत्तिः–केचिज्जातिं स्मृत्वा अपरे धर्मं श्रुत्वा अन्ये जिनबिम्बं दृष्ट्वा । मनुष्या उत्पादयन्तः पर्याप्तका उत्पादयन्ति नापर्याप्तकाः । पर्याप्तकाश्चाऽष्टवर्षस्थितेरुपर्युत्पादयन्ति नाधस्तात् । एवमर्धतृतीयद्वीपसमुद्रेषु । तेषां त्रिभिः कारणैः [3]सम्यक्त्वस्योत्पत्तिः–केषाञ्चिज्जातिस्मरणाद् अपरेषां धर्मश्रवणाद् अन्येषां जिनबिम्बदर्शनात् । देवाः सम्यक्त्वमुत्पादयन्तः पर्याप्तका उत्पादयन्ति नापर्याप्तकाः । पर्याप्तकाश्चान्तर्मुहूर्तस्योपरि नाधस्तात् । एवमा [4]उपरिमग्रैवेयकेभ्यः । देवा भवनवास्यादय आसहस्रारकल्पाच्चतुर्भिः कारणैः प्रथमसम्यक्त्वं लभन्ते–केचिज्जातिस्मरणेन इतरे धर्मश्रवणेन अपरे जिनमहिमावेक्षणेन अन्ये देवर्धिनिरीक्षणेन । आनतप्राणतारणाच्युतेषु तैरेव देवर्धिविरहितैः । नवसु ग्रैवेयकेषु द्वाभ्यां कारणाभ्याम्–जातिस्मरणाद्धर्मश्रवणाच्च । उपरि देवा नियमेन सम्यग्दृष्टयः ।

अष्टाविंशतिमोहविकल्पोपशमादौपशमिकं चारित्रम् ।३। अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाः षोडश कषायाः, हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदभेदा[5] नव नोकषाया इति, एवं चारित्रमोहः पञ्चविंशतिविकल्पः । मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वसम्यक्त्वभेदात् त्रितयो दर्शनमोहः । एषामष्टाविंशतिमोहविकल्पानामुपशमादौपशमिकं चारित्रम् ।

सम्यक्त्वस्यादौ वचनं तत्पूर्वकत्वाच्चारित्रस्य ।४। पूर्वं हि सम्यक्त्वपर्यायेणाविर्भाव आत्मनस्ततः क्रमाच्चारित्रपर्याय आविर्भवतीति सम्यक्त्वस्यादौ गृहणं क्रियते ।

यः क्षायिको भावो नवविध उद्दिष्टः [6]तस्य भेदस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह–

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥४॥

चशब्देन सम्यक्त्वचारित्रे समुच्चीयेते ।

ज्ञानदर्शनावरणक्षयात् केवले क्षायिके ।१। ज्ञानावरणस्य कर्मणः दर्शनावरणस्य च कृत्स्नस्य[7] क्षयात् केवले ज्ञानदर्शने क्षायिके भवतः[8] ।

अनन्तप्राणिगणानुग्रहकरं सकलदानान्तरायसंक्षयादभयदानम् ।२। दानान्तरायस्य कर्मणोऽत्यन्तसंक्षयादाविर्भूतं त्रिकालगोचरानन्तप्राणिगणानुग्रहकरं क्षायिकमभयदानम् ।

अशेषलाभान्तरायनिरासात् परमशुभपुद्गलानामादानं लाभः ।३। लाभान्तरायस्याशेषनिरासात् परित्यक्तकवलाहारक्रियाणां केवलिनां यतः शरीरबलाधानहेतवोऽन्यमनुजासाधारणाः परमशुभाः सूक्ष्मा अनन्ताः प्रतिसमयं पुद्गलाः संबन्धमुपयान्ति स क्षायिको लाभः ।

---

१ पृथ्वीषु ता०, श्र० । २ मुख्यवृत्त्या भोगभूमिजापेक्षया । ३ सम्यक्त्वोत्पत्तिः श्र० । ४ उपरिग्रै– श्र०, मू० । ५ –वेदा नव आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ६ तद्भेदस्व –आ०, ब०, मु० । ७ –स्य च क्ष– आ०, ब०, मु०, द०, ता० । ८ तथा चोक्तम्– केवलदर्शनबोधौ समस्तवस्तुप्रकाशिनौ युगपत् । दिनकृत्प्रकाशतापवदावरणाभावतो नित्यम् ॥ इति । ९ –पक्षया– आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्मात् *"औदारिकशरीरस्य किञ्चिन्न्यूनपूर्वकोटिवर्षस्थितिः कवलाहारमन्तरेण कथं संभवति" [ ] इति यद्वचनं तदशिक्षितकृतं विज्ञायते ।

कृत्स्नभोगान्तरायतिरोभावात् परमप्रकृष्टो भोगः ।४। कृत्स्नस्य भोगान्तरायस्य तिरोभावादाविर्भूतोऽतिशयवाननन्तो भोगः क्षायिकः । यत्कृताः पञ्चवर्णसुरभिकुसुमवृष्टि-विविध-दिव्यगन्ध-चरणनिक्षेपस्थानसप्तपद्मपङ्क्ति-सुगन्धिधूप-सुखशीतमारुतादयो भावाः ।

निरवशेषोपभोगान्तरायप्रलयादनन्तोपभोगः क्षायिकः ।५। निरवशेषस्योपभोगान्तरायकर्मणः प्रलयात् प्रादुर्भूतोऽनन्त उपभोगः क्षायिकः । यत्कृताः सिंहासन-वालव्यजनाशोकपादप-छत्रत्रय-प्रभामण्डल-गम्भीरस्निग्धस्वरपरिणाम-देवदुन्दुभिप्रभृतयो भावाः ।

वीर्यान्तरायात्यन्तसंक्षयादनन्तवीर्यम् ।६। आत्मनः सामर्थ्यस्य प्रतिबन्धिनो वीर्यान्तरायकर्मणोऽत्यन्तसंक्षयादुद्भूतवृत्ति क्षायिकमनन्तवीर्यम् ।

पूर्वोक्तमोहप्रकृतिनिरवशेषक्षयात् सम्यक्त्वचारित्रे ।७। पूर्वोक्तस्य दर्शनमोहत्रिकस्य चारित्रमोहस्य च पञ्चविंशतिविकल्पस्य निरवशेषक्षयात् क्षायिके सम्यक्त्वचारित्रे भवतः ।

यद्यनन्तदानलब्ध्यादय उक्ता अभयदानादिहेतवो दानान्तरायादिसंक्षयाद्भवन्ति[1] सिद्धेष्वपि तत्प्रसङ्गः; नैष दोषः; शरीर[2]नामतीर्थकरनामकर्मोदयाद्यपेक्षत्वात्तेषां तदभावे तदप्रसङ्गः, [3]परमानन्दाव्याबाधरूपेणैव [4]तेषां तत्र वृत्तिः, केवलज्ञानरूपेण अनन्तवीर्यवृत्तिवत् ।

सिद्धत्वमपि क्षायिकमागमोपदिष्टमस्ति तस्योपसंख्यानमिह कर्तव्यम् ? न कर्तव्यम्; विशेषेषु निर्दिष्टेषु तद्विषयं सामान्यमनुक्तसिद्धमेव पर्वादिनिर्देशे अङ्गुलिसिद्धिवत् । सिद्धत्वं हि सर्वेषां क्षायिकाणां भावानां साधारणमिति ।

य उक्तः क्षायोपशमिको भावोऽष्टादशविकल्पस्तद्भेदनिरूपणार्थमाह–

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च।५।

चतुरादीनां कृतद्वन्द्वानां भेदशब्देन वृत्तिः ।१। चत्वारश्च त्रयश्च त्रयश्च पञ्च च चतुस्त्रित्रिपञ्च, ते भेदाः यासां ताश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदा इति द्वन्द्वगर्भा वृत्तिः । त्रिशब्दस्य द्वन्द्वापवाद एकशेषः कस्मान्न भवति ? [5]संख्यया अर्थसंप्रत्ययाद् अन्यपदार्थत्वाच्चानेकशेषः, पृथगभिधाने प्रयोजनसद्भावाच्च ।

यथाक्रमवचनं ज्ञानादिभिरानुपूर्व्यसंबन्धार्थम् ।२। इह यथाक्रममिति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ? चतुर्भेदं ज्ञानमित्येवमाद्यभिसंबन्धार्थं तर्हि वक्तव्यम्; न वक्तव्यम्; यथाक्रममित्यनुवर्तते । क्व प्रकृतम् ? *"द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम्" [त० सू० २।२] इति ।

कस्य क्षयात् कस्य चोपशमात् क्षायोपशमिको भावो भवतीति ? उच्यते—

सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात्तेषामेव [6]सदुपशमाद्देशघाति[7]स्पर्धकानामुदये क्षायोपशमिको भावः ।३। द्विविधं स्पर्धकम्—देशघातिस्पर्धकं सर्वघातिस्पर्धकं चेति । तत्र यदा सर्वघातिस्पर्धकस्योदयो भवति तदेषदप्यात्मगुणस्याभिव्यक्तिर्नास्ति तस्मात्तदुदयस्याभावः क्षय

---

१ तर्हि । २ शरीरनामकर्मो– आ०, ब०, मु० । ३ परमानन्ताव्या– आ०, ब०, द०, मु०, मू० । ४ तेषां च तत्र आ०, ब०, द०, मु० । अभयदानादीनाम् । ५ संख्याया अर्थसंप्रत्ययावस्याप– ता०, श्र०, मू०, ज० । ६ संश्चासौ उपशमश्च तस्मात् । ७ घातिकर्माणि सर्वघातीनि देशघातीनीति द्विविधानि भवन्ति, तत्र सर्वघातीनि– केवलणाणावरणं दंसणछक्कं कसायवारसयं । मिच्छं च सव्वघादी सम्मामिच्छं अबंधुदये ॥ णाणावरणचउक्कं तिदंसणं सम्मगं च संजलणं । णव णोकसायविग्घं छब्बीसा देसघादीओ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इच्युच्यते । तस्यैव सर्वघातिस्पर्धकस्यानुदयप्राप्तस्य सदवस्था उपशम इत्युच्यते अनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तित्वात्, आत्मसाद्भावितसर्वघातिस्पर्धकस्योदयक्षये देशघातिस्पर्धकस्य चोदये सति [1]सर्वघाताभावादुपलभ्यमानो भावः क्षायोपशमिक इत्युच्यते ।

किमिदं स्पर्धकं नाम ? उच्यते–

अविभागपरिच्छिन्नकर्मप्रदेशरस[2]भागप्रचय[3]पङ्क्तेः क्रमवृद्धिः क्रमहानिः स्पर्धकम् ।४। उदयप्राप्तस्य कर्मणः प्रदेशा अभव्यानामनन्तगुणाः सिद्धानामनन्तभागप्रमाणाः । तत्र सर्वजघन्यगुणः प्रदेशः परिगृहीतः, तस्यानुभागः[4] प्रज्ञाछेदेन [5]तावद्धा परिच्छिन्नः यावत्पुनर्विभागो न भवति । ते अविभागपरिच्छेदाः[6] सर्वजीवानामनन्तगुणाः, एको राशिः कृतः । एवं तत्प्रमाणाः सर्वे तथैव परिच्छिन्नाः पङ्क्तीकृता वर्गाः[7] वर्गणा । अपर एकाविभागपरिच्छेदाधिकः प्रदेशः परिगृहीतः, तथैव तस्याविभागपरिच्छेदाः कृताः । स एको [8]राशिर्वर्गः । तथैव समगुणाः पङ्क्तीकृताः वर्गा वर्गणा । एवं पङ्क्तयः कृता यावदेकाविभागपरिच्छेदाधिकलाभम् । तदलाभे अन्तरं भवति । एवमेतासां पङ्क्तीनां[9] विशेषहीनानां क्रमवृद्धिक्रमहानियुक्तानां समुदयः स्पर्धकमित्युच्यते । तत उपरि द्वित्रिचतुःसंख्येयासंख्येयगुणरसा न लभ्यन्ते अनन्तगुणरसा एव । तत्रैकप्रदेशो जघन्यगुणः परिगृहीतः, तस्य चानुभागाविभागपरिच्छेदाः पूर्ववत्कृताः । एवं समगुणा वर्गाः समुदिता वर्गणा[10] भवति[11] । एकाविभागपरिच्छेदाधिकाः पूर्ववद्विरलीकृता वर्गा वर्गणाश्च भवन्ति यावदन्तरं भवति तावदेकं स्पर्धकं भवति । एवमनेन क्रमेण विभागे क्रियमाणेऽभव्यानामनन्तगुणानि सिद्धानामनन्तभागप्रमाणानि स्पर्धकानि भवन्ति । तदेतत्समुदितमेकमुदयस्थानं भवति ।

तत्र ज्ञानं चतुर्विधं क्षायोपशमिकमाभिनिबोधिकज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं चेति ।५। वीर्यान्तरायमतिश्रुतज्ञानावरणानां सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात् सदुपशमाच्च देशघातिस्पर्धकानामुदये[12] मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च भवति । देशघातिस्पर्धकानां रसस्य प्रकर्षाप्रकर्षयोगाद् गुणघातस्यातिशयानतिशयवत्त्वात् तज्ज्ञानभेदो भवति । एवमवधिमनःपर्ययज्ञानयोरपि स्वावरणक्षयोपशमभेदात् क्षायोपशमिकत्वं वेदितव्यम् ।

अज्ञानं त्रिविधं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गं चेति ।६। तेषां क्षायोपशमिकत्वं पूर्ववत् । ज्ञानाज्ञानविभागस्तु मिथ्यात्वकर्मोदयानुदयापेक्षः ।

दर्शनं त्रिविधं क्षायोपशमिकं [13]चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं चेति ।७। एतत्त्रितयमपि पूर्ववत् स्वावरणक्षयोपशमापेक्षं द्रष्टव्यम् ।

लब्धयः पञ्च क्षायोपशमिक्यः[14] दानलब्धिर्लाभलब्धिर्भोगलब्धिरुपभोगलब्धिर्वीर्यलब्धिश्चेति ।७। दानान्तरायादिसर्वघातिस्पर्धकक्षयोपशमे देशघातिस्पर्धकोदयसद्भावे ताः

१ सर्वघात्यभा– आ०, ब०, द०, मु० । २ वीर्य । ३ –पंक्तिक्रम– आ०, ब०, द०, मु०, म०, ता० । ४ वीर्यम् । ५ तावद्वारपरि– आ०, ब०, द०, मु० । ६ ते किंप्रमाणा इत्याह । ७ –र्गाः अप– द० । ८ राशिः त– ता०, श्र० । ९ वर्गणानाम्– मू० टि०, श्र० टि० । १० अकर्मकर्मनोकर्मजातिभेदेषु वर्गणा । ११ भवन्ति ता० श्र०, मू० । १२ –ये सति मति– मु० । १३ उक्तञ्चाराधनासारे तल्लक्षणम्– चक्षुर्ज्ञानात्पूर्वं प्रकाशरूपेण विषयसन्दर्शि । यच्चैतन्यं प्रसरति तच्चक्षुर्दर्शनं नाम ॥ शेषेन्द्रियावबोधात् पूर्वं तद्विषयदर्शि यज्ज्योतिः । निर्गच्छति तदचक्षुर्दर्शनसंज्ञं स्वचैतन्यम् ॥ अवधिज्ञानात्पूर्वं रूपिपदार्थावभासि यज्ज्योतिः । प्रविनिर्याति स्वस्मात्तमवधिदर्शनं तत्स्यात् ॥ इति । १४ –शमिकाः दा– आ०, ब०, द०, मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्च लब्धयो भवन्ति। सम्यक्त्वग्रहणेन वेदकसम्यक्त्वमिह परिगृह्यते। अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयस्य मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोश्चोदयक्षयात् सदुपशमाच्च सम्यक्त्वस्य देशघातिस्पर्धकस्योदये सति तत्त्वार्थश्रद्धानं क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वम्। अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानद्वादशकषायोदयक्षयात् सदुपशमाच्च संज्वलनकषायचतुष्टयान्यतमदेशघातिस्पर्धकोदये सति नोकषायनवकस्य यथासंभवोदये च निवृत्तिपरिणाम आत्मनः क्षायोपशमिकं चारित्रम्। अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानकषायाष्टकोदयक्षयात् सदुपशमाच्च प्रत्याख्यानकषायोदये [1]संज्वलनकषायस्य देशघातिस्पर्धकोदये नोकषायनवकस्य यथासंभवोदये च विरताविरतपरिणामः क्षायोपशमिकः संयमासंयमः।

संज्ञित्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोगोपसंख्यानमिति चेत्; न; ज्ञानसम्यक्त्वलब्धिग्रहणेन गृहीतत्वात् ।९। स्यादेतत्–संज्ञित्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोगोपसंख्यानं कर्तव्यम्, तेऽपि हि क्षायोपशमिका इति; तन्न; किं कारणम्? ज्ञानसम्यक्त्वलब्धिग्रहणेन गृहीतत्वात्। संज्ञित्वं हि मतिज्ञानेन गृहीतं सम्यङ्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वग्रहणेन, नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षत्वात्, उभयात्मकस्य एकात्मपरिग्रहाच्च उदकव्यति[2]मिश्रक्षीरव्यपदेशवत्। योगश्च वीर्यलब्धिग्रहणेन गृहीत इति। अथवा, चशब्देन समुच्चयो वेदितव्यः। अथ पञ्चेन्द्रियत्वे समाने नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमः [3]कस्यचिद्भवति कस्यचिन्नेति कुतोऽयं विकल्पः? उच्यते–संज्ञिजातिनामकर्मविशेषोदयबललाभे सति नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमो भवति, तदभावे न भवतीत्ययं विशेषः, एकेन्द्रियजातिनामा[4]द्युदयविशेषापेक्षया [5]एकेन्द्रियादिक्षयोपशमभेदवत्।

य एकविंशतिविकल्प औदयिको भाव उद्दिष्टः तस्य भेदसंज्ञाकीर्तनार्थमिदमारभ्यते–

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥६॥

गत्यादीनामितरेतरयोगे द्वन्द्वः, चतुरादीनां च द्वन्द्वगर्भा अन्यपदार्थप्रधाना वृत्तिः। पूर्ववदेकशेषाभावः।

गतिनामकर्मोदयादात्मनस्तद्भावपरिणामाद् गतिरौदयिकी ।१। येन कर्मणा आत्मनो नारकादिभावावाप्तिर्भवति तद् गतिनाम चतुर्विधम्–नरकगतिनाम तिर्यग्गतिनाम मनुष्यगतिनाम देवगतिनाम चेति। तत्र नरकगतिनामकर्मोदयान्नारको भावो भवतीति औदयिकः। एवं तिर्यग्गतिनामकर्मोदयात्तिर्यग्भाव औदयिकः। मनुष्यगतिनामकर्मोदयात् मनुष्यभाव औदयिकः। देवगतिनामकर्मोदयाद् देवभाव औदयिकः।

[6]चारित्रमोहविशेषोदयात् कलुषभावः कषाय औदयिकः ।२। चारित्रमोहस्य कषायवेदनीयस्योदयादात्मनः कालुष्यं क्रोधादिरूपमुत्पद्यमानं 'कषत्यात्मानं हिनस्ति' इति कषाय इत्युच्यते। स औदयिकश्चतुर्विधः–क्रोधो मानो माया लोभश्चेति। तद्भेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाः।

---

१ समुदायरूपस्यास्य अवयवरूपं स्पर्द्धकम्। २ –ध्यामि– आ०, ब०, द०, मु०। ३ कस्यचिद्भवे भ– आ०, ब०, द०, मु०। ४ आदिशब्देन द्वीन्द्रियजातिनामादिकं गृह्यते। ५ स्पर्शनेन्द्रियावरणादि। ६ चारित्रमोहोदयात् आ०, ब०, द०, मु०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेदोदयापादितोऽभिलाषविशेषो लिङ्गम् ।३। लिङ्गं द्विविधम्–द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं च। तत्र यद् द्रव्यलिङ्गं नामकर्मोदयापादितं तदिह नाधिकृतम् आत्मपरिणामप्रकरणात् । भावलिङ्गमात्मपरिणामः स्त्रीपुंनपुंसकान्योन्याभिलाषलक्षणः । स पुनश्चारित्रमोहविकल्पस्य नोकषायस्य स्त्रीवेदपुंवेदनपुंसकवेदस्योदयाद्भवतीत्यौदयिकः ।

दर्शनमोहोदयात्तत्त्वार्थाश्रद्धानपरिणामो मिथ्यादर्शनम् ।४। तत्त्वार्थरुचिस्वभावस्यात्मनः तत्प्रतिबन्धकारणस्य दर्शनमोहस्योदयात् तत्त्वार्थेषु निरूप्यमाणेष्वपि न श्रद्धानमुत्पद्यते तन्मिथ्यादर्शनमौदयिकमित्याख्यायते ।

ज्ञानावरणोदयादज्ञानम् ।५। ज्ञस्वभावस्यात्मनः तदावरणकर्मोदये सति नावबोधो भवति तदज्ञानमौदयिकम्, घनसमूहस्थगितदिनकरतेजोऽनभिव्यक्तिवत् । तद्यथा–एकेन्द्रियस्य रसनघ्राणश्रोत्रचक्षुषामिन्द्रियाणां प्रतिनियताभिनिबोधिकज्ञानावरणस्य सर्वघातिस्पर्धकस्योदयात् रसगन्धशब्दरूपाज्ञानं यत्तदौदयिकम् । एवं द्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु शेषेन्द्रियविषयाज्ञानं वाच्यम् । पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु शुकसारिकादिवर्जितेषु मनुष्येषु च [1]केषुचिद् अक्षरश्रुतावरणस्य सर्वघातिस्पर्धकस्योदयाद् अक्षरश्रुतनिर्वृत्त्यभावादक्षरश्रुताज्ञानमौदयिकम् । नोइन्द्रियावरणस्य सर्वघातिस्पर्धकस्योदयाद्धिताहितपरीक्षां प्रत्यसामर्थ्यम् असंज्ञित्वमौदयिकम्, तदप्यत्रैवान्तर्भवति । एवमवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानावरणोदयात् प्रत्येकमज्ञानमौदयिकं वाच्यमिति ।

चारित्रमोहोदयादनिवृत्तिपरिणामोऽसंयतः ।६। चारित्रमोहस्य सर्वघातिस्पर्धकस्योदयात् प्राण्युपघातेन्द्रियविषये द्वेषाभिलाषनिवृत्तिपरिणामरहितोऽसंयत औदयिकः ।

कर्मोदयसामान्यापेक्षोऽसिद्धः ।७। अनादि[3]कर्मबन्धसन्तानपरतन्त्रस्यात्मनः कर्मोदयसामान्ये सति असिद्धत्वपर्यायो भवतीत्यौदयिकः । स पुनर्मिथ्यादृष्ट्यादिषु सूक्ष्मसाम्परायिकान्तेषु कर्माष्टकोदयापेक्षः, [4]शान्तक्षीणकषाययोः सप्तकर्मोदयापेक्षः, सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनोरघातिकर्मोदयापेक्षः ।

कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या ।८। द्विविधा लेश्या–द्रव्यलेश्या भावलेश्या चेति । तत्र द्रव्यलेश्या पुद्गलविपाकिकर्मोदयापादितेति सा नेह परिगृह्यत आत्मनो भावप्रकरणात् । भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकीत्युच्यते । ननु च योगप्रवृत्तिरात्मप्रदेशपरिस्पन्दक्रिया, सा वीर्यलब्धिरिति क्षायोपशमिकी व्याख्याता, कषायश्चौदयिको व्याख्यातः, ततो लेश्याऽनर्थान्तरभूतेति ; नैष दोषः; कषायोदयतीव्रमन्दावस्थापेक्षाभेदाद् अर्थान्तरत्वम् । सा षड्विधा–कृष्णलेश्या नीललेश्या कपोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या चेति । तस्यात्मपरिणामस्याऽशुद्धिप्रकर्षाप्रकर्षापेक्षया कृष्णादिशब्दोपचारः क्रियते ।

ननु च 'उपशान्तकषाये क्षीणकषाये सयोगकेवलिनि च शुक्ला लेश्यास्ति' इत्यागमः[5], तत्र कषायानुरञ्जनाभावादौदयिकीत्वं[6] नोपपद्यते; नैष दोषः; पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया यासौ [7]योगप्रवृत्तिः कषायानुरञ्जिता 'सैवेयम्' इत्युपचारादौदयिकीत्युच्यते । [8]तदभावादयोगिकेवल्यलेश्य इति च निश्चीयते ।

अत्र [9]चोद्यते–यथा अज्ञानमौदयिकम् एवमदर्शनमपि दर्शनावरणोदयाद्भवतीत्यौदयिकम्, निद्रानिद्रादयश्चौदयिकाः, वेदनीयोदयात् सुखदुःखमौदयिकम्, नोकषायाश्च हास्यरत्यादयः

१ मूकेषु । २ अज्ञाने । ३ –कर्मसंबन्धस– आ०, ब०, मु० । ४ मोहनीयकर्माभावात् । ५ "सुक्कलेस्सिया सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलित्ति" –षट्खं० सं० सू० १३९ । ६ –दयिकत्वं आ०, ब०, द०, मु० । ७ योगवृत्तिः ता०, श्र०, मू०, द० । ८ योगाभावात् । ९ चोद्यं प्रश्ने च विस्मये ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षडौदयिकाः, आयुरुदयाद्भवधारणं भवत्यौदयिकम्, उच्चैर्नीचैर्गोत्रकर्मोदयादुच्चनीचगोत्रपरिणामो भवतीत्यौदयिकः, नामकर्मणि च जात्यादय औदयिकाः, एतेषामपरिग्रहान्न्यूनं लक्षणमिति। अथ मतम्–आत्मपरिणामस्याधिकृतत्वाच्छरीरादीनामौदयिकत्वेऽपि पुद्गलविपाकित्वात् तेषामसंग्रह इति; एवमपि ये जीवविपाकिनस्तेषां ग्रहणं कर्तव्यं जात्यादीनाम् ? अत उत्तरं पठति–

मिथ्यादर्शनेऽदर्शनावरोधः ।९। मिथ्यादर्शने अदर्शनस्यावरोधो भवति। निद्रानिद्रादीनामपि दर्शनसामान्यावरणत्वात्तत्रैवान्तर्भावः। ननु च तत्त्वार्थाश्रद्धानं मिथ्यादर्शनमित्युक्तम्; सत्यमुक्तम्; सामान्यनिर्देशे विशेषान्तर्भावात्, सोऽप्येको विशेषः। अयमपरो विशेषः–अदर्शनमप्रतिपत्तिर्मिथ्यादर्शनमिति ।

लिङ्गग्रहणे हास्यरत्याद्यन्तर्भावः सहचारित्वात् ।१०। लिङ्गग्रहणे हास्यरत्यादीनामन्तर्भावो भवति। कुतः ? सहचारित्वात्, पर्वतग्रहणेन नारदग्रहणवत् ।

गतिग्रहणमघात्युपलक्षणम् ।११। अघातिकर्मोदयापादिता ये भावाः तेषां गतिग्रहणमुपलक्षणं यथा 'काकेभ्यो रक्षतां सर्पिः' इति काकग्रहणमुपघातकोपलक्षणम्। तेन जात्यादयो भावा नामकर्मविशेषोदयापादिता वेदनीयायुर्गोत्रोदयकृताश्च गृह्यन्ते ।

इह यथाक्रममिति वक्तव्यं गतिश्चतुर्विधेत्येवमाद्यानुपूर्व्यसंप्रत्ययार्थम्; न वक्तव्यम्, 'यथाक्रमम्' इत्यनुवर्तते ।

यः पारिणामिको भावस्त्रिभेद उक्तः, तद्विकल्पस्वरूपप्रतिपानादर्थमाह–

जीवभव्याऽभव्यत्वानि च ॥७॥

अन्यद्रव्यासाधारणास्त्रयः पारिणामिकाः[1] ।१। जीवत्वं भव्यत्वमभव्यत्वमित्येते पारिणामिका आत्मनस्त्रयो भावा अन्यद्रव्यासाधारणा वेदितव्याः। कुतः पुनरेषां पारिणामिकत्वम् ?

कर्मोदय[2]क्षयोपशमक्षयोपशमानपेक्षत्वात् ।२। न ह्येवंविधं कर्मास्ति यस्योदयात् [3]क्षयात् उपशमात् क्षयोपशमाद्वा जीवो भव्योऽभव्य[4] इति चोच्येत[5]। तदभावादनादिद्रव्यभवनसंबन्धपरिणामनिमित्तत्वात् पारिणामिका इति व्यपदिश्यन्ते ।

आयुर्द्रव्यापेक्षं जीवत्वं न पारिणामिकमिति चेत्; न; पुद्गलद्रव्यसंबन्धे सत्यन्यद्रव्यसामर्थ्याभावात् ।३। स्यादेतत्–आयुर्द्रव्योदयाज्जीवतीति जीवो नानादिपारिणामिकत्वादिति; [6]तन्न; किं कारणम् ? पुद्गलद्रव्यसंबन्धे सत्यन्यद्रव्यसामर्थ्याभावात्। आयुर्हि पौद्गलिकं द्रव्यम्। यदि च तत्संबन्धाज्जीवस्य[7] जीवत्वं स्यात्; नन्वेवमन्यद्रव्यस्यापि धर्मादेरायुःसंबन्धाज्जीवत्वं स्यात् । किञ्च,

सिद्धस्याजीवत्वप्रसङ्गात् ।४। यद्यायुःसंबन्धापेक्षं जीवत्वं ननु सिद्धस्यायुरभावादजीवत्वं प्रसज्येत। ततस्तदनपेक्षत्वाज्जीवत्वं पारिणामिकमेव ।

जीवे त्रिकालविषयविग्रहदर्शनादिति चेत्; न; रूढिशब्दस्य निष्पत्त्यर्थत्वात् ।५। स्यान्मतम्–'जीवति अजीवीत् जीविष्यति' इति त्रिकालविषयो विग्रहो दृश्यते ततः प्राणधारणार्थ-

---

१ परिणामः स्वभावः प्रयोजनमस्य । २ –पक्षयक्षयो– श्र०, ता०, मू०, द० । ३ क्षयात् क्षयो– श्रा०, ब०, द०, श्र०, ता०, मू० । ४ –व्यो वेति चोच्यते श्रा०, ब०, मु० । ५ चोच्यते द० । ६ चेन्न मु० । ७ –न्धाज्जीवत्वं श्रा०, ब०, द०, मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्वात् कर्मापेक्षत्वे न पारिणामिकत्वमिति; तच्च न; कस्मात् ? रूढिशब्दस्य निष्पत्त्यर्थत्वात् । रूढिशब्देषु हि क्रियोपात्तकाला व्युत्पत्त्यर्थैव न तन्त्रम्,[1] यथा गच्छतीति गौरिति ।

चैतन्यमेव वा जीवशब्दार्थः[2] ।६। अथवा, चैतन्यं जीवशब्देनाभिधीयते, तच्चानादिद्रव्यभवननिमित्तत्वात् पारिणामिकम् ।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामेन भविष्यतीति भव्यः ।७। भव्यादीनां प्रायेण भविष्यत्कालविषयत्वात् 'सम्यग्दर्शनादिपर्यायेण य आत्मा भविष्यति स भव्यः' इतीमं व्यपदेशमास्कन्दति ।

तद्विपरीतोऽभव्यः ।८। यो न तथा भविष्यत्यसावभव्य इत्युच्यते । किं कृतोऽयं विशेषः ? द्रव्यस्वभावकृतः, अतः पारिणामिकत्वमनयोः ।

योऽनन्तेनापि कालेन न सेत्स्यत्यसावभव्य एवेति चेत्; न; भव्यराश्यन्तर्भावात् ।९। स्यादेतत्–अनन्तकालेनापि यो[3] न सेत्स्यत्यसौ अभव्यतुल्यत्वादभव्य एव । अथ सेत्स्यति सर्वो भव्यः; तत उत्तरकालं भव्यशून्यं जगत् स्यादिति ? तन्न; किं कारणम् ? भव्यराश्यन्तर्भावात् । यथा [4]योऽनन्तकालेनापि कनकपाषाणो न कनकीभविष्यति न तस्यान्धपाषाणत्वं कनकपाषाणशक्तियोगात्, यथा वा आगामिकालो योऽनन्तेनापि कालेन नागमिष्यति न तस्यागामित्वं हीयते, तथा भव्यस्यापि स्वशक्तियोगाद् असत्यामपि व्यक्तौ न भव्यत्वहानिः ।

भावस्यैकत्वनिर्देशो युक्त इति चेत्; न; द्रव्यभेदाद्भावभेदसिद्धेः ।१०। स्यादेतत्–'जीवश्च भव्यश्चाऽभव्यश्च जीवभव्याभव्याः' इति द्वन्द्वे कृते तेषां भावे विवक्षिते एकत्वनिर्देशो युक्तो जीवभव्याभव्यानां भावो जीवभव्याभव्यत्वमिति ? तन्न; किं कारणम्? द्रव्यभेदाद्भावभेदसिद्धेः । नहि 'भाव एकत्वेन वक्तव्यः' इति नियमोऽस्ति, ततो द्रव्यभेदाद्भेदे सति बहुत्वनिर्देशो युक्तो जीवभव्याभव्यानां भावा जीवभव्याभव्यत्वानीति । पुनः प्रत्येकमभिसंबन्धो भवति–जीवत्वं भव्यत्वमभव्यत्वमिति ।

द्वितीयगुणग्रहणमार्षोक्तत्वादिति चेत्; न; तस्य नयापेक्षत्वात् ।११। अथ मतम्–द्वितीयगुणग्रहणमिह कर्तव्यम् । कोऽसौ [5]द्वितीयो गुणः ? सासादनसम्यग्दृष्टिः । सोऽपि जीवस्यासाधारणः पारिणामिकः । एवं ह्यार्षे [6]उक्तम्–***"सासादनसम्यग्दृष्टिरिति को भावः ? पारिणामिको भावः"** [षट्खं०] इति । न कर्तव्यम्; कुतः ? तस्य नयापेक्षत्वात् । मिथ्यात्वकर्मण उदयं क्षयमुपशमं[7] क्षयोपशमं वा नापेक्षत इत्यार्षे पारिणामिकः, इह पुनरसावौदयिक इत्येवं गृह्यते अनन्तानुबन्धिकषायोदयात्तस्य निर्वृत्तेः ।

चशब्दः किमर्थः ?

अस्तित्वान्यत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व-पर्यायवत्त्वाऽसर्वगतत्वाऽनादिसन्ततिबन्धनबद्धत्व-प्रदेशवत्त्वारूपत्व-नित्यत्वादिसमुच्चयार्थश्चशब्दः ।१२। अस्तित्वादयोऽपि पारिणामिका भावाः सन्ति तेषां समुच्चयार्थश्चशब्दः । यदि तेऽपि पारिणामिकाः सूत्रे तेषां ग्रहणं कस्मान्न कृतम् ?

अन्यद्रव्यसाधारणत्वादसूत्रिताः ।१३। अस्तित्वादयो हि धर्मा अन्येषामपि द्रव्याणां साधारणास्ततस्ते न सूत्रिताः । तद्यथा–अस्तित्वं तावत्साधारणं षड्द्रव्यविषयत्वात् । तत् [8]कर्मोदयक्षयक्षयोपशमानपेक्षत्वात् पारिणामिकम् ।

---

१ प्रधानम् । २ –शब्दस्यार्थः आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ३ भव्यः । ४ योऽनन्तेनापि कालेन क– आ०, ब०, मु० । ५ द्वितीयगुणः आ०, ब०, द०, मु० । ६ "सासणसम्मादिट्ठित्ति को भावो पारिणामिओ भावो ।" –षट्खं० भा० ३ । ७ –मं वा ना– आ०, ब०, द०, मु०, मू० । ८ कर्मोदयक्षयोप– श्र०, ता०, मू० ।

अन्यत्वमपि साधारणं सर्वद्रव्याणां परस्परतोऽन्यत्वात् । कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् तदपि पारिणामिकम् ।

कर्तृत्वमपि साधारणं क्रियानिष्पत्तौ सर्वेषां स्वातन्त्र्यात् । ननु च जीवपुद्गलानां क्रियापरिणामयुक्तानां कर्तृत्वं युक्तम्, धर्मादीनां कथम् ? तेषामपि अस्त्यादिक्रिया[1]विषयमस्ति कर्तृत्वम् । कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् तदपि पारिणामिकम् । ननु चात्मप्रदेशपरिस्पन्दस्य योगसंज्ञकस्य यत्कर्तृत्वं न तत्साधारणमिति [2]असाधारणेषूपसंख्येयम्; न; तस्य क्षयोपशमनिमित्तत्वात् । यदस्य पुण्यपापयोः कर्तृत्वं तदन्यद्रव्याणामसाधारणमपि सन्न पारिणामिकम् । कस्मात् ? उदयक्षयोपशमनिमित्तत्वात् । मिथ्यादर्शनं हि दर्शनमोहोदयनिमित्तम्, अविरतिप्रमादकषायाः चारित्रमोहोदयनिमित्ताः, योगाश्च क्षायोपशमिका इति । अन्यद्रव्यासाधारणानादिपारिणामिकचैतन्यसन्निधाने पुण्यपापयोः कर्तृत्वमिति पारिणामिकमिति चेत्; न; सार्वकालिककर्तृत्वप्रसङ्गात् । मुक्तानामपि चैतन्यमस्तीति पुण्यपापयोः कर्तृत्वं स्यात्, संसारिणां[3] चाविशिष्टं[4] स्यात् चैतन्यकारणस्याभेदात् ।

भोक्तृत्वमपि साधारणम् । कुतः ? तल्लक्षणोपपत्तेः । वीर्यप्रकर्षात् परद्रव्यवीर्यादानसामर्थ्यं भोक्तृत्वलक्षणम् । यथा आत्मा आहारादेः परद्रव्यस्यापि वीर्यात्मसात्करणाद्भोक्ता, तथा विषस्याचेतनस्य वीर्यप्रकर्षात् कोद्रवद्रव्यादिसारसंग्रहाद्भोक्तृत्वम् । लवणादीनां[5] च वीर्यप्रकर्षात् काष्ठादिद्रव्यलवणकरणाद्भोक्तृत्वम् । कर्मोदयापेक्षाभावात्तदपि पारिणामिकम् । यत्तु आत्मनः शुभाशुभकर्मफलस्योपभोक्तृत्वं न तत्साधारणं न च पारिणामिकम्; तस्य क्षयोपशमनिमित्तत्वात्, वीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भाद् आत्मनः शुभाशुभकर्मफलोपभोगे सामर्थ्यमाविर्भवति । आहारादिवीर्यात्मसात्करणलक्षणोपभोगश्च भोगान्तरायक्षयोपशमात्, उपात्तस्य च जरणं वीर्यान्तरायक्षयोपशमात् । कर्म अन्तरेण विषादीनां कथं भोक्तृत्वमिति चेत् ? प्रतिनियतशक्तित्वाद् द्रव्याणां [6]भास्करप्रतापवत् ।

पर्यायवत्त्वमपि साधारणं सर्वद्रव्याणां प्रतिनियतपर्यायोपपत्तेः । कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात्तदपि पारिणामिकम् ।

असर्वगतत्वमपि साधारणं परमाण्वादीनामविभुत्वात्, धर्मादीनां च परिमितासंख्यातप्रदेशत्वात् । कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात्तदपि पारिणामिकम् । यदस्य कर्मोपात्तशरीरप्रमाणानुविधायित्वं तदसाधारणमपि सन्न पारिणामिकम्; कर्मनिमित्तत्वात् ।

अनादिसन्ततिबन्धनबद्धत्वमपि साधारणम् । कस्मात् ? सर्वद्रव्याणां स्वात्मीयसन्तानबन्धनबद्धत्वं प्रत्यनादित्वात् । सर्वाणि हि द्रव्याणि जीवधर्माधर्माकाशकालपुद्गलाख्यानि प्रतिनियतानि पारिणामिकचैतन्योपयोग-गति-स्थित्यवकाशदान-वर्तनापरिणाम-वर्णगन्धरसस्पर्शादिपर्यायसन्तानबन्धनबद्धानि । [7]कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात्तदपि पारिणामिकम् । यदस्यानादिकर्मसन्ततिबन्धनबद्धत्वं[8] तदसाधारणमपि सन्न पारिणामिकम्; कर्मोदयनिमित्तत्वात् । वक्ष्यते हि ***"अनादिसंबन्धे च । सर्वस्य"** [त०सू० २।४१,४२] इति ।

---

१ –याविशेषविषयकम– आ०, ब०, मु० । २ जीवभव्याभव्यत्वेषु । ३ परस्परम् । ४ अयं पुण्यवानयं पाप इति, अथवा यत्पुण्यवान् स तद्वानेव यः पापी स तद्वानेवेति । ५ –नां वी– अ० । ६ यथा भास्करप्रतापः पाषाणवालुकादीन् तपति न तथा तस्य तापकं द्रव्यमस्ति अपि तु स्वयमेव । ७ कर्मोदयापे– द०, मू०, ता०, श्र० । ८ –बद्धानिकर्मोदयत्वं भा० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रदेशवत्त्वमपि साधारणं संख्येयाऽसंख्येयानन्तप्रदेशोपेतत्वात् सर्वद्रव्याणाम् । तदपि कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् पारिणामिकम् ।

अरूपत्वमपि साधारणं जीवधर्माधर्मकालाकाशानां रूपयोगाभावात् । तदपि कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् पारिणामिकम् ।

नित्यत्वमपि साधारणं द्रव्यार्थादेशात् सर्वद्रव्याणां व्ययोदययोगाभावात् । तच्च कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् पारिणामिकम् ।

ऊर्ध्वगतित्वमपि साधारणम् अग्न्यादीनामूर्ध्वगतिपारिणामिकत्वात् । तच्च कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् पारिणामिकम् । एवमन्ये चात्मनः साधारणाः पारिणामिका योज्याः ।

अनन्तरसूत्रनिर्दिष्टोपसंग्रहार्थश्चशब्द इति चेत्; न; अनिष्टत्वात् ।१४। स्यान्मतम्–अनन्तरसूत्रे निर्दिष्टानां गत्यादीनामुपसंग्रहार्थश्चशब्दो न अस्तित्वादिसमुच्चयार्थ इति; तन्न; किं कारणम् ? अनिष्टत्वात् । नहि गत्यादीनां पारिणामिकत्वमिष्यते तल्लक्षणाभावात् ।

त्रिभेदपारिणामिकभावप्रतिज्ञानाच्च ।१५। यतश्चौपशमिकादिभावसंख्याविधायिनि सूत्रे त्रिभेदः पारिणामिक इति प्रतिज्ञातम्, अतो न गत्यादिसमुच्चयार्थश्चशब्दः ।

गत्यादीनामुभयवत्त्वं क्षायोपशमिकभाववदिति चेत्; न; अन्वर्थसंज्ञाकरणात् ।१६। अथ मतमेतत्–यथा क्षायोपशमिकभावस्य क्षयोपशमात्मकत्वा[१]दुभयवत्त्वं तथा गत्यादीनामुभयवत्त्वादौदयिकपारिणामिकत्वमिति 'औदयिक एकविंशतिभेदः, पारिणामिकश्च त्रिभेदः' इति सिद्धमिति; तन्न; किं कारणम् ? अन्वर्थसंज्ञाकरणात् । 'परिणामः स्वभावः प्रयोजनमस्येति पारिणामिकः' इत्यन्वर्थसंज्ञा । न चासौ स्वभावो गत्यादिषु विद्यते कर्मोदयनिमित्तत्वात् । किञ्च,

तथानभिधानात् ।१७। यथा उभयवत्त्वाज्ज्ञानादयः 'क्षायोपशमिकाः' इत्यभिधीयन्ते तथा गत्यादयः 'औदयिकपारिणामिकाः' इत्यभिधीयेरन्, न चाभिधीयन्ते । तथानभिधानात् क्षायोपशमिकवद् गत्यादयो नोभयवन्तः । किञ्च,

अनिर्मोक्षप्रसङ्गात् ।१८। गत्यादीनामुभयवत्त्वात् पारिणामिकत्वे सत्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः सातत्यावस्थानात् । तस्मात्स्थितमेतत्–'अस्तित्वादिसमुच्चयार्थ एव चशब्दः' इति ।

आदिग्रहणमत्र न्याय्यमिति चेत्; न; त्रिविधपारिणामिकभावप्रतिज्ञाहानेः ।१९। स्यादेतत्–'जीवभव्याभव्यत्वानि' इत्यत्र आदिग्रहणं न्याय्यम्, अस्तित्वादीनामपीष्टत्वादिति; तन्न; किं कारणम् ? त्रिविधपारिणामिकभावप्रतिज्ञाहानेः । आदिग्रहणे हि क्रियमाणे जीवभव्याभव्यत्वास्तित्वादीनां पारिणामिकभावत्वात् 'त्रिविधः' इति यत्पुरस्तात् प्रतिज्ञातं तस्य हानिः स्यात् ।

समुच्चयार्थेऽपि चशब्दे तुल्यमिति चेत्; न; प्रधानापेक्षत्वात् ।२०। स्यान्मतम्–समुच्चयार्थेऽपि चशब्दे अस्तित्वादीनां पारिणामिकत्वेन समुच्चयात्त्रिभेदप्रतिज्ञाहानिस्तुल्येति; तन्न; किं कारणम् ? प्रधानापेक्षत्वात् । कण्ठोक्तानि त्रीणि प्रधानानि, तदपेक्षा त्रिभेदप्रतिज्ञेति नास्ति विरोधः । अस्तित्वादीनि तु साधारणत्वात् चशब्देन द्योतितानीति तेषां गुणभावः । आदिशब्दे हि क्रियमाणे अस्तित्वादीनां प्राधान्यं स्यात्,[२] जीवत्वादीनाम् उपलक्षणार्थत्वाद् अप्राधान्यम् । तद्गुणसंविज्ञाने[३] चोभयेषां प्राधान्यं प्रसज्येत ।

---

१ –त्वात्तदुभ– ता०, श्र० । २ जीवभव्यत्वाभव्यत्वास्तित्वादीनामुपलक्षणार्थंस्ततस्तेषां प्राधान्यं स्यादित्यर्थः । ३ बहुव्रीहेरन्यपदार्थत्वादस्तित्वादीनां प्राधान्यं स्यादित्यर्थः । तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीह्यङ्गीकारे जीवत्वादीनामप्राधान्यं न स्यादिति वदन्तं प्रत्याह । सर्वादीनि सर्वनामानीत्यादिकं तद्गुणसंविज्ञानस्योदाहरणम्, पर्वतादीनि क्षेत्रादीनीत्यादिकमतद्गुणसंविज्ञानस्योदाहरणम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सान्निपातिकभावोपसंख्यानमिति चेत्; न; अभावात् ।२१। स्यादेतत्–'आर्षे सान्निपातिकभाव उक्तः, स इहोपसंख्यातव्य इति; तन्न; किं कारणम् ? अभावात् । नहि षष्ठो भावोऽस्ति ।

मिश्रशब्देनाक्षिप्तत्वाच्च ।२२। यद्यप्यसौ विद्यते मिश्रशब्देनासावाक्षिप्तः । ननु च मिश्रशब्दः क्षायोपशमिकसंग्रहार्थो न सान्निपातिकग्रहणार्थ इति ? उच्यते–चशब्दवचनात् । 'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रो जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च' इति सिद्धे यन्मिश्रशब्दसमीपे चशब्दकरणं तेन ज्ञायते मिश्रशब्देनोभयमुच्यते इति । मिश्रश्च कः ? क्षायोपशमिको भावः सान्निपातिकश्चेति[1] । इदमयुक्तं वर्तते । किमत्रायुक्तम् ? यद्यस्ति सान्निपातिको भावः 'अभावात्' इति विरुध्यते । अथ नास्ति; कथमार्षे सान्निपातिको भाव उक्तः ? कस्य वा मिश्रशब्देनाक्षेपः ? नैष दोषः; सान्निपातिक एको भावो नास्तीति 'अभावात्' इत्युच्यते, संयोगभङ्गापेक्षया अस्तीत्यार्षं वचनम् । तत्राभावपक्षे आदिसूत्रे पूर्वोक्तानुकर्षणार्थश्चशब्द उक्तः, भावपक्षे सान्निपातिकप्रतिपादनार्थश्चशब्दः । पूर्वोक्तानुकर्षस्तु[2] अपेक्षया वेदितव्यः ।

अथार्षोक्तः सान्निपातिकभावः कतिविध इति ? अत्रोच्यते–षड्विंशतिविधः षड्त्रिंशद्विध एकचत्वारिंशद्विध इत्येवमादिरागमे उक्तः । तत्र–

***"दुग तिग चदु पंचेव य संयोगा होंति सन्निवादेसु ।**
दस दस पंच य एक्क य भावा छव्वीस पिंडेण[4] ॥" [ ]

द्विभावसंयोगेन दश–औदयिकं परिगृह्यौपशमिकादिचतुष्टयस्य चैकैकत्यागेन प्रथमे [5]द्विभेदभावसंयोगे चत्वारो भङ्गाः । तत्रैक औदयिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उपशान्तक्रोधः । द्वितीय औदयिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः क्षीणकषायः । तृतीय औदयिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः पञ्चेन्द्रियः । चतुर्थ औदयिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम[6] लोभी जीवः । द्वितीयद्विभावसंयोगे औदयिकं परित्यज्यौपशमिकपरिग्रहात् क्षायिकादिभावत्रयस्यैकैकत्यागेन त्रयो भङ्गाः । तत्रैक औपशमिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तलोभः क्षीणदर्शनमोहत्वात् क्षायिकसम्यग्दृष्टिः । द्वितीय औपशमिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तमान आभिनिबोधिकज्ञानी । तृतीय औपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तमायो भव्यः । तृतीयद्विभावसंयोगे औपशमिकं परित्यज्य क्षायिकंपरिग्रहात् क्षायोपशमिकपारिणामिकयोरेकैकत्यागाद् द्वौ भङ्गौ । तत्रैकः क्षायिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षायिकसम्यग्दृष्टिः श्रुतज्ञानी । द्वितीयः क्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षीणकषायो भव्यः । चतुर्थद्विभावसंयोगे क्षायिकपरित्यागादेकः क्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम अवधिज्ञानी जीवः । त एते द्विभावसंयोगभङ्गा समुदिताः दश ।

प्रथमत्रिभावसंयोगे औदयिकौपशमिकौ परिगृह्य क्षायिकादिभावत्रयस्यैकैकभावपरिग्रहात् त्रयो भङ्गाः । तत्रैक औदयिकौपशमिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उप-

---

१ "अथवा सण्णिवादियं पडुच्च छत्तीसभंगा । सण्णिवादिएत्ति का सण्णा ? एक्कम्हि गुणट्ठाणे जीवसमासे वा बहवो भावा जम्हि सण्णिवदंति तेसिं भावाणं सण्णिवादएत्ति सण्णा ।" –ध० टी० भावा० पृ० १९३ । २ चशब्देन । ३ –र्षणापेक्ष– आ०, ब०, द०, मु० । ४ द्वित्रिचतुःपञ्चैव च संयोगा भवन्ति सन्निपातेषु । दश दश पञ्च च एकश्च भावाः षट्त्रिंशत् पिण्डेन ॥ ५ द्विभेदसं– आ०, ब०, द०, मु०, मू० । ६ –म मनुष्यो जीवः आ०, ब०, द०, मु० ।

शान्तमोहः क्षायिकसम्यग्दृष्टिः । द्वितीय औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उपशान्तक्रोधो वाग्योगी । तृतीय औदयिकौपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उपशान्तमानो जीवः । द्वितीयत्रिभावसंयोगे औपशमिकं परित्यज्यौदयिकक्षायिकौ परिगृह्य क्षायोपशमिकपारिणामिकयोरेकैकस्य परिग्रहाद् द्वौ भङ्गौ । तत्रैकः औदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः क्षीणकषायः श्रुतज्ञानी । द्वितीय औदयिकक्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः क्षीणदर्शनमोहो[1] जीवः । तृतीयत्रिभावसंयोगे औदयिकपरिग्रहादौपशमिकक्षायिकत्यागादेकः औदयिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः मनोयोगी जीवः । चतुर्थत्रिभावसंयोगे औदयिकं परित्यज्यौपशमिकादिभावचतुष्टयस्यैकैकत्यागाच्चत्वारो भङ्गाः । तत्रैक औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तमानः क्षीणदर्शनमोहः काययोगी । द्वितीय औपशमिकक्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तवेदः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भव्यः । तृतीय औपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तमानो मतिज्ञानी जीवः । चतुर्थः क्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षीणमोहः पञ्चेन्द्रियः भव्यः । त एते त्रिभावसंयोगभङ्गाः समुदिता दश ।

चतुर्भावसंयोगेन पञ्च भङ्गा औदयिकादीनामेकैकत्यागात् । तत्रैक औपशमिक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तलोभः क्षीणदर्शनमोहः पञ्चेन्द्रियो जीवः । द्वितीय औदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः क्षीणकषायो मतिज्ञानी भव्यः । तृतीय औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उपशान्तवेदः श्रुतज्ञानी जीवः । चतुर्थ औदयिकौपशमिकक्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उपशान्तरागः क्षीणदर्शनमोहो जीवः । पञ्चम औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उपशान्तमोहः क्षायिकसम्यग्दृष्टिरवधिज्ञानी ।

पञ्चभावसंयोगेनैकः औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उपशान्तमोहः क्षायिकसम्यग्दृष्टिः पञ्चेन्द्रियो जीवः ।

एवं षड्विंशतिविधः सान्निपातिकभावः ।

षट्त्रिंशद्विध उच्यते—द्वयोरौदयिकयोः सन्निपातादौदयिकस्यौ[2]पशमिकादिभिः चतुर्भिरेकशः सन्निपातात् पञ्च भङ्गाः । तत्र प्रथम औदयिकौदयिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः क्रोधी । द्वितीय औदयिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः उपशान्तक्रोधः । तृतीय औदयिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः क्षीणकषायः । चतुर्थ औदयिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्रोधी मतिज्ञानी । पञ्चम औदयिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यो भव्यः । द्वयोरौपशमिकयोः सन्निपातादौपशमिकस्यौदयिकादिभिश्चतुर्भिरेकशः सन्निपातात् पञ्च भङ्गाः । तत्रैक औपशमिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशमसम्यग्दृष्टिरुपशान्तकषायः । द्वितीय औपशमिकौदयिकसान्निपाति-

---

१ क्षायिकसम्यग्दृष्टिरिति यावत् । २ –त्यागे च– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ३ –पशमादिभि– ता०, श्र०, मू० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कजीवभावो नाम उपशान्तकषायो मनुष्यः । तृतीय औपशमिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तक्रोधः क्षायिकसम्यग्दृष्टिः । चतुर्थ औपशमिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तकषायः अवधिज्ञानी । पञ्चम औपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तदर्शनमोहो जीवः । द्वयोः क्षायिकयोः सन्निपातात् क्षायिकस्य चौदयिकादिभिः चतुर्भिरेकशः सन्निपातात् पञ्च भङ्गाः । तत्रैकः क्षायिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षायिकसम्यग्दृष्टिः क्षीणकषायः । द्वितीयः क्षायिकौदयिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षीणकषायो मनुष्यः । तृतीयः क्षायिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षायिकसम्यग्दृष्टिरुपशान्तवेदः । चतुर्थः क्षायिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षीणकषायो मतिज्ञानी । पञ्चमः क्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षीणमोहो भव्यः । द्वयोः क्षायोपशमिकयोः सन्निपातात् क्षायोपशमिकस्य चौदयिकादिभिश्चतुर्भिरेकशः सन्निपातात् पञ्च भङ्गाः । तत्रैकः क्षायोपशमिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम संयतः अवधिज्ञानी । द्वितीयः क्षायोपशमिकौदयिकसान्निपातिकजीवभावो नाम संयतो मनुष्यः । तृतीयः क्षायोपशमिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम संयत उपशान्तकषायः । चतुर्थः क्षायोपशमिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम संयतासंयतः क्षायिकसम्यग्दृष्टिः । पञ्चमः क्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम अप्रमत्तसंयतो जीवः । द्वयोः पारिणामिकयोः सन्निपातात् पारिणामिकस्य चौदयिकादिभिः चतुर्भिरेकशः सन्निपातात् पञ्च भङ्गाः। तत्रैकः पारिणामिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम जीवो भव्यः । द्वितीयः पारिणामिकौदयिकसान्निपातिकजीवभावो नाम जीवः क्रोधी । तृतीयः पारिणामिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम भव्य उपशान्तकषायः । चतुर्थः पारिणामिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम भव्यः क्षीणकषायः । पञ्चमः पारिणामिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम संयतो भव्यः (भव्यः संयतः) । [1]एते द्विभावसंयोगाः पञ्चविंशतिस्त्रिभावसंयोगभङ्गा दश पूर्वोक्ताः पञ्चभावसंयोगेन चैकः । एते सपिण्डिताः षट्त्रिंशत् ।

[2]पूर्वोक्तचतुर्भावसंयोगोत्पन्न[3]पञ्चभङ्गक्षेपाद् एत एव षट्त्रिंशदेकचत्वारिंशद्भङ्गा भवन्ति । एवमादयोऽन्ये च विकल्पा नेतव्या आगमाविरोधेन ।

औपशमिकाद्यात्मतत्त्वानुपपत्तिः, अतद्भावादिति चेत्; न; तत्परिणामात् ।२३। स्यान्मतम्–य एत औपशमिकादयो भावा एतेषामात्मतत्त्वव्यपदेशो नोपपद्यते । कुतः ? अतद्भावात् । सर्वे हि ते पौद्गलिकाः कर्मबन्धोदयनिर्जरापेक्षत्वादिति; तन्न; किं कारणम् ? तत्परिणामात् । पुद्गलद्रव्यशक्तिविशेषवशीकृत आत्मा तद्रञ्जनः संस्तन्निमित्तं यं यं परिणाममास्कन्दति यदा तदा तन्मयत्वात्तल्लक्षण एव भवति । उक्तं च–

[4]"परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयंति पण्णत्तं ।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥" [प्रवचनसा० १।८] इति ।

स परिणामोऽन्यद्रव्यासाधारणत्वाद् आत्मतत्त्वमित्याख्यायते ।

---

१ ततस्त एते आ०, ब०, द०, मु० । २ पूर्वोत्पन्न च– आ०, ब०, द०, मु०, मू० । ३ –गात्पञ्चपञ्चभङ्गसंक्षेपा– आ०, ब०, द०, मु० । ४ परिणमति येन द्रव्यं तत्कालं तन्मयमिति प्रज्ञप्तम् । तस्मात् धर्मपरिणत आत्मा धर्मो मन्तव्यः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]**अमूर्तित्वादभिभवानुपपत्तिरिति चेत्; न; तद्वद्विशेषसामर्थ्योपलब्धेश्चैतन्यवत् ।२४।** अथ मतमेतत्-अमूर्तिरात्मा कर्मपुद्गलैर्नाभिभूयते ततस्तत्परिणामाभाव इति ? तन्न; किं कारणम् ? तद्वद्विशेषसामर्थ्योपलब्धेः । सोऽस्य अनादिकर्मबन्धसन्तानोऽस्तीति तद्वान्, तद्वतो विशेषसामर्थ्यं तद्वद्विशेषसामर्थ्यम् । कथम् ? चैतन्यवत् । यथा अनादिपारिणामिकचैतन्यवशीकृत आत्मा तद्वान्, तस्य तद्वतश्चैतन्यवतः नारकादिमत्यादिपर्यायविशेषवृत्तिरपि चेतना, तथा अनादिकार्मणशरीराक्तत्वात्[2] कर्मवत् आत्मनो मूर्तिमत्त्वात् गत्यादि[3]मत्यादिपर्यायविशेषसामर्थ्योपलब्धिरपि मूर्तिमतीति । एवं सति नामूर्तिरात्मा । किञ्च,

अनेकान्तात् ।२५। अनादिकर्मबन्धसन्तानपरतन्त्रस्यात्मनः [4]अमूर्तत्वं प्रत्यनेकान्तः–बन्धपर्यायं प्रत्येकत्वात् स्यान्मूर्तिः, तथापि ज्ञानादिस्वलक्षणापरित्यागात् स्यादमूर्तिः, इत्यादि पूर्ववत् । यस्यैकान्तेनाऽमूर्तिरेवात्मा भवेत्; तस्यायं दोषो नार्हतस्य । किञ्च,

सुराभिभवदर्शनात् ।२६। मदमोहविभ्रमकरीं सुरां पीत्वा नष्टस्मृतिर्जनः काष्ठवदपरिस्पन्द उपलभ्यते, तथा [5]कर्मोदयाभिभवादात्मा अनाविर्भूतस्वलक्षणो मूर्त इति निश्चीयते ।

करणमोहकरं मद्यमिति चेत्; न; तद्द्विविधकल्पनायां दोषोपपत्तेः ।२७। स्यादाकूतम्–चक्षुरादीनां करणानां व्यामोहकारणं मद्यं पृथिव्यादिभूतप्रसादात्मकत्वात् इन्द्रियाणां नात्मगुणस्य [6]अमर्तित्वादिति; तन्न; किं कारणम् ? तद् द्विविधकल्पनायां दोषोपपत्तेः । इदमिह संप्रधार्यम्–तानि करणानि चेतनानि वा स्युः, अचेतनानि वा ? यद्यचेतनानि; अचेतनत्वात्तेषां न मदकरं मद्यम् । यदि स्यात्; प्रागेव स्वभाजनानां मदकरं स्यात् । अथ चेतनानि; पृथगनुपलब्धचैतन्यस्वभावानां पृथिव्यादीनां चेतनाद्रव्यसंबन्धत्वादेव चैतन्यव्यपदेश इत्यात्मगुणस्यैव मोहकरत्वं सिद्धम् ।

अथ मतमेतत्–पृथिव्यादीनामेव संयोगविशेषे सति पिष्टकिण्वोदकादि[7]समाहारे मदशक्तिव्यक्तिवत् सुखदुःखाद्यभिव्यक्तिरिति; नैतद्युक्तम्; रूपादिवैधर्म्यात् । रूपादयो हि पृथिव्यादिगुणाः सन्तो विभक्तेष्वविभक्तेषु[8] च क्रमेणैव हानिमास्कन्दन्ति । न च तथा शरीरावयवेषु विभक्तेष्वविभक्तेषु च सुखादीनां क्रमेणैव हानिः, युगपच्चोपलभ्यते, तस्मान्न पृथिव्यादिगुणाः ।

किञ्च, यदि पृथिव्यादिगुणाः सुखादयो [9]ननु शवशरीरावस्थायामप्युपलभ्यरेन् रूपादिवत् । सूक्ष्मभूतापगमान्नोपलब्धिरिति चेत्; भूयसां[10] स्थूलानां संभवात् तदुपलब्धिः स्यात् ।

किञ्च, तदपाये तदनुपलब्धेस्तेषामेव[11] ते[12] गुणा इति[13]; समुदायधर्मत्वाभावात् मद्यदृष्टान्तायुक्तिः ।

किञ्च, भूतसूक्ष्मास्तित्व (सूक्ष्मभूतास्तित्व) सिद्धिवद् आत्मसिद्धिरपि स्यात् ।

अथवा, तान्यन्तःकरणानि वा स्युः, बहिःकरणानि वा ? यदि बहिःकरणानि; तेषामचेतनत्वात् व्यामोहाभावः । अथान्तःकरणानि; तेषामपि चेतनत्वम्, अचेतनत्वं वा स्यात्?

---

१ अमूर्तत्वा– आ०, ब०, द०, मु०, श्र०, ता० । २ –रात्मकत्वात् श्र० । –रात्मत्वात् ता० । –राशक्तत्वात् मु०, ब० । –प्रशक्तत्वात् आ० । ३ –दिप– आ०, ब०, द०, मु० । ४ अमूर्तिं प्रति मु० । अमूर्तित्वं प्रति आ०, ब०, द०, मू० । ५ कर्मेन्द्रियाभि– आ०, ब०, द०, मु० । ६ कुतः । ७ सुराबीजगुडादि । ८ लतावार्वादिषु । ९ नवशव– आ०, ब०, द०, मु०, मू०, । १० शरीरावयवानाम् । ११ सूक्ष्मभूतानाम् । १२ सुखादयः । १३ चेत्; ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अचेतनत्वे पूर्ववन्मोहाभावः । चेतनत्वे विज्ञानरूपत्वाद् व्यामोहो युक्तः, न युक्तम्–'अमूर्तत्वादभिभवाभावः' इति ।

यद्येवं कर्मोदयमद्यावेशवशीकृतस्य तस्यास्तित्वं दुरुपलक्ष्यम् ? नैष दोषः; [1]तदावेशेऽपि [2]स्वलक्षणत्वेनोपलब्धिर्भवति । उक्तञ्च––

***"बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो होदि तस्स णाणत्तं ।**
तम्हा अमुत्तिभावो णेयंतो होदि जीवस्स[3] ॥" [ ]

यद्येवं तदेव तावदुच्यतां लक्षणं यत्सन्निधानाद् बन्धपरिणामं प्रत्यविवेकेऽपि सति विभागोऽवगृह्यते जीवस्येति ? अत आह––

उपयोगो लक्षणम् ॥८॥

उपयोग इत्युच्यते । क उपयोगो नाम ?

बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने यथासंभवमुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः ।१। द्विविधो हेतुर्बाह्य आभ्यन्तरश्च । द्वाववयवौ यस्य स द्वयः[4] । ननु च स्वरूपनिर्देशादेव द्वित्वप्रतीतेर्द्वयवचनमनर्थकम्; नानर्थकम्; प्रत्येकं द्वैविध्यसंप्रत्ययार्थम्–बाह्यो हेतुर्द्वय आभ्यन्तरश्चेति । तत्र बाह्यो हेतुर्द्विविधः–आत्मभूतोऽनात्मभूतश्चेति । तत्रात्मना[5] संबन्धमापन्नविशिष्टनामकर्मोपात्तपरिच्छिन्नस्थानपरिमाणनिर्माणश्चक्षुरादिकरणग्राम आत्मभूतः । प्रदीपादिरनात्मभूतः । आभ्यन्तरश्च द्विविधः–अनात्मभूत आत्मभूतश्चेति । तत्र मनोवाक्कायवर्गणालक्षणो[6] द्रव्ययोगः चिन्ताद्यालम्बनभूतः अन्तरभिनिविष्टत्वादाभ्यन्तर इति व्यपदिश्यमान आत्मनोऽन्यत्वादनात्मभूत इत्यभिधीयते । तन्निमित्तो भावयोगो वीर्यान्तरायज्ञान[7]-दर्शनावरणक्षयक्षयोपशमनिमित्त आत्मनः प्रसादश्चात्मभूत इत्याख्यामर्हति । तस्यैतस्य हेतुविकल्पस्य यथासंभवमुपलब्धुः सन्निधानं भवति । तद्यथा–प्रदीपादेस्तावत् केषाञ्चित् सन्निधानं तेन विना चक्षुरादिविज्ञानाप्रवृत्तेः, केषाञ्चित्तु द्वीपिमार्जारादीनां तमन्तरेणाप्युपलब्धेरनियमः । चक्षुरादीनामपि पञ्चेन्द्रियविकलेन्द्रियैकेन्द्रियविषयत्वेन [8]सन्निधानासन्निधानं प्रत्यनियमः । अन्तःकरणमपि[9] असंज्ञिनां मनोवर्जितम्, संज्ञिनां त्रितयम्, एकेन्द्रियाणां विग्रहगतिमुपगतानां[10] समुद्घातगतानां च सयोगकेवलिनामेक एव काययोगः, भावयोगश्च तत्कृतः, तत्र तत्र नियतः क्षयोपशमश्च आक्षीणकषायात् । अत ऊर्ध्वं क्षय इति । एवं यथासंभवं सन्निधाने सति । चैतन्यमात्मनः स्वभावोऽनादिः तमनुविदधातीत्येवंशीलश्चैतन्यानुविधायी [11]सुवर्णस्वभावानुविधायी (यि) कटकाङ्गदकुण्डलादिविकारवत् । स एवं प्रकार आत्मनः परिणाम उपयोग इत्युपदिश्यते ।

अत्र [12]कश्चिदाह–चैतन्यं सुखदुःखमोहरूपं तदनुविधायिना परिणामेन सुखदुःखक्रोधादिना भवितव्यम्, उत्तरत्र च उपयोगप्रकारा ज्ञानदर्शनविकारा वक्ष्यन्ते, तदिदं पूर्वापरविरुद्धमाल-

---

१ कर्मोदयावेशेऽपि । २ स्वलक्षणे चोप– श्र०, ता०, मू०, द० । स्वलक्षणेनोप– आ०, ब० । ३ बन्धं प्रत्येकत्वं लक्षणतो भवति तस्य नानात्वम् । तस्मादमूर्तिभावो नैकान्तो भवति जीवस्य ॥ उद्धृतेयं स० सि० २।७ । ४ द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वेति अयटो लुक् । ५ सह । ६ अकर्मकर्मनोकर्मजातिभेदेषु वर्गणा । ७ श्रुतज्ञान । ८ सन्निधानं प्रत्य– आ०, ब०, द०, मु० । ९ अपिशब्देन बाह्यकरणं चक्षुरादिकं यथायोग्यं योज्यम् । १० जीवानाम् । ११ सुवर्णभावान्–आ० ब०, द०, मु० । १२ सांख्यः –सम्पा० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्ष्यत इति; नैष दोषः; चैतन्यं नामात्मधर्मः सामान्यभूतः, यस्याऽसन्निधानादितरेषु द्रव्येषु जीवव्यपदेशो नास्ति, यद्भेदाश्चैते ज्ञानदर्शनादयः, तेषां समुदाये वर्तमानश्चैतन्यशब्दः क्वचिदवयवेऽपि सुखादौ वर्तते–*"समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दा[1] अवयवेष्वपि वर्तन्ते" [पात० महा० पस्पशा०] इति । इह पुनः समुदाय एव वर्तमानः परिगृहीतः, उत्तरत्र च तद्भेदा ज्ञानदर्शनविकारा वक्ष्यन्ते इति नास्ति विरोधः । अथ किं लक्षणम् ?

परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम् ।२। बन्धपरिणामानुविधानात् [2]परस्परप्रदेशानुप्रवेशाद् व्यतिकीर्णस्वभावत्वेऽपि सत्यन्यत्वप्रतिपत्तिकारणं लक्षणमिति समाख्यायते । यथा सुवर्णरजतयोः सत्यपि बन्धं प्रत्येकत्वे वर्णप्रमाणादिरसाधारणो धर्मः[3] अजहदुपलभ्यते उत्तरकालं सति विवेके तद्दर्शनात्, तथा पुद्गलद्रव्येण बन्धं प्रत्यविभागेऽपि विभागहेतुः ज्ञानादिरुपयोगो लक्षणं भवति ।

तल्लक्षणं द्विविधम्–आत्मभूताऽनात्मभूतभेदात् उष्णदण्डवत् ।३। तदेतल्लक्षणं द्विविधम्–आत्मभूतमनात्मभूतञ्चेति । तत्र आत्मभूतमग्नेरौष्ण्यम्, अनात्मभूतं देवदत्तस्य दण्डः । इह आत्मभूतं लक्षणमुपयोगः ।

गुणगुणिनोरन्यत्वमिति चेत्; न; उक्तत्वात् ।४। स्यादेतत्–औष्ण्यं गुणोऽग्निर्गुणी तथा च आत्मा गुणी ज्ञानादिर्गुण इति । तयोश्च लक्षणभेदादन्यत्वमिति; तन्न; किं कारणम् ? उक्तत्वात् । उक्तमेतत्[4]–'अतत्स्वाभाव्येऽनवधारणप्रसङ्गोऽग्निवत्' इत्यादि ।

लक्ष्यलक्षणभेदादिति चेत्; न; अनवस्थानात् ।५। अथ मतमेतत्–लक्ष्यो गुणी गुणो लक्षणम्, लक्ष्याच्च लक्षणेनार्थान्तरभूतेन भवितव्यमित्यतोऽनयोरन्यत्वमिति; तन्न; किं कारणम् ? अनवस्थानात् । येन लक्षणेन लक्ष्यं लक्ष्यते [5]तत् सलक्षणम्, अलक्षणं वा ? यदि तदलक्षणम्; मण्डूकशिखण्डवदभावमापद्येत । असति च तस्मिन् लक्ष्यानवधारणम् । अथ सलक्षणम्; तदपि ततोऽन्यत्, तदपि ततोऽन्यदित्यनवस्था स्यात् । किञ्च,

आदेशवचनात् ।६। [6]'लक्ष्यलक्षणयोरव्यतिरेकात् स्यादेकत्वम्, संज्ञादिभेदत्वाच्च स्यान्नानात्वम्' इत्यादेशवचनात् एकान्तदोषानुषङ्गाभावः । कश्चिदाह––

न उपयोगलक्षणो जीवस्तत्वात्मकत्वात् ।७। इह लोके यद्यदात्मकं न तत्तेनोपयुज्यते यथा क्षीरं क्षीरात्मकं न तत्तेनैवात्मनोपयुज्यते । एवमात्मनोऽपि ज्ञानाद्यात्मकत्वान्न तेनैवोपयोग[7] इति जीवस्योपयोगाभावः । कुतश्च (इतश्च),

विपर्ययप्रसङ्गात् ।८। सति चानन्यत्वे उपयोगमिच्छ[8]तोऽनिच्छतश्च[9] कस्यचिद्विपर्ययः प्राप्नोति । कथम् ? अविपर्ययवत्[10]। तद्यथा–'जीव एव ज्ञानादनन्यत्वे सति ज्ञानात्मनोपयुज्यते' इति मन्यसे न क्षीरादयः क्षीराद्यात्मभिः; एवं क्षीरादय एव क्षीराद्यात्मभिः परिणमेयुः, [11]न तु जीवो ज्ञानात्मनोपयुज्यते । अनिष्टं चैतत् ।

न; अतस्तत्सिद्धेः ।९। नैतद्युक्तम् । कुतः ? अतस्तत्सिद्धेः । यत एवानन्यत्वमत एवोपयोगः सिद्धः । नह्यत्यन्तमन्यत्वे उपयोगः सिद्ध्यति आकाशस्य रूपाद्युपयोगाभाववत्[12] । ननु चोक्तम्–

---

१ अङ्गं प्रति कोऽवयव इत्यादयः । २ परस्परप्रवेशा– आ०, ब०, द०, मु० । ३ –धर्मः अलक्षणमुपयोगो गुण– आ०, ब०, द०, मु० । ४ पृ० ५ । ५ तत्सलक्ष– मु० । ६ लक्ष्यप्लोलक्षणानुपपत्तिलक्ष्याभावात् भा० १ । ७ परिणमनम् । ८ आत्मनः । ९ क्षीरस्य । १० विपर्ययाभाववत् । ११ ननु जीवो ज्ञानात्मना नोप– आ०, ब०, द०, मु० । १२ –भावात् ननु आ०, ब०, द०, मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'यथा क्षीरं क्षीरात्मकं न तत्तेनात्मनोपयुज्यते' इति; न; अतस्तत्सिद्धेरित्येवं[1]। यथा तृणजलादिकारणवशात् क्षीरभावावाप्तिं प्रत्यभिमुखं[2] क्षीरं[3] क्षीरव्यपदेशभाक् तच्छक्त्यव्यतिरेकात् 'क्षीरात्मना परिणमति' इत्युच्यते, तथा आत्मापि ज्ञानादिस्वभावशक्तिप्रत्ययवशात् घटपटाद्याकारावग्रहरूपेण परिणमतीत्युपयोगः सिद्धः। इतरथा ह्यतद्भावे तद्भावाऽभावादुपयोगाभावः स्यात्। किञ्च,

उभयथापि त्वद्वचनासिद्धेः ।१०। अनेकान्तवादप्रवणमार्हन्त्यमागमविज्ञाय यदुपादिक्षत् भवान्–'यद्यदात्मकं न तस्य तेनैव परिणामः' इति; नन्वेवमुभयथापि त्वदीयस्य वचसोऽसिद्धिः। तद्यथा–तदात्मकानुपयोगवादिनः स्ववचसः स्वपरपक्षसाधनदूषणात्मकस्य स्वपक्षपरपक्षयोः साधकत्वदूषकत्वापरिणामात् यत्रोपदिष्टः तत्रासाधकस्ते[4]ऽयं हेतुः। यथा क्षीरस्य दधित्वेन परिणाम इष्यते न क्षीरत्वेनैव, तथैव त्वद्वचसः स्वपक्षसाधनात्मकस्य तेनैवापरिणामाद् दूषकत्वेन परिणाम एषितव्यो न साधकत्वेन। अस्यैव च परपक्षदूषकात्मकस्य तेनैवापरिणामात् साधकत्वेन परिणाम एषितव्यो न दूषकत्वेन। अतः 'तदात्मकत्वेऽनुपयोगात्' इति त्वद्वचनासिद्धिः। अथ त्वद्वचनं स्वपरपक्षसाधकदूषकात्मकमपि सत् स्वपरपक्षयोः साधकदूषकपर्यायाभ्यां परिणमति; नन्वेवमपि यदवोचद्भवान्–'तदात्मकत्वेऽनुपयोगान्न तस्य तेनैव परिणामः' इति; तदसत्। किञ्च,

स्वसमयविरोधात् ।११। यदि 'यद्यदात्मकं न तत्तेनैव परिणमति' इतीष्टं वः; ननु पृथिव्यप्तेजोवायुमहाभूतानां रूपाद्यात्मकत्वात् रूपाद्यात्मना अविपरिणामः स्यात्। इष्यते च शुक्लादिरूपादिविशेषपरिणामः। अतः स्वसमयविरोधः। किञ्च,

केनचिद्विज्ञानात्मकत्वात् ।१२। यस्यैकान्तेन ज्ञानात्मक आत्मा स्यात्, तस्य ज्ञानात्मना परिणामाभावः परिणतत्वात्। आर्हतस्य तु केनचिद्विज्ञानात्मकः तत्पर्यायादेशात्, केनचिदन्यात्मक इतरपर्यायादेशादिति कथञ्चित्तदात्मकत्वात् केनचिदतदात्मकत्वात् परिणामसिद्धिः। यदि चैकान्तेन ज्ञानात्मक एव स्यादितरात्मक एव वा; तद्भावाविरामः[5] स्यात्। विरामे चात्मनोऽपि विरामः प्रसक्तः। किञ्च,

तदात्मकस्य तेनैव परिणामदर्शनात् क्षीरवत् ।१३। यथा क्षीरं द्रवमधुरादिक्षीरस्वभावमजहद् गुडादिद्रव्यसंबन्धाद् गुडक्षीरादिपरिणामान्तरमास्कन्दति, गवादेः स्तनान्तर्निर्गतमात्रं चोष्णं पुनः शीतं भवति, पुनश्चाग्निद्रव्यसंबन्धादुष्णं घनं च भवति, तदभावे च शीतमिति क्षीरजातिमजहदुष्णक्षीरादिव्यपदेशभागिति क्षीरं क्षीरात्मनैव परिणतम्। यदि क्षीरं क्षीरात्मना न परिणमेत्; तत्र तत्र क्षीरव्यपदेशाभावः स्यात्। तथोपयोगात्मक आत्मा उपयोगस्वभावमजहज्ज्ञानाद्यात्मना[6] परिणाममियर्तीति नास्ति विरोधः। अतश्चैतदेवं[7] यदि हि न स्यात्;

निःपरिणामत्वप्रसङ्गोऽर्थस्वभावसंकरो वा ।१४। यदि यद्यदात्मकं तस्य तेनापरिणामः स्यात्; भावानां निष्परिणामत्वप्रसङ्गः। ततश्च सर्वथा नित्यत्वे क्रियाकारकव्यवहारलोपः स्यात्। [8]परिणामवत्त्वे च [9]परात्मना परिणामात् सर्वपदार्थस्वभावसंकरप्रसङ्गः स्यात्। [10]अथैतदुभयं नेष्यते; सिद्धः स्वेनात्मना परिणामः। कश्चिदाह–

---

१ उत्तरम्। २ द्रव्यम्। ३ द्रव्यक्षीरमित्यर्थः। ४ तव। ५ अपर्यवसानः। ६ ज्ञानात्मना आ०, ब०, मु०। आदिशब्देन सुखादि। ७ जीवादिद्रव्यं ज्ञानादिपरिणामरूपम्। ८ परिणामत्वे ता०। ९ घटादिपटादिस्वरूपेण। १० अपरिणामः पररूपपरिणामश्चेति द्वयम।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]उपयोगस्य लक्षणत्वानुपपत्तिर्लक्ष्याभावात् ।१५। इह लोके सतो लक्ष्यस्य लक्षणं भवति यथा सतो देवदत्तस्य दण्डादिः । न चासतः शशविषाणादेः किञ्चिल्लक्षणमस्ति । तथा स एवात्मा लक्ष्यो दुरुपपादः[2] । तदभावात् कुत उपयोगस्य लक्षणत्वमिति ? तत्कथमिति चेत् ? उच्यते–

तदभावश्चाकारणत्वादिभिः ।१६। तस्य लक्ष्यस्यात्मनोऽभावः । कुतः ? अकारणत्वादेः मण्डूकशिखण्डवत् ।

सत्यपि लक्षणत्वानुपपत्तिरनवस्थानात् ।।१७। सत्यप्यात्मनि लक्ष्ये उपयोगस्य लक्षणत्वं नोपपद्यते । कुतः? अनवस्थानात् । उपयोगो हि ज्ञानदर्शनस्वभावः, स चानवस्थितः क्षणिकत्वात् । न चानवस्थितं लक्षणं भवति । तदपाये तदनुपलब्धेः, यथा 'कतरद्देवदत्तस्य गृहम् ? अधो यत्रासौ काकः' इत्युत्पतिते काके [3]नष्टं तद्गृहं भवति तथा ज्ञानादिलक्षणस्यात्मनस्तदभावे अभावः प्राप्नोति इति ।

अत्रोच्यते—

आत्मनिह्नवो न युक्तः साधनदोषदर्शनात् ।१८। इहात्मनो निह्नवो न युक्तः । कुतः ? साधनदोषदर्शनात् ।

यत्तावदुक्तम्––'नास्त्यात्मा अकारणत्वात् मण्डूकशिखण्डवत्' इति; हेतुरयमसिद्धो विरुद्धोऽनैकान्तिकश्च । कारणवानेवात्मा इति निश्चयो नः[4], नरकादिभवव्यतिरिक्तद्रव्यार्थाभावात्, तस्य च मिथ्यादर्शनादिकारणत्वादसिद्धता । अत एव द्रव्यार्थाभावात्[5] पर्यायस्य च पर्यायान्तरानाश्रयत्वाद् आश्रयाभावादप्यसिद्धता[6] । अकारणमेव ह्यस्ति सर्वं घटादि, तेनायं[7] द्रव्यार्थिकस्य विरुद्ध एव । सतोऽकारणत्वात्[8], यदस्ति तन्नियमेनैवाकारणम्, न हि किञ्चिदस्ति[9] च कारणवच्च । यदि तदस्त्येव किमस्य कारणेन नित्यनिर्वृत्तत्वात् ? कारणवत्त्वं चासत एव कार्यार्थत्वात् कारणस्येति विरुद्धार्थता । मण्डूकशिखण्डकादीनाम् [10]असत्प्रत्ययहेतुत्वेन परिच्छिन्नसत्त्वानामभ्युपगमात्तेषां च कारणाभावात् [11]उभयपक्षवृत्तेरनैकान्तिकत्वम् ।

दृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनोभयधर्मविकलः । [12]कर्माविशेषवशात् नानाजातिसंबन्धमापन्नवतो जीवतो जीवस्य मण्डूकभवावाप्तौ तद्व्यपदेशभाजः पुनर्युवतिजन्मन्यवाप्ते 'यः शिखण्डकः[13] स एवायम्' इत्येकजीवसंबन्धित्वात्[14] मण्डूकशिखण्ड इत्यस्ति । पुद्गलद्रव्यस्याप्यनाद्यनन्तपरिणामस्य युवतिभुक्ताहारादिकेशभावपरिणामाच्छिखण्डनिष्पत्तेः कारणत्वमिति नास्तित्वाकारणत्वधर्माभावात् । एवं वन्ध्यापुत्र-शशविषाणादिष्वपि योज्यम् ।

आकाशकुसुमे कथम् ? तत्रापि यथा वनस्पतिनामकर्मोदयापादितविशेषस्य वृक्षस्य जीवपुद्गलसमुदायस्य [15]पुष्पमिति व्यपदिश्यते, अन्यदपि पुद्गलद्रव्यं पुष्पभावेन परिणतं तेन व्याप्तत्वात्, एवमाकाशेनापि व्याप्तत्वं समानमिति तत्तस्यापीति व्यपदेशो युक्तः । अथ तत्कृतोपकारापेक्षया तस्येत्युच्यते; आकाशकृतावगाहनोपकारापेक्षया कथं तस्य न स्यात् ? वृक्षात् प्रच्युतमप्याकाशान्न प्रच्यवते इति नित्यं तत्संबन्धि । [16]अथ अर्थान्तरभावात्तस्य न

---

१ उपयोगलक्षणानुप– आ०, ब०, द०, मु० । २ अशक्यसमर्थनः । ३ न दृष्टम् । ४ स्याद्वादिनाम् । ५ आत्माभावादित्यर्थः । ६ आश्रयासिद्धतेति यावत् । ७ हेतुः । ८ निष्पन्नावस्थायां कुलालाद्यभावात् । ९ अनुत्पन्नस्यैव कारणवत्त्वम् । १० नास्तीति ज्ञानस्य । ११ अस्तित्वनास्तित्वेति । १२ कर्मोद्रेक । १३ मसः । १४ –सम्बन्धत्वात् आ०, ब०, द०, मु० । १५ स्वस्वामिसम्बन्धे । १६ अर्था– आ०, ब०, द०, मु० ।

१६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्यादिति मतम्; वृक्षस्यापि न स्यात्। सर्वत्रैवात्र नामाद्यपेक्षया संबन्धो योजयितव्यः। बहिरङ्गार्थाकारपरिणतविज्ञानविषयत्वापेक्षया वा दोषोद्भावनमूहितव्यम्।

यदप्युच्यते–नास्त्यात्मा अप्रत्यक्षत्वाच्छशशृङ्गवदिति; अयमपि न हेतुः असिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वाऽप्रच्युतेः[1]। सकलविषयकेवलज्ञानप्रत्यक्षत्वाच्छुद्धात्मा प्रत्यक्षः, कर्मनोकर्मबन्धपरतन्त्रपिण्डात्मा च अवधिमनःपर्ययज्ञानयोरपि प्रत्यक्ष इति 'अप्रत्यक्षत्वात्' इत्यसिद्धो हेतुः। इन्द्रियप्रत्यक्षत्वाभावादप्रत्यक्ष इति चेत्; न; तस्य परोक्षत्वाभ्युपगमात्। अप्रत्यक्षा घटादयोऽग्राहकनिमित्तग्राह्यत्वाद् धूमाद्यनुमिताग्निवत्। अग्राहकमिन्द्रियं तद्विगमेऽपि गृहीतस्मरणात् गवाक्षवत्। किञ्च, प्रत्यक्षादन्योऽप्रत्यक्ष इति पर्युदासो वा स्यात्, प्रत्यक्षो न भवतीत्यप्रत्यक्ष इति प्रसज्यप्रतिषेधो वा? यदि पर्युदासः; अन्यत्वस्य द्विष्ठत्वाद्वस्तुत्वसिद्धेः नास्तित्वविरोध्यस्तित्वसाधनाद्विरुद्धः। अथ प्रसज्यप्रतिषेधः; सति प्रतिषेध्ये[2] प्रतिषेधसिद्धेः विधिविषयसिद्धिरिति कथञ्चित् प्रत्यक्षत्वोपपत्तेः पुनरप्यसिद्धता। असति च शशशृङ्गादौ सति च विज्ञानादौ अप्रत्यक्षत्वस्य वृत्तेरनैकान्तिकता। अथ विज्ञानादेः स्वसंवेद्यत्वात् योगिप्रत्यक्षत्वाच्च हेतोरभाव इति चेत्; आत्मनि कोऽपरितोषः? दृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनोभयधर्मविकलः पूर्वोक्तेन विधिना अप्रत्यक्षत्वस्य नास्तित्वस्य चासिद्धेः।

किञ्च, सर्वस्य वागर्थस्य विधिप्रतिषेधात्मकत्वात्, न हि किञ्चिद्वस्तु सर्वनिषेधगम्यमस्ति। अस्ति त्वेतत्[3] उभयात्मकम्, यथा कुरवका रक्तश्वेतव्युदासेऽपि नाऽवर्णा भवन्ति नापि रक्ता एव श्वेता एव वा प्रतिषिद्धत्वात्। एवं वस्त्वपि परात्मना नास्तीति प्रतिषेधेऽपि स्वात्मना अस्तीति सिद्धम्। तथा चोक्तम्–

"अस्तित्वमुपलब्धिश्च कथञ्चिदसतः स्मृतेः[4]।
नास्तितानुपलब्धिश्च कथञ्चित्सत एव ते ॥१॥
सर्वथैव सतो नेमौ धर्मौ सर्वात्मदोषतः।
सर्वथैवाऽसतो नेमौ वाचां गोचरताऽत्ययात् ॥२॥" [ ] इति।

नास्तित्वाप्रत्यक्षत्वाभ्यामपि[5] रहितं तदवस्त्विति[6] धर्म्यसिद्धिश्च। एवमन्येऽपि हेतव एकान्तवादिभिरुपनीता दोषवत्तयोत्प्रेक्ष्याः। तदस्तित्वं च साध्यते[7]–

ग्रहणविज्ञानासंभवविफलदर्शनाद् गृहीतृसिद्धिः ।१९। यान्यमूनि ग्रहणानि पूर्वकृतकर्मनिर्वर्तितानि[8] हिरुक्कृतस्वभावसामर्थ्यजनितभेदानि रूपरसगन्धस्पर्शशब्दग्राहकाणि चक्षूरसनघ्राणत्वक्श्रोत्राणि। यानि[9] च ज्ञानानि तत्सन्निकर्षजानि तानि[10], तेष्वसंभवविफलमुपलभ्यते। किं पुनस्तत्? आत्मस्वभावस्थानज्ञानविषयसम्प्रतिपत्तिः। तदेतद् ग्रहणानां[11] तावन्न संभवति; अचेतनत्वात्, क्षणिकत्वाच्च। विज्ञानानां च न संभवति, एकार्थग्राहित्वादुत्पत्त्यनन्तरनिरोधाच्च। दृश्यते चेदम्। अकस्माच्च न भवतीति तत्प्रतिपत्तिपतिना[12] ततो व्यतिरिक्तेन केनचिद्भवितव्यमिति गृहीतृसिद्धिः। किञ्च,

---

१ –कताप्र– आ०, ब०, द०, मु०, ता०। २ अनियतकारण। ३ वस्तुनि। ४ वस्तु। ५ अनुभवात्। ६ धर्माभ्याम्। ७ अथ परपक्षं दूषयित्वा स्वपक्षं साधयति तदित्यादिना। ८ पृथक्कृत। हिरुक् नाना च वर्जने इत्यभिधानात्। हिरुक्कृतपृथक्कृतस्वभाव– ब०, ता०, मू०, द०। नानास्वभाव– ता०, टि०। हिरुकसहकृतपृथक्कृतस्व– आ०। ९ एतानि च आ०, ब०, द०, मु०। १० –र्वंजनितानि आ०, ब०, द०, मु०। ११ इन्द्रियाणाम्। १२ –त्तिपटुना आ०, ब०, द०, मु, मू०। पटुना इति वा पाठः –श्र०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्मदात्मास्तित्वप्रत्ययस्य सर्वविकल्पेष्विष्टसिद्धेः ।२०। योऽयमस्माकम् 'आत्माऽस्ति' इति प्रत्ययः स संशयानध्यवसायविपर्ययसम्यक्प्रत्ययेषु यः कश्चित् स्यात्, सर्वेषु च विकल्पेष्विष्टं सिध्यति । न तावत्संशयः; निर्णयात्मकत्वात् । सत्यपि संशये तदालम्बनात्मसिद्धिः[1] । न हि अवस्तुविषयः संशयो भवति । नाप्यनध्यवसायो जात्यन्धबधिररूपशब्दवत्; अनादिसंप्रतिपत्तेः । स्याद्विपर्ययः; एवमप्यात्मास्तित्वसिद्धिः पुरुषे स्थाणप्रतिपत्तौ स्थाणुसिद्धिवत् । स्यात्सम्यक्प्रत्ययः; अविवादमेतत्–आत्मास्तित्वमिति सिद्धो न पक्षः ।

सन्तानादिति चेत्; न; तस्य संवृतिसत्त्वात्, द्रव्यसत्त्वे वा संज्ञाभेदमात्रम् ।२१। स्यान्मतम्–सन्तानो नाम कश्चिदर्थोऽस्ति एकोऽनेकक्षणवृत्तिः, तदाश्रयं ग्रहणविज्ञानात्मस्वभावस्थानादिसंप्रतिपादनमिति[2]; तन्न; किं कारणम् ? तस्य संवृतिसत्त्वात् । स हि सन्तानः [3]संवृतिसन्, तस्मिन्नसति कल्पितात्मनि[4] कथं [5]स्यात्तद्विशेषप्रत्ययः ? अथ द्रव्यसत्त्वमस्यावसीयते; संज्ञाभेदमात्रम्–आत्मा सन्तान इति नार्थविप्रतिपत्तिः ।

[6]यदप्युक्तम्–'सत्यपि लक्षणत्वानुपपत्तिरनवस्थानात्' इति, कथञ्चिदवस्थानादुपयोगस्य लक्षणत्वोपपत्तिः । न हि सर्वथा विनाशोऽवस्थानं वोपयोगस्याभ्युपगम्यते । किं तर्हि ? कथञ्चिद्विनाशः कथञ्चिदवस्थानं च । पर्यायार्थादेशात् सतोऽर्थस्यानुपलब्धेर्विनाशो द्रव्यार्थादेशादवस्थानमिति असकृत्परीक्षितमेतत्[7] । तस्मादुपयोगस्य लक्षणत्वमुपपद्यते ।

तदुपरमाभावाच्च ।२२। कस्यचिदुपयोगस्योत्पादः कस्यचिद्विनाश इत्युपयोगपरम्परा नोपरमतीति तस्य लक्षणत्वमवसेयम् ।

सर्वथा विनाशे पुनरनुस्मरणाभावः ।२३। यदि सर्वथोपयोगस्य विनाशः स्यात्; अनुस्मरणं न स्यात् । अनुस्मरणं हीदं स्वयमनुभूतस्यार्थस्य दृष्टं नाननुभूतस्य नान्येनानुभूतस्य । तदभावात्तन्मूलः सर्वलोकसंव्यवहारो विनाशमुपगच्छेत् ।

उपयोगसंबन्धो लक्षणमिति चेत्; न; अन्यत्वे संबन्धाभावात् ।२३। स्यान्मतम्–उपयोगो लक्षणमात्मनो नोपपद्यते । कुतः ? अन्यत्वात् । किं तर्हि ? तत्संबन्धो लक्षणम् । यथा देवदत्तस्य न दण्डो लक्षणम्, किं तर्हि? संबन्धः । यदि हि दण्डो लक्षणम् [8]असंसक्तोऽपि लक्षणं स्यात्, एवं च कृत्वोक्तम्–*"**क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणं द्रव्यलक्षणम्**" [वैशे० १।१।१५] इति; तन्न; किं कारणम् ? अन्यत्वे संबन्धाभावात् । द्रव्याद् गुणोऽर्थान्तरभूतो यदि स्यात्; तस्य संबन्धाभाव इत्युक्तं पुरस्तात् । तस्मादात्मभूत उपयोगो लक्षणमिति न कश्चिद्दोषः ।

य उक्त उपयोगस्तद्भेददर्शनार्थमाह–

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥९॥

कथं द्विविधः ?

साकारानाकारभेदाद् द्विविधः ।१। साकार उपयोगोऽनाकार उपयोगश्चेति द्विविधः । साकारं ज्ञानम्, अनाकारं दर्शनम् ।

---

१ –सिद्धेः आ०, ब०, द०, मु० । २ ज्ञानविषयसम्प्रतिपत्तिः । ३ सं उपचारः वृतिसन् आ० । मिथ्यारूपेण सन् विद्यमानः । ४ स्वरूपे । ५ स्याद्विशे– आ०, ब०, द०, मु० । ६ यदुक्तं आ० ब०, द०, मु०, ता० । ७ –त्तं त– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ८ असक्तोऽपि आ०, ब०, द०, मु० ।

अभ्यर्हितत्वाज्ज्ञानग्रहणमादौ ।२। ज्ञानं हृचभ्यर्हितम् अर्थानां [1]विभावकत्वात्, दर्शनमालोचनमात्रम्, अतस्तस्मात् पूर्वकालभाविनोऽपि दर्शनाज्ज्ञानं प्राग्गृह्यते।

कथं पुनर्ज्ञायते ज्ञानग्रहणमादौ क्रियत इति ?

संख्याविशेषनिर्देशात्तन्निश्चयः ।३। यतः संख्याविशेषनिर्देशः क्रियते–'अष्टभेदश्चतुर्भेदः' इति, ततस्तस्य निश्चयो वेदितव्यः। ननु च चतुःशब्दस्य पूर्वनिपातेन भवितव्यम् **"संख्याया अल्पीयस्याः"** [पा० वा० २।२।३४] इति वचनात्, यथा चतुर्दशेति; नैष दोषः; उक्तमेतत्–'अभ्यर्हितत्वात् पूर्वनिपातः' इति ।

तत्र ज्ञानोपयोगोऽष्टविधः–मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गज्ञानं चेति। दर्शनोपयोगश्चतुर्विधः–चक्षुर्दर्शनम् अचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं केवलदर्शनं[2]चेति। एषां च लक्षणादीनि व्याख्यातानि। अवग्रहात्नान्यत् दर्शनमिति चेत्; व्याख्यातमन्यत्वम्। छद्मस्थेषु तयोः क्रमेण वृत्तिः, निरावरणेषु युगपत्।

यथोक्तेनानेनाहितपरिणामेन[3] सर्वात्मसाधारणेनोपयोगेन[4] ये उपलक्षिता उपयोगिनः ते द्विविधाः–

संसारिणो मुक्ताश्च ॥१०॥

आत्मोपचितकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः ।१। [5]आत्मनोपचितं कर्माष्टविधं प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धभेदभिन्नम्, तद्वशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसार इति ।

उच्यते– द्विरात्मग्रहणं[6] किमर्थम्? 'आत्मैव कर्मणः कर्ता, तत्फलस्य च आत्मैव भोक्ता' इत्येतस्य प्रदर्शनार्थम्।

[7]अन्ये तु '[8]त्रैगुण्यं[9] कर्तृ, परम् आत्मा भोक्ता' इति मन्यन्ते; तदयुक्तम्; अचेतनस्य पुण्यपापविषयकर्तृतानुपपत्तेर्घटादिवत्। परकृतफलभोगे [10]चानिर्मोक्षप्रसङ्गः स्यात् [11]कृतप्रणाशश्चेति। तस्माद्यः कर्ता स एव भोक्तेति युक्तम्।

संसारः पञ्चविधः द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतो भवतश्चेति, स येषामस्ति ते संसारिणः।

निरस्तद्रव्यभावबन्धा मुक्ताः ।२। बन्धो द्विविधो द्रव्यबन्धो भावबन्धश्चेति। तत्र द्रव्यबन्धः कर्मनोकर्मपरिणतः पुद्गलद्रव्यविषयः। [12]तत्कृतः क्रोधादिपरिणामवशीकृतो भावबन्धः। स उभयोऽपि निरस्तो यैः ते मुक्ताः।

द्वन्द्वनिर्देशो लघुत्वादिति चेत्; न; अर्थान्तरप्रतीतेः ।३। स्यान्मतम्–द्वन्द्वनिर्देशोऽत्र युक्तः। कुतः? लघुत्वात्, द्वन्द्वे हि सति उक्तार्थत्वाच्चशब्दाप्रयोगे लाघवं भवति इति; तन्न; किं कारणम्? अर्थान्तरप्रतीतेः। संसारिणश्च मुक्ताश्चेति द्वन्द्वे सति [13]अल्पाच्तरत्वादभ्यर्हितत्वाच्च मुक्तशब्दस्य पूर्वनिपाते सति मुक्तसंसारिण इति प्राप्नोति, तथा च सत्यर्थान्तरं प्रतीयेत–मुक्तः संसारो येन भावेन स मुक्तसंसारस्तद्वन्तः मुक्तसंसारिण इति। तथा सति मुक्तानामेवोपयोगित्वमुक्तं[14] स्यान्न संसारिणाम्, अतो वाक्यमेव क्रियते।

---

१ निश्चायकत्वात्। २ –यसः श्र०, मू०। ३ –नमिति श्र०, मू०। ४ भेदेन। ५ –नैनोपलक्षिता उप– श्रा०, ब०, द०, मु०। ६ आत्मोपचि– श्रा०, ब०, द०, मु०, ता०। ७ वार्तिके। ८ सांख्याः –स स्पा०। ९ प्रधानम्। १० चानिर्मो– श्रा०, ब०, द०, मु०। ११ प्रकृतेः। १२ तत्कृतक्रो– मू०। १३ अल्पाक्षर– मु०। १४ –योगत्वमुक्तं– श्रा०, ब०, द०, मु०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समुच्चयाभिव्यक्त्यर्थं चशब्दोऽनर्थक इति चेत्; न; उपयोगस्य गुणभावप्रदर्शनार्थत्वात् ।।४। स्यान्मतम्–चशब्दोऽनर्थकः । कुतः? अर्थभेदात् समुच्चयसिद्धेः । भिन्ना हि संसारिणो मुक्ताश्च ततो विशेषणविशेष्यत्वानुपपत्तेः समुच्चयः सिद्धः यथा * "[1]पृथिव्यापस्तेजोवायुः" [ ] इति; तन्न; किं कारणम्? उपयोगस्य गुणभावप्रदर्शनार्थत्वात् । नायं चशब्दः समुच्चये, क्व तर्हि[2]? अन्वाचये[3] । तत्र ह्येकः प्रधानभूतः[4]इतरो गुणभूतः यथा 'भैक्षं चर देवदत्तं चानय' इति प्रधानशिष्टं भैक्षचरणं देवदत्तानयनमप्रधानशिष्टम् । तथा संसारिणः प्राधान्येनोपयोगिनो मुक्ता गुणभावेनेत्येतस्य प्रदर्शनार्थः[5] । कथं संसारिषु मुख्य उपयोगः कथं वा मुक्तेषु गौणः?

परिणामान्तरसंक्रमाभावाद् ध्यानवत् ।५। यथा एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमिति छद्मस्थे ध्यानशब्दार्थो मुख्यश्चिन्ताविक्षेपवतः तन्निरोधोपपत्तेः, तदभावात् केवलिन्युपचरितः फलदर्शनात्, तथा उपयोगशब्दार्थोऽपि संसारिषु मुख्यः परिणामान्तरसंक्रमात्, मुक्तेषु तदभावाद् गौणः कल्प्यते [6]उपलब्धिसामान्यात् ।

संसारिग्रहणमादौ बहुविकल्पत्वात्[7] तत्पूर्वकत्वात् स्वसंवेद्यत्वाच्च ।६। संसारिग्रहणमादौ क्रियते बहुविकल्पत्वात्, बहवो हि संसारिणां विकल्पा गत्यादयः । किञ्च, तत्पूर्वकत्वात् । संसारिपूर्वका हि मुक्ताः, न मुक्तपूर्वाः संसारिण इति । स्वसंवेद्यत्वाच्च । स्वसंवेद्या हि संसारिणो गत्यादिपरिणामानामनुभूतत्वात्, मुक्ताः पुनरत्यन्तपरोक्षाः, तदनुभवस्याप्राप्तत्वात् ।

तत्र य एते शुभाशुभकर्मफलानुभवनसंबन्धवशीकृतस्वभावा अप्रच्युतसंसरणाः पूर्वकृतनामकर्मनिमित्तजनित[8]करणविशेषाः प्राणिनः ते खलु–

समनस्काऽमनस्काः ॥ ११ ॥

मनःसन्निधानासन्निधानापेक्षया द्विविधाः संसारिणः ।१। मनो द्विविधम्–द्रव्यमनो भावमनश्चेति । तत्र पुद्गलविपाकिकर्मोदयापेक्षं द्रव्यमनः । वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षा आत्मनो विशुद्धिर्भावमनः । तेन मनसा सह वर्तन्त इति समनस्काः । न विद्यते मनो येषां ते अमनस्का इति द्विविधाः संसारिणो भवन्ति । अत्राह–

द्विविधजीवप्रकरणाद्यथासंख्यप्रसङ्गः ।२। द्विविधा हि जीवाः प्रकृताः संसारिणो मुक्ताश्च । तत्र संसारिणः समनस्काः मुक्ताश्चाऽमनस्का इति यथासंख्यं प्राप्नोति ।

इष्टमिति चेत्; न; सर्वसंसारिणां समनस्कत्वप्रसङ्गात् ।३। स्यादेतत्–इष्टमेवेदं संसारिणः समनस्का मुक्ताश्चामनस्का इति; तन्न; किं कारणम्? सर्वसंसारिणां समनस्कत्वप्रसङ्गात् । एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियेषु च केषाञ्चित् मनोविषयविशेषव्यवहाराभावात् अमनस्कतेष्टा तद्व्याघातोऽतः स्यात् । अत्रोच्यते–

पृथग्योगप्रक्लृप्तेः संसारिसंप्रत्ययः ।४। यदिदं पृथग्योगकरणं तेन ज्ञायते संसारिणोऽत्र संबन्ध्यन्त इति । इतरथा हि एक एव योगः क्रियते–'संसारिणो मुक्ताश्च समनस्कामनस्काः' इति ।

---

१ पृथिव्यप्तेजो– आ०, ब०, द०, मु० । "पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसञ्ज्ञाः ।" –तत्त्वोप० पृ० १ । २ किं तर्हि आ०, ब०, द०, द०, मु० । ३ प्रधानाप्रधानविवक्षायामन्वाचयः । ४ इतरे गुणभूताः आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ५ –नार्थम् श्र० । ६ केवलज्ञान । ७ –त्वाच्च स्व– आ०, ब०, द०, मु० । ८ –जनितवि– आ०, ब०, द०, मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

औपरिष्टसंसारिवचनप्रत्यासत्तेश्च ।५। औपरिष्टमस्ति संसारिवचनम्, तस्य प्रत्यासत्तेरभिसंबन्धाच्च संसारिसंप्रत्ययो भवति । अत्राह–

तदभिसंबन्धे यथासंख्यप्रसङ्गः ।६। यदि तदभिसंबन्धः क्रियते [1]तत्त्र त्रसस्थावरग्रहणमस्ति तेन यथासंख्यं प्राप्नोति 'समनस्कास्त्रसा अमनस्काः स्थावराः' इति ।

इष्टमेवेति चेत्; न; सर्वत्रसानां समनस्कत्वप्रसङ्गात् ।७। स्यादेतत्–इष्टमेवेदं त्रसाः समनस्काः स्थावरा अमनस्का इति; तन्न; किं कारणम् ? सर्वत्रसानां समनस्कत्वप्रसङ्गात्, द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामपि समनस्कत्वं प्रसज्येत । अनिष्टं चैतत् । अत्रोच्यते–

नानभिसंबन्धात् ।८। संसारिग्रहणमात्रमत्राभिसंबध्यते न त्रसस्थावरग्रहणम् । इच्छावशेन हि संबन्धो भवति ।

एकयोगाकरणात् ।९। यदि त्रसस्थावरग्रहणेनापि संबन्ध इष्टः स्यात् एक एव योगः क्रियेत–'समनस्कामनस्काः संसारिणस्त्रसस्थावराः' इति । नत्वेवं कृतः । तेन ज्ञायते त्रसस्थावरग्रहणं न संबध्यत इति । अथवा, एकयोगाकरणात् मन्यामहे–अतीतस्य संसारिमुक्तग्रहणस्य वक्ष्यमाणस्य च त्रसस्थावरग्रहणस्य समनस्कामनस्कग्रहणेनाभिसंबन्धो न भवतीति ।

इतरथा अन्यतरत्र संसारिग्रहणे सतीष्टार्थत्वादुपरि संसारिग्रहणमनर्थकम् ।१०। इतरेण प्रकारेणेतरथा । कथम् ? यदि संसारिमुक्तग्रहणेन त्रसस्थावरग्रहणेन चास्याभिसंबन्धःस्यात् एक एव योगः क्रियेत[2]–'संसारिमुक्ताः समनस्कामनस्कास्त्रसस्थावराश्च' इति । तथा सत्यन्यतरत्र संसारिग्रहणं कर्तव्यं स्यात् । क्वान्यतरत्र ? समनस्कामनस्कसूत्रस्यादावन्ते वा । एवं सतीष्टार्थस्य सिद्धत्वात् 'संसारिणः त्रसस्थावराः' इत्यत्र संसारिग्रहणमनर्थकं स्यात् ।

आदौ समनस्कग्रहणमभ्यर्हितत्वात् ।११। आदौ समनस्कग्रहणं क्रियते । कुतः ? अभ्यर्हितत्वात् । कथमभ्यर्हितत्वम् ? तत्र हि समग्राणि करणानीति ।

य एते स्वकृतकर्मफलापेक्षपरिपूर्णापरिपूर्णकरणग्रामाहितद्वैविध्यविशिष्टाः कार्मणशरीरप्रणालिकापादितनियतावस्थाविशेषाः, ते खलु–

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥१२॥

अत्राह–के त्रसाः, के स्थावरा इति ? उच्यन्ते–

त्रसनामकर्मोदयापादितवृत्तयस्त्रसाः ।१। त्रसनामकर्मणो जीवविपाकिन उदयापादितवृत्तिविशेषाः त्रसा इति व्यपदिश्यन्ते ।

त्रसेरुद्वेजनक्रियस्य त्रसा इति चेत्; न; गर्भादिषु तदभावाद् अत्रसत्वप्रसङ्गात् ।२। स्यान्मतम्–त्रसेरुद्वेजनक्रियस्य त्रस्यन्तीति त्रसा इति ? तन्न; किं कारणम् ? गर्भादिषु तदभावाद् अत्रसत्वप्रसङ्गात् । गर्भाण्डजमूर्च्छितसुषुप्तादीनां त्रसानां [3]बाह्यभयनिमित्तोपनिपाते सति चलनाभावादत्रसत्वं स्यात् । कथं तर्ह्यस्य निष्पत्तिः 'त्रस्यन्तीति त्रसाः' इति ? व्युत्पत्तिमात्रमेव नार्थः प्राधान्येनाश्रियते गोशब्द[4]प्रवृत्तिवत् ।

स्थावरनामकर्मोदयोपजनितविशेषाः स्थावराः ।३। स्थावरनामकर्मणो जीवविपाकिन उदयेनोपजनितविशेषाः स्थावरा इत्याख्यायन्ते ।

---

१ –तत्र अ०, मू०, ता० । २ क्रियते अ०, मू० । ३ बाह्योभय– मु०, श्रु० । ४ –शब्दवृत्ति– अ०, मू० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थानशीलाः स्थावरा इति चेत्; न; वाय्वादीनामस्थावरत्वप्रसङ्गात् ।४। स्यादेतत्—तिष्ठन्तीत्येवं शीलाः स्थावरा इति ? तन्न; किं कारणम् ? वाय्वादीनामस्थावरत्वप्रसङ्गात् । वायुतेजोऽम्भसां हि देशान्तरप्राप्तिदर्शनादस्थावरत्वं स्यात् । कथं तर्ह्यस्य निष्पत्तिः—'स्थानशीलाः स्थावराः' इति ? एवं रूढिविशेषबललाभात्[1] क्वचिदेव वर्तते[2] ।

इष्टमेवेति चेत्; न; समयार्थानवबोधात् ।५। अथ मतमेतत्—इष्टमेव वाय्वादीनामस्थावरत्वमिति; तन्न; किं कारणम् ? समयार्थानवबोधात् । एवं हि [3]समयोऽवस्थितः सत्प्ररूपणायां कायानुवादे *[4]"**त्रसा नाम द्वीन्द्रियादारभ्य आ अयोगिकेवलिनः** " [षट्खं०] इति । तस्मान्न चलनाचलनापेक्षं त्रसस्थावरत्वं कर्मोदयापेक्षमेवेति स्थितम् ।

त्रसग्रहणमादौ अल्पाच्तरत्वादभ्यर्हितत्वाच्च ।६। त्रसग्रहणमादौ क्रियते । कुतः ? अल्पाच्तरत्वाद् अभ्यर्हितत्वाच्च । सर्वोपयोगसंभवादभ्यर्हितत्वम् ।

सामान्यविशेषसंज्ञाहितभेदमात्रविज्ञाने सति विशेषेणाऽनिर्ज्ञातानां त्रसस्थावराणां निर्ज्ञाने कर्तव्ये एकेन्द्रियाणामतिबहुवक्तव्याभावाद् विभज्यानुपूर्वी स्थावरभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

नामकर्मोदयनिमित्ताः पृथिव्यादयः संज्ञाः ।१। स्थावरनामकर्मभेदाः पृथिवीकायादयः सन्ति, [5]तदुभयनिमित्ता जीवेषु पृथिव्यादयः संज्ञा वेदितव्याः । [6]प्रथनादिप्रकृतिनिष्पन्ना अपि रूढिवशात् प्रथनाद्यनपेक्षा वर्तन्ते ।

एषां [7]पृथिव्यादीनामार्षे चातुर्विध्यमुक्तं प्रत्येकम् । तत्कथमिति चेत् ? उच्यते—पृथिवी पृथिवीकायः पृथिवीकायिकः पृथिवीजीव इत्यादि[8] । तत्र अचेतना [9]वैश्रसिकपरिणामनिर्वृत्ता काठिन्यादिगुणात्मिका पृथिवी । अचेतनत्वादसत्यपि पृथिवीकायिकनामकर्मोदये प्रथनक्रियोपलक्षितैवेयम् । अथवा, पृथिवी सामान्यम्; उत्तरत्रये संभवात् । कायः शरीरम्, पृथिवीकायिकजीवपरित्यक्तः पृथिवीकायः, मृतमनुष्यादिकायवत् । पृथिवी कायोऽस्यास्तीति पृथिवीकायिकः तत्कायसंबन्धवशीकृत आत्मा । समवाप्तपृथिवीकायिकनामकर्मोदयः[10] कार्मणकाययोगस्थः, यो न तावत् पृथिवीं कायत्वेन गृह्णाति स पृथिवीजीवः[11] । एवमापः, अप्कायः, अप्कायिकः, अप्जीवः । तेजः, तेजस्कायः, तेजस्कायिकः, तेजो जीवः । वायुर्वायुकायो वायुकायिको वायुजीवः । वनस्पतिर्वनस्पतिकायो वनस्पतिकायिको वनस्पतिजीव इति योज्यम् ।

सुखग्रहणहेतुत्वात् स्थूलमूर्तित्वादुपकारभूयस्त्वाच्चादौ पृथिवीग्रहणम् ।२। पृथिव्यां हि सत्यामपां कुम्भादिभिः अग्नेश्च शरावादिभिः वायोश्च चर्मघटादिभिः सुखेन ग्रहणं क्रियते ।

---

१ –लाभात्तु क्व– श्र०, मू० । २ वर्तन्ते ता०, श्र०, मु०, द०, आ०, ब०, मु० । ३ "तसकाइया बीइंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ।" –षट् खं०सं०सू० ४४ । ४ त्रसनाम श्र० । त्रसानां द्वी-- आ०, ब०, द०, मु० । ५ बाह्याभ्यन्तर । ६ पृथुत्व धारणादि । ७ "उक्तञ्च-पुढवी पुढवीकायो पुढवीकाइय पुढविजीवो य । साहारणोपमुक्को सरीरगहिदो भवंतरिदो ॥" –स० सि० २।१३ । ८ आदिशब्देन अबादीनां चातुर्विध्यं योज्यम् । ९ स्वभावजात । १० –नामोदयः आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता० । ११ चतुर्णामपि पृथिवीशब्दवाच्यत्वेऽपि शुद्धपुद्गलपृथिव्या जीवपरित्यक्तपृथ्वीकायस्य च नेह ग्रहणम्, तयोरचेतनत्वेन तत्कर्मोदयासंभवात् तत्कृतपृथिवीव्यपदेशासिद्धेः । तस्माज्जीवाधिकारात् पृथिवीं कायत्वेन गृहीतवतः पृथिवीकायिकस्य विग्रहगत्यापन्नस्य च पृथिवीजीवस्य च ग्रहणम्, तयोरेव पृथिवीस्थावरनामकर्मोदयसंभवात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थूलमूर्तिश्च पृथिवी विमानभवनप्रस्तारादिभावपरिणामात् । [1]स्नानपानाद्युपकारादपां पाकशोषप्रकाशनाद्युपकाराच्चाग्नेः स्वेदखेदापनोदाद्युपकाराच्च वायोर्भूयानुपकारः पृथिव्या अशनाच्छादनवसनादिभावो वनस्पतेः । अबादीनां यश्चोक्त उपकारः प्रतिनियत इति स सत्यां पृथिव्यां संभवति, इतरथा हि क्वावस्थितानां स उपकारः स्यात्, अतः पृथिव्या ग्रहणमादौ क्रियते ।

तदनन्तरमपां वचनं भूमितेजसोर्विरोधादाधेयत्वाच्च ।३। तदनन्तरमपां वचनं क्रियते । कुतः ? भूमितेजसोर्विरोधादाधेयत्वाच्च । भूमेर्हि तेजो विरोधि विनाशकत्वात्, अतोऽद्भिर्व्यवधानं क्रियते । भूरपामाधारः आधेया आप इति च ।

ततस्तेजोग्रहणं [2]तत्परिपाकहेतुत्वात् ।४। पृथिव्या अपां च परिपाकहेतुस्तेजः, तदनन्तरं तस्य ग्रहणं क्रियते ।

तेजोऽनन्तरं वायुग्रहणं तदुपकारकत्वात् ।५। वायुर्हि [3]तिर्यक्प्लवनकर्मा तेजसः प्रेरणेन उपकरोतीति तदनन्तरं गृह्यते ।

अन्ते वनस्पतिग्रहणं सर्वेषां तत्प्रादुर्भावे निमित्तत्वादनन्तगुणत्वाच्च ।६। वनस्पतिप्रादुर्भावे हि पृथिव्यादयः सर्वे निमित्ततामुपव्रजन्ति । सर्वेषां तेषां वनस्पतिकायिका अनन्तगुणास्ततोऽन्ते वनस्पतिग्रहणं क्रियते । एते पञ्चविधाः प्राणिनः स्थावराः ।

कति पुनरेषां प्राणाः ? चत्वारः–स्पर्शनेन्द्रियप्राणः कायबलप्राण उच्छ्वासनिश्वासप्राण आयुःप्राणश्चेति ।

अथ के त्रसा इति ? अत्रोच्यते[4]–

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥१४॥

आदिशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातो व्यवस्था[5]संप्रत्ययः ।१। अयमादिशब्दोऽनेकार्थः–व्यवस्थाप्रकारसामीप्यादिवचनत्वात्, तत्र विवक्षात इह व्यवस्थायां गृह्यते । आगमे हि ते व्यवस्थिताद्वीन्द्रियस्त्रीन्द्रियश्चतुरिन्द्रियः पञ्चेन्द्रियश्चेति । कोऽस्य विग्रहः ? द्वे इन्द्रिये यस्य सोऽयं द्वीन्द्रियः स आदिर्येषां ते द्वीन्द्रियादय इति । यद्येवम्–

अन्यपदार्थनिर्देशाद् द्वीन्द्रियाग्रहणम् ।२। अन्यपदार्थोऽत्र प्राधान्येनाश्रितः । द्वीन्द्रियग्रहणमुपलक्षणम्, अतस्त्रसग्रहणे द्वीन्द्रियस्य[6] ग्रहणं न प्राप्नोति यथा 'पर्वतादीनि क्षेत्राणि' इति न पर्वतः क्षेत्रग्रहणेन गृह्यते ।

न वा तद्गुणसंविज्ञानात् ।३। न वैष दोषः; किं कारणम् ? तद्गुणसंविज्ञानात् । यथा शुक्लवाससमानयेति तद्गुण आनीयते तथेहापि द्वीन्द्रियस्याप्यन्तर्भावो भवति ।

अवयवेन विग्रहे सति समुदायस्य वृत्त्यर्थत्वाद्वा ।४। अथवा •[7]"अवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थः" [पात० महा० २।२।२४] इति द्वीन्द्रियस्योपलक्षणस्यापि त्रसत्वेऽन्तर्भावः, यथा •"सर्वादि सर्वनाम" [जैनेन्द्र० १।१।३५] इति । कथं तर्हि पर्वतादीनि क्षेत्राणीति पर्वतस्य बहिर्भावः ? पर्वतस्य क्षेत्रत्वसंभवाभावाद् व्युदासः । ते एते चतुर्विधाः प्राणिनस्त्रसाः ।

---

१ स्नपनाद्यु– ता०, श्रा०, ब० । स्नापनाद्यु– मू० । स्थापनाद्यु– द० । २ तत्पाक– श्र०, मू० । ३ तिर्यक्पचन– श्रा०, द०, मु० । तिर्यक्पतन– ब० । तिर्यक्प्रचलन– सा० । ४ इत्युच्यते श्र० । ५–स्यार्थंगतिः भा० १। ६ द्वीन्द्रियग्र– श्र० । ७ अवयवेन विग्रहः समुदायः समासार्थः । –पात० महाभा० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कति पुनरेषां प्राणाः? द्वीन्द्रियस्य तावत् षट्प्राणाः—स्पर्शनरसनेन्द्रियप्राणौ वाक्कायबलप्राणौ उच्छ्वासनिश्वासप्राणः आयुःप्राणश्चेति। त्रीन्द्रियस्य सप्त—त एव प्राणाः घ्राणाधिकाः। चतुरिन्द्रियस्याष्टौ—त एव चक्षुरधिकाः। पञ्चेन्द्रियस्य तिरश्चोऽसंज्ञिनो नव प्राणाः त एव श्रोत्राधिकाः। संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्यदेवनारकाणां दश प्राणा मनोबलाधिकास्त एव।

आदिशब्देन निर्दिष्टानामिन्द्रियाणामनिर्ज्ञातसंख्यानामियत्तावधारणार्थमाह—

पञ्चेन्द्रियाणि ॥१५॥

अथवा स्वां प्रक्रियाम् आचिख्यासवः केचित् पञ्च षडेकादश[1] चेन्द्रियाणि इत्यध्यवस्यन्ति तत्रानिष्टनिवृत्त्यर्थं नियमयन्नाह—पञ्चेन्द्रियाणि नाधिकानीति।

इन्द्रस्यात्मनो लिङ्गमिन्द्रियम्।१। उपभोक्तुरात्मनोऽनिवृत्तकर्मबन्धस्यापि परमेश्वरत्वशक्तियोगाद् इन्द्र[2]व्यपदेशमर्हतः स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्योपयोगोपकरणं लिङ्गमिन्द्रियमित्युच्यते।

इन्द्रेण कर्मणा सृष्टमिति वा।२। अथवा स्वकृतकर्मविपाकवशादात्मा देवेन्द्रादिषु तिर्यगादिषु चेष्टानिष्टमनुभवतीति कर्मैव तत्रेन्द्रः, तेन सृष्टमिन्द्रियमित्याख्यायते।

तद्भेदाः स्पर्शनादयः पञ्च वक्ष्यमाणाः।

मनोऽपीन्द्रियमिति चेत्; न; अनवस्थानात्।३। स्यान्मतम्—मनोऽपीन्द्रियमित्युपसंख्येयम्, कर्ममलीमसस्यात्मनोऽसहायस्य स्वयमेवार्थचिन्तनं प्रत्यसहिष्णोर्बलाधानं भवति मनः कर्मकृतं चेति? तन्न; किं कारणम्? [3]अनवस्थानात्। यथा चक्षुरादीनि प्रतिनियतदेशावस्थानानि न तथा मन इत्यनिन्द्रियं तत्।

इन्द्रियपरिणामाच्च प्राक् तद्व्यापारात्।४। चक्षुरादीनां रूपादिविषयोपयोगपरिणामात् प्राक् मनसो व्यापारः। कथम्? शुक्लादिरूपं दिदृक्षुः प्रथमं मनसोपयोगं करोति 'एवंविधं रूपं पश्यामि रसमास्वादयामि' इति, ततस्तद्बलाधानीकृत्य चक्षुरादीनि विषयेषु व्याप्रियन्ते। ततश्चास्याऽनिन्द्रियत्वम्।

कर्मेन्द्रियोपसंख्यानमिति चेत्; न; उपयोगप्रकरणात्।५। स्यादेतत्—कर्मेन्द्रियाणि [4]वागादीनि वचनादिक्रियानिमित्तानि सन्ति तेषामिहोपसंख्यानं कर्तव्यमिति? तन्न; किं कारणम्? उपयोगप्रकरणात्। उपयोगोऽत्र प्रकृतः, तदुपकरणानि इह इन्द्रियाणि गृह्यन्ते, तेन कर्मेन्द्रियाणामप्रसङ्गः।

अनिन्द्रियत्वं वा तेषामनवस्थानात्।६। न वागादीनामिन्द्रियत्वमस्ति, उपयोगसाधनेषु हीन्द्रियव्यपदेशो युक्तो न क्रियासाधनेषु। यदि च क्रियासाधनेष्वपि स्याद् अनवस्था प्रसज्येत, सर्वाणि हृदङ्गोपाङ्गादीनि मूर्धादीनि क्रियासाधनानीति।

[5]इष्टानिष्टविषयोपलब्धायीनि भोक्तुरात्मनो यान्यमूनीन्द्रियाणि तेषामुक्तसामर्थ्यविशेषादुप[6]निपतितभेदानां प्रत्येकं भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

---

१ सांख्याः। २ इदु परमैश्वर्ये इति धातोरर्थः शक्त्या संभवतीत्यर्थः। ३ अनियतवृत्तित्वात्। ४ वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियं पाय्वादि इत्यभिधानात्। पायुर्नाम मलद्वारम् गुदं स्वपानं पायुर्नाम, भगमेहनादिकम् उपस्थः। ५ इष्टानिष्टविषयेषु लब्धोऽर्थो यैस्तानि। ६ –पनियतभे– मु०।

द्विविधानि ॥१६॥

विधशब्दस्य प्रकारवाचिनो ग्रहणम् ।१। अयं विधशब्दः प्रकारवाची गृह्यते, विधयुक्तगतप्रकाराः समानार्था इति । द्वौ विधौ येषां तानि द्विविधानि द्विप्रकाराणीत्यर्थः । कौ च द्वौ प्रकारौ ? द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियमिति ।

तत्र द्रव्येन्द्रियस्वरूपनिर्ज्ञानार्थमाह–

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥

निर्वर्त्यत इति निर्वृत्तिः ।१। कर्मणा या निर्वर्त्यते निष्पाद्यते सा निर्वृत्तिरित्युपदिश्यते ।

सा द्वेधा बाह्याभ्यन्तरभेदात्[1] ।२। सा निर्वृत्तिर्द्वेधा । कुतः ? बाह्याभ्यन्तरभेदात् । तत्र–

विशुद्धात्मप्रदेशवृत्तिराभ्यन्तरा ।३। उत्सेधाङ्गुलस्याऽसंख्येयभागप्रमितानां विशुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानमानावमानावस्थितानां वृत्तिराभ्यन्तरा निर्वृत्तिः ।

तत्र नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयो बाह्या ।४। तेष्वात्मप्रदेशेष्विन्द्रियव्यपदेशभाक् यः प्रतिनियतसंस्थानो नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयः स बाह्या निर्वृत्तिः ।

उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम् ।५। येन निर्वृत्तेरुपकारः क्रियते तदुपकरणम् ।

तद् द्विविधं पूर्ववत् ।६। तदुपकरणं द्विविधं पूर्ववत् बाह्याभ्यन्तरभेदात् । तत्राभ्यन्तरं शुक्लकृष्णमण्डलम्, बाह्यमक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादि । एवं शेषेष्वपीन्द्रियेषु ज्ञेयम् ।

भावेन्द्रियमुच्यते–

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥१८॥

लब्धिरिति कोऽयं शब्दः ? लाभो लब्धिः । यद्येवं [2]षित्वादङ् प्राप्नोति; *"**अनुबन्धकृतमनित्यम्**" [ ] इति न भवति यथा *"**वर्णानुपलब्धौ**[3] **चातदर्थगतेः**" [पात० महा० प्रत्याहा० ५] इत्येवमादिषु । अथवा *"**स्त्रियां क्तिः**, [4]**लभादिभ्यश्च**" [श० च० २।३।८०, ८१] इति क्तिर्भवति, इष्टाचाबादय इति । अथ कोऽस्यार्थः ?

इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतुः क्षयोपशमविशेषो लब्धिः ।१। यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते स ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषो लब्धिरिति विज्ञायते ।

तन्निमित्तः परिणामविशेष उपयोगः ।२। [5]तदुक्तं निमित्तं प्रतीत्य उत्पद्यमान आत्मनः परिणाम उपयोग इत्युपदिश्यते । तदेतदुभयं [6]भावेन्द्रियमिति ।

'**उपयोगस्य फलत्वादिन्द्रियव्यपदेशानुपपत्तिरिति चेत्; न; कारणधर्मस्य**[7] **कार्येऽनुवृत्तेः** ।३। स्यान्मतम्–इन्द्रियफलमुपयोगः स [8]कथमिव इन्द्रियव्यपदेशमापद्यत इति ? तन्न; किं कारणम्?

---

१ –त् तत्र वि– आ०, ब०, द०, मु० । २ षिच्चिन्ति पूजि कथिकुम्बि चर्च्यन्तर्धेऽङ (शा० ४।४।८२) इति । डुलभष् लाभे इति षकारान्तत्वात् –सम्पा० । ३ वा तद– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ४ लभादिभ्यश्चेति शाकटायनम् । रवादिभ्यश्च ता०, श्र०, मू० । ५ कोऽर्थः । ६ चेतनात्मकत्वात् । तत्र भावेन्द्रियमेव मुख्यं प्रमाणं स्वार्थप्रमितौ साधकतमत्वात् द्रव्येन्द्रियस्य उपचारत एव प्रामाण्योपगमात् । ७ कार्ये च वृत्तेः मू० । कार्यानुवृत्तेः आ०, ब०, द०, मु० । ८ कथमिहेन्द्रिय– आ०, ब०, द०, मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारणधर्मस्य कार्येऽनुवृत्तेः । कार्यं हि लोके कारणमनुवर्तमानं दृष्टं यथा घटाकारपरिणतं विज्ञानं घट इति, तथेन्द्रियनिमित्त उपयोगोऽपि इन्द्रियमिति व्यपदिश्यते ।

शब्दार्थसंभवाच्च ।४। यः शब्दार्थः 'इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रेण[1] सृष्टम्' इति वा स उपयोगे प्राधान्येन विद्यत इतीन्द्रियव्यपदेशो युक्तः ।

उक्तानां पञ्चानामिन्द्रियाणां संज्ञानुपूर्व्यविशेष प्रतिपादनार्थमाह—

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥१९॥

[2]स्पर्शनादीनां करणसाधनत्वं पारतन्त्र्यात् कर्तृसाधनत्वं च स्वातन्त्र्याद् बहुलवचनात् ।१। इमानि [3]स्पर्शनादीनि करणसाधनानि । कुतः ? पारतन्त्र्यात् । इन्द्रियाणां हि लोके पारतन्त्र्येण विवक्षा विद्यते, आत्मनः स्वातन्त्र्यविवक्षायां यथा 'अनेनाऽक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि, अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमि' इति । ततो वीर्यान्तरायप्रतिनियतेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भात् स्पर्शत्यनेनात्मेति स्पर्शनम्, रसयत्यनेनात्मेति रसनम्, जिघ्रत्यनेनात्मेति घ्राणम्, चष्टेरनेकार्थत्वा[4]द्दर्शनार्थविवक्षायां चष्टेऽर्थान् पश्यत्यनेनात्मेति[5] चक्षुः, शृणोत्यनेनात्मेति श्रोत्रम् । कर्तृसाधनत्वं च भवति स्वातन्त्र्यविवक्षायाम् । इन्द्रियाणां हि लोके स्वातन्त्र्येण विवक्षा, यथा 'इदं मेऽक्षि सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोति' इति । ततः[6] पूर्वोक्तहेतुसन्निधाने सति स्पृशत्यात्मैवेति स्पर्शनम् । कथम् ? कर्तरि युट् बहुलवचनात् । रसयतीति रसनम्, जिघ्रतीति घ्राणम्, चष्टे इति चक्षुः, शृणोतीति श्रोत्रमिति ।

अत्र 'इन्द्रियाणि' इति केषाञ्चित् पाठः । नासौ युक्तः । कुतः ?

अधिकृतत्वात् 'इन्द्रियाणि' इत्यवचनम् ।२। 'पञ्चेन्द्रियाणि' इत्यत इन्द्रियग्रहणमनुवर्तते तेनेह 'इन्द्रियाणि' इति वचनमनर्थकम् ।

स्पर्शनग्रहणमादौ शरीरव्यापित्वात् ।३। यतो वितत्य[7] शरीरमवतिष्ठते स्पर्शनमतोऽस्य ग्रहणमादौ क्रियते ।

वनस्पत्यन्तानामेकमिति च स्पर्शनस्य तत्र व्यापारात् ।४। वक्ष्यते *"**वनस्पत्यन्तानामेकम्**" [त० सू० २।२१] इति तत्र, स्पर्शनस्य ग्रहणार्थञ्चादौ वचनम् ।

सर्वसंसारिषूपलब्धेश्च ।५। सर्वेषु संसारिषु स्पर्शनमस्त्यतो नानाजीवापेक्षया व्यापित्वाच्चादौ ग्रहणं क्रियते ।

ततो रसनघ्राणचक्षुषां क्रमवचनम् उत्तरोत्तराल्पत्वात् ।६। ततः पश्चाद्रसनादीनां त्रयाणां क्रमवचनं क्रियते । कुतः ? उत्तरोत्तराल्पत्वात् । तद्यथा—सर्वतः स्तोकाश्चक्षुःप्रदेशाः, श्रोत्रेन्द्रियप्रदेशाः संख्येयगुणाः, घ्राणेन्द्रिये विशेषाधिकाः, जिह्वायामसंख्येयगुणाः, स्पर्शनेऽनन्तगुणा इति ।

यद्येवं चक्षुषोऽन्ते ग्रहणं कर्तव्यं सर्वेभ्योऽल्पीयस्त्वात् ? सत्यम्, एवमेतत्; तथापि—

श्रोत्रस्यान्ते वचनं बहूपकारित्वात् ।७। यतः श्रोत्रबलाधानादुपदेशं श्रुत्वा हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थमाद्रियन्ते । अतः श्रोत्रं बहूपकारीति अन्ते गृह्यते ।

रसनमपि वक्तृत्वनेति चेत्; न; अभ्युपगमात् ।७। स्यादेतत्—रसनमपि बहूपकारि । कथम्? वक्तृत्वेन । यतो रसनमभ्युदयनिःश्रेयसार्थोच्चारणाऽध्ययनादिषु [8]प्रवणमतो रसनमेवान्ते

---

१ कर्मणा । २ स्पर्शावी– ता०, श्र०, मू० । ३ स्पर्शादा– मू०, श्र० । ४ –त्वात्तद्– आ०, ब०, द०, मू० । ५–त्यनेनेति श्र,० ता०, भू० । ६ तेन पू– आ०, ब०, मु० । ७ व्याप्य । ८ प्रमाण– आ०, ब०, द०, मु० ।

वाच्यमिति ? तन्न; किं कारणम् ? अभ्युपगमात् । [1]अभ्युपगम्य श्रोत्रस्य बहूपकारित्वं रसनस्यापि बहूपकारित्वं वर्णयता भवता तदभ्युपगतमिति [2]अवसितोऽभिमतवादः । अनभ्युपगमे वा प्रसङ्गनिवृत्तिः 'रसनमपि बहूपकारि' इति । किञ्च,

श्रोत्रप्रणालिकापादितोपदेशात् ।९। श्रोत्रप्रणालिकयोपदेशमुपश्रुत्य रसनं वक्तृत्वं प्रति व्याप्रियते अतः श्रोत्रमेव बहूपकारि ।

सर्वज्ञे तदभाव इति चेत्; न; इन्द्रियाधिकारात् ।१०। स्यान्मतम्—न हि सर्वज्ञः श्रोत्रेन्द्रियबलाधानात् परत उपश्रुत्य वक्तृत्वमास्कन्दतीति किन्तु सकलज्ञानावरणसंक्षयाविर्भूतातीन्द्रियकेवलज्ञानः रसनोपष्टम्भमात्रादेव वक्तृत्वेन परिणतः सकलान् [3]श्रुतविषयानर्थानुपदिशति, अतो रसनमेव बहूपकारीति ? तन्न; किं कारणम् ? इन्द्रियाधिकारात् । इन्द्रियाधिकारोऽयम्, अतो [4]येष्विन्द्रियकृतो हिताहितोपदेशः साकल्येनास्ति तान् प्रत्येतदुक्तं न सर्वज्ञं प्रतीति नास्ति दोषः ।

एकैकवृद्धिक्रमज्ञापनार्थं च स्पर्शनादिवचनम् ।११।**"कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि"** [त० सू० २।२३] इति वक्ष्यते, तत्र वृद्धिक्रमज्ञापनार्थं च स्पर्शनादीनामानुपूर्व्यं वेदितव्यम् ।

एषां च स्वतस्तद्वतश्चैकत्वपृथक्त्वं प्रत्यनेकान्तः ।१२। एषां च स्पर्शनादीनामिन्द्रियाणां स्वतस्तद्वतश्चैकत्वपृथक्त्वं प्रत्यनेकान्तो वेदितव्यः—स्यादेकत्वं स्यात् पृथक्त्वमित्यादि । तद्यथा स्वतस्तावत्—ज्ञानावरणक्षयोपशमशक्तेरभेदविवक्षायां स्पर्शनादीनां स्यादेकत्वम्, समुदायव्यतिरेकाभावात् समुदायिनां समुदायस्यैकत्वादवयवानामप्येकत्वमिति वा स्यादेकत्वम् । प्रतिनियतक्षयोपशमलब्धिविशेषापेक्षया स्यान्नानात्वम्, अवयवभेदविवक्षायां वा स्यान्नानात्वम् । इन्द्रियबुद्ध्यभिधानानुवृत्तिव्यावर्तनार्पणाभेदाद्वा स्यादेकत्वं स्यात् पृथक्त्वं च । [5]तद्वतोऽपि चैतन्यापरित्यागेनोभयपरिणामकारणापेक्षस्य इन्द्रियपर्यायात्मलाभे सति [6]निष्टप्तायःपिण्डवत् तथापरिणामात् तद्व्यतिरेकेणेन्द्रियस्यानुपलब्धिरिति स्यादिन्द्रियेन्द्रियवतोरेकत्वम् । इतरथा एकान्तान्यत्वे[7] अनिन्द्रिय आत्मा स्यात् घटवत् । तथा अन्यतमेन्द्रियनिवृत्तौ तद्वतोऽवस्थानात् स्यान्नानात्वम्, पर्यायिपर्यायभेदाच्च स्यान्नानात्वम् । [8]संज्ञादिभेदाभेदविवक्षोपपत्तेश्च स्यादेकत्वं स्यान्नानात्वं वाऽवसेयम् । पूर्ववदुत्तरे च भङ्गा नेतव्याः ।

तेषामिन्द्रियाणां विषयप्रदर्शनार्थमाह—

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥२०॥

स्पर्शादीनां कर्मभावसाधनत्वं द्रव्यपर्यायविवक्षोपपत्तेः ।१। स्पर्शादीनां कर्मसाधनत्वं भावसाधनत्वं च भवति । कुतः ? द्रव्यपर्यायविवक्षोपपत्तेः । यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदेन्द्रियेण द्रव्यमेव सन्निकृष्यते ततो न व्यतिरिक्ताः स्पर्शादयः केचन सन्तीति, एतस्यां विवक्षायां कर्मसाधनत्वं स्पर्शादीनामवसीयते—स्पृश्यत इति स्पर्शः, रस्यत इति रसः, गन्ध्यत इति गन्धः, वर्ण्यत इति वर्णः, शब्द्यत इति शब्दः । यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेः[9] औदासीन्यावस्थितभावकथनाद् भावसाधनत्वं स्पर्शादीनां युज्यते । ततः स्पर्शनं

१ रसनेनोच्चरितं शब्दम् । २ अवसितो वादः आ०, अ०, ता०, मू० । अवसितोऽभिमतो वा– आ०, ब, द०, मु० । ३ श्रुतिवि– आ०, ब०, द०, मु० । ४ जीवेषु । ५ आत्मनः । ६ निसो ना सेवायां तपेः इति अवसानक्रियायां ष्टुत्वम् । ७– त्वेन इन्द्रि– अ० । ८ संज्ञाभेदाभेदा– आ०, ब०, द०, मु० । ९ पर्यायाणाम् ।

स्पर्शः, रसनं रसः, गन्धनं गन्धः, वर्णनं वर्णः, शब्दनं शब्द इति। यद्येवं सूक्ष्मेषु परमाण्वादिषु स्पर्शादिव्यवहारो न प्राप्नोति ? नैष दोषः; सूक्ष्मेष्वपि ते स्पर्शादयः सन्ति तत्कार्येषु स्थूलेषु दर्शनादनुमीयमानाः, न ह्यत्यन्तमसतां प्रादुर्भावोऽस्तीति, किन्त्वन्द्रियग्रहणयोग्या न भवन्ति, अयोग्यत्वेऽपि तेषु स्पर्शादिव्यवहारो रूढिवशाद्भवति।

तदर्था इति कोऽयं शब्दः ? तेषामर्थास्तदर्था इति। तेषां केषाम् ? इन्द्रियाणाम्। यद्येवं

तदर्था इति वृत्त्यनुपपत्तिरसमर्थत्वात् ।२। तदर्था इति वृत्तिर्नोपपद्यते। कुतः ? असमर्थत्वात्। समर्थायवयवानां हि वृत्त्या भवितव्यम्। न चात्र सामर्थ्यमस्ति। कुतः ? *"**सापेक्षमसमर्थं भवति**" [पात० महाभा० २।१।१] इति। इन्द्रियाणि ह्यत्रापेक्ष्यन्ते।

न वा; गमकत्वान्नित्यसापेक्षेषु संबन्धिशब्दवत् ।३। न वैष दोषः; किं कारणम् ? गमकत्वादत्र वृत्तिर्भवति। गमकत्वं च नित्यसापेक्षेषु। कथम् ? संबन्धिशब्दवत्। यथा संबन्धिशब्देषु 'देवदत्तस्य गुरुकुलं देवदत्तस्य गुरुपुत्रः' इत्येवमादिषु वृत्तिर्भवति, गुरुशब्दो हि नित्यं शिष्यमपेक्षत इति, एवमिहापि तच्छब्दः सामान्यवच[1]नोऽवश्यं विशेषाकाङ्क्षी सन् प्रकृतानीन्द्रियाण्यपेक्षमाणोऽपि वृत्तिं लभते।

स्पर्शादीनामानुपूर्व्येण निर्देश इन्द्रियक्रमाभिसंबन्धार्थः ।४। 'स्पर्शश्च रसश्च गन्धश्च वर्णश्च शब्दश्च स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः' इत्यानुपूर्व्येण निर्देशः स्पर्शनादिभिरिन्द्रियैः क्रमेणाभिसंबन्धो यथा स्यात् इति। एते पुद्गलद्रव्यस्य गुणा अविशेषेण वेदितव्याः।

अत्र केचिद्वि[2]शेषेण एतान् कल्पयन्ति-*"**रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी। रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाश्च। तेजो रूपस्पर्शवत्। वायुः स्पर्शवान्**" [वैशे० सू० २।१।१-४] इति; तदयुक्तम्; रूपादिमान् वायुः स्पर्शवत्त्वाद् घटवत्। तेजोऽपि रसगन्धवत्, रूपवत्त्वाद् गुडवत्। आपोऽपि गन्धवत्यः रसवत्त्वात् आम्रफलवत्।

किञ्च, अबादिषु गन्धादीनां साक्षादुपलब्धेश्च। पार्थिवपरमाणुसंयोगात्तदुपलब्धिरिति चेत्; न; विशेषहेत्वभावात्। नात्र विशेषहेतुरस्ति-पार्थिवपरमाणूनामेते गुणाः संसर्गात्त्वन्यत्रो[3]पलभ्यन्ते नत्वबादीनामिति। वयं तु ब्रूमहे-तद्[4]गुणत्वात् तत्रोपलब्धिरिति। यदि हि संयोगादुपलब्धिः [5]कल्प्यते रसाद्युपलब्धिरपि संयोगादेव कल्प्यताम्।

नच पृथिव्यादीनां जातिभेदोऽस्ति, पुद्गलजातिमजहतः परमाणुस्कन्धविशेषा निमित्तवशाद्विश्वरूपतामापद्यन्त इति दर्शनात्। दृश्यते हि पृथिव्याः कारणवशाद् द्रवता, द्रवाणां चापां करकाश्मभावेन घनभावो दृष्टः, [6]पुनश्च द्रवभावः। तेजसोऽपि मषीभावः।

[7]वायोरपि अदृष्टा रूपादयः कथं गम्यन्त इति चेत् ? परमाणुषु तेषां रूपादीनां कथं गतिः ? तत्कार्येषु दर्शनादनुमानमिति चेत्; इहापि तत एव वेदितव्यम्।

तेषां च स्वतस्तद्वतश्चैकत्वं पृथक्त्वं प्रत्यनेकान्तः ।५। तेषां च स्पर्शादीनां स्वतस्तद्वतश्चैकत्वपृथक्त्वं प्रत्यनेकान्तो वेदितव्यः-स्यादेकत्वं[8] स्यात् [9]पृथक्त्वमित्यादि।

---

१ -नो विशेषा- आ०, ब०, द०, मु०। २ -द्विशिष्य तान् आ०, ब०, द०, मु०। वैशेषिकाः -स०। ३ जलादिषु। ४ वयं ब्रूमहे तद्गुणः तत्रोपलब्धेरिति आ०, ब०, द०, मु०। तद्गुणत्वं तत्रोपलब्धेरिति मू०, ता०। तद्गुणस्तत्रोपलब्धेरिति वा पाठः -श्र० टि०। ५ कथ्यते आ०, ब०, द०, मु०। ६ घनश्चद्र- आ०, मु०, द०। घनस्यचद्र- ब०। ७ वायावदृष्टाः मू०, ता०। वायोरपि-दृष्टाः आ०, ब०, द०, मु०। ८ द्रव्यतः। ९ चक्षुरिन्द्रियमेकमपि यतः शुक्लकृष्णाद्यनेकरूपाणि जानात्यतो नानात्वोपलब्धिः।

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

अत्रान्ये [1]एकत्वं पृथक्त्वं [2]चैकान्तेनाध्यवस्यन्ति; तदयुक्तम्; कथम् ? यद्येकान्तेनैकत्वं स्यात्; स्पर्शनेन स्पर्शोपलब्धौ रसादीनामप्युपलब्धिः स्यात् । तद्वतोऽपि तेषामपृथक्त्वे तदेव वा स्यात्, त एव वेति ? [3]तदेव चेत्; लक्षणाभावाल्लक्ष्याभावः । अथ [4]त एव; निराधारत्वात्तेषामप्यभावः । अथैकान्तेन पृथक्त्वम्; घटरूपोपलब्धौ [5]पटादिरूपानुपलब्धिवत् स्पर्शोपलब्धौ रूपादीनामनुपलब्धेः 'स्पृष्टो घटोऽयम्' इति न ज्ञायेत स्पर्शाद्यनात्मकत्वात् । तस्य तद्वतोऽप्यत्यन्तपृथक्त्वे उभयेषामभावः स्यात् । [6]ग्रहणभेदात् स्पर्शादीनामन्यत्वमिति चेत्; न; ग्रहणाभेदेऽपि नानात्वोपलब्धेः । शुक्लकृष्णादिषु संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वकर्मसत्तागुणत्वानां [7]रूपिसमवायाच्चाक्षुषाणां नानात्वोपलब्धेश्च । संज्ञा [8]स्वतत्त्वमिति लक्षणभेदान्नानात्वमिति चेत्; न; तदभेदेऽपि [9]द्रव्यगुणकर्मणां नानात्वोपलब्धेः । स्पर्शादीनां व्यतिरेकेणानुपलब्धेरनानात्वमिति चेत्; न; प्रतिज्ञातविरोधात् । यदि ह्येवं स्यात्, महदादिपरिणतानां सत्त्वरजस्तमसां व्यतिरेकेणानुपलभ्यमानानामपि प्रतिज्ञातमन्यत्वं हीयते । यदि हि तत्राप्यनन्यत्वमेव स्यात्; [10]व्यक्ताव्यक्तलक्षणभेदकल्पनाऽनर्थिका स्यात् । तस्मात् स्यादेकत्वं स्यात्पृथक्त्वं चाभ्युपगन्तव्यम्–द्रव्यार्पणादेकत्वं पर्यायार्पणान्नानात्वमिति ।

अत्राह–यन्मनोऽनवस्थानादिन्द्रियं न भवतीति प्रत्याख्यातं तत्किमुपयोगस्योपकारकम्, उत नेति ? तदप्युपकार्येव; तेन विनेन्द्रियाणां विषयेषु स्वप्रयोजनवृत्त्यभावात् । किमस्यैषां सहकारित्वमात्रमेव प्रयोजनम्, उतान्यदपीति ? अत आह––

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥२१॥

श्रुतज्ञानविषयोऽर्थः श्रुतम्, स विषयोऽनिन्द्रियस्य । परिप्राप्तश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमस्यात्मनः श्रुतार्थेऽनिन्द्रियालम्बनज्ञानप्रवृत्तेः । अथवा श्रुतज्ञानं श्रुतं तदनिन्द्रियस्यार्थः प्रयोजनमिति यावत्, तत्पूर्वकत्वात्तस्य इति । अयमनिन्द्रियस्येन्द्रियव्यापारनिर्मुक्तोऽर्थः ।

श्रुतं श्रोत्रेन्द्रियस्य विषय इति चेत्; न; श्रोत्रेन्द्रियग्रहणे श्रुतस्य मतिज्ञानव्यपदेशात् ।१। स्यान्मतम्–न श्रुतमनिन्द्रियस्य विषयः । कस्य तर्हि ? श्रोत्रेन्द्रियस्येति; तन्न; किं कारणम् ? श्रोत्रेन्द्रियग्रहणे[11] श्रुतस्य मतिज्ञानमिति व्यपदेशात् । यदा हि श्रोत्रेण गृह्यते तदा तन्मतिज्ञानमवग्रहादि व्याख्यातम्, तत उत्तरकालं यत्तत्पूर्वकं जीवादिपदार्थस्वरूपविषयं तत् श्रुतमनिन्द्रियस्येत्यवसेयम् ।

उक्तानामिन्द्रियाणां प्रतिनियतविषयाणां स्वामित्वनिर्देशे कर्तव्ये यत्प्रथमं गृहीतं स्पर्शनं तस्य तावत्स्वामित्वावधारणार्थमाह––

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥२२॥

अन्तशब्दस्याऽनेकार्थत्वे विवक्षातोऽवसानगतिः ।१। अयमन्तशब्दोऽनेकार्थः । क्वचिदवयवे, यथा वस्त्रान्तः वसनान्तः । क्वचित्सामीप्ये, यथोदकान्तं गतः–उदकसमीपे गत इति ।

---

१ अथ सांख्यमतमाशङ्क्य आचार्यः प्राह । २ वैशेषिकाः–सम्पा० । ३ द्रव्यमेव । ४ रूपादयः । ५ घटानुरूपानुप– आ०, ब०, द०, मु० । ६ इन्द्रियभेदात् । ७ रूपसम– आ०, ब०, द०, मु० । ८ स्वरूपम् । ९ प्रत्येकम् । पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसीति नव द्रव्याणि तत्रेदमपि द्रव्यम् इदमपि द्रव्यमिति लक्षणाभेदेऽपि पृथिव्यादि द्रव्यं प्रति नानात्वोपलब्धिः, एवं गुणादिष्वपि योज्यम् । १० महदादि व्यक्तं कार्यमित्यर्थः, प्रधानञ्च अव्यक्तं कारणमिति–सम्पा० । ११ –णात् श्रुतस्य मतिज्ञानमिति व्य– आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्वचिदवसाने वर्तते, यथा संसारान्तं गतः—संसारावसानं गत इति । तत्रेह विवक्षातोऽवसानगतिर्वेदितव्या । वनस्पत्यन्तानां वनस्पत्यवसानानामिति ।

सामीप्यवचने हि वायुत्रससंप्रत्ययप्रसङ्गः ।२। वनस्पत्यन्तानां वनस्पतिसमीपानामित्यर्थे गृह्यमाणे वायुकायिकानां त्रसानां च संप्रत्ययः प्रसज्येत ।

अन्तशब्दस्य संबन्धिशब्दत्वादादिसंप्रत्ययः ।३। अयमन्तशब्दः संबन्धिशब्दत्वात्[1] कांश्चित् पूर्वानपेक्ष्य वर्तते, ततोऽर्थादादिसंप्रत्ययो भवति । तस्मादयमर्थो गम्यते—पृथिव्यादीनां वनस्पत्यन्तानामेकमिन्द्रियमिति । अत्राह—

अविशिष्टैकेन्द्रियप्रसङ्गोऽविशेषात् ।४। पृथिव्यादीनां वनस्पत्यन्तानां स्पर्शनादिषु[2] अविशिष्टमेकमिन्द्रियं प्राप्नोति । कुतः ? अविशेषात् । न हि कश्चिद्विशेषोऽस्ति 'अनेनैवैकेन भवितव्यम्' इति । संख्यावाची ह्ययमेकशब्दः ।

न वा; प्राथम्यवचने स्पर्शनसंप्रत्ययात् ।५। न वैष दोषः । किं कारणम् ? प्राथम्यवचने स्पर्शनसंप्रत्ययात् । अयमेकशब्दः प्राथम्यवचनः, सूत्रपाठे च प्राथम्यमाश्रितम्, ततः स्पर्शनस्य संप्रत्ययो भवति । अस्ति च लोके प्राथम्यवचनः, एको गोत्रे—प्रथमो गोत्र इति।

तस्योत्पत्तिकारणमुच्यते—वीर्यान्तरायस्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमे शेषेन्द्रियसर्वघातिस्पर्धकोदये च शरीराङ्गोपाङ्गलाभोपष्टम्भे एकेन्द्रियजातिनामोदयवशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शनमेकमिन्द्रियमाविर्भवति ।

इतरेषामिन्द्रियाणां स्वामित्वप्रदर्शनार्थमाह—

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२३॥

एकैकमिति वीप्सानिर्देशः ।१। एकैकमितिशब्दो वीप्सायां द्रष्टव्यः ।

बहुत्वनिर्देशः सर्वेन्द्रियापेक्षः ।२। सर्वाणीन्द्रियाण्यपेक्ष्य बहुत्वनिर्देशः कृतः । एकैकं वृद्धमेषां [3]तानीमान्येकैकवृद्धानीति । 'तत्र किं पूर्वमुत्तरम्' इति सन्देहः ?

असन्दिग्धं [4]स्पर्शनमेकैकेन वृद्धमित्यादिविशेषणात् ।३। 'स्पर्शनम्' इत्यनुवर्तते, तदारभ्यैकैकेन[5] वृद्धिमित्यादि विशेषणात् नास्ति सन्देहः । तत्कथम् ?

वाक्यान्तरोपप्लवात् ।४। अस्मान्निबन्धनस्थानाद्वाक्यात् वाक्यान्तराण्युपप्लवन्ते । यथा—'अक्षः'[6] इत्येतस्मात् 'अक्षो भक्ष्यताम्, अक्षो भज्यताम्, [7]अक्षो दीव्यताम्' इति वाक्यान्तरोपप्लवः क्रियते, एवमिहापि 'स्पर्शनं रसनवृद्धं कृम्यादीनाम्, स्पर्शनरसने घ्राणवृद्धे पिपीलिकादीनाम्, स्पर्शनरसनघ्राणानि चक्षुर्वृद्धानि भ्रमरादीनाम्, तानि श्रोत्रवृद्धानि मनुष्यादीनाम्' इति वाक्यान्तराण्युपप्लवन्ते ।

आदिशब्दः प्रकारे व्यवस्थायां वा[8] ।५। अयमादिशब्दः प्रकारे व्यवस्थायां वा वेदितव्यः । यदागमो नापेक्षितस्तदा प्रकारे कृमिप्रकाराः कृम्यादय इति । यदा त्वागमोऽपेक्ष्यते तदा व्यवस्थायाम्, आगमे हि ते [9]व्यवस्थिता इति ।

तेषां निष्पत्तिः स्पर्शनोत्पत्त्या व्याख्याता उत्तरोत्तरसर्वघातिस्पर्धकोदयेन ।

---

१ –शब्दः का– अ०, मू०, आ० । २ –षु चावि– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ३ तान्येक– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ४ स्पर्शनमेकेन अ०, मू० । ५– रभ्यैकेन अ०, मू०, ता० । ६ बिभीतकः । ७ अत्र द्यूते । ८ वा वेदितव्यः आ०, ब०, द०, मु० । ९ कृमिपिपीलिकादीनां क्रमेण वृद्धानि इत्यर्थः ।

एवमेतेषु संसारिषु द्विभेदेषु इन्द्रियभेदात् पञ्चविधेषु ये पञ्चेन्द्रियास्तद्भेदस्यानुक्तस्य प्रतिपत्त्यर्थमाह–

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥

मनो व्याख्यातम्, सह तेन ये वर्तन्ते ते संज्ञिन । अत्र चोद्यते–

समनस्कविशेषणमनर्थकं संज्ञिशब्देन गतत्वात् ।१। संज्ञिन इत्यनेनैव विशेषणेन गतत्वात् 'समनस्काः' इति विशेषणमनर्थकम् । कथमिति चेत् ? उच्यते—

हिताहितप्राप्तिपरिहारयोर्गुणदोषविचारणात्मिका संज्ञा ।२। 'इदं हितमिदमहितम्, अस्य प्राप्तौ परिहारे चायं गुणोऽयं दोषः' इति च विचारणात्मिका संज्ञेत्युच्यते ।

ब्रीह्यादिपाठादिनि सिद्धेः[1] ।३। तस्मात् संज्ञाशब्दाद् ब्रीह्यादिपाठादिनि सति 'संज्ञिनः' इति सिध्यति ।

न वा शब्दार्थव्यभिचारात्[2] ।४। न वैष दोषः । किं कारणम् ? शब्दार्थव्यभिचारात् । संज्ञा[3]शब्दोऽर्थं हि व्यभिचरति । तत्र[4] को दोषः ?

संज्ञा नाम इति चेत्; निवर्त्याभावः ।५। यदि संज्ञा[5] रूढिर्नामेत्युच्यते; सा सर्वेषां प्राणिनां प्रतिनियता अस्तीत्यसंज्ञिनामभावात् निवर्त्याभावः स्यात् ।

संज्ञानं संज्ञा ज्ञानमिति चेत्; तुल्यः ।६। कः ? निवर्त्याभावः ? सर्वेषां प्राणिनां ज्ञानात्मकत्वात् ।

आहारादिसंज्ञेति चेत्; न; अनिष्टत्वात् ।७। स्यादेतत्–आहार-भय-मैथुन-परिग्रहविषया संज्ञेति ? तन्न; किं कारणम् ? अनिष्टत्वात् । सर्वे हि संसारिण आहार-भय-मैथुन-परिग्रह-संज्ञासन्निधानात् संज्ञिनः स्युः । अनिष्टं चैतत् । तस्मात् समनस्का इति विशेषणमर्थवत् । [6]एवं च कृत्वा गर्भाण्ड-मूर्च्छित-सुषुप्ताद्यवस्थासु हिताहितपरीक्षाभावेऽपि मनःसन्निधानात् संज्ञित्वमुपपन्नं भवति ।

यद्यस्य संसारिणो हिताहितप्राप्तिनिवृत्तिहेतुः परिस्पन्दो [7]मनस्करणसन्निधाने सति भवति, अथाभिनवशरीरं प्रत्यागूर्णस्य विशीर्णपूर्वमूर्तेरात्मनो निर्मनस्कस्य यत्कर्म[8] तत्कुतः इति ? अत्रोच्यते—

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २५ ॥

अथवा, यदि [9]संप्रधार्य समनस्काः प्राणिनः क्रियाः प्रारभन्ते [10]भिन्नदेहस्याऽसति मनसि उपपादक्षेत्रं[11] प्रत्याभिमुख्येन या प्रवृत्तिर्विग्रहार्था सा कुतो भवति ? अत आह '**विग्रहगतौ कर्मयोगः**' इति ।

विग्रहो देहस्तदर्था गतिर्विग्रहगतिः ।१। औदारिकादिशरीरनामोदयात् तन्निर्वृत्तिसमर्थान् विविधान्[12] पुद्गलान् गृह्णाति, विगृह्यते वासौ संसारिणेति विग्रहो देहः, विग्रहाय

१ –सिद्धिः आ०, ब०, द०, मु०, ता० । २ –रात् संज्ञा– आ०, ब०, द०, मु० । ३ –शब्दार्थो हि मु०, मू० । ४ तथा सति । ५ –रूढित्वमि– आ०, ब०, द०, मु० । ६ प्रयोजनान्तरमप्याह एवमित्यादिना । ७ मनःकारण मु० । ८ व्यापारः । ९ विचार्य । १० शरीररहितस्य । ११ उत्पत्तिक्षेत्रम् । १२ –न् गृ– आ०, ब०, द०, मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गतिर्विग्रहगतिः । ननु विकृतिप्रकृत्यभिसंबन्धे सति 'तादर्थ्ये वृत्तिः, इह विकृतिप्रकृत्यभिसंबन्धाभावाद् वृत्तिर्न प्राप्नोति; नैष दोषः, अश्वघासादिवद् वृत्तिर्वेदितव्या, तादर्थ्ये[2] तु चतुर्थी वाक्ये प्रदर्श्यते ।

विरुद्धो ग्रहो विग्रहो व्याघात इति वा ।२। अथवा विरुद्धो ग्रहो विग्रहो व्याघातः[3] नोकर्मपुद्गलादाननिरोध इत्यर्थः । विग्रहेण गतिर्विग्रहगतिः । आदाननिरोधेन गतिरित्यर्थः ।

कर्मेति सर्वशरीरप्ररोहणसमर्थं कार्मणम् ।३। सर्वाणि शरीराणि यतः [4]प्ररोहन्ति तत् बीजभूतं कार्मणं शरीरं कर्मेत्युच्यते ।

योग आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः ।४। कायादिवर्गणा[5]निमित्त आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योग इत्याख्यायते ।

कर्मनिमित्तो योगः कर्मयोगः । तस्यां विग्रहगतौ कार्मणशरीरकृतो योगो भवति [6]यत्कृतं कर्मादानम्, [7]यदुपपादिता चाऽमनस्कस्यापि विग्रहार्था गतिः ।

अथाकाशप्रदेशेषु परमाणुप्रनिष्कासंबन्धेनोपचरितेष्वाधेया जीवपुद्गला देशान्तरप्राप्तिं प्रत्यभिमुखा किं निराकृतप्रदेशक्रमां [8]व्रज्यामभिनिर्वर्तयन्ति, उताक्रान्तप्रदेशक्रमामिति विचारे सति तन्निर्धारणार्थमाह--

अनुश्रेणि गतिः ॥२६॥

आकाशप्रदेशपङ्क्तिः श्रेणिः ।१। लोकमध्यादारभ्योर्ध्वमधस्तिर्यक्क्रमाकाशप्रदेशानां क्रमसन्निविष्टानां पङ्क्तिः श्रेणिरित्युच्यते ।

अनोरानुपूर्व्ये वृत्तिः ।२। अनुशब्दस्यानुपूर्व्ये वृत्तिर्भवति, श्रेणेरानुपूर्व्येण अनुश्रेणि इति ।

जीवाधिकारात् पुद्गलासंप्रत्यय इति चेत्; न; गतिग्रहणात् ।३। स्यादेतत्--जीवाधिकारात् पुद्गलानामनुश्रेणिगतिसंप्रत्ययो न भवतीति; तन्न; किं कारणम् ? गतिग्रहणात् । यदि हि जीवस्यैव गतिरिहेष्टा स्याद् [9]गत्यधिकारे पुनर्गतिग्रहणमनर्थकं स्यात्, ततो ज्ञायते सर्वेषां गतिमतां गतिर्गृह्यते[10] इति ।

क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थं गतिग्रहणमिति चेत्; न; अवस्थानाद्यसंभवात् ।४। स्यान्मतम्--गतिग्रहणं क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थं गतिरेव नान्या क्रियेति ? तन्न; किं कारणम् ? अवस्थानाद्यसंभवात् । न विग्रहगतिमापन्नस्य जन्तोरवस्थानशयनासनादयः[11] क्रियाः संभवन्ति ।

उत्तरसूत्रे जीवग्रहणाच्च ।५। 'अविग्रहा जीवस्य' इत्युत्तरत्र जीवग्रहणाच्च मन्यामहे इहोभयगतिराश्रितेति ।

विश्रेणिगतिदर्शनान्नियमायुक्तिरिति चेत्; न; कालदेशनियमात् ।६। स्यादेतत्--विश्रेणिगतिरपि दृश्यते चक्रादीनां ज्योतिषां च मेरुप्रदक्षिणगतीनां माण्डलिकवायूनां विद्याधराणां च मेर्वादिप्रदक्षिणकाले, ततोऽनुश्रेणि गतिरिति नियमो नोपपद्यते; तन्न; किं कारणम् ? कालदेश-

---

१ कुण्डलाय हिरण्यमित्यादिवत् प्रकृतिः परिणामि द्रव्यम् । चतुर्थी प्रकृतिः स्वार्थादिभिरिति समासः– ता० टि० । २ अश्वार्थो घासः इति । –र्थ्ये च– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ३ –तः पु– आ०, ब०, द०, मु०, मू० । ४ प्ररोह– श्र० । ५ अकर्मकर्मनोकर्मजातिभदेषु वर्गणा । ६ पूर्वपातनिकापेक्षया अयमभिप्रायः । ७ उत्तरपातनिकापेक्षया । ८ गमनम् । ९ विग्रहगतावित्यत्र । १० –ते क्रि– आ०, ब०, द०, मु० । ११ –स्थानशयनादयः आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

नियमात् । कालनियमस्तावज्जीवानां मरणकाले भवान्तरसंक्रमे, मुक्तानां चोर्ध्वगमनकाले अनुश्रेण्येव गतिः । देशनियमोऽपि[1] या ऊर्ध्वलोकादधोगतिरधोलोकाच्चोर्ध्वगतिस्तिर्यग्लोका[2]-द्वा अधोगतिरूर्ध्वा वा [सा] अत्रानुश्रेण्येव । पुद्गलानामपि च या लोकान्तप्रापणी सा नियमा-दनुश्रेणिगतिः । या त्वन्या सा भजनीया । ततो भ्रमणरेचनादिगतिः सिद्धा ।

पूर्वभावप्रज्ञापकनयावभासितं व्यवहारमन्तर्नीय रूढिवशाद्वा विनिर्मुक्तकर्मबन्धनस्यापि जीवत्वमवधृत्येदमुपादिक्षत्—

अविग्रहा जीवस्य ॥२७॥

विग्रहो व्याघातः कौटिल्यमित्यनर्थान्तरम्, स यस्यां न विद्यते असावविग्रहा[3] गतिः । कस्य ? जीवस्य । कीदृशस्य ? मुक्तस्य । कथं गम्यते[4] मुक्तस्येति ?

उत्तरत्र संसारिग्रहणादिह मुक्तगतिः ।१। उत्तरसूत्रे संसारिग्रहणादिह मुक्तगतिर्विज्ञा-यते । किमर्थमिदमुच्यते ? ननु श्रेण्यन्तर[5]संक्रमो विग्रहः तस्याभावः अनुश्रेणिः[6] इत्यनेनैव सिद्धः [7]नार्थोऽनेन[8]? इदं प्रयोजनम्— पूर्वसूत्रे जीवपुद्गलानां क्वचिद्विश्रेणिरपि गतिर्भवतीत्ये-तस्य ज्ञापनार्थम् । ननु तत्रैवोक्तं कालदेशनियमादनुश्रेणिर्भवति न सर्वत्रेति; न; [9]अतस्तत्सिद्धेः ।

यद्यसङ्गस्यात्मनोऽप्रतिबन्धेन गतिरालोकान्तादवधृतकाला प्रतिज्ञायते 'सदेहस्य पुनर्गतिः किं प्रतिबन्धिन्युत मुक्तात्मवत्' इति परिप्रश्ने सतीदमुच्यते—

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥

कालपरिच्छेदार्थं प्राक् चतुर्भ्य इति वचनम् ।१। समयो वक्ष्यते । चतुर्भ्यः समयेभ्यः प्राक् [10]विग्रहवती गतिर्भवतीति कालपरिच्छेदार्थं प्राक् चतुर्भ्य इत्युच्यते । ऊर्ध्वं कस्मान्नेति चेत् ? विग्रहनिमित्ताभावात् । सर्वोत्कृष्टविग्रहनिमित्तनिष्कुटक्षेत्रे[11] उत्पित्सुः प्राणी निष्कुटक्षेत्रानु-पूर्व्यर्जुश्रेण्यभावात् इषुगत्यभावे निष्कुटक्षेत्रप्रापणनिमित्तां [12]त्रिविग्रहां गतिमारभते नोर्ध्वं तथाविधोपपादक्षेत्राभावात्, तेनैव च कालेनोपपादक्षेत्रप्राप्तेः षष्टिकाद्यात्मलाभवत् । यथा षष्टिकादीनां व्रीहीणां परिच्छिन्नकालावधिः परिपाको न न्यूनेन नाभ्यधिकेन, इह तथाऽन्तर-[13]भवेऽपि कालनियमो वेदितव्यः ।

चशब्दः समुच्चयार्थः[14] ।२। विग्रहवती च अविग्रहा चेति समुच्चयार्थः चशब्दः । उपपाद-क्षेत्रं प्रति ऋज्वी गतिरविग्रहा, कुटिला विग्रहवती ।

आङ्ग्रहणं लघ्वर्थमिति चेत्; न; अभिविधिप्रसङ्गात् ।३। स्यादेतत्—आङ्ग्रहणं कर्तव्यं लघ्वर्थमिति; तन्न; किं कारणम् ? अभिविधिप्रसङ्गात् । तेन चतुर्थसमयमभिव्याप्य विग्रहः [15]प्रवर्तत, स चानिष्टः ।

---

१ –पि चोर्ध्व– आ०, ब०, द०, मु० । २ –काच्चोधोगतिरूर्ध्वंवानु– आ०, ब०, द०, मु० । ३ ऋजुगतिरिति यावत् । ४ –ते उ– आ०, ब०, द०, मु० । ५ –न्तरसंग्रहो वि– आ०, ब०, द०, मु० । ६ –णिगतिरित्य– आ०, ब०, द०, मु० । ७ प्रयोजनम् । ८ सूत्रेण । ९ इति चेत्, अस्मात् सूत्रात् । १० कुटिला । ११ लोकान्तकोणप्रदेशे इत्यर्थः । १२ गोमूत्रिकामित्यर्थः । १३ –भवेका– आ०, ब०, द०, मु० । –न्तरभावेऽपिका– मू०, ता० । देहाद् देहान्तरस्वीकारमध्यसमये । १४ –र्थः च– आ०, ब०, द०, मु० । १५ प्रवर्तते आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उभयसंभवे व्याख्यानात् मर्यादासंप्रत्यय इति चेत्; न; प्रतिपत्तेर्गौरवात् ।४। स्यान्मतम्– मर्यादाभिविध्योराङ, तत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति मर्यादासंप्रत्यय इत्याङ्यपि सति न दोष इति; तन्न; किं कारणम् ? प्रतिपत्तेर्गौरवात् । एवं सति प्रतिपत्तेर्गौरवं स्यात्, तस्माद्विस्पष्टार्थं प्राग्ग्रहणं क्रियते ।

आसां चतसृणां गतीनामार्षोक्ताः संज्ञाः–इषुगतिः, पाणिमुक्ता, लाङ्गलिका, गोमूत्रिका चेति । तत्राविग्रहा[1] प्राथमिकी, शेषा विग्रहवत्यः । इषुगतिरिवेषुगतिः । क उपमार्थः ? यथेषोर्गतिरालक्ष्यदेशाद् ऋज्वी तथा संसारिणां सिद्ध्यतां च जीवानां ऋज्वी गतिरैकसमयिकी । पाणिमुक्तेव पाणिमुक्ता । क उपमार्थः ? यथा पाणिना तिर्यक् प्रक्षिप्तस्य द्रव्यस्य गतिरेकविग्रहा तथा संसारिणामेकविग्रहा गतिः पाणिमुक्ता द्वैसमयिकी । लाङ्गलमिव लाङ्गलिका । क उपमार्थः ? यथा लाङ्गलं द्विवक्रिं तथा द्विविग्रहा गतिर्लाङ्गलिका[2] त्रैसमयिकी । गोमूत्रिकेव गोमूत्रिका । क उपमार्थः ? यथा गोमूत्रिका बहुवक्रा तथा त्रिविग्रहा गतिर्गोमूत्रिका चातुःसमयिकी ।

यद्यमुष्या विग्रहवत्याः क्रियाधारश्चातुःसमयिकव्यवस्था [3]निश्चीयते परित्यक्तव्याबाधा पुनर्गतिः कियत्काला भवतीति ? अत आह–

एकसमयाऽविग्रहा ॥२९॥

अधिकृतगतिसामानाधिकरण्यात् स्त्रीलिङ्गनिर्देशः ।१। गतिरधिकृता, तत्सामानाधिकरण्यादत्र स्त्रीलिङ्गनिर्देशो द्रष्टव्यः । एकः समयोऽस्या एकसमया, न विद्यते विग्रहोऽस्या अविग्रहेति । गतिमतां हि जीवपुद्गलानामव्याघातेनैकसमयिकी गतिरालोकान्तादपीति ।

आत्मनोऽक्रियावत्त्वसिद्धेरयुक्तमिति चेत्; न; क्रियापरिणामहेतुसद्भावाल्लोष्टवत् ।२। स्यादेतत्–सर्वगतत्वान्निष्क्रियस्यात्मनः क्रियावत्त्वं नास्ति, ततो गतिकल्पनमयुक्तमिति ? तन्न; किं कारणम् ? क्रियापरिणामहेतुसद्भावात् । कथम् ? लोष्टवत् । यथा लोष्टः स्वयं क्रियापरिणामित्वाद् बाह्याभ्यन्तरकारणापेक्षो देशान्तरप्राप्तिसमर्थां क्रियामारभमाणो दृष्टः, तथा आत्मा कर्मवशाच्छरीरपरिणामानुविधायी तद्विधेयां क्रियामास्कन्दति, तदभावे च प्रदीपशिखावत् स्वाभाविकीमिति नास्ति दोषः ।

सर्वगतत्वे तु संसाराभावः ।३। यदि च सर्वगत आत्मा स्यात् क्रियाभावात् संसाराभावः स्यात् ।

बन्धसन्ततिं प्रत्यनादौ कर्मोपचयवृत्तिसंबन्धेन चादिमति पञ्चविधेऽपि द्रव्यक्षेत्रकालभवभावे[4] संसारे मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययसन्निधाने च सत्युपयोगात्मकोऽयमात्मा सातत्येन कर्माण्यादधानो विग्रहगतावप्याहारकः प्रसक्तस्ततो नियमार्थमिदमुच्यते–

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥३०॥

समयसंप्रत्ययः प्रत्यासत्तेः ।१। 'एकसमयाऽविग्रहा' इत्यत्र समयशब्द उक्तस्तेनेह प्रत्यासत्तेरभिसंबन्धो वेदितव्यः–एकं समयं द्वौ समयौ त्रीन् समयान् इति । ननु च तत्र समयशब्द उपसर्जनीभूतः[5] कथमिहाभिसंबध्यते ? अन्यस्यासंभवात् सामर्थ्यात् संबन्धो द्रष्टव्यः ।

---

१ वक्ररहिता । २ –लिकी त्रै– ता०, श्र०, मू०, द० । ३ निर्ध्रियते श्र०, मू० । ४ –भावे मि– श्रा०, ब०, द०, मु० । ५ अन्यपदार्थत्वात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वा शब्दो विकल्पार्थः[1] ।२। वाशब्दोऽत्र विकल्पार्थो ज्ञेयः । विकल्पश्च यथेच्छातिसर्गः, एकं वा द्वौ वा त्रीन्वेति ।

सप्तमीप्रसङ्ग इति चेत्; न; अत्यन्तसंयोगस्य विवक्षितत्वात् ।३। स्यादेतत्—आहरणक्रियाया अधिकरणं काल इति सप्तमी प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? अत्यन्तसंयोगस्य विवक्षितत्वात् । अत्यन्तसंयोगे हि तदपवादात्[2] द्वितीया विधीयते ।

त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणमाहारः ।४। तैजसकार्मणशरीरे हि आसंसारान्तान्नित्यमुपचीयमानस्वयोग्यपुद्गले[3] अतः[4] शेषाणां त्रयाणां शरीराणामौदारिकवैक्रियिकाहारकाणामाहाराद्यभिलाषकारणानां षण्णां [5]पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणमाहार इत्युच्यते ।

विग्रहगतावसंभवादाहारकशरीरनिवृत्तिः ।५। ऋद्धिप्राप्तानामृषीणामाहारकशरीरमाविर्भवति इति विग्रहगतौ तस्यासंभवान्निवृत्तिः ।

शेषाहाराभावो व्याघातात् ।६। विग्रहगतौ [6]शेषस्याहारस्याभावः । कुतः? व्याघातात् । अष्टविधकर्मपुद्गलसूक्ष्मपरिणतोपचितमूर्ति[7]कार्मणशरीरवशात् प्रावृट्कालपरिणतजलधरनिर्गतसलिलग्रहणसमर्थनिक्षिप्ततप्तायससायकवत् पूर्वदेहनिवृत्तिसमुद्घात[8]दुःखोष्णत्वाद् व्रजन्नाहारकः, वक्रगतिवशादेकं द्वौ त्रीन्वा समयाननाहारको भवति । तत्रैकसमयिक्यामिषुगतौ उक्तमाहारमनुभवन्नेव गच्छति । पाणिमुक्तायामेकविग्रहायां द्विसमयायां प्रथमे समयेऽनाहारकः । लाङ्गलिकायां द्विविग्रहायां त्रिसमयायां प्रथमद्वितीययोः समययोरनाहारकस्तृतीये आहारकः । गोमूत्रिकायां त्रिविग्रहायां चतुःसमयायां चतुर्थसमये आहारक इतरेष्वनाहारकः ।

तस्य खलु संसारिणः शुभाशुभफलप्रदकार्मणशरीरानुगृहीतक्रियाविशेषस्य अनुश्रेण्यास्कन्दतः पूर्वोपात्तानुभवनं प्रति कर्मभिरापूर्यमाणस्य अविग्रहविग्रहवद्गमनद्वयाक्षिप्त[9]देशान्तरस्य अभिनवमूर्त्यन्तरनिर्वृत्तिप्रकारप्रतिपादनार्थमिदमाह—

सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ॥३१॥

समन्ततो मूर्च्छनं सम्मूर्च्छनम् ।१। त्रिषु लोकेषूर्ध्वमधस्तिर्यक् च देहस्य समन्ततो मूर्च्छनं सम्मूर्च्छनम्-अवयवप्रकल्पनम् ।

शुक्रशोणितगरणाद् गर्भः ।२। यत्र शुक्रशोणितयोः[10]स्त्रिया उदरमुपगतयोर्गरणं मिश्रणं भवति स गर्भः ।

[11]**मात्रोपयुक्ताहारात्मसात्करणाद्वा** ।३। अथवा, [11]मात्रोपयुक्तस्याहारस्यात्मसात्करणाद् गरणाद् गर्भः ।

उपेत्य पद्यतेऽस्मिन्नित्युपपादः ।४। *"हलः" [जैनेन्द्र० २।३।१०२] इत्यधिकरणसाधनो घञ् । [12]देवनारकोत्पत्तिस्थानविशेषस्य संज्ञेति । एते त्रयः संसारिणां जीवानां जन्मप्रकाराः ।

१ –र्थो ज्ञेयः वि– आ०, ब०, द०, मु० । २ –दा द्वि– आ०, ब०, मु०, मू० । कालादनोर्व्याप्ताविति सूत्रेण अधिकरणं बाधित्वा द्वितीया । कर्मादानस्य नैरन्तर्यसद्भावात्, मासमधीते क्रोशं स्वपिति इत्यादिवत् । ३ बसः । द्वितीयाद्विवचनान्तम्– सम्पा० । ४ अतः कारणात् ते वर्जयित्वा । ५ आहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासभाषामनसाम् । ६ कवलाद्याहारस्य । ७ –त्तिः का– अ० । ८ दुःखोष्मत्वा– मु० । ९ स्वीकृत । १० –तयोर्गर– आ०, ब०, द०, मु० । ११ मात्रोपभुक्ता– अ०, ब०, मु० । १२ सर्वेषां जीवानामुपपादप्रसङ्गे रूढिशब्दोऽयं न तु व्युत्पत्तिक्रियापेक्षः इत्याह देवेत्यादि… ।

सम्मूर्च्छनग्रहणमादौ अतिस्थूलत्वात् ।५। सम्मूर्च्छनजं हि [1]शरीरमतिस्थूलम्, अतोऽस्य ग्रहणमादौ क्रियते । ननु गर्भजशरीरमपि वैक्रियिकशरीरादतिस्थूलं तयोः कस्यादौ वचनं न्याय्यमिति ? उच्यते—

अल्पकालजीवित्वात् [2]सम्मूर्च्छनम् ।६। [3]गर्भजौपपादिकजीवेभ्यः सम्मूर्च्छनजाः प्राणिनोऽल्पकालजीविनस्ततः सम्मूर्च्छनस्यादौ न्याय्यम् । किञ्च,

[4]**तत्कार्यकारणप्रत्यक्षत्वात् ।७।** गर्भोपपादजन्मनोः कार्यकारणे अप्रत्यक्षे, यत्पुनः सम्मूर्च्छनजन्मनः कारणं मांसादि तत्कार्यं च शरीरं तदुभयं लोके प्रत्यक्षम्, ततश्चास्यादौ ग्रहणं क्रियते ।

तदनन्तरं गर्भग्रहणं कालप्रकर्षनिष्पत्तेः ।८। गर्भजन्म हि [5]सम्मूर्च्छनजन्मनः कालप्रकर्षेण निष्पद्यते, ततस्तदनन्तरं तस्य ग्रहणं न्याय्यम् ।

उपपादग्रहणमन्ते दीर्घजीवित्वात् ।९। सम्मूर्च्छनजेभ्यो गर्भजेभ्यश्चौपपादिका दीर्घजीविन इत्यन्ते ग्रहणं क्रियते । आह– किं कृतोऽयं जन्मविकल्प[6] इति ? उच्यते—

अध्यवसायविशेषात् कर्मभेदे तत्कृतो जन्मविकल्पः ।१०। अध्यवसायः परिणामः सोऽसंख्येयलोकविकल्पः, तद्भेदात्तत्कार्यकर्मबन्धविकल्पस्ततस्तत्फलं जन्मविकारो वेदितव्यः । कारणानुरूपं हि लोके दृश्यते कार्यम् । शुभाशुभलक्षणं च कर्म तद्रूपमेव जन्म प्रादुर्भावयति ।

प्रकारभेदाज्जन्मभेद इति चेत्; न; तद्विषयसामान्योपादानात् ।११। स्यादेतत्–प्रकारा बहवः तत्सामानाधिकरण्याज्जन्मनोऽपि बहुत्वं प्राप्नोति, यथा 'जीवादयः पदार्थाः' इति; तन्न; किं कारणम् ? तद्विषयसामान्योपादानात् । तत्प्रकारविषयमिह सामान्यं [7]जन्मशब्देनोपादीयते, तत एकत्वनिर्देशः, यथा जीवादयस्तत्त्वमिति ।

अथाधिकृतस्य संसारिविषयोप[8]भोगोपलब्ध्यधिष्ठानप्रवणस्य जन्मनो योनिविकल्पो वक्तव्य इति ? अत आह—

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

आत्मनः परिणामविशेषश्चित्तम् ।१। आत्मनश्चैतन्य[9]परिणामविशेषश्चित्तं तेन सह वर्तन्त इति सचित्ताः ।

शीत इति स्पर्शविशेषः ।२। शीत इत्यनेन स्पर्शविशेषो गृह्यते । शुक्लादिवदुभय[10]वचनत्वात्तद्युक्तं द्रव्यमप्याह ।

संवृतो दुरुपलक्षः ।३। सम्यग्वृतः संवृत इति दुरुपलक्षः प्रदेश उच्यते ।

सेतराः सप्रतिपक्षाः ।४। सह इतरैः सेतराः सप्रतिपक्षा इत्यर्थः । के पुनरितरे ? अचित्तोष्णविवृताः ।

मिश्रग्रहणमुभयात्मकसंग्रहार्थम् ।५। मिश्रग्रहणं क्रियते उभयात्मकसंग्रहार्थं सचित्ताचित्तशीतोष्णसंवृतविवृता इति ।

चशब्दः प्रत्येकसमुच्चयार्थः[11] ।६। मिश्राश्चेति च शब्दः क्रियते प्रत्येकसमुच्चयार्थः । [12]इतरथा हि पूर्वोक्तानामेव विशेषणं स्यात् । तेन सचित्त-शीत-संवृताः सेतरा यदा मिश्रास्तदा

---

१ महामत्स्यादेः । २ सम्मूर्च्छनमिति नास्ति भा० १। ३ गर्भोपपादि– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ४ तत्कारणकार्यप्र– श्र० । ५ सकाशात् । ६ भेदः । ७ सम्मूर्च्छनजन्मेत्यादि । ८ –भोगल– आ०, ब०, द०, ता०, मु० । ९ चैतन्यस्यपरि– आ०, ब०, द०, मु० । १० गुणगुणि । ११ अत्राचार्याभिप्रायानभिज्ञः कश्चित्तटस्थ आह । १२ चशब्दाभावे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योनयो भवन्तीत्ययमर्थो [1]लभ्यते। चशब्दे पुनः सचित्तादयः प्रत्येकं च योनयो भवन्ति मिश्राश्चेत्ययमर्थो **लब्धः**।

[2]**न वा अन्तरेणापि तत्प्रतीतेः** ।७। [3]न वैतत् प्रयोजनमस्ति। कुतः ? अन्तरेणापि तत्प्रतीतेः। अन्तरेणापि हि चशब्दं समुच्चयार्थः प्रतीयते यथा *"**पृथिव्यापस्तेजो वायुः**" [तत्त्वोप० पृ० १] इति। ननु चोक्तम्–इतरथा हि पूर्वोक्तानामेव विशेषणं स्यादिति; नैष दोषः; विशेषणस्य समुच्चयस्य च संभवे समुच्चय[4] इति व्याख्यायते।

इतरयोनिभेदसमुच्चयार्थस्तु[5] ।८। सूत्रेऽनुक्तानां योनिभेदानां समुच्चयार्थस्तर्हि चशब्दः। के पुनस्ते ? उत्तरत्र वक्ष्यन्ते।

एकशो ग्रहणं क्रममिश्रप्रतिपत्त्यर्थम् ।९। एकैकः एकश इति वीप्सायां शस्, तस्य ग्रहणं क्रममिश्रप्रतिपत्त्यर्थम्। यथैवं विज्ञायेत सचित्तश्चाऽचित्तश्च शीतश्चोष्णश्च संवृतश्च विवृतश्चेति। मैवं विज्ञायि सचित्तशीतश्चेत्यादि।

तद्ग्रहणं प्रकृतापेक्षम् ।१०। तद्ग्रहणं क्रियते प्रकृतापेक्षार्थम्। तेषां योनयस्तद्योनयः। केषाम् ? सम्मूर्च्छनादीनामिति। यूयत इति योनिः।

[6]**सचित्तादिद्वन्द्वे पुंवद्भावाभावो भिन्नार्थत्वात्** ।११। योनिशब्दोऽयं स्त्रीलिङ्गस्तदपेक्षाः सचित्तादयः शब्दाः स्त्रीलिङ्गाः, तेषां द्वन्द्वे पुंवद्भावो न प्राप्नोति-सचित्ताश्च शीताश्च संवृताश्च सचित्तशीतसंवृता इति। कुतः ? भिन्नार्थत्वात्। एकाश्रये हि पुंवद्भाव उक्तः[7]।

न वा; योनिशब्दस्योभयलिङ्गत्वात् ।१२। न वैष दोषः। किं कारणम् ? उभयलिङ्गत्वाद्योनिशब्दस्य। इह पुल्लिङ्गो **वेदितव्यः**।

योनिजन्मनोरविशेष इति चेत्; न; आधाराधेयभेदाद्विशेषोपपत्तेः ।१३। स्यान्मतम्–योनिजन्मनोरविशेषः, यत आत्मैव देवादिजन्मपर्यायादौपपादिक इत्युच्यते, सैव च योनिरितिः; तन्न; किं कारणम् ? आधाराधेयविशेषोपपत्तेः। आधारो हि योनिराधेयं जन्म, यतः सचित्तादियोन्यधिष्ठान आत्मा सम्मूर्च्छनादिजन्मना शरीराहारेन्द्रियादियोग्यान् पुद्गलानादत्ते।

सचित्तग्रहणमादौ चेतनात्मकत्वात् ।१४। सचित्तग्रहणमादौ क्रियते। कुतः ? चेतनात्मकत्वात्। चेतनात्मको लोके ह्यर्थः प्रधानम्।

तदनन्तरं शीताभिधानं तदाप्यायनहेतुत्वात् ।१५। तदनन्तरं शीताभिधानं क्रियते। कुतः ? तदाप्यायनहेतुत्वात्। सचेतनस्य ह्यर्थस्य शीतमाप्यायनकारणं भवति।

अन्ते संवृतग्रहणं गुप्तरूपत्वात् ।१६। अन्ते संवृतग्रहणं क्रियते। कुतः ? गुप्तरूपत्वात्। गुप्तरूपं हि लोके कर्मग्राह्यं भवति।

एक एव योनिरिति चेत्; नः प्रत्यात्मं सुखदुःखानुभवनहेतुसद्भावात् ।१७। स्यान्मतम्–एक एव योनिरस्तु सर्वेषां जीवानामिति ? **तन्न**; किं कारणम् ? प्रत्यात्मं सुखदुःखानुभवनहेतुसद्भावात्। शुभाशुभपरिणामा हि प्रत्यात्मं भिन्नास्तज्जनितश्च कर्मबन्धो विचित्रः, अतस्तेन सुखदुःखानुभवनकारणं बहुविधमारभ्यते।

---

१ लभ्येत श्रा०, ब०, द०, मु०, ता०। २ न चान्तरेणा– श्रा०, ब०, द०, मु०। ३ नैतत्प्र– श्रा०, ब०, द०, मु०। ४ विशेषणसमुच्चययोः समुच्चय एव बलीयानिति न्यायेन। ५ तर्हि भवतामभिप्रायः कोऽयमिति पृष्टः सन्नाह। ६ अत्राह तटस्थः। ७ मानिस्त्र्येकार्थयोः स्त्र्यन्यतोऽनूः (शाकटा० २।२।४१) इति।

तत्राऽचित्तयोनिका देवनारकाः ।१८। देवाश्च नारकाश्चाऽचित्तयोनिकाः । तेषां हि योनिरुपपादप्रदेशपुद्गलप्रचयोऽचित्तः ।

गर्भजा मिश्रयोनयः ।१९। गर्भजा ये जीवास्ते मिश्रयोनयो वेदितव्याः । तेषां हि मातुरुदरे शुक्रशोणितमचित्तं तदात्मना चित्तवता मिश्रं[1] योनिः ।

शेषास्त्रिविकल्पाः ।२०। शेषाः सम्मूर्च्छनजास्त्रिविकल्पा भवन्ति–केचित् सचित्तयोनयः, अन्ये अचित्तयोनयः, अपरे मिश्रयोनय इति । तत्र सचित्तयोनयः साधारणशरीराः । कुतः ? परस्पराश्रयत्वात् । इतरे अचित्तयोनयो मिश्रयोनयश्च ।

शीतोष्णयोनयो देवनारकाः ।२१। देवा नारकाश्च शीतयोनयो भवन्ति उष्णयोनयश्च । तेषां हि उपपादस्थानानि[2] कानिचिच्छीतानि कानिचिदुष्णानि इति ।

उष्णयोनिस्तेजस्कायिकः ।२२। अग्निकायिको जीव उष्णयोनिर्द्रष्टव्यः ।

इतरे त्रिप्रकाराः ।२३। इतरे जीवास्त्रिप्रकारयोनयो भवन्ति–केचिच्छीतयोनयः, अन्ये उष्णयोनयः, अपरे मिश्रयोनय इति ।

देवनारकैकेन्द्रियाः संवृतयोनयः ।२४। देवनारका एकेन्द्रियाश्च संवृतयोनयो भवन्ति ।

विकलेन्द्रिया[3] विवृतयोनयः ।२५। विकलेन्द्रिया जीवा विवृतयोनयो वेदितव्याः ।

मिश्रयोनयो गर्भजाः ।२६। गर्भजा जीवा मिश्रयोनयोऽवगन्तव्याः ।

तद्भेदाश्चशब्दसमुच्चिताः प्रत्यक्षज्ञानिदृष्टा इतरेषामागमगम्याश्चतुरशीतिशतसहस्रसंख्याः ।२७। तेषां नवानां योनीनां भेदाः कर्मभेदजनितविविक्तवृत्तयः प्रत्यक्षज्ञानिभिर्दिव्येन चक्षुषा दृष्टाः, इतरेषां छद्मस्थानामागमेन श्रुताख्येन गम्याश्चतुरशीतिशतसहस्रसंख्या आख्यायन्ते । तद्यथा–नित्यनिगोतानां सप्त शतसहस्राणि, अनित्यनिगोतानां च सप्त शतसहस्राणि । के पुनर्नित्यनिगोताः, के चाऽनित्यनिगोताः ? त्रिष्वपि कालेषु त्रसभावयोग्या ये न भवन्ति ते नित्यनिगोताः । त्रसभावमवाप्ता अवाप्स्यन्ति च ये ते अनित्यनिगोताः । पृथिव्यप्तेजोवायूनां सप्त सप्त शतसहस्राणि, वनस्पतिकायिकानां दश शतसहस्राणि, विकलेन्द्रियाणां षट् शतसहस्राणि, देवनारकपञ्चेन्द्रियतिरश्चां प्रत्येकं चत्वारि शतसहस्राणि, मनुष्याणां चतुर्दश शतसहस्राणि । तान्येतानि समुदितानि चतुरशीतिशतसहस्राणि आख्यायन्ते । उक्तं च–

[4]"णिच्चिदरधादुसत्त य तरुदस वियलिंदिएसु छच्चेव ।
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुएसु सदसहस्सा ॥" [बारसअणु० ३५] इति ।

एवमेतस्मिन्नवयोनिभेदसंकटे [5]त्रिविधे जन्मनि सर्वप्राणिभृतामनियमेन प्रसक्ते अवधारणार्थमाह–

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥३३॥

जालवत्प्राणिपरिवरणं जरायुः ।१। यज्जालवत् प्राणिपरिवरणं विततमांसशोणितं तज्जरायुरित्युच्यते ।

शुक्रशोणितपरिवरणमुपात्तकाठिन्यं नखत्वक्सदृशं परिमण्डलमण्डम् ।२। यत्र खलु नखत्वक्सदृशमुपात्तकाठिन्यं शुक्रशोणितपरिवरणं[6]परिमण्डलं तदण्डमित्याख्यायते ।

---

१ मिश्रं । शे– आ०, ब०, द०, मु० । २ –नि कानिचिदुष्णानि कानि– आ०, ब०, द०, मु० । ३ –या जीवा विवृतयोनयो वेदि– आ०, ब०, द०, मु० । ४ नित्येतरधातु सप्त च तरुदश विकलेन्द्रियेषु षट् चैव । सुरनारकतिर्यञ्चः चत्वारः चतुर्दश मनुष्येषु शतसहस्राणि ॥ ५ सम्मूर्च्छनादिभेदेन । ६ –णं म– आ०, ब०, मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संपूर्णावयवः परिस्पन्दादिसामर्थ्योपलक्षितः पोतः ।३। किञ्चित् परिवरणमन्तरेण परिपूर्णावयवो योनिनिर्गतमात्र एव परिस्पन्दादिसामर्थ्योपेतः पोत इत्युच्यते । जरायौ जाताः जरायुजाः, अण्डे जाता अण्डजाः, जरायुजाश्चाऽण्डजाश्च पोताश्च जरायुजाण्डजपोताः ।

पोतजा इत्ययुक्तम्; अर्थभेदाभावात् ।४। [1]केचित् पोतजा इति पठन्ति; तदयुक्तम्; कुतः ? अर्थभेदाभावात् । न हि पोते कश्चिदन्यो जातोऽस्ति ।

आत्मा पोतज इति चेत्; न; तत्परिणामात् ।५। स्यान्मतम्–आत्मा पोते जातः पोतज इत्यर्थभेदोऽस्तीति ? तन्न; किं कारणम् ? तत्परिणामात् । आत्मैव पोतपरिणामेन परिणतः पोत इत्युच्यते, न पृथगात्मनः पोतो नाम कश्चिदस्ति जरायुवत् । [2]पोतोऽजनिष्ट पोतज इति चेत्; अर्थविशेषो नास्ति ।

जरायुजग्रहणमादावभ्यर्हितत्वात् ।६। जरायुजग्रहणमादौ क्रियते । कुतः ? अभ्यर्हितत्वात् । कथमभ्यर्हितत्वम् ?

क्रियारम्भशक्तियोगात् ।७। अण्डजपोतासाधारण्यो हि भाषाध्ययनादयः क्रिया जरायुजेषु दृश्यन्ते ।

केषाञ्चिन्महाप्रभावत्वात् ।८। तत्र हि जाताः केचन चक्रधरवासुदेवादयो महाप्रभावा भवन्ति । किञ्च,

मार्गफलाभिसंबन्धात् ।९। सम्यग्दर्शनादिमार्गफलेन[3] मोक्षसुखेन[4] चाभिसंबन्धो नान्येषामित्यभ्यर्हितत्वम् ।

तदनन्तरमण्डजग्रहणं पोतेभ्योऽभ्यर्हितत्वात् ।१०। तदनन्तरमण्डजग्रहणं क्रियते । कुतः? पोतेभ्योऽभ्यर्हितत्वात् । अण्डजेषु हि केषुचित् शुकसारिकादयोऽक्षरोच्चारणादिषु क्रियासु कुशला भवन्तीत्यभ्यर्हिताः पोतेभ्यः ।

[5]**उद्देशवन्निर्देश इति चेत्; न; गौरवप्रसङ्गात्** ।११। स्यान्मतम्–उद्देशवन्निर्देशेन भवितव्यमिति संमूर्च्छनजानां प्राग्ग्रहणं कर्तव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? गौरवप्रसङ्गात् । यदि हि संमूर्च्छनजनिर्देश आदौ क्रियते [6]शास्त्रस्य गौरवं स्यात्–[7]एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियाणां तिरश्चां मनुष्याणां च- केषाञ्चित्संमूर्च्छनमिति, अतो गर्भजौपपादिकानुक्त्वा 'शेषाणां संमूर्च्छनम्' इति लघुनोपायेन निर्देक्ष्यामीत्युद्देशक्रमोऽतिक्रान्तः[8] ।

[9]**सिद्धे विधिरवधारणार्थः** ।१२। जरायुजादीनां सामान्येन सिद्धे गर्भजन्मसंबन्धे पुनर्विधिरारभ्यमाणो नियमार्थः, जरायुजाण्डजपोतानामेव गर्भ इति । अथ नियमार्थे[10] आरम्भे सति जरायुजाण्डजपोतानां गर्भ एवेति नियमः कस्मान्न भवति ? उत्तरत्र शेषाणामिति वचनात् ।

यद्यमीषां जरायुजाण्डजपोतानां गर्भोऽवध्रियते, अथोपपादः खलु केषां भवतीति ? [11]अत आह—

---

१ "जराय्वण्डपोतजानां गर्भः (सू०)" "पोतजानां शल्लकहस्तिश्वाविल्लापकशशशारिकानकुलमूषिकानां पक्षिणां च चर्मपक्षाणां जलूकावल्गुलीभारण्डपक्षिविरालादीनां गर्भो गर्भाज्जन्मेति" –त० भा० २।३४। २ पोतेऽजनि– भा० १। ३ अभ्युदयेन । ४ –नाभिस– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ५ सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्मेति सूत्रोक्तोद्देशवत् । नाममात्रकथनमुद्देशः । ६ शास्त्रगौ– आ०, ब० द०, मु० । ७ तदेव विवृणोति सूत्रेणानेन भवितव्यमिति । ८ सूत्रकृता । ९ "सिद्धे विधिरारभ्यमाणोऽन्तरेणाप्येवकारं नियमार्थः ।" –पात० महा० २।२।२०, ८।३।६१। १० सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्मेत्यत्र शुक्रशोणितगरणाद् गर्भ इति व्युत्पत्तिमुखेनैव गर्भजन्मसम्बन्धलक्षणं सिद्धं किमनेन सूत्रेणेत्याशङ्कायां नियमसूत्रमिदमित्याह । ११ इत्यस्मिन् सूत्रे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवनारकाणामुपपादः ॥३४॥

देवादिगत्युदय एवास्य जन्मेति चेत्; न; शरीरनिर्वर्तकपुद्गलाभावात्।१। [1]स्यादेतत्–मनुष्यस्तैर्यग्योनो वा छिन्नायुः कार्मणकाययोगस्थो देवादिगत्युदयाद् देवादिव्यपदेशभागिति कृत्वा तदेवास्य जन्मेति मतमिति; तन्न; किं कारणम्? शरीरनिर्वर्तकपुद्गलाभावात्। देवादिशरीरनिर्वृत्तौ हि देवादिजन्मेष्टम्, तस्यां चावस्थायामनाहारकत्वान्न देवादिशरीरनिर्वृत्तिरस्ति तत [2]उपपादो जन्म युक्तम्, तच्च देवनारकाणामिति।

निर्दिष्टजन्मभेदेभ्यो जरायुजादिभ्योऽन्येषां किं जन्म इति? अत आह––

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥३५॥

उभयत्र नियमः पूर्ववत्।१। उभयोरपि योगयोः पूर्ववन्नियमो वेदितव्यः, देवनारकाणामेवोपपादः, शेषाणामेव संमूर्च्छनं नोक्तानामिति।

कथं पुनर्ज्ञायते पूर्वत्र जन्मनियमो न जन्मवन्नियम इति?

शेषग्रहणात् पूर्वत्र जन्मनियमः।२। इह शेषग्रहणाज्ज्ञायते पूर्वत्र जन्मनियम इति। जरायुजाण्डजपोतानामेव गर्भो देवनारकाणामेवोपपाद इत्यवधारणे गर्भोपपादजन्मनी नियते, [3]जरायुजादयो न नियतास्तेषां सम्मूर्च्छनमपि प्राप्तमतः शेषग्रहणं क्रियते '[4]शेषाणामेव संमूर्च्छनं नोक्तानाम्' इत्यवधारणार्थः। यदि हि जन्मवतां नियमः स्यात् जरायुजाण्डजपोतानां गर्भ एव देवनारकाणामुपपाद एवेति गर्भोपपादयोरनवधारणात् यत्र सम्मूर्च्छनं चान्यच्चास्ति तत्र सम्मूर्च्छनमेवेति नियमाच्छेषग्रहणमनर्थकं स्यात्।

आह–इदं सूत्रमनर्थकम्। कथम्? पूर्वयोर्योगयोरुभयतो नियमे सति जरायुजादीनां गर्भोपपादयोश्चाऽसति व्यभिचारे, शेषाणामेव सम्मूर्च्छनमुत्सर्गोऽवतिष्ठते इति। उच्यते–स एवोभयतो नियमो [5]दुर्लभः, यतस्यैकत्वात्, अतोऽन्यतरनियम एवाश्रयितव्यः, तस्मिंश्च सति सूत्रमिदमारब्धव्यम्।

तेषां पुनः संसारिणां त्रिविधजन्मनामाहितबहुविकल्प[6]नवयोनिभेदानां शुभाशुभनामकर्मनिर्वर्तितानि बन्धफलानुभवनाधिष्ठानानि शरीराणि कानीति? अत आह––

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥३६॥

शीर्यन्त इति शरीराणि।१।

घटाद्यतिप्रसङ्ग इति चेत्; न; नामकर्मनिमित्तत्वाभावात्।२। यदि शीर्यन्त इति शरीराणि घटादीनामपि विशरणमस्तीति शरीरत्वमतिप्रसज्येत; तन्न; किं कारणम्? नामकर्मनिमित्तत्वाभावात्। शरीरनामकर्मोदयाच्छरीरम्, न च घटादिषु सोऽस्तीति नास्त्यतिप्रसङ्गः।

विग्रहाभाव इति चेत्; न; रूढिशब्देष्वपि व्युत्पत्तौ क्रियाश्रयात्।३। स्यान्मतम्–यदि शरीरनामकर्मोदयाच्छरीरव्यपदेशः 'शीर्यन्त इति शरीराणि' इति विग्रहो नोपपद्यत इति; तन्न; किं कारणम्? रूढिशब्देष्वपि व्युत्पत्तौ क्रियाश्रयात्। यथा 'गच्छतीति गौः' इति विगृह्यते, एवं 'शीर्यन्त इति शरीराणि' इति विग्रहो भवति।

---

१ स्यान्मतम् आ०, ब०, द०, मु०, ता०। २ उपेत्य पद्यते उत्पद्यतेऽस्मिन् उपपाद इति। ३ जीवाः। ४ अनुक्तानाम्। ५ दुर्लक्ष्यः। ६ चतुरशीतिशतसहस्र।

शरीरत्वादिति चेत्; न; तदभावात् ।४। स्यान्मतम्–शरीरत्वं नाम [1]सामान्यविशेषोऽस्ति, तद्योगाच्छरीरं न नामकर्मोदयादिति; तन्न; किं कारणम् ? तदभावात् । 'अतत्स्वभावेऽननवधारणप्रसङ्गोऽग्निवत्' इत्येवमादिना[2] अर्थान्तरभूतजातिसंबन्धकल्पना प्रतिविहितेति नास्ति शरीरत्वम् ।

उदारात् स्थूलवाचिनो भवे प्रयोजने वा ठञ् ।५। उदारं स्थूलमिति यावत्, ततो भवे प्रयोजने वा ठञि औदारिकमिति भवति ।

विक्रियाप्रयोजनं वैक्रियिकम् ।६। अष्टगुणैश्वर्ययोगादेकानेकाणुमहच्छरीरविविधकरणं विक्रिया, सा प्रयोजनमस्येति वैक्रियिकम् ।

आह्रियते तदित्याहारकम् ।७। सूक्ष्मपदार्थनिर्ज्ञानार्थमसंयमपरिजिहीर्षया च प्रमत्तसंयतेनाह्रियते निर्वर्त्यते तदित्याहारकम् ।

तेजोनिमित्तत्वात्तैजसम् ।७। यत्तेजोनिमित्तं तत्तैजसमिदम्, तेजसि भवं वा तैजसमित्याख्यायते ।

कर्मणामिदं कर्मणां समूह इति वा कार्मणम् ।९। कर्मणामिदं कार्यं कर्मणां समूह इति वा कथञ्चिद्भेदविवक्षोपपत्तेः कार्मणमिति व्यपदिश्यते ।

सर्वेषां कार्मणत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; प्रतिनियतौदारिकादिनिमित्तत्वात् ।१०। स्यान्मतम्-यदि कर्मणामिदं कर्मणां समूह इति वा कार्मणमित्युच्यते सर्वेषामपि तत्तुल्यमित्यौदारिकादीनामपि कार्मणत्वप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम् ? प्रतिनियतौदारिकादिनिमित्तत्वात् । औदारिकशरीरनामादीनि हि प्रतिनियतानि कर्माणि सन्ति तदुदयभेदाद्भेदो भवति ।

तत्कृतत्वेऽप्यन्यत्वदर्शनात् घटादिवत् ।११। यथा मृत्पिण्डकारणाविशेषेऽपि घटशरावादीनां संज्ञास्वालक्षण्यादिभेदाद्भेदः तथा कर्मकृतत्वाविशेषेऽपि औदारिकादीनां संज्ञादिभेदाद्भेदोऽवसेयः।

तत्प्रणालिकया चाभिनिष्पत्तेः ।१२। कार्मणशरीरप्रणालिकया चौदारिकादीनामभिनिष्पत्तिः, अतः कार्यकारणभेदान्न सर्वेषां कार्मणत्वम् । किञ्च,

[3]**विस्रसोपचयेन व्यवस्थानात् क्लिन्नगुडरेणुश्लेषवत् ।१३।** यथा वैस्रसिकपरिणामात् [4]क्लिन्ने गुडे रेणूनामुपश्लिष्टानामवस्थानं तथा [5]कार्मणेऽप्यौदारिकादीनां वैस्रसिकोपचयेनावस्थानमिति नानात्वं सिद्धम्[6]।

कार्मणमसत् निमित्ताभावादिति चेत्; न; निमित्तनिमित्तिभावात्तस्यैव प्रदीपवत् ।१४। स्यादेतत्–न कार्मणं नाम शरीरमस्ति । कुतः ? निमित्ताभावात् । यस्य च निमित्तं नास्ति तदसत् यथा खरविषाणमिति; तन्न; किं कारणम् ? तस्यैव निमित्तनिमित्तिभावात् प्रदीपवत् । यथा प्रदीपात्मैवात्मप्रकाशनात् प्रकाश्यः प्रकाशकश्च तथा कार्मणमेवात्मनो निमित्तं निमित्ति चेति सिद्धम् ।

मिथ्यादर्शनादिनिमित्तत्वाच्च ।१५। न कार्मणस्य निमित्तं नास्ति । किं तर्हि निमित्तम् ? मिथ्यादर्शनादि । ततोऽसिद्धमेतत्–'निमित्ताभावात्' इति ।

---

१ सामान्यं सद्विशेषः परसामान्यमित्यर्थः । २ पृ० ५। ३ जीवादो णंतगुणा पडिपरिमाणुम्हि विस्ससोवचया । जीवेण य समवेदा एक्केक्कं पडि समाणा हु ।। विस्रसा स्वभावेनैव आत्मपरिणामनिरपेक्षतयैव उपचीयन्ते तत्कर्मनोकर्मपरमाणुस्निग्धरूक्षत्वगुणेन स्कन्धतां प्रतिपद्यन्ते । ४ क्लिन्नगु– आ०, ब०, मु० । ५ कर्मण्यप्यौ– आ०, ब०, द०, मु० । ६ अत एव कर्मणां समूहः कार्मणम्, सर्वेषां तत्तुल्यमिति चोद्यं युक्तम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतरथा ह्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः ।१६। यदि कार्मणमनिमित्तमिति गृह्येत; अनिर्मोक्षः स्यात्, अहेतुकस्य विनाशहेतुत्वाभावात्[1] ।

अशरीरं विशरणाभावादिति चेत्; न; उपचयापचयधर्मत्वात् ।१७। स्यादेतत्–यथौदारिकादि शीर्यत इति शरीरं न तथा कार्मणं शीर्यत इत्यशरीरत्वमस्येति; तन्न; किं कारणम् ? उपचयापचयधर्मत्वात् । निमित्तवशाद्धि कर्मायव्ययौ सततं स्त इति विशरणमस्त्येव ।

तद्ग्रहणमादाविति चेत्; न; तदनुमेयत्वात् ।१८। स्यादेतत्–कार्मणग्रहणमादौ कर्तव्यम् । कुतः ? तदधिष्ठानत्वादितरेषामिति ? तन्न; किं कारणम्; तदनुमेयत्वात् । यथा घटादिकार्योपलब्धेः[2]परमाण्वनुमानं तथौदारिकादिकार्योपलब्धेः कार्मणानुमानम् *"**कार्यलिङ्गं हि कारणम्**" [आप्तमी० श्लो० ६८] इति ।

तत एव कर्मणो मूर्तिमत्त्वं सिद्धम् ।१९। यस्मात् मूर्तिमदस्य कार्यं तत एव कर्मणः कारणस्य मूर्तिमत्त्वं सिद्धम् । न ह्यमूर्तेनात्मगुणेन निष्क्रियेणाऽदृष्टेन मूर्तिमतः क्रियावतो द्रव्यस्यारम्भो युक्त इति ।

औदारिकग्रहणमादावतिस्थूलत्वात् ।२०। अतिस्थूलमिदमौदारिकमिन्द्रियग्राह्यत्वात्, ततोऽस्य ग्रहणमादौ क्रियते ।

उत्तरेषां क्रमः सूक्ष्मक्रमप्रतिपत्त्यर्थः ।२१। उत्तरेषां वैक्रियिकादीनां पाठक्रमः सूक्ष्मक्रमप्रतिपत्त्यर्थो वेदितव्यः । वक्ष्यते हि '**परं परं सूक्ष्मम्**' इति ।

यथौदारिकस्येन्द्रियैरुपलब्धिस्तथेतरेषां कस्मान्न भवतीति ? अत आह–

परं परं सूक्ष्मम् ॥३७॥

परशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातो व्यवस्थार्थगतिः ।१। परशब्दोऽयमनेकार्थवचनः । क्वचिद्व्यवस्थायां[3] वर्तते–यथा पूर्वः पर इति । क्वचिदन्यार्थे वर्तते–यथा परपुत्रः परभार्येति अन्यपुत्रोऽन्यभार्येति गम्यते । क्वचित्प्राधान्ये वर्तते–यथा परमियं कन्या अस्मिन् कुटुम्बे प्रधानमिति गम्यते । क्वचिदिष्टार्थे वर्तते–यथा परं धाम गत इष्टं धाम गत इत्यर्थः । तत्रेह विवक्षातो व्यवस्थार्थो गृह्यते ।

पृथग्भूतानां शरीराणां सूक्ष्मगुणेन वीप्सा[4]निर्देशः ।२। संज्ञा-लक्षण-प्रयोजनादिभिः पृथग्भूतानां शरीराणां सूक्ष्मगुणेन वीप्सानिर्देश क्रियते 'परं परम्' इति ।

यदि परं परं सूक्ष्मं प्रदेशतोऽपि नूनं परं परं हीनमिति विपरीतप्रतिपत्तिनिवृत्त्यर्थमाह–

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥३८॥

प्रदेशाः परमाणवः ।१। **प्रदिश्यन्ते** इति प्रदेशाः परमाणवः, ते हि घटादिष्ववयवत्वेन प्रदिश्यन्ते[5] । 'प्रदिश्यन्ते एभिरिति वा प्रदेशाः, तर्हि आकाशादीनां क्षेत्रादिविभागः प्रदिश्यते । प्रदेशेभ्यः प्रदेशतः *"**अपादानेऽहीयरुहोः**" [जैनेन्द्र० ४।२।५०] इति तसिः । प्रदेशैर्वा प्रदेशतः तसि प्रकरणे *"**आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्**" [जैनेद्र० वा० ४।२।४९] इति तसिः ।

संख्यानातीतोऽसंख्येयः ।२। संख्यानं गणनमतीतो यः सोऽसंख्येयः, असंख्येयो गुणोऽस्य तदिदमसंख्येयगुणम् ।

---

१ आकाशदिवत् । २ परमाण्वाद्यनु –आ०, ब०, द०, मु० । ३ अवधिनियमो व्यवस्था । ४ आप्तुमिच्छा । व्याप्तुमिच्छा वीप्सा इत्यर्थः –सम्पा० । ५ निरूप्यन्ते । ६ प्रदिश्यते अ०, मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परं परमित्यनुवृत्तेः प्राक् तैजसादिति वचनम् ।३। 'परं परम्' इत्यनुवर्तते, तेन आकार्मणादसंख्येयगुणत्वे प्राप्ते मर्यादानिर्णयार्थं प्राक् तैजसादित्युच्यते ।

प्रदेशत इति विशेषणमवगाह[2]क्षेत्रनिवृत्त्यर्थम् ।४। प्रदेशतः परं परमसंख्येयगुणं नावगाहक्षेत्रत इत्येतस्य प्रतिपत्त्यर्थं 'प्रदेशतः' इति विशेषणमुपादीयते । तेनैतदुक्तं भवति–औदारिकाद्वैक्रियिकमसंख्येयगुणप्रदेशं वैक्रियिकादाहारकमसंख्येयगुणप्रदेशमिति । को गुणकारः ? पल्योपमस्यासंख्येयभागः ।

उत्तरोत्तरस्य महत्त्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; प्रचयविशेषादयःपिण्डतूलनिचयवत् ।५। स्यान्मतम्–यद्युत्तरोत्तरमसंख्येयगुणप्रदेशं परिमाणमहत्त्वेनापि भवितव्यमिति ? तन्न; किं कारणम् ? प्रचयविशेषादयःपिण्डतूलनिचयवत् । यथा अयःपिण्डस्य बहुप्रदेशत्वेऽपि अल्पपरिमाणत्वं[1] तूलनिचयस्य चाल्पप्रदेशत्वेऽपि महापरिमाणत्वं प्रचयविशेषात्, तथा उत्तरस्य शरीरस्यासंख्येयगुणप्रदेशत्वेऽपि अल्पपरिमाणत्वं बन्धविशेषाद्वेदितव्यम् ।

उक्तं प्राक् तैजसात् परं परमसंख्येयगुणमिति, अथोत्तरयोः किं समप्रदेशत्वमुतास्ति कश्चिद्विशेषः ? अस्तीत्याह–

अनन्तगुणे परे ॥३९॥

प्रदेशत इत्यनुवर्तते । तेनैवमभिसम्बन्धः क्रियते आहारकात्तैजसं प्रदेशतोऽनन्तगुणं तैजसात् कार्मणं प्रदेशतोऽनन्तगुणमिति । को गुणकारः ? अभव्यानामनन्तगुणः सिद्धानामनन्तभागः ।

अनन्तगुणत्वादुभयोस्तुल्यत्वमिति चेत्; न; अनन्तस्यानन्तविकल्पत्वात्[3] ।१। स्यादेतत्-अनन्तगुणत्वादुभयोस्तैजसकार्मणयोस्तुल्यत्वमिति; तन्न; किं कारणम् ? अनन्तस्यानन्त[3]विकल्पत्वात् । अनन्तो ह्यनन्तविकल्पः संख्येयस्य संख्येयविकल्पवत् ।

आहारकादुभयोरनन्तगुणत्वमिति चेत्; न; परं परमित्यभिसंबन्धात् ।२। स्यान्मतम्–आहारकादुभयोरनन्तगुणत्वमेव गम्यते न तैजसात् कार्मणस्यानन्तगुणत्वम्, अतस्तयोस्तुल्यप्रदेशत्वं प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? परं परमित्यभिसंबन्धात्[4] परं परमनन्तगुणमिति गम्यते ।

परस्मिन् सत्यारातीयस्यापरत्वात् परापर इति निर्देशः ।३। परं कार्मणं तस्मिन् सति तैजसमपरं भवत्यतः परापरे इति निर्देशो न्याय्यः ।

न वा; बुद्धिविषयव्यापारात् ।४। न वैष दोषः । किं कारणम् ? बुद्धिविषयव्यापारात् । न शब्दोच्चारणक्रमेण तैजसकार्मणयोः परव्यपदेशः । किं तर्हि ? बुद्ध्या तैजसकार्मणे तिर्यग्व्यवस्थाप्य आहारकात् 'परे इति व्यपदेशः ।

व्यवहिते वा परशब्दप्रयोगात् ।५। अथवा व्यवहिते परशब्दप्रयोगो दृश्यते यथा परा पाटलिपुत्रात् मथुरेति, तथा आहारकात्तैजसस्य परत्वम्, तैजसेन व्यवहितस्यापि कार्मणस्य परत्वमिति ।

बहुद्रव्योपचितत्वात्तदुपलब्धिप्रसङ्ग इति चेत्; न; उक्तत्वात् ।६। स्यादेतत्–बहुद्रव्योपचितत्वात् तैजसकार्मणयोरुपलब्धिः[7] प्राप्नोतीति ? तन्न; किं [8]कारणम् ? उक्तत्वात् । उक्तमेतत्–प्रचयविशेषात् सूक्ष्मपरिणाम इति ।

---

१ तस्समयबद्धवग्गणओगाहो सूइअंगुलासंख । भागहिदविंदअंगुलमुवरुवरिं तेण भजिदकमा । २ अवगाहक्षेत्रस्य । ३ –विकल्पात् आ०, ब०, द०, मु० । ४ संबन्धत्वात् आ०, ब०, द०, मु० । ५ समानपङ्क्त्या । ६ समुच्चयेन । ७ दर्शनमित्यर्थः । ८ कारणमुक्तमेतत् आ०, ब, द०, मु० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्रैतत् स्यात्–शल्यकवन्मूर्तिमद्द्रव्योपचितत्वात् संसारिणो जीवस्याभिप्रेतगतिनिरोधप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम् ? यस्मादुभे अप्येते–

अप्रतीघाते ॥४०॥

[1]**प्रतीघातो मूर्त्यन्तरेण व्याघातः** ।१। मूर्तिमतो मूर्त्यन्तरेण व्याघातः प्रतीघात इत्युच्यते।

[2]**तदभावः सूक्ष्मपरिणामादयःपिण्डे तेजोऽनुप्रवेशवत्** ।२। यथा अयःपिण्डस्यान्तःसूक्ष्मपरिणामात्तेजोऽनुप्रवेशो दृष्टस्तथा तैजसकार्मणयोरपि नास्ति वज्रपटलादिषु व्याघात इत्यप्रतीघाते इत्युच्यते ।

वैक्रियिकाहारकयोरप्यप्रतीघात इति चेत्; नः सर्वत्र विवक्षितत्वात् ।३। स्यान्मतम्–वैक्रियिकाहारकयोरपि प्रतीघातो नास्ति सूक्ष्मपरिणामादेव, तत्र किमुच्यते तैजसकार्मणे एवाप्रतीघाते इति ? तन्न; किं कारणम् ? सर्वत्र विवक्षितत्वात् । आलोकान्तात् सर्वत्र तैजसकार्मणयोर्नास्ति प्रतीघात इत्ययं विशेषो [3]विवक्षितः, वैक्रियिकाहारकयोस्तु न [4]तथा, अस्ति प्रतीघातः[5] ।

आह किमेतावानेव विशेष आहोस्वित् कश्चिदन्योऽप्यस्ति इति ? अत आह–

अनादिसम्बन्धे च ॥४१॥

अथवा, अनादित्वादात्मनः शरीरस्यादिमत्वाद्विकरणस्य[6] आदिशरीरसम्बन्धः किंकृतः इति ? अत आह–अनादिसम्बन्धे चेति । चशब्दः किमर्थः ?

चशब्दो विकल्पार्थः ।१। चशब्दो विकल्पार्थो वेदितव्यः, अनादिसंबन्धे सादिसंबन्धे चेति। कथमिति चेत् ? उच्यते–

बन्धसन्तत्यपेक्षया अनादिः सम्बन्धः सादिश्च विशेषतो बीजवृक्षवत् ।२। यथा वृक्षो बीजादुत्पन्नः, तच्च बीजमपरस्माद् वृक्षात्, स चापरस्माद्बीजादिति कार्यकारणसंबन्धसामान्यापेक्षया अनादिसंबन्धः, अस्माद बीजादयं वृक्षोऽस्माच्च[7] वृक्षादिदं बीजमिति विशेषापेक्षया सादिः। एवं तैजसकार्मणयोरपि पौनर्भविकनिमित्तनैमित्तिकसन्तत्यपेक्षया अनादिसंबन्धः, विशेषापेक्षया सादिरिति ।

एकान्तेनादिमत्त्वे अभिनवशरीरसंबन्धाभावो निर्निमित्तत्वात् ।३। यस्यैकान्तेनादिमान् शरीरसंबन्धः तस्य प्रागात्यन्तिकीं शुद्धिमादधतो जीवस्याभिनवशरीरसंबन्धो न स्यात् । कुतः ? निर्निमित्तत्वात् ।

मुक्तात्माभावप्रसङ्गश्च ।४। यद्येकान्तेन सादिसंबन्धः; [8]यथा आदिशरीरमकस्मात् संबध्यते एवं मुक्तात्मनोऽप्याकस्मिकशरीरसंबन्धः स्यादिति मुक्तात्माभावप्रसङ्गः स्यात् ।

एकान्तेनानादित्वे चानिर्मोक्षप्रसङ्गः ।५। अथैकान्तेनानादित्वं कल्प्यते; एवमपि यस्यानादित्वं तस्यान्तोऽपि नास्तीत्याकाशवत् कार्यकारणसंबन्धाभावात्, ततश्चानिर्मोक्षः प्रसजति ।

---

१ प्रतिघा– आ०, ब०, द० । २ अ० प्रतौ नास्त्येतत् वार्तिकचिह्नाङ्कितम् –सम्पा० । ३ ततः सर्वत्राप्रतीघाते इति व्याख्येयम्, सोपस्काराणि सूत्राणीत्यभिधानात् । ४ तथानास्ति आ०, ब०, द०, अ० । ५ त्रसनाल एवावस्थानात् । ६ अतीन्द्रियस्यात्मनः । ७ –स्माद् –अ० । ८ यथा सादिश– आ०, ब, द०, मु० । यथा शरीर– आ०, मू०, ता० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ननु चानादेरपि बीजवृक्षसन्तानस्याग्निसम्बन्धे सत्यन्तो दृष्टः; न; तस्यैकान्तेनाऽनादित्वाभावात्। बीजवृक्षौ हि विशेषापेक्षया आदिमन्ताविति। तस्मात् साधूक्तं केनचित्प्रकारेण अनादिः सबन्धः, केनचित्प्रकारेणादिमानिति।

त एते तैजसकार्मणे किं कस्यचिदेव भवतः उताऽविशेषेणेति? अत आह––

सर्वस्य ॥४२॥

सर्वशब्दो निरवशेषवाची ।१। निरवशेषस्य संसारिणो जीवस्य ते द्वे अपि शरीरे भवत इत्यर्थः।

संसरणधर्मसामान्यादेकवचननिर्देशः ।२। संसरणधर्मसामान्ययोगादेकवचननिर्देशः क्रियते। यदि हि कस्यचित् संसारिणस्ते न स्यातां संसारित्वमेवास्य न स्यात्।

अविशेषाभिधानात्तैरौदारिकादिभिः सर्वस्य संसारिणो यौगपद्येन संबन्धप्रसङ्गे संभविशरीरप्रदर्शनार्थमिदमुच्यते––

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥४३॥

तद्ग्रहणं प्रकृतशरीरद्वयप्रतिनिर्देशार्थम् ।१। प्रकृते द्वे शरीरे तैजसकार्मणे, तत्प्रतिनिर्देशार्थं तदित्युच्यते।

आदिशब्देन [1]व्यवस्थावाचिना शरीरविशेषणम् ।२। पूर्वसूत्रे व्यवस्थितानां शरीराणामानुपूर्व्यप्रतिपादनेन आदिशब्देन विशेषणं क्रियते, ते आदिर्येषां तानीमानि तदादीनीति।

[2]**पृथक्त्वादेव तेषां भाज्यग्रहणमनर्थकमिति चेत्; न; एकस्य द्वित्रिचतुःशरीरसंबन्धविभागोपपत्तेः ।३।** स्यान्मतम्–भाज्यानि पृथक् कर्तव्यानीत्यर्थः, तान्यौदारिकादीनि परस्परत आत्मनश्च पृथग्भूतान्येव लक्षणभेदादतो भाज्यग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम्? एकस्य द्वित्रिचतुःशरीरसंबन्धविभागोपपत्तेः। कस्यचिदात्मनो द्वे तैजसकार्मणे, अपरस्य त्रीणि औदारिकतैजसकार्मणानि वैक्रियिकतैजसकार्मणानि वा, अन्यस्य चत्वारि औदारिकाऽऽहारकतैजसकार्मणानीति विभागः क्रियते।

युगपदिति कालैकत्वे ।४। 'युगपत्' इत्ययं निपातः कालैकत्वे द्रष्टव्यः, एकस्मिन् काले। कालभेदे तु पञ्चापि भवन्त्येव[3]।

आङभिविध्यर्थः ।५। आङयमभिविध्यर्थो द्रष्टव्यः, तेन चत्वार्यपि कस्यचिद्भवन्ति। मर्यादायां सत्यां चत्वारि न स्युः। अथ पञ्च युगपत् कस्मान्न भवन्तीति?

वैक्रियिकाहारकयोर्युगपदसंभवात् पञ्चाभावः ।६। यस्य संयतस्याहारकं न तस्य वैक्रियिकम्, यस्य देवस्य नारकस्य वा वैक्रियिकं न तस्याहारकमिति युगपत् पञ्चानामसंभवः।

पुनरपि तेषां शरीराणां विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह––

---

१ क्रम। २ औदारिकं वैक्रियिकमित्यादि, अथवा आत्मनः सकाशात्। ३ कश्चिद् देवो मनुष्यगतिमवाप्य दीक्षामुपादाय प्रमत्तसंयतः सन् आहारकशरीरं निर्वर्तयति। तस्य देवचरस्य संयतस्य अपेक्षया पञ्चापि भवन्ति घृतघटवत्। प्रमत्तसंयतस्य आहारकवैक्रियिकशरीरोदयत्वेऽपि तयोरेककाले प्रवृत्त्यभावात् एकतरत्यागेन युगपदौदारिकतैजसकार्मणाहारकाणि चत्वारि, वैक्रियिकं वा अस्तित्वमाश्रित्य पञ्चापि भवन्ति। तदुक्तम्–आहारयवेगुव्वियकिरिया ण समं पमत्तविरदम्मि। जोगोवि एक्ककाले एक्केव य होदि णियमेण॥ इति। लब्धिप्रत्ययवैक्रियिकापेक्षया योज्यम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरुपभोगमन्त्यम् ॥४४॥

सूत्रक्रमापेक्षया अन्ते भवमन्त्यं कार्मणम्, निरुपभोगमिति वचनात् अर्थादापन्नमेतदितराणि सोपभोगानीति ।

कर्मादाननिर्जरासुखदुःखानुभवनहेतुत्वात् सोपभोगमिति चेत्; न; विवक्षितापरिज्ञानात् ।१। स्यान्मतम्–कार्मणकाययोगेन कर्मादत्ते निर्जरयति च, सुखदुःखं चानुभवति, ततः सोपभोगमेव न निरुपभोगमिति ? तन्न; किं कारणम् ? विवक्षितापरिज्ञानात् । विवक्षितमुपभोगमपरिज्ञाय परेणेदं [1]चोदितम् । कोऽसौ विवक्षित उपभोगः ?

इन्द्रियनिमित्तशब्दाद्युपलब्धिरुपभोगः ।२। इन्द्रियप्रणालिकया शब्दादीनामुपलब्धिरुपभोग इत्युच्यते । विग्रहगतौ सत्यामपीन्द्रियोपलब्धौ द्रव्येन्द्रियनि[2]र्वृत्त्यर्थाभावात् शब्दादिविष[3]यानुभवनाभावान्निरुपभोगं कार्मणमिति कथ्यते ।

ननु तैजसमपि निरुपभोगं तत्र किमुच्यते निरुपभोगमन्त्यमिति ? अत आह––

तैजसस्य योगनिमित्तत्वाभावादनधिकारः ।३। तैजसं शरीरं योगनिमित्तमपि न भवति ततोऽस्योपभोगविचारेऽनधिकारः । ततो योगनिमित्तेषु शरीरेष्वन्त्यं निरुपभोगं सोपभोगानीतराणीत्ययमर्थोऽत्र विवक्षितः ।

तत्राम्नातलक्षणेषु जन्मस्वमूनि शरीराणि प्रादुर्भावमापद्यमानानि किमविशेषेण भवन्ति उत कश्चिदस्ति प्रतिविशेषः ? अस्तीत्याह––

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥४५॥

सूत्रक्रमापेक्षया आदौ भवमाद्यमौदारिकमित्यर्थः । यद् गर्भजं यच्च संमूर्च्छनजं तत्सर्वमौदारिकं द्रष्टव्यम् ।

तदनन्तरं यन्निर्दिष्टं तत्कस्मिन् जन्मनीति ? अत आह––

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥४६॥

उपपादे भवमौपपादिकम्, [4]अध्यात्मादित्वात् इकः । यदौपपादिकं तत्सर्वं वैक्रियिकं वेदितव्यम् ।

यद्यौपपादिकं वैक्रियिकमनौपपादिकस्य वैक्रियिकत्वाभाव इति ? अत आह––

लब्धिप्रत्ययं च ॥४७॥

वैक्रियिकमित्यभिसंबध्यते ।

प्रत्ययशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातः कारणगतिः ।१। अयं प्रत्ययशब्दोऽनेकार्थः । क्वचिज्ज्ञाने वर्तते, यथा अर्थाभिधानप्रत्यया इति । क्वचित्सत्यतायां वर्तते, प्रत्ययं कुरु सत्यं कुर्वित्यर्थः । क्वचित्कारणे वर्तते मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः प्रत्यया इति । तत्रेह विवक्षातः कारणपर्यायवाची वेदितव्यः ।

तपोविशेषर्द्धिप्राप्तिर्लब्धिः ।२। तपोविशेषाद् ऋद्धिप्राप्तिर्लब्धिरित्युच्यते । लब्धिः प्रत्ययो यस्य तल्लब्धिप्रत्ययम् । अथ लब्ध्युपपादयोः को विशेषः ?

---

१ चोदितं अ० मू० । २ निर्वृत्त्यभा– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ३ –थानुभवनाभा– आ०, ब०, मु० । ४ "अध्यात्मादेः ठञिष्यते" –पा०, सू०, वा०, ४।३।६० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निश्चयकादाचित्ककृतो[1] विशेषो लब्ध्युपपादयोः ।३। उपपादो हि निश्चयेन भवति जन्मनिमित्तत्वात्, लब्धिस्तु कादाचित्की[2] जातस्य सत उत्तरकालं तपोविशेषाद्यपेक्षत्वादिति, अयमनयोर्विशेषः ।

सर्वशरीराणां विनाशित्वाद्वैक्रियिकविशेषानुपप[3]त्तिरिति चेत्; न; विवक्षितापरिज्ञानात् ।४। स्यान्मतम्–विक्रिया विनाशः, सा च सर्वशरीराणां साधारणी मुहुर्मुहुरुपचयापचयधर्मत्वादुच्छेदाच्च[4], ततो न वैक्रियिके कश्चिद्विशेषोऽस्तीति ? तन्न; किं कारणम् ? विवक्षितापरिज्ञानात् । नात्र विक्रियेति विनाशो विवक्षितः । किं तर्हि ? विविधकरणं विक्रिया । सा द्वेधा–एकत्वविक्रिया पृथक्त्वविक्रिया चेति । तत्रैकत्वविक्रिया स्वशरीरादपृथग्भावेन सिंहव्याघ्रहंसकुररादिभावेन विक्रिया । पृथक्त्वविक्रिया स्वशरीरादन्यत्वेन प्रासादमण्डपादिविक्रिया । सा उभयी च विद्यते भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिनाम् । वैमानिकानाम्[5] आसर्वार्थसिद्धेः प्रशस्तरूपैकत्वविक्रियैव । नारकाणां त्रिशूलचक्रासिमुद्गरपरशु[6]भिण्डिवालाद्यनेकायुधैकत्वविक्रिया न पृथक्त्वविक्रिया आ षष्ठ्याः । सप्तम्यां महागोकीटकप्रमाणलोहितकुन्थुरूपैकत्वविक्रिया, नानेकप्रहरणविक्रिया, न च पृथक्त्वविक्रिया । तिरश्चां मयूरादीनां कुमारादिभावं[7] प्रतिविशिष्टैकत्वविक्रिया न पृथक्त्वविक्रिया । मनुष्याणां तपोविद्यादिप्राधान्यात् [8]प्रतिविशिष्टैकत्वपृथक्त्वविक्रिया ।

किमेतदेव लब्ध्यपेक्षमुतान्यदप्यस्ति इति ? अत आह––

तैजसमपि ॥४८॥

ननु च वैक्रियिकानन्तरमाहारकं वक्तव्यम्, अकालप्राप्तं तैजसं किमर्थमिहोच्यते ?

लब्धिप्रत्ययापेक्षार्थं तैजसग्रहणम् ।१। लब्धिप्रत्ययमित्यनुवर्तते, तदभिसमीक्ष्येह तैजसग्रहणं क्रियते ।

वैक्रियिकानन्तरं यदुपदिष्टं तस्य स्वरूपनिर्धारणार्थं स्वामिनिदर्शनार्थं चाह––

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥४९॥

शुभकारणत्वाच्छुभव्यपदेशोऽन्नप्राणवत् ॥१॥ यथा [9]प्राणकारणेषु अन्नेषु प्राणव्यपदेशः 'अन्नं वै प्राणाः' इति, तथा [10]शुभकर्मण आहारककाययोगस्य कारणत्वादाहारकं शरीरं शुभमित्युच्यते ।

विशुद्धकार्यत्वाद्विशुद्धाभिधानं कार्पासतन्तुवत् ।२। यथा कार्पासकार्येषु तन्तुषु कार्पासव्यपदेशः कार्पासास्तन्तव इति । तथा विशुद्धस्य पुण्यकर्मणोऽशबलस्य निरवद्यस्य कार्यत्वाद्विशुद्धमित्याख्यायते ।

उभयतो व्याघाताभावादव्याघाति ।३। न ह्याहारकशरीरेणान्यस्य व्याघातो नाप्यन्येनाहारकस्येत्युभयतो व्याघाताभावादव्याघातीति व्यपदिश्यते ।

चशब्दस्तत्प्रयोजनसमुच्चयार्थः ।४। तस्य प्रयोजनसमुच्चयार्थश्चशब्दः क्रियते । तद्यथा

---

१ –कादाचित्कीकृतो आ०, ब०, मु० । २ –चित्कीतिजा– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ३ –पपत्तेरिति श्र० । ४ मरणकाले । ५ कल्पातीतानाम् । ६ –भिण्डिपाला– मू० । ७ यो वृद्धो मयूरः स कुमारत्वेन विकरोतीत्यादि योज्यम् । ८ प्रतिविशेषैक– श्र० । ९ बसः । अन्नकारणेषु प्राणेषु अन्नव्यप– आ०, ब०, द०, ज०, ता०, श्र०, मू० । १० शुभव्यापारस्य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कदाचिल्लब्धिविशेषसद्भावज्ञानार्थं कदाचित्सूक्ष्मपदार्थनिर्धारणार्थं संयमपरिपालनार्थं च भरतैरावतेषु केवलिविरहे जातसंशयस्तन्निर्णयार्थं महाविदेहेषु केवलिसकाशं जिगमिषुरौदारिकेण मे महानसंयमो भवतीति [1]विद्वानाहारकं निर्वर्तयति ।

आहारकमिति प्रागुक्तस्य प्रत्याम्नायः ।५। एवं प्रकारमाहारकमित्येतस्य प्रतिपादनार्थं पुनस्तस्य प्रत्याम्नायः क्रियते ।

प्रमत्तसंयतग्रहणं स्वामिविशेषप्रतिपत्त्यर्थम् ।६। यदा आहारकशरीरं निर्वर्तयितुमारभते तदा प्रमत्तो भवतीति प्रमत्तसंयतस्येत्युच्यते ।

इष्टतोऽवधारणार्थमेवकारोपादानम् ।७। यथैवं विज्ञायते (येत) 'प्रमत्तसंयतस्यैवाहारकं नान्यस्य' इति, मैवं विज्ञायि 'प्रमत्तसंयतस्याहारकमेव' इति, माभूदौदारिकादिनिवृत्तिरिति ।

एषां शरीराणां परस्परतः संज्ञा-स्वालक्षण्य-स्वकारण-स्वामित्व-सामर्थ्य-प्रमाण-क्षेत्र-स्पर्शन-काला-ऽन्तर-संख्या-प्रदेश-भावा-ऽल्पबहुत्वादिभिर्विशेषोऽवसेयः ।८। उक्तानुक्तार्थसंग्रहार्थमिदं वाक्यम् । तत्र संज्ञातोऽन्यत्वमौदारिकादीनां घटपटादिवत् ।

स्वालक्षण्यान्नानात्वम्–स्थौल्यलक्षणमौदारिकम् । विविधर्द्धिगुणयुक्त[2]विकरणलक्षणं वैक्रियिकम् । दुरधिगमसूक्ष्मपदार्थतत्त्वनिर्णयलक्षणमाहारकम् । शङ्खधवलप्रभालक्षणं तैजसम् । तद्द्विविधम्–निःसरणात्मकमितरच्च । औदारिकवैक्रियिकाहारकदेहाभ्यन्तरस्थं देहस्य दीप्तिहेतुरनिःसरणात्मकम् । यतेरुग्रचारित्रस्यातिक्रुद्धस्य जीवप्रदेशसंयुक्तं[3] बहिर्निष्क्रम्य दाह्यं परिवृत्यावतिष्ठमानं [4]निष्पावहरितफलपरिपूर्णां स्थालीमग्निरिव पचति, पक्त्वा च निवर्तते, अथ चिरमवतिष्ठते [5]अग्निसाद् दाह्योऽर्थो भवति, तदेतन्निःसरणात्मकम् । सर्वकर्मशरीरप्ररो[6]हणलक्षणं कार्मणम् ।

स्वकारणतोऽन्यत्वम्–औदारिकशरीरनामकारणमौदारिकम्, वैक्रियिकशरीरनामकारणं वैक्रियिकम् । आहारकशरीरनामकारणमाहारकम्, तैजसशरीरनामकारणं तैजसम्, कार्मणशरीरनामकारणं कार्मणम् ।

स्वामिभेदादन्यत्वम्–औदारिकं तिर्यङ्मनुष्याणाम्, वैक्रियिकं देवनारकाणाम्, तेजोवायुकायिकपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां च केषाञ्चित् ।

आह चोदकः–जीवस्थाने योगभङ्गे सप्तविधकाययोगस्वामिप्ररूपणायाम् * [7]"**औदारिककाययोगः औदारिकमिश्रकाययोगश्च तिर्यङ्मनुष्याणाम्, वैक्रियिककाययोगो वैक्रियिकमिश्रकाययोगश्च देवनारकाणाम्**" [षट् खं०] "उक्तः, इह तिर्यङ्मनुष्याणामपीत्युच्यते; तदिदमार्षविरुद्धमिति; अत्रोच्यते–न, अन्यत्रोपदेशात् । व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषु[8]शरीरभङ्गे-

---

१ जानन् । २ पुरुषैः । –युक्तविकरणं वै– आ०, ब०, व, मु० । ३ –संयुक्तं आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ४ निष्पावहरितपरिपूर्णां आ०, ब०, द० । निष्पावकहरितपरिपूर्णं मु० । निष्पावः अवरे– (कर्नाटकप्रान्ते धान्यविशेषे रूढोऽयम्) । ५ भस्मीकृतदाह्यार्थः । ६ –हल– आ०, ब०, द०, मु० । ७ "ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो तिरिक्खमणुस्साणं । वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो देवणेरइयाणं ।" –षट्खं० सं० सू० ५७, ५८ । ८ तुलना– "वेउव्वियसरीरप्पयोगबंधे णं भंते, कतिविहे पन्नत्ते ? गोयमा, दुविहे पन्नते, तं जहा– एगिंदियवेउव्वियसरीरप्पयोगबंधे य पंचिंदियवेउव्वियसरीरप्पयोगबंधे य । (सू० ३४८) तत्र एगिंदियवेउव्विए त्यादि वायुकायिकापेक्षमुक्तं पंचिंदिए– त्यादि तु पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्यदेवनारकापेक्षमिति' 'वैक्रियकरणलब्धिं वा प्रतीत्य, एतच्च वायुपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्यानपेक्ष्योक्तम्......" –व्याख्याप्रज्ञ० अभ० पृ० ७७३–।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वायोरौदारिकवैक्रियिकतैजसकार्मणानि चत्वारि शरीराण्युक्तानि [1]मनुष्याणां पञ्च। एवमप्यार्षयोस्तयोर्विरोधः; न विरोधः; आभिप्रायकत्वात्। जीवस्थाने सर्वदेवनारकाणां सर्वकालं वैक्रियिकदर्शनात् तद्योगविधिरित्यभिप्रायः, नैवं तिर्यङ्मनुष्याणां लब्धिप्रत्ययं वैक्रियिकं सर्वेषां सर्वकालमस्ति कादाचित्कत्वात्। व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषु त्वस्तित्वमात्रमभिप्रेत्योक्तम्।

आहारकं प्रमत्तसंयतस्य। तैजसकार्मणे सर्वसंसारिणाम्।

सामर्थ्यतोऽन्यत्वम्–औदारिकस्य सामर्थ्यं द्वेधा भवगुणप्रत्ययत्वात्। तिर्यङ्मनुष्याणां सिंहाष्टापदचक्रधरवासुदेवादीनां प्रकृष्टावकृष्टवीर्यदर्शनाद्भवप्रत्ययम्। प्रकृष्टतपोबलानामृषीणां यच्छरीरविकरणसामर्थ्यं तद् गुणप्रत्ययम्। तपःसामर्थ्यं तदिति चेत्; न; औदारिकशरीरादृते तपसः केवलस्य शरीरविकरणसामर्थ्याभावात्। वैक्रियिकस्य सामर्थ्यं मेरुप्रचलनसकलमहीमण्डलोद्वर्तनादि। आहारकस्य सामर्थ्यमप्रतिहतवीर्यता। वैक्रियिकस्याप्यप्रतिहतसामर्थ्यं वज्रपटलादिष्वप्रतिघातदर्शनादिति चेत्; न; इन्द्रसामानिकादीनां प्रकर्षाप्रकर्षदर्शनात्, अनन्तवीर्ययतिना चेन्द्रवीर्यस्य प्रतिघातश्रुतेः सप्रतिघातसामर्थ्यं वैक्रियिकम्। सर्वाणि चाहारकशरीराणि तुल्यवीर्यत्वादप्रतिहतत्वाच्च अप्रतिघातवीर्याणि। तैजसस्य सामर्थ्यं कोपप्रसादापेक्षं दाहानुग्रहरूपम्। कार्मणस्य सामर्थ्यं सर्वकर्मावकाशदानम्।

प्रमाणतोऽन्यत्वम्–सर्वजघन्येनाङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणं सूक्ष्मनिगोतौदारिकम्, उत्कर्षेण साधिकयोजनसहस्रप्रमाणं नन्दीश्वरवापीपद्मौदारिकम्। वैक्रियिकं मूलशरीरतो जघन्येनारत्निप्रमाणं सर्वार्थसिद्धिदेवस्य, उत्कर्षेण पञ्चधनुःशतप्रमाणं तमस्तमःप्रभायां नारकस्य। विक्रिययोत्कर्षेण जम्बूद्वीपप्रमाणं वैक्रियिकं शरीरं विकरोति देवः। आहारकमरत्निप्रमाणम्। तैजसकार्मणे जघन्येन यथोपात्तौदारिकशरीरप्रमाणे, उत्कर्षेण केवलिसमुद्घाते सर्वलोकप्रमाणे।

क्षेत्रतोऽन्यत्वम्–औदारिकवैक्रियिकाहारकाणि लोकस्यासंख्येयभागक्षेत्रे। तैजसकार्मणे लोकस्यासंख्येयभागे असंख्येयेषु वा भागेषु सर्वलोके वा प्रतरलोकपूरणयोः।

स्पर्शनतोऽन्यत्वम्–औदारिकादानीम् एकजीवं प्रति वक्ष्यामः। औदारिकेण तिर्यग्भिः[2] सर्वलोकः स्पृष्टः। मनुष्यैः लोकस्यासंख्येयभागः। मूलवैक्रियिकशरीरेण लोकस्यासंख्येयभागः उत्तरवैक्रियिकेणाऽष्टौ चतुर्दशभागा देशोनाः। कथम्? सौधर्मदेवः स्वपरप्राधान्यादारणाच्युतविहारात् षड्रज्जूर्गच्छति। स्वप्राधान्यात् अध आवालुकपृथिव्या द्वे रज्जू इति। आहारकेण लोकस्यासंख्येयभागं स्पृशति। तैजसकार्मणाभ्यां सर्वलोकम्।

कालतोऽन्यत्वम्–एकं जीवं प्रति वक्ष्यामः। मिश्रकं वर्जयित्वौदारिकस्य तिर्यङ्मनुष्याणां जघन्येनान्तर्मुहूर्तः, उत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमान्यन्तर्मुहूर्तोनानि। स चान्तर्मुहूर्तोऽपर्याप्तकालः। वैक्रियिकस्य देवान् प्रति मूलवैक्रियिकदेहस्य जघन्येन दशवर्षसहस्राणि अपर्याप्तकालान्तर्मुहूर्तोनानि, उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अपर्याप्तकालान्तर्मुहूर्तोनानि। उत्तरवैक्रियिकस्य जघन्य उत्कृष्टश्चाऽन्तर्मुहूर्तः। तीर्थकरजन्मनन्दीश्वरार्हदायतनादिपूजासु कथमिति चेत्? पुनः पुनर्विकरणात् सन्तत्यविच्छेदः। आहारकस्य कालो जघन्य उत्कृष्टश्चाऽन्तर्मुहूर्तः। तैजसकार्मणयोः सन्तत्यादेशाद् अभव्यान् प्रत्यनादिरपर्यवसानः कालः, भव्यांश्च कांश्चित् प्रति ये अनन्तेनापि कालेन न सेत्स्यन्ति। ये सेत्स्यन्ति तान् प्रत्यनादिः सपर्यवसानः। एकसमयिकः निषेकं प्रति। तैजसस्य षट्षष्टिसागरोपमाणि। कार्मणस्य कर्मस्थितिः सप्ततिसागरोपमकोटिकोटयः।

---

१ – णां च एव आ०, ब०, द०, मु०। २ जीवैः।

[1]अन्तरतोऽन्यत्वम्–औदारिकादीनामेकजीवं प्रति वक्ष्यामि। मिश्रकं वर्जयित्वौदारिकस्यान्तर्मुहूर्तोऽन्तरं जघन्यम्। कतरोऽन्तर्मुहूर्तः ? औदारिकमिश्रकालोऽन्तर्मुहूर्तः। कथम् ? इह चातुर्गतिकः तिर्यङ्मनुष्येषूत्पन्नोऽन्तर्मुहूर्तमपर्याप्तको भूत्वा पर्याप्तकत्वं प्राप्याऽन्तर्मुहूर्तं जीवित्वा मृतः, पुनस्तिर्यङ्मनुष्ययोरन्यतरत्रोत्पन्नः अपर्याप्तिमान्तर्मुहूर्तिकीमनुभूय पर्याप्तको जातः, लब्धमौदारिकान्तरम्। उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि। कथम् ? यो मनुष्यस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुष्केषु देवेषूत्पद्य स्थितिक्षये प्रच्युतः पुनर्मनुष्येषूत्पद्यते तस्य योऽपर्याप्तिकालस्तेनाधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि।

वैक्रियिकस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तः। कथम् ? मनुष्यस्तिर्यग्वा मृतः दशवर्षसहस्रायुष्कदेवेषूत्पद्य च्युतः मनुष्येषु तिर्यक्षु चोत्पद्य अपर्याप्तकालमनुभूय पुनर्देवायुर्बद्ध्वा उत्पद्यते, लब्धमन्तरम्। वैक्रियिकस्योत्कर्षेणान्तरमनन्तकालः। कथम् ? देवत्वाच्च्युतोऽनन्तकालं तिर्यङ्मनुष्येष्वटित्वा देवो जातः, अपर्याप्तकालमनुभूय वैक्रियिकशरीरो[2] दृष्टः, लब्धमन्तरम्।

आहारकस्यान्तरं जघन्यमन्तर्मुहूर्तः। प्रमत्तसंयत आहारकं निर्वर्त्यान्तर्मुहूर्तमाहारकेण स्थितः [3]कृताहारकशरीरकार्यं उपसंहृत्य पुनर्लब्धिसन्निधानादन्तर्मुहूर्तमवस्थाय निर्वर्तयतीति लब्धमन्तरम्। उत्कर्षेणार्धपुद्गलपरिवर्तः अन्तर्मुहूर्तोनः। कथम् ? योऽनादि[4]मिथ्यादृष्टिः दर्शनमोहमुपशम्योपशमसम्यक्त्वं संयमं च युगपत्प्रतिपन्न उपशमसम्यक्त्वाच्च्युतो वेदकसम्यक्त्वेनोत्पद्य अन्तर्मुहूर्तं स्थितः सन्नप्रमत्तसंयतस्थाने आहारकं बद्ध्वा ततः प्रमत्तसंयतो निर्वर्त्य [5]मूलशरीरं प्रविश्य मिथ्यात्वं गतः, सोऽर्धपुद्गलपरिवर्तं देशोनमटित्वा मनुष्येषूत्पद्य पूर्वविधिना सम्यक्त्वमुत्पाद्याऽसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतयोरन्यतरत्र दर्शनमोहं क्षपयित्वा संयमं प्रतिपद्याप्रमत्त आहारकस्य बन्धकः प्रमत्तो निर्वर्तयतीति लब्धमन्तरम्। अत्र[6] ये प्राथमिकाश्चत्वारोऽन्तर्मुहूर्तास्ते[7] कतरे ? प्रथमो दर्शनमोहोपशमसम्यक्त्वसमानकालसंयमान्तर्मुहूर्तः। द्वितीयो वेदकसम्यक्त्वान्तर्मुहूर्तः। तृतीय आहारकबन्धान्तर्मुहूर्तः। चतुर्थ आहारकनिर्वृत्त्यन्तर्मुहूर्तः। एते चत्वार आद्या अन्तर्मुहूर्ताः, उत्तरकालमाहारकशरीरनिर्वृत्त्यन्तर्मुहूर्तः पञ्चमः मूलशरीरं प्रविश्य प्रमत्ताप्रमत्ताभ्यां बहून् वाराननुभवतो बहवोऽन्तर्मुहूर्ता अतोऽधःप्रवृत्तकरणविशुद्धया विशुद्धो विश्रान्तः। अपूर्वकरणानिवृत्तिसूक्ष्मसाम्परायक्षीणकषायसयोगयोगिनामेकैकोऽन्तर्मुहूर्तः। इयता कालेन हीनोऽर्धपुद्गलपरिवर्तः।

तैजसकार्मणयोर्नास्त्यन्तरं सर्वसंसारिषु सर्वकालं सन्निधानात्।

संख्यातोऽन्यत्वम्–औदारिकाण्यसंख्येया लोकाः। वैक्रियिकाण्यसंख्याताः श्रेणयो [8]लोकप्रतरस्यासंख्येयभागः। आहारकाणि संख्येयानि चतुःपञ्चाशत्। तैजसकार्मणान्यनन्तानि[9] अनन्तानन्तलोकाः।

प्रदेशतोऽन्यत्वम्–औदारिकस्यानन्ताः प्रदेशाः[10] अभव्यानामनन्तगुणाः सिद्धानामनन्तभागाः। एवं शेषाणां चतुर्णामपि शरीराणाम्, अनन्तस्यानन्तविकल्पत्वात्[11]उदुत्तरोत्तराण्य-

१ अन्तरेऽन्य– आ०, ब०, द०, मु०, ता०। २ बसः। ३ प्रकृता– आ०, ब०, द०, मु०। ४ मिथ्यादर्शन– आ०, ब०, द०, मु०। ५ आहारकशरीरम्। ६ अन्तरकाले। ७ –हूर्ताः क– अ०, मू०। ८ अणिरपि कतरेत्यत आह। ९ कोऽर्थः। १० परमाणवः। ११ प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् अनन्तगुणे परे इत्युक्तम्। कथमेषां समानत्वमित्याशङ्कायामाह।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धिकानि,[1] आधिक्यपरिमाणं प्रागुक्तम् ।

भावतोऽन्यत्वम्–औदारिकादिस्वशरीरनामोदयात् सर्वाण्यौदयिकभावानि[2] ।

अल्पबहुत्वतोऽन्यत्वम्–सर्वतः स्तोकान्याहारकाणि, वैक्रियिकाण्यसंख्येयगुणानि । को गुणाकारः ? असंख्याताः श्रेणयः, लोकप्रतरस्यासंख्येयभागाः । तत औदारिकाणि असंख्येयगुणानि । को गुणकारः ? असंख्येया[3] लोकाः । तैजसकार्मणान्यनन्तगुणानि । को गुणकारः ? सिद्धानामनन्तगुणाः ।

आत्माधिश्रितकार्मणनिमित्तविजृम्भितानि शरीराणि बिभ्रतां संसारिणां चातुर्विध्यवतामिन्द्रियसंबन्धं प्रति विकल्पभाजां प्रति प्राणिनः किं त्रिलिङ्गसन्निधानम् उत लिङ्गनियमः कश्चिदस्तीति ? अत उत्तरं पठति–

नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥५०॥

धर्मार्थकाममोक्षकार्यनरणान्नराः ।१। धर्मार्थकाममोक्षलक्षणानि कार्याणि नृणन्ति[4] नयन्तीति नराः ।

नरान् कायन्तीति नरकाणि ।२। शीतोष्णासद्वेद्योदयापादितवेदनया नरान् [5]कायन्ति शब्दायन्त इति नरकाणि ।

नृणन्तीति वा ।३। अथवा पापकृतः प्राणिन आत्यन्तिकं दुःखं नृणन्ति नयन्तीति नरकाणि । औणादिकः कर्तर्यकः ।

नरकेषु भवा नारकाः । संमूर्च्छनं संमूर्च्छः, स एषामस्तीति संमूर्च्छिनः । नारकाश्च संमूर्च्छिनश्च नारकसंमूर्च्छिनः ।

नपुंसकवेदाशुभनामोदयान्नपुंसकानि ।४। चारित्रमोहविकल्पनोकषायभेदस्य नपुंसकवेदस्याशुभनाम्नश्चोदयान्न स्त्रियो न पुमांस इति नपुंसकानि भवन्ति । नारकसंमूर्च्छिनो नपुंसकान्येवेति नियमः । तत्र हि स्त्रीपुंसविषया मनोज्ञशब्दगन्धरूपरसस्पर्शसंबन्धनिमित्ता [6]स्वल्पापि सुखमात्रा नास्ति ।

यद्येवमवध्रियते अर्थादापन्नमेतदुक्तेभ्योऽन्ये ये संसारिणः तेषां त्रिलिङ्गत्वमिति, यत्रात्यन्तनपुंसकलिङ्गस्याभावस्तत्प्रतिपादनार्थमाह–

न देवाः ॥५१॥

स्त्रीपुंसविषयनिरतिशयसुखानुभवनाद् देवेषु नपुंसकाभावः ।१। स्त्रैणं पौंस्नं च यन्निरतिशयं सुखं शुभगतिनामोदयापेक्षं तदेवानुभवन्तीति न तेषु नपुंसकानि सन्ति । तच्चोपरि वक्ष्यते ।

अथेतरे कियल्लिङ्गा इति ? अत आह–

शेषास्त्रिवेदाः ॥५२॥

त्रयो वेदा येषां ते त्रिवेदाः । के पुनस्ते ? स्त्रीत्वं पुंस्त्वं नपुंसकत्वमिति । कथं तेषां सिद्धिः ?

---

१ एवमप्यनधिकानीति नाशङ्कनीयम्, गुणकारभागहारायोः प्रकर्षाप्रकर्षभावयोगादेवमुक्तम् । २ –भावाः आ०, ब०, द०, मु० । ३ –ख्येयलो– ता०, श्र० । ४ नॄ नये क्र्यादिः, तस्य प्वादित्वात् प्वां ह्रस्व इति ह्रस्वः । ५ कै गै रै शब्दे ऐधादिकः । शब्दादेः कृञ् वा इति वयङ । ६ –अल्पापि आ०, ब०, द०, मु० ।

नामकर्मचारित्रमोहनोकषायोदयाद्वेदत्रयसिद्धिः ।१। नामकर्मणश्चारित्रमोहविकल्पस्य नोकषायस्य चोदयाद्वेदत्रयस्य सिद्धिर्भवति। वेद्यत[1] इति वेदो लिङ्गमित्यर्थः। तल्लिङ्गं द्विविधम्–द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं चेति। नामकर्मोदयाद् योनिमेहनादि द्रव्यलिङ्गं भवति। नोकषायोदयाद्भावलिङ्गम्। तत्र स्त्रीवेदोदयात् [2]स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति स्त्री। पुंवेदोदयात् सूते जनयत्यपत्यमिति पुमान्। नपुंसकवेदोदयात् तदुभयशक्तिविकलं नपुंसकम्। रूढिशब्दाश्चैते। रूढिषु च क्रिया व्युत्पत्त्यर्थैव, यथा गच्छतीति गौरिति। इतरथा हि गर्भधारणादिक्रियाप्राधान्ये बालवृद्धानां तिर्यङ्मनुष्याणां देवानां कार्मणकाययोगस्थानां च तदभावात् स्त्रीत्वादिव्यपदेशो न स्यात्। तत्र हि स्त्रीवेदो[3] दारुवह्निवत्, पुंवेदस्तृणाग्निवत्, इष्टकाग्निवन्नपुंसकवेदः। ते एते त्रयोऽपि वेदाः शेषाणां गर्भजानां भवन्ति।

य इमे जन्मयोनिशरीरलिङ्गसंबन्धाहितविशेषाः प्राणिनो [4]निर्दिश्यन्ते देवादयो विचित्रधर्माधर्मवशीकृताश्चतसृषु गतिषु शरीराणि धारयन्तः किं यथाकालमुपभुक्तायुषो मूर्त्यन्तराण्यास्कन्दन्ति उत अयथाकालमपीति ? अत उत्तरं पठति–

औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥५३॥

औपपादिका उक्ताः ।१। उक्ता व्याख्याता औपपादिका देवनारका इति

चरमशब्दस्यान्तवाचित्वात्तज्जन्मनि निर्वाणार्हग्रहणम् ।२। चरमशब्दोऽन्तपर्यायवाची। चरमो देहो येषां त इमे चरमदेहा इति परीतसंसारास्तज्जन्मनि निर्वाणार्हा गृह्यन्ते।

उत्तमशब्दस्योत्कृष्टवाचित्वाच्चक्रधरादिग्रहणम् ।३। अयमुत्तमशब्द उत्कृष्टवाची, उत्तमो देहो येषां त इमे उत्तमदेहा इति चक्रधरादिग्रहणं वेदितव्यम्।

उपमाप्रमाणगम्यायुषोऽसंख्येयवर्षायुषः ।४। अतीतसंख्यानमुपमाप्रमाणेन पल्यादिना गम्यमायुर्येषां त इमेऽसंख्येयवर्षायुषस्तिर्यङ्मनुष्या[5] उत्तरकुर्वादिषु प्रसूताः।

बाह्यप्रत्ययवशादायुषो ह्रासोऽपवर्तः ।५। बाह्यस्योपघातनिमित्तस्य [6]विषशस्त्रादेः सति सन्निधाने ह्रासोऽपवर्त इत्युच्यते। अपवर्त्यमायुर्येषां त इमे अपवर्त्यायुषः, नापवर्त्यायुषोऽनपवर्त्यायुषः। एते औपपादिकादय उक्ता अनपवर्त्यायुषाः, न हि तेषामायुषो बाह्यनिमित्तवशादपवर्तोऽस्ति।

अन्त्यचक्रधरवासुदेवादीनामायुषोऽपवर्तदर्शनादव्याप्तिः ।६। उत्तमदेहाश्चक्रधरादयोऽनपवर्त्यायुषः इत्येतल्लक्षणमव्यापि। कुतः ? अन्तस्य चक्रधरस्य ब्रह्मदत्तस्य वासुदेवस्य च कृष्णस्य अन्येषां च तादृशानां बाह्यनिमित्तवशादायुरपवर्तदर्शनात्।

न वा; चरमशब्दस्योत्तमविशेषणत्वात् ।७। न वैष दोषः। किं कारणम् ? चरमशब्दस्योत्तमविशेषणत्वात्। चरम उत्तमो देहो येषां ते चरमोत्तमदेहा इति।

---

१ अनुभूयते। २ धनीभवति, स्त्यै संघाते। ३ –दो दारुमङ्गारवत् ता०। –दोऽङ्गारवत् आ०, ब०, द०, मु०, मू०। अङ्गारवदिति वा पाठः –श्र० टि०। ४ निरदिसन्त इति वा पाठः –श्र० टि०। निरदिश्यन्त आ०, ब०, द०, मु०। ५ –ष्याणामु– आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ६ उक्तञ्च– विषास्त्रघातभीरक्तक्षयसङ्क्लेशवेदनाः। आहारोच्छ्वासरोधाः स्युः आयुष्यच्छेदकारिण इति। विसवेयणरत्तक्खयभयसत्यग्गहणसंकिलेसेहिं। आहारुस्सासाणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ॥

उत्तमग्रहणमेवेति चेत्; न; तदनिवृत्तेः ।८। स्यादेतत्–उत्तमग्रहणमेवास्तु उत्तमदेहा इति ? तन्न; किं कारणम् ? तदनिवृत्तेः, यो दोष उक्तोऽव्याप्तिरिति स तदवस्थ एव तेषामप्युत्तमदेहत्वात् ।

चरमग्रहणमेवेति चेत्; न; तस्योत्तमत्वप्रतिपादनार्थत्वात् ।९। स्यान्मतम्–चरमग्रहणमेवास्तु चरमदेहा इति, नार्थ उत्तमग्रहणेनेति; तन्न; किं कारणम् ? तस्योत्तमत्वप्रतिपादनार्थत्वात् । स हि चरमो देहः सर्वेषामुत्तम इत्यर्थः प्रतिपाद्यते । चरमदेहा इति वा केषाञ्चित् पाठः[1] । एतेषां नियमेनायुरनपवर्त्यमितरेषामनियमः ।

अप्राप्तकालस्य मरणानुपलब्धेरपवर्ताभाव इति चेत्; न; दृष्टत्वादाम्रफलादिवत् ।१०। यथा अवधारितपाककालात् प्राक् सोपायोपक्रमे सत्याम्रफलादीनां दृष्टः पाकस्तथा परिच्छिन्नमरणकालात् प्रागुदीरणाप्रत्यय[2] आयुषो भवत्यपवर्तः ।

आयुर्वेदसामर्थ्याच्च ।११। यथा अष्टाङ्गायुर्वेदविद्भिषक् प्रयोगे अतिनिपुणो यथाकालवाताद्युदयात् प्राक् वमनविरेचनादिना अनुदीर्णमेव श्लेष्मादि निराकरोति, अकालमृत्युव्युदासार्थं रसायनं चोपदिशति, अन्यथा रसायनोपदेशस्य वैयर्थ्यम् । न[3]चादोऽस्ति ? अत आयुर्वेदसामर्थ्यादस्त्यकालमृत्युः ।

दुःखप्रतीकारार्थ इति चेत्; न; उभयथा दर्शनात् ।१२। स्यान्मतम्–दुःखप्रतीकारोऽर्थ आयुर्वेदस्येति ? तन्न; किं कारणम् ? उभयथा दर्शनात् । उत्पन्नानुत्पन्नवेदनयोर्हि[4] चिकित्सादर्शनात् ।

कृतप्रणाशप्रसङ्ग इति चेत्; न; दत्त्वैव फलं निवृत्तेः ।१३। स्यान्मतम्–यद्यकालमृत्युरस्ति कृतप्रणाशः [5]प्रसज्येत इति; तन्न; किं कारणम् ? दत्त्वैव फलं निवृत्तेः,नाकृतस्य कर्मणः फलमुपभुज्यते, न च कृतकर्मफलविनाशः, अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्, दानादिक्रियारम्भाभावप्रसङ्गाच्च । किन्तु कृतं कर्म कर्त्रे फलं दत्त्वैव निवर्तते विततार्द्रपटशोषवत् अयथाकालनिर्वृत्तः[6] पाक इत्ययं विशेषः ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे द्वितीयोऽध्यायः[7] समाप्तः ।

---

१ "चरमदेहा इति वा पाठः" –स०, सि०,२।५३। तुलना– 'औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः । (सू०) औपपातिकाः चरमदेहा उत्तमपुरुषाः···" –त० भा०, २।५२ । २ अनुदयप्राप्तानां कर्मणामभिघातेनोदय उदीरणम् । ३ न चादो–आ०, ब०, द०, मु० । ४ दुःखयोः । ५ प्रसज्यते आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ६ –निवृत्तः अ०, मू० । ७ –यः । आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीयोऽध्यायः

मोक्षमार्गे त्रिविधेऽधिकृते आदावुपदिष्टस्य सम्यग्दर्शनस्य विषयप्रदर्शनार्थं जीवादिपदार्थोपदेशे कर्तव्ये जीवा निर्दिष्टाः। इदानीं तदधिष्ठानव्याख्यानप्रसङ्गेन लोकविभागो वक्तव्यः। स पुनस्त्रिविधः—अधोलोकस्तिर्यग्लोक ऊर्ध्वलोकः। तत्र क्रमप्राप्तस्याऽधोलोकस्य वर्णनार्थमुच्यते। अथवा संवेगहेतुत्वात् ताः[1] नारकीः शीतोष्णनिमित्ताः सुतीव्रवेदनाः श्रुत्वाऽयं कथं संविग्नः स्यादिति प्रथममधोलोक उच्यते। अथवा, "भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्" [त० सू० १।२१] इत्येवमादिषु नारकाः श्रुताः, ततः पृच्छति के ते नारका इति? तत्प्रतिपादनार्थं तदधिकरणनिर्देशः क्रियते—

रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥१॥

रत्नादीनामितरेतरयोगे[2] द्वन्द्वः ।१। रत्नं च शर्करा च वालुका च पङ्कश्च धूमश्च तमश्च महातमश्च रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमांसीति इतरेतरयोगे द्वन्द्वो द्रष्टव्यः।

प्रभाशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुजिवत् ।२। यथा देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यन्तामिति प्रत्येकं भुजिः परिसमाप्यते, एवं प्रभाशब्दस्यापि प्रत्येकं परिसमाप्तिर्वेदितव्या—रत्नप्रभा शर्कराप्रभा वालुकाप्रभा पङ्कप्रभा धूमप्रभा तमःप्रभा महातमःप्रभा चेति।

साहचर्यात्ताच्छब्द्यसिद्धिर्यष्टिवत् ।३। यथा यष्टिसहचरितो देवदत्तो यष्टिरित्युच्यते तथा चित्र-वज्र-वैडूर्य-लोहिताक्षमसार-गल्व-गोमेद-प्रवाल-ज्योती-रसाञ्जनमूलकाङ्क-[3]स्फटिक-चन्दन-वर्वक-बकुल-[4]शिलामयाख्यषोडशधापरिक्लृप्तरत्नप्रभासहचरितत्वात् रत्नप्रभा भूमिः। शर्कराप्रभासहचरिता शर्कराप्रभा। वालुकाप्रभासहचरिता वालुकाप्रभा। पङ्कप्रभासहचरिता पङ्कप्रभा। धूमप्रभासहचरिता धूमप्रभा। तमःप्रभासहचरिता तमःप्रभा। महातमःप्रभासहचरिता महातमःप्रभेति।

तमःप्रभेति विरुद्धमिति चेत्; न; स्वात्मप्रभोपपत्तेः ।४। स्यान्मतम्—तमोऽन्धकारः प्रभा प्रकाश इति विरुद्धावेतावर्थौ—यदि तमो न प्रभा, अथ प्रभा न तमः, तमःप्रभेत्यभिधानमनुपपन्नमिति; तन्न; किं कारणम्? स्वात्मप्रभोपपत्तेः। न दीप्तिरूपैव प्रभा। किं तर्हि? द्रव्याणां स्वात्मैव [5]मृजा प्रभा [6]यत्सन्निधानात् मनुष्यादीनामयं संव्यवहारो भवति [7]स्निग्धकृष्णप्रभमिदं [8]रूक्षकृष्णप्रभमिदमिति, [9]ततस्तमसोऽपि स्वात्मैव कृष्णा प्रभा अस्तीति नास्ति विरोधः। [10]बाह्यप्रकाशापेक्षा सेति चेत्; अविशेषप्रसङ्गः स्यात्।

---

१ स नार– आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता०। २ अविभूतावयवभेद इतरेतरः। ३ लोहितलेख– भा० १। ३ –स्फाटिक आ०, ता०, श्र०, मू०। ४ –शिलोमया– ता०, श्र०, मु०। ५ शुद्धा, ता० टि०। ६ ता० प्रतौ यत्सन्निधानात् इत्यादि भवतीत्यन्तो भागः वार्तिकचिह्नेन चिह्नितो वर्तते। ७ स्नसकादि। ८ मञ्जनादि। ९ –भमिति ततस्तमःप्रभेति भेदे रुढि– आ०, ब०, द०, मु०। १० सा कृष्णप्रभा बाह्यभूतसूर्यप्रकाशादिसन्निधानाद् दृश्यते। भवतु नाम का नो हानिः। तर्हि नारकाणां कथम्? ध्योध्रोलूकादिवद् द्रष्टव्यम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनादिपारिणामिकसंज्ञानिर्देशाद्वा इन्द्रगोपवत् ।५। यथा इन्द्रगोप इति कस्यचिज्जन्तोः संज्ञा अनादिः स्वाभाविकी । न ह्यसौ इन्द्रं गोपायतीति इन्द्रगोपः । एवं तमःप्रभादिसंज्ञा अपि अनादिपारिणामिक्यो वेदितव्याः ।

भेदे रूढिशब्दानामगमकत्वमवयवार्थाभावादिति चेत्; न; सूत्रस्य प्रतिपादनोपायत्वात् ।६। स्यादेतत्-यद्येते अनैमित्तिका रूढिशब्दा भेदे गमकत्वमेषां नास्ति । कुतः ? अवयवार्थाभावादिति; तन्न; किं कारणम् ? सूत्रस्य प्रतिपादनोपायत्वात् । तेषां संज्ञाशब्दानां प्रतिपादनोपायभूतमिदम्[1] । अस्मान्निबन्धन[2]स्थानाच्छब्दान्तराण्युपप्लवन्ते[3] यैरर्थाः संज्ञायन्ते ।

भूमिग्रहणमधिकरणविशेषप्रतिपत्त्यर्थम् ।७। यथा स्वर्गपटलानि भूमिमनाश्रित्य अवस्थितानि न तथा नारकावासाः । किं तर्हि ? भूमीराश्रित्य व्यवस्थिता इत्यधिकरणविशेषप्रतिपत्त्यर्थं भूमिग्रहणम् ।

घनाम्ब्वादिग्रहणं तदालम्बननिर्ज्ञानार्थम् ।८। तासां भूमीनामालम्बननिर्ज्ञानार्थं घनाम्ब्वादिग्रहणं क्रियते । [4]घनमेवाम्बु घनाम्बु । घनाम्बु च वातश्चाकाशं च [5]घनाम्बुवाताकाशानि, तानि प्रतिष्ठा आश्रयो यासां ता घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः । सर्वा एता भूमयः घनोदधिवलयप्रतिष्ठाः, घनोदधिवलयं घनवातवलयप्रतिष्ठम्, घनवातवलयं तनुवातवलयप्रतिष्ठम्, तनुवातवलयमाकाशप्रतिष्ठम्, आकाशमात्मप्रतिष्ठं तस्यैवाधाराधेयत्वात् । त्रीण्यप्येतानि वलयान्यन्वर्थसंज्ञानि प्रत्येकं विंशतियोजनसहस्रबा[6]हल्यानि । तत्र घनोदधयो मुद्गसन्निभाः, घनवाता गोमूत्रवर्णाः, अव्यक्तवर्णास्तनुवाताः ।

तत्र रत्नप्रभाया बाहल्यमेकं योजनशतसहस्रमशीतिश्च योजनसहस्राणि । तस्यास्त्रयो भागाः-खरपृथिवीभागः, पङ्कबहुलः, अब्बहुलश्चेति । तत्र चित्रादिषोडशधाप्रक्लृप्तरत्नाञ्चितः खरपृथिवीभागः, षोडशयोजनसहस्र[7]बहलः । पङ्कबहुलः चतुरशीतियोजनसहस्रबहलः । अब्बहुलोऽशीतियोजनसहस्रबहलः । तत्र खरपृथिवीभागस्योपर्यधश्चैकैकं[8] योजनसहस्रं परित्यज्य मध्यमभागेषु चतुर्दशसु योजनसहस्रेषु किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षभूतपिशाचानां सप्तानां व्यन्तराणां नागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराणां नवानां भवनवासिनां चावासाः । पङ्कबहुलभागे असुरराक्षसानामावासाः । अब्बहुलभागे नरकाणि । शर्कराप्रभायां[9] बाहल्यं द्वात्रिंशद्योजनसहस्राणि । ततोऽधोऽधस्तनानि चतुर्भिश्च चतुर्भिर्योजनसहस्रोनानि बाहल्यानि वेदितव्यानि आषष्ठ्याः । [10]सप्तम्याम् अष्टौ योजनसहस्राणि । सर्वासां तासामन्तराणि तिर्यक् चासंख्येया योजनकोटिकोट्यः ।

सप्तग्रहणमियत्तावधारणार्थम् ।९। यथा गम्येत सप्तैव नरकाधारा भूमयो नाष्टौ न[11] षट् चेति संख्यान्तरनिवृत्त्यर्थम् । [12]सन्ति हि केचित्तन्त्रान्तरीयाः-*"अनन्तेषु लोकधातुष्वनन्ताः

---

१ सूत्रम् । २ नियामकसूत्रात् । ३ उद्गच्छन्ति । ४ सान्द्रम् । ५ सर्वार्थसिद्धावेवं व्याख्यातम्-घनश्च घनो मन्दो महान् आयत इत्यर्थः । अम्बु च जलमुदकमित्यर्थः । वातशब्दोऽन्त्यदीपकः तत एवं सम्बन्धनीयः । घनो घनवातः । अम्बु अम्बुवातः । वातस्तनुवातः । महदपेक्षया तनुरिति सामर्थ्यगम्यः । अन्यः पाठः । सिद्धान्तपाठस्तु घनाम्बु च वातौ चेति वातशब्दः सोपस्क्रियते वातस्तनुवात इति वेति । ६ -बाहुल्याः- आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ७ -बहुलः आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ८ -कयोज- श्र० । ९ -भाया बाहुल्यं आ०, ब०, द०, मु० । १० सप्तम्या अ- आ०, ब०, द०, ता०, मु० । ११ न नव चेति श्र०, मू० ।

पृथिवीप्रस्ताराः'' [ ] इत्यध्यवसिताः । कथं तेषां निवृत्तिः ? स्याद्वादनीतिनिरूपितकर्मफलसंबन्धादिषु [1]युक्तिसद्भावात् आर्हतस्यागमस्य प्रामाण्यं न शेषाणां तदभावादिति ।

अधोऽधोवचनं तिर्यक्प्रचयनिवृत्त्यर्थम् ।१०। यथा गम्येत अधोऽध एव सप्तापि भूमयो न तिर्यक्प्रचयेनावस्थिता इति प्रतिपत्त्यर्थमधोऽधोग्रहणम् ।

सामीप्याभावाद् द्वित्वानुपपत्तिरिति चेत्; न; अन्तरस्याविवक्षितत्वात् ।११। स्यान्मतम्– प्रत्येकं भूमीनामन्तराण्यसंख्यातयोजनकोटीकोटिपरिमाणानि ततः सामीप्याभावाद् द्वित्वाभाव इति; तन्न; किं कारणम् ? अन्तरस्याविवक्षितत्वात् । कथमविवक्षा सतः ? सतोऽप्यविवक्षा भवति यथा अलोमिका एडका[2] अनुदरा कन्येति ।

तुल्यजातीयेनाव्यवधानं सामीप्यमिति वा ।१२। अथवा यदन्तरं तत्पूर्वोत्तरभागान्तःपातित्वात् सामीप्यमिति तद्द्योतनार्थं द्वित्वम् ।

'पृथुतराः' इति केषाञ्चित् पाठः ।१३।[3]केचिदत्र 'पृथुतराः' इति पठन्ति ।

अत्र तरनिर्देशः कुतः ? प्रकर्षाभावात्[4] ।१४। द्वयोर्द्वयो[5]र्बाऽभिसंबन्धे सति महत्त्वविशेषप्रख्यापनार्थस्तर[6]शब्दः । एवमपि रत्नप्रभायाः पृथुतराव्यपदेशो नास्ति [7]प्रतियोग्यभावात् । अपि च शर्कराप्रभादीनां प्रकर्षाभावः अधोऽधो हीनपरिमाणत्वात्[8] । तस्मादधोऽधः पृथुतरा इति व्यपदेशो नोपपद्यते ।

स्यादेतत्–अधोलोकस्य वेत्रासनसंस्थानस्याधोधः पृथुत्वप्रकर्षात् पृथुतरा इति व्यपदेश इति; तच्च न; भूमिभ्यो बहिस्तत्पृथुत्वम् । एवं ह्युक्तम्–*"**स्वयम्भूरमणसमुद्रान्तादवलम्बिता रज्जुः सप्तम्याः भूमेरवसाने पूर्वादिदिग्विभागावगाहिकालमहाकालरौरवमहारौरवान्ते पतति**" [ ] इति । अथापि कथञ्चित् स्यात् प्रकर्षः; तिर्यक् पृथुतरा इति वक्तव्यं स्यान्नाधोऽधः इति । अथापि कथञ्चिदनेन विशेषणेनार्थः, एवं ग्राह्यः[9] अधोऽधो वेदनाप्रकर्षप्रकर्षयोगादायुषोऽतिशयाद्वा तन्निमित्तस्य तद्व्यपदेशदर्शनात्, तत्संबन्धाद्वा भूमयः पृथुतरा इति व्यपदिश्यन्ते । एवमपि रत्नप्रभायां पृथुतराव्यपदेशो नोपपद्यत एव ।

अत्राह–किं ता भूमयो नारकाणां सर्वत्रावासा आहोस्वित् क्वचित् क्वचिदिति ? तन्निर्धारणार्थमाह–

तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥२॥

तासु रत्नप्रभादिषु भूमिषु नरकाण्यनेन संख्यायन्ते ।

त्रिंशदादीनां परस्पराभिसंबन्धे वृत्तिः ।१। त्रिंशदादीनां पदानां परस्पराभिसंबन्धे सति वृत्तिर्वेदितव्या । पञ्चभिरूनं पञ्चोनं पञ्चोनं च तदेकं च तत्पञ्चोनैकम् । त्रिंशच्च पञ्चविंशतिश्च पञ्चदश च दश च त्रीणि च पञ्चोनैकं च त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रि-

---

१–द्वियुषित द०, श्रा०, ब०, मु० । २ मेषाः–सम्पा० । ३ "···सप्ताधोऽधः पृथुतराः (सू०) ···सर्वाश्चैताः अधोऽधः पृथुतराश्छत्रातिछत्रसंस्थिताः···" –त० भा० ३।१। ४ रत्नप्रभायाः शर्कराप्रभा प्रकर्षेत्यादि । ५ –र्वा सम्ब– श्र० । ६ द्वयोर्विभज्ये च तरबिति । ७ रत्नप्रभायाः पूर्वं प्रतिनिधेरभावात् । ८ बाहल्यानाम् । ९ ग्राह्यमधो– श्रा०, ब०, द०, मु०, ता० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चोनैकानि। शतानां सहस्राणि शतसहस्राणि नरकाणां शतसहस्राणि नरकशतसहस्राणि, त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकानि च तानि नरकशतसहस्राणि च तानि त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि।

यथाक्रमवचनं यथासंख्याभिसंबन्धार्थम् ।२। यो यः क्रमो यथाक्रमम्, तस्य वचनं रत्नप्रभादिभिः, त्रिंशता(दा)दीनां यथासंख्याभिसंबन्धो यथा स्यादिति। तद्यथा–रत्नप्रभायां त्रिंशन्नरकशतसहस्राणि। शर्कराप्रभायां पञ्चविंशतिनरकशतसहस्राणि। वालुकाप्रभायां पञ्चदशनरकशतसहस्राणि। पङ्कप्रभायां दशनरकशतसहस्राणि। धूमप्रभायां त्रीणि नरकशतसहस्राणि। तमःप्रभायां पञ्चोनमेकं नरकशतसहस्रम्। महातमःप्रभायां पञ्च नरकाणि।

तत्र रत्नप्रभायां अब्बहुलभागे उपर्यधश्चैकैकं[1] योजनसहस्रं वर्जयित्वा मध्ये नरकाणि भवन्ति। तानि त्रिधा वर्ण्यन्ते, इन्द्रक-श्रेणि-पुष्पप्रकीर्णकविभागेन। [2]तत्र त्रयोदशनरकप्रस्ताराः, त्रयोदशैव इन्द्रकनरकाणि सीमन्तक-निरय-रौरुक्-भ्रान्त-उद्भ्रान्त-सम्भ्रान्त-असंभ्रान्त-विभ्रान्त-तप्त-त्रस्त-व्युत्क्रान्त-अवक्रान्त-विक्रान्तनामानि। शर्कराप्रभायामेकादश नरकप्रस्ताराः एकादशैवेन्द्रकनरकाणि–स्तनक-संस्तनक-वनक-मनक-घाट-संघाट-जिह्व-उज्जिह्विकालोल-लोलुक-स्तनलोलुकाख्यानि। वालुकाप्रभायां नव नरकप्रस्तारा नवैवेन्द्रकनरकाणि-तप्त-त्रस्त-तपन-आतपन-निदाघ-प्रज्वलित-उज्ज्वलित-संज्वलित-संप्रज्वलितसंज्ञकानि। पङ्कप्रभायां सप्तनरकप्रस्ताराः सप्तैवेन्द्रकनरकाणि–आर-मार-तार-वर्चस्क-वैमनस्क[3]-खड-अखडाख्यानि। धूमप्रभायां पञ्च नरकप्रस्ताराः–पञ्चैवेन्द्रकनरकाणि–तमो-भ्रम-झष-अन्ध-तमिस्राभिधानानि। तमःप्रभायां त्रयो नरकप्रस्ताराः–त्रीण्येवेन्द्रकनरकाणि हिम-वर्दल-लल्लकनामधेयानि। महातमःप्रभायामेको नरकप्रस्तारः, एकमेवेन्द्रकनरकमप्रतिष्ठानाख्यम्।

तत्र [4]सीमन्तकस्य चतसृषु दिक्षु चतस्रो नरकश्रेण्यो निर्गतास्तथा विदिक्ष्वपि। तदन्तरेषु पुष्पप्रकीर्णकनरकाणि। तत्रैकैकस्यां दिङ्नरकश्रेण्यामेकान्नपञ्चाशदेकान्नपञ्चाशन्नरकाणि। तथैकैकस्यां विदिङ्नरकश्रेण्याम् अष्टचत्वारिंशदष्टचत्वारिंशन्नरकाणि। एवं निरयादिष्वप्येकैकं परिहाप्य नेतव्यानि।

तत्र प्रथमायां पृथिव्यां श्रेणीन्द्रकनरकाणां संख्या चतुश्चत्वारिंशच्छतानि त्रयस्त्रिंशानि। पुष्पप्रकीर्णकानामेकान्नत्रिंशच्छतसहस्राणि पञ्चनवतिश्च सहस्राणि पञ्चशतानि सप्तषष्टयधिकानि। एतावुभावपि राशी संपिण्डितौ त्रिंशन्नरकशतसहस्राणि। द्वितीयायां श्रेणीन्द्रकनरकसंख्या षड्विंशतिशतानि पञ्चनवत्युत्तराणि। पुष्पप्रकीर्णकानां संख्या चतुर्विंशतिशतसहस्राणि सप्तनवतिसहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्च च। एतावुभावपि राशी संपिण्डितौ पञ्चविंशतिनरकशतसहस्राणि। तृतीयायां श्रेणीन्द्रकनरकसंख्या चतुर्दशशतानि पञ्चाशीत्यधिकानि। पुष्पप्रकीर्णकसंख्या चतुर्दशशतसहस्राणि अष्टानवतिसहस्राणि पञ्चशतानि पञ्चदशाधिकानि। एतावुभावपि राशी संपिण्डितौ पञ्चदशनरकशतसहस्राणि। चतुर्थ्यां श्रेणीन्द्रकनरकसंख्या सप्ताधिकानि सप्तशतानि। पुष्पप्रकीर्णकसंख्या नवनरकशतसहस्राणि नवनवतिश्च सहस्राणि द्वे शते त्रिनवत्युत्तरे। एतावुभावपि राशी संपिण्डितौ दशनरकशत-

---

१ –कं हि यो– अ०। २ तत्र रत्नप्रभायां त्रयो –आ०, ब०, मु०। ३ – खाडाखाडाख्या– ता०, आ०, ब०, द०। –खडाखडाख्या– मू०। ४ सीमन्तनरकस्य आ०, ब०, द०, मु०, ता०।

सहस्राणि। पञ्चम्यां श्रेणीन्द्रकनरकसंख्या द्वे नरकशते पञ्चषष्ट्यधिके। पुष्पप्रकीर्णकसंख्या द्वे शतसहस्रे नवनवतिश्च सहस्राणि सप्तशतानि पञ्चत्रिंशानि च। एतावुभावपि राशी सपिण्डितौ त्रीणि नरकशतसहस्राणि। षष्ठ्यां श्रेणीन्द्रकनरकसंख्या त्रिषष्टिनरकाणि। पुष्पप्रकीर्णकसंख्या नवनवतिनरकसहस्राणि नवशतानि द्वात्रिंशानि। एतावुभावपि राशी सपिण्डितौ नवनवतिसहस्राणि नवशतानि पञ्चनवत्युत्तराणि। सप्तम्यामिन्द्रकनरकमेकमप्रतिष्ठानं नाम। श्रेणीनरकाणि चत्वारि। प्राच्यां दिशि कालं प्रतीच्यां महाकालम् अपाच्यां रौरवम् उदीच्यां महारौरवम्। विदिक्श्रेणीनरकाणि न सन्ति। तान्येतानि पञ्च।

सर्वश्रेणीन्द्रकनरकसंख्या षण्णवतिर्नरकशतानि त्रिपञ्चाशानि। सर्वपुष्पप्रकीर्णकसंख्या त्र्यशीतिर्नरकशतसहस्राणि नवतिसहस्राधिकानि त्रीणि च शतानि सप्तचत्वारिंशानि। एतावुभावपि राशी सपिण्डितौ चतुरशीतिः नरकशतसहस्राणि।

तासु सप्तस्वपि पृथिवीषु कानिचिन्नरकाणि संख्येयविस्ताराणि कानिचिदसंख्येयविस्ताराणि। यानि संख्येयविस्ताराणि तानि संख्येययोजनशतसहस्रविस्ताराणि, यान्यसंख्येयविस्ताराणि तान्यसंख्येययोजनशतसहस्रविस्ताराणि। सर्वत्र च नरकाणां पञ्चमो[1] भागः संख्येयविस्ताराणां चत्वारो भागा असंख्येयविस्ताराणाम्। बाहल्यमुच्यते–

क्रोशः प्रथमपृथिव्याम्, इतरास्वर्धाधिकाः क्रमेणैव।
चत्वारः सप्तम्यां सर्वेन्द्रकनरकबाहल्यम्॥
स्वेन्द्रकबाहल्यं [2]स्वत्रिभागपरिवर्धितं तच्छ्रेण्याः।
श्रेणीन्द्रकबाहल्यसहितं ज्ञेयं प्रकीर्णकस्य॥

तान्येतानि नरकाणि उष्ट्रकाद्यशुभसंस्थानानि शोचनरोदनाक्रन्दनाद्यशुभनामानि वेदितव्यानि।

अथ तेषु सीमन्तकादिषु नरकेषु पापकर्मवशात् प्रादुर्भवन्तः प्राणिनः किंलक्षणा इति? अत आह–

नारका नित्याऽशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥३॥

लेश्यादिशब्दा उक्तार्थाः ।१। लेश्यादयः शब्दा उक्तार्था वेदितव्याः। लेश्या च परिणामश्च देहश्च वेदना च विक्रिया च लेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः। लोके प्रतियोग्यन्तरापेक्षया प्रकर्षो दृष्टः, इह अशुभतरा इति किमपेक्ष्य प्रकर्षनिर्देशः? उच्यते–

तिर्यग्व्यपेक्षोऽतिशयनिर्देशः ।२। तिरश्चामप्यशुभा लेश्यादयो नारकाणां च। ततः प्रकर्षेण नारकाणामित्यशुभतराः।

ऊर्ध्वापेक्षो वाऽधोगतानाम् ।३। अथवा ऊर्ध्वनरकाशुभतरलेश्याद्यपेक्षया अधोगतानां प्रकर्षो द्रष्टव्यः।

नित्यग्रहणाल्लेश्याद्यनिवृत्तिप्रसङ्ग इति चेत्; न; आभीक्ष्ण्यवचनत्वात् नित्यप्रहसितवत् ।४। स्यादेतत्–नित्यशब्दोऽयं कूटस्थेष्वविचलेषु भावेषु दृष्टः, यथा नित्या द्यौः नित्या पृथिवी नित्यमाकाशमिति, तथा लेश्यादीनामपि व्ययोदयाभावान्नित्यत्वे सति नरकादप्रच्यवः

---

१ पंचमभागपमाणा णिरयाणं हुंति संखविस्थारा। सेसचउपंचभागा असंखविस्थारया णिरया॥ इंदयसेढीबद्धं पइण्णयाणं कमेण विस्थारा। संखेज्जमसंखेज्जं उभयं च य जोइणाण हवे॥ इति। कहिय-पुव्वविसंखं तियचउसत्तेहि गुणिय छठभजिदे। कोसाणं वेहुलियं इंदियसेढीपइण्णाणं॥ २ सत्रिभा– मू०।

स्यादिति ? तन्न; किं कारणम् ? आभीक्ष्ण्यवचनान्नित्यप्रहसितवत् । यथा नित्यप्रहसितो देवदत्त इत्युच्यते योऽभीक्ष्णं प्रहसति, न च तस्य प्रहसनानिवृत्तिः, कारणे सति भावात् । तथा अशुभकर्मोदयनिमित्तवशात् लेश्यादयोऽनारतं प्रादुर्भवन्तीति आभीक्ष्ण्यवचनो नित्यशब्दः प्रयुक्तः । नित्यमशुभतरा नित्याशुभतराः सुप्सुपेति वृत्तिर्मयूरव्यंसकादित्वाद्वा । नित्याशुभतरा लेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रिया येषां त इमे नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ।

तत्राशुभतरलेश्या इति–प्रथमाद्वितीययोः कापोतलेश्या । तृतीयायामुपरिष्टात् कापोती अधो नीला । चतुर्थ्यां नीला । पञ्चम्यामुपरि नीला अधः कृष्णा । षष्ठ्यां कृष्णा । सप्तम्यां परमकृष्णा । एतेषां नारकाणां स्वायुःप्रमाणावधृता द्रव्यलेश्या उक्ताः, भावलेश्यास्तु षडपि प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तपरिवर्तिन्यः ।

अशुभतरपरिणामा इति-स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दपरिणामाः क्षेत्रविशेषनिमित्तवशादतिदुःखहेतवोऽशुभतराः ।

अशुभतरदेहा इति–तेषां शरीराण्यशुभनामप्रत्ययादशुभाङ्गोपाङ्गस्पर्शरसगन्धवर्णस्वराणि हुण्डसंस्थानानि[1] निर्लूनाण्डजशरीराकृतीनि क्रूरकरणबीभत्सप्रतिभयदर्शनानि । यथेह श्लेष्ममूत्रपुरीषमलरुधिरवसामेदःपूयवमनपूतिमांसकेशास्थिचर्माद्यशुभमौदारिकगतं ततोऽप्यतीवाशुभत्वं नारकाणां वैक्रियिकशरीरत्वेऽपि । तत्र रत्नप्रभायां नारकशरीरोत्सेधः सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः षट् चाङ्गुलयः । अधोऽधो द्विगुणद्विगुण उत्सेधः ।

अशुभतरवेदना इति–अभ्यन्तरासद्वेद्योदये सत्यनादिपारिणामिकशीतोष्णबाह्यनिमित्तजनिताः सुतीव्रवेदना भवन्ति नारकाणाम् । तद्यथा–निदाघे मध्याह्ने व्यभ्रे नभसि पटुतपनकिरणसन्तप्तदिगन्तराले दूरीकृतशीतवाते दवाग्निदाहो[2]द्दाहिपरुषसमीरणे रूक्षदेशे सर्वतो दीप्ताग्निशिखापरीतस्य तृष्णार्तस्य पित्तज्वरसंतापितशरीरस्य निष्प्रतीकारस्य यादृगुष्णजं दुःखं ततोऽप्यनन्तगुणमुष्णनरकेषु दुःखं भवति । माघमासे हिमानीपतनव्याप्तशीतदिगन्तराले नभसि प्रस्पन्दजलाप्लुतकर्दममहीतले रात्रौ शीतवातपातप्रस्फुरितगात्रकृतदन्तवीणस्य शीतज्वराभिभूततनोर्निरग्न्याश्रयप्रावरणस्य यादृक् शीतसमुद्भवं दुःखं ततोऽप्यनन्तगुणं कष्टं शीतनरकेषु दुःखं भवति । अथवा हिमवन्मात्रस्ताम्रगिरिरुष्णनरकेषु यदि निक्षिप्येत क्षिप्रमेव हि द्रवीभवेत् । स एवं द्रवीभूतः शीतनरकेषु यदि निक्षिप्येत अक्षिनिमेषमात्र एव घनः स्यादित्येवमनुमीयमानं शीतोष्णं तत्र वेदितव्यम् ।

प्रथमाद्वितीयातृतीयाचतुर्थीषूष्णवेदनान्येव नरकाणि । पञ्चम्यामुपरि उष्णवेदने द्वे नरकशतसहस्रे, अधः शीतवेदनानामेकं शतसहस्रम् षष्ठीसप्तम्योः शीतवेदनान्येव । सर्वसमुदायेन द्व्यशीतिनरकशतसहस्राणि उष्णवेदनानि, द्वे [3]नरकशतसहस्रे शीतवेदने ।

अशुभतरविक्रिया इति–शुभं करिष्याम इत्यशुभतरमेव विकुर्वन्ति । दुःखाभिभूतमनसश्च दुःखप्रतीकारचिकीर्षया गरीयस एव दुःखहेतून् विकुर्वन्ति । त एते भावा अधोऽधोऽशुभतराः वेदितव्याः ।

किमेषां नारकाणां शीतोष्णजनितमेव दुःखमुतान्यथापि भवतीति ? अत आह–

परस्परोदीरितदुःखाः ॥४॥

कथं परस्परोदीरितदुःखत्वम् ?

१ –निलूना– आ०, ब०, मु० । २ –द्दाहे प– श्र०, ता० । ३ नरके शत– मू०, श्र० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्दयत्वात् परस्परदर्शने सति कोपोत्पत्तेः श्ववत् ।१। यथा श्वानः शाश्वतिकाकारणानादिकालप्रवृत्तजातिकृतवैरापादितनिर्दयत्वात् परस्परभक्षणभेदनछेदना[1]द्युदीरितदुःखा भवन्ति, तथा नारका अपि भवप्रत्ययेनावधिज्ञानेन मिथ्यादर्शनोदयाद्विभङ्गव्यपदेशभाजा च दूरादेव दुःखहेतूनवगम्योत्पन्नदुःखाः प्रत्यासत्तौ परस्परालोकनाच्च प्रज्वलितकोपाग्नयः स्वविकृतासिवासीपरशुभिण्डिवालादिभिः परस्परदेहतक्षणभेदनछेदनपीडनादिभिरुदीरितदुःखा भवन्ति ।

किमेतावानेव दुःखोत्पत्तिकारणप्रकार उतान्योऽपि कश्चिदस्तीति ? अत आह—

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

पूर्वभवसंक्लेशपरिणामोपात्ताशुभकर्मोदयात् सततं क्लिष्टाः संक्लिष्टाः ।१। पूर्वजन्मनि भावितेनाति[2]तीव्रेण संक्लेशपरिणामेन यदुपार्जितं पापकर्म तस्योदयात् सततमविरतं क्लिष्टाः संक्लिष्टाः ।

असुरनामकर्मोदयादसुराः ।२। देवगतिनामकर्मविकल्पस्यासुरत्वसंवर्तनस्य कर्मण उदयादस्यन्ति परानित्यसुराः ।

संक्लिष्टविशेषणमन्यासुरनिवृत्त्यर्थम् ।३। न सर्वेऽसुरा नारकाणां दुःखमुत्पादयन्ति । किं तर्हि ? अम्बाम्बरीषादय एव केचनेति प्रदर्शनार्थं संक्लिष्टविशेषणम् ।

असुराणां गतिविषयनियमप्रदर्शनार्थं प्राक्चतुर्थ्या इति वचनम् ।४। तेषां संक्लिष्टानामसुराणां वेदनोदीरणकारणानां तिसृषु पृथिवीषु गतिर्नातः परमिति प्रदर्शनार्थं प्राक्चतुर्थ्या इत्युच्यते ।

आङो ग्रहणं लघ्वर्थमिति चेत्; न; संदेहात् ।५। स्यान्मतम्—आङत्र प्रयोक्तव्यः लघ्वर्थम् । स एव मर्यादां गमयतीति; तन्न; किं; कारणम् ? संदेहात् । अभिविधावपि आङ वर्तते मर्यादायामपि, ततः संदेहः स्यात्—'किं सह चतुर्थ्या उत ततः प्राग्' इति अतोऽसंदेहार्थं प्राग्वचनमेव युक्तम् ।

चशब्दः पूर्वहेतुसमुच्चयार्थः ।६। संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च पूर्वोक्तहेतूदीरितदुःखाश्चेति समुच्चयार्थश्चशब्दः, इतरथा हि तिसृषु भूमिषु पूर्वोक्तहेत्वभावः प्रतीयेत[3] ।

अनन्तरत्वादुदीरितग्रहणानर्थक्यमिति चेत्; न; तस्य वृत्तौ परार्थत्वात् ।७। स्यान्मतम्—अनन्तरमुदीरितग्रहणमस्ति तेनैवात्राभिसंबन्धः कर्तव्यः, अनर्थकं पुनरुदीरितग्रहणमिति; तन्न; किं कारणम् ? तस्य वृत्तौ परार्थत्वात् । स ह्युदीरितशब्दः वृत्तौ परार्थे [4]सन्नवस्थित इह संबद्धुमशक्यः ।

वाक्यवचनमिति चेत्; न; उदीरणहेतुप्रकार[5]प्रदर्शनार्थत्वात् ।८। स्यादेतत्—वाक्यमेव वक्तव्यं परस्परेणोदीरितदुःखाः संक्लिष्टासुरैश्च प्राक् चतुर्थ्या इति ? तन्न; किं कारणम् ? उदीरणहेतुप्रकार[6]प्रदर्शनार्थत्वात् । पुनरुदीरितग्रहणेनोदीरणकारणप्रकाराः प्रदर्श्यन्ते । तद्यथा-तप्तायोरसपायन-निष्टप्तायस्तम्भालिङ्गन-कूटशाल्मल्यारोहणावतरणा-ऽयोघनाभिघात-

१ –नाद्याहितदु– ब०, मु० । –नाद्युदितदु– द०, ता०, श्रा० । २ –नातिसं– श्रा०, ब०, द०, मु० । –नातितीव्रसं– ता० । ३ प्रतीयते श्रा०, ब०, द०, मु०, ता० । ४ संव्यव– श्रा०, ब०, द०, मु० । सत् व्यव– ता० । ५ –रद– श्रा०, ब०, द०, मु० । ६ –रदर्श– श्रा०, ब०, द०, मु०, ता० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वासीक्षुरतक्षण[1]-क्षरण-तप्ततैलावसेचना-ऽयःकुम्भीपाका-ऽम्बरीषभर्जन-यन्त्रपीलनैः शूलशलाकाव्यधन-क्रकचपाटना-ऽङ्गार[2]धाग्निवाहन-सूचीशाड्वलावकर्षणैः व्याघ्रर्क्षद्वीपिश्वशृगालवृककोकमार्जारनकुलाखुसर्पवायसगृध्रकङ्कोलूकश्येनादिखादनैः तप्तवालुकाविचरणा-ऽसिपत्रवन-[3]प्रवेशन-वैतरण्यवतारण-परस्पर[4]योधनादिभिश्च ते संक्लिष्टासुरा दुःखमुदीरयन्ति नारकाणाम् । किमर्थं त एवं कुर्वन्तीति चेत् ? पापकर्माभिरतत्वात्, यथा गोमहिषमेषवराहकुक्कुटवर्तिकालावकान्[5] मल्लांश्च युद्ध्यमानान् परस्परं घ्नतश्च दृष्ट्वा रागद्वेषमोहाभिभूतानाम् अकुशलानुबन्धिपुण्यानां नराणां प्रीतिरुत्पद्यते,तथा तेषामसुराणां नारकांस्तथा कारयतामन्योन्यं च घ्नतः पश्यतां परा प्रीतिरुत्पद्यते । तेषां सत्यपि देवत्वे मायानिदानमिथ्यादर्शनशल्यतीव्रकषायोपहतस्य अनालोचितभावदोषस्य अप्रत्यवमर्शस्य अकुशलानुबन्धस्य पुण्दस्य [6]कर्मणस्तपसश्च [7]सावद्यदोषानुकर्षिणस्तत्फलं यत् सत्स्वपि अनेकेषु प्रीतिहेतुषु अशुभा एव प्रीतिहेतव इति । एवं छेदभेदादिभिः शकलीकृतमूर्तीनामपि तेषां न मरणमकाले विद्यते । कुतः ? [8]"औपपादिका अनपवर्त्यायुषः" [ ] इति वचनात् । तेषां हि जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नं यावदायुरवबद्धं तावद्यथाकालमेव विपच्यते नोदीरण[9]प्रत्ययवशादपवर्त्यते ।

यद्येवं तदेव तावदुच्यतां नारकाणां कियदायुरिति ? अत आह—

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥६॥

सागरोपमेति कोऽयं शब्दः ? सागर उपमा यस्याः सेयं सागरोपमा । क उपमार्थः ?

सागरस्योपमात्वं द्रव्यभूयस्त्वात् ।१। यथा सागरो जलसमूहेन भूयसा युक्तस्तथा आयुःकर्मापि भवधारणकारणपुद्गलद्रव्यसमूहेन महता योगात् सागरेणोपमीयते ।

एकादीनां कृतद्वन्द्वानां सागरोपमाविशेषणत्वम् ।२। एकादयः शब्दाः कृतद्वन्द्वाः सागरोपमाशब्दस्य विशेषणत्वेन[10] नियुज्यन्ते । एका च तिस्रश्च सप्त च दश च सप्तदश च द्वाविंशतिश्च त्रयस्त्रिंशच्च एकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशतस्ता एव सागरोपमाः एकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः । कथमेकशब्दस्य पुंवद्भावः ? ननु भिन्नाधिकरणत्वान्न प्राप्नोति; नायं पुंवद्भावः, [11]औत्तरपदिकं ह्रस्वत्वम्, यथा [12]एकक्षीरमिति । अथवा सागर उपमा यस्य तत्सागरोपममायुः, एकं च त्रीणि च सप्त च सप्तदश च द्वाविंशतिश्च त्रयस्त्रिंशच्च एकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपममायुर्यस्याः सैकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमेति स्थित्यपेक्षः स्त्रीलिङ्गनिर्देशः ।

रत्नप्रभादिभिरानुपूर्व्येण संबन्धो यथाक्रमानुवृत्तेः ।३। 'यथाक्रमम्' इत्यनुवर्तते । ततो रत्नप्रभादिभिरेकादीनामानुपूर्व्येण संबन्धो वेदितव्यः । रत्नप्रभायामेकसागरोपमा स्थितिः,

---

१ –क्षारतप्त– आ०, ब०, द०, मु०, मू० । २ –रधानी वा– ब०, मु० । –रवाशीवा– मू० । –रवानीवा– श्र०, द० । –रधानीगारादीनीवा– आ० । –रादीनीवा– भा० । "अङ्गारदहनवाहन" त० भा० । ३ –प्रवेशवैतरण्यवतरण– श्र० । ४ –रचोदना– आ०, ब०, द०, मु० । –रघोवना– मू० । ५ –लापकान् आ०, ब०, द०, मु० । –लापाकान् मू० । ६ व्यापारस्य । ७ भावदोषा– आ०, ब०, द०, मु०, मु० । ८ "औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः" –त०, सू० २।५३ । ९ –रणाप्रत्य– आ०, ब०, मु० । १० नियुज्जन्ते श्र० । ११ उत्तरपदि– आ०, ब०, द०, श्र०, मु०, मू० । 'मृगक्षीरादिषु' इति सूत्रेण । १२ एकस्याः क्षीरम्– ता० टि० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शर्कराप्रभायां त्रिसागरोपमा स्थितिः, वालुकाप्रभायां सप्तसागरोपमा स्थितिः, पङ्कप्रभायां दशसागरोपमा स्थितिः, धूमप्रभायां सप्तदशसागरोपमा स्थितिः, तमःप्रभायां द्वाविंशतिसागरोपमा स्थितिः, महातमःप्रभायां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा स्थितिरिति ।

नरकप्रसङ्गः 'तेषु' इति वचनादिति चेत्; न; रत्नप्रभाद्युपलक्षितत्वात् ।४। स्यान्मतम्—"तेषु'इतिवचनान्नरकाभिसंबन्धः प्राप्नोति । ततः किम् ? रत्नप्रभायां त्रयोदशेन्द्रकनरकसंज्ञानि तत्रारादेव सीमन्तकादिष्विन्द्रकनरकेषु स्थितिरियं परिसमाप्येत, नेष्यते च, तस्मात्तेष्विति वचनमयुक्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? रत्नप्रभाद्युपलक्षितत्वात्[१] । यानि रत्नप्रभाद्यधिकरणत्वेनोपलक्षितानि त्रिंशच्छतसहस्राद्यवधृतपरिमाणानि तेष्वेकसागरोपमादिका स्थितिरिति नास्ति दोषः ।

साहचर्याद्वा ताच्छब्द्यसिद्धिः ।५। अथवा नरकसहचरिता भूमयोऽपि नरकाणीत्युच्यन्ते । अतस्तेषु रत्नप्रभादिषु नरकेषु प्रादुर्भवतां सत्त्वानामेकसागरोपमादिका स्थितिरित्यभिसंबन्धः, एवं च कृत्वा तेष्विति वचनमर्थवत्, इतरथा हि व्यवधानाद् भूमिभिरनभिसंबन्धः स्यात् ।

नरकस्थितिप्रसङ्ग इति चेत्; न; सत्त्वानामिति वचनात् ।६। स्यादेतत्—यदि पृथिव्युपलक्षितनरकाभिसंबन्ध इष्टः, ननु नरकाणामेवैकसागरोपमादिस्थितिसंबन्धः प्राप्नोति न नारकाणामिति; तन्न; किं कारणम् ? सत्त्वानामिति वचनात् तेषु नरकेषु सत्त्वानामियं स्थितिर्न नरकाणामिति ।

परोत्कृष्टेति पर्यायौ ।७। परा उत्कृष्टेति पर्यायशब्दाविमौ तेन नारकाणामुक्ता स्थितिरुत्कृष्टा । रत्नप्रभादिषु प्रतिप्रस्तारं जघन्यापि स्थितिरुच्यते—सीमन्तकेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या स्थितिर्दशवर्षसहस्राणि उत्कृष्टा नवतिवर्षसहस्राणि, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । निरयेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या नवतिर्वर्षसहस्राणि, '**दशवर्षशतसहस्राणि** 'इति क्वापि पाठः'। उत्कृष्टा नवतिर्वर्षशतसहस्राणि, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । रोरुकेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या एका पूर्वकोटी, उत्कृष्टेनासंख्याताः पूर्वकोटयः, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । भ्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या असंख्याताः पूर्वकोटयः, उत्कर्षेण सागरोपमस्यैको दशभागः, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । उद्भ्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या सागरोपमस्यैको दशभागः, उत्कृष्टा सागरोपमस्य द्वौ दश भागौ, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । संभ्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या सागरोपमस्य द्वौ दशभागौ उत्कर्षेण सागरोपमस्य त्रयो दशभागाः, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा असंभ्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या सागरोपमस्य त्रयो दशभागाः, उत्कृष्टा सागरोपमस्य चत्वारो दशभागाः, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । विभ्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या सागरोपमस्य चत्वारो दशभागाः उत्कृष्टा सागरोपमस्य पञ्च दशभागाः, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । तप्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या सागरोपमस्य पञ्च दशभागाः, उत्कृष्टा सागरोपमस्य षड् दशभागाः, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । त्रस्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या सागरोपमस्य षड् दशभागाः, उत्कृष्टा सागरोपमस्य सप्त दशभागाः, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा ।

---

१ बिलानाम् । २ तेष्वेकत्रिसाग- ब०, द०, मु० ।

व्युत्क्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या सागरोपमस्य सप्त दशभागाः उत्कृष्टा सागरोपमस्याष्टौ दशभागाः अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा। अवक्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या सागरोपमस्याष्टौ दशभागाः, उत्कृष्टा सागरोपमस्य नव दशभागाः अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा। विक्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या सागरोपमस्य नव दशभागाः, उत्कृष्टा सागरोपमा, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा।

शर्कराप्रभादिषु प्रतिप्रस्तारमुत्कृष्टा स्थितिः करणक्रमेण वेदितव्या। कथमिति चेत्? उच्यते–

"उपरिस्थितेर्विशेषः स्वप्रतरविभाजितेष्टसंगुणितः।
उपरिपृथिवीस्थितियुतः स्वेष्ट-प्रतरस्थितिर्महती ॥१॥" [ ]

उपर्युत्कृष्टाऽधो जघन्या सर्वत्र समयाधिका अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा।

अथैतेषां नारकाणामुत्पादविरहकालः कियानिति? अत्रोच्यते–सर्वासु पृथिवीषु जघन्य एकसमयः, उत्कृष्टाश्चतुर्विंशतिमुहूर्ताः, सप्तरात्रिदिवानि, पक्षः, मासः, द्वौ मासौ, चत्वारो मासाः, षण्मासा इति रत्नप्रभादिषु क्रमेण ज्ञेयाः।

अथोत्पादः क्व केषामिति? अत्रोच्यते–प्रथमायामसंज्ञिन उत्पद्यन्ते। प्रथमाद्वितीययोः सरीसृपाः। तिसृषु पक्षिणः। चतसृषूरगाः। पञ्चसु सिंहाः। षट्सु स्त्रियः। सप्तसु मत्स्यमनुष्याः[१]। न च देवा नारका वा नरकेषु उत्पद्यन्ते।

प्रथमायामुत्पद्यमाना नारका मिथ्यात्वेनाधिगताः केचिन्मिथ्यात्वेन निर्यान्ति, मिथ्यात्वेनाधिगताः केचित् सासादनसम्यक्त्वेन निर्यान्ति। मिथ्यात्वेनाधिगताः केचित्सम्यक्त्वेन निर्यान्ति। केचित्सम्यक्त्वेनाधिगताः सम्यक्त्वेनैव निर्यान्ति क्षायिकसम्यग्दृष्टयपेक्षया। द्वितीयादिषु पञ्चसु नारका मिथ्यात्वेनाधिगताः केचिन्मिथ्यात्वेन निर्यान्ति, मिथ्यात्वेनाधिगताः केचित् सासादनसम्यक्त्वेन निर्यान्ति, मिथ्यात्वे प्रविष्टाः केचित् सम्यक्त्वेन निर्यान्ति। सप्तम्यां नारका मिथ्यात्वेनाधिगता मिथ्यात्वेनैव निर्यान्ति। षड्भ्य उपरिपृथिवीभ्यो नारकाः मिथ्यात्वसासादनसम्यक्त्वाभ्यामुद्वर्तिता[२] द्वे तिर्यङ्मनुष्यगती आयान्ति। तिर्यक्ष्वायाताः पञ्चेन्द्रियगर्भजसंज्ञिपर्याप्तकसंख्येयवर्षायुःषूत्पद्यन्ते नेतरेषु। मनुष्येष्वायाता गर्भजपर्याप्तकेषु संख्येयवर्षायुःषूत्पद्यन्ते नेतरेषु। नारकाः सम्यङ्मिथ्यादृष्टयस्तेन गुणेन [३]नोद्वर्तन्ते। नारकाः सम्यग्दृष्टयः सम्यक्त्वेनोद्वर्तिता एकामेव मनुष्यगतिमायान्ति, मनुष्येष्वायाताः गर्भजपर्याप्तकसंख्येयवर्षायुःषूत्पद्यन्ते नेतरेषु। सप्तम्यां नारका मिथ्यादृष्टयो नरकेभ्य उद्वर्तिता एकामेव तिर्यग्गतिमायान्ति, तिर्यक्ष्वायाताः पञ्चेन्द्रियगर्भजपर्याप्तकसंख्येयवर्षायुःषूत्पद्यन्ते नेतरेषु।

तत्र चोत्पन्नाः सर्वे मतिश्रुतावधिसम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वसंयमासंयमान् नोत्पादयन्ति। षष्ठ्याः उद्वर्तिता नारकास्तिर्यङ्मनुष्येषु जाता केचिन्मतिश्रुतावधिसम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वं संयमासंयमान् षडुत्पादयन्ति न सर्वे नाप्यतोऽन्यत्। पञ्चम्या उद्वर्तितास्तिर्यक्षूत्पन्नाः केचित् षडुत्पादयन्ति न सर्वे नाप्यतोऽन्यत्, मनुष्येषूत्पन्नाः केचिन्मतिश्रुतावधिमनःपर्ययसम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वसंयमासंयमसंयमानुत्पादयन्ति न सर्वे नाप्यतोऽन्यत्। चतुर्थ्यां उद्वर्तितास्तिर्यक्षूत्पन्नाः केचिन्मत्यादीन् षडुत्पादयन्ति न सर्वे नाप्यतोऽन्यत्, मनुष्येषूत्पन्नाः केचिन्मतिश्रुतावधिमनःपर्यय-

---

१ तथा चोक्तम्– अमणसरिसवविहंगमफणिसिहत्थीणमच्छमणुआणं। पढमादिसु उप्पत्ती अडवारादो दु दोण्णिवारो त्ति॥ २ –ताः केचित्तिर्यङ्मनुष्यगतिमाया– आ०, ब०, द०, मु० ता०। ३ न निर्यान्ति।

केवलसम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वसंयमासंयमसंयमानुत्पादयन्ति, न च बलदेववासुदेवचक्रधरतीर्थकरत्वान्युत्पादयन्ति, केचित् कर्माष्टकान्तकराः सिद्धयन्ति। उपरि तिसृभ्य उद्वर्तितास्तिर्यक्षु जाताः केचित् षडुत्पादयन्ति, मनुष्येषूत्पन्नाः केचित् मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलसम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वसंयमासंयमसंयमानुत्पादयन्ति न च बलदेववासुदेवचक्रधरत्वान्युत्पादयन्ति केचित्तीर्थकरत्वमुत्पादयन्ति, अपरे कर्माष्टकान्तकराः सिध्यन्ति।

उक्तः सप्तावनिविस्तीर्णोऽधोलोकः।

इदानीं तिर्यग्लोकोऽवसरप्राप्तो व्याख्येयः। तत्रैतत्स्यात्–किमत्र व्याख्येयम्? द्वीपसमुद्राधिष्ठातृधरणीधरवनक्षेत्रान्तरपरिमाणादि। यद्येवं तदवतिष्ठताम्, इदमेव तावद्व्याक्रियतां कुतः पुनरियं तिर्यग्लोकसंज्ञा प्रवृत्तेति? उच्यते–यतोऽसंख्येयाः स्वयंभूरमणपर्यन्तास्तिर्यक्प्रचयविशेषेणावस्थिता द्वीपसमुद्रास्ततः तिर्यग्लोक इति। यद्येवं के पुनस्तिर्यगवस्थिता इति? अत आह–

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥७॥

आह–कुतः पुनरियं जम्बूद्वीपसंज्ञेति? उच्यते–

प्रतिविशिष्टजम्बूवृक्षासाधारणाधिकरणत्वाज्जम्बूद्वीपः।१। अयं हि द्वीपः प्रतिविशिष्टस्य जम्बूवृक्षस्य सपरिवारस्यासाधारणाधिकरणत्वं बिभर्ति नान्ये धातकीखण्डादयो द्वीपास्ततोऽस्य तत्साहचर्यात् जम्बूद्वीप इति संज्ञा अनादिकालप्रवृत्ता। तद्यथा–उत्तरकुरुमध्ये जगती पञ्चयोजनशतायामविष्कम्भा तत्त्रिगुणसातिरेकपरिक्षेपा ततः प्रदेशहान्या बहिःपरिहीयमाणा मध्ये द्वादशयोजनबाहल्या,[1] अन्ते क्रोशद्वयबाहल्या सा चैकया पद्मवरवेदिकया [2]जाम्बूनदमय्या परिक्षिप्ता। तस्या बहुदेशमध्यभागे नानारत्नमयमेकं पीठमष्टयोजनायामं [3]चतुर्योजनविष्कम्भं तावदुच्छ्रायं द्वादशभिः [4]पद्मवरवेदिकाभिः परिक्षिप्तम्। तासां च पद्मवरवेदिकानां प्रत्येकं चत्वारि तोरणानि श्वेतानि वरकनकस्तूपिकानि, तस्योपरि मणि[5]मयमुपपीठं योजनायामविष्कम्भं क्रोशद्वयोच्छ्रायम्। तन्मध्ये जम्बूवृक्षः सुदर्शनाख्यो योजनद्वयोच्छ्रितस्कन्धः षड्योजनोत्सेधविटपः, मध्ये षड्योजनविष्कम्भपरिमण्डलः अष्टयोजनायामः तदर्धमुच्छ्रितानां जम्बूनामष्टशतेन परिवृतः [6]सुरवरवनिताक्रान्तः, तद्योगाज्जम्बूद्वीपः।

लवणरसाम्बुयोगाल्लवणोदः।२। लवणरसेनाम्बुना योगात् समुद्रो लवणोद इति संज्ञायते। उदकशब्दस्य पूर्वपद[7]भूतस्य उत्तरपदभूतस्य च संज्ञायामुदभावोऽन्वाख्यातः।

जम्बूद्वीपश्च लवणोदश्च जम्बूद्वीपलवणोदौ तावादी येषां ते जम्बूद्वीपलवणोदादयः। द्वीपाश्च समुद्राश्च द्वीपसमुद्रा यथासंख्यमभिसंबन्धः। जम्बूद्वीपादयो द्वीपा लवणोदादयः समुद्रा इति। किं नामानस्ते? शुभनामानः। यानि लोके शुभानि नामानि तान्येषां नामानि तद्यथा–जम्बूद्वीपो लवणोदः, धातकीखण्डः कालोदः, पुष्करवरः पुष्करोदः, वारुणीवरः वारुणोदः, क्षीरवरः क्षीरोदः, घृतवरः घृतोदः, इक्षुवरः इक्षूदः, नन्दीश्वरवरः नन्दीश्वरोद इत्येवमादयोऽसंख्येया

---

१ –बाहुल्या आ०, ब०, द०, मु०। २ तपमं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम् –ता० टि०। ३ मुले। ४-पद्मवेदि– आ०, ब०, द०, मु०। ५ –मयमपरं पीठं ता०, श्र०, मू०। ६ सुरवनि– आ०, ब०, द०, मु०। ७ उदभिरिति।

द्वीपसमुद्राः स्वयम्भूरमणद्वीपस्वयम्भूरमणोदपर्यन्ताः । कियदसंख्येयाः ? अर्धतृतीयसागरोपमसमय[1]संख्याः ।

अमीषां विष्कम्भसन्निवेशसंस्थानविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥

द्विर्द्विरिति वीप्साभ्या[2]वृत्तिवचनं विष्कम्भद्विगुणत्वव्याप्त्यर्थम् ।१। आद्यस्य द्वीपस्य यो विष्कम्भस्तद्द्विगुणो जलधिस्तद्द्विगुणविष्कम्भो द्वितीयो द्वीपः तद्द्विगुणविष्कम्भो द्वितीयो जलधिरिति द्वैगुण्यव्याप्त्यर्थं द्विर्द्विरुच्यते । द्विर्द्विर्विष्कम्भो येषां ते द्विर्द्विर्विष्कम्भाः ।

ननु च वृत्त्या अभ्यावृत्तिरुच्यते द्विर्दश द्विदशा इति, वीप्सा च क्वचिदुच्यते सप्तपर्ण इति, तद्वदिह वीप्साऽभ्यावृत्त्योर्वृत्त्योक्तत्वात् द्वित्वस्य सुचश्चाप्रयोगः प्राप्नोति ? नैष दोषः; यत्र [3]गम्यते न तत्र प्रयुज्यते, इह तु द्विविष्कम्भा इत्युक्ते तदर्थागतेर्द्विर्द्विरित्युच्यते ।

अनिष्टविनिवेशव्यावृत्त्यर्थं पूर्वपूर्वपरिक्षेपिवचनम् ।२। ग्रामनगरादिवदनिष्टविनिवेशो मा विज्ञायीति 'पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः' इत्युच्यते । तेनोत्तरोत्तरानन्तर्यसिद्धिर्भवति । पूर्वं पूर्वं परिक्षिपन्तीत्येवंशीलाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः, अत्राप्यगमकत्वाद् द्वित्वम् ।

चतुरस्रादिनिवृत्त्यर्थं वलयाकृतिवचनम् ।३। आकृतिस्संस्थानम्, वलयस्येवाकृतिर्येषां ते वलयाकृतयः । एतेन चतुरस्रादिसंस्थानान्तरनिवृत्तिः कृता भवति । ततो मिथ्यावादिप्रणीतसंस्थानान्तरप्रतिकल्पना न तत्त्वम् ।

अत्राह जम्बूद्वीपस्य प्रदेशसंस्थानविष्कम्भा वक्तव्याः, तन्मूलत्वादितरविष्कम्भादिविज्ञानस्येति ? अत आह–

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥९॥

तच्छब्दः पूर्वद्वीपसमुद्रनिर्देशार्थः ।१। पूर्वोक्तानामसंख्येयानां द्वीपसमुद्राणां निर्देशार्थस्तच्छब्दो द्रष्टव्यः । तेषां मध्ये तन्मध्ये नाभिरिव नाभिः । मेरुर्नाभिर्यस्य स भवति मेरुनाभिः, वृत्त आदित्यमण्डलोपमानः । शतानां सहस्रं शतसहस्रं योजनानां शतसहस्रं योजनशतसहस्रम् [योजनशतसहस्रं] विष्कम्भो यस्य सोऽयं योजनशतसहस्रविष्कम्भः ।

तस्य परिक्षेपः त्रीणि शतसहस्राणि षोडशसहस्राणि द्वे शते सप्तविंशतिश्च योजनानाम्, त्रीणि गव्यूतानि, शतं धनुषामष्टाविंशत्युत्तरम्, त्रयोदशाङ्गुलयः अर्धाङ्गुलं सातिरेकम् ।

तस्य समन्तात् परिक्षेप्त्री जगत्येका अर्धयोजनावगाहा अष्टयोजनोत्सेधा मूलमध्यान्तेषु द्वादशाष्टचतुर्योजनविष्कम्भा वज्रमयमूला वैडूर्यमयान्ता सर्वरत्ननिर्मितमध्या गवाक्षघण्टामुक्ताहेममणिकिंकिणीकपद्मरत्नकनकरत्नसर्वरत्नजालैर्नवभिरुपर्युपरिस्थितैः प्रत्येकमर्धयोजनोच्छ्रायैः पञ्चधनुश्शतविष्कम्भजगतीसमायामैरलङ्कृता । तस्याः पूर्वदक्षिणापरोत्तरासु चतसृषु दिक्षु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितसंज्ञानि चत्वारि महाद्वाराणि । यथाक्रमं तानि चतुर्योजनविष्कम्भाण्यष्टयोजनोत्सेधानि विष्कम्भसमप्रवेशानि । तत्र विजयवैजयन्तयोरन्तरमेकान्नाशीतिसहस्राणि द्विपञ्चाशद्योजनान्यर्धयोजनं योजनचतुर्भागः अर्धगव्यूतं गव्यूतचतुर्भागः द्वात्रिंशच्च

---

१ –समयसंख्येयाः श्र० । २ वारार्थं । ३ सुजादेरप्रयोगेऽपि ज्ञायते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धनूंषि तिस्रोऽङ्गुलयः अङ्गुलचतुर्भागोऽर्धाङ्गुलचतुर्भागश्च सातिरेकः । एवमितरेषामप्यन्तराणां प्रमाणं वेदितव्यम् ।

तत्र जम्बूद्वीपे षड्भिः कुलपर्वतैर्विभक्तानि सप्त क्षेत्राणि । कानि तानीति ? अत आह–

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥

भरत इति संज्ञा कुतः ?

भरतक्षत्रिययोगाद्वर्षो भरतः ।१। विजयार्धस्य दक्षिणतो जलधेरुत्तरतः गङ्गासिन्ध्वो[1]र्बहुमध्यदेशभागे विनीता नाम नगरी द्वादशयोजनायामा, नवयोजनविस्तारा । तस्यामुत्पन्नः सर्वराजलक्षणसंपन्नो भरतो नामाद्यश्चक्रधरः षट्खण्डाधिपतिः । अवसर्पिण्या[2] राज्यविभागकाले तेनादौ भुक्तत्वात्, तद्योगाद्भरत इत्याख्यायते वर्षः ।

अनादिसंज्ञासंबन्धाद्वा ।२। अथवा, जगतोऽनादित्वादहेतुका अनादिसंबन्धपारिणामिकी भरतसंज्ञा । अथ क्व भरत इति ? अत्रोच्यते–

हिमवत्समुद्रत्रयमध्ये भरतः ।३। हिमवतोऽद्रेस्त्रयाणां समुद्राणां पूर्वदक्षिणाऽपराणां मध्ये भरतो वेदितव्यः । स पुनर्गङ्गासिन्धूभ्यां विजयार्धेन च षड्भागसंविभक्तः ।

कोऽसौ विजयार्धो नाम ?

पञ्चाशद्योजनविस्तारस्तदर्धोत्सेधः सक्रोशषड्योजनावगाहो रजताद्रिर्विजयार्धोऽन्वर्थः ।४। चक्रभृद्विजयार्धकरत्वाद्विजयार्ध इति गुणतः कृताभिधानो रजताद्रिः तस्य पञ्चाशद्योजनानि विस्तारः पञ्चविंशतियोजनान्युत्सेधः सक्रोशानि षड्योजनान्यवगाहः पूर्वापरकोटिभ्यामसौ पूर्वापरजलधी[3] स्पृशति । तस्य पूर्वापरपार्श्वबाहू चत्वारि योजनशतानि अष्टाशीत्यधिकानि षोडश चैकान्नविंशतिभागाः योजनस्यार्धभागश्च सातिरेकः । विजयार्धोत्तरपार्श्वज्या दशयोजनसहस्राणि सप्त च शतानि विंशतिर्योजनानां द्वादश चैकान्नविंशतिभागा योजनस्य किञ्चिद्विशेषोनाः । अस्याः ज्यायाः धनुषः पृष्ठं दशयोजनानां सहस्राणि [4]सप्त च शतानि त्रिचत्वारिंशानि पञ्चदश चैकान्नविंशतिभागा योजनस्य सविशेषाः । विजयार्धदक्षिणपार्श्वज्या नवसहस्राणि सप्तशतान्यष्टचत्वारिंशानि योजनानां द्वादशभागाः किञ्चिद्विशेषाधिकाः । अस्याः ज्यायाः धनुषः पृष्ठं नवसहस्राणि सप्तशतानि षट्षष्ट्युत्तराणि योजनानामेकश्च भागः सविशेषः । तस्योभयोः पार्श्वयोरर्धयोजनविष्कम्भौ[5]पर्वतसमानायामावर्धयोजनोच्छ्रायपञ्चधनुःशतविष्कम्भवनसमायामाभ्यां क्वचित्क्वचित्कनकस्तूपिकाभ्यामलङ्कृतबहुतोरणोपेतपद्मवरवेदिकाभ्यां प्रत्येकं परिक्षिप्तौ सर्वर्तुजफलकुसुमतरुवरमण्डितौ वनषण्डौ । तस्य द्वे गुहे तमिस्रखण्डप्रपातसंज्ञे पञ्चाशद्योजनोदग्दक्षि[6]णायामे प्राक्प्रत्यक्द्वादशयोजनविष्कम्भे, अष्टयोजनोत्सेधोत्तरदक्षिणद्वारद्वये, सक्रोशषड्योजनविष्कम्भक्रोशबाहुल्याष्टयोजनोच्छ्रायवज्रमयकपाटे[7] । यकाभ्यां चक्रवर्ती उत्तरभरतविजयार्धं याति । यतश्च गङ्गासिन्धू निर्गते । तत्र चाभ्यन्तरे विजयार्धप्रभवे प्रत्येकं द्विनद्यौ गङ्गासिन्धू अनुप्रविष्टे, उन्मग्नजला निमग्नजला चान्वर्थसंज्ञे । तृणादेः पतितस्य द्रव्यस्याहृत्योपरितलप्रक्षेपणात् उन्मग्नजला । तथा तृणादेः पतितस्याधस्तलप्रक्षेपणात् निमग्नजला ।

---

१ –न्ध्वोर्मध्य– श्र० । २ –ण्यां रा– श्र० । ३ –लधि स्पृ– श्रा०, ब०, द०, मु० । –लनिधी स्पृ– ता० । ४ सप्तश– श्रा०, ब०, द०, मु० । ५ –विष्कम्भपर्व– श्रा०, ब०, द०, मु० । ६ –णायते प्रा– श्रा०, ब०, द०, मु०, ता० । ७ –टे याभ्यां श्रा०, ब०, द०, मु० । –पाटाभ्यां च– ता० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्यैवाद्रेर्भूमितलाद्दशयोजनान्युत्प्लुत्योभयोः पार्श्वयोः दशयोजनविस्तारे पर्वतसमायामे द्वे विद्याधरश्रेण्यौ भवतः। तत्र दक्षिणश्रेण्यां रथनूपुरचक्रवालादीनि पञ्चाशद्विद्याधरनगराणि। उत्तरश्रेण्यां गगनवल्लभादीनि षष्टिर्विद्याधरनगराणि। तन्निवासिनो विद्याधरा भरतवत् षट्कर्मजीविनः केवलं प्रज्ञप्त्यादिविद्याधरणमात्रादेव विशिष्टाः। ततो दशयोजनान्युत्प्लुत्योभयोः पार्श्वयोर्दशयोजनविस्तारे पर्वतसमायामे द्वे व्यन्तरश्रेण्यौ भवतः। तत्र शक्रलोकपालानां सोमयमवरुणवैश्रवणानाम् आभियोग्यव्यन्तरदेवानां निवासा भवन्ति। ततः पञ्चयोजनान्युत्प्लुत्य शिखरतलं भवति दशयोजनविष्कम्भं पर्वतसमायामम्। तत्र प्राच्यां दिशि षड्योजनक्रोशाधिकोच्छ्रायविष्कम्भं सिद्धायतनकूटं पद्मवरवेदिकापरिवृतम्। तस्योपर्युदग्दक्षिणायामं प्राक्प्रत्यग्विस्तारं क्रोशायाम-क्रोशार्धविष्कम्भ-देशोनक्रोशोच्छ्रायं पद्मवरवेदिकापरिवृतम् [1]अर्हदायतनं पूर्वोत्तरदक्षिणद्वारम् अर्हदायतनवर्णनोपेतम्। तस्य पश्चाद्दक्षिणार्धभरतकूट-खण्डकप्रपातकूट-माणिकभद्रकूट-विजयार्धकूट-पूर्णभद्रकूट-तमिस्रगुहाकूट-उत्तरार्धभरतकूट-वैश्रवणकूटनामान्यष्टौ कूटानि सिद्धायतनकूटसमोच्छ्रायविष्कम्भायामानि। तेषामुपरि दक्षिणार्धभरतदेव-वृत्तमाल्यदेव-माणिभद्रदेव-विजयार्धगिरिकुमारदेव-पूर्णभद्रदेव-कृतमाल्यदेव-उत्तरार्धभरतदेव-वैश्रवणदेवानां यथाक्रमं प्रासादाः सिद्धायतनसमायामविष्कम्भोच्छ्रायाः। सोऽयं विजयार्धपर्वतो नवभिः कूटैर्मुकुटैरिवोद्गतैर्गिरिराजत्वं प्राप्त इवाभाति। अथ हैमवत इति कथं संज्ञा ?

हिमवतोऽदूरभवः सोऽस्मिन्नस्तीति वा हैमवतः।५। हिमवान्नाम पर्वतः तस्यादूरभवः सोऽस्मिन्नस्तीति वाऽणि सति हैमवतो वर्षः। क्व पुनरसौ ?

क्षुद्रहिमवन्महाहिमवतोर्मध्ये।६। क्षुद्रहिम[2]वन्तमुत्तरेण दक्षिणेन महाहिमवन्तं पूर्वापरसमुद्रयोर्मध्ये हैमवतः।

तन्मध्ये शब्दवान् वृत्तवेदाढ्यः।७। तस्य हैमवतस्य मध्ये शब्दवान्नाम पटहाकारः वृत्तत्वाद् वृत्तवेदाढ्य इत्यन्वर्थसंज्ञः योजनसहस्रोच्छ्रायः अर्धतृतीययोजनशतावगाह उपरि मूले च योजनसहस्रायामविष्कम्भस्तत्त्रिगुणसातिरेकपरिक्षेपः पर्वतः, अर्धयोजनविष्कम्भाद्रिपरिक्षेपायामयुक्तया पूर्वादिदिग्विभागविनिवेशिचतुस्तोरणविभक्तया पद्मवरवेदिकयाऽलङ्कृतः। तत्तलमध्ये सक्रोशद्वयद्विषष्टियोजनोत्सेधः सक्रोशैकत्रिंशद्योजनविष्कम्भः स्वातिदेवविहारः[3]। अथ कथं हरिवर्षसंज्ञा ?

हरिवर्णमनुष्ययोगाद्धरिवर्षः।८। हरिः सिंहस्तस्य शुक्लरूपपरिणामित्वात् तद्वर्णमनुष्याध्युषितत्वाद्धरिवर्ष इत्याख्यायते। क्व पुनरसौ ?

निषधमहाहिमवतोरन्तराले।९। निषधस्य दक्षिणतो महाहिमवत उत्तरतः पूर्वापरसमुद्रयोरन्तराले हरिवर्षः।

तन्मध्ये विकृतवान् वृत्तवेदाढ्यः।१०। तस्य हरिवर्षस्य मध्ये विकृतवान्नाम[4] वृत्तवेदाढ्यः शब्दवद्वृत्तवेदाढ्येन तुल्यवर्णनः। तस्योपर्यरुणदेवविहारः। अथ कथं विदेहसंज्ञा ?

विदेहयोगाज्जनपदे विदेहव्यपदेशः।११। विगतदेहाः विदेहाः। के पुनस्ते ? येषां देहो नास्ति, कर्मबन्धसन्तानोच्छेदात्[5]। ये वा सत्यपि देहे विगतशरीरसंस्कारास्ते विदेहाः। तद्यो-

---

१ वक्ष्यमाणम्। २ हिमवतो द्वितीया चेनेनानं चेरिति द्वितीया ? ३ निवासः। ४ –म वेदा– द०, अ०, मु०। ५ –नोच्छित्तये वा आ०, ब०, द०, मु०।

गाज्जनपदे विदेहव्यपदेशः । तत्र हि मुनयो देहोच्छेदार्थं यतमाना विदेहत्वमास्कन्दन्ति । ननु च भरतैरावतयोरपि विदेहाः सन्ति ? सत्यम्, सन्ति कदाचिन्न तु सर्वकालम्, तत्र तु सततं धर्मोच्छेदाभावाद्विदेहाः सन्तीति प्रकर्षापेक्षो विदेहव्यपदेशः । क्व पुनरसौ ?

निषधनीलवतोरन्तराले तत्सन्निवेशः ।१२। निषधस्योत्तरात् [1]नीलवतो दक्षिणात् पूर्वापरसमुद्रयोरन्तरे तस्य विदेहस्य सन्निवेशो द्रष्टव्यः ।

स चतुर्विधः पूर्वविदेहादिभेदात् ।१३। स विदेहश्चतुर्विधः । कुतः ? पूर्वविदेहादिभेदात् । पूर्वविदेहः, अपरविदेहः, उत्तरकुरवः, देवकुरवश्चेति । कुतः पुनः पूर्वविदेहादिव्यपदेशः ? मेरोः प्राक् क्षेत्रं पूर्वविदेहः, [2]उत्तरक्षेत्रमुदक्कुरवः, अपरक्षेत्रमपरविदेहः दक्षिणक्षेत्रं देवकुरव इति ।

नैष युक्तो व्यपदेशः–पूर्वविदेहे हि सविता नीलादुदेति, निषधेऽस्तमुपैति । तत्र प्राङ नीलः प्रत्यङ निषधः अपाक् समुद्रः, मेरुरुदक् । अपरविदेहे तु निषधे उदयः नीलेऽस्तमय इति । तत्र प्राङ निषधः, प्रत्यङ नीलः, अपाक् समुद्रः, उदङ मेरुः । उदक्कुरुषु गन्धमादनादुदयो माल्यवतोऽस्तमयः । तत्र गन्धमादनः प्राक्, माल्यवान् प्रत्यक्, नीलः अपाक्, मेरुः उदक् । देवकुरुषु सौमनसादुदयः विद्युत्प्रभेऽस्तमयः तत्र सौमनसः प्राक्, विद्युत्प्रभः प्रत्यक्, निषधोऽपाक् मेरुरुदगिति ? सत्यमेवमेतत्; यदि तत्रत्यो दिग्विभाग आश्रियेत । इह भरतक्षेत्रदिग्विभागमाश्रित्य मेरोः पूर्वादिव्यपदेशो युक्तः । तत्र विदेहमध्यभागे मेरुः । तस्मादपरोत्तरदिशि गन्ध[3]मालिविजयसमीपदेवारण्यात्प्राक् गन्धमादनाख्यो वक्षारपर्वतः उदक्दक्षिणा[4]यतः प्राक्प्रत्यक्विस्तीर्णः दक्षिणोत्तरकोटिभ्यां मेरुनीलाद्रिस्पर्शी द्वाभ्यामर्धयोजनविष्कम्भपर्वतसमायामाभ्यां वनषण्डाभ्यामलङ्कृतः मूलमध्याग्रेषु सुवर्णमयः नीलाद्रिपर्यन्ते चतुर्योजनशतोच्छ्रितः, योजनशतावगाहः प्रदेशवृद्ध्या वर्धमानः मेरुपर्यन्ते पञ्चयोजनशतोत्सेधः पञ्चविंशतियोजनशतावगाहः, पञ्चयोजनशतविष्कम्भः, ततः प्रदेशहान्या हीयमानः नीलान्तेऽर्धतृतीययोजनशतविष्कम्भः । त्रिंशत्सहस्राणि द्वे च नवोत्तरे शते योजनानां षट्चैकान्नविंशतिभागाः सातिरेका आयामः । तस्योपरि मेरुपर्यन्ते [5]पञ्चविंशतियोजनशतोच्छ्राययमूलविष्कम्भसिद्धायतनकूटम् । तस्योत्तरतः क्रमेण व्यवस्थितानि षट् कूटानि–गन्धमादन-उदक्कुरु-गन्धमालि-स्फटिक-लोहिताक्ष-आनन्दकूटनामानि । तत्र सिद्धायतनकूटे जिनायतनम् । स्फटिककूटस्योपरि प्रासादे भोगंधरी देवी पल्योपमस्थितिका । लोहिताक्षकूटस्योपरि प्रासादे पल्योपमस्थितिका दिक्कुमारी भोगवती[7] वसति । शेषेषु चतुर्षु कूटेषु [8]कूटसमनामानो देवा वसन्ति । मेरोरुदक् प्राच्यां दिशि नीलादपाच्यां कच्छविजयात्[9] प्रतीच्यां माल्यवान् वक्षारपर्वतः । मूलमध्याग्रेषु वैडूर्यमयः विष्कम्भायामोच्छ्रायावगाहसंस्थानैर्गन्धमादनेन समः । तस्योपरि मेरुपर्यन्ते सिद्धायतनकूटं यथोक्तपरिमाणम् । तस्योपर्यर्हदायतनम् । तस्योत्तरतो यथाक्रमं माल्यवत्-उदक्कुरु-कच्छ-विजय-सागर-रजत-पूर्णभद्र-सीता-हरिमहाकूटानि नव भवन्ति । सागरकूटे सुभागा[10] दिक्कुमारी, रजतकूटे भोगमालिनी दिक्कुमारी वसति । शेषेषु

---

१ नीलस्य द– श्र० । २ –रं क्षे– आ०, ब०, द०, मु० । ३ –न्धमालिनीविषयसमी– आ०, ब०, द०, मु० । ४ –पायामः आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ५ समीपे । ६ अधिक । ७ भोगावती– आ०, ब०, मु० । भोगावसति द० । ८ स्वकूटता– मु० । ९ विषयात् आ०, ब०, द०, मु० । १० सुभगा आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सप्तसु कूटेषु कूटसमनामानो देवा वसन्ति। मेरोरुदक् गन्धमादनात्प्राक्, नीलादपाक्, माल्यवतः प्रत्यक्, उदक्कुरवः प्राक् प्रत्यगायताः, उदगपाग्विस्तीर्णा यमकाद्रिद्वयपञ्चसरोवरकाञ्चनगिरिशतोपशोभिताः। एकादश सहस्राणि अष्टौ शतानि द्वाचत्वारिंशानि योजनानां द्वौ चैकान्नविंशतिभागौ उदक्कुरुविष्कम्भः। नीलसमीपे त्रिपञ्चाशद्योजनसहस्राणि ज्याषष्टिसहस्राणि चत्वारि शतानि अष्टादशानि योजनानां द्वादश चैकान्नविंशतिभागाः साधिका धनुः।

तत्र सीतायाः प्राग्दिग्भागे जम्बूवृक्षो वर्णितः। तस्योत्तरस्यां दिशि शाखायामर्हदायतनं क्रोशायामार्धक्रोशविष्कम्भदेशोनक्रोशोनक्रोशोत्सेधम्। प्राच्यां दिशि शाखायां तत्तुल्यप्रासादः, तत्र जम्बूद्वीपाधिपतिव्यन्तरेश्वरोऽना[1]वृतनामा वसति। दक्षिणस्यां दिशि शाखायां प्रतीच्यां च प्रासादयोः शयनीयानि रमणीयानि। ततः [2]पूर्वोत्तरोत्तरापरोत्तरासु दिक्ष्वना[3]वृतदेवसामानिकानां चत्वारि जम्बूसहस्राणि। दक्षिणपूर्वस्यां दिशि अभ्यन्तरपरिषद्देवानां द्वात्रिंशत्सहस्राणि। दक्षिणस्यां मध्यमपरिषद्देवानां चत्वारिंशत्सहस्राणि। दक्षिणापरस्यां दिशि बाह्यपरिषद्देवानामष्टचत्वारिंशत्सहस्राणि। प्रतीच्यामनीकमहत्तराणां सप्तानां सप्तजम्ब्वः, चतसृणामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां जम्ब्वः चतस्रः। पूर्वदक्षिणापरोत्तरासु षोडशसहस्रात्मरक्षदेवानां च षोडशसहस्राणि। एते सुदर्शनजम्बूवृक्षस्य परिवारभूताः पूर्वोक्ताष्टशतेन सह समुदिताः एकं शतसहस्रं चत्वारिंशत्सहस्राणि शतं चैकान्नविंशम्। त एते सर्व एव जम्बूवृक्षाः पद्मवरवेदिकापरिवृताः सर्वरत्नकाञ्चनपरिणामाः मुक्तामणिहेमघण्टाजालमाल्यदामध्वजपताकाछ[4]त्राधिच्छत्रविभूषिताः। सुदर्शनाख्योऽसौ जम्बूवृक्षः पद्मवरवेदिकापरिक्षिप्तैस्त्रिभिर्वनषण्डैः परिक्षिप्तः। प्राथमिकवनषण्डे चतसृषु दिक्षु क्रोशायामक्रोशार्धविष्कम्भदेशोनक्रोशोत्सेधानि चत्वारि भवनानि। विदिक्षु चतस्रः पुष्करिण्यो [5]दशयोजनावगाहाः पञ्चाशद्योजनायामाः तदर्धविष्कम्भाः चतुष्कोणा आयतचतुरस्राः शुचिसुरभिसलिलपूर्णाः। तेषां भवनानां पुष्करिणीनां चाष्टासु दिक्षु श्वेतान्यर्जुनसुवर्णनिर्वृत्तानि प्रत्येकमष्टौ कूटानि। तेषामुपरि प्रत्येकं क्रोशायामक्रोशार्धविष्कम्भदेशोनक्रोशोच्छ्रायाः चत्वारः प्रासादाः।

नीलाद् दक्षिणस्यां दिश्येकं योजनसहस्रं तिर्यगतीत्य सीतामहानद्या उभयोः पार्श्वयोः पञ्चयोजनशतान्तरौ सप्रणिधी द्वौ यमकाद्री योजनसहस्रोच्छ्रायौ अर्धतृतीययोजनशतावगाहौ मूलमध्याग्रेषु योजनैकसहस्रार्धाष्ट[6]मयोजनशतपञ्चयोजनशतविष्कम्भौ। तयोरुपरि योजनद्विषष्टयर्धयोजनोच्छ्रायौ सक्रोशैकत्रिंशद्योजनविष्कम्भौ तावत्प्रवेशौ प्रासादौ। तत्र यमकनामानौ देवौ वसतः। प्राच्यां दिशि द्वे अर्हदायतने यमकाभ्यामवाक्पञ्चयोजनशतानि तिर्यगतीत्य सीतामहानद्यां[7] योजनसहस्रोदगपागायतः पञ्चयोजनशतप्राक्प्रत्यग्विष्कम्भः दशयोजनावगाहः नीलो नाम महाह्रदो भवति। ह्रदमध्ये जलस्योपर्यर्धयोजनोच्छ्रायाणि दशयोजनावगाहनालानि मध्ये योजनविष्कम्भाणि क्रोशायतपत्राणि द्विक्रोशकर्णिकान्याग्रमूलयोर्द्विक्रोशविस्तराणि पद्मानि पद्मह्रदजपद्मवर्णनोपेतानि। तत्र नीलसंज्ञो नागेन्द्रकुमारो वसति। तस्य पद्मानि जम्बूवृक्षसमसंख्यानि।

---

१ –नादृतना– ता०, श्र०। –नावृतो ना– मू०। २ ऐशानोत्तरवायव्येषु मिलित्वा। ३ –नावृतदेव– श्र०। ४ –त्राधि त्रयभू– श्रा०, ब०, द०, मु०। ५ दशदशयो– श्रा०, ब०, द०, मु०, ता०। ६ ७५०। ७ –नद्याः यो– श्रा०, ब०, द०, मु०।

नीलह्रदात्प्रागदूरे दश काञ्चनाद्रयः [1]सप्रणिधयो योजनशतोत्सेधाः पञ्चविंशतियोजनावगाहाः मूलमध्याग्रेषु शतपञ्चसप्ततिपञ्चाशद्योजनविष्कम्भाः काञ्चनपरिणामाः । तेषामुपरि सक्रोशैकत्रिंशद्योजनोत्सेधाः [2]सद्विक्रोशपञ्चदशयोजनविष्कम्भाः प्रासादाः काञ्चनसंज्ञदेवानामावासाः । तादृशा एव प्रत्यक्-दशकाञ्चनाद्रयः । नीलह्रदादपाक् पञ्चयोजनशतानि तिर्यगतीत्योत्तरकुरुह्रदो भवति उत्तरकुरुसंज्ञनागेन्द्रकुमारावासः । नीलह्रदतुल्यवर्णनः, प्राक्-प्रत्यक् च दशदशकाञ्चनाद्रयः । उदक्कुरुह्रदादपाक् पञ्चयोजनशतान्यतीत्य चन्द्रह्रदः, चन्द्रनागेन्द्रकुमारावासः । पूर्ववत्काञ्चनाद्रयश्च । चन्द्रह्रदादपाक् पञ्चयोजनशतानि तिर्यगतीत्यैरावतह्रदो भवति ऐरावतनागेन्द्रकुमारावासः । पूर्ववत्काञ्चनाद्रयश्च । ऐरावतह्रदादपाक् पञ्चयोजनशतानि तिर्यगतीत्य माल्यवान्नाम ह्रदो भवति माल्यवान्नामनागेन्द्रकुमारावासः[3] । पूर्ववत् काञ्चनाद्रयश्च । काञ्चनाद्रिशते पूर्वदिग्विनिवेशि जिनायतनशतम् ।

मेरोरपाक् प्राच्यां दिशि मंगलावद्विजयात् प्रत्यक् निषधादुदक् सौमनसो नाम वक्षारगिरिः सर्वस्फटिकपरिणामः, गन्धमादनेन विष्कम्भायामोच्छ्रायावगाहसंस्थानैस्तुल्यः । तस्योपरि मेरुपर्यन्ते सिद्धायतनकूटमर्हदायतनालङ्कृतं पूर्वोक्तपरिमाणम् । तस्य दक्षिणतो यथाक्रमं सौमनस-देवकुरु-मङ्गलावत्-पूर्वविदेह-कनक-[4]काञ्चनकवशिष्ठ-उज्ज्वलकूटान्यष्टौ गन्धमादनकूटसमानानि तत्र कनककूटस्योपरि प्रासादे सुवत्सा दिक्कुमारी, काञ्चनकूटस्योपरि प्रासादे वत्समित्रा दिक्कुमारी, शेषेषु स्वकूटनामानो देवाः मेरोरपाक् प्रतीच्यां दिशि निषधादुदक् पद्मवद्विजयात् प्राक् विद्युत्प्रभो नाम वक्षारगिरिस्तपनीयपरिणामो गन्धमादनसमवर्णनः । तस्योपरि मेरुपर्यन्ते सिद्धायतनकूटमर्हदायतनालङ्कृतम् । तस्य दक्षिणतो यथाक्रमं विद्युत्प्रभ-देवकुरु-पद्मवद्विजय-अपरविदेह-स्वस्तिक-शतज्वाल-सीतोदा-हरिनामान्यष्टौ कूटानि गन्धमादनकूटसमानि[5] । तत्र पद्मवद्विजयकूटस्योपरि प्रासादे वारिषेणा नाम दिक्कुमारी, स्वस्तिककूटस्योपरि प्रासादे बला नाम दिक्कुमारी, शेषेषु स्वकूटनामानो देवाः ।

मेरोरपाक् सौमनसात्प्रत्यक् निषधादुदक् विद्युत्प्रभात्प्राक् देवकुरवः । तेषां ज्याधनुरिषुगणना उत्तरकुरुगणनया व्याख्याता । मेरोर्दक्षिणापरस्यां दिशि निषधादुदक् सीतोदायाः प्रत्यक् विद्युत्प्रभात्प्राक् मध्ये सुप्रभा नाम शाल्मलिः सुदर्शनया जम्ब्वा व्याख्यातवर्णना । तस्या उत्तरशाखायामर्हदायतनम् । पूर्वदक्षिणापरासु शाखासु प्रासादेषु गरुत्मान् वेणुदेवो वसति । तस्य परिवारः सर्वोऽनावृत[6]देवपरिवारेण तुल्यः । निषधादुदगेकयोजनसहस्रं तिर्यगतीत्य सीतोदायाः महानद्या उभयोः पार्श्वयोश्चित्रकूटविचित्रकूटौ गिरी यमकपर्वताभ्यां तुल्यवर्णनौ । निषध-देवकुरु-सूर्य-[7]सुरेश-विद्युत्प्रभह्रदाख्याः पञ्चह्रदाः उत्तरकुरुषु ह्रदैर्व्याख्यातवर्णनाः । काञ्चनगिरिशतं च तद्वदेव ज्ञेयम् ।

सीतया महानद्या पूर्वविदेहो द्विधा विभक्तः उत्तरो दक्षिणश्चेति । तत्रोत्तरो भागश्चतुर्भिर्वक्षारपर्वतैस्तिसृभिर्विभङ्गनदीभिश्च विभक्तोऽष्टधा भिन्नः अष्टाभिश्च[8]क्रधरैरुपभोग्यः । तत्र चित्रकूटः पद्मकूटो नलिनकूटः एकशिलश्चेति वक्षाराः, तेषामन्तरेषु ग्राहावती-ह्रदावती-पङ्कावती चेति विभङ्गनद्यः । तत्र चत्वारोऽपि वक्षारका दक्षिणोत्तरकोटिभ्यां

---

१ समानपङ्क्तयः । २ सक्रोश- आ०, ब०, द०, मु० । ३ पूर्ववत् कांचनाद्रिशते पूर्वदिङ्नि- आ०, ब०, द०, मु० । ४ कांचनविशिष्टो- आ०, ब०, द०, मु० । ५ -समानानि आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ६ -नावृतदेव- अ०, ता० । ७ -सुलस वि- आ०, ब०, द०, मु० । ८ -भिश्च चक्र- मू०, आ० ब० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सीतानीलस्पृशो नीलान्ते चतुर्योजनशतोत्सेधाः योजनशतावगाहाः प्रदेशवृद्धया वर्धमानाः शीतानद्यन्ते पञ्चयोजनश[1]तोत्सेधाः पञ्चविंशतियोजनशतावगाहाः अश्वस्कन्धाकाराः सर्वत्र पञ्चयोजनशतविष्कम्भाः। षोडशसहस्राणि पञ्चशतानि द्वानवत्यधिकानि योजनानां द्वौ चैकान्नविंशतिभागौ तेषामायामः। तत्र चित्रकूटस्योपरि चत्वारि कूटानि–सिद्धायतन-चित्र-कच्छविजय-सुकच्छविजयकूटाख्यानि। पद्मकूटस्योपरि चत्वारि कूटानि सिद्धायतन-पद्म-महाकच्छकच्छावद्विजयकूटाभिधानानि। नलिनकूटस्योपरि चत्वारि कूटानि सिद्धायतन-नलिन-नलिनावर्त-लाङ्गलावर्तकूटसंज्ञानि। एकशिलस्योपरि चत्वारि कूटानि सिद्धायतन-एकशिल-पुष्कल-पुष्कला[2]वत्कूटनामानि। सर्वाण्येवैतानि हिमवदद्रिकूटतुल्यपरिमाणानि, तद्गतार्हदायतनप्रासादतुल्यवर्णनजिनायतनप्रासादानि, सर्वत्र [3]सीतान्ते सिद्धायतनकूटानि[4] इतरेषु कूटसमनामानो देवाः। तिस्रोऽपि विभङ्गनद्यः स्वतुल्यनामकुण्डेभ्यो विंशतियोजन-शतविष्कम्भायामेभ्यो वरवज्रतलेभ्यः सुवृत्तेभ्यः स्वतुल्यनामदेवीनिवासालङ्कृतदशयोजन-द्विगव्यूतोच्छ्रायषोडशयोजनविष्कम्भायामद्वीपोपेतेभ्यः नीलाद्रिनितम्बनिवेशिभ्यो निर्गताः। प्रभवे द्विक्रोशाधिकद्वादशयोजनविष्कम्भा गव्यूतावगाहाः, मुखे पञ्चविंशतियोजनशतविष्कम्भा दशगव्यूतावगाहाः, प्रत्येकमष्टाविंशतिनदीसहस्रपरिवृताः सीतां प्रविशन्ति।

एतैर्विभक्ता अष्टौ जनपदाः कच्छ-सुकच्छ-महाकच्छ-कच्छकावत्-आवर्तलाङ्गलावर्त-पुष्कल-पुष्कलावताख्याः। तेषां मध्ये राजधान्यः–क्षेमा क्षेमपुरी अरिष्टा अरिष्टपुरी खड्गा मञ्जूषा औषधिः पौण्डरीकिणी चेति नगर्यः। तत्र सीताया उदक् नीलादपाक् चित्रकूटात्प्रत्यक् माल्यवत्समीपदेवारण्यात्प्राक् कच्छविषयः, चित्रकूटसमायामः द्वे सहस्रे द्वे च शते त्रयोदशयोजनानां केनचिद्विशेषेणोने, प्राक्प्रत्यग्विस्तीर्णः। तस्य बहुदेशमध्यभागे विजयार्धनामा रजतगिरिः भरतविजयार्धतुल्योच्छ्रायावगाहविष्कम्भः कच्छविषयविस्तारसमायामः। तत्रोभयोर्विद्याधरश्रेण्योः, प्रत्येकं पञ्चपञ्चाशन्नगराणि। व्यन्तरश्रेण्योः ऐशानस्य देवराजस्य लोकपालानां सोमयमवरुणवैश्रवणानामाभियोग्यदेवनगराणि। प्राच्यसिद्धायतनादिकूटनवके च दक्षिणार्धकच्छोत्तरार्धकच्छकूटे वाच्ये। विजयार्धादुदक् नीलादपाक् [5]सिद्धकूटाद् वृषभाद्रेश्च प्राक् चित्रकूटात् प्रत्यक् त्रिषष्टियोजनविष्कम्भायामं तत्त्रिगुणसातिरेकपरिक्षेपं दशयोजनावगाहं वरवज्रतलं गङ्गाकुण्डम्। अस्य बहुमध्यदेश[6]भावी द्वीपोऽष्टयोजनविष्कम्भायामो दशयोजनद्विगव्यूतोच्छ्रायः पद्मवरवेदिकाचतुस्तोरणालङ्कृतः सुवृत्तो गङ्गादेवीनिवासः। ततो दक्षिणतोरणाद्विनिःसृता अपाङमुखी भरतक्षेत्रगङ्गातुल्यविष्कम्भावगाहा विषयसमायामा विजयार्धखण्डप्रपातगुहातोरणनिर्गता चतुर्दशनदीसहस्रपरिवारा गङ्गा महानदी सीतां प्रविशति। विजयार्धादुदङ नीलादपाक् वृषभाद्रेः प्रत्यङ माल्यवत्समीपदेवारण्यात्प्राक् सिन्धुकुण्डं गङ्गाकुण्डतुल्यवर्णनं सिन्धूदेवीनिवासालङ्कृतम्। ततो विनिःसृता गङ्गातुल्या विजयार्धतमिस्रगुहान्तरान्निर्गता चतुर्दशनदीसहस्रपरिवारा सिन्धुर्महानदी सीतां प्रविशति। तत्र सीताया उदक् विजयार्धादपाक् गङ्गासिन्ध्वोर्बहुमध्यदेशभाविनी क्षेमा नाम राजधानी। एवमितरे सप्तापि जनपदाः क्रमेण पूर्वदेशनिवेशिनो नेतव्याः।

---

१ –शतविष्कम्भाः प०– भा० १। २ –लावर्तक– आ०, ब०, मु०। ३ सीतावर्तंसि– आ०, ब०, द०, मु०। सीतात्तंसि– मू०। ४ – नि तेषु आ०, ब०, द०, ब०, मु०। ५ सिन्धूकू– ता०, मु०। ६ –देशभवोद्वी– आ०, ब,० ब०, मु०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लवणसमुद्रवेदिकायाः प्रत्यक् पुष्कलावत्याः प्राक् सीताया उदक् नीलादपाक् देवारण्यं नाम वनम्। तस्य द्वे सहस्रे नव च शतानि द्वाविंशतिर्योजनानां सीतामुखे विष्कम्भः। षोडशसहस्राणि पञ्चशतानि द्वानवत्यधिकानि योजनानां द्वौ चैकान्नविंशतिभागौ आयामः। सीताया अपाक् निषधादुदक् वत्सविषयात् प्राक् लवणसमुद्रवेदिकायाः प्रत्यक् पूर्ववद् देवारण्यम्।

सीताया दक्षिणतः पूर्वविदेहश्चतुर्भिर्वक्षारपर्वतैस्तिसृभिश्च विभङ्गनदीभिर्विभक्तोऽष्टधा भिन्नः अष्टाभिश्चक्रधरैरुपभोग्यः। तत्र त्रिकूटो वैश्रवणकूटः अञ्जनः आत्माञ्जनश्चेति वक्षाराः। तेषामन्तरेषु तप्तजला मत्तजला उन्मत्तजला चेति तिस्रो विभङ्गनद्यः। एतैर्विभक्ता अष्टौ जनपदाः–वत्सा-सुवत्सा-महावत्सा-[1]वत्सवत्-रम्य-रम्यक - रमणीय - मङ्गलावत्याख्याः। तेषां मध्ये राजधान्यः– सुसीमा-कुण्डला-अपराजिता-[2]प्रभाकरी-अङ्कावती-पद्मावती-शुभा-रत्नसञ्चयावती नगर्यः। तेषु जनपदेषु द्वे द्वे नद्यौ रक्तारक्तोदासंज्ञे। एकैको विजयार्धः। तेषां सर्वेषां विष्कम्भायामादिवर्णना पूर्ववद्वेदितव्या। वक्षारपर्वतेषु प्रत्येकं चत्वारि कूटानि सिद्धायतन-स्वनाम-पूर्वापरदेशनामानि। सीताया उत्तरतटे दक्षिणतटे च प्रतिजनपदं त्रीणि त्रीणि तीर्थानि मागध-वरदान-प्रभाससंज्ञानि। तानि समुदितानि अष्टचत्वारिंशत्तीर्थानि पूर्वविदेहे।

सीतोदया महानद्या अपरविदेहो द्विधा विभक्तो दक्षिण उत्तरश्चेति। तत्र दक्षिणो भागश्चतुर्भिर्वक्षारपर्वतैस्तिसृभिश्च विभङ्गनदीभिर्विभक्तोऽष्टधा भिन्नः, अष्टाभिश्चक्रधरैरुपभोग्यः। तत्र [3]शब्दावत्-विकृतावत्-आशीविष-सुखावहसंज्ञाश्चत्वारो वक्षाराद्रयः। तेषामन्तरेषु [4]क्षीरोदा-सीतोदा-स्रोतोऽन्तर्वाहिनी चेति तिस्रो विभङ्गनद्यः। एतैर्विभक्ता अष्टौ जनपदाः–पद्म-सुपद्म-महापद्म-[5]पद्मवत्-शङ्ख-नलिन-कुमुद-सरिदाख्याः। तेषां मध्ये राजधान्यः–अश्वपुरी सिंहपुरी महापुरी विजयपुरी अरजा विरजा अशोका वीतशोका चेति नगर्यः। तेषु जनपदेषु द्वे द्वे नद्यौ रक्तारक्तोदासंज्ञे। एकैको विजयार्धश्च। तेषां सर्वेषां विष्कम्भायामादिवर्णना पूर्ववद्वेदितव्या। वक्षारपर्वतेषु प्रत्येकं चत्वारि कूटानि सिद्धायतनस्वनामपूर्वापरदेशनामानि। देवारण्ये द्वे अपि पूर्ववद्वेदितव्ये।

उत्तरो विभागश्चतुर्भिर्वक्षारपर्वतैस्तिसृभिर्विभङ्गनदीभिश्च विभक्तोऽष्टधा भिन्नः, अष्टाभिश्चक्रधरैरुपभोग्यः। तत्र चन्द्र-सूर्य-नाग-देवसंज्ञाश्चत्वारो वक्षारपर्वताः। तेषामन्तरेषु गम्भीरमालिनी फेनमालिनी ऊर्मिमालिनी चेति तिस्रो विभङ्गनद्यः। एतैर्विभक्ता अष्टौ जनपदाः–वप्र-सुवप्र-महावप्र-वप्रावत्-वल्गु-सुवल्गु-गन्धिल[6]-गन्धिमालिसंज्ञाः। तेषां मध्ये राजधान्यः–विजया वैजयन्ती जयन्ती अपराजिता चक्रपुरी खड्गपुरी अयोध्या अवध्या चेति नगर्यः। तेषु जनपदेषु गङ्गासिन्धूसंज्ञे द्वे नद्यौ। एकैको विजयार्धश्च। तेषां सर्वेषां विष्कम्भायामादिवर्णना पूर्ववद्वेदितव्या। वक्षारपर्वतेषु प्रत्येकं चत्वारि कूटानि सिद्धायतनस्वनामपूर्वापरदेशनामानि। सीतोदाया अपि तीर्थानि सीताया इवाष्टचत्वारिंशत्।

विदेहस्य मध्ये मेरुर्नवनवतियोजनसहस्रोत्सेधः। धरणीतले सहस्रावगाहः। दशसहस्राणि नवतिश्च योजनानां दश चैकादशभागा अधस्तलेऽस्य विस्तारः। एकत्रिंशत्सहस्राणि नवशतान्येकादश च योजनानि किञ्चिन्न्यूनानि अधस्तलेऽस्य परिधिः। दशसहस्राणि योज-

---

१ –वत्सवतीर– श्रा०, मु०। २ प्रभङ्करी ता०। ३ शब्दवत्– श्रा०, ब०, मु०। ४ क्षारोदा म०, ता०। ५ पद्मावत् श्रा०, ब०, मु०। ६ –गन्धिगन्धि– ता०।

नानां भूतलेऽस्य विष्कम्भः। एकत्रिंशत्सहस्राणि षट्शतानि त्रयोविंशानि योजनानि किञ्चिन्न्यूनानि तत्रास्य परिधिः। स चतुर्वनः त्रिकाण्डः त्रिश्रेणिः। चत्वारि वनानि भद्रसालवनं नन्दनं सौमनसं पाण्डुकवनं चेति। भूमितले भद्रसालवनं पूर्वापरदिशोर्द्वाविंशति-योजनसहस्राण्यायतम्, दक्षिणोत्तरदिशोरर्धतृतीययोजनशतान्यायतम्, एकया अर्धयोजनोच्छ्राय-पञ्चशतधनुर्विष्कम्भवनसमायामया बहुतोरणविभक्तया पद्मवरवेदिकया परिवृतम्।

मेरोश्चतसृषु दिक्षु भद्रसालवने पद्मोत्तर-नील-स्वस्तिक-अञ्जन-कुमुद-पलाश-अवतंस-रोचन-संज्ञान्यष्टौ कूटानि। एकैकस्यां दिशि द्वे द्वे कूटे भवतः। तत्र मेरोः प्रागुदक्कूले सीतायाः पद्मोत्तरकूटम्। मेरोः प्राक् अपाक्कूले सीतायाः नीलकूटम्। मेरोरपाक् सीतोदाया प्राक्कूले स्वस्तिक'कूटम्। मेरोरपाक् सीतोदाया प्रत्यक्कूले अञ्जनकूटम्। मेरोः प्रत्यक् सीतोदाया दक्षिणकूले कुमुदकूटम्। मेरोः प्रत्यक् सीतोदाया उत्तरकूले पलाशकूटम्। मेरोरुदक् सीतायाः प्रत्यक्कूले अवतंसकूटम्। मेरोरुदक् सीतायाः प्राक्कूले रोचनकूटम्। तान्येतानि सर्वाणि कूटानि पञ्चविंशतियोजनावगाहनानि योजनशतोच्छ्रायाणि योजनशतमूलविस्ताराणि पञ्चसप्ततियोजनमध्यविष्कम्भाणि पञ्चाशद्योजनाग्रविस्ताराणि पद्मवरवेदिकापरिवृतानि। तेषामुपरि मध्यदेशभाजः सक्रोशैकत्रिंशद्योजनोत्सेधाः पञ्चदशयोजनद्विगव्यूतायामविष्कम्भा अष्टौ प्रासादाः। तेषु स्वकूटनामानः सोमयमवरुणवैश्रवणानां लोकपालानामाभियोग्या अनेकैरावतरूपविकरणसमर्थाः दिग्गजेन्द्रा देवा वसन्ति। तत्र पद्मोत्तरनीलस्वस्तिकाञ्जनकूटेषु शक्रलोकपालानां भौमविहाराः। कुमुदपलाशावतंसरोचनकूटेषु ऐशानलोकपालानां भौमविहाराः। मेरोः प्राक् सीताया दक्षिणकूले भद्रसालवनं अर्हदायतनम्। मेरोरपाक् सीतोदायाः प्राक्कूले अर्हदायतनम्। मेरोः प्रत्यक् सीतोदाया उदक्कूले अर्हदायतनम्। मेरोरुदक् सीतायाः प्रत्यक्कूले अर्हदायतनम्। चत्वार्यप्येतानि पञ्चसप्ततियोजनोच्छ्रायाणि योजनशतोदक्दक्षिणायामानि, प्राक् प्रत्यक् पञ्चाशद्योजनविष्कम्भाणि, षोडशयोजनोच्छ्रायतदर्धविष्कम्भतावत्प्रवेशप्रागुदग्दक्षिणद्वाराणि नानामणिकाञ्चनरजतपरिणामानि सहस्रजिह्वेनापि वर्णयितुमशक्यानि। यानि सहस्राक्षः सहस्रमक्ष्णां विस्तीर्य विलोकमानोऽपि सततं न तृप्तिमुपयाति। तेषां पुरस्ताद्योजनशतायामतदर्धविष्कम्भसातिरेकषोडशयोजनोच्छ्राया मुखमण्डपाः। तेषां पुरस्ताद्योजनशतायामतदर्धविष्कम्भसातिरेकषोडशयोजनोच्छ्रायाः प्रेक्षागृहाः। तेषां पुरस्ताच्चतुःषष्टियोजनायामविष्कम्भास्तत्त्रिगुणसातिरेकपरिधयः स्तूपाः। तेषां पुरस्ताच्चैत्यवृक्षपीठानि षोडशयोजनायामानि तदर्धविष्कम्भाणि तावदुत्सेधानि प्रत्येकं चतुस्तोरणविभक्तानां पद्मवरवेदिकानां चतुर्विंशत्या परिवृतानि। तेषां मध्ये सिद्धार्थनामकाः चैत्यवृक्षाः सिद्धार्थतीर्थकरप्रतिकृतिपवित्रीकृताः षोडशयोजनोच्छ्राय-चतुर्योजनोत्सेध-योजनविष्कम्भस्कन्धा द्वादशयोजनोच्छ्रायतावद्बाहल्यविटपाः। तेभ्यः प्राक् नानामणिरत्नमयपीठनिवेशिनः षोडशयोजनोच्छ्रायगव्यूतविष्कम्भायाममहेन्द्रध्वजाः। ततः प्राङ् नन्दाख्याः पुष्करिण्यः योजनशतायामतदर्धविष्कम्भदशयोजनावगाहाः। अर्हदायतनमध्यदेशनिवेशिनः षोडशयोजनायामतदर्धविष्कम्भोच्छ्राया रत्नमया देवच्छन्दाः। तत्र पञ्चधनुःशतोत्सेधाः कनकमयदेहास्तपनीयहस्तपादतलतालुजिह्वा लोहिताक्षमणिपरिक्षिप्ताङ्कस्फटिकमणिनयना अरिष्टमणिमय-

१ –नि कि– ता०, श्र०, मू०। २ –कं कू– श्र०, मू०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नयनतारका रजतमयदन्तपङ्क्तयः विद्रुमच्छायाधरपुटा अञ्जनमूलमणिमयाक्षपक्ष्मभ्रूलता नीलमणिविरचितासिताञ्चिकेशाः प्रगृहीतसितविमलवरचामराग्रहस्तोभयपार्श्वस्थविविधमणिकनकविधृताभरणालङ्कृतयक्षनागमिथुनाः सुश्लिष्टाष्टसहस्रलक्षणव्यञ्जनाङ्किता वैडूर्यदण्डमणिहेममुक्ताजालालङ्कृतरत्नशलाका शतकाञ्चनतुम्बबिम्बरजतच्छदछत्राधिच्छत्रा भव्यजनस्तवनवन्दनपूजनाद्यर्हा अर्हत्प्रतिमा अनाद्यनिधना अष्टशतसंख्या विशिष्टगणवर्णितगुणा अष्टशतकलशभृङ्गाराद्युपकरणपरिवारा वर्णनातीतविभवा मूर्ता इव जिनधर्मा विराजन्ते।

ततो भूमितलात् पञ्चयोजनशतान्युत्प्लुत्य पञ्चयोजनशतविष्कम्भं मेरुसमायाममण्डलं पद्मवरवेदिकापरिक्षिप्तं वृत्तवलयपरिधि नन्दनवनम्। तत्र बाह्यगिरिविष्कम्भः नवसहस्राणि नव च शतानि चतुःपञ्चाशानि योजनानां षट् चैकादशभागाः। तत्परिधिरेकत्रिंशत्सहस्राणि चत्वारि शतानि एकान्नाशीत्यधिकानि सातिरेकाणि योजनानाम्। [1]अभ्यन्तरगिरिविष्कम्भोऽष्टौ सहस्राणि नवशतानि चतुःपञ्चाशानि योजनानां षट्चैकादश भागाः। तत्परिधिर[2]ष्टाविंशतिसहस्राणि त्रीणि शतानि षोडशानि योजनानामष्टौ चैकादशभागाः। चतसृषु दिक्षु चतस्रो गुहाः–प्राच्यां दिशि मणिगुहा, अपाच्यां गन्धर्वगुहा, प्रतीच्यां चारणगुहा, उदीच्यां चन्द्रगुहा। ता एतास्त्रिंशद्योजनविष्कम्भायामाः साधिकनवतियोजनपरिधयः पञ्चाशद्योजनावगाहाः। तासु यथासंख्यं सोमयमवरुण[3]कुबेराणां विहाराः। मेरोः पूर्वोत्तरदिशि नन्दनवने बलभद्रकूटं योजनसहस्रोच्छ्रायं मूलमध्याग्रेषु योजनसहस्रार्धाष्टम[4]योजनशतपञ्चयोजनशतविस्तारम्। तत्त्रिगुणसातिरेका[5] परिधिः। तस्योपरि मन्दराधिपतेरावासाः। मेरोश्चतसृषु दिक्षु द्वे द्वे कूटे–प्राच्यां दिशि तावन्नन्दनमन्दिरे। अपाच्यां निषधहैमवते। प्रतीच्यां रजतरुचके। उदीच्यां सागरचित्रवज्रे। अष्टावप्येतानि कूटानि पञ्चयोजनशतोच्छ्रायानि मूलमध्याग्रेषु पञ्चशतपञ्चसप्तत्यधिकशतत्रयार्धतृतीयशतयोजनविष्कम्भाणि। तेषामुपरि द्विषष्टियोजनद्विगव्यूतोच्छ्रायाः सक्रोशैकत्रिंशद्योजनविष्कम्भास्तावत्प्रवेशा एवाष्टौ प्रासादाः। तेषु मेघङ्करी-मेघवती-सुमेघा-मेघमालिनी-तोयन्धरा-विचित्रा-पुष्करमाला-अनिन्दितासंज्ञा अष्टौ दिक्कुमार्यः यथाक्रमं परिवसन्ति। मेरोर्दक्षिणपूर्वस्यां दिशि उत्पलगुल्मा-नलिना-उत्पला-उत्पलोज्वलाख्याश्चतस्रो वाप्यः। दक्षिणापरस्यां भृङ्गा-भृङ्गनिभा-कज्जला-कज्जलप्रभाश्चतस्रः पुष्करिण्यः। अपरोत्तरस्यां दिशि श्रीकान्ता-श्रीचन्द्रा-श्रीनिलया-श्रीमहिताश्चतस्रो वाप्यः। उत्तरपूर्वस्यां दिशि पद्मा-पद्मगुल्मा-कुमुदा-कुमुदप्रभाश्चतस्रो वाप्यः। ताः सर्वाः पञ्चाशद्योजनायामतदर्धविष्कम्भदशयोजनावगाहाः चतुष्कोणा आयतचतुरस्राः। तासां मध्ये प्रत्येकमेकैकः प्रासादः द्विषष्टियोजनार्धयोजनोत्सेधः सगव्यूतैकत्रिंशद्योजनविष्कम्भस्तावत्प्रवेशः। तत्र दक्षिणस्यां दिशि विदिशोः प्रासादाः शक्रस्य भौमविहाराः। उत्तरस्यां दिशि विदिशोरैशानस्य भौमविहाराः। मेरोश्चतसृषु दिक्षु नन्दनवने चत्वारि जिनायतनानि षट्त्रिंशद्योजनोत्सेधानि पञ्चाशद्योजनायामतदर्धविष्कम्भाणि तावत्प्रवेशानि अष्टयोजनोच्छ्रायतदर्धविष्कम्भायाम[6]प्रागुदगपाग्द्वाराणि अर्हदायतनवर्णनोपेतानि।

---

१ –विकम्बसा आ०, ब०, मु०। २ उभयपार्श्वमिलितसहस्रयोजनन्यून। ३ –रष्टावि– अ०। ४ –णखचराणां आ०,ब०,मु०। –णखेचराणां द०। ५ –ष्टमो– आ०, ब०, द०, मु०। ६ –रेकपरि– म०, अ०, मू। –मप्राग्द्वार ब०, द०। ७ –मप्राग्द्वाराणि प्रागुदगपाग्द्वाराणीत्यपि पाठः अ– मु०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नन्दनात् समात्[1]भूमिभागाद् द्विषष्टियोजनसहस्राणि पञ्चशतान्युत्प्लुत्य वृत्तवलयपरिधि-पञ्चयोजनशतविष्कम्भं पद्मवरवेदिकापरिक्षिप्तं सौमनसवनम् । तत्र बाह्यगिरिविष्कम्भश्चत्वारि सहस्राणि द्वे शते द्वासप्ततिश्च योजनानामष्टौ चैकादशभागाः । तत्परिधिस्त्रयोदशसहस्राणि पञ्चशतान्येकादशानि योजनानां षट्चैकादशभागाः । [2]अभ्यन्तरगिरिविष्कम्भस्त्रीणि सहस्राणि द्वे शते द्वासप्ततिर्योजनानामष्टौ चैकादशभागाः । तत्परिधिर्दशसहस्राणि त्रीणि शतान्येकान्नपञ्चाशानि योजनानां त्रयश्चैकादशभागाः किञ्चिद्विशेषोनाः । बलभद्रकूटदिक्कुमारीकूटाष्टकहीनं सौमनसम् । षोडशात्र वाप्यः—नन्दनवापीसदृशायामविष्कम्भावगाहाः । तन्मध्यदेशे भवनानि पञ्चाशद्योजनायामतदर्धविस्तारषट्त्रिंशद्योजनोच्छ्रायाणि । चतुर्दिशं चत्वार्यर्हदायतनानि अष्टयोजनोच्छ्रितदर्धविस्तारतावत्प्रवेशप्रागुदगपाग्द्वाराणि जिनायतनवर्णनोपेतानि ।

सौमनसात्समाद् [3]भूभागात् षट्त्रिंशत्सहस्राण्यारुह्य योजनानि वृत्तवलयपरिधि पाण्डुकवनं चतुर्नवत्युत्तरचतुःशतविष्कम्भं पद्मवरवेदिकापरिवृतं चूलिकां परीत्य स्थितम् । [4]शिखरं मेरोरेकयोजनसहस्रविष्कम्भम् । तत्परिधिस्त्रीणि सहस्राणि द्विषष्ट्यधिकं शतं योजनानां साधिकम् ।

पाण्डुकवनबहुमध्यदेशभाविनी चत्वारिंशद्योजनोच्छ्राया मूलमध्याग्रेषु द्वादशाष्टचतुर्योजनविष्कम्भा सुवृत्ता चूलिका । [5]तस्याः प्राच्यां दिशि पाण्डुकशिला उदक्दक्षिणायामा प्राक्प्रत्यग्विस्तारा । अपाच्यां पाण्डुकम्बलशिला प्राक्प्रत्यगायामा उदग्दक्षिणविस्तारा । प्रतीच्यां रक्तकम्बलशिला उदगपागायता प्राक्प्रत्यक्विस्तीर्णा । उदीच्यां [6]अतिरक्तकम्बलशिला प्राक्प्रत्यगायता उदगपाग्विस्तीर्णा । तत्रार्जुनसुवर्णमयी पाण्डुकशिला । रजतपरिणामा पाण्डुकम्बलशिला । विद्रुमवर्णा रक्तकम्बलशिला । जाम्बूनदसुवर्णमयी [6]अतिरक्तकम्बलशिला । ता एताश्चतस्रोऽपि पञ्चयोजनशतायामतदर्धविष्कम्भाश्चतुर्योजनबाहल्या अर्धचन्द्रसंस्थाना अर्धयोजनोत्सेधपञ्चधनुःशतविष्कम्भशिलासमायामैकपद्मवरवेदिकापरिवृताः श्वेतवरकनकस्तूपिकालङ्कृतचतुस्तोरणद्वारविराजिताः । तासामुपरि बहुमध्यदेशभावीनि पञ्चधनुःशतोत्सेधायामतदर्धविष्कम्भाणि प्राङ्मुखानि सिंहासनानि । पौरस्त्ये सिंहासने पूर्वविदेहजान् अपाच्ये भरतजान् प्रतीच्ये अपरविदेहजान् उदीच्ये ऐरावतजांस्तीर्थंकरान् चतुर्णिकायदेवाधिपाः सपरिवाराः महत्या विभूत्या क्षीरोदवारिपरिपूर्णाष्टसहस्रकनककलशैरभिषिञ्चन्ति । अत्रापि षोडशपुष्करिण्यः पूर्ववद्वेदितव्याः । चूलिकायाश्चतसृषु महादिक्षु सक्रोशत्रयस्त्रिंशद्योजनायामानि द्विगव्यूताधिकषोडशयोजनविष्कम्भाणि पञ्चविंशतियोजनोच्छ्रायाणि योजनोत्सेधतदर्धविष्कम्भतावत्प्रवेश[7]प्रागुदगपाग्द्वाराणि चत्वार्यर्हदायतनानि अर्हदायतनवर्णनोपेतानि ।

भद्रसालवनभाविनि भूतले लोहिताक्षकल्पः परिक्षेपः । तत ऊर्ध्वमर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य द्वितीयः पद्मवर्णः । ततोऽप्यर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य तृतीयस्तपनीयवर्णः । ततोऽप्यर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य चतुर्थो वैडूर्यवर्णः । ततोऽप्यर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य

---

१ –समभू– श्रा०, ब०, द०, मु० । २ दण्डाकारस्य । ३ अत्रापि समरुन्द्रेणोच्छ्रितिः ११०००, पुनः क्रमहानिरुत्सेधः २५०००, मिलित्वा ३६००० । ४ शेखरं मेरोः श्रा०, ब०, द०, मु० । ५ तस्यां श्रा०, ब०, द०, मु० । ६ अतिरिक्त– श्रा०, ब, द०, मु० । ७ –प्रागपागुदग्द्वाराणि श्रा०, ब०, द०, मु०, मू०, ता० ।

पञ्चमो[1] वज्रप्रभः । ततोऽप्यर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य षष्ठो हरितालवर्णः । ततोऽप्यर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य जाम्बूनदसुवर्णवर्णो भवति । अधोभूम्यवगाही योजनसहस्रायामः प्रदेशः पृथिव्युपलवालुकाशर्कराचतुर्विधपरिणामः । उपरि वैडूर्यपरिणामः प्रथमः काण्डः सर्वरत्नमयः । द्वितीयः काण्डः जाम्बूनदमयः । तृतीयः काण्डश्चूलिका वैडूर्यमयी । मेरुरयं त्रयाणां लोकानां मानदण्डः । अस्याधस्तलादधोलोकः । चूलिकामूलादूर्ध्वमूर्ध्वलोकः । [2]मध्यप्रमाणः तिर्यग्विस्तीर्णस्तिर्यग्लोकः । एवं च कृत्वा अन्वर्थनिर्वचनं क्रियते 'लोकत्रयं मिनातीति मेरुः' इति ।

तस्य भूमितलादारभ्य आशिखरादैकादशिकी प्रदेशहानिः । एकादशसु प्रदेशेषु एकप्रदेशो हीयते । एकादशसु गव्यूतेषु एकगव्यूतं हीयते । एकादशसु योजनेषु एकयोजनं हीयते । एवं सर्वत्राशिखराद् भूमितलस्याधः[3] ऐकादशिकी प्रदेशवृद्धिः—एकादशसु प्रदेशेषु एकः प्रदेशो वर्धते । एकादशसु गव्यूतेषु एकं गव्यूतं वर्धते । एकादशसु योजनेषु एकं योजनं वर्धते । एवं सर्वत्र आअधस्तलात् । अथ कथं रम्यकसंज्ञा ?

रमणीयदेशयोगाद्रम्यकाभिधानम् ।१४। यस्माद्रमणीयैर्देशैः सरित्पर्वतकाननादिभियुक्तः, तस्मादसौ रम्यक इत्यभिधीयते । अन्यत्रापि रम्यकदेशयोगः समान इति चेत्; न; रूढिविशेषबललाभाद् गोशब्दवृत्तिवत्[4] । अत एव संज्ञायां को विहितः । क्व पुनरसौ ?

नीलरुक्मिणोरन्तराले तत्सन्निवेशः ।१५। नीलादुदक् रुक्मिणोऽपाक् पूर्वापरसमुद्रयोरन्तराले तस्य रम्यकस्य सन्निवेशो द्रष्टव्यः ।

तन्मध्ये गन्धवान्वृत्तवेदाढ्यः ।१६। तस्य रम्यकस्य मध्ये गन्धवान्नाम वृत्तवेदाढ्यः शब्दवद्वृत्तवेदाढ्येन तुल्यवर्णनः । तस्योपरि प्रासादे पद्मदेवो वसति । अथ कथं हैरण्यवतसंज्ञा ?

हिरण्यवतोऽदूरभवत्वाद्धैरण्यवतव्यपदेशः ।१७। हिरण्यवान् रुक्मिनामा पर्वतस्तस्याऽदूरभवत्वाद्धैरण्यवतव्यपदेशः । क्व पुनरसौ ?

रुक्मिशिखरिणोरन्तराले तद्विस्तारः ।१८। रुक्मिण उदक् शिखरिणोऽपाक् पूर्वापरसमुद्रयोरन्तराले तस्य हैरण्यवतस्य विस्तारो वेदितव्यः ।

तन्मध्ये माल्यवान् वृत्तवेदाढ्यः ।१९। तस्य हैरण्यवतस्य मध्ये माल्यवान्नाम वृत्तवेदाढ्यः शब्दवद्वृत्तवेदाढ्येन तुल्यवर्णनः । तस्योपरि प्रासादे प्रभासदेवो वसति ।

अथ कथमैरावतसंज्ञा ?

ऐरावतक्षत्रिययोगादैरावताभिधानम् ।२०। रक्तारक्तोदयोः बहुमध्यदेशभाविनी अयोध्या नाम नगरी । तस्यामुत्पन्न ऐरावतो नाम राजा तत्परिपालितत्वाज्जनपदस्यैरावताभिधानम् । क्व पुनरसौ ?

शिखरिसमुद्रत्रयान्तरे तदुपन्यासः ।२१। शिखरिणो गिरेस्त्रयाणां पूर्वापरोत्त[5]रसमुद्राणां मध्ये तस्यैरावतस्य उपन्यासो वेदितव्यः ।

तन्मध्ये पूर्ववद्विजयार्धः ।२२। तस्यैरावतस्य मध्ये विजयार्धो रजतगिरिः पूर्ववद्वेदितव्यः । यैर्विभक्तानि सप्तक्षेत्राणि व्याख्यातानि ।

के पुनस्ते [6]कथं वा व्यवस्थिता इति ? अत आह—

---

१ –मो नीलवर्णः त– मा०, ब० द०, मु० । २ मध्यमप्र– मा०, ब०, द० मु० । ३ एकादशप्रदेशवृद्धिः मा० २ । ४ –शब्दवत् ब०, मू० । ५ –तराणां समु– मा०, ब०, द० मु० । ६ कथं मव– मा०, ब०, द०, मु० ।

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥११॥

तानि विभजन्तीत्येवं शीला तद्विभाजिनः पूर्वापराभ्यामायताः पूर्वापरायताः पूर्वापरकोटिभ्यां लवणजलधिस्पर्शिन इत्यर्थः। तद्विभाजित्वादेव तेषां वर्षधरव्यपदेशोऽसंकरेण भरतादिवर्षाणां धारणात्। कथं हिमवानिति संज्ञा ?

हिमाभिसंबन्धाद्धिमवद्व्यपदेशः ।१। हिममस्यास्तीति हिमवानिति व्यपदेशः। अन्यत्रापि तत्सम्बन्ध इति चेत् ? रूढिविशेषबललाभात्तत्रैव वृत्तिः। क्वासौ हिमवानिति ? उच्यते—

भरतहैमवतयोः सीमनि स्थितः ।२। भरतस्य हैमवतस्य च सीमनि व्यवस्थितः क्षुद्रहिमवान् वेदितव्यः। कथं पुनरस्य [1]क्षुद्रहिमवत्त्वम् ? महाहिमवदपेक्षया। सूत्रेऽनुक्तं कथं गम्यते इति चेत् ? महाहिमवत्प्रयोगादेव। सति हि क्षुद्रे महत्त्वमित्यर्थात् क्षुद्रत्वं गम्यते। स पञ्चविंशतियोजनावगाहः योजनशतोच्छ्रायः योजनसहस्रं द्विपञ्चाशद्योजनानां द्वादशकान्नविंशतिभागाः तस्य विष्कम्भः। तस्योत्तरपार्श्वे ज्या चतुर्विंशतिसहस्राणि नवशतानि द्वात्रिंशानि योजनानामेकश्चैकान्नविंशतिभागो देशोनः। अस्या ज्याया धनुः पञ्चविंशतिसहस्राणि द्वे[2] शते त्रिंशच्चत्वारश्चैकान्नविंशतिभागाः साधिकाः। तस्य पूर्वापरपार्श्वबाहू प्रत्येकं पञ्चसहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चाशद्योजनानि पञ्चदश चैकान्नविंशतिभागाः [3]साधिकोऽर्धभागश्च। तस्योपरि [4]प्राच्यां दिशि सिद्धायतनकूटं पञ्चयोजनशतोच्छ्रायमूलविष्कम्भं पञ्चसप्तत्यधिकशतत्रयमध्यविष्कम्भम् अर्धतृतीयशताग्रविष्कम्भम्। तत्त्रिगुणसातिरेकपरिधिः। तस्योपरि षट्त्रिंशद्योजनोच्छ्रायं पञ्चाशद्योजनोदगदक्षिणायामं पञ्चविंशतियोजनप्राक्प्रत्यग्विस्तारं तावत्प्रवेशमष्टयोजनोत्सेधतदर्धविष्कम्भं तावत्प्रवेशोदग्दक्षिणपूर्वद्वारमर्हदायतनम्। द्वारत्रये सातिरेकाष्टयोजनोच्छ्रायपञ्चाशद्योजनायामतदर्धविष्कम्भास्त्रयो मुखमण्डपाः। सातिरेकाष्टयोजनोच्छ्रायपञ्चाशद्योजनायामविष्कम्भाणि त्रीणि प्रेक्षागृहाणि[5]। पौरस्त्यप्रेक्षागृहात् प्राक् स्तूपादयः पूर्वोक्ताः। चैत्यालयाभ्यन्तरवर्णना पूर्ववद्वेदितव्या। तेषां सर्वेषामेव परिक्षेप्त्री चतुस्तोरणद्वारविभक्ता पद्मवरवेदिका। ततः प्रतीच्यां दिशि दशकूटानि–हिमवद्भरतेलागङ्गा-श्री-रोहितास्या-सिंधु-सुरा-हैमवत-वैश्रवणकूटाभिधानानि यथाक्रमं वेदितव्यानि सिद्धायतनकूटतुल्यानि। तेषामुपरि प्रासादा दशैव सक्रोशद्वयद्विषष्टियोजनोत्सेधाः सक्रोशैकत्रिंशद्योजनविष्कम्भास्तावत्प्रवेशाः। तेषु स्वकूटनामानो देवा देव्यश्च वसन्ति। हिमवद्भरतहैमवतवैश्रवणकूटेषु देवाः, इतरेषु देव्यः।

अथ कथं महाहिमवत्संज्ञा ?

महाहिमवति चोक्तम् ।३। किमुक्तम् ? हिमाभिसंबन्धाद्धिमवदभिधानम्, महांश्चासौ हिमवांश्च महाहिमवानिति, असत्यपि हिमे हिमवदाख्या इन्द्रगोपवत्। क्व पुनरसौ ?

हैमवतहरिवर्षयोर्विभागकरः ।४। हैमवतादुदक् हरिवर्षादपाक् तयोर्विभागकरो महाहिमवान् वेदितव्यः। स द्वियोजनशतोच्छ्रायः पञ्चाशद्योजनावगाहः, चत्वारि योजनसहस्राणि द्वे च शते दशोत्तरे दश चैकान्नविंशतिभागाः तस्य विष्कम्भः। पूर्वापरपार्श्वबाहू प्रत्येकं नव-

---

१ क्षुद्रत्वम् आ०, ब०, द०, मु०। २ द्विशतत्रि- अ०। ३ साधिकार्धमा- आ०, ब०, द०, मु०। ४ प्राचीदिशि आ०, ब०, द०, मु०। ५ -गृहकाणि आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योजनसहस्राणि द्वे च शते षट्सप्तत्यधिके योजनानां नव चैकान्नविंशतिभागाः अर्धभागश्च साधिकः । तस्योत्तरपार्श्वे ज्या त्रिपञ्चाशद्योजनसहस्राणि नव च शतानि एकत्रिंशानि षट्चैकान्नविंशतिभागाः साधिकाः । तस्याः ज्यायाः धनुः सप्तपञ्चाशद्योजनसहस्राणि द्वे शते त्रिनवत्युत्तरे दश चैकान्नविंशतिभागाः साधिकाः । तस्योपर्यष्टौ कूटानि सिद्धायतन-महाहिमवत्-हैमवत-रोहित्-हरि-हरिकान्ता-हरिवर्ष-वैडूर्यकूटाभिधानानि क्षुद्रहिमवत्कूटतुल्य-प्रमाणानि । तेषामुपरि जिनायतनप्रासादास्तत्तुल्या एव । प्रासादेषु स्वकूटनामानो देवा देव्यश्च वसन्ति । अथ कथं निषधसंज्ञा ?

निषीधन्ति तस्मिन्निति निषधः ।५। यस्मिन् देवा देव्यश्च क्रीडार्थं निषीधन्ति स निषधः, पृषोदरादिपाठात् सिद्धः । अन्यत्रापि तत्तुल्यकारणत्वात्तत्प्रसङ्गः इति चेत् ? न; रूढिविशेषबललाभात् । क्व पुनरसौ ?

हरिविदेहयोर्मर्यादाहेतुः ।६। हरिवर्षादुदक् विदेहादपाक् तयोर्मर्यादाहेतुर्निषध इत्या-ख्यायते । स चतुर्योजनशतोत्सेधः, योजनशतावगाहः, षोडशयोजनसहस्राण्यष्टौ च शतानि[1] द्वाचत्वारिंशानि द्वौ चैकान्नविंशतिभागौ तस्य विष्कम्भः । पूर्वापरपार्श्वबाहू प्रत्येकं विंशति-योजनसहस्राणि पञ्चषष्ट्यधिकमेकं च शतं द्वौ चैकान्नविंशतिभागौ अर्धभागश्च साधिकः । उत्तरपार्श्वज्या चतुर्नवतिसहस्राणि षट्पञ्चाशमेकं च योजनशतं द्वौ चैकान्नविंशतिभागौ साधिकौ । तस्या धनुरेकं योजनशतसहस्रं चतुर्विंशतिसहस्राणि त्रीणि च शतानि षट्चत्वा-रिंशानि नव चैकान्नविंशतिभागाः साधिकाः । तस्योपरि नवकूटानि–सिद्धायतन-निषध-हरिवर्ष-पूर्वविदेह-हरिधृत-सीतोदा-अपरविदेह-रुचकनामानि, क्षुद्रहिमवत्कूटतुल्यप्रमाणानि । तेषामुपरि जिनायतनप्रासादास्तत्तुल्याः । प्रासादेषु स्वकूटनामानो देवा देव्यश्च वसन्ति ।

अथ कथं नीलसंज्ञा ?

नीलवर्णयोगान्नीलव्यपदेशः ।७। नीलेन वर्णेन योगात् पर्वतो[2] नील इति व्यपदिश्यते । संज्ञा [3]चाऽस्य वासुदेवस्य कृष्णव्यपदेशवत् । क्व पुनरसौ ?

विदेहरम्यकविनिवेश[4]विभागी ।८। स नीलाख्यः पर्वतः विदेहस्य रम्यकस्य च विनिवेशं विभजते । स निषधेन व्याख्यातप्रमाणः । तस्योपरि नवकूटानि-सिद्धायतन-नील-पूर्वविदेह-सीता-कीर्ति-[5]नरकान्ता-अपरविदेह-रम्यक-आदर्शककूटसंज्ञानि, क्षुल्लकहिमवत्कूटतुल्यप्रमा-णानि । तेषामुपरि जिनायतनप्रासादाः तत्तुल्याः । प्रासादेषु स्वकूटनामानो देवा देव्यश्च वसन्ति । अथ कथं रुक्मिसंज्ञा ?

रुक्मसद्भावाद्रुक्मीत्यभिधानम् ।९। रुक्ममस्यास्तीति रुक्मीत्यभिधानम् । अन्यत्रापि तत्संभवाद् रूढिवशाद्विशेषे वृत्तिः, करिवत् । क्व पुनरसौ ?

रम्यकहैरण्यवतविवेककरः ।१०। रम्यकस्य हैरण्यवतस्य च विवेकं करोत्यसौ । स महाहिमवता तुल्यप्रमाणः । तस्योपरि अष्टौ कूटानि-सिद्धायतन-रुक्मि-रम्यक[6]-नारी-बुद्धि-रूप्यकूल-हैरण्यवत-मणि-काञ्चनकूटाख्यानि क्षुद्रहिमवत्कूटतुल्यप्रमाणानि । तेषामुपरि जिनायतनप्रासादास्तत्तुल्याः । प्रासादेषु स्वकूटनामानो देवा देव्यश्च वसन्ति ।

अथ कथं शिखरिसंज्ञा ?

---

१ –नि च– अ० । २ –तोपि नी– अ० । ३ वास्य श्रा०, द०, मु० । ४ –शभा अ० । ५ नारीका– श्रा०, ब०, द०, मु० । ६ –रम्यकनरकान्ताबु– श्रा०, ब०, द०, ज०, मू० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिखरसद्भावाच्छिखरीति संज्ञा ।११। शिखराणि कूटान्यस्य सन्तीति शिखरीति संज्ञायते । अन्यत्रापि तत्सद्भावे रूढिवशाद्विशेषे वृत्तिः शिखण्डिवत् । क्व पुनरसौ ?

हैरण्यवतैरावतसेतुबन्धः स गिरिः ।१२। हैरण्यवतस्यैरावतस्य च सेतुबन्ध इव स गिरिरवस्थितः क्षुद्रहिमवत्तुल्यप्रमाणः । तस्योपर्येकादश-कूटानि सिद्धायतन-शिखरि-हैरण्यवत-रसदेवी-रक्तावतीश्लक्ष्णकूला-लक्ष्मी-[1]गन्धदेवी-ऐरावत-मणि-काञ्चनकूटनामानि क्षुद्रहिमवत्तुल्यप्रमाणानि । तेषामुपरि जिनायतनप्रासादास्तत्तुल्याः । प्रासादेषु स्वकूटनामानो देवा देव्यश्च वसन्ति ।

तेषां वर्णविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥१२॥

त एते हिमवदादयः पर्वता हेमादिमया वेदितव्याः । [2]मयट् प्रत्येकं परिसमाप्यते । यथाक्रमं हिमवदादयः संबध्यन्ते । हेममयो हिमवान् चीनपट्टवर्णः । अर्जुनमयो महाहिमवान् शुक्लः । तपनीयमयो निषधः तरुणादित्यवर्णः । वैडूर्यमयो नीलः मयूरग्रीवाभः । रजतमयो रुक्मी शुक्लः । हेममयः शिखरी चीनपट्टवर्ण इति । षडपि चैते अद्रयः प्रत्येकं उभयपार्श्वगतार्धयोजनविष्कम्भाद्रिसमायामाभ्यां बहुतोरणविभक्तैकपद्मवरवेदिकापरिवृतवनषण्डाभ्यामुपेताः ।

पुनरपि तद्विशेषणार्थमेवाह–

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥१३॥

नानावर्णप्रभावादिगुणोपेतैर्मणिभिर्विविधचित्राणि विचित्राणि, मणिविचित्राणि पार्श्वानि येषां त इमे मणिविचित्रपार्श्वाः ।

अनिष्टसंस्थाननिवृत्त्यर्थमुपर्यादिवचनम् ।१। अनिष्टसंस्थान[2]स्य निवृत्त्यर्थमुपर्यादिवचनं क्रियते । चशब्दो मध्यसमुच्चयार्थः । [3]य एषां मूलविस्तारः स उपरि मध्ये च तुल्यः ।

तेषां मध्ये लब्धास्पदा ह्रदा उच्यन्ते–

पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥१४॥

[4]**पद्मादिभिः सहचरणाद्ध्रदेषु पद्मादिव्यपदेशः ।१।** पद्मं महापद्मं तिगिञ्छं केसरि महापुण्डरीकं पुण्डरीकमिति पद्मनामानि तैः सहचरणात् ह्रदेषु पद्मादिसंज्ञावृत्तिर्भवति । तेषां हिमवदादीनामुपरि यथाक्रमं ते ह्रदा वेदितव्याः ।

तत्राद्यस्य संस्थानविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्धविष्कम्भो ह्रदः ॥१५॥

प्राक् प्रत्यक् योजनसहस्रायामः उदगपाक् पञ्चयोजनशतविस्तारः वज्रमयतलः विविधमणिकनकरजतविचित्रतटः श्वेतवरकनकस्तूपिकालङ्कृतचतुस्तोरणविभक्तार्धयोजनो-

---

१–क्ष्मीसुवर्णग– भा० २ । २ मयः प्र– आ०, ब०, द०, मु० । २–नति– आ०, ब०, द०, मु० । ३ –यो येषां आ०, ब०, मु० । ४ एतद्वार्तिकं नास्ति अ० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्सेधपञ्चधनुःशतविष्कम्भह्रदसमायामैकपद्मवरवेदिकापरिवृतः चतुर्दिग्गतचतुर्वनषण्डमण्डितः विमलस्फटिकमणिस्वच्छगम्भीराक्षयवारिः विविधजलजकुसुमपरिभ्राजितः शरदि प्रसन्नचन्द्रताराराजिविराजितपर्यन्तपरीतविचित्रपयोधरपटलः, विपर्यस्तो नभोभाग इव विभाति पद्मनामा ह्रदः। तस्यैवावगाहप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—

दशयोजनावगाहः ॥१६॥

अवगाहोऽधःप्रवेशो निम्नता। दशयोजनान्यवगाहोऽस्य दशयोजनावगाहः।

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥१७॥

योजनप्रमाणं [1]योजनम् [2]क्रोशायामपत्रत्वात्, क्रोशद्वयविष्कम्भकर्णिकत्वाच्च योजनायामविष्कम्भम्। जलतलात् क्रोशद्वयोच्छ्रायनालं तावद्बहलपत्रप्रचयं वज्रमयमूलमरिष्टमणिकन्दं रजतमणिमृणालं वैडूर्यसुप्रतिष्ठनालम्। तस्य बाह्यपत्रं तपनीय[3]परिष्कृतम्, जाम्बूनदाभ्यन्तरदलं तपनीयकेसरं नानामणिविचित्रसुवर्णकर्णिकं पुष्करमवगन्तव्यं तदर्धोत्सेधैरष्टशतसंख्यैः पद्मैः परिवृतम्। तस्मात् पूर्वोत्तरोत्तरापरोत्तरासु तिसृषु दिक्षु श्रियः सामानिकदेवानां चत्वारि पद्मसहस्राणि। दक्षिणपूर्वस्यां दिश्यभ्यन्तरपरिषद्देवानां द्वात्रिंशत्पद्मसहस्राणि। दक्षिणस्यां मध्यमपरिषद्देवानां चत्वारिंशत्पद्मसहस्राणि। दक्षिणापरस्यां बाह्यपरिषद्देवानामष्टचत्वारिंशत्पद्मसहस्राणि। अपरस्यां सप्तानामनीकमहत्तराणां सप्तपद्मानि। चतसृषु महादिक्षु आत्मरक्षदेवानां षोडशपद्मसहस्राणि। तान्येतानि सर्वाणि परिवारपद्मानि तदर्धोत्सेधानि एकं शतसहस्रं चत्वारिंशत्सहस्राणि शतं च [4]पञ्चदशम्।

इतरेषां ह्रदानां पुष्कराणां चायामादिज्ञापनार्थमाह—

तद्द्विगुणद्विगुणा[5] ह्रदाः पुष्कराणि च ॥१८॥

स च तच्च ते, तयोर्द्विगुणा द्विगुणास्तद्द्विगुणद्विगुणाः[5]।

द्विगुणद्विगुणा इति द्वित्वं व्याप्त्यर्थम् ।१। [6]द्विगुणद्विगुणा इति द्वित्वम् उच्यते। किमर्थम्? व्याप्त्यर्थम्। द्विगुणत्वेनोत्तरेषां [6]व्याप्तिर्यथा स्यादिति। केन द्विगुणाः? आयामादिना। पद्मह्रदस्य द्विगुणायामविष्कम्भावगाहो महापद्मह्रदः। महापद्मह्रदस्य द्विगुणायामविष्कम्भावगाहस्तिगिञ्छह्रदः। पुष्कराणि च। किम्? द्विगुणानि द्विगुणानि इत्यभिसम्बध्यते।

द्वित्वात्तयोर्बहुवचनाभाव इति चेत्; न; विवक्षितापरिज्ञानात् ।२। स्यादेतत्—तयोर्ह्रदयोः पुष्करयोश्च द्वित्वाद् बहुवचनं नोपपद्यते इति; तन्न; किं कारणम्? विवक्षितापरिज्ञानात्। आद्यन्ताभ्यां पद्मपुण्डरीकह्रदाभ्यां तुल्यप्रमाणाभ्यामन्ये ह्रदा दक्षिणत उत्तरतश्च द्वैगुण्येन निर्दिष्टा इति विवक्षितोऽत्रायमर्थः। अतो बहुवचनमपपद्यते। कथं पुनस्तच्छब्दे पूर्वनिर्दिष्टापेक्षे सत्यनिर्दिष्टार्थो गृह्यते?

---

१ प्रमाणयोजनपरिमाणसम्बन्धात् अभेदेन पुष्करमपि योजनशब्देनोच्यते इत्यर्थः। २ कथं तत्पद्मयोजनपरिमाणं कथ्यते इत्याशङ्कायामुपपत्तिमाह। ३ –परिष्कृतं भा० २। ४ पञ्चाशत् भा०, ब०, मु०। ५ –गुणाद्विगुणाः अ०, मू०। ६ –प्तिः कथं स्या– ता०. अ०, मू०।

बहुवचननिर्देशात्तद्ग्रहणम् ।३। बहुवचननिर्देशात्तस्य ग्रहणं विज्ञायते । बहुवचननिर्देशात् केसर्यादयः कथन्न गृह्यन्ते ?

व्याख्यानतो वक्ष्यमाणसंबन्धाच्चानिष्टनिवृत्तिः ।४। *"**व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्**" [पात० महा० प्रत्या० सू० ६] इत्यनिष्टस्य निवृत्तिर्भवति । अथवा वक्ष्यत एतत्–*"**उत्तरा दक्षिणतुल्याः**" [त० सू० ३।२६] इति तदभिसंबन्धाच्चेष्टसंप्रत्ययः कर्तव्यः । तद्यथा–महाहिमवत उपरि बहुमध्यदेशभावी महापद्मह्रदः, द्वियोजनसहस्रायामस्तदर्धविष्कम्भो विंशतियोजनावगाहः । तन्मध्ये जलतलाद् द्विक्रोशोच्छ्रायं योजनबहलपत्रप्रचयं द्विक्रोशायामपत्रत्वाद् योजनायामकर्णिकत्वाच्च द्वियोजनविष्कम्भं पुष्करम् । तत्परिवारपद्मसंख्या पूर्वोक्तैव । निषधस्योपरि बहुमध्यदेशभाक् तिगिञ्छह्रदः चतुर्योजनसहस्रायामस्तदर्धविष्कम्भः, चत्वारिंशद्योजनावगाहः । तन्मध्ये जलतलाद् द्विक्रोशोद्गमं द्वियोजनबहलपत्रप्रचयं योजनायामपत्रत्वाद् द्वियोजनायतकर्णिकत्वाच्चतुर्योजनायामविष्कम्भं पुष्करम् । तत्परिवारपद्मसंख्या पूर्वोक्तैव । नीलस्योपरि बहुमध्यदेशभावी केसरिह्रदः तिगिञ्छह्रदतुल्यः पद्मानि च तत्तुल्यप्रमाणानि । रुक्मिण उपरि बहुमध्यदेशभाक् महापुण्डरीको ह्रदः महापद्मह्रदतुल्यः, पद्मानि च तद्गतपद्मप्रमाणानि । शिखरिण उपरि बहुमध्यदेशभावी पुण्डरीको ह्रदः पद्मह्रदतुल्यः, पुष्कराणि च [1]तद्गतपद्मप्रमाणानि ।

अत्र चोद्यते–तच्छब्दस्य यदि द्विगुणशब्देन वृत्तिः क्रियते द्वित्वं संघातस्य प्राप्नोति[2] । अथ कृतद्वित्वेन तच्छब्दस्य वृत्तिः क्रियते समुदायस्याऽसुबन्तत्वाद् वृत्तिर्न प्राप्नोति । वीप्सायां द्वित्वे सति [3]वाक्यमेवावतिष्ठत इति ? नैष दोषः; तदित्ययं निपातः अपादानार्थे वर्तते । तद् द्विगुणा द्विगुणा ततो द्विगुणा द्विगुणा इत्यर्थः ।

तन्निवासिनीनां देवीनां संज्ञाजीवितपरिवारप्रतिपादनार्थमाह–

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपारिषत्काः ॥१९॥

. तेषु पुष्करे कर्णिकामध्यमैकदेशविनिवेशिनः शरद्विमलपूर्णचन्द्रद्युतिहराः क्रोशायामक्रोशार्धविष्कम्भदेशोनक्रोशोत्सेधाः प्रासादाः तेषु निवसन्तीत्येवं शीला देव्यस्तन्निवासिन्यः ।

श्र्यादीनामितरेतरयोगे द्वन्द्वः ।१। श्रीश्च ह्रीश्च धृतिश्च कीर्तिश्च बुद्धिश्च लक्ष्मीश्च श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्य इतीतरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वः । तेषु पद्मादिषु ह्रदेषु यथाक्रमं देव्यः श्र्यादयो वसन्ति ,

स्थितिविशेषनिर्ज्ञानार्थं पल्योपमवचनम् ।२। देवीसामान्यस्थितौ विशेषनिर्ज्ञानार्थं पल्योपमस्थितय इत्युच्यते । पल्योपमा स्थितिरासां ताः पल्योपमस्थितय इति ।

परिवारनिर्ज्ञानार्थं सामानिकपरिषत्कवचनम् ।३। परिवारप्रतिपत्त्यर्थं सामानिकपरिषद्ग्रहणं क्रियते । समाने स्थाने भवाः सामानिकाः *"**समानस्य तदादेश्च**" [जैनेन्द्रवा० ३।३।३५] इति ठञ् । सामानिकाश्च परिषदश्च सामानिकपरिषदः । अभ्यर्हितत्वात् सामानिकपदस्य पूर्वनिपातः । सह सामानिकपरिषद्भिर्वर्तन्ते इति ससामानिकपरिषत्काः । तेषां पद्मानि

---

१ चलत्तुल्यप्रमा– आ०, ब० द० मु० । २ तद्द्विगुणाः तद्द्विगुणा इति । ३ तयोर्द्विगुणा इति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]पूर्वनिर्दिष्टानि तन्मध्यवर्तिषु प्रासादेषु ते वसन्ति ।

यकाभिः सरिद्भिस्तानि क्षेत्राणि विभक्तानि ता उच्यन्ते—

गङ्गासिन्धूरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्तासुवर्ण-[2]कूलारूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥

गङ्गादीनामितरेतरयोगे द्वन्द्वः । उदकस्य उदभाव उक्तः । सरितो न वाप्यः । ताः [3]किमनन्तरा उत समीपा इति ? अत आह—तन्मध्यगा इति । तेषां क्षेत्राणां मध्ये मध्येन वा गच्छन्तीति तन्मध्यगाः ।

एकत्र सर्वासां प्रसङ्गनिवृत्त्यर्थं दिग्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं चाह—

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥

द्वयोर्द्वयोरेकक्षेत्रं विषयः इत्यभिसंबन्धादेकत्र सर्वासां प्रसङ्गनिवृत्तिः ।१। विकल्प्यो हि वाक्यशेषः । वाक्यं वक्तर्यधीनं (वक्त्रधीनम्) हीति इच्छातो वाक्यशेषप्रक्लृप्तेः, द्वयोर्द्वयोरेकक्षेत्रं[4]विषय इत्यभिसंबन्धात् सर्वासां सरिताम् एकस्मिन् क्षेत्रे प्रसङ्गो निवर्तितो भवति ।

पूर्वाः पूर्वगा इतिवचनं दिग्विशेषप्रतिपत्त्यर्थम् ।२। तत्र पूर्वा याः सरितस्ताः पूर्वगाः । पूर्वसमुद्रं गच्छन्तीति पूर्वगाः । किमपेक्षं पूर्वत्वम् ? सूत्रनिर्देशापेक्षम् । यद्येवं गङ्गासिन्ध्वादयः सप्त पूर्वगा इति प्राप्तम् ? नैष दोषः; द्वयोर्द्वयोरित्यभिसंबन्धाद् द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगा वेदितव्याः । ननु च [5]द्वयोर्द्वयोरिति ग्रहणमन्यार्थमुक्तम् ? **"अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति"** [पात० महा० १।१।२२] ।

इतरासां दिग्विभागप्रतिपत्त्यर्थमाह—

शेषास्त्वपरगाः ॥२२॥

द्वयोर्द्वयोरवशिष्टा यास्ता अपरगा [6]प्रत्येतव्या अपरं समुद्रं गच्छन्तीत्यपरगाः ।

तत्र पद्मह्रदप्रभवा पूर्वतोरणद्वारनिर्गता गङ्गा ।१। क्षुल्लकहिमवत उपरि पद्मह्रदो वर्णितश्चतुस्तोरणद्वारमण्डितः । तत्र पूर्वतोरणद्वारेण निर्गता पञ्चयोजनशतानि प्राङ्मुखी गत्वा गङ्गाकूटं स्रोतसा आस्फाल्य पञ्चयोजनशतानि त्रयोविंशानि षट्चैकान्नविंशतिभागान् अपाङ्मुखी गत्वा स्थूलमुक्तावलीव साधिकयोजनशतप्रमाणधाराप्रपाता सक्रोशषड्योजनविस्तारा योजनार्धबाहुल्या षष्टियोजनायामविष्कम्भे दशयोजनावगाहे वज्रमयतले श्रीदेवीगृहप्रमाणप्रासादमण्डितमध्ये सद्विक्रोशदशयोजनोच्छ्रायाष्टयोजनायामविष्कम्भद्वीपालङ्कृतान्तरे कुण्डे पतिता । दक्षिणतोरणद्वारेण विनिःसृता अर्धगव्यूतावगाहा सक्रोशषड्योजनविस्तारा क्रमेण वर्धमाना भुजङ्गकुटिलगामिनी खण्डकप्रपातगुहामुखेन विजयार्धं व्यतीत्य दक्षिणमुखा दक्षिणार्धभरतमध्यं प्राप्य प्राङ्मुखी सती मुखे सक्रोशयोजनावगाहा सार्धद्विषष्टियोजनविस्तारा लवणोदधिं मागधतीर्थेन प्राविशत् ।

अपरतोरणद्वाराद्विनिर्गता सिन्धुः ।२। पाश्चात्यतोरणद्वाराद्विनिर्गता पञ्चयोजनशतं गत्वा सिन्धुकूटं वीचीबाहू[7]पगूहेनास्फाल्य गङ्गावत्सिन्धुकुण्डे पतिता तमिस्रगुहामुखागतेन विज-

१ –नि निर्दि– आ०, ब०, द०, मु० । २ –वर्णरूप्यकूला आ, ब०, ब०, द०, मु०, मू० ता० । ३ किमन्तरा आ०, आ०, द०, मु०, ता० । ४ –रेकैकक्षेत्रं आ०, ता० । ५ च यद् द्वयोर्द्वयो– आ०, ब०, द०, मु० । ६ वेदितव्याः आ०, ब०, द०, ता०, मु० । ७ आलिङ्गनेन ।

यार्धं व्यतीत्य प्रभासतीर्थेनापरसमुद्रं प्राविक्षत् । तत्र गङ्गाकुण्डद्वीपप्रासादे गङ्गादेवी वसति । सिन्धूकुण्डद्वीपप्रासादे सिन्धूदेवी वसति । हिमवत उपरि किञ्चित्प्राक् प्रत्यक् चातीत्य गङ्गासिन्ध्वोर्मध्ये द्वे पद्माकारे कूटे वैडूर्यपरिणामनाले जलस्योपरि क्रोशमुच्छ्रिते क्रोशद्वयायामविष्कम्भे लोहिताक्षमणिमयार्धगव्यूतायतपत्रे तपनीयकेसरे अर्कमणिनिर्वृत्तगव्यूतायतकर्णिके । तयोः कर्णिकयोर्मध्ये रत्नमयमेकैकं कूटम् । तत्र चैकैकः प्रासादः । प्राच्यकूटप्रासादे पल्योपमस्थितिका वला[1] नाम देवी वसति । प्रतीच्यप्रासादकूटे पल्योपमस्थितिका लवणा नाम देवी वसति ।

उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता रोहितास्या ।३। पद्मह्रदस्यैव उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता द्वे योजनशते षट्सप्तत्युत्तरे षट्चैकान्नविंशतिभागान् हिमवत उपरि उदङ्मुखी गत्वा गङ्गातुल्यायामधाराप्रपाता अर्धत्रयोदशयोजनविस्तारा योजनबाहल्या विंशतियोजनशतायामविष्कम्भे विंशतियोजनावगाहे वज्रतले श्रीदेवीगृहप्रमाणप्रासादमण्डितमध्ये सद्विक्रोशदशयोजनोच्छ्रायषोडशयोजनायामविष्कम्भद्वीपालङ्कृतान्तरे कुण्डे पतिता । ततः कुण्डादुदीच्यतोरणद्वारेण निर्गता उदङ्मुखी शब्दवद्वृत्तवेदाढ्यं प्रदक्षिणीकृत्यार्धयोजनेनाप्राप्ता प्रत्यङ्मुखी सती प्रभवे क्रोशावगाह्याऽर्धत्रयोदशयोजनविष्कम्भा मुखेऽर्धतृतीययोजनावगाहा पञ्चविंशतियोजनशतविष्कम्भा रोहितास्या अपरलवणोदधिं प्राविशत् । रोहितास्याकुण्डप्रासादे रोहितास्या देवी वसति ।

महापद्मह्रदप्रभवाऽपाच्यतोरणद्वारनिर्गता रोहित् ।४। महाहिमवत उपरि महापद्मह्रदादपाच्यतोरणद्वारेण निर्गता षोडशयोजनशतानि पञ्चोत्तराणि पञ्चैकान्नविंशतिभागान् अपागागम्य पतितेत्यादि रोहितास्यया तुल्यम् । अयं तु विशेषः–साधिकद्वियोजनशतायामधारा । रोहित्कुण्डप्रासादनिवासिनी रोहित् देवी । सा रोहिन्महानदी पूर्वार्णवं प्राविशत् ।

उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता हरिकान्ता ।५। तत एव महापद्मह्रदादुदीच्यतोरणद्वारेण निर्गता हरिकान्ता नाम महानदी रोहिद्दिवाद्रितले गत्वा उदङ्मुखी साधिकद्वियोजनशतधाराप्रपाता द्वियोजनबाहल्या पञ्चविंशतियोजनविस्तारा श्रीदेवीगृहतुल्यप्रासादमण्डितमध्ये[2] सद्विक्रोश[3]दशयोजनोच्छ्रायद्वात्रिंशद्योजनायामविष्कम्भद्वीपालङ्कृतान्तरे चत्वारिंशद्योजनावगाहे चत्वारिंशद्द्विशतयोजनायामविष्कम्भे वज्रतले कुण्डे पतिता । ततः कुण्डादुदीच्यतोरणद्वारेण निर्गता [4]प्रभवेऽर्धयोजनावगाहा पञ्चविंशतियोजनविष्कम्भा विकृतवद्वृत्तवेदाढ्यमर्धयोजनेनाप्राप्य प्रदक्षिणीकृत्य प्रत्यङ्मुखी सती मुखे पञ्चयोजनावगाहा अर्धतृतीययोजनशतविष्कम्भा पाश्चात्यार्णवं प्राविक्षत् । हरिकान्ताकुण्डप्रासादे हरिकान्तादेवी वसति ।

तिगिञ्छह्रदप्रभवा दक्षिणद्वारनिर्गता हरित् ।६। निषधस्योपरि तिगिञ्छह्रदाद् दक्षिणतोरणद्वारेण विनिःसृता हरिन्महानदी सप्तसहस्राणि चत्वारि शतान्येकविंशानि योजनानामेकं चैकान्नविंशतिभागमद्रितले प्राङ्मुखी गत्वा पतितेत्यादि सर्वं हरिकान्तातुल्यम् । अयं तु विशेषः साधिकचतुर्योजनशतायामधारा । हरिकुण्डप्रासादनिवासिनी हरिदेवी । सा प्राच्यमुदधिं प्राविक्षत् ।

उदीच्यतोरणद्वारविनिर्गता सीतोदा ।७। तत एव तिगिञ्छह्रदादुदीच्यतोरणद्वारेण हरिदिवाद्रितले[6] गत्वोदङ्मुखी साधिकचतुर्योजनशतधाराप्रपाता चतुर्योजनबाहल्या पञ्चाशद्यो-

---

१ बला– श्र० । २ –द्वारेण नि– आ०, ब०, द०, मु० । ३ –मध्यसद्वि– ता०, श्र०, मू० । ४ –क्रोशयोज– मु०, मू ता०, श्र०, द०, ज०, ब० आ० । ५ प्रवाहे म०, ब०, द०, मु० । ६ –तलं ग– आ०, ब०, द०, मु० ।

जनविस्तारा श्रीदेवीगृहप्रमाणप्रासादमण्डितमध्ये[1] सद्विक्रोशदशयोजनोच्छ्रायचतुष्षष्टियोजनायामविष्कम्भद्वीपालङ्कृतान्तरे साशीतिचतुर्योजनशतायामविष्कम्भे अशीतियोजनावगाहे वज्रतले कुण्डे पतिता । ततः कुण्डादुदीच्यतोरणद्वारेण निर्गता देवकुरुषु चित्रविचित्रकूटमध्येनोदङ्मुखी गत्वा अर्धयोजनेनाऽप्राप्ता मेरुं प्रदक्षिणीकृत्य विद्युत्प्रभं विदार्य अपरविदेहमध्यगामिनी, प्रभवे योजनावगाहा पञ्चाशद्योजनविस्तारा मुखे दशयोजनावगाहा पञ्चयोजनशतविस्तारा सीतोदा नाम महानदी पाश्चात्यसमुद्रं प्राविक्षत् । सीतोदाकुण्डप्रासादनिवासिनी सीतोदा देवी ।

केसरिह्लदप्रभवाऽपाच्यद्वारनिर्गता सीता ।८। नीलस्योपरि केसरिह्लदादपाच्यतोरणद्वारेण निर्गता सीता महानदीत्यादि सर्वं सीतोदातुल्यम् । अयं तु विशेषः सीताकुण्डप्रासादे सीतादेवी वसति । सा माल्यवन्तं विदार्य पूर्वविदेहमध्यगामिनी प्राच्यसमुद्रं प्राविक्षदिति ।

उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता नरकान्ता ।९। तत एव केसरिह्लदादुदीच्यतोरणद्वारेण निर्गता नरकान्ता महानदीत्यादि सर्वं हरिता व्याख्यातम् । अयं तु विशेषः नरकान्ताकुण्डप्रासादे नरकान्ता देवी वसति । गन्धवद्वृत्तवेदाढ्यं प्रदक्षिणीकृत्य पाश्चात्यसमुद्रं प्राविक्षदिति ।

महापुण्डरीकह्लदप्रभवा दक्षिण[2]तोरणद्वारनिर्गता नारी ।१०। रुक्मिण उपरि महापुण्डरीकह्लदाद् दक्षिणतोरणद्वारेण निर्गता नारी महानदीत्यादि सर्वं हरि(नर)कान्तया व्याख्यातम् । अयं तु विशेषः नारीकुण्डप्रासादे नारीदेवी वसति । गन्धवद्वृत्तवेदाढ्यं प्रदक्षिणीकृत्य पूर्वोदधिं [3]प्राविशदिति ।

उदीच्यद्वारनिर्गता रूप्यकूला ।११। तस्मादेव महापुण्डरीकह्लदादुदीच्यतोरणद्वारेण निर्गता रूप्यकूला महानदीत्यादि सर्वं तु रोहिता व्याख्यातम् । अयं तु विशेषः रूप्यकूलाकुण्डप्रासादे रूप्यकूला देवी वसति । माल्यवद्वृत्तवेदाढ्यं प्रदक्षिणीकृत्य प्रतीच्यसमुद्रं प्राविक्षदिति ।

पुण्डरीकह्लदप्रभवापाच्यतोरणद्वारनिर्गता सुवर्णकूला ।१२। शिखरिण उपरि पुण्डरीकह्लदाद् दक्षिणतोरणद्वारेण निर्गता सुवर्णकूला महानदीत्यादि सर्वं रोहितास्यया व्याख्यातम् । अयं तु विशेषः सुवर्णकूलाकुण्डप्रासादे सुवर्णकूला देवी वसति । माल्यवद्वृत्तवेदाढ्यं प्रदक्षिणीकृत्य प्राच्यमर्णवं प्राविक्षदिति ।

पूर्वतोरणद्वारनिर्गता रक्ता ।१३। तस्मादेव पुण्डरीकह्लदात् पूर्वतोरणद्वारेण विनिर्गता रक्ता महानदीत्यादि सर्वं गङ्गया व्याख्यातम् । अयं तु विशेषः रक्ताकुण्डप्रासादे रक्तादेवी वसति ।

प्रतीच्यद्वारनिर्गता रक्तोदा ।१४। तस्मादेव पुण्डरीकह्लदात् प्रतीच्यतोरणद्वारेण विनिर्गता रक्तोदा महानदीत्यादि सर्वं सिन्ध्वा वर्णितम् । अयं तु विशेषः रक्तोदाकुण्डप्रासादे रक्तोदा देवी वसति ।

गङ्गासिन्धूरक्तारक्तोदाः भुजङ्गकुटिलगतयः अन्यत्र गिरितलधाराप्रपाताभ्याम्, शेषा ऋजुगतयः अन्यत्र मेरुनाभिगिरिप्रदेशेभ्यः । चतुर्दशाप्येता अर्धयोजनविष्कम्भनदीसमायामाभ्यामुभयपार्श्वगताभ्यां प्रत्येकमर्धयोजनोत्सेधपञ्चधनुःशतविष्कम्भवनसमायामपद्मवरवेदिकाद्वयपरिवृताभ्यां वनषण्डाभ्यामलङ्कृताः ।

तासां परिवारप्रतिपादनार्थमाह–

---

१ –मध्यस– श्र० । २ –णद्वारतोरण– ता०, श्र०, आ०, द० । ३ प्राविक्षदि– आ० ब०, मु० ।

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥

गङ्गासिन्ध्वाद्यग्रहणं प्रकरणादिति चेत्; न; अनन्तरग्रहणप्रसङ्गात् ।१। स्यान्मतम्–गङ्गासिन्ध्वादिग्रहणमनर्थकम्। कुतः ? प्रकरणात्। प्रकृता हि ता इति; तन्न; किं कारणम् ? अनन्तरग्रहणप्रसङ्गात्। "**अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो** वा" [पात० महा० १।२।४७] इति अपरगानामेव ग्रहणं स्यात्।

गङ्गादिग्रहणमिति चेत्; न; पूर्वगाग्रहणप्रसङ्गात् ।२। अथ मतम्–गङ्गादिग्रहणमेवास्तु अनन्तरनिवृत्त्यर्थमिति; तच्च न; कस्मात् ? पूर्वगाग्रहणप्रसङ्गात्। गङ्गादयो हि पूर्वगा इति।

नदीग्रहणात् सिद्धिरिति चेत्; न; द्विगुणाभिसंबन्धार्थत्वात् ।३। स्यादेतत्–नद्यः प्रकृतास्ततो नदीग्रहणमन्तरेणापि नदीसं[1]प्रत्यये सिद्धे तद्ग्रहणं सर्वनदी[2]संप्रत्ययार्थं भविष्यति नार्थो गङ्गासिन्ध्वादिग्रहणेनेति ? तन्न; किं कारणम् ? द्विगुणाभिसंबन्धार्थत्वात्। द्विगुणा द्विगुणा इत्यस्याभिसंबन्ध इह कथं स्यादिति गङ्गासिन्ध्वादिग्रहणं क्रियते। किं [3]गतमेतदनेन आहोस्विच्छब्दाधिक्या[4]दर्थाधिक्यं गतमिति ? आह। कथम् ? द्विगुणानुवृत्तौ गङ्गाचतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता तद्द्विगुणनदीसहस्रपरिवारा सिन्धूरिति [5]प्रसक्ते तन्निवृत्त्यर्थं गङ्गासिन्धूग्रहणमिति। [6]तत्र गङ्गासिन्ध्वौ प्रत्येकं चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृते। ततो द्विगुणा द्विगुणाः परिवारनद्यो वेदितव्या आसीतोदायाः, ततः परतोऽर्धहीनाः।

उक्तो जम्बूद्वीपविष्कम्भाम्भोनिधिह्रदसरित्पर्वतवर्षनिवेशक्रमः। इदमिदानीं प्रक्रियतां किममूनि क्षेत्राणि तुल्यविस्ताराण्युत विस्तारविशेषोऽस्तीति ? अत आह–

भरतः [7]षड्विंशपञ्चयोजनशतविस्तारः षट्चैकान्नविंशतिभागा योजनस्य ॥२४॥

षडधिका विंशतिः षड्विंशतिः षड्विंशतिरधिका येषु तानि षड्विंशानि पञ्चयोजनशतानि विस्तारोऽस्य षड्विंशपञ्चयोजनशतविस्तारो भरतः। किमेतावानेव ? नेत्याह–षट्चैकान्नविंशतिभागा योजनस्य, विस्तारोऽस्येत्यभिसंबध्यते।

इतरेषां विष्कम्भविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥२५॥

ततो द्विगुणो द्विगुणो विस्तारो येषां त इमे तद्द्विगुणद्विगुणविस्ताराः।

वर्षधरशब्दस्य पूर्वनिपात आनुपूर्व्यप्रतिपत्त्यर्थः ।१। वर्षधरशब्दस्य पूर्वनिपातः क्रियते आनुपूर्व्यप्रतिपत्तिर्यथा स्यादिति। इतरथा हि वर्षधराश्च वर्षाश्चेति द्वन्द्वे वर्षशब्दस्य पूर्वनिपातः प्रसज्येत अल्पाच्तरत्वात्। न च लक्षणमस्ति आनुपूर्व्यप्रतिपत्त्यर्थः पूर्वप्रयोगः कर्तव्य इति[8] ? सत्यं नास्ति कण्ठोक्तम्, ज्ञापकात्तु भवति *"**लक्षणहेत्वोः क्रियायाः**" [जैनेन्द्र० २।२।१०४] इति[9]।

---

१ –प्रत्ययसिद्धेस्त– मु०। २ प्रतिपत्त्यर्थं आ०, ब०, मु०। ३ ज्ञातम्। ४ सूत्रमनर्थकमिति। ५ प्रसक्तेः त– आ०, ब०, ता०, मु०। ६ तथा सति। ७ षड्विंशतिप– आ०, ब०, ता०, मु०। ८ एवंविधम्। ९ इत्यत्र हेतुशब्दस्य पूर्वनिपातो न्याय्यः तं विहाय आनुपूर्व्यप्रतिपत्त्यर्थं लक्षणशब्दस्य-कृतवान्। ततो ज्ञायते आनुपूर्व्यप्रतिपत्त्यर्थः पूर्वप्रयोगः कर्तव्य इति लक्षणमस्तीति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विदेहान्तवचनं मर्यादार्थम् ।२। विदेहः अन्तो येषां त इमे विदेहान्ता इति मर्यादा क्रियते । इतरथा हि नीलादयोऽपि द्विगुणद्विगुणविस्तारा: प्रसज्येरन् । तथाहि–हिमवतो विष्कम्भो द्विपञ्चाशमेकं योजनसहस्रं द्वादश चैकान्नविंशतिभागाः । हैमवतस्य द्वियोजनसहस्रे पञ्चोत्तरशतं पञ्च चैकान्नविंशतिभागाः । महाहिमवतश्चत्वारि योजनसहस्राणि दशाधिके द्वे शते दश चैकान्नविंशतिभागाः । हरिवर्षस्याष्टौ योजनसहस्राणि चत्वारि शतानि एकविंशानि एकश्चैकान्नविंशतिभागः । निषधस्य षोडशयोजनसहस्राणि अष्टौ शतानि द्विचत्वारिंशानि द्वौ चैकान्नविंशतिभागौ । विदेहस्य त्रयस्त्रिंशद्योजनसहस्राणि षट्शतानि चतुरशीत्यधिकानि चत्वारश्चैकान्नविंशतिभागाः ।

यद्येवं भरतादीनां विदेहान्तानां विस्तारक्रम उक्तः, अथोत्तरेषां कथमिति ? अत आह—

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥२६॥

उत्तरा ऐरावतादयः नीलान्ता भरतादिभिर्दक्षिणैस्तुल्याः द्रष्टव्याः, अतीतस्य सर्वस्यायं विशेषो द्रष्टव्यः ।

अत्राह–उक्तेषु भरतादिषु क्षेत्रेषु मनुष्याणां किं तुल्योऽनुभवादिः आहोस्वित्कश्चिदस्ति प्रतिविशेष इति ? अत आह–

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥२७॥

इमौ वृद्धिह्रासौ कस्य ? भरतैरावतयोः । ननु ते क्षेत्रे व्यवस्थितावधिके कथं तयोर्वृद्धिह्रासौ ? अत उत्तरं पठति–

तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यसिद्धिर्भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासयोगः ।१। इह लोके तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यं भवति, यथा[1]गिरिस्थेषु वनस्पतिषु दह्यमानेषु गिरिदाह इत्युच्यते, तथा भरतैरावतस्थेषु मनुष्येषु वृद्धिह्रासावापद्यमानेषु भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासावुच्येते ।

अधिकरणनिर्देशो वा ।२। अथवा भरतैरावतयोरित्यधिकरणनिर्देशोऽयम्, स चाधेयमाकाङ्क्षतीति भरते ऐरावते च मनुष्याणां वृद्धिह्रासौ वेदितव्यौ । किं कृतौ पुनस्तौ ?

अनुभवायुःप्रमाणादिकृतौ वृद्धिह्रासौ ।३। अनुभवः उपभोगपरिभोगसम्पत्, आयुर्जीवितपरिमाणम्, प्रमाणं शरीरोत्सेध इत्येवमादिकृतौ मनुष्याणां वृद्धिह्रासौ प्रत्येतव्यौ । किं हेतुकौ पुनस्तौ ? [2]कालहेतुकौ । स च कालो द्विविधः–उत्सर्पिणी अवसर्पिणी चेति । तद्भेदाः षट् प्रत्येकम् । अन्वर्थसंज्ञे[3] चैते ।

अनुभवादिभिरवसर्पणशीला अवसर्पिणी ।४। अनुभवादिभिः पूर्वोक्तैरवसर्पणशीला हानिस्वाभाविका अवसर्पिणीसमा ।

तद्विपरीतोत्सर्पिणी ।५। तद्विपरीतैरेवोत्सर्पणशीला वृद्धिस्वाभाविकोत्सर्पिणीत्युच्यते । तत्रावसर्पिणी षड्विधा–सुषमसुषमा सुषमा सुषमदुःषमा दुःषमसुषमा दुःषमा अतिदुःषमा चेति । उत्सर्पिण्यपि अतिदुःषमाद्या सुषमसुषमान्ता षड्विधैव भवति । अवसर्पिण्याः परिमाणं दश सागरोपमकोटीकोट्यः, उत्सर्पिण्यपि तावत्येव । सोभयी कल्प इत्याख्यायते ।

---

१ गिरिस्थितेषु आ०, ब०, द०, ज०, मु०, ता० । २ कालकृतावित्यर्थः । ३ –संज्ञोच्यते आ०, ब०, द०, मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्र सुषमसुषमा चतस्रः सागरोपमकोटीकोटयः। तदादौ मनुष्या उत्तरकुरुमनुष्यतुल्याः। ततः क्रमेण हानौ सत्यां सुषमा भवति तिस्रः सागरोपमकोटीकोटयः। तदादौ मनुष्या हरिवर्षमनुष्यसमाः। ततः क्रमेण हानौ[1] सुषमदुःषमा भवति द्वे सागरोपमकोटीकोटयौ तदादौ मनुष्या हैमवतमनुष्यसमाना भवन्ति। ततः क्रमेण हानौ सत्यां दुःषमसुषमा भवति एकसागरोपमकोटीकोटी द्विचत्वारिंशद्वर्षसहस्रोना। तदादौ मनुष्या विदेहजनतुल्या भवन्ति। ततः क्रमेण हानौ सत्यां दुःषमा भवति एकविंशतिवर्षसहस्राणि। ततः क्रमेण हानौ सत्यां अतिदुःषमा भवति एकविंशतिवर्षसहस्राणि। एवमुत्सर्पिण्यपि विपरीतक्रमा वेदितव्या।

अथेतरासु भूमिषु काऽवस्थितिः ? अत आह—

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥२८॥

ताभ्यां भरतैरावताभ्यामपरा भूमय अवस्थिता भवन्ति[2]। न हि तत्रोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ स्तः।

किं तासु मिभूषु मनुष्यास्तुल्यायुष आहोस्वित् कश्चिदस्ति प्रतिविशेष इति ? अस्तीत्याह—

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः ॥२९॥

हैमवतादिभ्यो भवार्थे वुञ् मनुष्यप्रतिपत्त्यर्थः ।१। हैमवते भवा इत्येवमादिना विग्रहेण वुञि कृते हैमवतकादिसिद्धिर्भवति। स किमर्थः ? मनुष्यप्रतिपत्त्यर्थः। तत्र भवा मनुष्याः प्रतिपद्येरन्निति।

एकादीनां हैमवतकादिभिर्यथासंख्यं संबन्धः ।२। हैमवतकादयस्त्रय एकादयस्त्रयः तत्र यथासंख्यं संबन्धो भवति। एकपल्योपमस्थितयो हैमवतकाः। द्विपल्योपमस्थितयो हारिवर्षकाः। त्रिपल्योपमस्थितयो दैवकुरवका इति। तत्र पञ्चसु हैमवतेषु सुषमदुःषमा सदा अवस्थिता। तत्र मनुष्या एकपल्योपमायुषो द्विधनुःसहस्रोच्छ्रिताश्चतुर्थभक्ताहारा नीलोत्पलवर्णाः। पञ्चसु हरिवर्षेषु सुषमा सदा अवस्थिता, तत्र मनुष्या द्विपल्योपमस्थितयः चतुश्चापसहस्रोत्सेधाः षष्ठभक्ताहाराः शङ्खवर्णाः। पञ्चसु देवकुरुषु सुषमसुषमा सदा अवस्थिता, तत्र मनुष्यास्त्रिपल्योपमायुषः षड्धनुःसहस्रोत्सेधा अष्टमभक्ताहारा कनकवर्णाः।

अथोत्तरेषु काऽव[3]स्थेति ? अत आह—

तथोत्तराः ॥३०॥

यथा दक्षिणाः तथोत्तरा वेदितव्याः। हैरण्यवतका हैमवतकैस्तुल्याः। राम्यका हारिवर्षकैस्तुल्याः। दैवकुरवकैरौत्तरकुरवका व्याख्याताः।

अथ विदेहेष्ववस्थितेषु का स्थितिक्रिया ? [4]अत उच्यते—

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥३१॥

सर्वेषु विदेहेषु संख्येयकालाः मनुष्याः। तत्र कालः सुषमदुःषमान्तोपमः सदा अवस्थितः। मनुष्याश्च पञ्चधनुःशतोत्सेधा नित्याहाराः उत्कर्षेण[5] एक[6]पूर्वकोटिस्थितिका जघन्येनान्तर्मुहूर्तायुषः।

---

१ –नौ सत्यां सु– मु०। २ कुतः। ३ –स्थितिरित्यत आ०, ब०, द०, मु०। ४ तदुच्य– अ०। ५ –ण पूर्व– आ०, ब०, द०, मु०। ६ पुव्वस्स दु परिमाणं सदरिं खलु कोडिसदसहस्साइं। छप्पण्णं च सहस्सा बोधव्वा वासकोडीणं ॥ इति– ७०५६०००००००००।

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥

किमर्थमिदमुच्यते ननु पुरस्ताद्भरतस्य विष्कम्भो व्याख्यातः ?

पुनर्भरतविष्कम्भवचनं प्रकारान्तरप्रतिपत्त्यर्थम् ।१। पुनर्भरतविष्कम्भ उच्यते प्रकारान्तरेण प्रतिपत्तिः कथं स्यादिति। भरतविष्कम्भप्रमाणैः खण्डैः छिद्यमानो जम्बूद्वीपः नवत्युत्तरेण खण्डशतेन परिच्छिद्यत इत्यर्थः ।

उत्तराभिसम्बन्धार्थं वा ।२। अथवा, उत्तरत्र वक्ष्यते–*"**द्विर्धातकी खण्डे । पुष्करार्धे च**" [त० सू० ३।३३-३४] इति, तदभिसंबन्धार्थं पुनर्वचनं क्रियते ।

तलमूलयोर्दशयोजनसहस्रविस्तारो लवणोदः ।३। समे भूमितले द्वियोजनशतसहस्रविष्कम्भ इत्युक्तं पुरस्तात् । तस्य गोतीर्थवदुभयतोऽधः[2] क्रमेण हान्या मूले दशयोजनसहस्रविस्तारः तावद्विष्कम्भजलतलः[3] योजनसहस्रावगाहः समाद् भूमितलादूर्ध्वं षोडशयोजनसहस्रजलोत्सेधः यवराशिरिवोच्छ्रितजलः मृदङ्गसंस्थानो लवणोदो वेदितव्यः ।

तन्मध्ये दिक्षु महापातालानि योजनशतसहस्रावगाहानि ।४। तस्य लवणोदस्य मध्ये चतसृषु दिक्षु रत्नवेदिकायाः पञ्चनवतियोजनसहस्राणि तिर्यगतीत्य क्षितिविवराणि वज्रमयतलपार्श्वानि, [4]अलिञ्जरसंस्थानानि प्रत्येकमेकयोजनशतसहस्रावगाहानि तावन्मध्यविष्कम्भाणि तलमूलयोर्दशयोजनसहस्रविस्ताराणि महापातालानि वेदितव्यानि चत्वारि–पातालबडवामुख-यूपकेसर-कलम्बुकसंज्ञानि । तत्र प्राच्यां दिशि पातालम्, प्रतीच्यां बडवामुखम्, उदीच्यां यूपकेसरम्, अपाच्यां कलम्बुकम् । [5]तेषामेकैकस्त्रिभागस्त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि योजनानां त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशानि योजनत्रिभागश्च साधिकः । तेषामधस्त्रिभागे वातस्तिष्ठति । मध्यत्रिभागे वायुतोये । उपरित्रिभागे तोयम् । रत्नप्रभाखरपृथ्वीभागसन्निवेशिभवनालयवातकुमारतद्वनिताक्रीडाजनिताऽनिलसंक्षोभकृतपातालोन्मीलननिमीलनहेतुकौ वायुतोयनिष्क्रमप्रवेशौ भवतः । तत्कृता दशयोजनसहस्रविस्तारमुखजलस्योपरि पञ्चाशद्योजनावधृता जलवृद्धिः । तत उभयत आरत्नवेदिकायाः सर्वत्र द्विगव्यूतप्रमाणा जलवृद्धिः । पातालोन्मीलनवेगोपशमेन हानिः । पातालानां चतुर्णामप्यन्तराणि प्रत्येकं द्वे शतसहस्रे सप्तविंशतिसहस्राणि सप्ततिशतं च योजनानां त्रीणि च गव्यूतानि साधिकानि ।

विदिक्षु क्षुद्रपातानि दशयोजनसहस्रावगाहानि ।५। तन्मध्ये चतसृषु विदिक्षु चत्वारि क्षुद्रपातालानि दशयोजनसहस्रावगाहानि तावन्मध्यविष्कम्भाणि मुखमूलयोर्योजनसहस्रविस्ताराणि वेदितव्यानि । तेषामेकैकस्त्रिभागस्त्रीणि सहस्राणि त्रीणि शतानि त्र[यस्त्रिं]शानि योजनानां योजनत्रिभागश्च साधिकः । अधस्त्रिभागे वातः, मध्यत्रिभागे वायुतोये, उपरि त्रिभागे तोयम् ।

तदन्तरेषु क्षुद्रपातालानां योजनसहस्रावगाहानां सहस्रम् ।६। तेषां दिग्विदिग्विभागानां पातालानाम् अन्तरेष्वष्टास्वपि योजनसहस्रावगाहानां तावन्मध्यविष्कम्भाणां मुखमूलयोस्तदर्धविस्ताराणां क्षुद्रपातालानां सहस्रं प्रत्येतव्यम् । तेषां त्रिभागाः पूर्ववद्वेदितव्याः । तत्रैकैकस्मिन्नन्तरे क्षुद्रपातालानां मुक्तावलीवदवस्थितानां शतं पञ्चविंशमन्यान्यपि पातालानि सन्ति । अन्तरालेषु सप्तसहस्राण्यष्टौ शतान्यशीतिश्च पातालसमुदायः ।

१–कीखण्डे ता०, श्र०, मू० । २–दः क– द०, श्र०, ता० । वः क– मू० । ३ उपरितलः । ४ अंजनसं–आ०, ब०, द०, मु० । 'मणिकोऽलिञ्जरः' इति हैमः, मणिसंस्थानानि इति यावत्– सम्पा० । ५ तेषामेकस्त्रि– ता०, श्र०, मू० ।

दिक्षु वेलन्धरनागाधिपतिनगराणि चत्वारि ।७। रत्नवेदिकायास्तिर्यग्द्वाचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि गत्वा चतसृषु दिक्षु द्वाचत्वारिंशद्योजनसहस्रायामविष्कम्भाणि चत्वारि वेलन्धरनागाधिपतिनगराणि भवन्ति । तेषु वेलन्धरनागाधिपतयः पल्योपमायुषो दशकार्मुकोत्सेधाः प्रत्येकं चतसृभिरग्रमहिषीभिः परिवृता वेलन्धरनागाश्च निवसन्ति । तत्र द्वाचत्वारिंशन्नागसहस्राणि लवणोदाभ्यन्तरवेलां धारयन्ति । द्वासप्ततिर्नागसहस्राणि [1]बाह्यवेलां धारयन्ति । अष्टाविंशतिर्नागसहस्राणि अग्रोदकं धारयन्ति । तान्येतानि समुदितान्येकं शतसहस्रं द्वाचत्वारिंशच्च सहस्राणि ।

द्वादशयोजनसहस्रायामविष्कम्भो गौतमद्वीपश्च ।८। रत्नवेदिकायास्तिर्यग्द्वादशयोजनसहस्राणि गत्वा द्वादशयोजनसहस्रायामविष्कम्भो गौतमस्य समुद्राधिपतेर्द्वीपश्च तत्र भवति ।

रत्नवेदिकायास्तिर्यक्पञ्चनवतिप्रदेशेषु गतेषु [2]एकः प्रदेशावगाहः, पञ्चनवतिहस्तेषु गतेष्वेकहस्तावगाहः, पञ्चनवतियोजनेषु गतेष्वेकयोजनावगाहः, पञ्चनवतियोजनशतेषु गतेष्वेकयोजनशतावगाहः, पञ्चनवतियोजनसहस्रेषु गतेष्वेकयोजनसहस्रावगाहः । लवणोदस्यान्ते यथा वेला[3] तथा बहिरपि, विजयादीनि द्वाराणि चात्र । लवणोदस्यैव वेला नान्योदधीनां तत्रैव च पातालानि नान्यत्र । सर्वे च लवणोदादयः स्वयम्भूरमणपर्यन्ता एकयोजनसहस्रावगाहाः । द्वीपोदधिपर्यन्ते चोभे वेदिके । या द्वीपान्ते ता द्वीपानां याः समुद्रान्ते ताः समुद्राणाम् । लवणोद उच्छ्रितसलिलः, शेषाः [4]प्रस्तारजलाः । भिन्नरसाश्चत्वारः, त्रय उदकरसाः, शेषा इक्षुरसाः सागराः । लवणोदो लवणरसजलः ।[5] वारुण्युदो वारुणीरसजलः । क्षीरोदः क्षीररसजलः । घृतोदो घृतरसजलः । कालोदपुष्करोदस्वयम्भूरमणोदा उदकरसाः । लवणोदकालोदस्वयम्भूरमणोदा मत्स्यकूर्मादिजलचरावासाः नेतरे । लवणोदे नदीमुखे नवयोजनशरीरा मत्स्याः, सागराभ्यन्तरेऽष्टादशयोजनशरीराः । कालोदे नदीमुखेऽष्टादशयोजनशरीरा मत्स्याः, सागराभ्यन्तरे षट्त्रिंशद्योजनशरीराः । स्वयम्भूरमणोदे नदीमुखे पञ्चशतयोजनशरीरा मत्स्याः, सागराभ्यन्तरे एकयोजनसहस्रशरीरा मत्स्याः ।

योऽयं वर्षवर्षधरह्रदपुष्करादीनां संख्याविष्कम्भादिविधिरुक्तो जम्बूद्वीपे, तद्द्विगुणो धातकीषण्ड इति प्रतिपादयितुमिच्छन्नाह–

द्विर्धातकीषण्डे[6] ॥३३॥

द्रव्याभ्या[7]वृत्तौ सुजभाव [8]इति चेत्; न; क्रियाध्याहाराद् द्विस्तावानिति यथा ।१। स्यान्मतम्–भरतादीनि द्रव्याणि अत्राभ्यावर्तन्ते न तु क्रिया 'तस्मान्नास्ति सुजिति ? तन्न; किं कारणम् ? क्रियाध्याहारात् । यथा [9]'द्विस्तावानयं प्रासाद इति 'मीयते' इत्येवमाद्यध्याह्रियमाणक्रियापेक्षया सुजुत्पत्तिः, एवमिहापि धातकीषण्डे भरतादयो 'द्विःसंख्यायन्ते' इत्येवं सामर्थ्यप्रापितक्रियापेक्षया सुज्वेदितव्यः । तच्च संख्यानं द्विधा–स्वरूपभेदेन विष्कम्भादिभेदेन च । तत्र स्वरूपसंख्यानं द्वौ भरतौ द्वौ हिमवन्तावित्येवमादि । विष्कम्भादिसंख्यानं जम्बूद्वीपे हिमवदादीनां वर्षधराणां यो विष्कम्भः तद्द्विगुणो धातकीषण्डे हिमवदादीनामिति ।

---

१ बाह्यां वेलां आ०, ब०, द०, मु०, ता०, । २ एकप्रदेशा– आ०, ब० मु० । ३ वेला कालविशेषः स्यात वेला सिन्धुजलोच्छ्रितिः । ४ प्रसारजलाः आ०, ब०, द०, मु० । ५ वारुणोदः ता०, श्र०, मु० । ६–खण्डे आ०, ब०, द०, मु० । ७ पौनःपुन्यम्– ता० टि० । ८ ततो न सु– ता०, आ०, ब०, द०, मु० । ९ द्वौ वारौ तावान् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ धातकीषण्डे भरतस्य को विष्कम्भः ? उच्यते—

षट्षष्टिशतानि चतुर्दशानि योजनानां धातकीषण्डभरताभ्यन्तरविष्कम्भः एकान्नत्रिंशच्च भागशतम् ।२। षट्सहस्राणि षट्शतानि चतुर्दशोत्तराणि योजनानां योजनस्य द्वादशद्विशतभागाः एकान्नत्रिंशच्च भागशतं धातकीषण्डभरताभ्यन्तरविष्कम्भः ।

सैकाशीतिपञ्चशताधिकद्वादशसहस्राणि मध्यविष्कम्भः षट्त्रिंशच्च भागाः ।३। द्वादशसहस्राणि योजनानां पञ्चशतान्येकाशीत्युत्तराणि षट्त्रिंशच्च भागा धातकीषण्डभरतमध्यविष्कम्भः ।

सप्तचत्वारिंशत्पञ्चशताष्टादशसहस्राणि बाह्यविष्कम्भः पञ्चपञ्चाशच्च भागशतम् ।४। अष्टादशसहस्राणि योजनानां पञ्चशतानि सप्तचत्वारिंशानि पञ्चपञ्चाशच्च भागशतं बाह्यभरतविष्कम्भः ।

वर्षाद्वर्षश्चतुर्गुणविस्तार आ विदेहात् ।५। वर्षाद्वर्षश्चतुर्गुणविस्तार आ विदेहाद् द्रष्टव्यः । भरताच्चतुर्गुणविष्कम्भो हैमवतः[1] । हैमवताच्चतुर्गुणविष्कम्भो हरिवर्षः । हरिवर्षाच्चतुर्गुणविष्कम्भो विदेह इति । तथा च भरततुल्यविस्तार ऐरावतः । ऐरावताच्चतुर्गुणविस्तारो हैरण्यवतः । हैरण्यवताच्चतुर्गुणविस्तारो रम्यकः । धातकीषण्डवलयविष्कम्भश्चत्वारि योजनशतसहस्राणि । तत्परिधिरेकचत्वारिंशद्योजनशतसहस्राणि दशसहस्राणि नव योजनशतानि विशेषोनैकषष्ट्युत्तराणि एकं शतसहस्रं अष्टसप्ततिसहस्राणि अष्टौ शतानि च द्वाचत्वारिंशानि योजनानि धातकीषण्डे वर्षधररुद्धक्षेत्रम् । तत्परिधिमपनीयावशिष्टं द्वादशद्विशतभागहृतं लब्धम्, भरतविष्कम्भ उक्तः ।

वर्षाणां वर्षधराणां सरितां वृत्तवेदाढ्यानां ह्रदानामन्येषां च तान्येव नामानि । वर्षधरा हिमवदादयः उक्तोत्सेधावगाहा द्विगुणविस्ताराः । चत्वारोऽपि वृत्तवेदाढ्या उक्तोच्छ्रायावगाहसमा द्वियोजनसहस्रविस्ताराः । यमकाद्री च व्याख्यातोत्सेधावगाहौ[2] द्वियोजनसहस्रमूलविस्तारौ पञ्चदशयोजनशतमध्यविष्कम्भौ उपर्येकयोजनसहस्रविस्तारौ । काञ्चनाद्रयश्च व्याख्यातोच्छ्रायावगाहा द्विगुणविस्ताराः । ह्रदाश्च पद्मादयः षडपि द्विगुणायामविष्कम्भावगाहाः । द्वीपाः पद्मानि च द्विगुणायामविष्कम्भावगाहानि ।

भरतैरावतविभाजिनाविष्वाकारगिरी ।६। उदगपाक् भरतैरावतयोर्विभागहेतू कालोदलवणोदस्पर्शिनौ योजनशतावगाहौ चतुर्योजनशतोत्सेधौ अध उपरि चैकयोजनसहस्रविस्तारौ काञ्चनपरिणामौ इष्वाकारगिरी भवतः ।

तत्र धातकीषण्डे द्वौ मेरू पूर्वापरौ योजनसहस्रावगाहौ पञ्चनवतियोजनशतमूलविष्कम्भौ धरणीतले चतुर्नवतियोजनशतविस्तारौ चतुरशीतियोजनसहस्रोत्सेधौ योजनसहस्रविस्तारतलौ पूर्वोक्तप्रमाणचूलिकौ[3] । समाद् भूमितलात् पञ्चयोजनशतान्युत्प्लुत्य नन्दनवनं भवति पञ्चयोजनशतविस्तारम् । पञ्चपञ्चाशद्योजनशताधिकपञ्चाशद्योजनसहस्राणि

---

१ अष्टपञ्चाशदधिकचतुःशतोपेतानि षड्विंशतियोजनसहस्राणि द्वादशाधिकशतद्वयीयं द्वानवतिभागा योजनस्य हैमवतोऽभ्यन्तरविष्कम्भः । चतुर्विंशत्यधिकशतत्रयोपेतानि पञ्चाशद्योजनसहस्राणि द्वादशाधिकशतद्वयीयं चतुश्चत्वारिंशदधिकं भागशतं च योजनस्य मध्यविष्कम्भः । नवत्यधिकशतोपेतानि चतुःसप्ततियोजनसहस्राणि द्वादशाधिकशतद्वयीयं षण्णवत्यधिकं भागशतं च हैमवतो बाह्यविष्कम्भः ।
२ –वावगाहावीति आ०, ब०, द०, मु० । ३ –भूतलिकौ आ०, ब०, द०, मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत उत्प्लुत्य सौमनसं नाम वनं पञ्चशतयोजनविष्कम्भं भवति । ततोऽष्टाविंशतियोजनसहस्राण्युत्प्लुत्य[1] पाण्डुकवनं भवति । तयोर्दशसु प्रदेशेष्वेकप्रदेशवृद्धिः ।

जम्बूद्वीपे यत्र जम्बूवृक्षः तत्र धातकीषण्डे धातकीवृक्षः । परिवाराश्च पूर्वोक्तवर्णनाः । तन्निवासी द्वीपाधिपतिस्तत एव द्वीपस्य धातकीषण्ड इति नाम वेदितव्यम् । तत्र चक्रारान्तरसंस्थाना वर्षा वर्षधराश्च चक्राराकारा उभयजलधिस्पर्शिनः । तत्परिक्षेपिकालोदसमुद्रः टङ्कच्छिन्नतीर्थः अष्टयोजनशतसहस्रवलयविष्कम्भ एकनवतिशतसहस्राणि सप्ततिश्च सहस्राणि साधिकपञ्चोत्तराणि षट्शतानि योजनानां तत्परिधिः ।

कालोदपरिक्षेपिपुष्करद्वीपः षोडशयोजनशतसहस्रवलयविष्कम्भः । तत्र द्वीपाम्भोनिधिद्विगुणपरिक्लृप्तिवत् धातकीषण्डवर्षादिद्विगुणविधि[2]प्रसङ्गे विशेषावधारणार्थमाह—

पुष्करार्धे च ॥३४॥

चशब्दः किमर्थः ?

संख्याभ्यावृत्त्यनुवर्तनार्थश्चशब्दः ।१। द्विरित्येतस्याः संख्याभ्यावृत्तेरनुवर्त्तनार्थश्चशब्दः क्रियते, पुष्करार्धे च द्विर्भरतादयः संख्यायन्त इति । किं जम्बूद्वीपभरतादिसंख्या द्विरावर्त्यत इत्यभिसंबध्यते आहोस्वित् धातकीषण्डभरतादि[3]संख्येति ? 'जम्बूद्वीपभरतादिसंख्यैव संबध्यते । अनन्तरा कस्मान्नाभिसंबध्यत [4]इति ? इच्छातो विशेषसम्बन्ध इति । अतश्चैतदेवं [5]धातकीषण्डे हिमवदादीनामपि विष्कम्भः, पुष्करार्धे च हिमवदादीनां द्विगुण इष्यत इति । नामानि च तान्येव वेदितव्यानि । अथ भरतस्य को विष्कम्भः ?

एकान्नाशीत्युत्तरपञ्चशताधिकैकचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि भरताभ्यन्तरविष्कम्भः सत्रिसप्ततिभागशतं च ।२। एकचत्वारिंशत्सहस्राणि पञ्चशतान्येकान्नाशीत्युत्तराणि योजनानां त्रिसप्तत्युत्तरभागशतं च भरताभ्यन्तरविष्कम्भो वेदितव्यः ।

द्वादशपञ्चशतोत्तरत्रिपञ्चाशद्योजनसहस्राणि मध्यविष्कम्भो नवनवत्यधिकं च भागशतम् ।३। त्रिपञ्चाशत्सहस्राणि योजनानां पञ्चशतानि द्वादशानि नवनवत्यधिकं च भागशतं मध्यभरतविष्कम्भः ।

द्वाचत्वारिंशच्चतुःशतोत्तरपञ्चषष्टिसहस्राणि बाह्यविष्कम्भस्त्रयोदश च भागाः ।४। पञ्चषष्टिसहस्राणि योजनानां चत्वारि शतानि द्वाचत्वारिंशानि त्रयोदशभागाः बाह्यभरतविष्कम्भः ।

वर्षाद्वर्षश्चतुर्गुणविस्तार आ विदेहात् ।५। वर्षात् वर्षः चतुर्गुणविस्तार आविदेहात् द्रष्टव्यः । भरताच्चतुर्गुणविष्कम्भो हैमवतः, हैमवताच्चतुर्गुणविष्कम्भो हरिवर्षः, हरिवर्षाच्चतुर्गुणविष्कम्भो विदेह इति । तथा भरततुल्यविस्तार ऐरावतः, ऐरावताच्चतुर्गुणविस्तारो हैरण्यवतः, हैरण्यवताच्चतुर्गुणविस्तारो रम्यक इति । एककोटिद्वाचत्वारिंशच्छतसहस्राणि [6]त्रिंशत्सहस्राणि द्वे च शते योजनानां सविशे[7]षा चैकान्नपञ्चाशत् पुष्करार्धान्तःपरिधिः । त्रीणि शतसहस्राणि

---

१ –त्सत्य श्र०, मू० । २ –विधिप्रमाणवि– आ०, ब०, द०, मु० । ३ –विकसं– आ०, ब०, द०, मु० । ४ चेत् । ५ यथा धातकीषण्डे जम्बूद्वीपभरतादयो द्विगुणसंख्या व्याख्याताः तथा पुष्करार्धे च जम्बूद्वीपस्यैव भरतादयो द्विगुणसंख्या व्याख्यायन्ते न धातकीषण्डस्येत्यर्थः । ६ द्वे शते आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ७ –षं चै– आ०, ब०, द०, मु० ।

पञ्चपञ्चाशत्सहस्राणि षट्शतानि चतुरशीतिश्च योजनानि पुष्करार्धे पर्वतरुद्धक्षे[1]त्रम्, परिधेरपनीयाऽवशिष्टं द्वादशद्विशतभागहृतलब्धं भरतविष्कम्भ उक्तः। वर्षधरविजयार्धवृत्तवेदाढ्यादयः जम्बूद्वीपवर्णनायां विहितोत्सेधावगाहा:[2] धातकीषण्डविहितद्विगुणविस्ताराः पुष्करार्धे च वेदितव्याः। इष्वाकारौ मन्दरौ च तावत्परिमाणावेव। यत्र जम्बूवृक्षस्तत्र पुष्करं सपरिवारं वेदितव्यम्। तन्निवासी द्वीपाधिपतिः, तत [3]एव तस्य दीपस्य नाम रूढं पुष्करद्वीप इति। 　　अथ कथं पुष्करार्धसंज्ञा ?

मानुषोत्तरशैलेन विभक्तार्धत्वात् पुष्करार्धसंज्ञा।६। पुष्करद्वीपस्य बहुमध्यदेशभावी वलयवृत्तो मानुषोत्त र[4]नामशैलः, तेन विभक्तार्धत्वात् पुष्करार्धसंज्ञा वेदितव्या। सप्तदशयोजनशतान्येकविंशान्यस्योच्छ्रायः। चत्वारि योजनशतानि त्रिंशानि सक्रोशान्यवगाहः, द्वाविंशं योजनसहस्रं मूलविस्तारः। सप्तयोजनशतानि त्रयोविंशानि मध्यविस्तारः। चतुर्विंशानि चत्वारि योजनशतान्युपरि विस्तारः। सोऽयमभ्यन्तरमुखनिषण्णसिंहाकृतिरर्धयवराश्युपमानः मानुषोत्तराद्रिः। तस्योपरि चतसृषु दिक्षु पञ्चाशद्योजनायामतदर्धविस्तारसार्धयोजनसप्तत्रिंशद्योजनोत्सेधानि अष्टयोजनोत्सेधतदर्धविष्कम्भतावत्प्रवेशद्वाराणि अर्हदायतनवर्णनोपेतानि चत्वार्यर्हदायतनानि प्रागादिषु दिक्षु प्रदक्षिणा[5]वृतानि। वैडूर्य-अश्मगर्भ-सौगन्धिक-रुचक-लोहिताक्ष-अञ्जनक[6]-अञ्जनमूल-कनक-रजत-स्फटिक-अङ्क-प्रवाल-वज्र-तपनीयकूटसंज्ञानि चतुर्दशकूटानि पञ्चयोजनशतोच्छ्रायाणि पञ्चयोजनशतमूलविष्कम्भाणि पञ्चसप्तत्युत्तरत्रियोजनशतमध्यविष्कम्भाणि अर्धतृतीययोजनशतोपरिविष्कम्भाणि। तत्र चतसृषु दिक्षु त्रीणि त्रीणि कूटानि पूर्वोत्तरस्यां दिश्येकं कूटं पूर्वदक्षिणस्यां दिश्येकम्। तेषु यशस्वदादयः पल्योपमस्थितयः सुपर्णकुमाराणां राजानो निवसन्ति। प्राच्यां दिशि वैडूर्ये यशस्वान्, अश्मगर्भे यशष्कान्तः, सौगन्धिके यशोधरः। अपाच्यां रुचके नन्दनः, लोहिताक्षे नन्दोत्तरः, अञ्जनकेऽशनिघोषः। प्रतीच्यामञ्जनमूले सिद्धार्थः, कनके क्रमणः, रजते मानुषः। उदीच्यां स्फटिके सुदर्शनः, अङ्कऽमोघः, प्रवाले सुप्रबुद्धः। पूर्वोत्तरस्यां वज्रे हनुमान्। पूर्वदक्षिणस्यां तपनीये स्वातिः। चतसृषु विदिक्षु पुनरिमानि चत्वारि कूटानि रत्न-सर्वरत्न-वेलम्ब-प्रभञ्जननामानि पूर्वकूटपरिमाणानि। निषधाद्रिस्पृष्टभागे पूर्वदक्षिणस्यां रत्ने पन्नगेन्द्रो वेणुदेवः। नीलाद्रिस्पृष्टभागे पूर्वोत्तरस्यां सर्वरत्ने सुपर्णेन्द्रो वेणुतालिः। निषधाद्रिस्पृष्टभागेऽपरदक्षिणस्यां वेलम्बकूटे वातेन्द्रो वेलम्बः। नीलाद्रिस्पृष्टभागेऽपरोत्तरस्यां प्रभञ्जनकूटे वातेन्द्रः प्रभञ्जनो निवसति।

अत्राह—किमर्थं जम्बूद्वीपधराधरादिसंख्या द्विरावृत्ता पुष्करार्धे कथ्यते, न पुनः कृत्स्न एव पुष्करद्वीपे इति ? अत्रोच्यते—

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥३५॥

यस्मात् प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्या न बहिः, ततो न बहिः पूर्वोक्तक्षेत्रविभागोऽस्ति। अथवा, उक्तमिन्द्रियविकल्पाधिकारे **"कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि"** [त० सू० २। २३] इति ; तत्र न ज्ञायते क्व मनुष्या इति ? अतस्तदधिकरणविशेष-

---

१–द्धक्षेत्रमपनी– आ०, ब०, द०, मु०। २ –हाः विहि– आ०, ब०, द०, मु०। ३ एवास्य द्वी– आ०, ब०, दै०, मु०। ४ –रको नाम– मू०, अ०। ५ –णावृतानि मू०, अ०। ६ –नकाञ्जनमूल– ता०, अ०, मू०।

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

प्रतिपत्त्यर्थमुच्यते–जम्बूद्वीपादारभ्य प्राङ् मानुषोत्तरात् मनुष्या न बहिरिति । व्याख्यातो मानुषोत्तराद्रिः । नास्मादुत्तरं कदाचिदपि विद्याधरा: ऋद्धिप्राप्ता अपि मानुषा गच्छन्ति अन्यत्रोपपादसमुद्‌घाताभ्याम्, ततोऽस्याऽन्वर्थसंज्ञा ।

एवं द्विगुणद्विगुणवलयविष्कम्भेषु द्वीपसमुद्रेषु गतेष्वष्टमो नन्दीश्वरो द्वीप: । तस्य वलय-विष्कम्भ: कोटिशतं त्रिषष्टिकोटय: चतुरशीतिश्च योजनशतसहस्राणि । तत्परिधि: द्वे कोटि-सहस्रे द्विसप्ततिकोटय: त्रयस्त्रिंशच्छतसहस्राणि चतु:पञ्चाशत्सहस्राण्येकशतं नवतियोजनानि गव्यूतं च साधिकम् । तद्‌बहुमध्यदेशभाविनश्चतसृषु दिक्षु चत्वारोऽञ्जनगिरय: योजन-सहस्रावगाहाश्चतुरशीतियोजनसहस्रोत्सेधा: मूलमध्याग्रेषूत्सेधसमायामविष्कम्भा: पटहा-कारा: । तेषां चतसृषु दिक्षु तिर्यगेकं योजनशतसहस्रमतीत्य प्रत्येकं चतस्रो वाप्यो भवन्ति । तत्र पौरस्त्याञ्जनगिरे: नन्दा-नन्दवती-नन्दोत्तरा-नन्दिघोषासंज्ञा योजन-सहस्रावगाहा[1] योजनशतसहस्रायामविष्कम्भाश्चतुष्कोणा मत्स्यकच्छपादिजलचरविरहिता: पद्मोत्पलादिजलरुहकुसुमसञ्छादितस्फटिकमणिस्वच्छगम्भीरनीरा: । प्राच्यां दिशि नन्दा शक्रस्य, अपाच्यां नन्दावती ऐशानस्य, प्रतीच्यां नन्दोत्तरा चमरस्य, उदीच्यां नन्दिघोषा वैरोचनस्य । दाक्षिणात्याञ्जनगिरेर्विजया वैजयन्ती जयन्ती अपराजिता चेति चतस्रो वाप्य: पूर्वोक्तप्रमाणवर्णना: शक्रलोकपालानाम् । प्राच्यां दिशि विजया वरुणस्य, अपाच्यां वैजयन्ती यमस्य, प्रतीच्यां जयन्ती सोमस्य, उदीच्यामपराजिता वैश्रवणस्य । पाश्चात्याञ्जन-गिरेरशोका सुप्रबुद्धा कुमुदा पुण्डरीकिणी चेति चतस्रो वाप्य: पूर्वोक्तप्रमाणवर्णना: । पूर्वस्यां दिशि अशोका वेणुदेवस्य, दक्षिणस्यां [2]सुप्रबुद्धा वेणुता[3]ले:, अपरस्यां कुमुदा वरुणस्य, उत्तरस्यां पुण्डरीकिणी भूतानन्दस्य । उदीच्याञ्जनगिरे: प्रभङ्करा सुमना आनन्दा सुदर्शना चेति चतस्रो वाप्य: पूर्वोक्तप्रमावर्णना ऐशानलोकपालानाम् । प्राच्यां दिशि प्रभङ्करा वरुणस्य, अपाच्यां सुमना यमस्य, प्रतीच्याम्[4] आनन्दा सोमस्य, उदीच्यां सुदर्शना वैश्रवणस्य । षोडशानामप्यासामभ्यन्तरान्तराणि पञ्चषष्टिसहस्राणि योजनानां पञ्चशतानि पञ्चचत्वारिंशानि । मध्यान्तराणि एकं शतसहस्रं योजनानां चत्वारिंशत्सहस्राणि [5]षट् च शतानि द्वियोजनोत्तराणि । बाह्यान्तराणि द्वे शतसहस्रे योजनानां त्रयोविंशतिसहस्राणि षट् च शतान्येकषष्ट्युत्तराणि । षोडशानामपि तासां मध्येषु सहस्रावगाहा मूलमध्याग्रेषु दशयोजनसहस्रायामविष्कम्भा: तावदुत्सेधा: पटहाकारा: जाम्बूनदमया:, अर्जुनसुवर्णशिखर-त्वाद् दधिमुखा इति [6]कृत्वा अन्वर्थसंज्ञा: षोडश नगवरा: । परितस्ता वापी: चत्वारि वनानि प्रत्येकमशोक-सप्तपर्ण-चम्पक-चूतनामानि वापीसमायामानि तदर्धविष्कम्भाणि ।

पूर्वेणाऽशोकवनं दक्षिणत: सप्तपर्णवनमाहु: ।
अपरेण चम्पकवनमुत्तरतश्चूतवृक्षवनम् ॥१॥

एतद्वापीकोणसमीपस्था: प्रत्येकं चत्वारो नगा रतिकराख्या अर्धतृतीययोजनशता-वगाहा एकयोजनसहस्रोत्सेधा मूलमध्याग्रेषु तावदायामविष्कम्भा: पटहाकारा: काञ्चन-मणिपरिणामा: । सर्वे ते समुदिताश्चतु:षष्टि: । तत्र ये अभ्यन्तरकोणस्था द्वात्रिंशन्नगा देवानामाक्रीडनस्थानैरलङ्कृता: । ये बाह्यकोणस्था: द्वात्रिंशद्रतिकरा अञ्जनाद्रयो दधिमुखाश्च

१ –हा: चतुरशीतियोजनसहस्रावगाहा: भा० २ । २–सुप्रसिद्धा श्रा०, वि० । ३ –तालस्य श्रा०, ब०, द०, मु० । ४ –च्यां नन्दा श्र० । ५ षट्शतानि श्रा०, ब०, द०, मु० । ६ कृत्वान्वर्थ–श्रा०, ब०, द०, मु०, ता० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेषां द्विपञ्चाशदुपरि बहुमध्यदेशभावीनि प्राङ्मुखानि योजनशतायामतदर्धविष्कम्भाणि पञ्चसप्ततियोजनोत्सेधानि अष्टयोजनोत्सेधतदर्धविस्तारतावत्प्रवेशपूर्वोत्तरदक्षिणद्वाराणि द्विपञ्चाशदर्हदायतनानि अर्हदायतनवर्णनोपेतानि चातुर्मासिकमहामहिमार्हाणि । पूर्वोक्तचतुःषष्टिवनषण्डबहुमध्यदेशभाविनो द्विषष्टियोजनोत्सेधा एकत्रिंशद्योजनायामविष्कम्भा अष्टयोजनोत्सेधतदर्धविस्तारद्वाराश्चतुःषष्टिरेव प्रासादाः । एतेष्वशोकवनावतंसकादयः[1] पल्योपमायुषः दशकार्मुकोत्सेधाः [2]स्वभवननामानो देवा [3]निवसन्ति ।

एवं द्विगुणवलयविष्कम्भेषु द्वीपसमुद्रेषु गतेष्वेकादशमः कुण्डलवरद्वीपः । तद् बहुमध्यदेशभाविवलयाकारः संपूर्णयवराश्युपमानः कुण्डलनगः योजनसहस्रावगाहः द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्रोत्सेधः [4]द्वाविंशदशसहस्रयोजनमूलविस्तारः त्रयोविंशसप्तसहस्रयोजनमध्यविस्तारः चतुर्विंशचतुर्योजनसहस्राग्रविस्तारः । तस्योपरि पूर्वादिदिग्विभावीनि वज्र-वज्रप्रभ-कनक-कनकप्रभ-रजत-रजतप्रभ-सुप्रभ-महाप्रभ-अङ्क-अङ्कप्रभ-मणि-मणिप्रभ-स्फटिक-स्फटिकप्रभ-हिमवत्-महेन्द्रकूटसंज्ञानि षोडश कूटानि मानुषोत्तरकूटतुल्यप्रमाणानि एकैकस्यां दिशि चत्वारि चत्वार्यवसेयानि । पूर्वस्यां दिशि वज्रे त्रिशिराः, वज्रप्रभे पञ्चशिराः, कनके महाशिराः, कनकप्रभे महाभुजः । अपाच्यां रजते पद्मः, रजतप्रभे पद्मोत्तरः, सुप्रभे महापद्मः, महाप्रभे वासुकिः । अपरस्यामङ्के स्थिरहृदयः, अङ्कप्रभे महाहृदयः, मणिकूटे श्रीवृक्षः, मणिप्रभे स्वस्तिकः । उदीच्यां स्फटिके सुन्दरः, स्फटिकप्रभे विशालाक्षः, हिमवति पाण्डुरः, महेन्द्रे पाण्डुकः । एते त्रिशिरःप्रभृतयः पाण्डुकान्ताः षोडशापि नागेन्द्राः पल्योपमायुषः । पूर्वापरयोर्दिशोः कुण्डलनगे एकयोजनसहस्रोत्सेधे तावन्मूलविष्कम्भे अर्धाष्टमशतमध्यविष्कम्भे पञ्चशताग्रविष्कम्भे कुण्डलवरद्वीपाधिपतेरावासौ द्वे कूटे । तस्यैवोपरि [5]पूर्वादिषु दिक्षु चत्वार्यर्हदायतनानि अञ्जनाद्रिजिनायतनतुल्यप्रमाणानि ।

कुण्डलवरद्वीपद्विगुणवलयविष्कम्भः कुण्डलवरोदः, तद्द्विगुणवलयविष्कम्भः शङ्खवरद्वीपः, तद्द्विगुणवलयविष्कम्भः शङ्खवरोदः तद्द्विगुणवलयविष्कम्भः रुचकवरद्वीपः । तद्बहुमध्यदेशभावी वलयाकार रुचकवरनगः एकयोजनसहस्रावगाहश्चतुरशीतियोजनसहस्रोत्सेधः, मूलमध्याग्रेषु द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्रविस्तारः । तस्योपरि पूर्वादिषु दिक्षु चत्वारि कूटानि नन्द्यावर्त[6]-स्वस्तिक-श्रीवृक्ष-वर्धमानसंज्ञानि पञ्चयोजनशतोत्सेधानि मूलमध्याग्रेषु योजनसहस्रायामविष्कम्भाणि । प्राच्यां दिशि नन्द्यावर्ते पद्मोत्तरः, अपाच्यां स्वस्तिके सुहस्ती, प्रतीच्यां श्रीवृक्षे नीलः, उदीच्यां वर्धमानेऽञ्जनगिरिः । त एते पद्मोत्तरादयः चत्वारो दिग्गजेन्द्राः पल्योपमायुषः । तस्यैवोपरि पूर्वस्यां दिशि वैडूर्य-काञ्चन-कनक-अरिष्ट-दिक्स्वस्तिक-नन्दन-अञ्जन-अञ्जनमूलकनामान्यष्टौ कूटानि पूर्वोक्तकूटतुल्यप्रमाणानि । वैडूर्ये विजया, काञ्चने वैजयन्ती, कनके जयन्ती, अरिष्टेऽपराजिता, दिक्स्वस्तिके नन्दा, नन्दने नन्दोत्तरा, अञ्जने आनन्दा, अञ्जनमूलके नान्दी[7]वर्धना । एता दिक्कुमार्यः तीर्थकरजन्मकाले इहाऽऽगत्याऽर्हन्मातृसमीपे भृङ्गारान् गृहीत्वाऽवतिष्ठन्ते । दक्षिणस्याममोघ-सुप्रबुद्ध-मन्दिर-विमल-रुचक-रुचको[8]त्तर-चन्द्र-सुप्रतिष्ठसंज्ञान्यष्टौ कूटानि पूर्वोक्तकूटतुल्य-

---

१ सप्तपर्णवनावतंसकेत्यादि योज्यम् । २ स्वस्ववना– आ०, ब०, द०, मु० । ३ वसन्ति अ० । ४ द्वात्रिंशत् भा० २ । ५ पूर्वादिदिक्षु आ०, ब० द०, मु० । ६ –र्तक स्व– आ०, द०, मु०, अ०, मू० । ७ –वर्धमाना अ०, ता० । ८ –त्तमच– अ०, म० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाणानि। अमोघे सुस्थिता, सुप्रबुद्धे सुप्रणिधिः, मन्दिरे सुप्रबुद्धा, विमले यशोधरा, रुचके लक्ष्मीमती, रुचकोत्तरे कीर्तिमती, चन्द्रे वसुन्धरा, सुप्रतिष्ठे चित्रा। एता दिक्कुमार्यः इहाऽऽगत्याऽर्हन्मातृसमीपे आदर्शधारिण्योऽवतिष्ठन्ते। अपरस्यां लोहिताक्ष-जगत्कुसुम-पद्म-नलिन-कुमुद-सौमनस-यशोभद्राख्यान्यष्टौ कूटानि पूर्वोक्तकूटतुल्यप्रमाणानि। लोहिताक्षे इलादेवी, जगत्कुसुमे सुरादेवी, पद्मे पृथिवी, नलिने पद्मावती, कुमुदे कानना, सौमनसे [1]नवमिका, यशसि यशस्विनी, भद्रकूटे भद्रा। एता दिक्कुमार्य इहाऽऽगत्याऽर्हन्मातृसमीपे छत्राणि धारयन्त्यो गायन्त्य आसते। उदीच्यां स्फटिक-अङ्क-अञ्जन-काञ्चन-रजत-कुण्डल-रुचिर-सुदर्शनसंज्ञान्यष्टौ कूटानि पूर्वोक्तकूटतुल्यप्रमाणानि। स्फटिकेऽलंभूषा, अङ्के मिश्रकेशी,[2] अञ्जने पुण्डरीकिणी, काञ्चने वारुणी, रजत आशा, कुण्डले ह्री, [3]रुचिरे श्रीः, सुदर्शने धृतिरिति। एता दिक्कुमार्यः प्रगृहीतचामरा अर्हन्मातृः सेवन्ते। पूर्वादिषु दिक्षु पुनरपराणि चत्वारि कूटानि-विमल-नित्यालोक-स्वयंप्रभ-नित्योद्योतसंज्ञानि। पूर्वस्यां दिशि विमले चित्रा, दक्षिणस्यां नित्यालोके कनकचित्रा, अपरस्यां स्वयंप्रभे त्रिशिराः, उत्तरस्यां नित्योद्योते सूत्रमणिः। एता [4]विद्युत्कुमार्यः इहाऽऽगत्य जिनमातृसमीपे भास्करवदुद्योतं कुर्वन्त्य आसते। विदिक्षु चत्वारि कूटानि वैडूर्य-रुचक-मणिप्रभ-रुचकोत्तमनामानि। पूर्वोत्तरस्यां वैडूर्ये रुचका, पूर्वदक्षिणस्यां रुचके रुचकाभा, अपरदक्षिणस्यां मणिप्रभे रुचकान्ता, अपरोत्तरस्यां रुचकोत्तमे रुचकप्रभा एता दिक्कुमारीमहत्तरिकाः। विदिक्षु पुनरपराणि चत्वारि कूटानि रत्न-रत्नप्रभ-सर्वरत्न-रत्नोच्चयाख्यानि। पूर्वोत्तरस्यां रत्ने विजया, पूर्वदक्षिणस्यां रत्नप्रभे वैजयन्ती, अपरदक्षिणस्यां सर्वरत्ने जयन्ती, अपरोत्तरस्यां रत्नोच्चये अपराजिता। एता [5]विदिक्कुमारीमहत्तरिकाः। एता अष्टावपि महत्तरिका इह आगत्य तीर्थंकराणां जातकर्माणि कुर्वन्ति। तान्येतानि [6]विदिक्कुमारीणां महत्तरिकाणां च कूटानि द्वादशाप्येकयोजनसहस्रोत्सेधानि मूलमध्याग्रेषु एकसहस्राऽर्धाऽष्टमशतपञ्चशतविस्ताराणि। रुचकनगस्योपरि चतसृषु दिक्षु चत्वार्यर्हदायतनानि प्राङ्मुखान्यञ्जनाद्रिजिनालयतुल्यप्रमाणानि। एवं द्विगुणद्विगुण-वलयविष्कम्भा असंख्येया दीपसमुद्रा वेदितव्याः।

यो मानुषोत्तराद्रिरुक्तः तस्मात्प्राग्भवन्तः गतिनामापेक्षाभिधानाः पूर्वोदिता द्विविधाः कथमिति चेत्? उच्यते—

आर्या म्लेच्छाश्च ॥३६॥

आर्या द्विविधा ऋद्धिप्राप्तेतरविकल्पात्।१। गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्ते सेव्यन्ते इत्यार्याः। ते द्विविधाः ऋद्धिप्राप्तार्याः, अनृद्धिप्राप्तार्याश्चेति।

अनृद्धिप्राप्तार्याः पञ्चविधाः क्षेत्रजातिकर्मचारित्रदर्शनभेदात्।२। ये अनृद्धिप्राप्तार्यास्ते पञ्चविधा भवन्ति—क्षेत्रार्याः जात्यार्याः कर्मार्याः चारित्रार्याः दर्शनार्याश्चेति। तत्र क्षेत्रार्याः काशीकोशलादिषु जाताः। इक्ष्वाकुज्ञातिभोजादिषु कुलेषु जाता जात्यार्याः। कर्मार्यास्त्रेधा—सावद्यकर्मार्या अल्पसावद्यकर्मार्या असावद्यकर्मार्याश्चेति। सावद्यकर्मार्याः

---

१ –से वनिका– भा० २। २ –केशा श्रा०, ब०, द०, मु०। ३ रुचके श्रा०, ब० द०, मू०, ता०, श्र०। ४ दिक्कुमार्यः श्र०। ५ विद्युत्कुमारिमह– श्रा०, ब०, द०, मु०, मू०। ६ विद्युत्कुमा– श्रा०, ब०, द,० मु० मू०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षोढा–असि-मषी-कृषि-विद्या-शिल्प-वणिक्कर्मभेदात् । असिधनुरादिप्रहरणप्रयोगकुशला असिकर्मार्याः । द्रव्यायव्ययादिलेखननिपुणा मषीकर्मार्याः । [1]हलकुलिदन्तालकादिकृष्युपकरणविधानविदः कृषीबलाः कृषिकर्मार्याः । आलेख्यगणितादिद्विसप्ततिकलावदाता[2] विद्याकर्मार्याः [3]चतुःषष्टिगुणसम्पन्नाश्च । रजकनापितायस्कारकुलालसुवर्णकारादयः शिल्पकर्मार्याः । चन्दनादिगन्धघृतादिरसशाल्यादिधान्यकार्पासाद्याच्छादनमुक्तादिनानाद्रव्यसंग्रहकारिणो बहुविधा वणिक्कर्मार्याः । षडप्येते अविरतिप्रवणत्वात् सावद्यकर्मार्याः, अल्पसावद्य[4]कर्मार्याः श्रावकाः श्राविकाश्च विरत्यविरतिपरिणतत्वात्, असावद्यकर्मार्याः संयताः, कर्मक्षयार्थोद्यतविरतिपरिणतत्वात् । चारित्रार्या द्वेधा [5]अधिगतचारित्रार्याः [6]अनधिगमचारित्रार्यश्चेति । तद्भेदः अनुपदेशोपदेशापेक्ष[7]भेदकृतः । चारित्रमोहस्योपशमात् क्षयाच्च बाह्योपदेशानपेक्षा आत्मप्रसादादेव चारित्रपरिणामास्कन्दिन उपशान्तकषायाः क्षीणकषायाश्चा[8]ऽधिगतचारित्रार्याः । अन्तश्चारित्रमोहक्षयोपशमसद्भावे सति बाह्योपदेशनिमित्तविरतिपरिणामा [9]अनधिगमचारित्रार्याः । दर्शनार्या दशधा–आज्ञामार्गोपदेशसूत्रबीजसंक्षेपविस्तारार्थविगाढपरमावगाढरुचिभेदात् । तत्र भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रणीताज्ञामात्रनिमित्तश्रद्धाना आज्ञारुचयः । निःसङ्गमोक्षमार्गश्रवणमात्रजनितरुचयो मार्गरुचयः । तीर्थकरबलदेवादिशुभचरितोपदेशहेतुकश्रद्धाना उपदेशरुचयः । प्रव्रज्यामर्यादाप्ररूपणाचारसूत्रश्रवणमात्रसमुद्भूतसम्यग्दर्शनाः सूत्ररुचयः । बीजपदग्रहणपूर्वकसूक्ष्मार्थतत्त्वार्थश्रद्धाना बीजरुचयः । जीवादिपदार्थ[10]समाससंबोधनसमुद्भूतश्रद्धानाः संक्षेपरुचयः । अङ्गपूर्वविषयजीवाद्यर्थविस्तारप्रमाणनयादिनिरूपणोपलब्धश्रद्धाना विस्ताररुचयः । वचनविस्तारविरहितार्थग्रहणजनितप्रसादा अर्थरुचयः । आचारादिद्वादशाङ्गाऽभिनिविष्टश्रद्धाना अवगाढरुचयः । परमावधिकेवलज्ञानदर्शनप्रकाशितजीवाद्य[11]र्थविषयात्मप्रसादाः परमावगाढरुचयः ।

ऋद्धिप्राप्तार्या अष्टविधाः–बुद्धि-क्रिया-विक्रिया-तपः-बल-औषध-रस-क्षेत्रभेदात् ।३। ऋद्धिप्राप्तार्या अष्टविधा भवन्ति बुद्ध्यादिविकल्पात् । तत्र बुद्धिरवगमो ज्ञानं तद्विषया अष्टादशविधाः ऋद्धयः–केवलज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं बीजबुद्धिः कोष्ठबुद्धिः पदानुसारित्वं संभिन्नश्रोतृत्वं दूरादास्वादनदर्शनस्पर्शनघ्राणश्रवणसमर्थता दशपूर्वित्वं चतुर्दशपूर्वित्वं अष्टाङ्गमहानिमित्तज्ञता प्रज्ञाश्रवणत्वं प्रत्येकबुद्धता वादित्वं चेति । तत्र केवलाऽवधिमनःपर्यया व्याख्याताः । सुकृष्टसुमथीकृते क्षेत्रे सारवति कालादिसहायापेक्षं बीजमेकमुप्तं यथा अनेकबीजकोटिप्रदं भवति तथा [12]नोइन्द्रियश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षे सति एकबीजपदग्रहणादनेकपदार्थप्रतिपत्तिर्बीजबुद्धिः । कोष्ठागारिकस्थापितानामसंकीर्णानामविनष्टानां भूयसां धान्यबीजानां यथा कोष्ठेऽवस्थानं तथा परोपदेशादवधारितानाम् अर्थग्रन्थबीजानां भूयसामव्यतिकीर्णानां बुद्धाववस्थानं कोष्ठबुद्धिः । पदानुसारित्वं त्रेधा–अनुस्रोतः प्रतिस्रोतः उभयथा चेति । एकपदस्यार्थं परत उपश्रुत्यादौ अन्ते च मध्ये वा शेषग्रन्थार्थविधारणं

---

१ हलकुलीदन्ताल– मू० । हलकुलिशदन्ता– आ०, ब०, द०, मु० । २ कुशलाः । ३ चतुर्णाश्च द० । चतुर्वर्णाश्च आ०, ब०, मु०, । ४ कर्मार्याश्च श्रावका रतिविरतिप– मु०, आ०, ब० । ५ अभिगत–चा– आ०, ब०, द०, मु०, ता०, म० । ६ अनभिगतचा– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ७ –पेक्षाभे– अ० । ८ –श्चाभिगत– आ०, ब०, द०, मु० ता० । ९ अनभिगतचा– आ०, ब, द०, मु०, ता० । १० –समानस– द० । –सामान्यसं– आ०, ब०, मु० । ११ –विषयप्रसा– आ०, ब, द०, मु० । –विषयार्थप्र– ता० । १२ नोइन्द्रियावरणश्रुतावरण– आ०, ब०, मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदानुसारित्वम् । द्वादशयोजनायामे नवयोजनविस्तारे चक्रधरस्कन्धावारे गजवाजिखरोष्ट्रमनुष्यादीनाम् अक्षरानक्षररूपाणां नानाविधशब्दानां युगपदुत्पन्नानां तपोविशेषबललाभापादितसर्वजीवप्रदेशश्रोत्रेन्द्रियपरिणामात् सर्वेषामेककालग्रहणं संभिन्नश्रोतृत्वम् । तपःशक्तिविशेषाविर्भावितासाधारणरसनेन्द्रियश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभापेक्षस्य अवधृतनवयोजनक्षेत्राद् बहिर्बहुयोजनविप्रकृष्टक्षेत्रादायातस्य रसस्याऽऽस्वादनसामर्थ्यम् । एवं शेषेष्वपि इन्द्रियविषयेषु अवधृतक्षेत्राद् बहिर्बहुयोजनप्रकृष्टदेशादायातेषु ग्रहणसामर्थ्यं योज्यम् । महारोहिण्यादिभिस्त्रिराग[1]ताभिः प्रत्येकमात्मीयरूपसामर्थ्याविष्करणकथनकुशलाभिर्वेगवतीभिर्विद्यादेवताभिरविचलितचारित्रस्य दशपूर्वदुस्तरसमुद्रोत्तरणं दशपूर्वित्वम् । संपूर्णश्रुतकेवलिता चतुर्दशपूर्वित्वम् ।

अष्टौ महानिमित्तानि अन्तरिक्ष-भौम-अङ्ग-स्वर-व्यञ्जन-लक्षण-छिन्न-स्वप्ननामानि । तत्र रविशशिग्रहनक्षत्रभगणोद्यास्तमयादिभिरतीतानागतफलप्रविभागप्रदर्शनमन्तरिक्षम् । भुवो घनशुषिरस्निग्धरूक्षादिविभावनेन पूर्वादिदिक्सूत्रनिवासेन वा वृद्धिहानिजयपराजयादिविज्ञानं भूमेरन्तर्निहितसुवर्णरजतादिसंसूचनं च भौमम् । अङ्गप्रत्यङ्गदर्शनस्पर्शनादिभिस्त्रिकालभाविसुखदुःखादिविभावन[2]मङ्गम् । अक्षरानक्षरशुभाशुभशब्दश्रवणेनेष्टानिष्टफलाविर्भावनं महानिमित्तं स्वरम् । शिरोमुखग्रीवादिषु तिलकमशकलक्ष्म[3]व्रणादिवीक्षणेन त्रिकालहिताहितवेदनं व्यञ्जनम् । श्रीवृक्षस्वस्तिकभृङ्गारकलशादिलक्षणवीक्षणात् त्रैकालिकस्थानमानैश्वर्यादिविशेषज्ञानं लक्षणम् । वस्त्रशस्त्रछत्रोपानदासनशयनादिषु देवमानुषराक्षसादिविभागैः शस्त्रकण्टकमूषिकादिकृतछेदनदर्शनात् कालत्रयविषयलाभालाभसुखदुःखादिसूचनं छिन्नम् । वातपित्तश्लेष्मदोषोदयरहितस्य पश्चिमरात्रिभागे चन्द्रसूर्यधराद्रिसमुद्रमुखप्रवेशनसकलमहीमण्डलोपगूहनादिशुभघृततैलाक्तात्मीयदेहखरकरभारूढापागदिग्गमनाद्यशुभस्वप्नदर्शनात् आगामिजीवितमरणसुखदुःखाद्याविर्भावकः स्वप्नः । एतेषु महानिमित्तेषु कौशलमष्टाङ्गमहानिमित्तज्ञता । अतिसूक्ष्मार्थतत्त्वविचारगहने चतुर्दशपूर्विण एव विषयेऽनुयुक्ते[4] अनधीतद्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वस्य प्रकृष्टश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भूताऽसाधारणप्रज्ञाशक्तिलाभान्निःसंशयं निरूपणं [5]प्रज्ञाश्रवणत्वम् । परोपदेशमन्तरेण स्वशक्तिविशेषादेव[6] ज्ञानसंयमविधाननिपुणत्वं प्रत्येकबुद्धता । शक्रादिष्वपि प्रतिबन्धिषु सत्स्वप्रतिहततया निरुत्तराभिधानं पररन्ध्रापेक्षणं च वादित्वम् ।

क्रियाविषया ऋद्धिर्द्विविधा–चारणत्वमाकाशगामित्वं चेति । तत्र चारणा अनेकविधाः जलजङ्घातन्तुपुष्पपत्रश्रेण्यग्निशिखाद्यालम्बनगमनाः । जलमुपादाय वाप्यादिष्वप्कायान् जीवान[7]विराधयन्तः भूमाविव पादोद्धारनिक्षेपकुशला जलचारणाः । भुव उपर्याकाशे चतुरङ्गुलप्रमाणे जङ्घोत्क्षेपनिक्षेपशीघ्रकरणपटवो बहुयोजनशताशुगमनप्रवणा जङ्घाचारणाः । एवमितरे च वेदितव्याः । पर्यङ्कावस्थानिषण्णा वा कायोत्सर्गशरीरा वा पादोद्धारनिक्षेपणविधिमन्तरेण आकाशगमनकुशला आकाशगामिनः ।

विक्रियागोचरा ऋद्धिरनेकविधा–अणिमा महिमा लघिमा गरिमा प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वमप्रतिघातोऽन्तर्धानं कामरूपित्वमित्येवमादिः । तत्राणुशरीरविकरणमणिमा,

१ –विभिस्त्रिभिराग– आ०, ब०, मु०, श्र० । २ –माङ्गम् श्र०, मू० । ३ –[illegible]– आ०, ब०, द०, मु० । सामुद्रिकलक्षण । ४ पृष्टे । ५ प्रज्ञाश्रमण– आ०, ब०, द०, मु०, श्र० । ६ –ज्ञानसंयमविधानेन– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ७ –नविरोध– ता०, श्र० ।

विसच्छिद्रमपि प्रविश्याऽऽसित्वा तत्र च चक्रवर्तिपरिवारविभूतिं सृजेत् । मेरोरपि महत्तरशरीरविकरणं महिमा । वायोरपि लघुतरशरीरता लघिमा । वज्रादपि गुरुतरदेहता गरिमा । भूमौ स्थित्वाऽङ्गुल्यग्रेण मेरुशिखरदिवाकरादिस्पर्शनसामर्थ्यं प्राप्तिः । अप्सु भूमाविव गमनं भूमौ जल इवोन्मज्जननिमज्जनकरणं प्राकाम्यम् । त्रैलोक्यस्य प्रभुता ईशित्वम् । सर्वजीववशीकरणलब्धिर्वशित्वम् । अद्रिमध्ये वियतीव गमनागमनमप्रतीघातः । अदृश्यरूपशक्तिताऽन्तर्धानम् । युगपदनेकाकाररूपविकरणशक्तिः कामरूपित्वमिति ।

तपोऽतिशयर्द्धिः सप्तविधा–उग्र-दीप्त-तप्त-महा-घोर-तपो-वीरपराक्रम-घोरब्रह्मचर्यभेदात् । चतुर्थषष्ठाष्टमदशमद्वादशपक्षमासाद्यनशनयोगेष्वन्यतमयोगमारभ्य आमरणादनिवर्तका उग्रतपसः । महोपवासकरणेऽपि प्रवर्धमानकायवाङ्मानसबलाः विगन्धरहितवदनाः पद्मोत्पलादिसुरभिनिश्वासा अप्रच्युतमहादीप्तिशरीरा दीप्ततपसः । तप्तायसकटाहपतितजलकणवदाशुशुष्काल्पाहारतया मलरुधिरादिभावपरिणामविरहिताभ्यवहाराः तप्ततपसः । सिंहनिष्क्रीडितादिमहोपवासानुष्ठानपरायणायतयो महातपसः । वातपित्तश्लेष्मसन्निपातसमुद्भूतज्वरकासश्वासाक्षिशूलकुष्ठप्रमेहादिविविधरोगसन्तापितदेहा अपि अप्रच्युतानशनकायक्लेशादितपसो भीमश्मशानाद्रिमस्तकगुहादरीकन्दरशून्यग्रामादिषु प्रदुष्टयक्षराक्षसपिशाचप्रनृत्तवेतालरूपविकारेषु परुषशिवारुतानुपरतसिंहव्याघ्रादिव्यालमृगभीषणस्वनघोरचौरादिप्रचरितेष्वभिरुचितावासाश्च घोरतपसः । त एव गृहीततपोयोगवर्धनपरा घोरपराक्रमाः । चिरोषिताऽस्खलितब्रह्मचर्यवासाः प्रकृष्टचारित्रमोहनीयक्षयोपशमात् प्रणष्टदुःस्वप्ना घोरब्रह्मचारिणः ।

बलालम्बना ऋद्धिस्त्रिविधा–मनोवाक्कायभेदात् । तत्र मनःश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षे सत्यन्तर्मुहूर्ते सकलश्रुतार्थचिन्तनेऽवदाता मनोबलिनः । मनोजिह्वाश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमातिशये सत्यन्तर्मुहूर्ते सकलश्रुतोच्चारणसमर्थाः सततमुच्चैरुच्चारणे सत्यपि श्रमविरहिता अहीनकण्ठाश्च वाग्बलिनः । वीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भूताऽसाधारणकायबलत्वात् मासिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकादिप्रतिमायोगधारणेऽपि श्रमक्लमविरहिताः कायबलिनः ।

औषधर्द्धिरष्टविधा–असाध्यानामप्यामयानां सर्वेषां विनिवृत्तिहेतुरामर्शक्ष्वेलजल्लमलविट्सर्वौषधिप्राप्तास्याविषदृष्टयविषविकल्पात् । आमर्शः संस्पर्शः, यदीयहस्तपादाद्यामर्श औषधिप्राप्तो यैस्ते आमर्शौषधिप्राप्ताः । क्ष्वेलो निष्ठीवनमौषधिर्येषां ते क्ष्वेलौषधिप्राप्ताः । स्वेदालम्बनो रजोनिचयो जल्लः, स औषधिप्राप्तो येषां ते जल्लौषधिप्राप्ताः । कर्णदन्तनासाक्षिसमुद्भवं मलं औषधिप्राप्तं येषां ते मलौषधिप्राप्ताः । विडुच्चार औषधिर्येषां ते विडौषधिप्राप्ताः । अङ्गप्रत्यङ्गनखदन्तकेशादिरवयवः तत्संस्पर्शी वाय्वादिस्सर्व औषधिप्राप्तो येषां ते सर्वौषधिप्राप्ताः । उग्रविषसंपृक्तोऽप्याहारो येषामास्यगतो निर्विषीभवति यदीयास्यनिर्गतवचःश्रवणाद्वा महाविषपरीता अपि निर्विषीभवन्ति ते आस्याविषाः । येषामालोकनमात्रादेवातितीव्रविषदूषिता अपि सन्तः विगतविषा भवन्ति ते दृष्टयविषाः ।

रसर्द्धिप्राप्तार्याः षड्विधाः–आस्यविषा दृष्टिविषाः क्षीरास्रविणः मध्वास्रविणः सर्पिरास्रविणः अमृतास्रविणश्चेति । प्रकृष्टतपोबला यतयो यं ब्रुवते म्रियस्वेति स तत्क्षण एव महाविष-

---

१ –तरशरीरता आ०, ब०, द०, मु० । २ –गमनमप्र– अ०, मु० । ३ –दशमय– अ० । ४ –अप्रवृत्तवे– आ०, ब०, द०, मू०, ता० । ५ –स्त्रिधा आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

परीतो म्रियते, ते आस्यविषाः । उत्कृष्टतपसो यतयः क्रुद्धा यमीक्षन्ते स तदैवोग्रविषपरीतो म्रियते ते दृष्टिविषाः । विरसमप्यशनं येषां पाणिपुटनिक्षिप्तं क्षीररसगुणपरिणामि जायते, येषां वा वचनानि क्षीरवत्क्षीणानां सन्तर्पकाणि भवन्ति ते क्षीरास्रविणः । येषां पाणिपुटपतित आहारो नीरसोऽपि मधुरसवीर्यपरिणामो भवति, येषां वचांसि श्रोतॄणां दुःखार्दितानामपि मधुगुणं पुष्णन्ति ते मध्वास्रविणः । येषां पाणिपात्रगतमन्नं रूक्षमपि सर्पीरसवीर्यविपाकानाप्नोति, सर्पिरिव वा येषां भाषितानि प्राणिनां संतर्पकाणि भवन्ति ते सर्पिरास्रविणः । येषां पाणिपुटप्राप्तं भोजनं यत्किञ्चिदमृततामास्कन्दति, येषां वा व्याहृतानि प्राणिनाम् अमृतवदनुग्राहकाणि भवन्ति तेऽमृतास्रविणः ।

क्षेत्रर्द्धिप्राप्तार्या द्वेधा–अक्षीणमहानसा अक्षीणमहालयाश्चेति । लाभान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षप्राप्तेभ्यो यतिभ्यो यतो भिक्षा दीयते ततो भाजनाच्चक्रधरस्कन्धावारोऽपि यदि भुञ्जीत तद्दिवसे नान्नं क्षीयते ते अक्षीणमहानसाः । अक्षीणमहालयलब्धिप्राप्ता यतयो यत्र वसन्ति देवमनुष्यतैर्यग्योना यदि सर्वेऽपि तत्र निवसेयुः परस्परमबाधमानाः सुखमासते । त एते सर्वे ऋद्धिप्राप्तार्याः ।

म्लेच्छा द्विविधा अन्तरद्वीपजाः कर्मभूमिजाश्चेति ।४। म्लेच्छा द्विविधा वेदितव्याः–अन्तरद्वीपजाः कर्मभूमिजाश्चेति । तत्रान्तरद्वीपाः लवणोदधेरष्टासु दिक्ष्वष्टौ, [1]तदन्तरेषु चाष्टौ । हिमवच्छिखरिणोरुभयोश्च विजयार्धयोरन्तेष्वष्टौ । तत्र दिक्षु द्वीपा वेदिकायास्तिर्यक्पञ्चयोजनशतानि प्रविश्य भवन्ति । विदिक्ष्वन्तरेषु च द्वीपाः पञ्चाशत्सु पञ्चयोजनशतेषु गतेषु भवन्ति । शैलान्तेषु द्वीपाः षट्सु योजनशतेषु गतेषु भवन्ति । दिक्षु द्वीपाः शतयोजनविस्तीर्णाः, विदिक्ष्वन्तरेषु च द्वीपाः तदर्धविष्कम्भाः । शैलान्तेषु पञ्चविंशतियोजनविस्ताराः । तत्र पूर्वस्यां दिशि एकोरुकाः । अपरस्यां लाङ्गूलिनः । उत्तरस्यामभाषकाः । दक्षिणस्यां विषाणिनः । शशकर्णशष्कुलीकर्णकर्णप्रावरणलम्बकर्णाः विदिक्षु । अश्व-सिंह-श्व-महिष-वराह-व्याघ्र-उलूक-कपिमुखा अन्तरेषु । मेघविद्युन्मुखाः शिखरिण उभयोरन्तयोः । मत्स्यमुखाः कालमुखा हिमवत उभयोरन्तयोः । हस्तिमुखादर्शमुखा उत्तरविजयार्धस्योभयोरन्तयोः । गोमुखमेषमुखा दक्षिणविजयार्धस्योभयोरन्तयोः । एकोरुका मृदाहारा गुहावासिनः शेषाः पुष्पफलाहाराः वृक्षवासिनः । सर्वे ते पल्योपमायुषः । ते चतुर्विंशतिरपि द्वीपा जलतलादेकयोजनोत्सेधाः । तथा कालोदेऽपि वेदितव्याः । त एते अन्तरद्वीपजा म्लेच्छाः । कर्मभूमिजाश्च शक-यवन-शबर-पुलिन्दादयः ।

काः पुनः कर्मभूमय इति ? अत आह–

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥३७॥

अथवा, मोक्षमार्गस्त्रितयः प्रकृतः । स किं सर्वेषु क्षेत्रेषु भवति ? न इत्याह कर्मभूमिष्वेव । कुत एतत् ? भोगभूमिषु हि यद्यपि मनुष्याणां ज्ञानदर्शने स्तः चारित्रं तु नास्ति अविरतभोगपरिणामित्वात् । यद्येवं कास्ताः कर्मभूमयः इति ? अतस्तत्प्रतिपादनार्थमिदमुच्यते।

कर्मभूमय इति विशेषणानुपपत्तिः सर्वत्र कर्मणो व्यापारात् ।१। अष्टविधस्य कर्मणो बन्धस्तत्फलानुभवनं च सर्वेष्वेव मनुष्यक्षेत्रेषु साधारणः। अतः कर्मभूमय इति विशेषणं नोपपद्यते ?

[1] तदन्तरे चाष्टौ आ०, ब०, द०, मु० ।

न वा; प्रकृष्टशुभाशुभकर्मोपार्जननिर्जराधिष्ठानोपपत्तेः ।२। न वा एष दोषः । किं कारणम् ? यतः प्रकृष्टं शुभकर्म सर्वार्थसिद्धिसौख्यप्रापकं तीर्थकरत्वमर्[1]द्धिनिर्वर्तकं [2]वा असाधारणम् । अशुभकर्म च प्रकृष्टं कलङ्कलपृथिवीमहादुःखप्रापकम् अप्रतिष्ठाननरकगमनं च कर्मभूमिष्वेवोपार्ज्यते द्रव्य-भव-क्षेत्र-काल-भावापेक्षत्वात् कर्मबन्धस्य । [3]सकलसंसारकारण-निर्जराकर्म चात्रैव प्रवर्तते ।[4]तो भरतादिष्वेव कर्मभूमय इति युक्तो व्यपदेशः ।

षट्कर्मदर्शनाच्च ।३। षण्णां कर्मणाम् असि-कृषि-मषी-विद्या-वणिक्-शिल्पानामत्रैव दर्शनाच्च कर्मभूमिव्यपदेशो युक्तिमान् ।

अन्यत्रशब्दः परिवर्जनार्थः ।४। यथा 'न क्वचित्सर्वदा सर्वविस्रम्भगमनं नयः अन्यत्र धर्मात्' तस्य अन्यो मार्ग एव न विद्यते इति धर्मं वर्जयित्वा अर्थकामयोरविस्रम्भगमनं नयः, धर्मे तु विस्रम्भ एव कार्य इति, एवमिहापि 'विदेहाः कर्मभूमयः' इत्युक्ते विदेहाभ्यन्तरत्वाद्देव-कुरूत्तरकुरूणामपि कर्मभूमित्वप्रसङ्गे अन्यत्रवचनाद् देवकुरूत्तरकुरुभ्योऽन्ये विदेहाः कर्मभूमयः, देवकुरूत्तरकुरवो हैमवतादयश्च भोगभूमय इति वेदितव्याः[5] ।

सर्वास्वेव भूमिषु मनुष्याणां स्थितिपरिच्छेदार्थमाह–

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥३८॥

यथासंख्यमभिसंबन्धः ।१। त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्तयोर्यथासंख्यमभिसंबन्धो वेदितव्यः–परा नृस्थितिः त्रिपल्योपमा, अपरा अन्तर्मुहूर्ता इति । त्रीणि पल्यानि उपमा यस्याः स्थितेः सा त्रिपल्योपमा । अन्तर्गतो[6] मुहूर्तो यस्याः सा अन्तर्मुहूर्ता । अत्राह-किमिदं पल्यं नाम इति ? उच्यते–तत्परिच्छेदः प्रमाणविधिनिर्णयपुरस्सर इति प्रमाणविधिरेव तावदुच्यते ।

प्रमाणं द्विविधं लौकिकलोकोत्तरभेदात् ।२। लौकिकं लोकोत्तरमिति प्रमाणं द्वेधा विभज्यते ।

लौकिकं षोढा मानोन्मानावमानगणनाप्रतिमानतत्प्रमाणभेदात् ।३। लौकिकं मानं षोढा विभज्यते-मानमुन्मानमवमानं गणना प्रतिमानं तत्प्रमाणं चेति । तत्र मानं द्वेधा–रसमानं बीजमानं चेति । घृतादिद्रव्यपरिच्छेदकं षोडशिकादि रसमानम् । कुडवादि बीजमानम् । कुष्ठ-तगरादिभाण्डं येनोत्क्षिप्य मीयते तदुन्मानम् । निवर्तनादिविभागेन क्षेत्रं येनावगाह्य मीयते तदवमानं दण्डादि । एकद्वित्रिचतुरादिगणितमानं गणनामानम् । [7]पूर्वमानापेक्षं मानं प्रति-मानं[8] प्रतिमल्लवत् । चत्वारि [9]महिधिकातृणफलानि श्वेतसर्षप एकः, षोडशसर्षपफलानि

---

१ –द्विकनि– श्र० । २ –चासा– आ०, ब०, मु० । ३ सकलं च सं– आ०, ब०, द०, मु० । ४ अतो आ० ब०, मु० । ५ अत्र कश्चिदाह यदि प्रोक्तलक्षणविशेषसद्भावात् भरतादीनामेव कर्मभूमित्वं प्रतिपाद्यते तर्हि स्वयम्भूरमणजमत्स्यविशेषाणां कथं सप्तमनरकगमनमिति ? उच्यते– स्वयम्भूरमणद्वीपमध्ये अन्तर्द्वीपार्धकारी मानुषोत्तराकृतिः स्वयम्प्रभनगवरो नाम नगो व्यवस्थितः तस्य अर्वाग्भागे आमानुषोत्तरात् भोगभूमिविभागः । तत्र चतुर्गुणस्थानवर्तिनः तिर्यञ्चः सन्ति । परभागे त्वालोकान्तात् कर्मभूमिविभागः । तत्र च पञ्चमगुणस्थानवर्तिनः तिर्यञ्चः सन्ति । ततस्तस्य कर्मभूमित्वात् नोक्तदोषप्रसङ्गः । कथ-मन्यथा 'तत्र पूर्वकोट्यायुष्कत्वमन्यत्रासंख्येयवर्षायुष्कत्वम्' इत्यागमो घटते । ६ अन्तर्गर्भो मु– आ०, ब०, द०, मु० । "अन्तर्गतोऽपरिपूर्णो मुहूर्तो यस्याः सा अन्तर्मुहूर्ता ।" –त०, श्रु० ३।३८ । ७ प्रागुक्त-मानोन्मानापेक्षया प्रतिनिधिरूपमित्यर्थः । ८ तुलान्तयोरेकस्मिन् भाण्डरूपमेयं स्थापयित्वा अन्यतरस्मिन् स्थाप्यं यद् गुञ्जादि यच्च कुडवादिनिश्चायकं पिण्डादि तद्द्वयं प्रतिमानम् । ९ महाधिकत्– मु०, ब० । महाधिकात्– आ० । महोधिकात्– द० । महिविकात्– मू० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धान्यमाषफलमेकम्, द्वे धान्यमाषफले गुञ्जाफलमेकम्, द्वे गुञ्जाफले रूप्यमाष एकः, षोडश-रूप्यमाषकाः धरणमेकम्, अर्धतृतीयधरणानि सुवर्णः, स च कंसः, चत्वारः कंसाः पलम्, पलशतं तुला, अर्धकंसः त्रीणि च पलानि [1]कुडवः, चतुःकुडवः प्रस्थः, चतुःप्रस्थमाढकम्, चतुराढकं द्रोणः, षोडश द्रोणा खारी, विंशति खार्यो वाह इत्यादि [2]मागधकप्रमाणम्। मणिजात्यश्वादेर्द्रव्यस्य दीप्त्युच्छ्रायगुणविशेषादिमूल्यपरिमाणकरणे प्रमाणमस्येति तत्प्रमाणम्। तद्यथा–मणिरत्नस्य दीप्तिर्यावत्क्षेत्रमुपरि व्याप्नोति तावत्प्रमाणं सुवर्णकूटं मूल्यमिति। अश्वस्य च यावानुच्छ्रायस्तावत्प्रमाणं सुवर्णकूटं मूल्यम्। यावता रत्नस्वामिनः परितोषः तावद्रत्नमूल्यम् एवमन्येषामपि द्रव्याणाम्।

लोकोत्तरं चतुर्धा द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्।४। लोकोत्तरं प्रमाणं चतुर्धा भिद्यते। कुतः? द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्। तत्र द्रव्यप्रमाणं जघन्यमध्यमोत्कृष्टम् एकपरमाणु द्वित्रिचतुरादिप्रदेशात्मकम् आमहास्कन्धात्। क्षेत्रप्रमाणं जघन्यमध्यमोत्कृष्टमेकाकाशद्वित्रिचतुरादिप्रदेशनिष्पन्नमासर्वलोकात्। कालप्रमाणं जघन्यमध्यमोत्कष्टमेकद्वित्रिचतुरादिसमयनिष्पन्नम् आ अनन्तकालात्। भावप्रमाणमुपयोगः साकाराऽनाकारभेदः जघन्यः सूक्ष्मनिगोतस्य, मध्यमोऽन्यजीवानाम्, उत्कृष्टः केवलिनः।

तत्र द्रव्यप्रमाणं द्वेधा संख्योपमाभेदात्।५। संख्याप्रमाणमुपमाप्रमाणं चेति द्वेधा द्रव्यप्रमाणं विभज्यते। तत्र संख्याप्रमाणं त्रिधा संख्येयासंख्येयानन्तभेदात्। तत्र संख्येयप्रमाणं त्रेधा, इतरे द्वे [3]नवधा नवधा ज्ञेये। जघन्यमजघन्योत्कृष्टमुत्कृष्टं चेति संख्येयं त्रिविधम्। संख्येयप्रमाणावगमार्थं जम्बूद्वीपतुल्यायामविष्कम्भा योजनसहस्रावगाहः बुद्धया कुशूलाश्चत्वारः कर्तव्याः–शलाका-प्रतिशलाका-महाशलाकाख्यास्त्रयोऽवस्थिताः चतुर्थोऽनवस्थितः। अत्र द्वौ सर्षपौ निक्षिप्तौ जघन्यमेतत्संख्येयप्रमाणम्, तमनवस्थितं सर्षपैः पूर्णं गृहीत्वा कश्चिद् देवः एकैकं सर्षपमेकैकस्मिन् द्वीपे समुद्रे च प्रक्षिपेत् तेन विधिना स रिक्तः। रिक्त इति शलाकाकुशले एकं सर्षपं प्रक्षिपेत्। यत्र अन्त्यसर्षपो निक्षिप्तस्तमवधिं कृत्वा अनवस्थितं कुशूलं परिकल्प्य सर्षपैः पूर्णं कृत्वा ततः परेषु द्वीपसमुद्रेष्वेकैकसर्षपप्रदानेन स रिक्तः कर्तव्यः। रिक्त इति शलाकाकुशूले पुनरेकं प्रक्षिपेत्। अनेन विधिना अनवस्थितकुशूलपरिवर्धनेन शलाकाकुशूले परिपूर्णे, पूर्ण इति प्रतिशलाकाकुशूले एकः सर्षपो निक्षेप्तव्यः। एवं तावत्कर्तव्यो यावत्प्रतिशलाकाकुशूलः परिपूर्णो भवति। परिपूर्णे इति महाशलाकाकुशूले एकः सर्षपः प्रक्षेप्तव्यः। सोऽपि तथैव[4] परिपूर्णः। एवमेतेषु चतुर्ष्वपि पूर्णेषु उत्कृष्टसंख्येयमतीत्य जघन्यपरीतासंख्येयं गत्वैकं रूपं पतितम्, ततः एकस्मिन् रूपे अपनीते उत्कृष्टसंख्येयं भवति। मध्यममजघन्योत्कृष्टसंख्येयम्। यत्र संख्येयेन प्रयोजनं तत्राजघन्योत्कृष्टसंख्येयं ग्राह्यम्।

यदसंख्येयं तत्त्रिविधं परीतासंख्येयं युक्तासंख्येयं असंख्येयासंख्येयं चेति। तत्र परीतासंख्येयं त्रिविधं जघन्योत्कृष्टमध्यमभेदात्। एवमितरे चाऽसंख्येये भिद्येते।

तथा अनन्तमपि त्रिविधं परीतानन्तं युक्तानन्तं अनन्तानन्तं चेति। तदपि प्रत्येकं पूर्ववत्त्रिधा भेद्यम्। यज्जघन्यपरीतासंख्येयं तद्विरलीकृत्य मुक्तावलीकृता अत्रैकैकस्यां मुक्तायां जघन्यपरीतासंख्येयं देयम्। एवमेतद्वर्गितम्। प्राथमिकीं मुक्तावलीमपनीय [5]यान्येकैकस्यां मुक्तायां जघन्यपरीतासंख्येयानि दत्तानि तानि संपिण्ड्य मुक्तावली कार्या। ततो यो जघन्य-

१ कुडवः ता०, श्र०, मू०। २ नागरिकप्र– आ०, ब०, द०, मु०। मागधिकप्र– ता०। ३ नवधा ज्ञेये आ०, ब०, द०, मु०। ४ पूर्णः श्र०, म०। ५ यानेकैकस्याम् श्र०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परीतासंख्येयसंपिण्डनान्निष्पन्नो राशिः स देयः एकैकस्यां मुक्तायाम्। एवमेतत्संवर्गितम् उत्कृष्टपरीतासंख्येयमतीत्य जघन्ययुक्तासंख्येयं गत्वा[1] पतितम्। अत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टपरीतासंख्येयं भवति। मध्यमजघन्योत्कृष्टपरीतासंख्येयम्। यत्रावलिकया कार्यं तत्र जघन्ययुक्तासंख्येयं ग्राह्यम्। यज्जघन्ययुक्तासंख्येयं तद्विरलीकृत्य मुक्तावली रचिता। तत्रैकैकमुक्तायां जघन्ययुक्तासंख्येयानि देयानि। एवमेतत् सकृद्वर्गितमुत्कृष्टयुक्तासंख्येयमतीत्य जघन्याऽसंख्येयाऽसंख्येयं गत्वा[2] पतितम्, तत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टं युक्तासंख्येयं भवति मध्यममजघन्योत्कृष्टयुक्तासंख्येयं भवति। यज्जघन्याऽसंख्येयासंख्येयं तद्विरलीकृत्य पूर्वविधिना त्रीन्वारान् वर्गितसंवर्गितं उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयं प्राप्नोति। ततो धर्माधर्मैकजीवलोकाकाशप्रत्येकशरीरजीवबादरनिगोतशरीराणि षडप्येतान्यसंख्येयानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि योगाविभागपरिच्छेदरूपाणि चासंख्येयलोकप्रदेशपरिमाणान्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयांश्च प्रक्षिप्य पूर्वोक्तराशौ त्रीन्वारान् वर्गितसंवर्गितं कृत्वा उत्कृष्टाऽसंख्येयाऽसंख्येयमतीत्य जघन्यपरीतानन्तं गत्वा पतितम्। तत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टाऽसंख्येयाऽसंख्येयं भवति। मध्यममजघन्योत्कृष्टाऽसंख्येयाऽसंख्येयं भवति। यत्रासंख्येयाऽसंख्येयेन प्रयोजनं तत्राऽजघन्योत्कृष्टाऽसंख्येयाऽसंख्येयं ग्राह्यम्। यज्जघन्यपरीतानन्तं तत्पूर्ववद्वर्गितसंवर्गितमुत्कृष्टपरीतानन्तमतीत्य जघन्ययुक्तानन्तं गत्वा पतितम्। तत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टपरीतानन्तं तद्भवति। मध्यममजघन्योत्कृष्टपरीतानन्तम्। अभव्यराशिप्रमाणमार्गणे जघन्ययुक्तानन्तं ग्राह्यम्। यज्जघन्ययुक्तानन्तं तद्विरलीकृत्यात्रैकैकरूपे जघन्ययुक्तानन्तं दत्वा सकृद्वर्गितमुत्कृष्टयुक्तानन्तमतीत्य जघन्यमनन्तानन्तं गत्वा पतितम्। तत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टयुक्तानन्तं भवति। मध्यममजघन्योत्कृष्टयुक्तानन्तम्। यज्जघन्याऽनन्ताऽनन्तं तद्विरलीकृत्य पूर्ववत्त्रीन्वारान् वर्गितसंवर्गितमुत्कृष्टाऽनन्ताऽनन्तं न प्राप्नोति, ततः सिद्धनिगोतजीववनस्पतिकायातीताऽनागतकालसमयसर्वपुद्गलसर्वाऽऽकाशप्रदेशधर्माधर्मास्तिकायाऽगुरुलघुगुणानन्तान् प्रक्षिप्य प्रक्षिप्य त्रीन् वारान् वर्गितसंवर्गिते कृते उत्कृष्टाऽनन्ताऽनन्तं न प्राप्नोति, ततोऽनन्ते केवलज्ञाने दर्शने च प्रक्षिप्ते उत्कृष्टाऽनन्ताऽनन्तं भवति। तत एकरूपेऽपनीतेऽजघन्योत्कृष्टाऽनन्ताऽनन्तं भवति। यत्राऽनन्ताऽनन्तमार्गणा[3] तत्राजघन्योत्कृष्टाऽनन्ताऽनन्तं ग्राह्यम्।

उपमाप्रमाणमष्टविधं पल्यासागरसूचीप्रतरघनाङ्गुलजगच्छ्रेणीलोकप्रतरलोकभेदात्।६। अन्तादिमध्यहीनः अविभागोऽतीन्द्रियः एकरसवर्णगन्धः[4] द्विस्पर्शः परमाणुः। अनन्तानन्तपरमाणुसंघातपरिमाणादाविर्भूता उत्संज्ञासंज्ञैका। अष्टावुत्संज्ञासंज्ञासंहताः संज्ञासंज्ञैका। अष्टौ संज्ञासंज्ञा एकस्त्रुटिरेणुः। अष्टौ त्रुटिरेणवः संहताः एकस्त्रसरेणुः। अष्टौ त्रसरेणवः संहताः एको रथरेणुः। अष्टौ रथरेणवः संहताः एका देवकुरूत्तरकुरुमनुजकेशाग्रकोटी भवति। ता अष्टौ समुदिता एका रम्यकहरिवर्षमनुजकेशाग्रकोटी भवति। अष्टौ ताः संहताः हैरण्यवतहैमवतमनुजकेशाग्रकोटी भवति। ता अष्टौ संपिण्डिताः भरतैरावतविदेहमनुजकेशाग्रकोटी भवति। ता अष्टौ संहता एका लिक्षा भवति। अष्टौ लिक्षा संहता एका यूका भवति। अष्टौ यूका एकं यवमध्यम्। अष्टौ यवमध्यानि एकमङ्गुलमुत्सेधाख्यम्। एतेन नारकतैर्यग्योनानां देवमनुष्याणामकृत्रिमजिनालयप्रतिमानां च देहोत्सेधो मातव्यः। तदेव पञ्चशतगुणितं

---

१ –त्वा पतितमेकरूपं तत एकरूपे मु० आ०, ब०। पतितं तत एकरूपे द०। –त्वा एकरूपपतितम् अतः भा० २। २ –त्वा एकरूपं पति– भा० २। ३ –मार्गणं आ०, ब०, मु०। ४ –गन्धवर्णः मु०, आ०, ब०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाणाङ्गुलं भवति । एतदेव चावसर्पिण्यां प्रथमचक्रधरस्याऽऽत्माङ्गुलं भवति । तदानीं तेन ग्रामनगरादिप्रमाणपरिच्छेदो ज्ञेयः । इतरेषु युगेषु मनुष्याणां यद्यदात्माङ्गुलं तेन तेन तदा ग्रामनगरादिप्रमाणपरिच्छेदो ज्ञेयः । यत्तत्प्रमाणाङ्गुलं तेन द्वीपसमुद्रजगतीवेदिकापर्वतविमाननरकप्रस्ताराद्यकृत्रिमद्रव्यायामविष्कम्भादिपरिच्छेदोऽवसेयः । तत्र षडङ्गुलः पादः । द्वादशाङ्गुलो वितस्तिः । द्विवितस्तिः हस्तः । द्विहस्तः किष्कुः । द्विकिष्कुर्दण्डः । द्वे दण्डसहस्रे गव्यूतम् । चतुर्गव्यूतं योजनम् ।

पल्यं त्रिविधं व्यवहारोद्धाराद्धाविकल्पादन्वर्थात् ।७। व्यवहारपल्यम् उद्धारपल्यम् अद्धापल्यमिति त्रिधा पल्यं विभज्यते । अन्वर्थश्चायं विकल्पः । आद्यं व्यवहारपल्यमुत्तरपल्यव्यवहारबीजत्वान्नानेन किञ्चित्परिच्छेद्यमस्ति । द्वितीयमुद्धारपल्यं तत उद्धृतैर्लोमच्छेदैर्द्वीपसमुद्रसंख्यानिर्णय इति । तृतीयमद्धापल्यं अद्धाकाल इत्यर्थः। अतो हि स्थितेः परिच्छेदः इति । तद्यथा–प्रमाणाङ्गुलपरिमितयोजनायामविष्कम्भावगाहानि त्रीणि पल्यानि कुशूला इत्यर्थः । एकादिसप्तान्ताहोरात्रिजाताविकलोमाग्राणि[1] तावच्छिन्नानि यावद् द्वितीयं कर्तरीच्छेदं नावाप्नुवन्ति । तादृशैर्लोमच्छेदैः परिपूर्णं घनीकृतं व्यवहारपल्यमित्युच्यते । ततो वर्षशते [2]वर्षशते अतीते एकैकलोमापकर्षणविधिना यावता कालेन तद्रिक्तं भवेत् तावत्कालो व्यवहारपल्योपमाख्यः । तैरेव रोमच्छेदैः प्रत्येकमसंख्येयवर्षकोटिसमयमात्रच्छिन्नैः पूर्णमुद्धारपल्यम् । ततः समये समये एकैकस्मिन् रोमच्छेदेऽपकृष्यमाणे यावता कालेन तद्रिक्तं भवेत् तावत्कालः उद्धारपल्योपमाख्यः । एषामुद्धारपल्यानां दशकोटीकोटयः एकमुद्धारसागरोपमम् । अर्धतृतीयोद्धारसागरोपमाणां यावन्तो रोमच्छेदास्तावन्तो द्वीपसमुद्राः । पुनरुद्धारपल्यरोमच्छेदैर्वर्षशतसमयमात्रच्छिन्नैः पूर्णमद्धापल्यम् । ततः समये समये एकैकस्मिन् रोमच्छेदेऽपकृष्यमाणे यावता कालेन तद्रिक्तं भवति तावत्कालः अद्धापल्योपमाख्यः । एषामद्धापल्यानां दशकोटीकोटय एकमद्धासागरोपमम् । दशाद्धासागरोपमकोटीकोटय एकाऽवसर्पिणी, तावत्येवोत्सर्पिणी । अनेन अद्धापल्येन नारकतैर्यग्योनानां देवमनुष्याणां च कर्मस्थितिर्भवस्थितिरायुःस्थितिः कायस्थितिश्च परिच्छेत्तव्या । अद्धापल्यस्याऽर्द्धच्छेदेन शलाकाविरलीकृत्य प्रत्येकमद्धापल्यप्रदानं कृत्वा अन्योऽन्यगुणिते कृते यावन्तश्छेदास्तावद्भिराकाशप्रदेशैर्मुक्तावली कृता सूच्यङ्गुलमित्युच्यते । तदेवाऽपरेण सूच्यङ्गुलेन गुणितं प्रतराङ्गुलम् । तत्प्रतराङ्गुलमपरेण सूच्यङ्गुलेनाऽभ्यस्तं[3] घनाङ्गुलम् । असंख्येयानां वर्षाणां यावन्तः समयास्तावत्खण्डमद्धापल्यं कृतम्, ततोऽसंख्येयान् खण्डानपनीयाऽसंख्येयमेकं भागं बुद्धया विरलीकृत्य एकैकस्मिन् घनाङ्गुलं दत्त्वा [4]परस्परेण गुणिता[5] जाता जगच्छ्रेणी । सा अपरया जगच्छ्रेण्या अभ्यस्ता प्रतरलोकः । स एवाऽपरया जगच्छ्रेण्या संवर्गितो घनलोकः ।

क्षेत्रप्रमाणं द्विविधम्–अवगाहक्षेत्रं विभागनिष्पन्नक्षेत्रं चेति । तत्रावगाहक्षेत्रमनेकविधम्–एकद्वित्रिचतुःसंख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तप्रदेशपुद्गलद्रव्यावगाह्येकाद्यसंख्येयाकाशप्रदेशभेदात् । विभागनिष्पन्नक्षेत्रं चाऽनेकविधम्–असंख्येयाकाशश्रेणयः[6], क्षेत्रप्रमाणाङ्गुलस्यैकोऽसंख्येयभागः, असंख्येयाः क्षेत्रप्रमाणाङ्गुलाऽसंख्येयभागाः क्षेत्रप्रमाणाङ्गुलमेकं भवति । पादवितस्त्यादि पूर्ववद्वेदितव्यम् । कालप्रमाणमुच्यते–सर्वजघन्यगतिपरिणतस्य परमाणोः स्वावगाढप्रदेशव्यतिक्रमकालः परमनिषिद्धो निर्विभागः समयः । असंख्येयाः समयाः आवलिका । असंख्येयावलिका

१–मेषलोमानीत्यर्थः । २–वर्षशतेऽपनीते ता०, द० । ३–गुणितम् । ४–परस्परगुणिता श्र० । ५–सा जग–श्रा०, ब०, द०, मु० । ६–पङ्क्तयः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक उच्छ्वासस्तावानेव निश्वासः। तावुभावनुपहतस्य पुंसः प्राण एकः। सप्तप्राणाः स्तोकः। सप्त स्तोकाः लवः। सप्तसप्ततिर्लवाः मुहूर्तः। त्रिंशन्मुहूर्ता अहोरात्रः। पञ्चदशाऽहोरात्राः पक्षः। द्वौ पक्षौ मासः। द्वौ मासौ ऋतुः। ऋतवस्त्रयोऽयनम्। द्वेऽयने संवत्सरः[1]। चतुरशीतिवर्षशतसहस्राणि पूर्वाङ्गम्। चतुरशीतिपूर्वाङ्गशतसहस्राणि पूर्वम्। एवमनयैव वृद्धया पर्वाङ्ग-पर्व-नयुताङ्ग-नयुत-कुमुदाङ्ग-कुमुद-पद्माङ्ग-पद्म-नलिनाङ्ग-नलिन-कमलाङ्ग-कमल-तुटयाङ्ग-तुटय-अटटङ्ग-अटट-अममाङ्ग-अमम-हूहूअङ्ग-हूहू-लताङ्ग-लता-महालताङ्ग-महालताप्रभृतिसंज्ञा[2]। कालो वर्षगणनागम्यः संख्येयो वेदितव्यः। ततः परोऽसंख्येयः पल्योपमसागरोपम-प्रमितः। ततः परोऽनन्तः कालोऽतीतोऽनागतश्च सर्वज्ञप्रत्यक्षः।

भावप्रमाणं पञ्चविधं ज्ञानम् पुरस्ताद्व्याख्यातम्।

यथैवेते उत्कृष्टजघन्ये स्थिती नृणां तथैव–

तिर्यग्योनिजानां च ॥३९॥

तिरश्चां योनिस्तिर्यग्योनिः। का पुनरसौ ?

तिर्यङ्नामकर्मोदयापादितं जन्म तिर्यग्योनिः।१। तिर्यग्गतिनाम्नः कर्मणः उदयेनापादितं जन्म तिर्यग्योनिरिति व्यपदिश्यते। तिर्यग्योनौ जातास्तिर्यग्योनिजाः। तेषां तिर्यग्योनिजानाम् उत्कृष्टा भवस्थितिः त्रिपल्योपमा, जघन्याऽन्तर्मुहूर्ता। मध्ये विकल्पः, तत्प्रतिपादनार्थमिदमुच्यते––

तिर्यञ्चः त्रिविधाः एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात् ।२। एकेन्द्रियाः विकलेन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्चेति त्रिविधाः तिर्यञ्चो वेदितव्याः।

द्वादशद्वाविंशतिदशसप्तत्रिवर्षसहस्राणि एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टा स्थितिर्यथासंभवं त्रीणि रात्रिन्दिवानि च ।३। एकेन्द्रियाः पञ्चविधाः पृथिवीकायिका अप्कायिकाः तेजस्कायिका वायुकायिका वनस्पतिकायिकाश्चेति। तत्र पृथिवीकायिका द्विविधाः शुद्धपृथिवीकायिकाः खरपृथिवीकायिकाश्चेति। तत्र शुद्धपृथिवीकायिकानाम् उत्कृष्टा स्थितिर्द्वादशवर्षसहस्राणि। खरपृथिवीकायिकानां द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि। वनस्पतिकायिकानां दशवर्षसहस्राणि। अप्कायिकानां सप्तवर्षसहस्राणि। वायुकायिकानां त्रीणि वर्षसहस्राणि। तेजस्कायिकानां त्रीणि रात्रिन्दिवानि।

विकलेन्द्रियाणां द्वादशवर्षा एकान्नपञ्चाशद्रात्रिन्दिवानि षण्मासाश्च ।४। द्वीन्द्रियाणामुत्कृष्टा स्थितिर्द्वादशवर्षाः। त्रीन्द्रियाणां एकान्नपञ्चाशद्रात्रिन्दिवानि। चतुरिन्द्रियाणां षण्मासाः।

पञ्चेन्द्रियाणां पूर्वकोटिनवपूर्वाङ्गानि द्विचत्वारिंशद्द्वासप्ततिवर्षसहस्राणि त्रिपल्योपमा च ।५। पञ्चेन्द्रियाः तैर्यग्योनाः पञ्चविधाः–जलचराः, परिसर्पाः, उरगाः, पक्षिणः, चतुःपादश्चेति। तत्र जलचराणामुत्कृष्टा स्थितिः मत्स्यादीनां पूर्वकोटी[3]। परिसर्पाणां गोधानकुलादीनां नव पूर्वाङ्गानि। उरगाणां द्विचत्वारिंशद्वर्षसहस्राणि। पक्षिणां द्वासप्ततिवर्षसहस्राणि। चतुःपदां त्रीणि पल्योपमानि। सर्वेषां तेषां जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्ता।

किमर्थो योगविभागः ?

---

१ –त्सरं चतु– आ०, ब०, द०, मु०, ता०, मू०। २ –संज्ञाः कालो आ०, ब०, द०, मु०, ता०, मू०। ३ पूर्वाङ्गं वर्षलक्षाणामशीतिश्चतुरुत्तरा। तद्वर्गितं भवेत् पूर्वं तत्कोटिः पूर्वकोटघसौ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पृथग्योगकरणं यथासंख्यनिवृत्त्यर्थम् ।६। प्रत्येकं[1] यथा स्यातामिति यथासंख्यनिवृत्त्यर्थो योगविभागः क्रियते ।

[2]अथैतेषां भवस्थितिः कायस्थितिः का? कः पुनरनयोर्विशेषः ? एकभवविषया भवस्थितिः । कायस्थितिरेककायापरित्यागेन नानाभवग्रहणविषया । यद्येवमुच्यतां कस्य का कायस्थितिः ? उच्यते–पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकानां कायस्थितिरुत्कृष्टा असंख्येया लोकाः[3] । वनस्पतिकायिकस्याऽनन्तः कालः[4] असंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः[5] आवलिकाया असंख्येयभागमात्राः । विकलेन्द्रियाणाम् असंख्येयानि वर्षसहस्राणि । पञ्चेन्द्रियाणां तिर्यङ्मनुष्याणां[6] तिस्रः[7] पल्योपमाः पूर्वकोटीपृथक्त्वेनाऽभ्यधिकाः । तेषां सर्वेषां जघन्या कायस्थितिरन्तर्मुहूर्ता । देवनारकाणां भवस्थितिरेव कायस्थितिरिति ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे तृतीयोऽध्यायः समाप्तः[8] ।

---

१ प्रत्येकमुभयथा आ०, ब०, द०, मु० । नृतिर्यग्योनिजस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते इत्येकयोगे कृते मनुष्याणां परा स्थितिः त्रिपल्योपमा तिर्यग्योनिजानामपरा स्थितिरन्तर्मुहूर्तेति प्राप्नोति, कुतः ? समवचने यथासङ्ख्यं पौलीयमाचार्यस्येति न्यायबलात्, तन्माभूदिति पृथग्योगकरणम् । २ अथैतेषां कायस्थितिः का मू० । ३ असंख्येयानां लोकानां यावन्तः प्रदेशाः तावन्तः समयास्तेषां कायस्थितिरित्यर्थः । ४ सा कियत्प्रमाणेत्यत आह । ५ असंख्येयं किम्प्रमाणम् । ६ तिर्यञ्चश्च मनुष्याश्च । ७ कश्चिज्जीवः सप्ताष्ट वारान् पूर्वकोट्यायुर्मनुष्यो भूत्वा विदेहेषूत्पन्नः पश्चाद् देवकुर्वादिषु त्रिपल्योपमायुष्यो भूत्वोत्पन्नः तं प्रति एवमुक्तम् । एवं तिरश्चामपि योज्यम् । ८ –प्तः । श्रीवीतरागाय नमः । भूबिललेश्यायायुर्द्वीपोदधिवाप्यगिरिसरःसरिताम् । मानं नृणां च भेदः स्थितिस्तिरश्चामपि तृतीये । द० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थोऽध्यायः

असकृद् देवशब्द उक्तः "भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्" [त० सू० १।२०] इत्येवमादिषु, तत्र न ज्ञायते के देवाः कियन्तो वा इति ? तन्निश्चयार्थमित उत्तरं प्रक्रम्यते । अथवा, सम्यग्दर्शनविषयजीवभेदत्रसस्थावरनिर्णयाय तदधिकरणभूताधस्तिर्यग्लोकनिवेशक्रमो व्याख्यातः, इतस्तद्विशेषप्रतिपत्तये ऊर्ध्वलोकविभागो वक्तव्यः । तत्र [1]बहुवक्तव्यसद्भावेऽप्यधिपतिप्रतिपादनपुरस्सरस्तदधिकरणविभागनिर्णय इतीदमुच्यते–

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥१॥

देवगतिनामकर्मोदये सति द्युत्याद्यर्थाविरोधाद् देवाः ।१। अन्तरङ्गहेतौ देवगतिनामकर्मोदये सति बाह्यद्युत्यादि[2]क्रियासंबन्धमन्तर्नीय दीव्यन्तीति देवा इति व्यपदिश्यन्ते । एकत्वेन निर्देशः कर्तव्यः देवश्चतुर्णिकायः इति; स जात्यभिधानाद् बहूनामर्थानां प्रतिपादको भवति इति ?अत उत्तरं पठति—

बहुत्वनिर्देशोऽन्तर्गतभेदप्रतिपत्त्यर्थः ।२। इन्द्रादिकृताः स्थित्यादिजनिताश्चाऽन्तर्गता बहवो देवभेदाः सन्ति तेषां प्रतिपत्त्यर्थं बहुत्वनिर्देशः क्रियते ।

स्वधर्मविशेषापादितसामर्थ्यात् निचीयन्त इति निकायाः ।३। तस्य देवगतिनामकर्मोदयस्वधर्मविशे[3]षापादितभेदस्य सामर्थ्यान्निचीयन्त इति निकायाः संघाता इत्यर्थः । चत्वारो निकाया येषां ते चतुर्णिकायाः । के पुनस्ते ? भवनवासिनो व्यन्तरा ज्योतिष्का वैमानिकाश्चेति ।

तेषां लेश्यावधारणार्थमुच्यते–

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥२॥

आदित इति वचनं विपर्यासनिवृत्त्यर्थम् ।१। अन्ते अन्यथा वा ग्रहणं मा विज्ञायीति आदित इत्युच्यते । आदौ आदितः ।

द्व्येकनिवृत्त्यर्थं त्रिग्रहणम् ।२। [4]द्वयोरेकस्य च निवृत्त्यर्थं त्रिग्रहणं क्रियते । अथ चतुर्णां निवृत्त्यर्थं कस्मान्न भवति ? आदित इति वचनात्[5] ।

लेश्यावधारणार्थं पीतान्तवचनम् ।३। षड्लेश्या उक्ताः । तत्र चतसृणां लेश्यानामवधारणार्थं क्रियते पीतान्तग्रहणम् । पीतं तेज इत्यर्थः । पीता अन्ते यासां ताः पीतान्ताः, पीतान्ता लेश्या येषां ते पीतान्तलेश्याः । तेनैतदुक्तं भवति–आदितस्त्रिषु निकायेषु भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कनामसु देवानां कृष्णा नीला कापोता पीतेति चतस्रो लेश्या भवन्तीति ।

तेषां निकायानामन्तर्विकल्पप्रतिपादनार्थमाह–

---

१ प्रकीर्णकादि । २ प्रादिशब्देन क्रीडादिकं ग्राह्यम् । ३ स्वकृतपुण्यकर्मविशेषात् । ४ निकाययोः । ५ पञ्चमाद्यभावात् चतुर्थस्यादित्वाद्वचनात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दशाष्टपञ्च द्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥३॥

चतुर्णां दशादिभिर्यथासंख्यमभिसंबन्धः ।१। चतुर्णां देवनिकायानां दशादिभिः संख्याशब्दैः यथासंख्यमभिसंबन्धो वेदितव्यः। दशविकल्पा भवनवासिनः, अष्टविकल्पा व्यन्तराः, पञ्चविकल्पाः ज्योतिष्काः, द्वादशविकल्पा वैमानिका इति। सर्वेषां वैमानिकानां द्वादशविकल्पान्तःपातित्वे प्रसक्ते तद्व्यपोहार्थमाह–

कल्पोपपन्नपर्यन्तवचनं ग्रैवेयकादिव्युदासार्थम् ।२। ग्रैवेयकादयो वक्ष्यन्ते तेषां द्वादशविकल्पेष्वन्तर्भावो मा विज्ञायीति विशेषणमुपादीयते। अथ कथं कल्पाः ?

इन्द्रादिविकल्प[1]नाधिकरणत्वात्कल्पा रूढिवशात् ।३। इन्द्रादयः प्रकारा वक्ष्यमाणा दश एषु कल्प्यन्ते इति कल्पाः। भवनवासिषु च दशविकल्पसद्भावात् कल्पप्रसङ्ग इति चेत्; न; रूढिवशादिति विशे[2]ष्योक्तत्वात्। कल्पेषूपपन्नाः कल्पोपपन्नाः पर्यन्ता येषां ते इमे कल्पोपपन्नपर्यन्ताः। कल्पोपपन्ना इति कथं वृत्तिः ? *"साधनं कृता" [जैनेन्द्र० १।३।२९] इति वा मयूरव्यंसकादित्वाद्वा[3]।

पुनरपि तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थ[4]माह–

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्याकिल्विषिकाश्चैकशः ॥४॥

परमैश्वर्यादिन्द्रव्यपदेशः ।१। अन्यदेवाऽसाधारणाणिमादि[5]गुणयोगादिन्दन्तीतीन्द्राः।

[6]**तत्स्थानार्हत्वात् सामानिकाः** ।२। तेषामिन्द्राणामाज्ञैश्वर्यवर्जितं यत् स्थानायुर्वीर्यपरिवारभोगोपभोगादि तदेतेषां समानम्, समाने भवाः [7]सामानिकाः *"समानस्य तदादेश्च" [जैनेन्द्रवा० ३।३।३५] इति ठञ्। महत्तरपितृगुरूपाध्यायतुल्याः।

मन्त्रिपुरोहितस्थानीयास्त्रायस्त्रिंशाः ।३। यथेह राज्ञां मन्त्रिपुरोहिता हितानुशासिनस्तथा तत्रेन्द्राणां त्रायस्त्रिंशा वेदितव्याः। कथं त्रायत्रिंशाः ? त्रयस्त्रिंशति जाताः त्रायस्त्रिंशाः *"वृष्टे साम्नि च जाते च [8]'अण् डिद्वा विधीयते" [पात० महा० २।४।७] इत्यभिधानमस्तीति अण् डिद् भवति। ननु च भेदाभावाद् वृत्तिर्न प्राप्नोति ? [9]संख्यानसंख्येयभेदविवक्षायाम् आधाराधेयत्वोपपत्तेर्वृत्तिर्भवति। स्वार्थे को वा[10], वात्[11] अण्, त्रयस्त्रिंशदेव त्रायस्त्रिंशा इति। कुतः ? *[12]"हृत" [जैनेन्द्र० ३।१।६१] इति बहुत्वनिर्देशाद् अन्तमादिवत्।

[13]**वयस्यपीठमर्दसदृशाः पारिषदाः** ।४। परिषदि जाता भवा वा पारिषदाः, ते वयस्यपीठमर्दसदृशा वेदितव्याः।

---

१ –ल्पाधीनक– आ०, ब०, मु०। –ल्पाधानक– द०। –ल्पाधिक– श्र०। २ –षोक्तत्वात् आ०, ब०, द०, मु०, ता०, श्र०। वैमानिकेष्वेव वर्तते कल्पशब्दः। ३ "मयूरव्यंसकादयश्च" –जैनेन्द्र० १।३।६६। ४ –त्यर्थमिदमाह आ०, ब०, द०, मु०, ता०, मू०। ५ –दिग्रहणयो– आ०, ब०, द०, मु०। ६ तत्समानत्वात्सा– भा० १। ७ अध्यात्मादित्वात् –समानादिलोकोत्तरपदाध्यात्मादिभ्यः ठण् इति ठण्। ८ "···अण् डिद् द्विर्वा विधीयते" –पात० महा०। ९ नैष दोषः। १० विषयव्यक्ति दर्शयति वेत्यनेन। वावण् ता०, मू०। ११ 'वात्' इति प्रथमाविभक्तिः इत्यर्थः। इदमेव ज्ञापकं प्रथमाविभक्तेः स्वार्थिकोऽणादिर्भवत्यन्यत्रेति। १२ तद्धितप्रत्ययः। १३ "वेश्याचार्यः पीठमर्दः– वेश्याचार्यो वेश्यानां नृत्तोपाध्यायः, पीठं नर्तनस्थानं पार्वम्[?]द्नाति पीठमर्दः।" –अभिधानचि० २।२४४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मरक्षाः शिरोरक्षोपमाः ।५। आत्मानं रक्षन्तीति आत्मरक्षास्ते शिरोरक्षोपमाः। आवृतावरणाः[1] प्रहरणोद्यता रौद्राः पृष्ठतोऽवस्थायिनः। अपायाभावात्तत्कल्पनावैयर्थ्यमिति चेत्; न; ऋद्धिविशेषख्यापनार्थत्वात् प्रीतिप्रकर्षहेतुत्वाच्च।

आरक्षिकार्थचरसमा लोकपालाः ।६। लोकं पालयन्तीति लोकपाला अर्थचरा रक्षिकसमाः ते वेदितव्याः।

दण्डस्थानीयान्यनीकानि ।७। पदात्यादीनि[2] सप्तानीकानि दण्डस्थानीयानि वेदितव्यानि।

प्रकीर्णकाः पौरजनपदकल्पाः ।८। यथेह राज्ञां पौरा जानपदाश्च प्रीतिहेतवः तथा तत्रेन्द्राणां प्रकीर्णकाः प्रत्येतव्याः।

आभियोग्या दाससमानाः ।९। यथेह दासा वाहनादिव्यापारं कुर्वन्ति तथा तत्राऽऽभियोग्या वाहनादिभावेनोपकुर्वन्ति। आभिमुख्येन योगोऽभियोगः, अभियोगे भवा आभियोग्याः ततः स्वार्थे चातुर्वर्ण्यादिवत् टयण्। अथवा अभियोगे साधवः आभियोग्याः, अभियोगमर्हन्तीति वा।

[3]**अन्त्यवासिस्थानीयाः किल्विषिकाः ।१०।** किल्विषं पापं तदेषामस्तीति किल्विषिकाः ते अन्त्यवासिस्थानीया मताः।

एकश इति वीप्सार्थे शस् ।११। एकैकस्य निकायस्य एकश इति वीप्सार्थे द्योत्ये शस् प्रयुज्यते। एत इन्द्रादयो दश विकल्पाश्चतुर्षु निकायेषु उत्सर्गेण प्रसक्तास्ततोऽपवादार्थमाह–

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥५॥

व्यन्तरेषु ज्योतिष्केषु च त्रायस्त्रिंशान् लोकपालांश्च वर्जयित्वा इतरेऽष्टौ विकल्पा द्रष्टव्याः।

अथ तेषु निकायेषु किमेकैक इन्द्रः उताऽन्यः प्रतिनियमः कश्चिदस्तीति ? अत आह–

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥६॥

पूर्वयोरिति वचनं प्रथमद्वितीयनिकायप्रतिपत्त्यर्थम् ।१। प्रथमस्य द्वितीयस्य च निकायस्य प्रतिपत्त्यर्थं पूर्वयोरिति द्विवचनं क्रियते। कथं पूर्वशब्दो द्वितीयं गमयति ? तृतीयापेक्षया पूर्वोपपत्तेः। चतुर्थापेक्षया तृतीयस्यापि पूर्वत्वप्रसङ्ग इति चेत्; नः प्रत्यासत्तेर्द्वितीयस्यैवोपादानात्। अथ कथमत्र भेदः ? ननु व्यतिरेकाभावादभेदेन निर्देशो न्याय्यः ? उच्यते–

समूहसमूहिनोः कथञ्चिदर्थान्तरत्वोपपत्तेर्भेदविवक्षा ।२। संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभिः कथञ्चिदर्थान्तरत्वं समूहसमूहिनोर्लोके दृष्टम्। यथा व्रीहीणां राशिः, आम्राणां वनमिति। तथा देवानां निकाययोश्च भेदविवक्षायाम् अधिकरणत्वेन सम्बन्धित्वेन वा निर्देशः क्रियते।

द्वीन्द्रा इत्यन्तर्नीतवीप्सार्थो निर्देशः ।३। द्वौ द्वाविन्द्रौ येषां ते द्वीन्द्रा इति वीप्सार्थमन्तर्नीय निर्देशः क्रियते यथा द्विपदिका त्रिपदिका इति। युज्यते तत्र वीप्सागतिर्वीप्सायां

---

१ कवचाः। २ तथा चोक्तम् – गजाश्वरथपादातवृषगन्धर्वनर्तकोः। सप्तानीकानि ज्ञेयानि प्रत्येकं च महत्तरा इति। ३ अन्तेवासिस्था– अ०।

वुनो विधानात्, इह तु न विधानमस्ति ? यथा तर्हि सप्तपर्णोऽष्टापदमिति न चोच्यते[1] वीप्सायामिति गम्यते च, तथेहापि वीप्सार्थसंप्रत्ययः ।

के पुनस्ते द्वित्ववीप्साविषयत्वेन विवक्षिताः इति ? अत्रोच्यते–भवनवासिषु तावत् द्वौ असुरकुमाराणामिन्द्रौ चमरो वैरोचनश्च । नागकुमाराणां धरणो भूतानन्दश्च । विद्युत्कुमाराणां[2] हरिसिंहो हरिकान्तश्च । [3]सुपर्णकुमाराणां वेणुदेवो वेणुधारी च । अग्निकुमाराणाम् अग्निशिखोऽग्निमाणवश्च । वातकुमाराणां वैलम्बः प्रभञ्जनश्च । स्तनितकुमाराणां सुघोषो महाघोषश्च । उदधिकुमाराणां जलकान्तो जलप्रभश्च । द्वीपकुमाराणां पूर्णो वशिष्टश्च । दिक्कुमाराणाम् अमितगतिरमितवाहनश्चेति ।

व्यन्तरेष्वपि द्वौ किन्नराणामिन्द्रौ किन्नरः किम्पुरुषश्च । किम्पुरुषाणां सत्पुरुषो महापुरुषश्च । महोरगाणाम् अतिकायो महाकायश्च । गन्धर्वाणां गीतरतिर्गीतयशाश्च । यक्षाणां पूर्णभद्रो माणिभद्रश्च । राक्षसानां भीमो महाभीमश्च । पिशाचानां कालो महाकालश्च । भूतानां प्रतिरूपोऽप्रतिरूपश्च ।

अथ एषां देवानां सुखं कीदृशमित्युक्ते सुखावबोधार्थमुच्यते–

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥७॥

प्रवीचार इति कोऽयं शब्दः ?

मैथुनोपसेवनं प्रवीचारः ।१। प्रविपूर्वाच्चरेः संज्ञायां घञ् । प्रविचरणं प्रवीचारः मैथुनव्यवहार इत्यर्थः । काये प्रवीचारो येषां ते इमे कायप्रवीचाराः ।

आङ्ग्रहणमभिविध्यर्थम् ।२। आङयमभिविध्यर्थो वेदितव्यः–ईशानोऽधिपतिः *"**तस्येदम्**" [जैनेन्द्र० ३।३।८८] इत्यणि, ऐशानः कल्पः । आ एतस्मादधो ये देवास्ते कायप्रवीचाराः संक्लिष्टकर्मत्वात् मनुष्यवत् स्त्रीविषयसुखमनुभवन्तीत्यर्थः । प्राग्ग्रहणे हि क्रियमाणे ऐशाने कल्पे देवान् वर्जयित्वेत्ययमर्थः संप्रतीयेत ।

असंहितानिर्देशोऽसन्देहार्थः ।३। आ ऐशानादित्यसंहितया[4] निर्देशः क्रियतेऽसन्देहार्थम् । ऐशानादित्युच्यमाने सन्देहः स्यात्–'किमाङन्तर्भूतः उत दिक्[5]शब्दोऽध्याहार्यः' इति ? अथवा विमुच्य संशयम्, अनिष्टं कल्प्येत पूर्वयोरित्यधिकारात् ऐशानात् पूर्वयोरित्यवधिग्रहणात् ।

इतरेषां सुखविभागेऽनिर्ज्ञाते तत्प्रतिपादनार्थमाह–

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ॥८॥

शेषग्रहणं किमर्थम् ?

उक्तावशिष्टसंग्रहार्थं शेषग्रहणम् ।१। उक्तानामवशिष्टानां संग्रहार्थं शेषग्रहणं क्रियते । के पुनस्ते ? सानत्कुमारादिकल्पनिवासिनः, इतरथा हि ग्रैवेयकादिष्वपि संप्रत्ययः स्यात् *"**परेऽप्रवीचाराः**" [४।९] इति वक्ष्यमाणमनवधारितविषयं स्यात् । स्पर्शश्च रूपं च शब्दश्च मनश्च स्पर्शरूपशब्दमनांसि, स्पर्शरूपशब्दमनःसु प्रवीचारो येषां त इमे स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः । अत्र चोद्यते–

---

१ न च वीप्सार्थप्रत्ययः श्रूयते इत्यर्थः – सम्पा० । २ हरिघोषहरि– ता० । हरिसहहरि– अ० । ३ सुवर्णकु – अ०, मू० । ४ –त्यसंहितसन्धिरहितया ष्रा० । ५ ऐशानात् दिशो यावत् इति दिगर्थप्रतिपत्त्यर्थं दिक्शब्दोऽध्याहार्य इत्यर्थः – सम्पा० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयविवेकापरिज्ञानादनिर्देशः ।२। इमे स्पर्शप्रवीचारा एते रूपप्रवीचारा इत्यादिविषयविवेकापरिज्ञानादयमनिर्देशः, अगमको निर्देशः अनिर्देशः ।

द्वयोर्द्वयोरिति वचनात्सिद्धिरिति चेत्; न; आर्षविरोधात् ।३। स्यान्मतं द्वयोर्द्वयोरिति वक्तव्यं[1] तेन विषयविवेकसिद्धिर्भवति इति ? तन्न; किं कारणम् ? आर्षविरोधात् । आर्षे ह्युक्तम्–*"**सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवाः स्पर्शप्रवीचाराः, ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु रूपप्रवीचाराः । शुक्रमहाशुक्रसतारसहस्रारेषु शब्दप्रवीचाराः । आनतप्राणताऽऽरणाऽच्यु[2]तकल्पेषु मनःप्रवीचाराः ।**" [ ]

इन्द्रापेक्षयेति चेत्; न; आनतादिषु दोषात् ।४। स्यादेतत्–इन्द्रापेक्षया द्वयोः द्वयोरिति वचनं नार्षविरोधि ? तद्यथा–सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः कल्पयोर्द्वाविन्द्रौ तयोर्देवाः स्पर्शप्रवीचाराः, ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोरेक इन्द्रः, लान्तवकापिष्ठयोरप्येकः, तयोर्देवा रूपप्रवीचाराः । शुक्रमहाशुक्रयोरेक इन्द्रः, सतारसहस्रारयोरप्येकः, तयोर्देवाः शब्दप्रवीचारा इति ? तन्न; किं कारणम् ? आनतादिषु दोषात् । आनतादिषु हि चत्वार इन्द्राः । कथं तर्हि निर्देशः कर्तव्यः ? यथागममिति । स तर्हि [3]तथानिर्देशः कर्तव्यः ?

न वा पुनःप्रवीचारग्रहणादिष्टार्थगतेः ।५। न वैष दोषः, किं कारणम् ? पुनःप्रवीचारग्रहणादिष्टार्थगतेः । कथम् ? प्रवीचारग्रहणमनुवर्तते । क्व प्रकृतम् ? 'कायप्रवीचाराः' इति । ननु च तद्[4]वृत्तावुपसर्जनीभूतमशक्यमनुवर्तयितुम् ? अर्थवशात् अनुवर्तत इति व्याख्यायते । तत एवं वक्तव्यं शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःस्विति । एवमप्यनुवर्तमानः प्रवीचारशब्दः भावसाधनो वृत्तिमन्तरेण 'शेषाः' इत्यनेन सामानाधिकरण्यं न प्रतिपद्यते ? [5]शेषाणामिति तर्हि निर्देशः कर्तव्यः, एवं सिद्धे यत्पुनः प्रवीचारग्रहणं तस्यैतत्प्रयोजनम् इष्टप्रवीचारसिद्धिः कथं स्यात् इति । कः पुनरिष्टः । आर्षाविरोधी–सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्हि देवान् मैथुनसुखप्रेप्सयोत्पन्नेच्छान् विदित्वा देव्य उपतिष्ठन्ते, तदङ्गस्पर्शनमात्रादेव प्रीतिमुपलभन्ते विनिवृत्तेच्छाश्च भवन्ति तथा देव्योऽपि । ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु देवा दिव्याङ्गनास्वभावसुभगशृंगाराकारविलासचतुरमनोज्ञवेषरूपालोकनमात्रादेव परं सुखमवाप्नुवन्ति । शुक्रमहाशुक्रसतारसहस्रारेषु देवाः सुरवनितानां मधुरसङ्गीतमृदुहसितकथनभूषणरवोपदर्शनश्रवणरसायनं पीत्वैव परां प्रीतिमास्कन्दन्ति । आनतप्राणताऽऽरणाऽच्युतकल्पेषु देवाः स्वाङ्गनामनःसंकल्पमात्रादेव परं सुखमनुभवन्ति ।

अथोत्तरेषां किं प्रकारं सुखमित्युक्ते तन्निश्चयार्थमाह–

परेऽप्रवीचाराः ॥९॥

पर इति किमर्थम्, अप्रवीचारा इत्येव सिद्धमुत्तरेषां ग्रहणम् ?

[6]**परवचनं कल्पातीतसर्वदेवसंग्रहार्थम्** ।१। कल्पातीतानां सर्वेषां देवानां संग्रहार्थं परवचनं क्रियते, इतरथाऽनिष्टमपि कल्पयितुं शक्येत ।

अप्रवीचारग्रहणं प्रकृष्टसुखप्रतिपत्त्यर्थम् ।२। प्रवीचारो हि वेदनाप्रतीकारस्तदभावे तेषां परमसुखमनवरतमित्येतस्य प्रतिपत्त्यर्थमप्रवीचारा इत्युच्यते[6] ।

---

१ व्याख्येयम् । २ –णाच्युतेषु आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ३ शेषाःस्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा यथागममिति । ४ समासे– सम्पा० । ५ शेषाणां स्पर्शरूपशब्दमनःसु । ६ परे वच– भा० १ । ६ इत्युच्यन्ते आ,० ब०, मु० ।

उक्तमादिनिकायदेवा दश विकल्पा इति तेषां सामान्यविशेषसंज्ञानिर्ज्ञानार्थमाह–

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥१०॥

भवनेषु वसनशीला भवनवासिनः ।१। भवनेषु वसन्तीत्येवंशीला भवनवासिन इति प्रथमनिकायस्येयं सामान्यसंज्ञा ।

असुरादयस्तद्विकल्पाः ।२। तेषां भवनवासिनामसुरादयो दश विकल्पा द्रष्टव्याः ।

सर्वे नामकर्महेतुकाः ।३। सर्वे ते नामकर्मोदयापादित[1]विशेषा वेदितव्याः ।

अस्यन्ति देवैः सहासुरा इति चेत्; न; अवर्णवादात् ।४। स्यान्मतं युद्धे देवैः सहास्यन्ति[2] प्रहरणादीनित्यसुरा इति; तन्न; किं कारणम् ? अवर्णवादात् । अवर्णवाद एषः देवानामुपरि मिथ्याज्ञाननिमित्तः । कुतः ?

महाप्रभावत्वात् ।५। ते हि सौधर्मादयो देवा महाप्रभावाः, न तेषामुपरि इतरेषां निकृष्टबलानां [3]मनागपि प्रातिलोम्येन वृत्तिरस्ति । अपि च,

वैरकारणाभावात् ।६। तेषां प्रतिविशिष्टशुभकर्मोदयापादितविभवानामर्हत्पूजाभोगानुभवनमात्रतन्त्राणां परदारहर[4]णादिनिमित्तं न वैरमस्ति ततो नासुराः सुरैर्युध्यन्ते ।

अथ ते कथं कुमाराः ?

कौमारवयोविशेषविक्रियाविद्योगात्कुमाराः ।७। सर्वेषां देवानामवस्थितवयःस्वभावत्वेऽपि कौमारवयोविशेषस्वभावस्वरूपं विक्रिया च कुमारवदुद्धतवेषभाषाऽऽभरणप्रहरणावरणयानवाहनत्वं च उल्बणरागक्रीडनप्रियत्वं चेत्येतैर्योगात् कुमारा इति व्यपदिश्यन्ते ।

प्रत्येकमभिसम्बन्धः ।८। तस्य कुमारशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धः क्रियते–असुरकुमारा नागकुमारा इति एवमादि ।

अत्राह क्व तेषां भवनानि इति ? अत्रोच्यते–

अस्या रत्नप्रभायाः पङ्कबहुलभागेऽसुरकुमाराणां भवनानि चतुःषष्टिशतसहस्राणि । अस्माज्जम्बूद्वीपात् तिर्यगपागसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् अतीत्य पङ्कबहुलभागे चमरस्याऽसुरेन्द्रस्य चतुस्त्रिंशद्भवनशतसहस्राणि, चतुःषष्टिसामानिकसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशाः, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि चत्वारो लोकपालाः, पञ्चाग्रमहिष्यः, चत्वारि चतुःषष्टयुत्तराणि आत्मरक्षसहस्राणि, एवं विभवपरिवारः दक्षि[5]णार्धपतिः दिव्यान् भोगान् अनुभवति । तथोत्तरस्यां दिशि वैरोचनस्य त्रिंशद्भवनशतसहस्राणि[6] षष्टिसामानिकसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशाः, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, चत्वारो लोकपालाः, पञ्चाग्रमहिष्यः, चत्वारि चतुःषष्टयुत्तराणि आत्मरक्षसहस्राणि, एवं विभवपरिवारः उत्त[7]रार्धपतिः दिव्यान् भोगान् अनुभुङ्क्ते ।

खरपृथ्वीभागे उपर्यधश्चैकैकयोजनसहस्रं वर्जयित्वा शेषे नवानां कुमाराणां भवनानि भवन्ति । तद्यथा–अस्माज्जम्बूद्वीपात्तिर्यगपागसंख्येयान् द्वीपसमुद्रानतीत्य धरणस्य नागराजस्य चतुश्चत्वारिंशत्भवनशतसहस्राणि, षष्टिसामानिकसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशाः, तिस्रः

१ –विताबेदि– आ०, ब०, द०, मु० । २ क्षिपन्ति । ३ मनसापि आ०, ब०, द०, मु०, ज०, टि०, ता० । ४ –प्रहणा– ब० । ५ –णाधिप– आ०, ब०, मु० । ६ –णि चतुःषष्टि– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ७ –त्तराधिप– आ०, ब०, मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिषदः, सप्तानीकानि, चत्वारो लोकपालाः, षडग्रमहिष्यः, षडात्मरक्षसहस्राण्याख्यायन्ते । तथा अस्माज्जम्बूद्वीपात्तिर्यगुदगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् अतीत्य भूतानन्दस्य नागेन्द्रस्य चत्वारिंशद्भवनशतसहस्राणि, अवशिष्टं धरणेन्द्रवज्ज्ञेयम् । तान्येतानि नागकुमाराणां चतुरशीतिभवनशतसहस्राणि । तथा सुपर्णकुमाराणां द्विसप्ततिर्भवनशतसहस्राणि । तत्र वेणुदेवस्य दक्षिणाधिपतेः अष्टत्रिंशद्भवनशतसहस्राणि । इतरद्धरणेन्द्रवन्नेयम् । उत्तराधिपतेर्वेणुधारिणः चतुस्त्रिंशद्भवनशतसहस्राणि । अवशिष्टं धरणेन्द्रवन्नेयम् । विद्युदग्निस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराणां षण्णामपि प्रत्येकं षट्सप्ततिर्भवनशतसहस्राणि । तत्र दक्षिणेन्द्राणां [1]हरिसिंहाग्निशिखसुघोषजलकान्तपूर्णामितगतीनां प्रत्येकं चत्वारिंशद्भवनशतसहस्राणि । हरिकान्ताग्निमाणवमहाघोषजलप्रभवशिष्टामितवाहनानाम् उत्तराधिपतीनां प्रत्येकं षट्त्रिंशद्भवनशतसहस्राणि । वातकुमाराणां षण्णवतिर्भवनशतसहस्राणि । तत्र वैलम्बस्य दक्षिणेन्द्रस्य पञ्चाशद्भवनशतसहस्राणि । उत्तराधिपतेः प्रभञ्जनस्य षट्चत्वारिंशद्भवनशतसहस्राणि । सर्वेषामेषां धरणेन्द्रवन्नेयम् । तान्येतानि भवनानि समुदितानि सप्तकोट्यो द्विसप्ततिश्च शतसहस्राणि ।

द्वितीयनिकायस्य सामान्यविशेषसंज्ञावधारणार्थमाह–

व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥११॥

विविधदेशान्तरनिवासित्वाद् व्यन्तराः ।१। विविधदेशान्तराणि येषां निवासास्ते व्यन्तरा इत्यन्वर्थाः । सामान्यसंज्ञेयमष्टानामपि विकल्पानाम् ।

किन्नरादयस्तद्विकल्पाः ।२। तेषां व्यन्तराणामष्टौ विकल्पाः किन्नरादयो द्रष्टव्याः ।

नामकर्मोदयविशेषतस्तद्विशेषसंज्ञाः ।३। देवगतिनाम्नो मूलस्य उत्तरोत्तरप्रकृतिभेदस्योदयाद्विशेषसंज्ञा भवन्ति । किन्नरनामकर्मोदयात् किन्नराः, किम्पुरुषनामकर्मोदयात् किम्पुरुषाः इत्यादि ।

क्रियानिमित्ता एवेति चेत्; न; उक्तत्वात् ।४। स्यादेतत्–क्रियानिमित्ता एवैताः संज्ञाः, किन्नरान् कामयन्त इति किन्नराः, किम्पुरुषान् कामयन्त इति किम्पुरुषाः, पिशिताशनात् पिशाचा इत्यादि; तन्न; किं कारणम् ? उक्तत्वात् । उक्तमेतत्–अवर्णवाद एष देवानामुपरीति । कथम् ? न हि ते शुचिवैक्रियिकदेहा अशुच्यौदारिकशरीरान् नरान् कामयन्ते, नापि पिशितमश्नन्ति । [2]मांसमदिरादिषु दृष्टा लोके प्रवृत्तिरिति चेत्; न; क्रीडासुखनिमित्तत्वात्, मानसाहारा[3]हि ते ।

क्व पुनस्तेषामावासाः इति ? अत्रोच्यते–अस्माज्जम्बूद्वीपात्तिर्यगपागसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् अतीत्य औपरिष्टे खरपृथिवीभागे किन्नरस्य किन्नरेन्द्रस्य असंख्येयानि नगरशतसहस्राणि वर्ण्यन्ते । तस्य चत्वारि सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, चतस्रोऽग्रमहिष्यः, षोडशात्मरक्षसहस्राणि । उदीच्यां दिशि पूर्ववदेव किन्नरेन्द्रः किम्पुरुषस्तादृग्विभवपरिवारः । एवं शेषाणां षण्णां दक्षिणेन्द्राणां सत्पुरुषातिकायगीतिरतिपूर्णभद्रस्वरूपकालाख्यानां दक्षिणे भागे आवासाः । तथा महापुरुषमहाकायगीतयशोमाणिभद्राऽप्रतिरूपमहाकालानां तु उत्तराधिपतीनाम् उत्तरभागे आवासास्तावन्त एव वेदितव्याः । राक्षसेन्द्रस्य

---

१ हरिसहाग्नि– अ०, मू० । २ मत्स्यमदि– मू०, अ० टि० । ३ –हारश्च भा० २ ।

भीमस्य दक्षिणस्यां दिशि पङ्कबहुलभागेऽसंख्येयानि नगरशतसहस्राणि आख्यायन्ते। उत्तरस्यां दिशि महाभीमस्य राक्षसेन्द्रस्य पङ्कबहुलभागेऽसंख्येयानि नगरशतसहस्राणि वर्ण्यन्ते। षोडशानामपि एषां व्यन्तरेन्द्राणां सामानिकादिपरिवारास्तुल्याः। भूमितलेऽपि द्वीपाद्रिसमुद्रदेशग्रामनगरत्रिकचतुष्कचत्वरगृहाङ्गणरथ्याजलाशयोद्यान[1]देवकुलादीनि असंख्येयानि आवासशतसहस्राणि तेषामाख्यायन्ते।

तृतीयस्य निकायस्य सामान्यविशेषसंज्ञासंकीर्तनार्थमाह—

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥ १२ ॥

द्योतनस्वभावत्वाज्ज्योतिष्काः ।१। द्योतनं प्रकाशनं तत्स्वभावत्वादेषां पञ्चानामपि विकल्पानां ज्योतिष्का इतीयमन्वर्था [2]सामान्यसंज्ञा। काऽस्याः सिद्धिः ?

ज्योतिःशब्दात्स्वार्थे के निष्पत्तिः ।२। ज्योतिःशब्दात् स्वार्थे के[3] सति ज्योतिष्का इति निष्पद्यते। कथं स्वार्थे कः ? यावादिषु[4] पाठात्।

प्रकृतिलिङ्गानुवृत्तिप्रसङ्ग इति चेत्; न; अतिवृत्तिदर्शनात् ।३। स्यान्मतम्–यदि स्वार्थिकोऽयं कः, ज्योतिःशब्दस्य नपुंसकलिङ्गत्वात् कान्तस्यापि नपुंसकलिङ्गता प्राप्नोतीति ? तन्न; किं कारणम् ? अतिवृत्तिदर्शनात्। प्रकृतिलिङ्गातिवृत्तिरपि दृश्यते–यथा [5]कुटीरः शमीरः शुण्डार इति।

तद्विशेषाः सूर्यादयः ।४। तेषां ज्योतिष्काणां सूर्यादयः पञ्च विकल्पा द्रष्टव्याः।

पूर्ववत्तन्निर्वृत्तिः ।५। तेषां संज्ञाविशेषाणां पूर्ववन्निर्वृत्तिर्वेदितव्या–देवगतिनामकर्मविशेषोदयादिति।

सूर्याचन्द्रमसावित्यानङ् देवताद्वन्द्वे ।६। सूर्यश्च चन्द्रमाश्च द्वन्द्वे कृते पूर्वपदस्य *"देवताद्वन्द्वे" [जैनेन्द्र० ४।३।१३९] इत्यानङ् भवति।

सर्वत्र प्रसङ्ग इति चेत्; न; पुनर्द्वन्द्वग्रहणादिष्टे वृत्तिः ।७। स्यादेतत्–यदि *"देवताद्वन्द्वे" [जैनेन्द्र० ४।३।१३९] इत्यानङ् भवति, इहापि प्राप्नोति ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकताराः किन्नरकिम्पुरुषादयः असुरनागादय इति; तन्न; किं कारणम् ? *"आनङ् द्वन्द्वे" [जैनेन्द्र० ४।३।१३८] इत्यतः द्वन्द्व इति वर्तमाने पुनर्द्वन्द्वग्रहणात् इष्टे द्वन्द्वे वृत्तिर्जायते।

पृथग्ग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थम् ।८। सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहादिभ्यः पृथक् ग्रहणं क्रियते प्राधान्यख्यापनार्थम्। ज्योतिष्केषु हि सर्वेषु सूर्याणां चन्द्रमसां च प्राधान्यम्। किं कृतं पुनस्तत्? प्रभावादिकृतम्।

सूर्यस्यादौ ग्रहणम् अल्पाच्तरत्वात् अभ्यर्हितत्वाच्च ।९। सूर्यशब्द आदौ प्रयुज्यते। कुतः ? [6]अल्पाच्तरत्वात् अभ्यर्हितत्वाच्च। सर्वाभिभवसमर्थत्वाद्धि अभ्यर्हितः सूर्यः।

ग्रहादिषु च[6] ।१०। किम् ? 'अल्पाच्तरत्वात् अभ्यर्हितत्वाच्च पूर्वनिपातः' इति वाक्यशेषः। ग्रहशब्दस्तावत् अल्पाच्तरोऽभ्यर्हितश्च तारकाशब्दात्, नक्षत्रशब्दोऽभ्यर्हितः।

---

१ देवालय। २ –यंसा– अ०, ता०। ३ क प्रत्यये– स०। ४ "कोऽविषयावादे:" –जैनेन्द्र० ४।२।३५। ५ ह्रस्वा कुटी कुटीरः, ह्रस्वा शमी शमीरः, ह्रस्वा शुण्डा शुण्डारः –स०। ५ अल्पाक्षर– भा० २। ६ चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः ततः। मु०।

क्व पुनस्तेषां निवास इति ? अत्रोच्यते–अस्मात् समात् भूमिभागादूर्ध्वं सप्त योजनशतानि नवत्युत्तराणि [1]उत्पत्य सर्वज्योतिषाम् अधोभाविन्यस्तारकाश्चरन्ति। ततो दशयोजनान्युत्पत्य सूर्याश्चरन्ति। ततोऽशीतिर्योजनान्युत्पत्य चन्द्रमसो भ्रमन्ति। ततस्त्रीणि योजनान्युत्पत्य नक्षत्राणि। ततस्त्रीणि योजनानि उत्पत्य बुधाः। ततस्त्रीणि योजनानि उत्पत्य शुक्राः। ततस्त्रीणि योजनान्युत्पत्य[1] बृहस्पतयः। ततश्चत्वारि योजनान्युत्पत्य अङ्गारकाः। ततश्चत्वारि योजनान्युत्क्रम्य शनैश्चराश्चरन्ति। स एष ज्योतिर्गणगोचरो नभोऽवकाशः दशाधिकयोजनशतबहुलः तिर्यगसंख्यातद्वीपसमुद्रप्रमाणो घनोदधिपर्यन्तः। उक्तं च–

*"णवदुत्तरसत्तसया दससीदिच्चदुतिगं च दुगचदुक्कं।
तारारविससिरिक्खा बुधभग्गवगुरुअंगिरारसणी॥"[2] [ ]

तत्राभिजित् सर्वाभ्यन्तरचारी, मूलः सर्वबहिश्चारी, भरण्यः सर्वाधश्चारिण्यः, स्वातिः सर्वोपरिचारी। तप्ततपनीयसमप्रभाणि लोहिताक्षमणिमयानि अष्टचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागविष्कम्भायामानि तत्त्रिगुणाधिकपरिधीनि चतुर्विंशतियोजनैकषष्टिभागबाहुल्यानि अर्धगोलकाकृतीनि षोडशभिर्देवसहस्रैरूढानि सूर्यविमानानि। प्रत्येकं पूर्वदक्षिणोत्तरापरान् भागान् क्रमेण सिंहकुञ्जरवृषभतुरगरूपाणि विकृत्य चत्वारि चत्वारि देवसहस्राणि वहन्ति। एषामुपरि सूर्याख्या देवाः। तेषां प्रत्येकं चतस्रोऽग्रमहिष्यः–सूर्यप्रभा सुसीमा अर्चिमालिनी प्रभङ्करा चेति, प्रत्येकं देवीरूपचतुःसहस्रविकरणसमर्थाः। ताभिः सह दिव्यं सुखमनुभवन्तोऽसंख्येयशतसहस्राधिपतयः सूर्याः परिभ्रमन्ति। विमलमृणालवर्णान्यङ्कमयानि चन्द्रविमानानि। षट्पञ्चाशद्योजनैकषष्टिभागविष्कम्भायामानि अष्टाविंशतियोजनैकषष्टिभागबाहुल्यानि, प्रत्येकं षोडशभिर्देवसहस्रैः पूर्वादिषु दिक्षु क्रमेण सिंहकुञ्जराश्ववृषभरूपविकारिभिरूढानि। तेषामुपरि चन्द्राख्या देवाः। तेषां प्रत्येकं चतस्रोऽग्रमहिष्यः–चन्द्रप्रभा सुसीमा अर्चिमालिनी प्रभङ्करा चेति, प्रत्येकं चतुर्देवीरूपसहस्रविकरणपटवः। ताभिः सह सुखमुप[3]भुञ्जानाश्चन्द्रमसोऽसंख्येयविमानशतसहस्राधिपतयो विहरन्ति। अञ्जनसमप्रभाणि अरिष्टमणिमयानि राहुविमानान्येकयोजनायामविष्कम्भाण्यर्धतृतीयधनुःशतबाहल्यानि। नवमल्लिकाप्रभाणि रजतपरिणामानि शुक्रविमानानि गव्यूतायामविष्कम्भाणि। जात्यमुक्ताद्युतीनि अङ्कमणिमयानि बृहस्पतिविमानानि देशोनगव्यूतायामविष्कम्भाणि। कनकमयान्यर्जुनवर्णानि बुधविमानानि। तपनीयमयानि तप्ततपनीयाभानि शनैश्चरविमानानि। लोहिताक्षमयानि तप्तकनकप्रभाण्यङ्गारकविमानानि। बुधादिविमानान्यर्धगव्यूतायामविष्कम्भाणि। शुक्रादिविमानानि राहुविमानतुल्यबाहल्यानि। राह्वादिविमानानि प्रत्येकं चतुर्भिः देवसहस्रैरुह्यन्ते। नक्षत्रविमानानां प्रत्येकं चत्वारि देवसहस्राणि वाहकानि। तारकाविमानानां प्रत्येकं द्वे देवसहस्रे वाहके। राह्वा[4]द्याभियोग्यानां रूपविकाराश्चन्द्रवन्नेयाः। नक्षत्रविमानानाम् उत्कृष्टो विष्कम्भः क्रोशः। तारकाविमानानां वैपुल्यं जघन्यं क्रोशचतुर्भागः। मध्यमं साधिकः क्रोशचतुर्भागः। उत्कृष्टम् अर्धगव्यूतम्। ज्योतिष्कविमानानां सर्वजघन्यवैपुल्यं पञ्चधनुःशतानि। ज्योतिषामिन्द्राः सूर्यचन्द्रमसः, ते चासंख्याताः।

---

१ उत्प्लुत्य आ०, ब०, द०, मु०। २ जम्बू० प० १२।९३। उद्धृतेयम्– स० सि० ३।१२।
३ –पभुञ्जन्तश्च– आ०, ब०, द०, मु०। ४ राह्वाद्यभियोगानाम् ता०, श्र०, ब०, मू०।

ज्योतिष्काणां गतिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥१३॥

मेरुप्रदक्षिणवचनं गत्यन्तरनिवृत्त्यर्थम् ।१। मेरोः प्रदक्षिणा मेरुप्रदक्षिणा इत्यु[1]च्यन्ते । किमर्थम् ? गत्यन्तरनिवृत्त्यर्थं विपरीता गतिर्माभूत् ।

गतेः क्षणे क्षणेऽन्यत्वात् नित्यत्वाभाव इति चेत्; न; आभीक्ष्ण्यस्य विवक्षितत्वात् ।२। अयं नित्यशब्दः कूटस्थेष्वविचलेषु भावेषु वर्तते, गतिश्च क्षणे क्षणेऽन्या, ततोऽस्या नित्येति विशेषणं नोपपद्यत इति चेत्; न; किं कारणम् ?आभीक्ष्ण्यस्य विवक्षितत्वात् । यथा नित्यप्रहसितो नित्यप्रजल्पित इति आभीक्ष्ण्यं गम्यत इति, एवमिहापि नित्यगतयः अनुपरतगतय इत्यर्थः ।

अनेकान्ताच्च ।३। यथा सर्वभावेषु द्रव्यार्थादेशात् स्यान्नित्यत्वं पर्यायार्थादेशात् स्यादनित्यत्वं तथा गतावपीति नित्यत्वमविरुद्धमविच्छेदात् ।

नृलोकग्रहणं विषयार्थम् ।४। ये अर्धतृतीयेषु द्वीपेषु द्वयोश्च समुद्रयोर्ज्योतिष्कास्ते मेरुप्रदिक्षणा नित्यगतयो नान्ये इति विषयावधारणार्थं नृलोकग्रहणं क्रियते ।

गतिकारणाभावादयुक्तिरिति चेत्; न; गतिरताभियोग्यदेववहनात् ।५। स्यान्मतम्–इह लोके भावानां गतिः कारणवती दृष्टा, न च ज्योतिष्कविमानानां गतेः कारणमस्ति ततस्तदयुक्तिरिति; तन्न; किं कारणम् ? गतिरताभियोग्यदेववहनात् । गतिरता हि आभियोग्यदेवा वहन्तीत्युक्तं पुरस्तात् ।

कर्मफलविचित्रभावाच्च ।६। कर्मणां हि फलं वैचित्र्येण पच्यते ततस्तेषां गतिपरिणतिमुखेनैव कर्मफलमवबोद्धव्यम् । एकादशभिः योजनशतैरेकविंशैर्मेरुमप्राप्य ज्योतिष्काः प्रदक्षिणाश्चरन्ति ।

तत्र जम्बूद्वीपे द्वौ सूर्यौ, द्वौ चन्द्रमसौ, षट्पञ्चाशन्नक्षत्राणि, षट्सप्तत्यधिकं ग्रहशतम्, एकं कोटीकोटिशतसहस्रं त्रयस्त्रिंशत्कोटीकोटिसहस्राणि नवकोटीकोटिशतानि पञ्चाशच्च कोटीकोट्यस्तारकाणाम् । लवणोदे चत्वारः सूर्याः, चत्वारश्चन्द्राः, नक्षत्राणां शतम्, द्वादशम् ग्रहाणाम्, त्रीणि शतानि द्वापञ्चाशानि द्वे कोटीकोटिशतसहस्रे सप्तषष्टिकोटीकोटिसहस्राणि नव च कोटीकोटिशतानि तारकाणाम् । धातकीषण्डे द्वादश सूर्याः, द्वादश चन्द्राः, नक्षत्राणां त्रीणि शतानि षट्त्रिंशानि, ग्रहाणां सहस्रं षट्पञ्चाशम्, अष्टौ कोटीकोटिशतसहस्राणि सप्तत्रिंशच्च कोटीकोटिशतानि तारकाणाम् । कालोदे द्वाचत्वारिंशदादित्याः, द्वाचत्वारिंशच्चन्द्राः, एकादश नक्षत्रशतानि षट्सप्तत्यधिकानि, षट्त्रिंशत् ग्रहशतानि षण्णवत्यधिकानि, अष्टाविंशतिकोटीकोटिशतसहस्राणि द्वादशकोटीकोटिसहस्राणि नवकोटीकोटिशतानि पञ्चाशच्च कोटीकोट्यस्तारकाणाम् । पुष्करार्धे द्वासप्ततिः सूर्याः, द्वासप्ततिश्चन्द्राः, द्वे नक्षत्रसहस्रे षोडशे, त्रिषष्टिः ग्रहशतानि षट्त्रिंशानि । अष्टचत्वारिंशत्कोटीकोटिशतसहस्राणि द्वाविंशतिः कोटीकोटिसहस्राणि द्वे कोटीकोटिशते तारकाणाम् । बाह्ये पुष्करार्धे च ज्योतिषामियमेव संख्या । ततश्चतुर्गुणाः पुष्करवरोदे, ततः परा द्विगुणा द्विगुणा ज्योतिषां संख्या अवसेया ।

जघन्यं तारकान्तरं गव्यूतसप्तभागः, मध्यं पञ्चाशत् गव्यूतानि, उत्कृष्टं योजनसहस्रम् । जघन्यं सूर्यान्तरं चन्द्रान्तरं च नवनवतिः सहस्राणि योजनानां षट्शतानि चत्वा-

---

१ इत्युच्यते आ०, ब०, द०, मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रिंशदधिकानि । उत्कृष्टमेकं योजनशतसहस्रं षट्शतानि षष्टयुत्तराणि। जम्बूद्वीपादिषु एकैकस्य चन्द्रमसः षट्षष्टिकोटीकोटिसहस्राणि नवकोटीकोटिशतानि पञ्चसप्ततिश्च कोटीकोटयः तारकाणाम् । अष्टाशीतिर्महाग्रहाः, अष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि परिवारः । सूर्यस्य चतुरशीतिमण्डलशतम् अशीतिः योजनशतं जम्बूद्वीपस्य अन्तरमवगाह्य प्रकाशयति। तत्र पञ्चषष्टिरभ्यन्तरमण्डलानि लवणोदस्यान्तस्त्रीणि त्रिंशानि योजनशतान्यवगाह्य प्रकाशयति । तत्र मण्डलानि बाह्यान्येकान्नविंशतिशतम् । द्वियोजनमेकैकमण्डलान्तरम् । द्वे योजने अष्टचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागाश्च एकैकमुदयान्तरम् । चतुश्चत्वारिंशद्योजनसहस्रैः अष्टाभिश्च शतैर्विंशैरप्राप्य मेरुं सर्वाभ्यन्तरमण्डले सूर्यः प्रकाशयति। तस्य विष्कम्भो नवनवतिः सहस्राणि षट्शतानि चत्वारिंशानि योजनानाम् । तदा अहनि मुहूर्ताः अष्टादश भवन्ति। पञ्चसहस्राणि द्वे शते एकपञ्चाश[1]योजनानां एकान्नत्रिंशद्योजनषष्टिभागाश्च मुहूर्तगतिक्षेत्रम् । सर्वबाह्यमण्डले चरन् सूर्यः पञ्चचत्वारिंशत्सहस्रैः त्रिभिश्च शतैः त्रिंशैर्योजनानां मेरुमप्राप्य भासयति। तस्य [2]विष्कम्भः एकं शतसहस्रं षट् च शतानि षष्टयधिकानि योजनानाम्। तदा दिवसस्य द्वादश मुहूर्ताः । पञ्चसहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि योजनानां पञ्चदशयोजनषष्टिभागाश्च मुहूर्तगतिक्षेत्रम् । तदा एकत्रिंशद्योजनसहस्रेषु अष्टासु च योजनशतेषु अर्धद्वात्रिंशेषु स्थितो दृश्यते । सर्वाभ्यन्तरमण्डले दर्शनविषयपरिमाणं प्रागुक्तम्। मध्ये हानिवृद्धिक्रमो यथागमं वेदितव्यः । चन्द्रमण्डलानि पञ्चदश, द्वीपावगाहः समुद्रावगाहश्च सूर्यवद्वेदितव्यः । द्वीपाभ्यन्तरे पञ्च मण्डलानि । समुद्रमध्ये दश । सर्वबाह्याभ्यन्तरमण्डलविष्कम्भविधिः, मेरुचन्द्रान्तरप्रमाणं च सूर्यवत् प्रत्येतव्यम् । पञ्चदशानां मण्डलानामन्तराणि चतुर्दश । तत्रैकैकस्य [3]मण्डलान्तरस्य प्रमाणं पञ्चत्रिंशद्योजनानि योजनैकषष्टिभागास्त्रिंशत् तद्भागस्य चत्वारः सप्तभागाः ३५-३०/६१-४/७ । सर्वाभ्यन्तरमण्डले [4]पञ्चसहस्राणि त्रिसप्तत्यधिकानि योजनानां सप्तसप्ततिर्भागशतानि चतुश्चत्वारिंशानि मण्डलं[5] त्रयोदशभिर्भागसहस्रैः सप्तभिश्च भागशतैः पञ्चविंशैः छित्वा[6] अवशिष्टानि चन्द्रः एकैकेन मुहूर्तेन गच्छति । सर्वबाह्यमण्डले[7] पञ्चसहस्राणि शतं च पञ्चविंशं योजनानाम् एकान्नसप्ततिर्भागशतानि नवत्यधिकानि मण्डलं[8] त्रयोदशभिः भागसहस्रैः सप्तभिश्च भागशतैः पञ्चविंशैः [9]छित्वाऽवशिष्टानि चन्द्रः एकैकेन मुहूर्तेन गच्छति । दर्शनविषयपरिमाणं सूर्यवद्वेदितव्यम् । हानिवृद्धिविधानं च यथागममवसेयम् । पञ्चयोजनशतानि दशोत्तराणि सूर्याचन्द्रमसोश्चारक्षेत्रविष्कम्भः ।

गतिमज्ज्योतिःसंबन्धेन व्यवहारकालप्रतिपत्त्यर्थमाह–

तत्कृतः कालविभागः ॥१४॥

तदिति किमर्थम् ?

गतिमज्ज्योतिःप्रतिनिर्देशार्थं तद्वचनम् ।१। गतिमतां ज्योतिषां प्रतिनिर्देशार्थं तदित्युच्यते । न हि केवलया गत्या नापि केवलैर्ज्योतिर्भिः कालः परिच्छिद्यते, अनुपलब्धेरपरिवर्तनाच्च ।

---

१ –पञ्चाशद्यो– आ०, ब०, द०, मु० । २ सूर्यसूर्यान्तर इत्यर्थः । ३ विध्यन्तरस्य । ४ चन्द्रस्य परिधिसमापनकालः ६२।२३ । समच्छेदेनानयोर्मेलने प्रमाणराशिः १३७२५ । फल– ३१५०८९ इच्छे मुहूर्तं १ लब्ध ५०७३ शेष ७७४४ । ५ परिधिरित्यर्थः । ६ स्थित्वा आ०, ब०, द०, मु० । ७ परिधौ । ८ बाह्यपरिधिम् । ९ स्थित्वा आ०, ब०, द०, मु० ।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

ज्योतिःपरिवर्तनलभ्यो हि कालपरिच्छेदः ।२। कालो द्विविधो व्यावहारिको मुख्यश्च । तत्र व्यावहारिकः कालविभागः तत्कृतः समयावलिकादिर्व्याख्यातः, [1]क्रियाविशेषपरिच्छिन्नः [2]अन्यस्यापरिच्छिन्नस्य परिच्छेदहेतुः । मुख्योऽन्यो वक्ष्यमाणलक्षणः ।

आह–न मुख्यः कालोऽस्ति सूर्यादिगतिव्यतिरिक्तो लिङ्गाभावात् । अपि च, कलानां समूहः कालः, कलाश्च [3]क्रियावयवाः । किञ्च, पञ्चास्तिकायोपदेशात् पञ्चैवास्तिकाया आगमे उपदिष्टा न षष्ठः, ततो न मुख्यः कालोऽस्ति; इत्यपरीक्षिताभिधानमेतत्; यत्ताव-दुक्तम्–लिङ्गाभावान्नास्ति मुख्यः काल इति; अत्रोच्यते–

क्रियायां काल इति गौणव्यवहारदर्शनात् मुख्यसिद्धिः ।३। योऽयमादित्यगमनादौ क्रियेति रूढेः काल इति व्यवहारः कालनिर्वर्तनापूर्वकः, मुख्यस्य कालस्यास्तित्वं गमयति । नहि मुख्ये गव्यसति वाहीके गौणे गोशब्दस्य व्यवहारो युज्यते ।

अत एव न कलासमूह एव कालः ।४। अत एव । कुत एव ? मुख्यस्य कालस्यास्तित्वा-देव, कलानां समूह एव काल इति व्यपदेशो नोपपद्यते । कल्यते क्षिप्यते प्रेर्यते येन क्रिया-वद्द्रव्यं स कालः, तस्य विस्तरेण निर्णय उत्तरत्र वक्ष्यते ।

प्रदेशप्रचयाभावादस्तिकायेष्वनुपदेशः ।५। प्रदेशप्रचयो हि कायः स एषामस्ति ते अस्तिकाया इति जीवादयः पञ्चैव उपदिष्टाः । कालस्य [4]त्वेकप्रदेशत्वादस्तिकायत्वाभावः । यदि हि अस्तित्वमेव अस्य न स्यात् षट्द्रव्योपदेशो न युक्तः स्यात् । कालस्य हि द्रव्यत्व-मस्त्यागमे । परलक्षणाभावः स्वलक्षणोपदेशसद्भावात् ।

इतरत्र ज्योतिषामवस्थाप्रतिपादनार्थमाह–

बहिरवस्थिताः ॥१५॥

बहिरित्युच्यते । कुतो बहिः ? नृलोकात् । कथमवगम्यते? अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति ।

नृलोके नित्यगतिवचनादन्यत्रावस्थानसिद्धिरिति चेत्; न; उभयासिद्धेः ।१। स्यान्मतम्–'नृलोके नित्यगतयः' इति वचनात् अन्यत्र अवस्थानं ज्योतिषां सिद्धम्, अतो बहिरवस्थिता इति वचनमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? उभयासिद्धेः । नृलोकादन्यत्र बहिर्ज्योतिषाम-स्तित्वमवस्थानं [5]चाऽप्रसिद्धं अतस्तदुभयसिद्ध्यर्थं 'बहिरवस्थिताः' इत्युच्यते । असति हि वचने, नृलोके एव सन्ति नित्यगतयश्च इत्यवगम्येत ।

तुरीयस्य निकायस्य सामान्यसंज्ञाकीर्तनार्थमाह–

वैमानिकाः ॥१६॥

वैमानिकग्रहणमधिकारार्थम् ।१। इत ऊर्ध्वं ये वक्ष्यन्ते तषु वैमानिकसंप्रत्ययः कथं स्यात् इत्यधिकारः क्रियते । विशेषेण आत्मस्थान् सुकृतिनो मानयन्तीति विमानानि, विमा-नेषु भवा वैमानिकाः । तानि विमानानि त्रिविधानि–इन्द्रक-श्रेणि-पुष्पप्रकीर्णकभेदेन । तत्रेन्द्र-कविमानानि इन्द्रवन्मध्येऽवस्थितानि । तेषां चतसृषु दिक्षु आकाशप्रदेशश्रेणिवदवस्थानात् श्रेणिविमानानि । विदिक्षु प्रकीर्णपुष्पवत् अवस्थानात् पुष्पप्रकीर्णकानि ।

तेषां वैमानिकानां भेदावबोधनार्थमाह–

---

१ सूर्यगमनादि, घटिकापात्रादि वा । २ ओदनपाकवाहदोहादेः । ३ अणोरण्वन्तरव्यतिक्रमणादि । ४ –स्त्वेकत्वप्र– मु० । ५ वा मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१७॥

कल्पेषूपपन्नाः कल्पोपपन्नाः, कल्पानतीताः कल्पातीताः ।

ग्रैवेयकादिषु नवादिकल्पनासंभवात् कल्पत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; उक्तत्वात् ।१। स्यान्मतम्–नवग्रैवेयका नवानुदिशाः पञ्चानुत्तराः इति च कल्पनासंभवात् तेषामपि कल्पत्वप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम् ? उक्तत्वात् । उक्तमेतत्–इन्द्रादिदशतयकल्पनासद्भावात् कल्पा इति । नवग्रैवेयकादिषु इन्द्रादिकल्पना नास्ति तेषामहमिन्द्रत्वात् ।

तेषामवस्थानविशेषनिर्ज्ञानार्थमाह–

उपर्युपरि ॥१८॥

उपर्युपरिवचनमतिर्यगसमस्थितिप्रतिपत्त्यर्थम् ।१। न ज्योतिष्कवत्तिर्यगवस्थिता नापि व्यन्तरवदसमस्थितय इति प्रतिपत्त्यर्थमुपर्युपरीत्युच्यते । कथमत्र द्वित्वम् ? *"**सामीप्येऽधोऽध्युपरि**" [जैनेन्द्र० ५।३।५] इति । ननु च, नात्र सामीप्यमस्ति असंख्येययोजनान्तरत्वात्तेषाम्; नैष दोषः; तुल्यजातीयेनाऽव्यवधानं सामीप्यम् । न च तेषां तुल्यजातीयं व्यवधायकं विवक्षितम् । इदं विचार्यते–किमत्राधेयत्वेन कल्प्यमाना देवाः, उत विमानानि, आहोस्वित् कल्पा इति, किं[1] वा कामचारः ?

देवा इति चेत्; न; अनिष्टत्वात् ।२। यदि देवा उपर्युपरीत्यनेनाभिसंबध्यन्ते; तन्न; किं कारणम् ? अनिष्टत्वात् । देवानां हि उपर्युपरि अवस्थानमनिष्टम् ।

विमानानि इति चेत्; न; श्रेणिप्रकीर्णकानां तिर्यगवस्थानात् ।३। अथ विमानान्युपर्युपरीति कल्प्यन्ते; तदपि नोपपद्यते; श्रेणिप्रकीर्णकानां तिर्यगवस्थानात् । श्रेणिविमानानि पुष्पप्रकीर्णकविमानानि च प्रतीन्द्रकं तिर्यगवस्थितानि इति इहेष्यन्ते ।

कल्पा इति चेददोषः ।४। यदि कल्पाः; न दोषो भवति । 'यथा न दोषः तथास्तु' कल्पा हि उपर्युपरिस्थिता इति ।

उपसर्जनत्वादनभिसंबन्ध इति चेत्; न; दृष्टत्वात् ।५। स्यादेतत्–कल्पोपपन्ना इत्यत्र कल्पग्रहणमुपसर्जनं तेनात्र संबन्धो नोपपद्यते इति; तन्न; किं कारणम् ? दृष्टत्वात् । दृष्टो हि उपसर्जनीभूतस्यापि अर्थस्य बुद्ध्याऽपेक्षितस्य विशेषणेनाभिसंबन्धः । 'राजपुरुषोऽयम् । कस्य ? राज्ञः' इति, एवमिहापि प्रत्यासत्तेः बुद्ध्या उपसर्जनमपि कल्पग्रहणमभिसंबध्यते उपर्युपरि कल्पा इति[3] ।

अथ कल्पातीतेषु किमभिसंबध्यते ? विमानानि । यद्येवं कियत्सु कल्पविमानेषु[4] ते देवा भवन्ति इत्यत आह–

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाऽच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्ताऽपराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥

कथमेषां सौधर्मादीनां कल्पाभिधानम् ?

---

१ किमन्वात: अ०, मू०, ता० । २ –सर्जनभू –आ०, ब०, द०, मु० । ३ इत्यर्थः आ०, ब०, मु० । ४ –षु दे– अ० । ५ ब्रह्मलोक ब्र– अ०, मु० । ६ –सतार– आ०, ब०, द०, मू० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]**चातुरर्थिकेनाऽणा स्वभावतो वा कल्पाभिधानम्** ।१। चातुरर्थिकेन अणा स्वभावतो वा कल्पस्याभिधानं भवति । अथ कथमिन्द्राभिधानम् ?

स्वभावतः साहचर्याद्वा इन्द्राभिधानम् ।२। स्वभावतो वा साहचर्याद्वा इन्द्राभिधानं द्रष्टव्यम् । तत्कथमिति चेत् ? उच्यते–सुधर्मा नाम सभा, सा अस्मिन्नस्तीत्यण् सौधर्मः कल्पः, "**तदस्मिन्**" [जैनेन्द्र० ३।२।८८] इत्यण् तत्कल्पसाहचर्यादिन्द्रोऽपि सौधर्मः । ईशानो नाम इन्द्रः स्वभावतः, ईशानस्य निवासः कल्पः ऐशानः, *"**तस्य निवासः**" [जैनेन्द्र० ३।२।६०] इत्यण्, तत्साहचर्यादिन्द्रोऽपि ऐशानः । सनत्कुमारो नाम इन्द्रः स्वभावतः, तस्य निवासः कल्पः सानत्कुमारः, तत्साहचर्यादिन्द्रोऽपि सानत्कुमारः । महेन्द्रो नाम इन्द्रः स्वभावतः, तस्य निवासः कल्पः माहेन्द्रः, तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽपि माहेन्द्रः । ब्रह्मा इन्द्रः तस्य लोको ब्रह्मलोकः कल्पः, एवं ब्रह्मोत्तरश्च । ब्रह्मणः इन्द्रस्य निवासः ब्राह्म इति कल्पाभिधानं भवति, तत्साहचर्याद् ब्राह्म इतीन्द्रस्याऽभिधानम् । लान्तवस्य इन्द्रस्य निवासः लान्तवः कल्पः, तत्साहचर्याद्वा इन्द्रोऽपि लान्तवः । शुक्रस्य इन्द्रस्य निवासः शौक्रः कल्पः, तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽपि शौक्रः । अथवा शुक्रः कल्पः, तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽपि शुक्रः । शतारस्येन्द्रस्य निवासः शातार इति कल्पः, तत्साहचर्यादिन्द्रोऽपि शातारः, । अथवा शतारः कल्पः तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽपि शतारः[2] । सहस्रारस्याप्येवम् । आनतस्येन्द्रस्य निवासः आनतः कल्पः, तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽपि आनतः । अथवा आनतः कल्पः, तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽप्यानतः । प्राणतस्य इन्द्रस्य निवासः प्राणतः कल्पः तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽपि प्राणतः । अथवा प्राणतः कल्पः तत्सहचरित इन्द्रोऽपि प्राणतः । आरणस्य इन्द्रस्य निवासः आरणः कल्पः, तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽप्यारणः । अथवा आरणः कल्पः, तत्सहचरित इन्द्रोऽप्यारणः । अच्युतस्येन्द्रस्य निवासः आच्युतः कल्पः,तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽप्याच्युतः । अथवा अच्युतः कल्पः, तत्सहचरित इन्द्रोऽप्यच्युतः । लोकपुरुषस्य ग्रीवास्थानीयत्वात् ग्रीवाः, ग्रीवासु भवानि ग्रैवेयकाणि विमानानि, [3]तत्साहचर्यात् इन्द्रा अपि ग्रैवेयकाः । विजयादयोऽन्वर्थसंज्ञाः अभ्युदयविघ्नहेतुविजयात् । सर्वार्थानां सिद्धेश्च, विजयादीनि विमानानि, तत्साहचर्यात् इन्द्रा अपि विजयादिनामानः ।

अथ किमर्थं सर्वार्थसिद्धस्य पृथग्ग्रहणं न तैः सह द्वन्द्वः कर्तव्यः ?

सर्वार्थसिद्धस्य पृथग्ग्रहणं स्थित्यादिविशेषप्रतिपत्त्यर्थम् ।३। विजयादिषु चतुर्षु जघन्या स्थितिर्द्वात्रिंशत्सागरोपमाः साधिकाः; उत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः । सर्वार्थसिद्धे[4]जघन्योत्कृष्टा च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा[5] । यः प्रभावः सर्वार्थसिद्धे[6]कदेवस्य नासौ सर्वविजयादिदेवानाम् इत्येवमादिविशेषप्रतिपत्त्यर्थं विजयादिभ्यः सर्वार्थसिद्धस्य पृथग्ग्रहणं क्रियते ।

ग्रैवेयकादीनां पृथग्ग्रहणं कल्पातीतत्वनिर्ज्ञापनार्थम् ।४। *सौधर्मादयः अच्युतान्ता द्वादश कल्पाः, ततोऽन्ये कल्पातीता इत्येतस्य निर्ज्ञापनार्थं ग्रैवेयकादीनां पृथक् ग्रहणं क्रियते ।

नवशब्दस्य वृत्त्यकरणं अनुदिशसूचनार्थम् ।५। नवशब्दस्य ग्रैवेयकशब्देन वृत्तिः कर्तव्या नवग्रैवेयकेष्विति, तदकरणम् अन्यान्यपि नव सन्ति इत्येतस्य सूचनार्थम्, तेन अनुदिशसंग्रहः

---

१ तदस्मिन्नस्ति तेन निर्वृत्तः तस्य निवासोऽदूरभवो वेति । २ –तारः आन– श्र०, मू०, ता०, द० । ३ उपर्युपरि एकैकवृत्त्या व्यवस्थितानि सुदर्शनामोघसुप्रबुद्धयशोधरसुभद्रसुविशालसुमनःसौमनसप्रियङ्कराख्यानि नव भवन्ति । ४ –द्धेजघ– श्रा० । ५ –माः यः मू० । ६ –द्धयेकदे– ता०, ज०, मू० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृतो भवति। इतरथा हि लघ्वर्था वृत्तिः क्रियेत। किमिदमनुदिशमिति ? प्रतिदिशमित्यर्थः। दिक्शब्दस्य शरत्प्रभृतिषु[1] पाठात् 'डः (टः) अनुदिशं विमानानि अनुदिशविमानानि। आकारान्तो वा दिशाशब्दो दिक्पर्यायवाची इति तेनानोर्वृत्तिः[3]।

उपर्युपरीत्यनेन द्वयोर्द्वयोरभिसंबन्धः ।६। आगमाऽपेक्षया व्यवस्था भवति इति उपर्युपरीत्यनेन द्वयोर्द्वयोरभिसंबन्धो वेदितव्यः। प्रथमौ सौधर्मैशानकल्पौ, तयोरुपरि सानत्कुमारमाहेन्द्रौ। तयोरुपरि ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरौ। तयोरुपरि लान्तवकापिष्ठौ। तयोरुपरि शुक्रमहाशुक्रौ। तयोरुपरि शतारसहस्रारौ। तयोरुपरि आनतप्राणतौ। तयोरुपरि आरणाऽच्युतौ।

प्रत्येकमिन्द्रसंबन्धो मध्ये प्रतिद्वयम् ।७। प्रत्येकमिन्द्रसंबन्धो वेदितव्यः, मध्ये प्रतिद्वयम्। सौधर्मैशानकल्पयोर्द्वाविन्द्रौ। सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्द्वौ। ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयोरेकः [4]ब्रह्मा नाम। लान्तवकापिष्ठयोरेको लान्तवाऽऽख्यः। शुक्रमहाशुक्रयोरेकः शुक्रसंज्ञः। शतारसहस्रारयोरेकः शतारनामा। आनतप्राणतयोर्द्वौ। आरणाऽच्युतयोर्द्वौ।

तथा चोत्तरयोः पृथग्वचनमर्थवत् ।८। एवं कृत्वा उत्तरयोः पृथग्वचनमर्थवत् भवति—आनतप्राणतयोरारणाऽच्युतयोरिति। इतरथा हि लघ्वर्थ एक एव द्वन्द्वः क्रियेत। तद्यथा—अस्माद् भूमितलान्नवनवतिर्योजनसहस्राणि चत्वारिंशच्च योजनान्युत्पत्य[5] सौधर्मैशानकल्पौ भवतः। तयोरेकत्रिंशद् विमानप्रस्ताराः—ऋतु-चन्द्र-विमल-वल्गु-वीर-अरुण-नन्दन-नलिन-लोहित-काञ्चन-वञ्चन्-मारुत-ऋद्धीश-वैडूर्य-रुचक-रुचिर-अङ्क-स्फटिक-तपनीय-मेघ[6]-हारिद्र-पद्म-लोहिताक्ष-वज्र-नन्द्यावर्त-प्रभङ्कर-पिष्टक-गज-मस्तक-चित्रप्रभासंज्ञाः। मन्दरचूलिकाया उपरि ऋतुविमानम्, तयोरन्तरं बालाग्रमात्रम्। ऋतुविमानाच्चतसृषु दिक्षु चतस्रो विमानश्रेण्यो निर्गताः, प्रत्येकं द्विषष्टिविमानसंख्याः। विदिक्षु पुष्पप्रकीर्णकविमानानि। एवम् एकैकश्रेणीविमानहानिराप्रभाविमानाद्वेदितव्या। एकैकप्रस्तारान्तरमसंख्येयानि योजनशतसहस्राणि। तत्र प्रभासंज्ञादिन्द्रकविमानाद् दक्षिणस्यां दिशि श्रेण्यां द्वात्रिंशद्विमानसंख्यायामष्टादशं श्रेणीविमानं [7]तत्कल्पविमानम्। तस्य स्वस्तिक-वर्धमान-विश्रुताख्यास्त्रयः प्राकाराः। तत्र बाह्यप्राकारान्तरनिवासीनि अनीकानि पारिषदाश्च। मध्यप्राकारान्तरनिवासिन[8]स्त्रिदशसचिवाः, अभ्यन्तरप्राकारनिवासी देवराजः शक्रः सौधर्म इति चोच्यते। तस्य विमानस्य चतसृषु दिक्षु चत्वारि नगराणि—काञ्चन-अशोकमन्दिर-मसार-गल्वसंज्ञानि। तस्य द्वात्रिंशद्विमानशतसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत् त्रायस्त्रिंशाः, चतुरशीतिरात्मरक्षसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, चतुरशीतिः[9] सामानिकसहस्राणि, चत्वारो लोकपालाः, पद्मा शिवा सुजाता सुलसा अञ्जुका कालिन्दी श्यामा भानुरित्येता अष्टावग्रमहिष्यः। अन्यानि चत्वारिंशद्वल्लभिकानां देवीनां सहस्राणि। सर्वाश्चैता अग्रमहिष्यो वल्लभिकाश्च प्रत्येकं पञ्चपल्योपमस्थितिकाः षोडशदेवीसहस्रपरिवृताः। एकैका चाऽग्रमहिषी वल्लभिका च षोडशदेवीरूपसहस्रविकरणसमर्था। तत्र शक्रस्याभ्यन्तरपरिषत् समिता नाम, द्वादश-

---

१– षु उपादाना पाठात् – अ० ।– षु उपादानात् अ– आ०, ब०, द०, मु०। "हे शरदादेः" जैनेन्द्र० ४।२।१०६। २–डः मू०। ३ अनुशब्दस्य समासः –स०। तानि लक्ष्मीलक्ष्मीमालिकवैरेवकरोचनकसोमसोमरूप्याङ्कपल्यङ्कादित्याख्यानि मध्यभूतेन्द्रकविमानस्य अष्टदिगानुगत्येन भवनादन्वर्थानि इति ज्ञातव्यम्। तत्साहचर्यादिन्द्रा अपि अनुदिशाख्याः प्रोच्यन्ते। ४ ब्रह्मनामा आ०, ब०, द०, मू०। ५– त्प्लुत्य आ०, ब०, द०, मू०। ६ –मेघाब्रहा– अ०। ७ सौधर्म। ८ –सिनस्त्रायस्त्रिंशाः विमानाभ्य– आ०, ब०, द०, मू०। ९ –तिसा– अ०, मू०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहस्राणि देवानां पञ्चपल्योपमायुषाम्। चन्द्रा नाम मध्यपरिषत् चतुर्दशसहस्राणि देवानां चतुःपल्योपमायुषाम्। जातुर्नाम बाह्यपरिषत् षोडशसहस्राणि देवानां त्रिपल्योपमायुषाम्। आभ्यन्तरपरिषदि देवानामेकैकस्य देवस्य देव्यः सप्तशतसंख्या अर्धतृतीयपल्योपमस्थितयः। मध्यमपरिषदि देवानामेकैकस्य देवस्य देव्यः षट्शतसंख्याः द्विपल्योपमस्थितयः। बाह्यपरिषदि देवानामेकैकस्य देवस्य देव्यः पञ्चशतसंख्याः अध्यर्धपल्योपमस्थितयः, तावद्देवीरूपविकरणसमर्थाः। अष्टानामपि अग्रमहिषीणामभ्यन्तरपरिषत् सप्तदेवीशतानि। मध्यमपरिषत् षड्देवीशतानि। बाह्यपरिषत् पञ्चदेवीशतानि। एतासु तिसृषु अपि परिषत्सु देव्यः अर्धतृतीयपल्योपमस्थितयः। पदात्यश्वगजवृषभरथनर्तकीगन्धर्वाख्यानि सप्तानीकानि पल्योपमस्थितीनि। अनीकमहत्तराश्च पल्योपमायुषः। तत्र वायुर्नाम पदात्यनीकमहत्तरः सप्तभिः कक्षाभिः परिवृतः। प्रथमा कक्षा चतुरशीतिः पदातिशतसहस्राणि। द्वितीया तद्द्विगुणा। एवं द्विगुणा[1] द्विगुणा पदातिसंख्या आसप्तम्याः। हरिरश्वानीकमहत्तरः। ऐरावतो गजानीकमहत्तरः। दामयष्टिर्वृषभानीकमहत्तरः। मातली रथानीकमहत्तरः। नीलाञ्जना नर्तकीगणमहत्तरिका। अरिष्टयशस्को नाम [2]गन्धर्वानीकमहत्तरः। एषां षण्णामप्यनीकानां संख्या पदातिसंख्यया तुल्या, सैषा विक्रियाकृता। प्राकृती तु एकैकस्यानीकस्य षट्छतसंख्या। तेषां प्राकृतानां देवानां प्रत्येकं षट्छतसंख्यानामेकैकस्य देवस्य षट्देवीशतानि। एकैका चात्र देवी षड्देवीरूपविकरणसमर्था अर्धपल्योपमस्थितिका। सप्तानामप्यनीकमहत्तराणामेकैकस्य षट्देवीशतानि। एकैका चात्र देवी देवीषड्रूपविकरणसमर्था अर्धपल्योपमस्थितिका। आत्मरक्षाणां चतुरशीतिसहस्रसंख्यानां पल्योपमायुषामेकैकस्य द्वे द्वे देवीशते। एकैका चात्र देवी षड्देवीरूपविकरणसमर्था अर्धपल्योपमस्थितिका। शक्रस्य बालको नामाऽऽभियोग्यः पल्योपमायुः, जम्बूद्वीपप्रमाणायामयान[3]विमानविक्रियासमर्थः। तस्य षड्देवीशतानि। एकैका चात्र षड्देवीरूपविकरणसमर्था अर्धपल्योपमस्थितिका। प्राच्यां दिशि स्वयंप्रभे विमाने सोमो लोकपालः अर्धतृतीयपल्योपमायुः। तस्य चत्वारि सामानिकसहस्राणि अर्धतृतीयपल्योपमायूंषि। चत्वारि देवीसहस्राणि अर्धतृतीयपल्योपमायूंषि[4]। चतस्रोऽग्रमहिष्यः अर्धतृतीयपल्योपमायुषः। सोमस्याभ्यन्तरपरिषत् ईषा नाम पञ्चपञ्चाशद्देवाः सपादपल्योपमायुषः। दृढा नाम मध्यमपरिषत् चत्वारि देवशतानि सपादपल्योपमायूंषि। चतुरन्ता नाम बाह्यपरिषत् पञ्चदेवशतानि सपादपल्योपमायूंषि। अपाच्यां दिशि वरज्येष्ठे विमाने यमो नाम लोकपालः। [5]शेषं सोमवत्। प्रतीच्यां दिशि अञ्जने विमाने वरुणो नाम लोकपालः पादोनत्रिपल्योपमायुः। ईषा नाम तस्याऽभ्यन्तरपरिषत् षष्टिर्देवा अध्यर्धपल्योपमायुषः। मध्या दृढा पञ्चदेवशतानि देशोनाध्यर्धपल्योपमायूंषि। बाह्या चतुरन्ता षड्देवशतानि देशाधिकाध्यर्धपल्योपमायूंषि। तिसृष्वपि परिषत्सु स्वभर्तृस्थितयो देव्यः। शेषं सोमवत्। उदीच्यां दिशि वल्गुविमाने वैश्रवणो नाम लोकपालः त्रिपल्योपमायुः, तस्याऽभ्यन्तरपरिषत् ईषा, सप्ततिर्देवाः अध्यर्धपल्योपमायुषः। मध्या दृढा षड्देवशतानि देशोनाध्यर्धपल्योपमायूंषि। बाह्या चतुरन्ता सप्तदेवशतानि सपादपल्योपमायूंषि। तिसृष्वपि परिषत्सु [6]स्वभर्तृस्थितयो देव्यः।

---

१ –णद्विगु– अ०। २ गान्धर्वानी– अ०। ३– णायामविमा– द०। –णयानवि– आ०, ब०, मु०। ४ –यूंषि चतुर्णामपि लोकपालानां चत– आ०, ब०, द०, मू०। ५ शेषः सो– ता०, अ०। ६ स्वभर्तृस्थित्यर्धस्थितयो ता०, अ०, मु०, द०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शेषं सोमवत् । चतुर्णामपि लोकपालानामेकैकस्यार्धचतुर्थकोटीसंख्या अप्सरसः । सौधर्मेन्द्रकविमानानाम् एकत्रिंशच्छ्रेणीविमानानां चत्वारि सहस्राणि त्रीणि शतानि एकसप्तत्यधिकानि । पुष्पप्रकीर्णकविमानानाम् एकत्रिंशच्छतसहस्राणि पञ्चनवतिः सहस्राणि पञ्चशतान्यष्टनवत्यधिकानि । तान्येतानि समुदितानि द्वात्रिंशद्विमानशतसहस्राणि भवन्तीत्युक्तः सौधर्मकल्पः ।

तथा तस्मात् प्रभाविमानात् उदक्छ्रेण्यां द्वात्रिंशद्विमानविरचितायां यदष्टादशं [1]तत्कल्पविमानम् । तस्य परिवारवर्णना पूर्ववद्वेदितव्या । [2]तस्याधिपतिः–ऐशानो देवराजः । यस्याऽष्टाविंशतिर्विमानशतसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवाः, अशीतिः सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, अशीतिरात्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपालाः । श्रीमती सुसीमा वसुमित्रा वसुन्धरा जया जयसेना अमला प्रभा चेत्यष्टावग्रमहिष्यः सप्तपल्योपमस्थितयः । द्वात्रिंशद्वल्लभिकासहस्राणि सप्तपल्योपमायूंषि । अभ्यन्तरपरिषत्समिता दशदेवसहस्राणि सप्तपल्योपमायूंषि । चन्द्रा मध्यमा परिषत् द्वादशदेवसहस्राणि षट्पल्योपमायूंषि । [3]जातुर्बाह्यपरिषत् चतुर्दशदेवसहस्राणि पञ्चपल्योपमायूंषि । लघुपराक्रमः पदात्यनीकमहत्तरः, अमितगतिः अश्वानीकमहत्तरः, द्रुमकान्तो वृषभानीकमहत्तरः, किन्नरो रथानीकमहत्तरः, पुष्पदन्तो गजानीकमहत्तरः, गीतयशा गन्धर्वानीकमहत्तरः, श्वेता नर्तकीगणमहत्तरिका । तत्र पदात्यनीकमहत्तरस्य प्रथमा कक्षा अशीतिर्देवसहस्राणि, द्वितीया तद्द्विगुणा, एवं द्विगुणा द्विगुणा आ सप्तम्याः । एवं शेषाणामप्यनीकानां विक्रियासंख्या । त एते सर्वे अनीकदेवाः तन्महत्तराश्च साधिकपल्योपमायुषः । ऐशानस्य दक्षिणस्यां दिशि समे विमाने सोमो नाम लोकपालः, अर्धपञ्चपल्योपमायुः । तस्याभ्यन्तरपरिषत् षष्टिर्देवाः । मध्यमपरिषत् पञ्चदेवशतानि । बाह्यपरिषत् षड्देवशतानि सप्त च देवाः । अपरस्यां दिशि सर्वतोभद्रे यमो लोकपालः [4]अर्धपञ्चमपल्योपमायुः । शेषः सोमवत् । उत्तरस्यां दिशि सुभद्रे वरुणो लोकपालः पञ्चपल्योपमायुः । तस्याभ्यन्तरपरिषदशीतिर्देवाः । मध्यमपरिषत् सप्तदेवशतानि । बाह्यपरिषदष्टौ देवशतानि । पूर्वस्यां दिशि अमिते विमाने वैश्रवणो लोकपालः पादोनपञ्चपल्योपमायुः । तस्याभ्यन्तरपरिषत् सप्ततिर्देवाः । मध्यमपरिषत् षड्देवशतानि । बाह्यपरिषत् सप्तदेवशतानि । ईशानस्य पुष्पको नाम आभियोग्यो देवः बालकतुल्यः जम्बूद्वीपप्रमाणपुष्पकयानविमानविकरणसमर्थः । शेषः शक्रवन्नेयः । एवमुत्तरश्रेणिविमानपुष्पकप्रकीर्णकाधिपतिरीशानो वर्णितः ।

प्रभाविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनसहस्राणि उत्पत्य सानत्कुमारमाहेन्द्रकल्पौ भवतः । तयोः सप्तविमानप्रस्ताराः– अञ्जन-वनमाल-नाग-गरुड-लाङ्गल-बलभद्र-चक्राभिधानाः । तत्राञ्जनविमानाच्चतसृष्वपि दिक्षु चतस्रो विमानश्रेण्यो निर्गताः । विदिक्षु पुष्पप्रकीर्णकविमानानि । तत्रैकैकस्यां विमानश्रेण्याम् एकत्रिंशद्विमानानि[5] एकैकहीनान्याचक्रात् । तेषामन्तराण्यपि बहूनि योजनशतसहस्राणि । चक्राख्यादन्तविमानाद् दक्षिणश्रेण्यां पञ्चविंशतिविमानविराजितायां पञ्चदशं कल्पविमानं सौधर्मकल्पविमानसदृशम् । तस्याधिपतिः सानत्कुमारो देवराजः । [6]तस्य द्वादशविमानशत-

---

१ ईशान । २ तस्य पतिः आ०, ब०, द०, मू० । ३ जातु–भा० २ । ४ अर्धपञ्च–आ०, ब०, द०, मू०, ता०, मू० । ५–नि एवंश्रेणीविमानानि एकैक– आ०, ब०, द०, मु०, ता०, मू० । ६ यस्य आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता० ।

सहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवाः, द्विसप्ततिः सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, द्विसप्ततिः आत्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपालाः। अष्टावग्रमहिष्यः शक्राग्रमहिषीसमाना नवपल्योपमायुषः। एकैका [1]चात्राऽष्टाभिः देवीसहस्रैः परिवृताः द्वात्रिंशद्देवीसहस्रविकरणसमर्थाः। अष्टावन्यानि वल्लभिकानां सहस्राणि तावदायुर्विकरणसमर्थानि। समिताऽभ्यन्तरपरिषदष्टौ देवसहस्राणि साधिकार्धचतुर्थसागरोपमायूंषि। चन्द्रा मध्यमपरिषद् दशदेवसहस्राणि[2] साधिकार्धचतुर्थसागरोपमायूंषि। [3]जातुर्बाह्यपरिषत् द्वादशदेवसहस्राणि साधिकार्धचतुर्थसागरोपमायूंषि। अभ्यन्तरपरिषद्देवानाम् एकैकस्य सप्तदेवीशतानि पञ्चपल्योपमायूंषि। मध्यमपरिषद्देवानाम् एकैकस्य षड्देवीशतानि पञ्चपल्योपमायूंषि। बाह्यपरिषद्देवानाम् एकैकस्य पञ्चदेवीशतानि पञ्चपल्योपमायूंषि। सर्वाणि च तानि तावद्विक्रियासमर्थानि। तस्यानीकमहत्तराः शक्रानीकमहत्तरसमाना[4] अर्धचतुर्थसागरोपमायुषः। पदातीनां प्रथमकक्षा द्विसप्ततिसहस्राणि। द्वितीया तद्द्विगुणा। एवं द्विगुणा द्विगुणा आ सप्तम्याः। तथा शेषेष्वपि षट्सु अनीकेषु अनीकमहत्तराणामेकैकस्य त्रीणि देवीशतानि पञ्चपल्योपमायूंषि। आत्मरक्षदेवानाम् एकैकस्य देवीशतं पञ्चपल्योपमायुः। [5]बालकनामाभियोग्यदेवस्याऽऽयुः अर्धचतुर्थानि सागरोपमाणि। त्रीणि देवीशतानि पञ्चपल्योपमायूंषि। पूर्वादिषु दिक्षु स्वयंप्रभ-वरज्येष्ठ-स्वयंजन-वल्गुविमानवासिनः सोमयमवरुणवैश्रवणाः चत्वारो लोकपालाः। एषामेकैकस्य दश दश सामानिकशतानि, दशदशदेवीशतानि, चतस्रोऽग्रमहिष्यः, तिस्रः परिषदः। सागरोपमत्रयस्थिती सोमयमौ। पादाधिकतावदायुर्वरुणः। अर्धाधिकतावदायुर्वैश्रवणः। सोमयमयोरभ्यन्तरपरिषच्चत्वारिंशद् देवाः। मध्यमपरिषत् त्रीणि देवशतानि। बाह्यपरिषच्चत्वारि देवशतानि। वरुणस्याऽभ्यन्तरपरिषत्पञ्चाशद् देवाः। मध्या चत्वारि देवशतानि। बाह्या पञ्चदेवशतानि। वैश्रवणस्य अभ्यन्तरपरिषत् षष्टिर्देवाः। मध्या पञ्चदेवशतानि। बाह्या परिषत् षड्देवशतानि। चतसृष्वपि अभ्यन्तरपरिषत्सु देवानामायुः त्रीणि सागरोपमाणि। एकैकस्य देवीशतम्। चतसृष्वपि मध्यमपरिषत्सु देवानामायुः देशोनानि त्रीणि सागरोपमाणि। एकैकस्य[6] पञ्चसप्ततिर्देव्यः। चतसृष्वपि बाह्यपरिषत्सु देवा अर्धतृतीयसागरोपमायुषः, एकैकस्य पञ्चाशद् देव्यः।

तस्माच्चक्रविमानादुत्तरस्यां दिशि श्रेण्यां पञ्चविंशतिविमानमण्डितायां पञ्चदशं कल्पविमानं पूर्वोक्तवर्णनम्। तस्येश्वरो महेन्द्रो देवराजः। यस्याऽष्टौ विमानशतसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवाः, सप्ततिः सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्ततिरात्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपालाः, ऐशानाग्रमहिषीतुल्यसंज्ञा अष्टावग्रमहिष्यः एकादशपल्योपमायुषः। अष्टौ चास्य वल्लभिकानां सहस्राणि तावदायूंषि। शेषः सानत्कुमाराग्रमहिषीवल्लभिकावत्। समिताऽभ्यन्तरपरिषत् षड्देवसहस्राणि। चन्द्रा मध्यमपरिषत् अष्टौ देवसहस्राणि। जातुर्बाह्यपरिषत् दशदेवसहस्राणि। तिसृष्वपि परिषत्सु देवानां सानत्कुमारपरिषद्देवस्थितेरधिका स्थितिः। शेषो देवीगणपरिमाणायुर्विक्रियासामर्थ्यादिविधिः सानत्कुमारपरिषद्वत्। अनीकमहत्तराणामाख्या ऐशानवद्वेदितव्याः। पदात्यनीकस्य प्रथमकक्षा सप्ततिर्देवसहस्राणि, द्वितीया तद्द्विगुणा, एवं द्विगुणा द्विगुणा आ सप्तम्याः। तथा शेषेष्वपि षट्सु

१ –ष्टाचशभिर्दे– आ०, ब०, द०, मु०। २ –णि अर्धचतु– ता०, श्र०, मू०। ३ चातुर्बा– भा० २। ४ नाम्ना। ५ बालकविमानाभि– आ०, ब०, द०, मु०, मू०। ६ – स्य सप्तति– आ०, ब०, द०, मु०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनीकेषु । अनीकमहत्तराणाम् एकैकस्य त्रीणि देवीशतानि । एकैका चाऽत्र सप्तपल्योपमस्थितिका । आत्मरक्षाणामायुः साधिकार्धचतुर्थानि सागरोपमाणि । एकैकस्य सप्तपल्योपमायुषां देवीनां शतम् । दक्षिणादिषु दिक्षु सम-सर्वतोभद्र-सुभद्र-समितविमानवासिनः सोमयमवरुणवैश्रवणलोकपालाः । एकैकस्य दश दश सामानिकशतानि, तावत्संख्या देव्यः, चतस्रोऽग्रमहिष्यः, तिस्रः परिषदः । तत्रार्धचतुर्थसागरोपमस्थितिर्वरुणः, तदूनस्थितिर्धनदः, ततोऽप्यूनस्थिती सोमयमौ, सोमयमयोरभ्यन्तरपरिषत् पञ्चाशद् देवाः। मध्या चत्वारि देवशतानि । बाह्या पञ्चदेवशतानि । वैश्रवणस्याऽभ्यन्तरपरिषत् षष्टिर्देवाः । मध्या पञ्चदेवशतानि । बाह्या षड्देवशतानि । वरुणस्याभ्यन्तरपरिषत्सप्ततिर्देवाः । मध्या षड्देवशतानि । बाह्या सप्तदेवशतानि । लोकपालचतुष्टयाभ्यन्तरपरिषद्देवानामेकैकस्य देवीशतम् । मध्यमपरिषद्देवानां एकैकस्य सप्ततिर्देव्यः । बाह्यपरिषद्देवानाम् एकैकस्य पञ्चाशद्देव्यः । आयुश्च तेषां यथासंख्यं साधिकानि समानि देशोनानि च त्रीणि सागरोपमाणि । पुष्पकयानविमानाभियोग्यदेवः साधिकार्धचतुर्थसागरोपमायुः । तस्य देवानां साधिकद्विसागरायुषां शतम् ।

चक्रविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरकल्पौ स्तः । तयोश्चत्वारो विमानप्रस्ताराः--अरिष्टो देवसमितो ब्रह्म ब्रह्मोत्तर इति । अरिष्टविमानाच्च चतसृष्वपि दिक्षु चतस्रो विमानश्रेण्यो निर्गताः चतुर्विंशतिविमानगणनाः । विदिक्षु पुष्पप्रकीर्णकानि । एवमेकैकश्रेणिविमानहान्यानेतव्या आ ब्रह्मोत्तरात् । तेषां प्रस्ताराणामन्तराण्यपि बहूनि योजनशतसहस्राणि । ब्रह्मोत्तरविमानाद् दक्षिणश्रेण्याम् एकविंशतिविमानविराजितायां द्वादशं कल्पविमानं पूर्वोक्तवर्णनम् । तस्याधिपतिः ब्रह्मो (ह्मा) देवराजः। यस्य साधिके द्वे विमानशतसहस्रे, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशाः देवाः, षट्त्रिंशत् सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, षड्त्रिंशदात्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपालाः । पद्मादयः शक्राग्रमहिषीतुल्यसंज्ञा अष्टावग्रमहिष्यः त्रयोदशपल्योपमस्थितयः चतुर्देवीसहस्रपरिवृताः । द्वे च वल्लभिकासहस्रे त्रयोदशपल्योपमस्थितिके । एकैकाग्रमहिषी वल्लभिका चतुष्षष्टिदेवीरूपसहस्रविकरणसमर्था । समिताभ्यन्तरपरिषत् चत्वारि देवसहस्राणि अष्टसागरोपमायूंषि । चन्द्रा मध्यमपरिषत् षड्देवसहस्राणि देशोनाष्टसागरोपमायूंषि । जातुर्बाह्या अष्टौ देवसहस्राणि अष्टसागरोपमायूंषि । अभ्यन्तरपरिषद्देवानामेकैकस्य पञ्चाशद् देव्यः । मध्यमपरिषद्देवानां चत्वारिंशद् देव्यः । बाह्यपरिषद्देवानां त्रिंशद् देव्यः । वाय्वादयः सप्तानीकमहत्तरा अर्धाष्टमसागरोपमायुषः । तत्र वायोः पदात्यनीकमहत्तरस्य प्रथमकक्षा षट्त्रिंशत्सहस्राणि, द्वितीया तद्द्विगुणा, एवं द्विगुणा द्विगुणा आ सप्तम्याः । सर्वेषामनीकमहत्तराणामेकैकस्य अर्धतृतीयानि देवीशतानि । चतस्रोऽग्रमहिष्यः । आत्मरक्षदेवानामायुः अर्धाऽष्टमानि सागरोपमाणि । एकैकस्य पञ्चाशद् देव्यः । बालकाभियोग्यदेवोऽपि तावदायुर्देवीकः । पूर्वादिषु दिक्षु स्वयंप्रभवरज्येष्ठस्वयंजनवल्गुविमाननिवासिनः सोमयमवरुणवैश्रवणा लोकपालाः । तेषामेकैकस्य पञ्च सामानिकशतानि, पञ्च देवीशतानि, चतस्रोऽग्रमहिष्यः । अर्धाष्टमसागरोपमायुर्धनदः । तदूनायुर्वरुणः । ततोऽप्यूनस्थिती सोमयमौ । सोमयमयोरभ्यन्तरपरिषत् त्रिंशद्देवाः। मध्या द्वे देवशते । बाह्या त्रीणि देवशतानि । वरुणस्याभ्यन्तरपरिषच्चत्वारिंशद् देवाः । मध्या त्रीणि देवशतानि । बाह्या चत्वारि देवशतानि । वैश्रवणस्याभ्यन्तरपरिषत् पञ्चाशद् देवाः । मध्या चत्वारि देवशतानि । बाह्या पञ्च देवशतानि । चतसृषु अभ्यन्तरपरिषत्सु देवानामायुरष्टौ सागरोपमाणि । मध्यमपरिषद्देवानां देशोनान्यष्टौ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सागरोपमाणि । बाह्यपरिषद्देवानां तान्येवार्धाष्टमानि । तेषां देव्यो यथासंख्यं पञ्चाशच्चत्वारिंशत् त्रिंशच्च वेदितव्याः ।

ब्रह्मोत्तरादुत्तरश्रेण्यामेकविंशतिविमानायां द्वादशं कल्पविमानं पूर्ववत् । तस्याधिपतिः ब्रह्मोत्तरः । यस्य न्यूने द्वे विमानशतसहस्रे, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवाः, द्वात्रिंशत्सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, द्वात्रिंशदात्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपालाः, ऐशानेन्द्राग्रमहिषीतुल्यसंज्ञा अष्टावग्रमहिष्यः पञ्चदशपल्योपमायुषः, द्वे च वल्लभिकासहस्रे तावदायुषी । अवशिष्टं ब्रह्मेन्द्रवत् । ब्रह्मोत्तरस्याभ्यन्तरपरिषत् समिता द्वे देवसहस्रे । चन्द्रा मध्या चत्वारि देवसहस्राणि । जातुर्बाह्या षड्देवसहस्राणि । अवशिष्टं ब्रह्मेन्द्रपरिषद्वत् । पुष्पकाभियोग्योऽपि तद्वदेव । पदात्यनीकस्य प्रथमकक्षा द्वात्रिंशद् देवसहस्राणि । इतरद् ब्रह्मेन्द्रवत् । आत्मरक्षाश्च तद्वदेव । दक्षिणादिदिक्षु सोमादयो लोकपाला ब्रह्मेन्द्रवज्ज्ञेयाः ।

ब्रह्मोत्तरविमानादूर्ध्वं बहुयोजनशतसहस्राणि उत्पत्य[1] लान्तवकापिष्ठौ कल्पौ भवतः । ययोर्द्वौ विमानप्रस्तारौ ब्रह्महृदयलान्तवाख्यौ । तत्र लांतवविमानाद् दक्षिणश्रेण्याम् एकान्नविंशतिविमानविरचितायां नवमं कल्पविमानं पूर्वोक्तपरिवारम् । तस्याधिपतिर्लान्तवो नाम देवराजः । यस्याधिकानि पञ्चविंशतिविमानसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत् त्रायस्त्रिंशा देवाः, चतुर्विंशतिः सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, चतुर्विंशतिरात्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपालाः, शक्राग्रमहिषीसमानसंज्ञा अष्टावग्रमहिष्यः सप्तदशपल्योपमायुषः, प्रत्येकं द्वाभ्यां देवीसहस्राभ्यां परिवृताः । अन्यानि च वल्लभिकानां तावदायुषां पञ्चशतानि । एकैका [2]चात्राग्रमहिषी वल्लभिका च एकं देवीशतसहस्रमष्टाविंशतिं च देवीसहस्राणि विकरोति । समिताऽभ्यन्तरपरिषत् एकं देवसहस्रम् । तत्रैकैकस्य साधिकानि दशसागरोपमाणि आयुः, सप्ताशीतिश्च देव्यः । मध्या चन्द्रा द्वे देवसहस्रे । अत्रैकैकस्य देशोनानि दशसागरोपमाण्यायुः, पञ्चसप्ततिश्च देव्यः । जातुर्बाह्या चत्वारि देवसहस्राणि । तत्रैकैकस्य मध्यपरिषद्देवायुषः किञ्चिन्न्यूनमायुः, त्रिषष्टिश्च देव्यः । बालकाभियोग्यो बाह्यपरिषत्समायुः, षष्टिश्चास्य देव्यः । अनीकानां तन्महत्तराणां चायुः मध्यमपरिषदायुषः किञ्चिन्न्यूनमायुः । सर्वेषां प्रथमकक्षा चतुर्विंशतिः सहस्राणि । ततो द्विगुणा द्विगुणा आ सप्तम्याः । तत्रैकैकस्य देवस्य महत्तरस्य च षष्टिर्देव्यः । पूर्वादिषु दिक्षु स्वयंप्रभ-वरज्येष्ठ-स्वयंजन-वल्गुविमाननिवासिनः सोमादयश्चत्वारो लोकपालाः । तत्रैकैकस्य चत्वारि सामानिकशतानि, अर्धतृतीयानि देवीशतानि, चतस्रोऽग्रमहिष्यः, तिस्रः परिषदः । जातुपरिषत्सदृशायुर्वैश्रवणः । ततो न्यूनायुर्वरुणः । ततो न्यूनायुषौ सोमयमौ । सोमयमयोरभ्यन्तरपरिषद्विंशतिर्देवाः, मध्या देवशतम्, बाह्या द्वे देवशते । वरुणस्याभ्यन्तरपरिषत्त्रिंशद् देवाः, मध्या द्वे देवशते, बाह्या त्रीणि देवशतानि । वैश्रवणस्याभ्यन्तरपरिषच्चत्वारिंशद् देवाः, मध्या त्रीणि देवशतानि, बाह्या चत्वारि देवशतानि । सर्वाभ्यन्तरपरिषद्देवानामायुरेकादशसागरोपमाणि । मध्यमपरिषद्देवानां तान्येव किञ्चिन्न्यूनानि । बाह्यपरिषद्देवानां ततोऽपि किञ्चिन्न्यूनानि । तेषां यथाक्रमं पञ्चविंशतिः विंशतिः पञ्चदशदेव्यः ।

[3]लान्तवविमानादुत्तरश्रेण्याम् एकान्नविंशतिविमानविराजितायां नवमं कल्पविमानं पूर्वोक्तवर्णनम् । तस्याधिपतिः कापिष्ठः । यस्योनानि पञ्चविंशतिः विमानसहस्राणि,

---

१ उत्प्लुत्य आ०, ब०, द०, मु० । २ चाग्रम- आ०, ब०, ०, मु० । ३ इन्द्रः ।

त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवाः, द्वाविंशतिः सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, द्वाविंशतिरात्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपालाः, श्रीमत्यादयोऽष्टावग्रमहिष्यः पञ्चशतसंख्याश्च वल्लभिका एकान्नविंशतिपल्योपमायुषः। अवशिष्टं लान्तवेन्द्रवत्, परिषदश्च। सर्वेषामनीकानां प्रथमकक्षा द्वाविंशतिसहस्राणि, इतरल्लान्तवेन्द्रवत्। आत्मरक्षादिविधिश्च तथैव ज्ञेयः। अयं तु विशेषः लान्तवेन्द्रजातुपरिषत्सदृशायुर्वरुणः। तत ऊनायुः वैश्रवणः। ततोऽप्यूनायुषौ सोमयमौ।

लान्तवविमानाद्बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य महाशुक्रो[1] नाम विमानप्रस्तारो भवति[2]। ततो महाशुक्रविमानात् दक्षिणश्रेण्याम् अष्टादशविमानपरिमण्डितायां द्वादशं कल्पविमानं पूर्वोक्तपरिवारम्। तस्याधिपतिः शुक्रो नाम देवराजः। यस्याधिकानि विंशतिर्विमानसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा[3] देवाः, चतुर्दश सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, चतुर्दशाऽऽत्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपालाः, पद्मादयोऽष्टावग्रमहिष्यः, एकैका चात्र दशभिर्देवीसहस्रैः परिवृता। वल्लभिकाश्च अर्धतृतीयशतसंख्याः। एकैका यत्राग्रमहिषी वल्लभिका चैकविंशतिपल्योपमायुः, द्वे देवीरूपशतसहस्रे षट्पञ्चाशतं च देवीरूपसहस्राणि विकरोति। समिताऽभ्यन्तरपरिषत् पञ्चदेवशतानि चतुर्दशसागरोपमायूंषि। तत्रैकैकस्य त्रिचत्वारिंशद् देव्यः। चन्द्रा मध्या एकं देवसहस्रं देशोनचतुर्दशसागरोपमायुः। तत्रैकैकस्याष्टात्रिंशद् देव्यः। जातुर्बाह्या द्वे देवसहस्रे मध्यमपरिषदूनायुषी। अत्रैकैककस्य पञ्चत्रिंशद् देव्यः। अनीकानां महत्तराणां च जातुवदायुः। सर्वेषां प्रथमकक्षा चतुर्दशदेवसहस्राणि, एकैकस्य पञ्चाशद् देव्यः। बालकाभियोग्योऽपि तावदायुर्देवीकः, आत्मरक्षाश्च। पूर्वादिषु दिक्षु स्वयंप्रभ-वरज्येष्ठ-स्वयंजन-वल्गुविमानवासिनः सोमादयश्चत्वारो लोकपालाः। धनदस्य जातुवदायुः, ततोऽप्यूनायुर्वरुणः, ततोऽप्यूनायुषौ सोमयमौ। तयोरभ्यन्तरपरिषदष्टदेवाः। मध्या पञ्चाशत्। बाह्या देवशतम्। वरुणस्याभ्यन्तरपरिषत् विंशतिर्देवाः। मध्या देवशतम्। बाह्या द्वे देवशते। वैश्रवणस्याभ्यन्तरपरिषद्विंशतिर्देवाः। मध्या द्वे देवशते। बाह्या त्रीणि देवशतानि। सर्वाभ्यन्तरपरिषद्देवानामायुः पञ्चदशसागरोपमाणि। मध्यमपरिषद्देवानामायुस्तान्येव देशोनानि। बाह्यपरिषद्देवानामायुः सार्धचतुर्दशसागरोपमाणि। तेषां यथाक्रमं विंशतिः पञ्चदश दश च देव्यो भवन्ति।

महाशुक्रविमानादुत्तरश्रेण्याम् अष्टादशविमानशोभितायां द्वादशं कल्पविमानम्। तस्याधिपतिः महाशुक्रः। यस्योनानि विंशतिर्विमानसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवाः, द्वादश सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, द्वादशात्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपालाः, श्रीमत्यादयोऽष्टावग्रमहिष्यः अर्धतृतीयशतसंख्याश्च वल्लभिकाः त्रयोविंशतिपल्योपमायुषः। शेषं शुक्रवत्। तिस्रोऽपि परिषदः शुक्रवदेव वेदितव्याः। अनीकानां प्रथमकक्षा द्वादशदेवसहस्राणि। शेषं शुक्रवत्। आत्मरक्षाणां पुष्पकाभियोग्यस्य च तथैव विधिः। दक्षिणादिषु दिक्षु सम-सर्वतोभद्र-सुभद्र-समितविमाननिवासिनः सोमाद-, यश्चत्वारो लोकपालाः। शुक्रजातुपरिषत्समस्थितिर्वरुणः। तत ऊनायुर्वैश्रवणः। ततोऽप्यूनायुषौ सोमयमौ। शेषं शुक्रवत्।

महाशुक्रविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य सहस्रार[4] एकविमानप्रस्तारो भवति। यत्र दक्षिणोत्तरौ शतारसहस्रारकल्पौ। तत्र सहस्रारविमानाद् दक्षिणश्रेण्यां सप्तदश-

---

१ इन्द्रक। २ –ति शुक्रमहाशुक्रौस्ततः ततो मा०, ब०, मु०। ३ –श देवाः म०। ४ इन्द्रक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विमानगणनायां नवमं कल्पविमानम् । तस्याधिपतिः शतारो नाम देवराजः । यस्याधिकानि त्रीणि विमानसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवाः, चत्वारि सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, चत्वारि आत्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपालाः, पद्मादयोऽष्टावग्रमहिष्यः पञ्चविंशतिपल्योपमायुषः । एकैका चात्र पञ्चभिर्देवीशतैः परिवृताः पञ्चदेवीरूपशतसहस्राणि द्वादशदेवीरूपसहस्राणि विकरोति । द्विषष्टिर्वल्लभिकास्तावदायुर्विक्रियाः । समिताऽभ्यन्तरपरिषदर्धतृतीयानि देवशतानि साधिकषोडशसागरोपमायूंषि । तेषामेकैकस्यैकविंशतिर्देव्यः । चन्द्रा मध्या पञ्चदेवशतानि देशोनषोडशसागरोपमायूंषि । तेषाम् एकैकस्याऽष्टादश देव्यः । जातुर्बाह्या एकं देवसहस्रं चन्द्रायुरूनायुः, तेषामेकैकस्य पञ्चदश देव्यः । सर्वेषामप्यनीकानां महत्तराणां च जातुवदायुः । प्रथमकक्षा चत्वारि देवसहस्राणि । एकैकस्य चत्वारिंशद् देव्यः । पूर्वादिषु दिक्षु स्वयंप्रभादिविमाननिवासिनः सोमादयश्चत्वारो लोकपालाः । जातुपरिषत्समायुर्वैश्रवणः । तत ऊनायुर्वरुणः, ततोऽप्यूनायुषौ सोमयमौ । तयोरभ्यन्तरपरिषत्पञ्चदेवाः । मध्या पञ्चविंशतिदेवाः । बाह्या पञ्चाशद् देवाः । वरुणस्याभ्यन्तरपरिषद् दशदेवाः । मध्या पञ्चाशद् देवाः । बाह्या देवशतम् । वैश्रवणस्याभ्यन्तरपरिषत् पञ्चदशदेवाः । मध्या देवशतम् । बाह्या द्वे देवशते । सर्वाभ्यन्तरपरिषद्देवानामायुः सप्तदशसागरोपमाणि । मध्यमपरिषद्देवानामायुः तान्येव देशोनानि । बाह्यपरिषद्देवानामायुः सार्धानि षोडशसागरोपमाणि । तेषां यथाक्रमं पञ्चदश दश पञ्चदेव्यो भवन्ति ।

सहस्रारविमानादुत्तरश्रेण्यां सप्तदशविमानभूषितायां नवमं कल्पविमानम् । तस्याधिपतिः सहस्रारः । यस्योनानि त्रीणि विमानसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवाः, द्वे सामानिकसहस्रे, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, द्वे आत्मरक्षसहस्रे, चत्वारो लोकपालाः, श्रीमत्यादयोऽष्टावग्रमहिष्यः सप्तविंशतिपल्योपमायुषः । शेषः शतारेन्द्रवत् । परिषदात्मरक्षाऽनीकाभियोग्यवर्णना च शतारेन्द्रवत् । अयं तु विशेषः—अनीकानां प्रथम[1]कक्षा द्वे देवसहस्रे । दक्षिणादिषु दिक्षु सम-सर्वतोभद्र-सुभद्र-समितविमाननिवासिनः सोमादयश्चत्वारो लोकपालाः । तेषामेकैकस्य द्वे सामानिकदेवशते[2], त्रिषष्टिर्देव्यः, चतस्रोऽग्रमहिष्यः, तिस्रः परिषदः । शेषः शतारेन्द्रवत् । शतारेन्द्रजातुपरिषत्सदृशायुर्वरुणः । ततो न्यूनायुर्धनदः । ततो न्यूनायुषौ सोमयमौ । शेषः शतारेन्द्रवत् ।

सहस्रार[3]विमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य[4] आनतप्राणतारणाच्युतकल्पाः सन्ति । तत्र षड्विमानप्रस्ताराः—आनत-प्राणत-पुष्पक-सातक-आरण-अच्युतसंज्ञकाः । तत्रानतविमानाच्चतसृष्वपि दिक्षु चतस्रो विमानश्रेण्यो निर्गताः । विदिक्षु पुष्पप्रकीर्णकानि । तत्रैकैकस्यां विमानश्रेण्यां षोडशश्रेणिविमानानि । एवमौपरिष्टेषु पञ्चसु विमानप्रस्तारेषु एकैकश्रेणिविमानहानिर्वेदितव्या । तत्रारणाच्युतविमानाद् दक्षिणश्रेण्याम् एकादशविमानविरचितायां षष्ठं कल्पविमानम् । तस्याधिपतिरारणो नाम देवराजः । यस्याधिकान्यर्धचतुर्थानि विमानशतानि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायत्रिंशा देवाः, दश सामानिकशतानि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, दशात्मरक्षशतानि, चत्वारो लोकपालाः, पद्मादयोऽष्टावग्रमहिष्यः अष्टचत्वारिंशत्पल्योपमायुषः । एकैका चात्राऽर्धतृतीयैः[5]

---

१ –कक्ष्या द्वे ता०, मू०, श्र० । २ –ते च– श्रा०, ब०, द०, मू० । ३ इन्द्रक । ४ –त्य सन्ति तत्र ता०, श्र०, मू० । ५ पञ्चाशदधिकद्विशतैः ।

देवीशतैः परिवृता दशदेवीरूपशत[1]सहस्राणि चतुर्विंशतिं च देवीरूपसहस्राणि विकरोति। वल्लभिकाश्च पञ्चदश तावदायुर्विक्रियाः। समिताऽभ्यन्तरपरिषत् पञ्चविंशतिर्देवशतम्। तत्रैकैकः साधिकविंशतिसागरोपमायुर्दशदेवीकः। चन्द्रा मध्या, अर्धतृतीयानि देवशतानि। तत्रैकैकः देशोनविंशतिसागरोपमस्थितिरष्टदेवीकः। जातुर्बाह्या पञ्चदेवशतानि। तत्रैकैकः अर्धविंशतिसागरोपमस्थितिः षड्देवीकः। अनीकानां प्रथमकक्षा[2] एकं देवसहस्रम्। सर्वेषां देवानां तन्महत्तराणां च एकैकस्य त्रिंशद् देव्यः। आत्मरक्षाणां च त्रिंशत्। बालकाभियोग्यस्य चन्द्रायुषः ऊनमायुः, त्रिंशद् देव्यः। पूर्वादिषु दिक्षु स्वयंप्रभादिविमाननिवासिनः सोमादयश्चत्वारो लोकपालाः। तेषामेकैकस्य सामानिकशतम्। द्वात्रिंशद् देव्यः, चतस्रोऽग्रमहिष्यः, तिस्रः परिषदः। जातुसमानायुर्वैश्रवणः। ततो[3] न्यूनायुर्वरुणः। ततो न्यूनायुषौ सोमयमौ। तयोरभ्यन्तरपरिषत्त्रयो देवाः। मध्या द्वादश। बाह्या पञ्चविंशतिः। वरुणस्याभ्यन्तरपरिषत् पञ्चदेवाः। मध्या पञ्चविंशतिः। बाह्या पञ्चाशत्। वैश्रवणस्याभ्यन्तरपरिषत् षड्देवाः। मध्या पञ्चाशत्। बाह्या शतम्। तेषां यथाक्रमम् एकविंशतिसागरोपमाणि तान्येव देशोनानि तान्येव चार्धोनान्यायुरवगन्तव्यम्, सप्त पञ्च तिस्रश्च देव्यो ज्ञेयाः।

आरणाच्युतविमानादुत्तरश्रेण्याम् एकादशविमानविभूषितायां षष्ठं कल्पविमानम्। तस्याधिपतिरच्युतो नाम देवराजः। यस्योनान्यर्धचतुर्थानि विमानशतानि। त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवाः। दश सामानिकशतानि। तिस्रः परिषदः। सप्तानीकानि। दश आत्मरक्षशतानि। चत्वारो लोकपालाः। श्रीमत्यादयोऽष्टावग्रमहिष्यः पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमायुषः, वल्लभिकाश्च पञ्चदश तावदायुषः। अवशिष्टम् आरणेन्द्रवत्। परिषदादिविधिश्च तथैव नेयः। अयं तु विशेषः वरुणोऽधिकायुः। ततो न्यूनायुर्धनदः। ततोऽप्यूनायुषौ सोमयमौ।

त एते लोकानुयोगोपदेशेन चतुर्दशेन्द्रा उक्ताः। इह द्वादश इष्यन्ते[4] पूर्वोक्तेन क्रमेण ब्रह्मोत्तरकापिष्ठमहाशुक्रसहस्रारेन्द्राणां दक्षिणेन्द्रानुवर्तित्वात् आनतप्राणतकल्पयोश्च एकैकेन्द्रत्वात्।

सौधर्मविमानसंख्या प्रागुक्ता। ऐशानेऽष्टाविंशतिर्विमानशतसहस्राणि[5]। श्रेणिविमानानि चतुर्दशशतानि सप्तपञ्चाशानि। पुष्पप्रकीर्णकानां सप्तविंशतिः शतसहस्राणि अष्टनवतिः सहस्राणि पञ्चशतानि त्रिचत्वारिंशानि। सानत्कुमारे द्वादशविमानशतसहस्राणि। श्रेणिविमानानां पञ्चशतानि पञ्चनवत्यधिकानि। प्रकीर्णकानाम् एकादशशतसहस्राणि नवनवतिः सहस्राणि चत्वारि शतानि पञ्चोत्तराणि। माहेन्द्रेऽष्टौ विमानशतसहस्राणि। श्रेणिविमानानाम् एकं शतं षण्णवत्यधिकम्। प्रकीर्णकानां सप्तशतसहस्राणि नवनवतिसहस्राणि अष्टौ शतानि चतुरुत्तराणि। ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरकल्पयोः चत्वारि विमानशतसहस्राणि। श्रेणिविमानानां त्रीणि शतानि चतुःषष्ट्यधिकानि। प्रकीर्णकानां त्रीणि शतसहस्राणि नवनवतिः सहस्राणि षट्शतानि षट्त्रिंशानि। लान्तवकापिष्ठयोः पञ्चाशत्सहस्राणि। श्रेणिविमानानां शतम् अष्टपञ्चाशम्। प्रकीर्णकानामेकान्नपञ्चाशत्सहस्राणि

---

१ –शतसहस्राणि विकरोति आ०, ब०, द०, मु०। –२ कक्ष्या आ०, मू०, ता०। ३ ततोऽप्यूनायु– आ०। ४ "सोहम्मीसाणसणक्कुमारमाहिंदबम्हलंतवया। महसुक्कसहस्सारा आणद पाणद य आरणच्चुदया। एवं बारसकप्पा......" –त्रिलोकप्र० वैमानिक०। ५ तदेव विवृणोति। ६ तान्येव पृथग् पृथग् विवृणोति, एवमुत्तरत्रापि।

अष्टौ शतानि द्विचत्वारिंशानि । शुक्रमहाशुक्रयोः चत्वारिंशत्सहस्राणि । श्रेणिविमानानां त्रिसप्ततिः । प्रकीर्णकानाम् एकान्नचत्वारिंशत्सहस्राणि नवशतानि सप्तविंशानि । शतारसहस्रारकल्पयोः षड्विमानसहस्राणि । श्रेणिविमानानाम् एकान्नसप्ततिः । प्रकीर्णकानाम् एकान्नषष्टिशतानि एकत्रिंशानि । आरणाच्युतकल्पयोः सप्तविमानशतानि । श्रेणिविमानानां त्रीणि शतानि त्रिंशानि । प्रकीर्णकानां त्रीणि शतानि सप्तत्यधिकानि । [1]चतुर्दशस्वपि कल्पविमानेषु विमानसंख्या चतुरशीतिः शतसहस्राणि षण्णवतिः सहस्राणि सप्त च विमानशतानि ।

आरणाच्युतविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राण्युत्पत्य सन्ति तत्राधोग्रैवेयकविमानानि । येषु त्रयो विमानप्रस्ताराः सुदर्शनामोघसुप्रबुद्धाः । तत्र सुदर्शनेन्द्रकाच्चतसृष्वपि दिक्षु चतस्रो विमानश्रेण्यः । तत्रैकैकस्यां विमानश्रेण्यां दश विमानानि । सुदर्शनादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्याऽस्ति अमोघो नाम विमानप्रस्तारः । अत्रापि चतसृष्वपि दिक्षु चतस्रो विमानश्रेण्यो निर्गताः । अत्रैकस्यां विमानश्रेण्यां नवविमानानि । अमोघादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य अस्ति सुप्रबुद्धो नाम विमानप्रस्तारः । अत्रापि चतसृष्वपि दिक्षु चतस्रो विमानश्रेण्यो[2] विनिर्गताः । एकैकस्यां विमानश्रेण्याम् अष्टौ विमानानि । त्रिष्वप्येतेषु पुष्पप्रकीर्णकविमानानि न सन्ति । तान्येतान्येकादशोत्तरविमानशतम् । सुप्रबुद्धविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य सन्ति तत्र मध्यमग्रैवेयकविमानानि । येषु त्रयः प्रस्तारा यशोधरसुभद्रविशालाः । पूर्ववदत्रापि एकैकश्रेणिविमानहान्या पञ्चसप्तति[3]श्रेणिविमानानि । पुष्पप्रकीर्णकानि द्वात्रिंशत्[4] । तान्येतानि सप्तोत्तरं शतम् । सुविशालविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य सन्ति तत्रोपरिमग्रैवेयकविमानानि । येषु त्रयः प्रस्ताराः सुमनाः सौमनाः प्रीतिङ्कर इति । पूर्ववदत्राप्येकैकविमानहान्या एकान्नचत्वारिंशत् श्रेणिविमानानि । द्वापञ्चाशत्पुष्पप्रकीर्णकानि । तान्येतानि समुदितानि एकनवतिर्विमानानाम् ।

प्रीतिङ्करविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य सन्ति तत्राऽनुदिशविमानानि । येष्वेक एवाऽऽदित्यो नाम विमानप्रस्तारः । तत्र दिक्षु चत्वारि श्रेणिविमानानि । प्राच्यां दिशि अर्चिर्विमानम्, अपाच्यामर्चिमाली, प्रतीच्यां वैरोचनम्, उदीच्यां प्रभासम्, मध्ये आदित्याख्यम् । विदिक्षु पुष्पप्रकीर्णकानि चत्वारि–पूर्वदक्षिणस्यामर्चिप्रभम्, दक्षिणापरस्याम् अर्चिर्मध्यम्, अपरोत्तरस्याम् अर्चिरावर्तम्, उत्तरपूर्वस्यामर्चिर्विशिष्टम् । तान्येतानि नव ।

आदित्यविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य सन्ति तत्रानुत्तरविमानानि । यत्रैक एव सर्वार्थसिद्धसंज्ञो विमानप्रस्तारः । दिक्षु प्रदक्षिणानि विजयवैजयन्तजयन्तापराजितविमानानि चत्वारि, मध्ये सर्वार्थसिद्ध[5]संज्ञम् । पुष्पप्रकीर्णकानि न सन्ति ।

सौधर्मैशानयोः कल्पयोर्विमानानि सप्तविंशैकयोजनशतबाहल्यानि पञ्चयोजनशतोच्छ्रायाणि । सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु आनतप्राणताऽऽरणाऽच्युतेषु नवसु ग्रैवेयकेषु अनुदिशाऽनुत्तरेषु च विमानानां बाहल्यमेकैकयोजनविहीनम्, उच्छ्रायश्च एकैकयोजनशताधिको यथाक्रमं वेदितव्यः । तान्ये-

---

१ आनतप्राणतयोरन्यतरत्रान्तर्भावात् । २ –ण्यो नि– श्र०, मू० । ३ –तिःश्रे– श्रा०, ब०, द०, मु०, मू० । ४ द्वात्रिंशान्येतानि श्रा०, भा० २ । ५ –द्धिसं –श्रा०, ब०, मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तानि श्रेणीन्द्रप्रकीर्णकविमानानि कानिचित् संख्येययोजनशतविस्ताराणि। कानिचिदसंख्येययोजनशतविस्ताराणि। यानि संख्येयविस्ताराणि तानि संख्येययोजनशतसहस्रविस्ताराणि, यान्यसंख्येयविस्ताराणि तानि असंख्येययोजनशतसहस्रविस्ताराणि। सौधर्मैशानयोर्विमानानि पञ्चवर्णानि कृष्णनीलरक्तहारिद्रशुक्लवर्णानि। सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः चतुर्वर्णानि कृष्णहीनानि। ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु त्रिवर्णानि विमानानि कृष्णनीलवर्जितानि। शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्राराऽऽनतप्राणतारणाच्युतेषु द्विवर्णानि विमानानि हारिद्रशुक्लवर्णानि। ग्रैवेयकानुदिशानुत्तरविमानानि शुक्लवर्णान्येव। परमशुक्लं सर्वार्थसिद्ध[1]विमानम्।

एषामधिकृतानां वैमानिकानां देवानां परस्परतो विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥२०॥

स्वोपात्तायुष उदयात् स्थानं स्थितिः ।१। स्वेनोपात्तस्य देवायुषः उदयात्तस्मिन् भवे तेन शरीरेण स्थानं स्थितिरित्युच्यते।

शापानुग्रहलक्षणः प्रभावः ।२। शापोऽनिष्टापादनम्, अनुग्रह इष्टप्रतिपादनम्, तल्लक्षणः प्रवृद्धो भाव प्रभाव इत्याख्यायते।

सद्वेद्योदये सति इष्टविषयानुभवनं सुखम् ।३। सद्वेद्योदयमूलहेतौ सति बाह्यस्येष्टविषयस्य उपनिपाते तद्विषयमनुभवनं सुखमिति कथ्यते।

शरीरवसनाभरणादिदीप्तिर्द्युतिः ।४। शरीरस्य वसनस्याऽऽभरणादीनां च दीप्तिः द्युतिरिति उपाख्यायते।

लेश्याशब्द उक्तार्थः ।५। लेश्याशब्द उक्तार्थ एव वेदितव्यः। लेश्याया विशुद्धिः लेश्याविशुद्धिः।

इन्द्रियावधिभ्यां विषयाभिसंबन्धः ।६। विषयशब्दस्य इन्द्रियावधिभ्यामभिसंबन्धो भवति। इन्द्रियं चाऽवधिश्च इन्द्रियावधी, तयोर्विषय इन्द्रियावधिविषय[2] इति।

इतरथा हि तदाधिक्यप्रसङ्गः ।७। अक्रियमाणे ह्येवमभिसंबन्धे उपर्युपरि देवेषु इन्द्रियाणामाधिक्यं प्रसज्येत।

स्थितिग्रहणमादौ तत्पूर्वकत्वादितरेषाम् ।८। स्थितिग्रहणमादौ क्रियते तत्पूर्वकत्वादितरेषां प्रभावादीनाम्। स्थितिमतां हि प्रभावादयो भवन्ति नाऽस्थितस्येति।

तेभ्यस्तैर्वाऽधिका इति तसिः ।९। तेभ्यः स्थित्यादिभ्यः अधिका इति *"अपादानेऽहीयरुहोः" [जैनेन्द्र० ४।३।५०] इति तसिः। तैर्वाधिका इति तसि प्रकरणे *"**आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्**" [जैनेन्द्र० ४।२।४९] इति तसिः। उपर्युपरि वैमानिकाः इत्यनुवर्तन्ते, तेनैवमभिसंबध्यते उपर्युपरि वैमानिकाः प्रतिकल्पं प्रतिप्रस्तारं च स्थित्यादिभिरेभिरधिका इति। तत्र स्थितिः उत्कृष्टा जघन्या च, सा उपरिष्टाद्वक्ष्यते। इह तु वचनं येषां समा[3] भवति तेषामपि गुणतोऽधिकत्वज्ञापनार्थम्। यः प्रभावः सौधर्मकल्पदेवानां निग्रहानुग्रहविक्रियापराभियोगादिषु, उपर्युपरि ततोऽनन्तगुणः मन्दाभिमानतया अल्पसंक्लिष्टत्वाच्च न प्रवर्तते। एवं सुखादयोऽपि प्रत्येतव्याः। लेश्यानियमः उपरि वक्ष्यते। इह तु वचनं यत्र विधानं[4] समानं तत्रापि कर्मविशुद्धितोऽधिका भवन्ति इति प्रतिपादनार्थम्।

---

१ –द्विवि– आ०, ब, द०, मु०। २ विषयो ज्ञेयपदार्थः। ३ स्थितिः। ४ स्थित्यादि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यथा स्थित्यादिभिरुपर्यधिका एवं गत्यादिभिरपि इत्यतिप्रसङ्गे तन्निवृत्त्यर्थमाह—

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥२१॥

देशान्तरप्राप्तिहेतुर्गतिः ।१। उभयनिमित्तवशात् उत्पद्यमानः कायपरिस्पन्दो गतिरित्युच्यते ।

शरीरमुक्तलक्षणम् ।२। **"औदारिकवैक्रियिकाऽऽहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि"** [त० सू० २।३६] इत्यत्र शरीरमुक्तलक्षणम् ।

लोभकषायोदयान्मूर्च्छा परिग्रहः ।३। लोभकषायवेदनीयस्य उदयान्मूर्च्छा संकल्पः[1] परिग्रह इत्याख्यायते ।

मानकषायोदयापादितोऽभिमानः ।४। मानकषायवेदनीयस्य उदयापादितोऽहङ्कारः अभिमान इति कथ्यते । गतिश्च शरीरं च परिग्रहश्च अभिमानश्च गतिशरीरपरिग्रहाभिमानाः तैः गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतः । तसिप्रकरणे **"आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्"** [जैनेन्द्रवा० ४।२।४९] इति तसिः । यदि हि अपादानविवक्षा स्यात् **"अहीयरुहोः"** [जैनेन्द्र० ४।३।५०] इति प्रतिषेधः स्यात् ।

गतिग्रहणमादौ लक्षणद्वययोगात् ।५। गतिग्रहणमादौ क्रियते । कुतः ? लक्षणद्वययोगात् **"द्वन्द्वे सु"**[2] [जैनेन्द्र० १।३।९८] **"अल्पाच्तरम्"** [जैनेन्द्र० १।३।१००] इति ।

ततः शरीरग्रहणं तस्मिन् सति परिग्रहोपपत्तेः ।६। ततः परं शरीरग्रहणं क्रियते । कुतः ? तस्मिन् सति परिग्रहोपपत्तेः, सति शरीरे परिग्रहो ममेदं बुद्धिरुपजायते ।

तद्वत्त्वेऽपि केवलिनः परिग्रहेच्छाभाव इति चेत्; न; देवाधिकारात् ।७। स्यादेतत्— शरीरवत्त्वेऽपि केवलिनः ममेदमिति संकल्पो न विद्यते ततोऽयं हेतुव्यभिचार इति; तन्न; किं कारणम् ? देवाधिकारात् । देवा हि रागादिमन्तोऽधिकृताः, तेषामवश्यं सति शरीरे परिग्रहाभिलाषेण भवितव्यमिति नास्ति व्यभिचारः ।

तन्मूलत्वात्तदनन्तरमभिमानग्रहणम् ।८। परिग्रहमूलो हि लोकेऽभिमानो दृष्टः, ततोऽस्य तदनन्तरं ग्रहणं क्रियते । उपर्युपरीत्यनुवर्तते, तेनोपर्युपरि देवानाम् उक्ता गत्यादयो हीना वेदितव्याः । तद्यथा—सौधर्मैशानयोर्देवाः क्रीडादिनिमित्तां गतिं महाविषयत्वेन मुहुर्मुहुर्वृत्त्या चाधिकामास्कन्दन्ति न तथोपरि देवाः विषयाभिष्वङ्गोद्रेकाभावात् । ततस्तन्निमित्ता गतिरपि क्रमेण हीयते । शरीरमपि सौधर्मैशानयोर्देवानां सप्तारत्नि[3]प्रमाणम् । सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः षडरत्निप्रमाणम् । ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु पञ्चारत्निः । शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु च चतुररत्निः । आनतप्राणतयोरर्धचतुर्थारत्निः । आरणाच्युतयोररत्नित्रयप्रमाणम् । अधोग्रैवेयकेषु अर्धतृतीयारत्निः, मध्यमग्रैवेयकेषु अरत्निद्वयमात्रम्, उपरिमग्रैवेयकेषु अनुदिशविमानेषु च अध्यर्धारत्निः, अनुत्तरेष्वरत्निप्रमाणमात्रम् । परिग्रहोऽपि विमानपरिवारादिलक्षण उपर्युपरि हीन इत्युक्तं पुरस्तात् । कुतः पुनरुपर्युपरि परिग्रहाभिमानहानिरिति ? उच्यते—

प्रतनुकषायत्वाल्पसंक्लेशावधिविशुद्धितत्त्वावलोकनसंवेगपरिणामानाम् उत्तरोत्तराधिक्याद् अभिमानहानिः ।९। प्रतनुकषायत्वादल्पसंक्लेशो भवति, ततोऽवधिविशुद्धिर्जायते, संक्लेशवशादवधिर्हीयत इत्युक्तं पुरस्तात् । ततोऽवधिविशुद्धेः उपर्युपरि देवाः शारीरमानसदुःखपरीतान्

१ कोऽर्थः ? मानसं कर्म । २ 'सु' इति स्वमते घिसंज्ञा । ३ हस्तो रत्निररत्निः स्यात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नारकतैर्यग्योनमानुषान् प्रकर्षेणाऽवलोकयन्ति । ततस्तन्निमित्तसंवेगपरिणामः संसाराद्भीरुता उपजायते । ततो दुःखहेतुषु दुरन्तेषु परिग्रहेषु अभिमानो हीयते । किञ्च,

विशुद्धपरिणामप्रकर्षनिमित्तत्वाच्च उपर्युपर्युपपत्तेः ।१०। [1]इह विशुद्धपरिणामभेदनिमित्तः पुण्यकर्मबन्धविकल्पः, तत्पूर्वको देवेषु उपपाद इति उपर्युपरि अभिमानहानिः । कारणसदृशं हि कार्यं दृष्टमिति । तद्यथा–तैर्यग्योनेषु असंज्ञिनः पर्याप्ताः पञ्चेन्द्रियाः संख्येयवर्षायुषः, अल्पशुभपरिणामवशेन पुण्यबन्धमनुभूय भवनवासिषु व्यन्तरेषु च उत्पद्यन्ते । त एव संज्ञिनो मिथ्यादृष्टयः सासादनसम्यग्दृष्टयश्च आसहस्रारादुत्पद्यन्ते । त एव सम्यग्दृष्टयः सौधर्मादिषु अच्युतान्तेषु जायन्ते । असंख्येयवर्षायुषः तिर्यङ्मनुष्या मिथ्यादृष्टयः सासादनसम्यग्दृष्टयश्च आ ज्योतिष्केभ्य उपजायन्ते, तापसाश्चोत्कृष्टाः । त एव सम्यग्दृष्टयः सौधर्मैशानयोर्जन्मानुभवन्ति । मनुष्याः संख्येयवर्षायुषः मिथ्यादर्शनाः सासादनसम्यग्दर्शनाश्च भवनवासिप्रभृतिषूपरिमग्रैवेयकान्तेषु उपपादमास्कन्दन्ति । परिव्राजकानां देवेषूपपादः आ ब्रह्मलोकात् । आजीवकानाम् आसहस्रारात् । तत ऊर्ध्वमन्यलिङ्गिनां[2] नास्त्युपपादः । निर्ग्रन्थलिङ्गधराणामेव उत्कृष्टतपोऽनुष्ठानोपचितपुण्यबन्धानाम् असम्यग्दर्शनानामुपरिमग्रैवेयकान्तेषु उपपादः । तत ऊर्ध्वं सम्यग्दर्शनज्ञानचरणप्रकर्षोपेतानामेव जन्म नेतरेषाम् । श्रावकाणां सौधर्मादिष्वच्युतान्तेषु जन्म नाधो नोपरीति परिणामविशुद्धिप्रकर्षयोगादेव कल्पस्थानातिशययोगोऽवसेयः ।

पुरस्तात्त्रिषु निकायेषु देवानां लेश्याविधिरुक्त इदानीं वैमानिकेषु लेश्याविधिप्रतिपत्त्यर्थमाह—

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥२२॥

किमर्थं पृथग्लेश्याभिधानं क्रियते, ननु यत्रैवान्यो लेश्याविधिः तत्रैवेदं वक्तव्यम् ? अत उत्तरं पठति[3]–

पृथग्लेश्याभिधानं लघ्वर्थम् ।१। पृथगिदं लेश्याभिधानं क्रियते लघ्वर्थम् । तत्र[4] हि पाठे क्रियमाणे वैमानिकानां स्वामिनां भेदेन निर्देशः कर्तव्यः स्यात् । अथ कोऽयं निर्देशः? पीतपद्मशुक्ललेश्या इति । पीता च पद्मा च शुक्ला च पीतपद्मशुक्लाः, ता लेश्या येषां त इमे पीतपद्मशुक्ललेश्या इति । यद्येवं द्वन्द्वे पुंवद्भावात् निर्देशो नोपपद्यते ? नैष दोषः; औत्तरपदिकं ह्रस्वत्वम्, यथाका[5]र्यविपरि[6]णामाद्वा सिद्धम् । *[7]"[8]द्रुतायां तपरकरणे '[9]मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानम्'' [पात० महा० १।१।६९] इत्यत्रौत्तरपदिकं[10] ह्रस्वत्वम्, एवमिहापि वेदितव्यम् ।

तत्र कस्य का लेश्या इत्यत्रोच्यते–

सौधर्मैशानीयाः पीतलेश्याः ।२। सौधर्मैशानीया देवाः [11]पीतलेश्या द्रष्टव्याः ।

---

१ लोके कृत । २ –लिङ्गानां आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता० । ३ पठन्ति आ०, ब०, द०, मु० । ४ तथा सति सूत्रस्य गौरवं स्यात् । ५ सूत्रस्य लघुनोपायेन । ६ आदितस्त्रिषु इत्यादि प्रकरणे । ७ द्रुता वृत्तिः । ८ मध्यमा च बिलम्बिता च तयोः । इदमेव ज्ञापकं लक्षणाभावेऽपि शिष्टप्रयोगानुसारेण औत्तरपदिकं ह्रस्वत्वमस्तीति । ९ '''सूत्रे तपरकरणं तत् ज्ञापयति क्वचिद् द्वन्द्वेऽप्यौत्तरपदिकं ह्रस्वत्वं भवतीति तेन यथा मध्यमा च बिलम्बिता मध्यमबिलम्बिते इत्याद्यौत्तरपदिकं ह्रस्वत्वं बहुलं दृश्यते तद्वदत्रापीत्यदोषः पाणिनीयमिदं सूत्रम् । १० मध्यम ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्या देवाः पीतपद्मलेश्याः ।३। सनत्कुमारे माहेन्द्रे च देवाः पीत-पद्म[1]लेश्याः प्रत्येतव्याः ।

ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु पद्मलेश्याः ।४। चतुर्ष्वेषु देवाः [2]पद्मलेश्याः द्रष्टव्याः ।

शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु पद्मशुक्ललेश्याः ।५। चतुर्ष्वेषु देवाः [3]पद्मशुक्ललेश्या विज्ञेयाः ।

आनतादिषु शुक्ललेश्याः ।६। आनतादिषु शेषेषु देवाः [4]शुक्ललेश्याः प्रत्येतव्याः । तत्राप्यनुत्तरेषु परमशुक्ललेश्याः ।

शुद्धमिश्रलेश्याविकल्पानुपपत्तिः सूत्रेऽनभिधानादिति चेत्; न; मिश्रयोरन्यतर[5]ग्रहणात् यथा लोके ।७। स्यान्मतम्–उक्तो लेश्याविकल्पः शुद्धो मिश्रश्च नोपपद्यते, कुतः ? सूत्रेऽनभिधानात् इति; तन्न; किं कारणम् ? मिश्रयोरन्यतर[5]ग्रहणात्, यथा लोके । तद्यथा–छत्रिणो गच्छन्तीत्यछत्रिष्वपि छत्रिव्यपदेशः, एवमिहापि मिश्रयोरप्यन्यतरग्रहणेन ग्रहणं भवति इति पीतपद्मलेश्याः पूर्वग्रहणेन परग्रहणेन वा गृह्यन्ते, एवं पद्मशुक्ललेश्या अपीति नास्ति दोषः ।

द्वित्रिशेषग्रहणादग्रहणमिति चेत्; न; इच्छातः संबन्धोपपत्तेः ।८। स्यान्मतम्–एवमपि ग्रहणं नोपपद्यते । कुतः ? द्वित्रिशेषग्रहणात् । सूत्रे ह्येवं पठ्यते–द्वयोः पीतलेश्याः, त्रिषु पद्मलेश्याः, शेषेषु शुक्ललेश्या इति, तच्चानिष्टमिति; तन्न; किं कारणम् ? इच्छातः संबन्धोपपत्तेः । एवं हि संबन्धः क्रियते–द्वयोः कल्पयुगलयोः पीतलेश्याः, सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः पद्मलेश्याया अविवक्षातः । ब्रह्मलोकादिषु त्रिषु कल्पयुगलेषु पद्मलेश्याः, शुक्रमहाशुक्रयोः शुक्ललेश्याया अविवक्षातः । शेषेषु शतारादिषु शुक्ललेश्याः, पद्मलेश्याया अविवक्षातः, इति नास्त्यार्ष[6]विरोधः ।

पाठान्तराश्रयाद्वा ।९। अथवा पाठान्तरमाश्रियते । किं पुनः तत् ? 'पीतमिश्रपद्ममिश्र-शुक्ललेश्या द्विद्विचतुश्चतुःशेषेषु' इति, ततो न कश्चिदार्षविरोधः ।

निर्देशवर्णपरिणामसंक्रमकर्मलक्षणगतिस्वामित्वसाधनसंख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्प-बहुत्वैश्च साध्या लेश्याः ।१०। एतैर्निर्देशादिभिः षोडशभिरनुयोग[7]द्वारैः लेश्याः साधयितव्याः ।

तत्र निर्देशस्तावत्–कृष्णलेश्या नीललेश्या कपोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या चेति ।

वर्णो भ्रमरमयूरकण्ठकपोततपनीयपद्मशङ्खवर्णा यथाक्रमं लेश्याः । वर्णान्तरमासाम् अनन्तविकल्पम् । एकद्वित्रिचतुःसंख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तकृष्णगुणयोगात् कृष्णलेश्याः अनन्त-विकल्पा । एवमितरा अपि ।

परिणामः[8]–'असंख्येयलोकप्रदेशप्रमाणेषु असंख्येयगुणेषु कषायोदयस्थानेषु उत्कृष्ट-मध्यमजघन्यांशकेषु[10] संक्लेशहान्या परिणामात्मानः अशुभास्तिस्रः कृष्णनीलकापोतलेश्याः

---

१ प्रकृष्टपीतजघन्यपद्मलेश्याः । २ मध्यम । ३ प्रकृष्टपद्मजघन्यशुक्ललेश्याः । ४ मध्यम । ५ –न्यतरत्रय– आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता० । ६ सौधर्मैशानयोः पीता पीतापद्मे द्वयोस्ततः । कल्पेषु षट्स्वतः पद्मा पद्मशुक्ले ततो द्वयोः । आनतादिषु शुक्लातः त्रयोदशसु मध्यमा । चतुर्दशसु सोत्कृष्टाऽनुदिशानुत्तरेषु च । इति । ७ प्रश्न । ८ कथ्यते । ९ वसः । १० प्रागुक्तप्रदेशा एवांशाः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिणमन्ते। तथा जघन्यमध्यमोत्कृष्टांशकेषु विशुद्धिवृद्धया तिस्रः शुभाः तेजःपद्मशुक्ललेश्याः परिणमन्ते। तथोत्कृष्टमध्यमजघन्यांशकेषु विशुद्धिहान्या तिस्रः शुभाः परिणमन्ते। तथा जघन्यमध्यमोत्कृष्टांशेषु संक्लेशविवृद्धया तिस्रः अशुभाः परिणमन्ते। एकैका चात्र लेश्या असंख्येयलोकप्रदेशप्रमाणपरिणामाऽध्यवसायस्थाना।

संक्रमः–कृष्णलेश्यः संक्लिश्यमानो नान्यां लेश्यां संक्रामति, कृष्णलेश्ययैव षट्स्थानपतितेन संक्रमेण वर्धते। तद्यथा–कृष्णलेश्याया यत्प्राथमिकं संक्लेशस्थानं ततः स्थानादनन्तभागाभ्यधिका वृद्धिरसंख्येयभागाऽभ्यधिका वा संख्येयभागाभ्यधिका वा संख्येयगुणाभ्यधिका वा असंख्येयगुणाभ्यधिका वा अनन्तगुणाभ्यधिका वा। तथा[1] हीयमानोऽपि लेश्यान्तरसंक्रमं न करोति कृष्णलेश्ययैव षट्स्थाननिपतितसंमेक्रण हीयते। तद्यथा–कृष्णलेश्याया यदुत्कृष्टं संक्लेशस्थानं ततः स्थानादनन्तभागहान्या वा असंख्येयभागहान्या वा संख्येयभागहान्या वा संख्येयगुणहान्या वा असंख्येयगुणहान्या वा अनन्तगुणहान्या वा। यदा कृष्णलेश्या अनन्तगुणहान्या हीयते तदा नीललेश्याया उत्कृष्टं स्थानं संक्रामति, तदेव कृष्णलेश्यस्य संक्लिश्यमानस्य एको विकल्पो वृद्धौ स्वस्थानसंक्रमो नाम। हानौ पुनर्द्वौ विकल्पौ स्वस्थानसंक्रमः परस्थानसंक्रमश्चेति। एवमितरास्वपि लेश्यासु वृद्धिहान्योः संक्रमविकल्पविधिर्वेदितव्यः। अयं तु विशेषः–शुक्ललेश्यस्य विशुद्धिवृद्धौ लेश्यान्तरसंक्रमो नास्ति स्वस्थानसंक्रमोऽस्ति। संक्लेशविवृद्धौ विशुद्धिहानौ तु स्वस्थानसंक्रमोऽप्यस्ति परस्थानसंक्रमोऽपि। मध्यलेश्यानां हानौ वृद्धौ च उभावपि संक्रमौ स्तः। अनन्तभागपरिवृद्धिः कया परिवृद्धया? सर्वजीवैरनन्तभागपरिवृद्धया। असंख्येयभागपरिवृद्धिः कया परिवृद्धया? असंख्येयलोकभागपरिवृद्धया। संख्येयभागपरिवृद्धिः कया परिवृद्धया? उत्कृष्टसंख्येयभागपरिवृद्धया। संख्येयगुणपरिवृद्धिः कया परिवृद्धया? उत्कृष्टसंख्येयगुणपरिवृद्धया। असंख्येयगुणपरिवृद्धिः कया परिवृद्धया? असंख्येयलोकगुणपरिवृद्धया। अनन्तगुणपरिवृद्धिः कया परिवृद्धया? सर्वजीवाऽनन्तगुणपरिवृद्धया।

लेश्याकर्म उच्यते–जम्बूफलभक्षणं निदर्शनं कृत्वा, स्कन्धविटपशाखानुशाखा[2]पिण्डिका[3]छेदनपूर्वकं फलभक्षणं स्वयं पतितफलभक्षणं चोद्दिश्य कृष्णलेश्यादयः प्रवर्तन्ते[4]।

अथ लक्षणमुच्यते–अनुनयानभ्युपगमोपदेशाग्रहण-वैरामोचनाऽतिचण्डत्व[5]-दुर्मुखत्व-निरनुकम्पता-क्लेशन-मारणापरितोषणादि कृष्णलेश्यालक्षणम्। आलस्य-विज्ञानहानि-कार्यानिष्ठापन-भीरुता-विषयातिगृद्धि-माया-तृष्णाऽतिमान-वञ्चनाऽनृत[6]भाषण-चापलातिलुब्धत्वादि नीललेश्यालक्षणम्। मात्सर्य-पैशुन्य-परपरि[7]भवाऽऽत्मप्रशंसा-परपरिवाद[8]वृद्धिहान्यगणनाऽऽत्मीयजीवितनिराशता-प्रशस्यमानधनदान-युद्धमरणोद्यमादि कपोतलेश्यालक्षणम्। दृढमित्रता-सानुक्रोशत्व-सत्यवाद-दानशीलात्मीयकार्यसंपादनपटुविज्ञानयोग-सर्वधर्मसमदर्शनादितेजोलेश्यालक्षणम्। सत्यवाक्य-क्षमोपेत-पण्डित-सात्त्विकदानविशारद-चतुरर्जुगुरुदेवतापूजाकरण-निरतत्वादि पद्मलेश्यालक्षणम्। वैररागमोहविरह-रिपुदोषाग्रहण-निदानवर्जन-सार्वसावद्यकार्यारम्भौदासीन्य-श्रेयोमार्गानुष्ठानादि शुक्लेश्यालक्षणम्।

---

१ हीयमानापि आ०, ब०, द०, मु०। २ स्तबकः। ३ छेदनशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते। ४ –ते लक्ष– आ०, मू०, ता०। ५ त्वप्रत्ययः प्रत्येकं परिसमाप्यते एवमुत्तरत्रापि। ६ चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः। ७ –भाषिता चा– आ०, ब०, द०, मु०। ८ तिरस्कार। ९ अपवाद, दोषवाद इत्यर्थः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गतिरुच्यते–कपोतलेश्यापरिणत आत्मा कां गतिं गच्छतीति ? षड्विंशतिविकल्पेषु लेश्यांशकेषु आयुषो ग्रहणहेतवः अष्टावंशकाः[1] मध्यमाः । कुतः पुनरेतदनुगम्यते इति चेत् ? •"अष्टाभिः[2] अपकर्षैः मध्यमेन परिणामेनाऽऽयुर्बध्नाति" [ ] इत्यार्षोपदेशात् । शेषा अष्टादशलेश्यांशका गतिविशेषहेतवः पुण्यपापविशेषोपचयहेतुत्वात्तेषां तदपेक्षो मध्यमपरिणामः तद्योग्यायुर्बन्धहेतुर्भवति, तत आयुर्नामिकर्मोदयापादितो गतिविशेषो लेश्यावशादवसेयः । तद्यथा–उत्कृष्टशुक्ललेश्यांशकपारिणामादात्मानः कालं कृत्वा सर्वार्थसिद्धं यान्ति । जघन्यशुक्ललेश्यांशकपरिणामात् शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारान् यान्ति । मध्यमशुक्ललेश्यांशकपरिणामात् आनतादिषु प्राक् सर्वार्थसिद्धादुत्पद्यन्ते । उत्कृष्टपद्मलेश्यांशकपरिणामात् सहस्रारमुपगच्छन्ति । जघन्यपद्मशुक्ललेश्यांशकपरिणामात् सानत्कुमारमाहेन्द्रौ यान्ति । मध्यमपद्मलेश्यांशकपरिणामात् ब्रह्मलोकादिषु आ शतारादुपपद्यन्ते । उत्कृष्टतेजोलेश्यांशकपरिणामात् सानत्कुमारमाहेन्द्रकल्पान्त्यचक्रेन्द्रकश्रेणिविमानान्यास्कन्दन्ति । जघन्यतेजोलेश्यांशकपरिणामात् सौधर्मैशानप्रथमेन्द्रकश्रेणिविमानानि यान्ति । मध्यमतेजोलेश्यांशकपरिणामात् चन्द्रादीन्द्रकश्रेणिविमाना[3]दिषु आबलभद्रेन्द्रकश्रेणिविमानेभ्य उपपद्यन्ते । उत्कृष्टकृष्णलेश्यांशकपरिणामात् अप्रतिष्ठानमधितिष्ठन्ति । जघन्यकृष्णलेश्यांशकपरिणामात् पञ्चम्यामध इन्द्रकनरकं तमिस्रसंज्ञकं संश्रयन्ते । मध्यमकृष्णलेश्यांशकपरिणामात् हिमेन्द्रकादिषु आ महारौरवादुपजायन्ते । उत्कृष्टनीललेश्यांशकपरिणामात् पञ्चम्यामन्धेन्द्रकमवाप्नुवन्ति । जघन्यनीललेश्यांशकपरिणामात् वालुकायां तप्तेन्द्रकं यान्ति । मध्यमनीललेश्यांशकपरिणामात् वालुकायां त्रस्तेन्द्रकादि झषेन्द्रकान्तेषु उत्पद्यन्ते । उत्कृष्टकपोतलेश्यांशकपरिणामात् वालुकाप्रभायां संप्रज्वलितनरकं यान्ति । जघन्यकपोतलेश्यांशकपरिणामात् रत्नप्रभायां सीमन्तकं यान्ति । मध्यमकपोतलेश्यांशकपरिणामात् रौरुकादिषु आ संज्वलितेन्द्रकादुपपद्यन्ते । मध्यमकृष्णनीलकपोततेजोलेश्यांशकपरिणामात् भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कपृथिव्यम्बुवनस्पतीन् व्रजन्ति । मध्यमकृष्णनीलकपोतलेश्यांशकपरिणामात् तेजोवायु[4]कायिकेषु जायन्ते । देवनारकाः स्वलेश्याभिः तिर्यङ्मनुष्यान् योग्यानायान्ति ।

स्वामित्वमुच्यते–रत्नप्रभाशर्कराप्रभयोः नारकाः कापोतलेश्याः । वालुकाप्रभायां नीलकपोतलेश्याः । पङ्कप्रभायां नीललेश्याः । धूमप्रभायां नीलकृष्णलेश्याः । तमःप्रभायां कृष्णलेश्याः । महातमःप्रभायां परमकृष्णलेश्याः । भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्काः कृष्णनीलकापोततेजोलेश्याः । एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाः संक्लिष्टत्रिलेश्याः । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः संक्लिष्टचतुर्लेश्याः । संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां च मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टीनां षडपि लेश्याः । संयतासंयतप्रमत्तसंयताऽप्रमत्तसंयतानां तिस्रः शुभाः । अपूर्वकरणादीनां सयोगकेवल्यन्तानां शुक्ललेश्यैव । अयोगकेवलिनोऽलेश्याः । सौधर्मैशानीयाः तेजोलेश्याः । सानत्कुमारमाहेन्द्रीयाः तेजःपद्मलेश्याः । ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु देवाः पद्मलेश्याः । शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु पद्मशुक्ललेश्याः । आनतादिष्वासर्वार्थसिद्धात् शुक्ललेश्याः । सर्वार्थसिद्धाः परमशुक्ललेश्याः ।

---

१ तदुक्तम्– लेस्साणं खलु अंसा छव्वीसा होंति तत्थ मज्झिमया । आउगबंधणजोग्गा अट्ठट्ठवगरिसकालभवा । सेसट्ठारसअंसा चउगइगमणस्स कारणा होंति । सुक्कुक्कस्संसमुदा सव्वट्ठं जांति खलु जीवा ।
२ पूर्वायुरपकृष्य अपकृष्यैव परायुर्बध्यत इत्यपकर्षः स्वोपात्तायुषः । आकर्षैः अ०, ता० । ३ –नाद् यावत्– आ०, ब०, द०, मु० । ४ –कायेषु ता०, श्र०, मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधनमुच्यते–द्रव्यलेश्या नामकर्मोदयनिमित्ताः, भावलेश्याः कषायोदयक्षयोपशमप्रशमप्रक्षयकृताः।

संख्या कथ्यते–कृष्णनीलकापोतलेश्या एकशो द्रव्यप्रमाणेनाऽनन्ताः, अनन्तानन्ताभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिर्नापह्रियन्ते कालेन। क्षेत्रेणाऽनन्तानन्तलोकाः। तेजोलेश्या द्रव्यप्रमाणेन ज्योतिर्देवाः साधिकाः। पद्मलेश्या द्रव्यप्रमाणेन संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनीनां संख्येयभागाः। शुक्ललेश्याः पल्योपमस्याऽसंख्येयभागाः।

क्षेत्रमुच्यते–कृष्णनीलकापोतलेश्या एकशः स्वस्थानसमुद्घातोपपादैः सर्वलोके वर्तन्ते। तेजःपद्मलेश्या एकशः स्वस्थानसमुद्घातोपपादैर्लोकस्याऽसंख्येयभागे। शुक्ललेश्याः स्वस्थानोपपादाभ्यां लोकस्यासंख्येयभागे, समुद्घातेन लोकस्याऽसंख्येयभागे, असंख्येयेषु[1] भागेषु सर्वलोके[2] वा।

स्पर्शनमुच्यते–कृष्णनीलकापोतलेश्यैः स्वस्थानसमुद्घातोपपादैः सर्वलोकः स्पष्टः। तेजोलेश्यैः स्वस्थानेन लोकस्यासंख्येयभागः, अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः, समुद्घातेन लोकस्याऽसंख्येयभागः अष्टौ नव चतुर्दशभागा वा देशोनाः, उपपादेन लोकस्यासंख्येयभागा अध्यर्धचतुर्दशभागा वा देशोनाः। पद्मलेश्यैः स्वस्थानसमुद्घाताभ्यां लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः, उपपादेन लोकस्यासंख्येयभागः पञ्चचतुर्दशभागा वा देशोनाः। शुक्ललेश्यैः स्वस्थानोपपादाभ्यां लोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः षट्चतुर्दशभागा वा देशोनाः, समुद्घातेन लोकस्याऽसंख्येयभागः षट् चतुर्दशभागा वा देशोनाः, असंख्येया वा भागाः सर्वलोको वा।

काल उच्यते–कृष्णनीलकपोतलेश्यानाम् एकशः जघन्येनान्तर्मुहूर्तः, उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि साधिकानि, सप्तदशसागरोपमाणि साधिकानि, सप्तसागरोपमाणि साधिकानि। तेजःपद्मशुक्ललेश्यानामेकशः कालो जघन्येन अन्तर्मुहूर्तः, उत्कर्षेण द्वे सागरोपमे साधिके, अष्टादश सागरोपमाणि साधिकानि, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि साधिकानि।

अन्तरमभिधीयते–कृष्णनीलकपोतलेश्यानाम्–एकशः अन्तरं जघन्येनान्तर्मुहूर्तः, उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि साधिकानि। तेजःपद्मशुक्ललेश्यानामेकशः अन्तरं जघन्येनाऽन्तर्मुहूर्तः, उत्कर्षेणानन्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः।

भावो व्याख्यायते–षडपि लेश्या औदयिकभावाः शरीरनाममोहनीयकर्मोदयापादितत्वात्।

अल्पबहुत्वं वक्ष्यते–सर्वतः स्तोकाः शुक्ललेश्याः, पद्मलेश्या असंख्येयगुणाः, तेजोलेश्या असंख्येयगुणाः, अलेश्या[3] अनन्तगुणाः, कपोतलेश्या अनन्तगुणाः, [4]नीललेश्या विशेषाधिकाः, कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः।

आह–कल्पोपपन्ना इत्युक्तं तत्रेदं न ज्ञायते के कल्पा इति? अत्रोच्यते–

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥२३॥

इदं नं ज्ञायते कुत आरभ्य कल्पा भवन्ति इति? सौधर्मादिग्रहणमनुवर्तते, तेनायमर्थो लभ्यते सौधर्मादयः कल्पा इति। यद्येवं तदनन्तरमेवेदंसूत्रं वक्तव्यम्? अत उत्तरं पठति–

१ –स्य संख्ये–भा० २। २ केवल्यपेक्षया दण्डकवाटादिषु योज्यम्। ३ अयोगकेवलिनः सिद्धाश्च। ४ –नं च– आ०, ब०, द०, मु०।

सौधर्माद्यनन्तरं[१] कल्पाभिधाने व्यवधानप्रसङ्गः ।१। यदि सौधर्माद्यनन्तरं कल्पाभिधानं क्रियते व्यवधानं प्रसज्येत । कस्य ? स्थितिप्रभावादिसूत्रत्रयस्य । सति च व्यवधाने तेन विधीयमानोऽर्थः कल्पेष्वेव स्यात् अनन्तरत्वाद्[२], ग्रैवेयकादिषु न स्यात् व्यवहितत्वात्[३] । इह पुनः पाठे सति स्थित्यादि[४]विशेषविधिरविशेषेण सिद्धो भवति । अथ के कल्पातीताः ?

कल्पातीतसिद्धिः परिशेषात् ।२। कल्पातीतानां सिद्धिर्भवति । कुतः ? परिशेषात् । परिशिष्टा[५] हि ग्रैवेयकादयोऽनुत्तरान्ताः ।

भवनवास्याद्यतिप्रसङ्ग इति चेत्; न; उपर्युपरीत्यभिसम्बन्धात् ।३। स्यादेतत्, परिशिष्टा यदि कल्पातीता भवनवास्यादीनामपि वैमानिकत्वमपि प्रसज्येत इति; तन्न; किं कारणम् ? उपर्युपरीत्यभिसंबन्धात् । उपर्युपरि वैमानिका नाधस्तात् इति । तेन कल्पातीता अहमिन्द्रा एव । कथं पुनस्तेषामहमिन्द्रत्वम् ? सामानिकादिविकल्पाभावात् ।

चतुर्निकायोपदेशानुपपत्तिः षट्सप्तसम्भवादिति चेत्; न; तत्रैवान्तर्भावात् लौकान्तिकवत् ।४। स्यान्मतम्–चत्वारो देवनिकाया इत्युपदेशो नोपपद्यते इति । कुतः ? षट्सप्तसंभवात् । षण्णिकायाः सम्भवन्ति भवनपातालव्यन्तरज्योतिष्क[६]कल्पोपपन्नविमानाधिष्ठानात् । भवनवासिनो दशविधा उक्ताः । पातालवासिनो लवणोदादिसमुद्रावासाः सुस्थितप्रभासादयः । व्यन्तरा[७]अनादृतप्रियदर्शनादयः जम्बूद्वीपाधिपतयः । ज्योतिष्काः पञ्चविधा व्याख्याताः । कल्पोपपन्ना द्वादश वर्णिताः । विमानानि ग्रैवेयकादीनि उपदिष्टानि । अथवा सप्तदेवनिकायाः, त एवाऽऽकाशोपपन्नैः सह । आकाशोपपन्नाश्च द्वादशविधाः–पांशुतापि-लवणतापि-तपनतापि-भवनतापि-सोमकायिक-यमकायिक-वरुणकायिक-वैश्रवणकायिक-पितृकायिक-अनलकायिक रिष्टक-अरिष्ट-सम्भवा इति; तन्न; किं कारणम् ? तत्रैवान्तर्भावात्, लौकान्तिकवत् । यथा लौकान्तिकानां कल्पवासिष्वन्तर्भावात् न निकायान्तरत्वं तथा पातालवासिनाम् आकाशोपपन्नानां व्यन्तरेष्वन्तर्भावात्, कल्पवासिनां च वैमानिकत्वात् न निकायान्तरत्वम् । इति नास्ति चातुर्विध्यहानिः ।

आह–य एते दृष्टान्तत्वेनोपात्ताः लौकान्तिकास्ते कस्मिन् कल्पे भवन्तीति? अत्रोच्यते—

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥२४॥

एत्य तस्मिल्लीयन्त इत्यालयः ।१। यत्र प्राणिन एत्य लीयन्ते स आलयो निवास इत्यर्थः । ब्रह्मलोक आलयो येषां ते ब्रह्मलोकालयाः ।

सर्वब्रह्मलोकदेवानां लौकान्तिकत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; लोकान्तोपश्लेषात् ।२। स्यादेतत् ब्रह्मलोकालया इत्यविशेषाभिधानात्तेषां सर्वेषां लौकान्तिकत्वं प्रसज्येत इति; तन्न; किं कारणम् ? लोकान्तोपश्लेषात् । ब्रह्मलोकस्यान्तो लोकान्तः, तस्मिन् भवा लौकान्तिकाः । अथवा, जातिजरामरणाकीर्णो लोकः[८] तस्यान्तो लोकान्तः तत्प्रयोजना लौकान्तिकाः[९] । ते हि परीतसंसाराः, ततश्च्युता एकं गर्भवासमवाप्य परिनिर्वान्ति ।

तेषां सामान्येनोपदिष्टानां भेदप्रदर्शनार्थमिदमुच्यते—

---

१ –वनन्त– आ०, ब० द०, मु०, ता०, श्र० । २ –नन्तरे क– श्र०, मू० । ३ अव्यवहितत्वात् । ४ –विविधि– श्र०, मू० । ५ –ष्टा अमी ग्रै– आ०, ब०, द०, मु० । ६ –कल्पवि– ब०, द०, मु०, ता०, श्र० । ७ अनावृतप्रियदर्शनादयः आ०, ब०, द०, मु० । ८ संसार इत्यर्थः । ९ एवञ्चान्वर्थसंज्ञाकरणान्न सर्वेषां ब्रह्मलोकालयानां लौकान्तिकत्वं भवेत् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥२५॥

क इमे सारस्वतादयः ?

पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु यथाक्रमं सारस्वतादयः ।१। पूर्वोत्तरादिषु[1] अष्टासु अपि दिक्षु यथाक्रममेते सारस्वतादयो देवगणा वेदितव्याः । तद्यथा अरुणसमुद्रप्रभवः[2] मूले संख्येययोजनविस्तारः तमस्कन्धः समुद्रवद्वलयाकारः अतितीव्रान्धकारपरिणामः, स ऊर्ध्वं क्रमवृद्धया गच्छन् मध्येऽन्ते च संख्येययोजनबाहल्यः [3]अरिष्टविमानस्याधोभागे समेतः कुक्कुटकुटीवदवस्थितः । तस्योपरि तमोराजयोऽष्टावुत्पत्य अरिष्टेन्द्रकविमानसप्रणिधयः । तत्र चतसृष्वपि दिक्षु द्वन्द्वं गताः तिर्यगालोकान्तात्, तदन्तरेषु सारस्वतादयो ज्ञेयाः । तत्र पूर्वोत्तरकोणे सारस्वतविमानम्, पूर्वस्यां दिशि आदित्यविमानम्, पूर्वदक्षिणस्यां वह्निविमानम्, दक्षिणस्यामरुणविमानम्, दक्षिणापरकोणे गर्दतोयविमानम्, [4]अपरस्यां दिशि तुषितविमानम्, उत्तरापरस्यामव्याबाधविमानम्, उत्तरस्यामरिष्टविमानम् ।

चशब्दसमुच्चिताः तदन्तरालवर्तिनः ।२। तेषामन्तरालेषु चशब्दसमुच्चिता द्वन्द्ववृत्त्या देवगणाः प्रत्येतव्याः । तद्यथा——

अग्न्याभसूर्याभचन्द्राभसत्याभश्रेयस्करक्षेमङ्कर[5]वृषभेष्टकामचरनिर्माणरजोदिगन्तरक्षितात्मरक्षितसर्वरक्षितमरुद्वस्वश्वविश्वाख्याः ।३। एते अग्न्याभादयः षोडश देवगणा लौकान्तिकभेदाः कथ्यन्ते । सारस्वतादित्यान्तर अग्न्याभसूर्याभाः, आदित्यवह्न्यन्तरे चन्द्राभसत्याभाः, वह्न्यरुणान्तराले श्रेयस्करक्षेमङ्कराः, अरुणगर्दतोयान्तराले वृषभेष्टकामचराः, गर्दतोयतुषितमध्ये निर्माणरजोदिगन्तरक्षिताः, तुषिताव्याबाधमध्ये आत्मरक्षितसर्वरक्षिताः, अव्याबाधारिष्टान्तरे[6] मरुद्वसवः, अरिष्टसारस्वतान्तरे अश्वविश्वाः। तान्येतानि विमाननामानि तन्निवासिनां च तद्योगात्[7]। तत्र सारस्वताः सप्तशतसंख्याः। आदित्याश्च सप्तशतगणनाः। वह्नयः सप्तसहस्राणि सप्ताधिकानि। अरुणाश्च तावन्त एव। गर्दतोया नवसहस्राणि नवोत्तराणि। तुषिताश्च तावन्त एव। अव्याबाधा एकादशसहस्राणि एकादशानि। अरिष्टा अपि तावन्त एव। चशब्दसमुच्चितानां संख्येत्युच्यते—अग्न्याभे देवाः सप्तसहस्राणि सप्ताधिकानि। [8]सूर्याभेऽमरा नवसहस्राणि नवोत्तराणि। चन्द्राभे सुराः एकादशसहस्राणि एकादशानि। सत्याभे विबुधाः त्रयोदशसहस्राणि त्रयोदशानि। श्रेयस्करे देवाः पञ्चदशसहस्राणि पञ्चदशानि[9]। क्षेमङ्करे अमराः सप्तदशसहस्राणि सप्तदशानि। [10]वृषभेष्टे सुराः एकान्नविंशतिसहस्राणि एकान्नविंशतिश्च। कामचरेऽमराः एकविंशतिसहस्राणि एकविंशतिश्च। निर्माणरजसि देवाः त्रयोविंशतिसहस्राणि त्रयोविंशतिश्च। दिगन्तरक्षिते देवाः पञ्चविंशतिसहस्राणि पञ्चविंशतिश्च। आत्मरक्षिते सुराः सप्तविंशतिसहस्राणि सप्तविंशतिश्च। सर्वरक्षिते विबुधा एकान्नत्रिंशत्सहस्राणि एकान्नत्रिंशच्च। मरुति देवाः

---

१ ईशानादिषु। २ –प्रभवः आ०, ब, द०, मु०। अरुणवरदीवबाहिरजगदीदो जिणवरुस्स-संखाणि। गंतूण जोयणाणि अरुणसमुद्दस्स पणिधीए॥ ३ प्रथमेन्द्रक। ४ अपरस्यां तुषितविमानमप-रोत्तरकोणेऽव्या– आ०, ब०, द०, मु०। ५ वृषभोष्टकाम– ता०। वृषभोऽष्टकाम– श्र०, मू०। वृषभकाम– द०। –कामकराः भा० २। ६ –न्तराले मरु– आ०, ब०, द०, मु०। ७ कुतः। ८ सूर्याभे सुरा नवसहस्राणि नवाधिकानि आ०, ब०, द०, मु०। ९ –दशाधिकानि आ०, ब०, द०, मु०। १० वृषभोष्ट्रे ता०। वृषभोऽश्वे मू०, श्र०। वृषभे द०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकत्रिंशत्सहस्राणि एकत्रिंशच्च। वसुनि सुराः त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्च। अश्वे सुराः पञ्चत्रिंशत्सहस्राणि पञ्चत्रिंशच्च। विश्वे देवाः सप्तत्रिंशत्सहस्राणि सप्तत्रिंशच्च। त एते चतुर्विंशतिलौकान्तिकगणाः समुदिताः [1]चत्वारिंशत्सहस्राणि अष्टसप्ततिश्च शतानि षडुत्तराणि। सर्वे ते स्वतन्त्रा हीनाधिकत्वाभावात्, विषयरतिविरहाद् देवर्षयः, तत इतरेषां देवानामर्चनीयाः, चतुर्दशपूर्वधराः, सततं ज्ञानभावनावहितमनसः, संसारान्नित्यमुद्विग्नाः अनित्याशरणाद्यनुप्रेक्षासमाहितमानसाः, अतिविशुद्धसम्यग्दर्शनाः, तीर्थकरनिष्क्रमणप्रतिबोधनपराः। नामकर्मणोऽसंख्योत्तरोत्तरप्रकृतित्वात् संसारिणां जीवानां संज्ञाः शुभाशुभनामकर्मोदयापादिताः वेदितव्याः।

एवमयं कार्मणशरीरप्रणालिकया आस्रवापेक्षयापादितसुखदुःखानां भव्याभव्यभेदाहितद्वैविध्यानां प्राणिनां संसारोऽनादिः अपर्यवसानः। अन्येषां मोहोपशमप्रध्वंसनं प्रत्यादृतानां अप्रतिपतितसम्यग्दर्शनानां परीतविषयः, सप्ताष्टानि[2] भवग्रहणानि उत्कर्षेण वर्तन्ते, जघन्येन द्वित्राणि अनुबन्ध्योच्छिद्यन्ते। प्रतिपतितसम्यक्त्वानां तु भाज्यम्।

आह–अप्रतिपतितसम्यक्त्वेषु किमविशेष एव आहोस्वित् कश्चिदस्ति प्रतिविशेषः इति ? अत्रोच्यते–

विजयादिषु द्विचरमाः ॥२६॥

विजयादिषु इति आदिशब्दः प्रकारार्थः ।१। अयम् आदिशब्दः प्रकारार्थो द्रष्टव्यः। तेन विजयवैजयन्तजयन्तापराजिताऽनुदिशविमानानामिष्टानां ग्रहणं सिद्धं भवति। कः पुनरत्र प्रकारार्थः ? अहमिन्द्रत्वे सति सम्यग्दृष्ट्युपपादः। सर्वार्थसिद्धग्रहणप्रसङ्ग इति चेत्; न; तेषां परमोत्कृष्टत्वात्, सर्वार्थसिद्ध इत्यन्वर्थनिर्देशात् एकचरमत्वसिद्धेश्च।

द्विचरमत्वं मनुष्यदेहद्वयापेक्षम् ।२। चरमशब्द उक्तार्थः। द्वौ चरमौ देहौ येषां ते द्विचरमाः, तेषां भावो द्विचरमत्वम्। एतन्मनुष्यदेहद्वयापेक्षमवगन्तव्यम्। विजयादिभ्यः च्युता अप्रतिपतितसम्यक्त्वा मनुष्येषूत्पद्य संयममाराध्य पुनर्विजयादिषूत्पद्य च्युता मनुष्यभवमवाप्य सिध्यन्ति इति द्विचरमदेहत्वम्, इतरथा हि द्वौ मनुष्यभवौ एको देवभवश्चेति त्रिचरमत्वं स्यात् न द्विचरमत्वम्। कुतः पुनः मनुष्यदेहस्य चरमत्वमिति चेत् ? उच्यते–

मनुष्यदेहस्य चरमत्वं तेनैव मुक्तिपरिणामोपपत्तेः ।३। यतो मनुष्यभवमवाप्य देवनारकतैर्यग्योनाः सिध्यन्ति न तेभ्य एवेति मनुष्यदेहस्य चरमत्वम्।

एकस्य चरमत्वमिति चेत्; न; औपचारिकत्वात् ।४। स्यान्मतम्–एकस्य भवस्य चरमत्वम् अन्त्यत्वात्, न द्वयोस्ततो द्विचरमत्वमयुक्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? औपचारिकत्वात्। येन देहेन साक्षान्मोक्षोऽवाप्यते स मुख्यश्चरमः, तस्य प्रत्यासन्नो मनुष्यभवः तत्प्रत्यासत्तेश्चरम इत्युपचर्यते। देवभवेन व्यवहितत्वात् प्रत्यासत्त्यभाव इति चेत्; न; ***"येन [3]नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि"वचनप्रामाण्यात्" [ ]** इति।

आर्षविरोध इति चेत्; न; प्रश्नविशेषापेक्षत्वात् ।५। स्यान्मतम्–विजयादिषु द्विचरमत्वमार्षविरोधि। कुतः ? त्रिचरमत्वात्। एवं ह्यार्षे उक्तमन्तरविधाने–***"अनुदिशानुत्तरविजयवैजयन्तजयन्तापराजितविमानवासिनामन्तरं जघन्येन वर्षपृथक्त्वम् उत्कर्षेण द्वे साग-**

१ चत्वारिंशत्सह– आ०, ब०, मु०। २ वेदकसम्यक्त्वापेक्षया। ३ वा व्य– मु०। अवद्यव्यवधानम्। ४ कुतः ? सूत्रकारस्य।

रोपमे सातिरेके"[[1]षट्खं०] इति । तस्यायमर्थः–तेभ्यः च्युता मनुष्येषूत्पद्य अष्टवर्षा:[2] संयममाराध्य अन्तर्मुहूर्तेन विजयादिषु भवमाप्नुवन्ति इति जघन्येन वर्षपृथक्त्वम् । केचित्तेभ्यश्च्युता मनुष्येषूत्पद्य संयममवाप्य सौधर्मेशानकल्पयोः जनित्वा पुनरपि मनुष्यभवमनुभूय विजयादिषु जायन्ते इति उत्कर्षेण द्वे सागरोपमे साधिके इति, ततो मनुष्यभवत्रयोपपत्तेर्द्विचरमत्वमयुक्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? प्रश्नविशेषापेक्षत्वात् । एवं हि व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषूक्तम्[3]– विजयादिषु देवा मनुष्यभवमास्कन्दन्तः कियतीर्गत्यागतीः विजयादिषु कुर्वन्ति इति गौतमप्रश्ने भगवतोक्तं जघन्येनैको भवः आगत्या उत्कर्षेण गत्यागतिभ्यां द्वौ भवौ । सर्वार्थसिद्धाः[4] च्युता [5]मनुष्येषूत्पद्य तेनैव भवेन सिध्यन्तीति, न लौकान्तिकवदेकभविका एवेति विजयादिषु द्विचरमत्वं नार्षविरोधि, कल्पान्तरोत्पत्त्यनपेक्षत्वात् प्रश्नस्येति ।

आह–उक्तं भवता जीवस्य औदयिकेषु भावेषु तैर्यग्योनिगतिरौदयिकीति, स्थितौ चोक्तम् ***"तिर्यग्योनिजानां च"** [त० सू० ३।३९] इति । आस्रवविधाने च वक्ष्यते ***"माया तैर्यग्योनस्य"** [त० सू० ६।१६] इति । तद्वक्तव्यं के तिर्यग्योनय इति ? अत्रोच्यते–

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥२७॥

अयुक्तोऽयं निर्देशः 'औपपादिकमनुष्येभ्यः' इति । कुतः ? मनुष्यशब्दस्य अल्पाच्तरत्वात् पूर्वनिपात[6]प्राप्त्यर्हत्वात्; नैष दोषः; अभ्यर्हितत्वात् औपपादिकशब्दस्य पूर्वनिपातः । कथमभ्यर्हितत्वम् ? देवानामौपपादिकेष्वन्तर्भावात्, देवा हि स्थितिप्रभावादिभिरभ्यर्हिता इति व्याख्याताः ।

उक्तेभ्य औपपादिकमनुष्येभ्योऽन्ये शेषाः ।१। औपपादिका उक्ता देवनारकाः, मनुष्याश्च व्याख्याताः ***"प्राङ् मानुषोत्तरान्मनुष्याः"** [त० सू० ३।३५] इति । तेभ्योऽन्ये ये ते शेषाः तिर्यग्योनयः ।

सिद्धप्रसङ्ग इति चेत्; न; सांसारिकप्रकरणात् ।२। स्यान्मतम्–औपपादिकमनुष्येभ्योऽन्यत्वं सिद्धानामप्यस्ति इति तिर्यग्योनित्वप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम् ? सांसारिकप्रकरणात् । संसारिणः प्रकृताः, तेन तेभ्योऽन्ये संसारिण एव तिर्यग्योनयो न सिद्धाः । अथ केयं तिर्यग्योनिः ?

तिरोभावात् तैर्यग्योनिः ।३। तिरोभावो न्यग्भावः उपबाह्यत्वमित्यर्थः, ततः कर्मोदयापादितभावा तिर्यग्योनिरित्याख्यायते । तिरश्चि योनिर्येषां ते तिर्यग्योनयः । ते च त्रसस्थावरादिविकल्पा व्याख्याताः ।

देवादिवत्तदाधारनिर्देश इति चेत्; न; सर्वलोकव्यापित्वात् ।४। स्यान्मतम्–यथा देवानामूर्ध्वलोकः, मनुष्याणां तिर्यग्लोकः, नारकाणामधोलोक आधारविशेष उक्तः तथा तिर-

---

१ "अणुदिस जाव अवरा-इदविमाणवासियदेवाणमंतरं केवचिरं कालादो होदि ? जहण्णेणं वासपुधत्तं । उक्कस्सेण बे सागरोवमाणि सादिरेयाणि ।" –षट्खं० खुद्दा० २।३।३०–३२ । २ वर्षान् सं० आ०, ब०, द०, मु० । ३ "विजयवेजयंतजयंतअवराजिय देवाणं भंते, जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए से णं भंते केवति० (उ०)....भवादेसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं उक्कस्सेणं चत्तारि भवग्गहणाइं''सव्वट्ठसिद्धदेवाणं भंते''भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं''"–भग० सू० २४।२२।१६-१७ । ४ सर्वार्थसिद्धौ च्यु–आ०, ब०, मु० । ५ मनुष्यभवेषूत्प– अ० । ६ –तः प्राप्नोति अभ्यर्हितत्वान्नैव दोषः औपपादिकस्य आ०, ब०, मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्चामपि आधारो विशिष्टो निर्देष्टव्य इति; तन्न; किं कारणम् ? सर्वलोकव्यापित्वात्[1] ते हि तिर्यञ्चः सर्वान् लोकान् व्याप्य वर्तन्ते इति। कुतः पुनः सर्वलोकव्यापित्वमेषामिति चेत् ? उच्यते–

सूक्ष्मबादरभेदात् ।५। तिर्यञ्चो द्विविधाः–सूक्ष्मा बादराश्चेति सूक्ष्मबादरनामकर्मोदयापादितभावाः। तत्र सूक्ष्माः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः सर्वलोकव्यापिनः। बादराः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः विकलेन्द्रियाः पचेन्द्रियाश्च क्वचिदेव वर्तन्ते न सर्वत्र ।

द्वितीयेऽध्याये तन्निर्देश इति चेत्; न; कृत्स्नलोकभावात् ।६। स्यादेतत्–द्वितीयेऽध्याये एषां तिरश्चां निर्देशः कर्तव्यः नात्रेति; तन्न; किं कारणम् ? कृत्स्नलोकभावादयमेव तन्निर्देशो युक्तः, सर्वाल्लोकानुक्त्वा तदाधारनिर्देशः सुगम इति ।

शेषसंप्रतिपत्तेश्च ।७। नारकादीन् सर्वानुक्त्वा तेभ्योऽन्ये शेषास्तिर्यञ्च इति शेषसंप्रतिपत्तिश्च भवति इति इहैव तन्निर्देशो युक्तः ।

स्थितिरिदानीं वक्तव्या। सा नारकाणां मनुष्याणां तिरश्चां चोक्ता, देवानामुच्यते। तत्र [2]चादावुद्दिष्टानां भवनवासिनां स्थितिप्रतिपादनार्थमाह–

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्धहीनमिता ॥२८॥

असुरादीनां सागरोपमादिभिरभिसंबंधो यथाक्रमम् ।१। असुरादीनां सागरोपमादिभिर्यथाक्रममभिसंबन्धो वेदितव्यः। इयं स्थितिरुत्कृष्टा। जघन्याप्युत्तरत्र वक्ष्यते। तद्यथा–असुराणां सागरोपमा स्थितिः, नागानां त्रीणि पल्योपमानि, सुपर्णानाम् अर्धतृतीयानि[3], द्वीपानां द्वे, शेषाणां षण्णाम् अध्यर्धपल्योपमम् ।

आद्य[4]देवनिकायस्थित्यभिधानानन्तरं व्यन्तरज्योतिष्कस्थितिवचने क्रमप्राप्ते सति तदुल्लङ्घ्य वैमानिकानां स्थितिरुच्यते। कुतः ? तयोरुत्तरत्र लघुनोपायेन स्थितिवचनात्। तेषु च आदावुद्दिष्टयोः कल्पयोः स्थितिविधानार्थमाह–

सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके ॥२९॥

द्विवचननिर्देशाद् द्वित्वगतिः ।१। सागरोपमे इति द्विवचननिर्देशाद् द्वे सागरोपमे इति गम्यते ।

अधिके इत्यधिकार आ सहस्रारात् ।२। अधिके इत्ययं अधिकारो द्रष्टव्यः। आ कुतः ? आ सहस्रारात्। तेन सौधर्मैशानयोर्देवानामुत्कृष्टा स्थितिः द्वे सागरोपमे सातिरेके प्रत्येतव्ये ।

उत्तरयोः स्थितिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥३०॥

अधिकारात् सागराधिकसंप्रत्ययः ।१। सागरग्रहणम् अधिकग्रहणं च अनुवर्तते। तेनायमर्थो लभ्यते–सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवानामुत्कृष्टा स्थितिः सप्तसागरोपमाणि साधिकानि इति ।

ब्रह्मलोकादिष्वच्युतावसानेषु[5] स्थितिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

---

१ –त् सर्वलोकव्यापित्वं कथमेषामि– आ०, ब० प० । २ चादौ निर्दिष्टा– आ०, ब०, मु० । ३ अर्धपल्यद्वयप्रमितेत्यर्थः । ४ आदिदे– आ०, ब०, मु० । ५ –च्युतान्तेषु आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिराधिकानि तु ॥३१॥

सप्तग्रहणस्य त्र्यादिभिरभिसंबन्धः द्वयोर्द्वयोः ।१। सप्तग्रहणं प्रकृतम्, तस्येह निर्दिष्टैः त्र्यादिभिरभिसंबन्धो द्रष्टव्यः। सप्त त्रिभिरधिकानि, सप्त सप्तभिरधिकानीत्यादि ।

तुशब्दो विशेषणार्थः ।२। तुशब्दो विशेषणार्थो द्रष्टव्यः। किं विशिनष्टि ? अधिकशब्दोऽनुवर्तमानः चतुर्भिरिह संबध्यते नोत्तराभ्यामित्ययमर्थो विशेष्यते । तेनायमर्थो भवति– ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयोः दशसागरोपमाणि साधिकानि । लान्तवकापिष्टयोश्चतुर्दशसागरोपमाणि साधिकानि। शुक्रमहाशुक्रयोः षोडशसागरोपमाणि साधिकानि। शतारसहस्रारयोरष्टादशसागरोपमाणि साधिकानि । आनतप्राणतयोर्विंशतिः सागरोपमाणि । आरणाच्युतयोर्द्वाविंशतिः सागरोपमाणि उत्कृष्टा स्थितिरिति । ननु च तुशब्दोऽनर्थकः 'अधिके' इत्यधिकारे आसहस्रारादित्युक्तत्वात् ? न, अतस्तत्सिद्धेः ।

तत 'ऊर्ध्वं' स्थितिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे[1] च ॥३२॥

अधिकारादधिकसंबन्धः ।१। अधिकग्रहणमनुवर्तते तेनेह संबन्धो वेदितव्यः–एकैकेनाऽधिकानीति । किमर्थं नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिष्विति पृथग् ग्रहणम् ?

ग्रैवेयकेभ्यो विजयादीनां पृथग्ग्रहणमनुदिशसंग्रहार्थम् ।२। ग्रैवेयकविजयादिष्वित्युच्यमाने अनुदिशविमानानामसंग्रहः स्यात्, ततस्तत्संग्रहार्थं पृथग्ग्रहणं क्रियते ।

प्रत्येकमेकैकवृद्ध्यभिसंबन्धार्थं नवग्रहणम् ।३। ग्रैवेयकेष्वित्युच्यमाने यथा विजयादिषु सर्वेषु एकमेव सागरोपममधिकं तथा सर्वेषु ग्रैवेयकेषु एकमेव सागरोपममधिकमिति प्रतीयेत तस्मान्नवग्रहणं क्रियते । नवसु प्रत्येकमेकैकस्य सागरोपमस्य आधिक्यं यथा स्यादिति । अथ सर्वार्थसिद्धस्य पृथग्ग्रहणं किमर्थम् ?

सर्वार्थसिद्धस्य पृथग्ग्रहणं विकल्पनिवृत्त्यर्थम् ।३। यथाऽधस्ताज्जघन्योत्कर्षस्थितिविकल्पः तथा सर्वार्थसिद्धे माभूत् इत्येवमर्थं पृथग्ग्रहणं क्रियते । तेनायमर्थो वेदितव्यः–अधोग्रैवेयकेषु प्रथमे त्रयोविंशतिसागरोपमाणि । द्वितीये चतुर्विंशतिसागरोपमाणि । तृतीये पञ्चविंशतिसागरोपमाणि। मध्यमग्रैवेयकेषु प्रथमे षड्विंशतिसागरोपमाणि, द्वितीये सप्तविंशतिः[2], तृतीये अष्टाविंशतिः । उपरिमग्रैवेयकेषु प्रथमे एकान्नत्रिंशत्, द्वितीये त्रिंशत्, तृतीये एकत्रिंशत् । अनुदिशविमानेषु द्वात्रिंशत् । विजयादिषु त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि उत्कृष्टा स्थितिः । सर्वार्थसिद्धे त्रयस्त्रिंशदेवेति ।

अत्राह मनुष्यतिर्यग्योनिजानां परापरस्थिती व्याख्यायते, देवानां किं उत्कृष्टैव न वेति ? उच्यते—

अपरा पल्योपममधिकम् ॥३३॥

अपरा जघन्येत्यर्थः । स्थितिरित्यनुवर्तते । व्याख्यातपरिमाणपल्योपमम् । केषाम् ? देवानामियं जघन्या स्थितिः ? सौधर्मैशानयोर्देवानाम् । कथं गम्यते ?

१ ऊर्ध्वं अ० । २ –सिद्धौ च आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ३ –तिः सागरोपमाणि तृ– आ०, ब०, द०, मु० ।

पारिशेष्यात्सौधर्मैशानयोरपरा स्थितिः ।१। भवनवास्यादीनां जघन्या स्थितिर्वक्ष्यते । सानत्कुमारादीनां च परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा इति । ततः परिशेषात् सौधर्मैशानयोर्देवानां साधिकं पल्योपमं जघन्या स्थितिर्वेदितव्या ।

तत ऊर्ध्वं जघन्यस्थितिप्रतिपादनार्थमाह–

परतः परतः पूर्वा पूर्वानन्तरा ॥३४॥

परस्मिन् देशे परतः, तस्य वीप्सायां द्वित्वम् । पूर्वशब्दस्यापि । किमुक्तं भवति–पूर्वा पूर्वा या स्थितिरुत्कृष्टोक्ता सा सा उपरि उपरि देवानां जघन्येत्येतदुक्तं भवति। किमविशेषेण ? नेत्याह ।

अधिकग्रहणानुवृत्तेः 'सातिरेकसंप्रत्ययः ।१। अधिकग्रहणमनुवर्तते ? क्व प्रकृतम् ? **'अपरा पल्योपममधिकम्'** इत्यत्र, सातिरेकसंप्रत्ययो भवति । सौधर्मैशानयोः परा स्थितिः द्वे सागरोपमे साधिके । ते सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सातिरेके जघन्या स्थितिः । सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः परा स्थितिः सप्तसागरोपमाणि साधिकानि । तानि सातिरेकाणि ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयोर्जघन्या स्थितिरित्यादि । आ कुतोऽयमधिकारः ?

आ विजयादिभ्योऽधिकारः ।२। आ विजयादिभ्योऽनुत्तरेभ्यः अयमधिकारो वेदितव्यः । कथं गम्यते ? 'सर्वार्थसिद्धस्य पृथग् ग्रहणात्' इत्युक्तं पुरस्तात् ।

अनन्तरेत्यवचनं पूर्वोक्तेरिति चेत् ; न ; व्यवहिते पूर्वशब्दप्रयोगात् ।३। स्यान्मतम्, पूर्वेति वचनात् आनन्तर्यप्रतीतेः अनन्तरेति वचनमनर्थकमिति ; तन्न ; किं कारणम् ? व्यवहितेऽपि पूर्वशब्दप्रयोगात् । अयं हि पूर्वशब्दः व्यवहितेऽपि प्रयुज्यते । तद्यथा–पूर्वं मथुरायाः पाटलिपुत्रमिति । ततः[2] सौधर्मैशानयोः या परा स्थितिः सा ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलोकयोर्जघन्या स्थितिरित्येवमाद्यनिष्टं प्रतीयेत ततोऽनन्तरमुच्यते ।

नारकाणामुत्कृष्टा स्थितिरुक्ता, जघन्या सूत्रेऽनुक्ता, तामप्रकृतामपि लघुनोपायेन प्रतिपादयितुमिच्छन्नाह–

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥

चशब्दः किमर्थः ?

चशब्दः प्रकृतसमुच्चयार्थः ।१। चशब्दः क्रियते प्रकृतसमुच्चयार्थः । किं प्रकृतम् ? परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा अपरा स्थितिरिति । तेनायमर्थो लभ्यते–रत्नप्रभायां नारकाणां परा स्थितिरेकं सागरोपमं सा शर्कराप्रभायां जघन्या । शर्कराप्रभायामुत्कृष्टा स्थितिः त्रीणि सागरोपमाणि, सा बालुकाप्रभायां जघन्येत्येवमादि । तद्व्यासो[3] व्याख्यातः पुरस्तात् ।

अथ प्रथमायां पृथिव्यां का जघन्या स्थितिरिति ? अत आह–

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥३६॥

अपरा स्थितिरित्यनुवर्तते[4] ।

अथ भवनवासिनां का जघन्या स्थितिरिति ?अत आह–

---

१ सातिरेके सं– अ० । २ अतः आ०, ब०, द०, मु० । ३ उत्कृष्टा स्थितिः । ४ रत्नप्रभायां दशवर्षसहस्राणि अपरा स्थितिर्वेदितव्या ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवनेषु च ॥३७॥

चशब्दः किमर्थः ? प्रकृतसमुच्चयार्थ इति । एवं तेन भवनवासिनामपरा स्थितिर्दशवर्षसहस्राणि इत्यभिसंबध्यते ।

व्यन्तराणां तर्हि का जघन्या स्थितिरिति ? अत आह–

व्यन्तराणां च ॥३८॥

चशब्दः प्रकृतसमुच्चयार्थ इति, एवं तेन व्यन्तराणामपरा स्थितिः दशवर्षसहस्राणि इत्यवगम्यते ।

परा व्यन्तराणां प्रागभिधातव्येति चेत्; न; लाघवार्थत्वात् ।१। स्यादेतत्–यथा अन्येषां देवनिकायानां परा स्थितिः प्रागुक्ता तथा व्यन्तराणामपि परा प्रागभिधातव्या इति ? तन्न ; किं कारणम् ? लाघवार्थत्वात् । यदि परा स्थितिः प्रागुच्येत पुनः दशवर्षसहस्रग्रहणं क्रियेत, तथा सति गौरवं स्यात् ।

यद्येवम्, अमीषां का परा स्थितिरिति ? अत आह–

परा पल्योपममधिकम् ॥३९॥

स्थित्यभिसंबन्धात् स्त्रीलिङ्गनिर्देशः ।१। स्थितिरित्यनुवर्तते । तेनाभिसंबन्धात् परेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशो द्रष्टव्यः ।

इदानीं ज्योतिष्काणां परा स्थितिर्वक्तव्येति, अत आह–

ज्योतिष्काणां च ॥४०॥

चशब्दः प्रकृतसमुच्चयार्थ इति, एवं[1] तेनैवमभिसंबध्यते–ज्योतिष्काणां च परा स्थितिः पल्योपममधिकमिति ।

अथापरा ज्योतिष्काणां कियती स्थितिरिति[2] ? अत आह–

तदष्टभागोऽपरा ॥४१॥

तस्य पल्योपमस्याष्टभागो ज्योतिष्काणामपरा स्थितिरित्यर्थः । अत्राह–'ज्योतिष्काणां पल्योपममधिकं परा स्थितिः' इत्यविशेषाभिधाने न ज्ञायते चन्द्रादीनां किं स्थितिविशेष इति ? अत्रोच्यते–

चन्द्राणां वर्षशतसहस्राधिकम् ।१। चन्द्राणां वर्षशतसहस्राधिकं पल्योपमं परा स्थितिः ।

सूर्याणां वर्षसहस्राधिकम् ।२। वर्षसहस्राधिकं पल्योपमं सूर्याणां परा स्थितिः ।

शुक्राणां शताधिकम् ।३। शुक्राणां वर्षशताधिकं पल्योपमं परा स्थितिः ।

बृहस्पतीनां पूर्णम् ।४। बृहस्पतीनां पूर्णपल्योपमं परा स्थितिः, [3]नाधिकम् ।

शेषाणामर्धम् ।५। शेषाणां ग्रहाणां बुधादीनां पल्योपमस्यार्धं परा स्थितिः ।

नक्षत्राणां च[4] ।६। किम् ? अर्धपल्योपमं परा स्थितिः ।

तारकाणां चतुर्भागः ।७। पल्योपमस्य चतुर्भागस्तारकाणां परा स्थितिः ।

---

१ एतेन मु० । २ –रित्याह श्र०, मू० । ३ साधिकम् श्रा०, ब०, द०, मु० । ४ च नक्षत्राणामर्ध– श्रा०, ब०, द०, मु० ।

३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तदष्टभागो जघन्योभयेषाम् ।८। तस्य पल्योपमस्याष्टभागः जघन्या स्थितिः उभयेषां तारकाणां नक्षत्राणां च भवति ।

शेषाणां चतुर्भागः ।९। शेषाणां सूर्यादीनां पल्योपमस्य चतुर्भागो जघन्या स्थितिर्वेदितव्या ।

अथ लौकान्तिकदेवानां का स्थितिरिति ? अत्रोच्यते–

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्[1] ॥४२॥

अष्टसागरोपमस्थितयो लौकान्तिकाः ।१। एकैव लौकान्तिकानां स्थितिः । [2]कासौ ? अष्टौ सागरोपमाणि । सर्वे ते शुक्ललेश्याः पञ्चहस्तोत्सेधशरीराः ।

व्याख्यातो जीवः ।२। सम्यग्दर्शनस्य विषयप्रदर्शनमुखेनोपन्यस्तेषु जीवादिषु आद्यो जीवपदार्थो व्याख्यातः ।

स च एकोऽनेकात्मकः ।३। स जीव एकः अनेकात्मको भवति । कुत एकस्यानेकात्मकत्वमिति चेत् ? अत्रोच्यते–

अभावविलक्षणत्वात् ।४। अभूतं नास्तीत्येकरूपोऽभावः । न हि अभावः अभावात्मना भिद्यते । तद्विसदृशस्तु नानारूपो भावः, इतरथा हि तयोरविशेष एव स्यात् । स तु षोढा भिद्यते–जायते अस्ति विपरिणमते वर्धते [3]अपक्षीयते विनश्यतीति । तत्र उभयनिमित्तवशादात्मलाभमापद्यमानो भावः जायत इत्यस्य विषयः । यथा [3]मनुष्यगत्यादिनामकर्मोदयापेक्षया आत्मा मनुष्यादित्वेन जायत इत्युच्यते । तस्यायुरादिनिमित्तवशादवस्थानमस्तित्वम् । [4]सत एवावस्थान्तरावाप्तिर्विपरिणामः । अनिवृत्तपूर्वस्वभावस्य भावान्तरेण आधिक्यं वृद्धिः । क्रमेण पूर्वभावैकदेशनिवृत्तिरपक्षयः । तत्पर्यायसामान्यविनिवृत्तिर्विनाशः[5] । एवं प्रतिक्षणं वृत्तिभेदादनन्तरूपा जायन्ते इति नानात्मता भावस्य, अथवा सत्[6]ज्ञेयद्रव्यामूर्तातिसूक्ष्मावगाहनासंख्येयप्रदेशाऽनादिनिधनचेतनत्वादिना । किञ्च,

अनेकवाग्विज्ञानविषयत्वात् ।५। इह लोके एकोऽर्थोऽनेकशब्दवाच्यो भवति तथाभि[7]धेयपरिणामे सति तेषां शब्दानां तत्र प्रयोगात् । प्रयोगो हि प्रतिपादनक्रिया, तस्याः शब्दार्थावुभावपि साधकौ । शब्दस्तावद् व्यञ्जकत्वात् साधकः । अर्थोऽपि व्यङ्ग्यत्वात् [8]कर्मभावमापद्यमानः तत्समकालमेव [9]स्वातन्त्र्यमनुभवति, तस्मिन् सति क्रियाप्रवृत्तेः । यथा पचौ तण्डुला कर्मरूपापन्ना एव कर्तृतामास्कन्दन्ति येनोच्यते कर्मकारकमिति, अतः तस्मिन् सति अनेकः शब्दः प्रयुज्यते यथा घटः पार्थिवः मार्तिकः [10]सन् ज्ञेयो नवो महान् इत्यादि, एवमात्मकानां च विज्ञानानामालम्बनं भवति[11] तैर्विना[12] तस्याभावात् । सर्वे ते घटस्य आत्मानः[13] । तथा आत्मन्यपि अनेकवाग्विज्ञानालम्बनदर्शनादेकस्यानेकात्मकत्वमवसेयम् । अपि च,

---

१ इदं सूत्रं नास्ति ता०, श्र०, मू०, द०, भा० १, २, ज० । वार्तिकमिदं न सूत्रम्– श्र० टि० । २ काष्टौ द० । ३ अपक्षयते ता०, द०, मु० । ३ मनुष्यगतिनाम– मु०, द०, मू० । मनुष्यादिनाम– श्र० । ४ सतोऽवस्था– मु० । ५ –शः एवं प्रतिक्षणवृत्तिभे– मु०, द० । –शः त एव प्रतिक्षणं वृत्तिभे– मू० श्र० । ६ स तु ज्ञे– श्र०, मू० । सन्ज्ञेय– मु०, द० । ७ अर्थस्य । ८ क्रियाव्याप्यं कर्म । ९ कर्तृत्वम् । १० स तु ज्ञे– श्र० । ११ भावः । १२ शब्दवाग्विज्ञानाविसन्निधानाज्जातकर्मरूपाताभिः । १३ स्वरूपाः ।

अनेकशक्तिप्रचितत्वात् ।६। यथा घृतं स्नेहयति तर्पयति उपबृंहयतीति अनेकशक्ति, घटो वा जलधारणाहरणादिलक्षणयाऽनेकया शक्त्या प्रचितः, तथा आत्मनोऽपि द्रव्यक्षेत्रकालभावनिमित्तवशादनेकविकारप्राप्तियोग्यबहुशक्तियोगादनेकात्मकत्वम् । इतश्च,

वस्त्वन्तरसम्बन्धाविर्भूतानेकसम्बन्धिरूपत्वात् ।७। यथैको घटः [1]पूर्वापरान्तरितानन्तरित-दूरासन्न-नवपुराण-समर्थासमर्थ-देवदत्तकृतचैत्रस्वामिकत्व-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागादिभेदादनेकव्यपदेशभाग्भवति, सम्बन्धानामानन्त्यात्, तत्तत्सम्बन्धिनमवेक्ष्य तस्य तस्य पर्यायस्य भावात् । अथवा, पुद्गलानामानन्त्यात्तत्तत्पुद्गलद्रव्यमपेक्ष्य एकपुद्गलस्थस्य तस्यैकस्यैव पर्यायस्याऽन्यत्वभावात् । यथा प्रदेशिन्याः [2]मध्यमाभेदात् यदन्यत्वं न तदेव अनामिकाभेदात् । मा भूत् मध्यमाऽनामिकयोरेकत्वं मध्यमाप्रदेशिन्यन्यत्वहेतुत्वेनाऽविशेषादिति । न चैतत्परा[3]वधिकमेवार्थसत्त्वम् । यदि मध्यमासामर्थ्यात् प्रदेशिन्याः ह्रस्वत्वं [4]जायेत शशविषाणेऽपि स्याच्छक्रयष्टौ[5] वा । नापि स्वत एव, परापेक्षाभावे तद्व्यक्त्यभावात् । तस्मात्तस्यानन्तपरिणामस्य द्रव्यस्य तत्तत्सहकारिकारणं प्रतीत्य तत्तद्रूपं वक्ष्यते । न [6]तत् स्वत एव नापि परकृतमेव । एवं जीवोऽपि कर्मनोकर्मविषयवस्तूपकरणसम्बन्धभेदादाविर्भूतजीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानविकल्पाऽनन्तपर्यायरूपः प्रत्येतव्यः । इतश्च,

अन्यापेक्षाभिव्यङ्ग्याऽनेकरूपोत्कर्षापकर्षपरिणतगुणसम्बन्धित्वात् ।८। यथा एको घट एकद्वित्रिचतुःसंख्येयाऽसंख्येयानन्तावस्थोत्कर्षापकर्षात्मकरूपादिपरिणतिप्रतियोगिद्रव्यापेक्षासहकारिकारणाभिव्यञ्जनीया[7]त्मीयानन्तनीलनीलतरादिपरिणामः, तथा जीवोऽपि परद्रव्यसंबन्धापेक्षाभिव्यक्ततीव्राद्यवस्थाविशेषक्रोधाद्यविभागपरिच्छेदाऽनन्तरूपत्वादनेकः। इतश्च,

अतीतानागतवर्तमानकालसंबन्धित्वात् ।९। इह[8] समुदायावयवप्रध्वंसविषयेणातीतेन कालेन उत्पत्तिनि[9]र्ज्ञातसंभावन[10]विषयेण च अनागतेन कालेन, साधनप्रवृत्त्यविरामगोचरेण च वर्तमानेन कालेन संबन्धात् मृदादिद्रव्यं तस्मिन् तस्मिन् कालेऽनेकभेदमापद्यमानं दृष्टम् । वर्तमानमात्रत्वेऽपूर्वत्वात् अपरत्वाच्च अवश्यभावे वर्तमानस्याप्यभावो बन्ध्यापुत्रयुवत्ववत् । तथा जीवस्यापि अनाद्यतीतकालसम्बन्धपरिणतैः अनागतानन्तकालवशवर्तिभिः वर्तमानकालोद्भूतवृत्तिभिश्च पर्यायैरर्थव्यञ्जनभेदाद् द्वैविध्यमास्कन्दद्भिरभिसम्बन्धादनन्तरूपता । इतश्च,

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वात् ।१०। उत्पादादीनामानन्त्यम् अनन्तकाले एकस्मिश्च काले । यथा घट एकस्मिन्नेव काले द्रव्यतः पार्थिवत्वेन उत्पद्यते न जलत्वेन, देशत इहत्यत्वेन न पाटलिपुत्रकत्वेन, कालतो वर्तमानकालतया नातीतानागताभ्याम्, भावतो महत्त्वेन नाल्पत्वेन, एतेषां च एकैक उत्पादः सजातीयान्यपार्थिवानेकघटान्तरगतेभ्यः सौवर्णादीषद्विजातीयघटान्तरगतेभ्यो वा अत्यन्तविजातीयपटाद्यनन्तमूर्तामूर्तद्रव्यान्तरापन्नेभ्यो वा उत्पादेभ्यो भिद्यमानः तावद्धा[11]भेदमुपयाति अन्यथा [12]तैरविशिष्टः[13]स्यात् । तथा सदेवानुत्पद्यमानद्रव्यसंबन्धकृतोर्ध्वाधस्तिर्यगन्तरितानन्तरितैकान्तरादिदिग्भेद-महदल्पत्वादिगुणभेद-रूपाद्युत्कर्षापकर्षानन्तभेद-त्रैलोक्यत्रिकालविषयसंबन्धिवशभिद्यमानरूपो वा उत्पादोऽनेको भवति ।

---

१ पूर्वपरान्तरितवू– द०, मु०, ता० । २ सकाशाज्जात । ३ अन्यकारणकम् । परार्थायत्तमेव –ता० टि० । ४ स्वशक्तिमन्तरेण । ५ –क्रमुष्टौ वा मु० । इन्द्रधनुषि–स० ६ अनन्तपरिणामत्वम् । ७ –पानन्त–अ० । ८ वस्तुनि । ९ निश्चयेन । १० मनुष्योऽयं देवोऽयं भविष्यत्येवेति । ११ षड्कतिसंख्येति संख्यावरवे प्रकारे धेति धाप्रत्ययः । १२ उत्पादान्तरैः । १३ एकत्वं स्यादित्यर्थः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथाऽनेकावयवात्मकस्कन्धप्रदेशभेददृष्टविषमोत्पादनानारूपतया वा अनेक उत्पादः । उदकादिधारणाहरणप्रदानाधिकरणभयहर्षशोकपरितापभेदजननादिस्वकार्यप्रसाधनेन वा अनेक उत्पादः । तदैव तावन्त एव तत्प्रतिपक्षभूता विनाशाः[1], पूर्वेणाविनष्टस्य उत्तरेणानुत्पादात्[2] । [3]उभयविपक्षभूताः स्थितयोऽपि तदैव तावत्यः तदाधारभूताः, अनवस्थितस्य वन्ध्यापुत्रवदुत्पादविनाशासंभवात्, अभावप्रसङ्गाच्च । घट उत्पद्यत इति यदा वर्तमानकालता; तदा अनभिनिर्वृत्तत्वात् पूर्वापरीभूतसाध्यमानभावाभिधानाच्चासत्त्वम् । उत्पत्त्यनन्तरं तु विनाशेऽभ्युपगम्यमाने सत्त्वभूतावस्थाभिधायकोत्पन्नशब्दवाच्यत्वाभावात् उत्पादेऽप्यभावो विनाशेऽप्यभाव इति भावाभावात्तदाश्रयो व्यवहारो विरोधमुपगच्छेत्, [4]बीजशक्त्यभावाच्च उत्पादविनाशशब्दवाच्यताभ्रेषश्च । तत उत्पद्यमानता उत्पन्नता विनाशश्चेति तिस्रोऽवस्था अभ्युपगन्तव्याः । तथा जीवस्याप्येकस्य द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयगोचरसामान्यविशेषानन्तशक्त्यपेक्षार्पितस्थित्युत्पत्ति[5]निरोधानन्तरूपत्वात् अनेकत्वं प्रत्येतव्यम् । इतश्च,

अन्वयव्यतिरेकात्मकत्वाच्च ।११। इह घट एकोऽप्यन्वयव्यतिरेकात्मकतया अनेको दृष्टः सदचेतननवपुराणत्वादिभिः, तथा आत्मापि एकोऽन्वयव्यतिरेकात्मतया अनेकः प्रत्येतव्यः । के पुनरन्वयाः ? बुद्ध्यभिधानानुवृत्तिलिङ्गेन [6]अनुमीयमानाविच्छेदाः स्वात्मभूताऽस्तित्वाऽऽत्मत्वज्ञातृत्वद्रष्टृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वाऽमूर्तत्वाऽसंख्यातप्रदेशत्वावगाहनातिसूक्ष्मत्वागुरुलघुत्वाहेतुकत्वाऽनादिसंबन्धित्वोर्ध्वगतिस्वभावादयः । अथ के व्यतिरेकाः ? वाग्विज्ञानव्यावृत्तिलिङ्गसमधिगम्यपरस्परविलक्षणा उत्पत्तिस्थितिविपरिणामवृद्धि[7]क्षयविनाशधर्माणः गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्यासम्यक्त्वादयः ।

तस्य शब्देनाभिधानं क्रमयौगपद्याभ्याम् ।१२। तस्यैकस्य जीवस्यानेकात्मकस्य प्रत्यायने शब्दः प्रवर्तमानो द्वेधा व्यवतिष्ठते क्रमेण यौगपद्येन वा, न तृतीयो [8]वाक्पथोऽस्ति ।

ते च कालादिभिर्भेदाभेदार्पणात् ।।१३।। ते च क्रमयौगपद्ये कालादिभिः भेदाभेदार्पणाद्भवतः । यदा वक्ष्यमाणैः [9]कालादिभिरस्तित्वादीनां धर्माणां भेदेन विवक्षा तदैकस्य शब्दस्यानेकार्थप्रत्यायनशक्त्यभावात् क्रमः । यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि शब्देन एकधर्मप्रत्यायनमुखेन [10]तदात्मकत्वमापन्नस्य अनेकाशेषरूपस्य प्रतिपादनसंभवात् यौगपद्यम् । तत्र यदा यौगपद्यं तदा सकलादेशः, स एव प्रमाणमित्युच्यते । *"**सकलादेशः प्रमाणाधीनः**" [ ] इति वचनात्[11] । यदा तु क्रमः तदा विकलादेशः, स एव नय इति व्यपदिश्यते । *"**विकलादेशो नयाधीनः**" [ ] इति वचनात् । कथं सकलादेशः ?

एकगुणमुखेनाऽशेषवस्तुरूपसंग्रहात् सकलादेशः ।१४। यदा अभिन्नमेकं वस्तु एकगुणरूपेण उच्यते गुणिनां गुणरूपमन्तरेण विशेषप्रतिपत्तेरसंभवात् । एको हि जीवोऽस्तित्वादिष्वेकस्य[12] गुणस्य रूपेणाऽभेदवृत्त्या अभेदोपचारेण वा निरंशः समस्तो वक्तुमिष्यते, विभागनिमित्तस्य प्रतियोगिनो गुणान्तरस्य तत्रानाश्रयणात्, तदा सकलादेशः । कथमभेदवृत्तिः

---

१ कुतः ? २ उत्पादाभावात् । ३ ध्रौव्यस्वरूपमाह । ४ कारण । ५ निरोधो नाम नाशः । ६ अनुमीयमानतयैवेदमित्यात्मकतया अनुकूला वृत्तिः भा० २ टि० । ७ –द्धिह्रास वि– मु० । ८ वाक्यार्थोऽस्ति मु०, द० । ९ काल आत्मरूपः अर्थः सम्बन्ध उपकारः गुणिदेशः संसर्गः शब्द इति । १० तदेकत्वमाप– मु०, द० । ११ उद्धृतमिदम्– स० सि० १।६। १२ –स्य रूपेण मु० । –स्य गुणरूपेण मु०, द० ।

कथं वा अभेदोपचारः ? द्रव्यार्थत्वेनाश्रयणे तदव्यतिरेकादभेदवृत्तिः । पर्यायार्थत्वेनाश्रयणे परस्परव्यतिरेकेऽपि एकत्वाध्यारोप[1]:, ततश्चाऽभेदोपचारः ।

तत्राऽऽदेशवशात् सप्तभङ्गी प्रतिपदम् ।१५। तत्रैतस्मिन् सकलादेश आदेशवशात् सप्तभङ्गी प्रतिपदं वेदितव्या । तद्यथा–स्यादस्त्येव जीवः, स्यान्नास्त्येव जीवः, स्यादवक्तव्य एव जीवः, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादस्ति चाऽवक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च इत्यादि । उक्तं च–

"*[2]पुच्छावसेण भंगा सत्तेव दु संभवंति जस्स जधा ।
[3]वत्थुत्ति तं पउच्चदि सामण्णविसेसदो [4]णियदं ॥१॥" [ ] इति ।

तत्र स्यादस्त्येव जीव इत्येतस्मिन् वाक्ये जीवशब्दो द्रव्यवचनः विशेष्यत्वात्, अस्तीति गुणवचनो विशेषणत्वात् । [5]तयोस्सामान्यार्थाविच्छेदेन विशेषणविशेष्यसंबन्धावद्योतनार्थ एवकारः । तेनेतरनिवृत्तिप्रसङ्गे तत्संभवप्रदर्शनार्थः स्याच्छब्दप्रयोगः, स च [6]लिङन्त-प्रतिरूपको निपातः । तस्यानेकान्तविधिविचारादिषु बहुष्वर्थेषु संभवत्सु इह विवक्षावशात् अनेकान्तार्थो गृह्यते । यद्ययमनेकान्तार्थः तेनैव सर्वस्योपादानात् इतरेषां पदानामानर्थक्यं प्रसज्यते; नैष दोषः; सामान्येनोपादानेऽपि विशेषार्थिना विशेषोऽनुप्रयोक्तव्यः, वृक्षशब्दस्य सामान्यशब्दत्वात् धवादिविशेषप्रतिपादने धवाद्युपादानवत् । अथवा, स्याच्छब्दोऽयमनेकान्तार्थस्य द्योतकः । द्योतकश्च[7] वाचकप्रयोगसन्निधिमन्तरेणाऽभिप्रेतार्थविद्योतनाय नालमिति[8]तद्द्योत्यधर्माधारार्था[9]भिधानायेतरपदप्रयोगः क्रियते । अथ केनोपात्तोऽनेकान्तार्थः अनेन द्योत्यते ? उक्तमेतत्–अभेदवृत्त्या अभेदोपचारेण वा प्रयुक्तशब्दवाच्यतामेवास्कन्दन्ति इतरे धर्मा इति । एवमितरेष्वपि वाक्येषु[10] अर्थप्रकल्पनं प्रत्येतव्यम् ।

यद्येवं स्यादस्त्येव जीवः इत्यनेनैव सकलादेशेन जीवद्रव्यगतानां सर्वेषां धर्माणां संग्रहात् इतरेषां भङ्गानामानर्थक्यमासजति; नैष दोषः; गुणप्राधान्यव्यवस्थाविशेषप्रतिपादनार्थत्वात् सर्वेषां भङ्गानां प्रयोगोऽर्थवान् । तद्यथा, द्रव्यार्थिकस्य प्राधान्ये पर्यायगुणभावे च प्रथमः । पर्यायार्थिकस्य प्राधान्ये द्रव्यगुणभावे च द्वितीयः । तत्र प्राधान्यं शब्देन विवक्षितत्वाच्छब्दाधीनम्, शब्देनानुपात्तस्यार्थतो गम्यमानस्याऽप्राधान्यम् । तृतीये तु युगपद्भावे उभयस्याप्राधान्यं शब्देनाभिधेयतयाऽनुपात्तत्वात् । चतुर्थस्तूभयप्रधानः क्रमेण उभयस्या[11]स्त्यादिशब्देन उपात्तत्वात् । तथोत्तरे च भङ्गा वक्ष्यन्ते ।

तत्रास्तित्वैकान्तवादिनः 'जीव एव अस्ति' इत्यवधारणे अजीवनास्तित्वप्रसङ्गभयादिष्टतोऽवधारणविधिः 'अस्त्येव जीवः' इति नियच्छन्ति[12], तथा चावधारणसामर्थ्यात् शब्दप्रापितादभिप्रायवशवर्तिनः सर्वथा[13] जीवस्याऽस्तित्वं प्राप्नोति । सर्वेणाऽस्तित्वेन[14] व्याप्त इति पुद्गलाद्यस्तित्वेनापि जीवस्यास्तित्वं [15]प्राप्तम्, शब्देन तथा प्रापितत्वात्, शब्दप्रमाणकाश्च वयमर्थाधिगमे । [16]स्यान्मतम्, अस्तित्वसामान्येन व्याप्तिर्न त्वस्तित्व-

१ –पात्तत–मु०, द । २ प्रश्नवशेन । ३ स्वरूपं भवतीति । ४ प्रश्नवशेन भङ्गा सप्तैव तु संभवन्ति यस्य यथा । वस्तु इति तत् प्रोच्यते सामान्यविशेषतो नियतम् । ५ सामान्यात्मनोः । ६ तिङन्तप्र– मु०, द० । ७ स्यात्कारचकारावि । ८ स्यात्कारेण । ९ –रत्वाभि– मु०, द० । १० पदसु । ११–यस्यापि शब्देन ता०,श्र० । १२ नियमं करोति । १३ –थास्य जी– मु०, द० । १४ पुद्गलादिप्रकारेण । १५ तन्माभूदिति स्याच्छब्दप्रयोगे इत्यभिप्रायः । १६ अत्राह परः –स्यात्कारमन्तरेण पुद्गलाद्यस्तित्वेन जीवस्यास्तित्वं न प्राप्नोति, किन्तु स्वत एवेति समर्थयितुं स्यादित्यादिना ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषैः यथा अनित्यमेव कृतकमिति अनित्यत्वस्याभावे कृतकत्वस्याप्यभाव एवेत्यवधारणात्, यत्कृतकं तत्सर्वमनित्यमिति, न हि सर्वप्रकारेण अनित्यत्वेन [1]सर्वप्रकारं कृतकत्वं व्याप्यते किन्तु अनित्यत्वसामान्येन, [2]नाऽनित्यत्वव्यक्तया घटपटरथादिगतयेति । एवं तर्हि त्वयैवाभ्युपगतं अवधारणनिष्फलत्वं सामान्याऽनित्यत्वेनाऽनित्यत्वं न विशेषाऽनित्यत्वेनेति । स्वगतेनापि विशेषेणानित्यं भवत्येवेति चेत्; न; स्वगतेनेति विशेषणात्, परगतेन विशेषेणाऽनित्यत्वं न भवतीति आपद्यते, अनवधारणकं वा वाक्यं प्रयोक्तव्यम्–अनित्यं कृतकमिति । तथा चाऽनित्यस्याऽनवधृतत्वात् नित्यत्वप्रसङ्गोऽपि । एवं यद्यस्तित्वसामान्येनास्ति जीवः न तु पुद्गलादिगतयाऽस्तित्वव्यक्तया, अतो न पुद्गलाद्यस्तित्वेन अस्तित्वं जीवस्येति ब्रुवता त्वयैवाभ्युपगतं सामान्यरूपं विशेषरूपं चेति प्रकारवदस्तित्वमिति । तथा सति सामान्यास्तित्वेनास्ति विशेषास्तित्वेन नास्तीति स्यादस्ति स्यान्नास्तीति प्राप्तमवधारणनिष्फलत्वम् । सर्वेण हि प्रकारेणाऽस्तित्वाभ्युपगमे नास्तित्वनिरासेन अवधारणं फलवत् स्यात् । अनियमे तु अव्यावृत्तत्वात् पुद्गलाद्यस्तित्वेनापि प्राप्तिरित्यवश्यम् एकान्तवादिनाऽवधारणमभ्युपगमनीयम् । तथा च सति पूर्वोक्तो दोषः ।

स्यादेतत्–यदस्ति तत् स्वायत्तद्रव्यक्षेत्रकालभाव[3]रूपेण भवति नेतरेण तस्याऽप्रस्तुतत्वात्[4] । यथा घटो द्रव्यतः पार्थिवत्वेन, क्षेत्रत इहत्यतया, कालतो वर्तमानकालसंबन्धितया, भावतो रक्तत्वादिना, न परायत्तैर्द्रव्यादिभिस्तेषामप्रसक्तत्वात्' इति । एवं चेत् द्रव्यक्षेत्रकालभावान्तरसंबन्धितया नास्तीत्यतः स्यादस्ति स्यान्नास्तीति सिद्धम् । नियमानभ्युपगमे तु स घटो न स्यादेव[5] असामान्यत्वे सति नियतद्रव्यक्षेत्रकालभावसंबन्धित्वेनाऽभूतत्वात् शशविषाणवत् । अनियतद्रव्यादिरूपत्वे वा सर्वथाभावात् सामान्यमेव स्यात् नासौ घटः, अनियतद्रव्यादिरूपत्वात् महासामान्यवत्[6] । कथम् ? यदि हि असौ द्रव्यतः पार्थिवत्वेन तथोदकादित्वेनापि भवेत्, ततोऽसौ घट एव न स्यात् पृथिव्युदकदहनपवनादिषु वृत्तत्वात् द्रव्यत्ववत् । तथा, यथा इहत्यतया अस्ति तथाविरोधिदिगन्तानियतदेशस्थतयापि यदि स्यात्तथा चासौ घट एव न स्यात् विरोधिदिगन्ताऽनियतसर्वदेशस्थत्वात् आकाशवत् । तथा, यथा वर्तमानघटकालतया अस्ति तथाऽतीतशिवकाद्यनागतकपालादिकालतयापि स्यात् तथा चाऽसौ घट एव न स्यात् सर्वकालसंबन्धित्वात् मृद्द्रव्यवत् । यथा चेहदेशकालविशेषसंबन्धितया अस्मत्प्रत्यक्षत्वं तथा अतीतानागतकालान्यदेशसम्बन्धित्वेनाप्यस्मत्प्रत्यक्षत्वं स्यात्, उदकाद्यानयनादिसंव्यवहारपातित्वं वा । तथा, यथा नवत्वेन तथा पुराणत्वेन, सर्वरूपरसगन्धस्पर्शसंख्यासंस्थानादित्वेन वा स्यात्; तथा चासौ घट एव न स्यात् सर्वथाभावित्वात् भवनवत्[6] । यथा हि भवनं रूपं रसो गन्धः स्पर्शश्च भवति पृथुः महान् ह्रस्वः पूर्णः रिक्तो वा भवतीति न कुतश्चित् वस्तुनो वस्तुधर्माद्वा व्यावर्तते तच्च न घटः, एवं घटोऽपि स्यात् । एवं जीवस्यापि मनुष्यत्वेनाऽर्प्यमाणस्य स्वद्रव्यादिरूपतयैवाऽस्तित्वं नेतरथा । यदीतरथापि स्यात्; मनुष्य एव न स्यात् नियतद्रव्यक्षेत्रकालभावसम्बन्धित्वेनाऽभूतत्वात् खरविषाणवत् । अनियतद्रव्यादिरूपत्वे वा सर्वथाभावात् सामान्यमेव स्यात् नासौ मनुष्यः अनियतद्रव्यादिरूपत्वात् महासामान्यवत् । कथम् ? यदि हि असौ यथा जीवद्रव्यत्वेनाऽस्ति एवं पुद्गलादित्वेनापि स्यात् ततोऽसौ

---

१ सर्वप्रकारः कृतकः व्या– मु०, द० । २ न त्वनि– मु०, द० । ३ –भावेन भ– मु०, द० । ४ –मप्रस्तुतत्वात् मु०, द० । ५ –नास्ति । ६ सत्तासामान्यवत् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य एव न स्यात्, पुद्गलादिष्वपि दृष्टत्वात् द्रव्यत्ववत्। तथा, यथा इहत्यतया अस्ति तथा विरोधिदिगन्तानियतदेशस्थतयापि यदि स्यात्; तथा चासौ मनुष्य एव न स्यात् विरोधिदिगन्तानियतसर्वदेशस्थत्वात् आकाशवत्। तथा, यथा वर्तमानकालतया अस्ति तथा अतीतनारकाद्यनागतदेवादिकालतयापि स्यात्, तथा चासौ मनुष्य एव न स्यात् सर्वकालसंबन्धित्वात् जीवत्ववत्। यथा च इह-देशकालविशेषसंबन्धितया अस्मत्प्रत्यक्षत्वं तथाऽतीतानागतकालान्यदेशसंबन्धित्वेनापि अस्मत्प्रत्यक्षत्वं स्यात्, यथा यौवनेन तथा वृद्धत्वेन अन्यद्रव्यगतरूपरसादिभिर्वा यदि स्यात् तथा चासौ मनुष्य एव न स्यात् सर्वथाभावित्वात् भवनवत्। तस्मात् स्यादस्ति स्यान्नास्ति।

इतश्च स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्वपरसत्ताभावाभावोभयाधीनत्वात् जीवस्य। यदि [1]परसत्तया अभावं स जीवः स्वात्मनि नापेक्षते, अतः स जीव एव न स्यात् सन्मात्रं स्यात्, नासौ जीवः सत्त्वे सति विशेषरूपेण अनवस्थितत्वात् सामान्यवत्। तथा परसत्ताभावापेक्षायामपि जीवत्वे यदि स्वसत्तापरिणतिं नापेक्षते तथापि तस्य वस्तुत्वमेव न स्यात् जीवत्वं वा, सद्भावापरिणतत्वे[2] पराभावमात्रत्वात् खपुष्पवत्। अतः पराभावोऽपि स्वसत्तापरिणत्यपेक्ष एव अस्तित्वस्वात्मवत्[3]। यथा अस्तित्वस्वात्मा अस्तित्वस्वात्मना[4] अस्ति न नास्तित्वस्वात्मनेति स्यादस्ति, स्यान्नास्ति [5]इतरथा हि वस्त्वभावः स्यात्। कथम् अभावो हि भावनिरपेक्षोऽत्यन्तशून्यं[6] वस्तु प्रतिपादयेत्[7] अन्वयाप्रतिलम्भात्[8]। भावोऽपि वा अभावनिरपेक्षः [9]सर्वरूपं वस्तु प्रतिपादयेत् व्यतिरेकाप्रतिलम्भात्। न च सर्वथा सता सर्वाभावरूपेण वा शक्यं भवितुम्। किं हि वस्तु सर्वात्मकं सर्वाभावरूपं वा दृष्टमिति ? तद्धि वस्त्वेव न स्यात् सर्वाभावरूपत्वात् खपुष्पवत्। न च वस्तुत्वं सर्वात्मकत्वात् शक्यं प्रतिपत्तुम् असाधारणत्वात्, वस्तुत्वे चाऽवस्तुत्वे चाऽदर्शनात् [10]श्रावणत्ववत्। अभावता हि भावरूप-[11]वैलक्षण्यात् [12]क्रियागुणव्यपदेशाभावात् अवतिष्ठते। भावतापि अभाववैलक्षण्यात् क्रियागुणव्यपदेशवत्त्वात् सिध्यतीति परस्परापेक्षे भावाभावरूपत्वे। अपि च, अभावः स्वसद्भावं भावाभावं च अपेक्षमाणः सिध्यति। भावोऽपि स्वसद्भावं अभावाभावं चाऽपेक्ष्य सिद्धिमुपयाति। यदि तु अभाव एकान्तेनाऽस्ति इत्यभ्युपगम्येत ततः सर्वात्मनाऽस्तित्वात् [13]स्वरूपवद्भावात्मनापि स्यात्, तथा च भावाभावरूपसङ्करादस्थितरूपत्वादुभयोरप्यभावः। अथ एकान्तेन नास्ति इत्यभ्युपगम्येत ततो [14]यथा भावात्मना नास्ति तथा तथाऽभावात्मनापि न स्यात्, ततश्च अभावस्याऽभावात् भावस्याऽप्रतिपक्षत्वात् भावमात्रमेव स्यात्। तथा खपुष्पादयोऽपि भावा एव अभावाभावरूपत्वात् घटवत् इति सर्वभावप्रसङ्गः। एवं भावास्तित्वैकान्तेऽपि योज्यम्। तस्माद्भावः स्यादस्ति स्यान्नास्ति तथा अभावोऽपि। एवं जीवोऽपि स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यवसेयम्।

एवं [15]स्वात्मनि घटादिवस्तुसिद्धौ च भावाभावयोः परस्परापेक्षत्वात् यदुच्यते-[16]

*"अर्थात् प्रकरणाद्वा घटे अप्रसक्तायाः पटादिसत्तायाः किमिति निषेधः क्रियते" ? [ ]

---

१ परसत्तया मु०, ब०। २ –त्वे वापरा– मु०, ब०। ३ स्वरूपवत्। ४ –त्मनेति स्या– श्र०, मू०। –त्मनास्ति नास्ति च नास्तित्व– मु०, ब०। ५ नास्तित्वस्वात्मना नास्ति। ६ –न्यं च वस्तु ब०, मु०। ७ –येदन्यदन्वयाप्रति– मु०, ब०। ८ सामा– भा० २। ९ घटपटादि। १० अनित्यः शब्दः श्रावणत्वात्, नित्यः शब्दः श्रावणत्वात्। ११ –पतवै– ब०, मु०। १२ वैलक्षण्यं कीदृशमित्युक्ते प्रतिपादयन्नाह–। १३ अभावस्वरूपवत्। १४ ततोऽयं– मु०, ब०। १५ अभावरूपे। १६ परेण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इति ; तदयुक्तम् । किञ्च घटे[1] अर्थत्वात् अर्थसामान्यात् पटादिसवर्थिप्रसङ्गः संभवत्येव। [2]तत्र विशिष्टं घटार्थत्वम् [3]अभ्युपगम्यमानं पटादिसत्तारूपस्यार्थसामर्थ्य[4]प्रापितस्य अर्थतत्त्वस्य निरासेनैव आत्मानं शक्नोति लब्धुम्, इतरथा हि असौ घटार्थ एव न स्यात् पटाद्यर्थरूपेणाऽनिवृत्तत्वात् पटाद्यर्थस्वरूपवत्, विपरीतो वा। यश्चास्य[5] पटादिरूपेणाभावः सोऽपि घटधर्म एव तदधीनत्वात् भाववत्,[6] अतोऽसौ [7]स्वपर्याय एव, परेण तु विशेष्यमाणत्वात् परपर्याय इत्युपचर्यते। स्वपरविशेषणायत्तं हि वस्तुस्वरूपप्रकाशनमिति।

अथ 'अस्त्येव जीवः' इत्यत्राऽस्तिशब्दवाच्यादर्थात् भिन्नस्वभावो वा जीवशब्दवाच्योऽर्थः स्यात्, अभिन्नस्वभावो वा ? यदि अभिन्नस्वभावः, ततो यत् सदर्थस्य रूपं जीवशब्दार्थस्यापि तदेव रूपमिति ततोऽन्यधर्मानवकाशत्वादविशिष्टार्थता स्यात्। ततश्च सामानाधिकरण्य[8]विशेषणविशेष्यत्वाभावो घटकुटशब्दवत् अन्यतराप्रयोगश्च स्यात्। किञ्च, सत्त्वस्य सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वात् तदभिन्नस्वभावस्य जीवस्यापि तादात्म्यमिति सर्वस्य तत्त्वस्याऽविशिष्टैकजीवत्वप्रसङ्गः। सत्स्वभावत्वाच्च जीवस्वरूपचैतन्यतद्विकल्पज्ञानादिक्रोधादिनारकत्वादिसर्वविशेषणाभावत्वप्रसङ्गश्च स्यात्। जीवस्वभावत्वाद्वा अस्तित्वस्य [9]स्वात्मनि पुद्गलादिषु च सत्प्रत्ययाभिधानहेतुत्वाभावो जीवत्ववत्।

अथायं दोषो माभूत् इति अस्तिशब्दवाच्यात् अर्थात् भिन्नस्वभावो जीवशब्दार्थः प्रतिज्ञायेत; एवमपि स्वतो जीवस्याऽसद्रूपत्वप्रसङ्गः। ततश्च नास्ति जीवोऽस्तिशब्दवाच्यार्थविविक्तत्वात् खरविषाणवत्, [10]विपर्ययो वा। ततश्च तदधीनबन्धमोक्षादिव्यवहाराभावः। अस्तित्वस्य च जीवादर्थान्तरत्ववत्, इतरेभ्योपि भिन्नत्वात् निराश्रयत्वादभाव एवेति तदाश्रयव्यवहाराभावः। किञ्च, अस्तित्वाद्भिन्नस्वभावस्य जीवस्य कः स्वभाव इति वक्तव्यम् ? यश्चास्य स्वभाव इत्युच्यते स सर्वो न स्यात् असत्स्वभावत्वात् खपुष्पवत्। तस्मात् स्याद्भिन्नार्थत्वं स्यादभिन्नार्थत्वं चाभ्युपगन्तव्यम्। पर्यायार्थादेशात्[11] [12]भवनजीवनभेदात् अस्तिजीवशब्दौ[13] स्याद्भिन्नार्थौ। द्रव्यार्थादेशात् तदव्यतिरेकात् तद्ग्रहणेन ग्रहणात् स्यादभिन्नार्थौ। तस्मात् स्यादस्ति स्यान्नास्तीति सिद्धम्।

इतश्च, स्यादस्ति स्यान्नास्ति [14]अर्थाभिधानप्रत्ययानां [15]तथाप्रसिद्धेः।

कश्चिदाह–जीवार्थो जीवशब्दो जीवप्रत्ययः इत्येतत्त्रितयं लोके [16]अविचारसिद्धम्–तथाहि वर्णाश्रमिणः अस्तित्वमेवाश्रित्य तासु तासु क्रियासु प्रवृत्ताः तस्मादस्त्येवेति। [17]तमितरः प्रत्याह–नास्त्येवैतत्त्रितयम्–अर्थस्तावन्नास्त्यनुपलब्धेः, [18]विज्ञानमेव [19]तथा परिणतं स्वप्नवत् कल्पयति। प्रत्ययजीवोऽपि नास्त्येव विज्ञानस्य ज्ञेयरूपेणाऽनाख्येयत्वात्[20]। [21]स्वतस्तु विज्ञानं न जीवो नाप्यजीवः प्रकाशमात्रं केनचिदपि रूपेण [22]अनिरूप्यत्वात्[23] यद्यपि

---

१ तावदर्थत्वात् घटे प्रसक्तं पटादिसत्त्वं प्रदर्शयति। २ तथा सति। ३ कर्तुं। ४ –र्थ्यात्प्रापि– द०, मु०। ५ घटस्य। ६ घटास्तित्ववत्। ७ घटस्य। ८ –भ्याभावाद् विशे– मु०। ९ जीवे। आत्मनि मु०, द०। १० अस्ति खरविषाणम् अस्तिशब्दवाच्यार्थविविक्तत्वात् जीववत्। ११ तदेव विवृणोति। १२ अस्ति अस्तित्व। १३ –शब्दौ तद्व्यतिरेकेण तद्ग्रहणेनाग्रहणात् स्याद्भि– मु०। १४ जीव इति। १५ अस्तित्वानास्तित्वरूपेण। १६ निर्विचारसिद्धम्, तत्सिद्धौ विचारः कोऽपि न कर्तव्य इत्यर्थः। विचारसि– मु०, द०। १७ आस्तिकं प्रति नास्तिकः। १८ उपलब्धौ। १९ वस्तुस्वरूपेण। २० अप्रतिपाद्यत्वात्। २१ स्वभावतः। २२ प्रदर्शनीयत्वात्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरूप्येत स्वप्नज्ञानवत् असदाकारेणैव निरूप्येत–[1]नास्ति ज्ञानम् [2]असदाकारनिरूप्यत्वात् खरविषाणवत् । अभिधानमपि नास्ति । तद्धि पदरूपं वा स्यात्, वाक्यरूपं वा ? [3]तन्नास्त्येव अयुगपत्कालावयवत्वात्[4] । यत्पुनरेत्–जीवशब्दग्रहणं तत्परिकल्पितैर्वर्णभागैरनुक्रमेणाऽऽहितशक्तिकासु बुद्धिषु शक्तिपरिपाकप्राप्तौ[5] प्रत्यस्तमितसकलवर्णभागविषयविज्ञानं जीवशब्दत्वेन अध्वसीयते[6] नत्वभिधानजीवः कश्चिदस्ति । तदपि विज्ञानं क्षणिकत्वात् प्रत्यर्थवशवर्तित्वाच्च एकस्य [7]पूर्वापरीभूतार्थप्रत्ययवभासनासंभवान्नास्त्येवेति । यद्येवं वाच्यवाचकसंबन्धो लोके रूढः प्रत्याख्यातः स्यात् ततश्च लोकविरोधः, तन्नास्तित्वे परीक्षाप्रयासश्च विफलः स्यात् इत्यभ्युपगन्तव्यम्–जीवः स्यादस्ति स्यान्नास्तीति । अतः द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकमात्मसात्कुर्वन् [8]व्याह्रियते, पर्यायार्थिकोऽपि द्रव्यार्थिकमिति उभावपि इमौ सकलादेशौ ।

तृतीयो विकल्पः उच्यते–द्वाभ्यां गुणाभ्यामेकस्यैव अभिन्नस्या[9]भेदरूपेण युगपद्वक्तुमिष्टत्वात् । तत्र यथा प्रथमद्वितीययोर्विकल्पयोरेकस्मिन् काले एकेन शब्देन एकस्यार्थस्य समस्तस्यैव एकेन गुणरूपेणाभिधानं क्रमात्, एवं यदा द्वाभ्यां प्रतियोगिभ्यां गुणाभ्यामवधारणात्ताभ्यां[10] युगपदेकस्मिन् काले एकेन शब्देन एकस्यार्थस्य कृत्स्नस्यैवाभेदरूपेणाभिधित्सा तदा अवाच्यः तद्विधार्थस्य शब्दस्य चाऽभावात् । तत्र युगपद्भावो[11] गुणानां कालादिभिरभेदेन विवक्षितानां वृत्तिः, न च तैरभेदोऽत्र[12] सम्भवति ।

के पुनस्ते कालादयः ?

काल आत्मरूपमर्थः सम्बन्धः उपकारो गुणिदेशः संसर्गः शब्द इति । तत्र येन कारणेन विरुद्धा भवन्ति गुणास्तेषामेकस्मिन् काले क्वचिदेकवस्तुनि वृत्तिर्न दृष्टा अतस्तयोर्नास्ति वाचकः शब्दः तथावृत्त्यभावात् । अत एकस्मिन्नात्मनि सदसत्त्वे प्रविभक्ते [13]असंसर्गात्मरूपे अनेकान्तरूपे न स्तः । एककाले[14] येनात्मा तथोच्येत ताभ्यां विविक्तं च परस्परत आत्मरूपं गुणानां[15] [16]नान्योन्यात्मनि वर्तते, यत[17] उभाभ्यां [18]युगपदभेदेनोच्येत । न च विरुद्धत्वात् सदसत्त्वादीनाम् एकान्तपक्षे गुणानामेकद्रव्याधारा वृत्तिरस्ति यतः अभिन्नाधारत्वेनाऽभेदो युगपद्भावः स्यात्, [19]येन केनचित् शब्देन वा सदसत्त्व उच्येयाताम् । [20]न च सम्बन्धतोऽभिन्नता गुणानां संभवति भिन्नत्वात् संबन्धस्य । यथा छत्रदेवदत्तसम्बन्धोऽन्यः दण्डदेवदत्तसंबन्धात् । कारणयोः [21]संबन्धिनोर्भिन्नत्वात् न तावेकेन संबन्धेनाभिन्नौ । एवं सदसत्त्वयोरात्मना सह संबन्धस्य भिन्नत्वात् न संबन्धेनापि युगपद्वृत्तिसंभवः [22]यतः शब्देनोच्यते । समवाय इति चेत्; न; तेनापि भिन्नेन भवितव्यं भिन्नाभिधानप्रत्ययहेतुत्वात् संयोगवत् । न च गुणा उपकारेणाऽभिन्नाः; यतो द्रव्यस्य गुणाधीन उपकारो नीलरक्ताद्युपरञ्जनम्, ते च स्वरूपतो भिन्नाः । यच्च तेषामात्मनि नीलरक्तत्वाद्यस्ति रूपं यावच्च नीलनीलतरादि तावता द्रव्यं रञ्जयति अतस्तेषामुपकारोऽपि भिद्यत एव । एवं सदसत्त्वयोर्भिन्नत्वात् सत्त्वेनोपरक्तं सत् असत्त्वेनोप-

---

१ तथा सति । २ असदाकारत्वात् मु०, द० । ३ द्वयमपि । ४ कालाश्च अवयवाश्च कालावयवाः, न विद्यन्ते युगपत्ते ययोस्ते तथोक्ते तयोर्भावः तस्मात् । ५ अन्त्यवर्णे इत्यर्थः । ६ "नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह । आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवभासते ॥" –वाक्यप० १।८५। ७ वर्तमानार्थ । ८ व्याध्रियते मु०, द० । अभिधीयते । ९ अविकलस्य समस्तस्येत्यर्थः । १० –मात्मकाभ्यां मु०, ता०, श्र०, मू० । ११ नाम । १२ अवक्तव्ये । १३ कोऽर्थः । १४ कथम् । १५ मध्ये । १६ अन्यो गुणः अन्यतरगुणे । १७ कथम् । १८ अंशरहितेन । १९ कथम् । २० न सं– श्र० । २१ हस्तदण्डयोः । २२ कथम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रक्तं असन्नोपकारसारूप्यम्, यतः तदभेदेन[1] शब्दो वाचकः स्यात्। न चैकदेशेन गुणिन उपकारः संभवति[2] येनैकदेशोपकारेण सहभावो भवेत् नीलादेर्गुणस्य। कृत्स्नस्य हि गुणस्योपकारकत्वं द्रव्यस्य च पटादेः समस्तस्योपकार्यत्वम्, गुण उपकारको गुणी उपकार्य इति। न चैकदेशो गुणगुणिनोः। अतः कृत्स्नयोः उपकार्योपकारकरूपसिद्धिर्न देशेन यतो देशतः[4] सहभावात् कश्चिच्छब्दो वाचकः कल्प्येत। न चैकान्तपक्षे गुणानां संसृष्टमनेकात्मकं रूपमस्ति अवधृतैकान्तरूपत्वात् सत्त्वासत्त्वादेर्गुणस्य। [5]यदा शबलरूपव्यतिरिक्तौ परस्पर-विविक्तौ शुक्लकृष्णौ गुणौ असंसृष्टौ नैकस्मिन्नर्थे सह वर्तितुं समर्थौ अवधृतरूपत्वात्, अतः ताभ्यां संसर्गाभावात् एकान्तपक्षे न युगपदभिधानमस्ति अर्थस्य तथा वर्तितुं शक्त्यभावात्, तद्विधस्य च अर्थसंबन्धस्याऽभावात्। न चैकः शब्दो द्वयोर्गुणयोः सहवाचकोऽस्ति। यदि स्यात् सच्छब्दः स्वार्थवदसदपि सत्कुर्यात् असच्छब्दोऽपि स्वार्थवत् सदपि असत्कुर्यात्, न च तथा लोके संप्रत्ययोऽस्ति [6]तयोर्विशेषशब्दत्वात्। एवमुक्तात् [7]कालादियुगपद्भावासंभवात्। शब्दस्य च एकस्य उभयार्थवाचिनोऽनुपलब्धेः अवक्तव्य आत्मा।

अथवा वस्तुनि मुख्यप्रवृत्त्या तुल्यबलयोः परस्पराभिधानप्रतिबन्धे सति [8]इष्टविप-रीतनिर्गुणत्वापत्तेः विवक्षितोभयगुणत्वेनाऽनभिधानात् अवक्तव्यः। अयमपि सकलादेशः परस्परा[9]वधारितविविक्तरूपैकात्मकाभ्यां गुणाभ्यां गुणविशेषणत्वेन युगपदुपक्षिप्ताभ्याम्[10] अविवक्षितांशभेदस्य वस्तुनः समस्तस्य एकेन गुणरूपेणाभेदवृत्त्या अभेदोपचारेण वाऽभिधातुं प्रक्रान्तत्वात्। [11]स च अवक्तव्यशब्देन अन्यैश्च षड्भिर्वचनैः[12] पर्यायान्तरविवक्षया च वक्त-व्यत्वात् स्यादवक्तव्यः। यदि सर्वथा अवक्तव्यः स्यात् अवक्तव्य इत्यपि चाऽवक्तव्यः स्यात् कुतो बन्धमोक्षादिप्रक्रियाप्ररूपणविधिः ?

ताभ्यामेव क्रमेणाभिधित्सायां तथैव वस्तुसकलस्वरूपसंग्रहात् चतुर्थोऽपि विकल्पः सकलादेशः। अयमपि स्यादित्येवार्पयितव्यः, सर्वथोभयात्मकत्वे परस्परविरोधात् उभयदोष-प्रसङ्गाच्च। कथमेते [13]निरूप्यन्ते ? सर्वसामान्येन तदभावेन च, विशिष्टसामान्येन तदभावेन च विशिष्टसामान्येन तदभावसामान्येन च, विशिष्टसामान्येन तद्विशेषेण च, सामान्येन विशि-ष्टसामान्येन च, द्रव्यसामान्येन गुणसामान्येन च, धर्मसमुदायेन तद्व्यतिरेकेण च, धर्मसामान्य-सम्बन्धेन तदभावेन च, धर्मविशेषसंबन्धेन तदभावेन च।

तद्यथा सर्वसामान्येन तदभावेन च[14] इह द्विविधोऽर्थः श्रुतिगम्योऽर्थाधिगम्यश्च। तत्रानपेक्षितवृत्तिनिमित्तः श्रुतिमात्रप्रापितः श्रुतिगम्यः। अर्थप्रकरणसंभवाभिप्रायादिशब्द-न्यायात् कल्पितोऽर्थाधिगम्यः। तत्र आत्मा अस्तीति सर्वप्रकारानाश्रयणादिच्छावशात् कल्पितेन सर्वसामान्येन[15] वस्तुत्वेन अस्तीति प्रथमः। तत्प्रतिपक्षेणाऽभावसामान्येनाऽवस्तुत्वेन नास्त्यात्मा इति द्वितीयः। आभ्यामेव युगपदभेदविवक्षायां वाचकाभावान्नाभिधीयत इति तृतीयः। आभ्यामेव क्रमेणार्पिताभ्यामुभयरूपं वस्तु उच्यते इति चतुर्थः। विशिष्टसामान्येन तदभावेन च–यथाश्रुतत्वात् श्रुत्युपात्तेन आत्मनैवाभिसंबन्धः, ततश्चात्मत्वेनैव अस्त्यात्मा इति प्रथमः। यथाश्रुतप्रतियोगित्वात् अनात्मत्वेनैव नास्त्यात्मा इति द्वितीयः। युगपदुभाभ्यां

---

१ उपकाराभेदेन। २ किन्तु कृत्स्नेनैव। ३ कथम्। ४ एकदेशतः। ५ यथा मु०, द०, ता०। ६ अस्तित्वनास्तित्वयोः। ७ टा–तृतीयेत्यर्थः –स०। ८ दृष्टवि– द०, मु०। ९ नियत। १० अङ्गीकृताभ्याम्। ११ आत्मा। १२ भङ्गैः। १३ चत्वारो भङ्गाः। १४ निरूप्यन्ते। १५ कोऽर्थः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मानात्मत्वसदसत्त्वाभ्यामवक्तव्यः। आभ्यामेव क्रमेणार्पिताभ्यामुभयरूपं वस्तूच्यते इति चतुर्थः। विशिष्टसामान्येन तदभावसामान्येन च–यथाश्रुतत्वात् आत्मत्वेनैवास्तीति प्रथमः। अभ्युपगमविरोधभयात् वस्त्वन्तरात्मना क्षित्युदकज्वलनघटपटगुणकर्मादिना सर्वेण प्रकारेण सामान्यतो नास्तीति द्वितीयः। आभ्यामेव युगपदात्मघटादिसदसत्त्वाभ्यामवक्तव्यः। क्रमेण तु वाच्यत्वात् चतुर्थः। विशिष्टसामान्येन तद्विशेषेण च–आत्मसामान्येनास्त्यात्मा। आत्मविशेषेण मनुष्यत्वेन [1]नास्ति। आत्मत्वमनुष्यत्वापेक्षाभ्यां सदसत्त्वाभ्याम् एकत्वे युगपदवक्तव्यः। पर्यायेणाभिधेयत्वाच्चतुर्थः। सामान्येन विशिष्टसामान्येन च–अविशेषरूपेण द्रव्यत्वेन अस्त्यात्मा। विशिष्टेन सामान्येन प्रतियोगिनाऽनात्मत्वेन नास्त्यात्मा। ताभ्यां तु द्रव्यत्वानात्मत्वसदसत्त्वाभ्यां युगपदवक्तव्यः। क्रमेण ताभ्यां वक्तव्यत्वात् चतुर्थः। द्रव्यसामान्येन गुणसामान्येन [2]च वस्तुनस्तथा तथा संभवात् तां तां विवक्षामाश्रित्याविशेषरूपेण द्रव्यत्वेनास्त्यात्मा, तत्प्रतियोगिना विशेषरूपेण गुणत्वेन नास्त्यात्मा। ताभ्यां तु द्रव्यत्वगुणत्वसदसत्त्वाभ्यां युगपदवक्तव्यः। क्रमेण तदुभयवाग्गोचरत्वाच्चतुर्थः। धर्मसमुदायेन तद्व्यतिरेकेण च–त्रिकालगोचरानेकशक्तिज्ञानादिधर्मसमुदायरूपेणाऽऽत्मास्ति। तद्व्यतिरेकेण नास्त्यनुपलब्धेः। ताभ्यां युगपदवक्तव्यः। क्रमेण अभिधेयतामनुभवति इति चतुर्थः। धर्मसामान्यसंबन्धेन तदभावेन च–गुणरूपगतसामान्यसंबन्धविवक्षायां यस्य कस्यचित् धर्मस्य आश्रयत्वेन अस्त्यात्मा। न तु कस्यचिदपि धर्मस्याश्रयो न भवतीति धर्मसामान्यानाश्रयत्वेन नास्त्यात्मा। आभ्यां युगपदवक्तव्यः। पर्यायेण तु तदुभयविशेष्यत्वात् चतुर्थः। धर्मविशेषसंबन्धेन तदभावेन च–[3]अनेकधर्मणोऽन्यतमधर्मसंबन्धेन तद्विपक्षेण वा विवक्षायाम्, यथा अस्त्यात्मा नित्यत्वेन निरवयवत्वेन चेतनत्वेन वा, तेषामेवान्यतमधर्मप्रतिपक्षेण नास्त्यात्मा। युगपत्ताभ्यामवक्तव्यः। क्रमेण तदभिधानविषयत्वाच्चतुर्थः।

पञ्चमो भङ्ग उच्यते–त्रिभिः आत्मभिर्द्व्यंशः[4]। जीवस्यानेकद्रव्यात्मकस्याऽनेकपर्यायात्मकस्य च किञ्चिद् द्रव्यार्थविशेषं पर्यायार्थविशेषं वा आश्रित्यास्तीत्युच्यते एक आत्मा[5], तस्यैवाऽन्य[5] आत्मा द्रव्यसामान्यं पर्यायसामान्यं तद्विशेषद्वयं वाऽङ्गीकृत्य युगपदविभागविवक्षायां वचनगोचरातीतः। यथा स्यादस्त्यात्मा द्रव्यत्वेन, द्रव्यविशेषेण वा जीवत्वेन, मनुष्यत्वादिना वा। द्रव्यपर्यायसामान्यमुररीकृत्य वस्तुत्वसत्त्वमवस्तुत्वासत्त्वं च युगपदभेदविवक्षायामवाच्यः। विशेषद्वयं वा मनुष्यत्वामनुष्यत्वादि, यतः सर्वेऽपि तस्यैकस्यैव ते आत्मानो[6] विद्यन्ते तदेवेति। ततः स्यादस्ति चाऽवक्तव्यश्च जीवः। अयमपि सकलादेशः, अंशाभेदविवक्षायाम् एकांशमुखेन सकलसंग्रहात्।

तथा षष्ठः त्रिभिः आत्मभिर्द्व्यंशः। यतो वस्तुगतं नास्तित्वमवक्तव्यरूपानुविद्धं नान्तरेणात्मभेदं शक्यं कल्पयितुं वस्तुनस्तथापि भावात्। तत्र नास्तित्वं पर्यायाश्रयम्। स च पर्यायो युगपद्वृत्तः क्रमवृत्तो वा। सहवृत्तो जीवस्य पर्यायः अविरोधात् सहावस्थायी सहवृत्तेः गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमादिः। क्रमवर्ती तु क्रोधादिदेवादिबाल्याद्यवस्थालक्षणः। तत्र गत्यादिव्यतिरिक्तः क्रोधादिक्रमवृत्तधर्मरूपनैरन्तर्यमात्रादर्थान्तरभूत एकोऽवस्थितो द्रव्यार्थो जीवो नाम नास्ति, किन्तु त एव धर्मास्तथा सन्निविष्टा जीवव्यपदेशभाजः

---

१ नास्त्यात्मा मु०। २ निरूप्यन्ते। ३ नेकधर्मिणो मु०, ब०। ४ अंशः। ५ मवक्तव्य। ६ आत्मनो मु०, ता०, ब०। ७ सत्याम्।

इति अस्यां कल्पनायां नास्तित्वम् । यश्च वस्तुत्वेन सन्निति द्रव्यार्थांशः यश्च तत्प्रतियोगिनाऽवस्तुत्वेनाऽसन्निति पर्यायांशः, ताभ्यां युगपदभेदविवक्षायाम् अवक्तव्य इति द्वितीयोंऽशः। तस्मान्नास्ति चावक्तव्यश्चाऽऽत्मा । अयमपि सकलादेशः शेषवाग्गोचरस्वरूपसमूहस्याऽविनाभावात् तत्रैवान्तर्भूतस्य स्याच्छब्देन द्योतितत्वात् ।

तथा सप्तमो विकल्पः चतुर्भिरात्मभिः त्र्यंशः । द्रव्यार्थविशेषं कञ्चिदाश्रित्याऽस्तित्वं पर्यायविशेषं च कञ्चिदाश्रित्य नास्तित्वमिति समुच्चितरूपं भवति, द्वयोरपि प्राधान्येन विवक्षितत्वात् । द्रव्यपर्यायविशेषेण च केनचित् द्रव्यपर्यायसामान्येन च केनचित् युगपदवक्तव्यः इति तृतीयोंऽशः । ततः स्यादस्ति च नास्ति चाऽवक्तव्यश्च आत्मा । अयमपि सकलादेश., यतः सर्वान् द्रव्यार्थान् द्रव्यमित्यभेदादेकं द्रव्यार्थं मन्यते । सर्वान् पर्यायार्थांश्च पर्यायजात्यभेदादेकं पर्यायार्थम् । अतो विवक्षितवस्तुजात्यभेदात् कृत्स्नं वस्तु एकद्रव्यार्थाभिन्नम् एकपर्यायाभेदोपचरितं वा एकमिति सकलसंग्रहात् । अथ कथं विकलादेशः ?

निरंशस्यापि गुणभेदादंशकल्पना विकलादेशः ।१६। स्वेन तत्त्वे[1]नाप्रविभागस्यापि वस्तुनो विविक्तं गुणरूपं स्वरूपोपरञ्जकमपेक्ष्य प्रकल्पितमंशभेदं कृत्वा अनेकात्मकैकत्वव्यवस्थायां [2]नरसिंहसिंहत्ववत् समुदायात्मकमात्मरूपमभ्युपगम्य [3]कालादिभिरन्योन्यविषयानुप्रवेशरहितांशकल्पनं विकलादेशः, नतु केवलसिंहे सिंहत्ववत् एकात्मकैकत्वपरिग्रहात् । यथा वा पानकमनेकखण्डदाडिमकर्पूरादिरसानुविद्धमास्वाद्य अनेकरसात्मकत्वमस्यावसाय पुनः स्वशक्तिविशेषादिदमप्यस्तीदमप्यस्तीति विशेषनिरूपणं क्रियते, तथा अनेकात्मकैकवस्त्वभ्युपगमपूर्वकं हेतुविशेषसामर्थ्यात् अर्पितसाध्यविशेषावधारणं विकलादेशः । कथं पुनरर्थस्याऽभिन्नस्य गुणो भेदकः ? दृष्टो हि अभिन्नस्याप्यर्थस्य गुणस्तत्त्वभेदं[4] कल्पयन् यथा [5]परुत् भवान् पटुरासीत् पटुतर एषम[6] इति [7]गुणविविक्तरूपस्य द्रव्यस्याऽसंभवात् गुणभेदेन गुणिनोऽपि भेदः ।

तत्रापि तथा सप्तभङ्गी ।१७। तत्रापि विकलादेशे तथा आदेशवशेन सप्तभङ्गी वेदितव्या । कथम् ? गुणिभेदकेष्वंशेषु क्रमेण यौगपद्येन क्रमयौगपद्याभ्यां वा विवक्षावशात् विकलादेशा भवन्ति । तत्र प्रथमद्वितीययोरप्रचितः क्रमः, तृतीये यौगपद्यम्, चतुर्थे प्रचितः क्रमः, पञ्चमे षष्ठे वा अप्रचितक्रमयौगपद्ये, सप्तमे प्रचितक्रमयौगपद्ये । तद्यथा सर्व[8]-सामान्यादिषु द्रव्यार्थादेशेषु केनचिदुपलभ्यमानत्वात् स्यादस्त्येवात्मेति प्रथमो विकलादेशः । अत्रेतरेषां वस्तुनि सतामपि कालादिभिर्भेदविवक्षातः शब्दवाच्यत्वेनान्तर्भावाभावान्निरासाभावाच्च न विधिर्न प्रतिषेधः । एवं शेषभङ्गेष्वपि विवक्षितांशमात्रप्ररूपणायां इतरेष्वौदासीन्येन विकलादेशकल्पना योज्या । ननु च सामान्यार्थाविच्छेदेन विशेषणविशेष्यसंबन्धावद्योतनार्थे एवकारे सति तदवधारणादितरेषां निवृत्तिः प्राप्नोति ? नैष दोषः; अत्राप्यत एव स्याच्छब्दप्रयोगः कर्तव्यः 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्यादि । कोऽर्थः ? एवकारेणेतरनिवृत्तिप्रसङ्गे [9]स्वात्मलोपात् सकलो लोपो मा विज्ञायीति वस्तुनि यथावस्थितं विवक्षितधर्मस्वरूपं तथैव द्योतयति स्याच्छब्दः । *"विवक्षितार्थवागङ्गम्" [ ] इति[10] वचनात् । एवमा-

१ – नाप्रविष्टभा– मु०, ब० । २ नरसिंहत्ववत् ब० । ३ प्रागुक्त । ४ अर्थभेदम् । ५ गतवर्षे स० । पटुर्भवानपटुरासीत् पटुतर श्र० । पटुर्भवान् पववासीत् पटुतर मू० । पतत् भवान पटुरासीत् पटुतर मु०, मू० ब० । ६ इह संवत्सरे । ७ नैयायिकमतमाशङ्क्य निराकरोति । ८ प्रागुक्तसर्वसामान्येन तदभावेन चेत्याविवाक्येषु । ९ नास्तित्वस्य । १० स्याच्छब्दः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देशवशात् सप्तवचनप्रकारा भवन्तीति विकल्पान्तरप्रवृत्तिनिमित्ताभावात्।

अयं च मार्गः द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयाश्रयः। तौ च संग्रहाद्यात्मकौ। ते चार्थनयरूपेण शब्दनयरूपेण च प्रवृत्ताः। तत्र संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रा अर्थनयाः। शेषाः शब्दनयाः। तत्र संग्रहः सत्त्वविषयः, सकलं वस्तुतत्त्वं [1]सत्त्वे अन्तर्भाव्य संग्रहात्। व्यवहारोऽसत्त्वविषयः विविक्तसत्त्व[2]परिग्रहादन्यापेक्षासत्त्वप्रतिपत्तेः। ऋजुसूत्रो वर्तमानविषयः अतीतानागतयोः विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्। एते त्रयोऽर्थनया एकैकात्मकाः संयुक्ताश्च सप्त वाक्प्रकारान् जनयन्ति। तत्राद्यः संग्रह एकः, द्वितीयो व्यवहार एकः, तृतीयः संग्रहव्यवहारावविभक्तौ, चतुर्थः संग्रहव्यवहारौ समुच्चितौ, पञ्चमः संग्रहः संग्रहव्यवहारौ चाविभक्तौ। षष्ठो व्यवहारः संग्रहव्यवहारौ चाविभक्तौ। सप्तमः संग्रहव्यवहारौ प्रचितौ तौ चाविभक्तौ। एष[3] ऋजुसूत्रेऽपि योज्यः।

[4]व्यञ्जनपर्यायास्तु शब्दनया द्विविधं वचनं प्रकल्पयन्ति–अभेदेनाभिधानं भेदेन च। यथा शब्दे[5] पर्यायशब्दान्तरप्रयोगेऽपि तस्यैवार्थस्याभिधानादभेदः। समभिरुढे वा [6]प्रवृत्तिनिमित्तस्य अप्रवृत्तिनिमित्तस्य च घटस्याभिन्नस्य सामान्येनाभिधानात्। एवंभूतेषु प्रवृत्तिनिमित्तस्य [7]भिन्नस्यैकस्यैवार्थस्याभिधानात् भेदेनाभिधानम्।

अथवा, अन्यथा द्वैविध्यम्–एकस्मिन्नर्थेऽनेकशब्दप्रवृत्तिः, प्रत्यर्थं वा शब्दविनिवेश इति। यथा शब्दे अनेकपर्यायशब्द वाच्य एकः[8]। समभिरूढे वा नैमित्तिकत्वात् शब्दस्यैकशब्दवाच्य एकः। एवंभूते वर्तमाननिमित्तशब्द एकवाच्य एकः। अत्र [10]चोद्यते कथमेते अस्तित्वनास्तित्वादयो धर्माः विरुद्धरूपा एकस्मिन् वस्तुनि अविरोधमुपयान्तीति? उच्यते—

विरोधाभावस्तल्लक्षणाभावात्।१८। नास्त्येषामादेशवशादर्प्यमाणानां विरोधः। कुतः? तल्लक्षणाभावात्। इह विरोधः कल्प्यमानः त्रिधा व्यवतिष्ठते–वध्यघातकभावेन वा सहानवस्थात्मना वा प्रतिबन्ध्यप्रतिबन्धकरूपेण वा। तत्र वध्यघातकभावः अहिनकुलाग्न्युदकादिविषयः। स त्वेकस्मिन् काले विद्यमानयोः सति संयोगे भवति, संयोगस्यानेकाश्रयत्वात् द्वित्ववत्। नासंयुक्तमुकदमग्निं विध्यापयति [11]सर्वत्राग्न्यभावप्रसङ्गात्। ततः सति संयोगे बलीयसोत्तरकालमितरद्[12]बाध्यते। न चैवमस्तित्वनास्तित्वयोः क्षणमात्रमपि एकस्मिन् वृत्तिरस्ति, इति भवताऽभ्युपगम्यते, यतो[13] वध्यघातकभावरूपो विरोधः तयोः कल्प्येत। [14]अथैकस्मिन् [15]वृत्तिरभ्युपगम्येत तत्तुल्यबलहेतुसाध्यत्वात् तयोरन्यतरस्य बलीयस्त्वाभावात् वध्यघातकत्वाभावः। अतस्तल्लक्षणाभावात् नासौ विरोधः संभवति।

---

१ सति अ– मु० ब०। २ सत्त्वापरि–मु०, ब०। ३ एवं मु०। ४ स्थूलो व्यञ्जनपर्यायः। ५ शब्दनये ५ इन्द्रशक्रपुरन्दरादि। ६ इन्द्रस्य। ७ जलाहरणादिप्रवृत्ति, शचीपतेर्वा इन्दनादिक्रियानिमित्तस्य। ८ यदैव इन्दनक्रियया प्रवृत्तः तदैव शकनादेर्भिन्नः। ९ शचीपतिः। १० बौद्धादिभिः। "तस्मान्न नित्यानित्यस्य वस्तुनः संभवः क्वचित्। अनित्यं नित्यमथवाऽस्तु एकान्तेन युक्तिमत्॥" –प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० २३५। "ध्रौव्येण उत्पादव्यययोर्विरोधात् एकस्मिन् धर्मिण्ययोगात्।" –हेतुबि० टी० लि० वृ० लि० पृ० २१६। "विधानप्रतिषेधौ हि परस्परविरोधिनौ। शक्यावेकत्र नो कर्तुं केनचित् स्वस्थचेतसा॥ १७३०॥"–तत्त्वसं०। "नैकस्मिन्नसंभवात्– नह्येकस्मिन्– धर्मिणि युगपत्सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः संभवति शीतोष्णवत्"–ब्रह्मसू०, शां० भा० २।२।२३। ११ यदि विध्यापयेत्तर्हि परमतमुल्लिख्यैवमाह–। १२ कर्मतापन्नम्। १३ कथम्। १४ स्वमतापेक्षया प्राह। १५ अस्तित्वनास्तित्वयोः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नापि सहानवस्थानलक्षणो विरोधः तल्लक्षणाभावात् । स ह्ययुगपत्कालयोर्भवति यथा आम्रफले श्यामतापीततयोः । पीततोत्पद्यमाना पूर्वकालभाविनीं श्यामतां निरुणद्धि । न च तथा जीवस्यास्तित्वनास्तित्वे पूर्वोत्तरकालभाविनी । यदि स्याताम्, अस्तित्वकाले नास्तित्वाभावात् जीवसत्तामात्रं सर्वं प्राप्नुवीत । नास्तित्वकाले च अस्तित्वाभावात्तदाश्रयो बन्धमोक्षादिव्यवहारो विरोधमुपगच्छेत् । सर्वथैवासतः पुन आत्मलाभाभावात्, सर्वथा च सतः पुनरभावप्राप्त्यनुपपत्तेः नैतयोः सहानवस्थानं युज्यते ।

तथा जीवादिषु प्रतिबन्ध्यप्रतिबन्धकभावोऽपि न विरोधः संभवति । यथा सति फलवृन्तसंयोगे प्रतिबन्धके गौरवं पतनकर्म[1] नारभते प्रतिबन्धात्, तदभावे तु पतनकर्म दृश्यते *"**संयोगाभावे**[2] **गुरुत्वात् पतनम्**" [वैशे० सू० ५।१।७] इति वचनात् । न च तथा अस्तित्वं नास्तित्वस्य प्रयोजनं प्रतिबध्नाति तस्मिन्नेव काले परद्रव्यादिरूपेणानुपलब्धिबुद्ध्युत्पत्तिदर्शनात् । नास्तित्वं वा 'सदस्तित्वप्रयोजनं प्रतिबध्नाति तदैव' स्वरूपाद्यपेक्षयोपलब्धिबुद्धिदर्शनात् । तस्मात् वाङमात्रमेव विरोधः । एवमर्पणाभेदादविरुद्धोऽनेकात्मको जीव इति स्थितमेतत् ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे चतुर्थोऽध्यायः[5] **।**

---

१ कर्मतापतनम् । २ फलवृन्तयोः । ३ विद्यमानं सत् । ४ नास्तित्वकाले । ५ –यः समाप्तः अ० ।

तत्त्वार्थवार्तिक

हिन्दी-सार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थवार्तिक

[हिन्दी सार]

प्रथम अध्याय

सर्वविज्ञानमय, बाह्य-आभ्यन्तर लक्ष्मीके स्वामी और परमवीतराग श्रीमहावीर को प्रणाम करके तत्त्वार्थवार्तिक ग्रन्थको कहता हूँ।

§ १–२ उपयोगस्वरूप तथा श्रेयोमार्गकी प्राप्तिके पात्रभूत आत्मद्रव्यको ही मोक्ष-मार्गके जाननेकी इच्छा होती है। जैसे आरोग्यलाभ करनेवाले चिकित्सा के योग्य रोगीके रहने पर ही चिकित्सामार्गकी खोज की जाती है, उसी तरह आत्मद्रव्यकी प्रसिद्धि होनेपर मोक्षमार्ग-के अन्वेषणका औचित्य सिद्ध होता है।

§ ३ संसारी आत्माके धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें मोक्ष ही अन्तिम और प्रधानभूत पुरुषार्थ है अतः उसकी प्राप्तिके लिए मोक्षमार्गका उपदेश करना ही चाहिए।

§ ४–८ **प्रश्न**–जब मोक्ष अन्तिम, अनुपम, श्रेष्ठ और प्रधान पुरुषार्थ है तब उसीका उपदेश करना चाहिए न कि उसके मार्गका ? **उत्तर**–मोक्षार्थी भव्यने मार्ग ही पूछा है अतः प्रश्नानुरूप मार्गका ही उपदेश किया गया है। मोक्षके सम्बन्धमें प्रायः सभी वादियोंका एक मत है, सभी दुःखनिवृत्तिको मोक्ष मानते हैं, पर उसके मार्गमें विवाद है। जैसे विभिन्न दिशाओंसे पटना जानेवाले यात्रियोंको पटना नगरमें विवाद नहीं होता किन्तु अपनी अपनी दिशा के अनुकूल मार्गमें विवाद होता है उसी तरह सर्वोच्च लक्ष्य भूत मोक्षमें वादियोंको विवाद नहीं है किन्तु उसके मार्गमें विवाद है। कोई वादी ज्ञानमात्रसे ही मोक्ष मानते हैं तो कोई ज्ञान और विषयविरक्ति रूप वैराग्य से तथा कोई क्रियासे ही मोक्ष मानते हैं। क्रियावादियोंका कथन है कि नित्यकर्म करनेसे ही निर्वाण प्राप्त हो जाता है। फिर, प्रश्नकर्त्ताको यह बन्धन भी तो नहीं लगाया जा सकता कि–'आप मार्ग न पूछें, मोक्षको पूछें', लोगोंकी रुचि विभिन्न प्रकार-की होती है। यद्यपि मोक्षके स्वरूपमें भी वादियोंकी अनेक कल्पनाएँ हैं, यथा–बौद्ध रूप वेदना संज्ञा संस्कार और विज्ञान इन पांच स्कन्धोंके निरोधको मोक्ष कहते हैं, सांख्य प्रकृति और पुरुष में भेद विज्ञान होनेपर शुद्ध चैतन्य मात्र स्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेको मोक्ष मानते हैं, नैयायिक बुद्धि सुख-दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म और संस्कार इन आत्माके विशेष गुणोंके उच्छेद को मोक्ष कहते हैं, फिर भी सभी वादी 'कर्मबन्धनका विनाश कर स्वरूपप्राप्ति' इस मोक्ष-सामान्यमें एकमत हैं। सभी वादियोंको यह स्वीकार है कि मोक्ष अवस्थामें कर्मबन्धनका समूल उच्छेद हो जाता है।

§ ९–१३ **प्रश्न**–मोक्ष जब प्रत्यक्षसे दिखाई नहीं देता तब उसके मार्गका ढूँढना व्यर्थ है ? **उत्तर**–यद्यपि मोक्ष प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है फिर भी उसका अनुमान किया जा सकता है। जैसे घटीयन्त्र (रेंहट) का घूमना उसके धुरेके घूमनेसे होता है और धुरेका घूमना उसमें जुते हुए बैलके घूमनेपर। यदि बैलका घूमना बन्द हो जाय तो धुरेका घूमना रुक जाता है और धुरेके रुक जानेपर घटीयन्त्रका घूमना बन्द हो जाता है उसी तरह कर्मोदयरूपी बैलके चलनेपर ही चार गति रूपी धुरेका चक्र चलता है और चतुर्गतिरूपी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घुरा ही अनेक प्रकारकी शारीरिक मानसिक आदि वेदनाओंरूपी घटीयन्त्रको घुमाता रहता है। कर्मोदयकी निवृत्ति होनेपर चतुर्गतिका चक्र रुक जाता है और उसके रुकनेसे संसार-रूपी घटीयन्त्रका परिचलन समाप्त हो जाता है, इसीका नाम मोक्ष है। इस तरह साधारण अनुमानसे मोक्षकी सिद्धि हो जाती है। समस्त शिष्टवादी अप्रत्यक्ष होनेपर भी मोक्षका सद्भाव स्वीकार करते हैं और उसके मार्गका अन्वेषण करते हैं। जिस प्रकार भावी सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण आदि प्रत्यक्षसिद्ध नहीं हैं फिर भी आगमसे उनका यथार्थबोध कर लिया जाता है उसी प्रकार मोक्ष भी आगमसे सिद्ध हो जाता है। यदि प्रत्यक्ष सिद्ध न होनेके कारण मोक्षका निषेध किया जाता है तो सभीको स्वसिद्धान्तविरोध होगा, क्योंकि सभी वादी कोई न कोई अप्रत्यक्ष पदार्थ मानते ही हैं।

§ १४–१६ **प्रश्न**–बन्धके कारणोंको पहिले बताना चाहिए था तभी मोक्षके कारणोंका वर्णन सुसंगत हो सकता है? **उत्तर**–आगे आठवें अध्यायमें मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय और योगको बन्धका कारण बताया है। यद्यपि बन्धपूर्वक मोक्ष होता है अतः पहिले बन्धकारणोंका निर्देश करना उचित था फिर भी मोक्षमार्गका निर्देश आश्वासन के लिए किया है। जैसे जेलमें पड़ा हुआ व्यक्ति बन्धनके कारणोंको सुनकर डर जाता है और हताश हो जाता है पर यदि उसे मुक्तिका उपाय बताया जाता है तो उसे आश्वासन मिलता है और वह आशान्वित हो बन्धनमुक्तिका प्रयास करता है उसी तरह अनादि कर्मबन्धनबद्ध प्राणी प्रथम ही बन्धके कारणोंको सुनकर डर न जाय और मोक्षके कारणोंको सुनकर आश्वा-सनको प्राप्त हो इस उद्देश्यसे मोक्षमार्गका निर्देश सर्वप्रथम किया है।

§ १७ अथवा, अन्यवादियोंके द्वारा कहे गए ज्ञानमात्र और ज्ञान तथा चारित्र इन एक और दो मोक्षकारणोंका निषेध करनेके लिए जनसम्मत सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनोंको ही मोक्षमार्ग बताया गया है एक या दो को नहीं।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनोंका सुमेल रूप रत्नत्रय मोक्षका मार्ग है।

कोई व्याख्याकार कहते हैं कि–मोक्षके कारणके निर्देश द्वारा शास्त्रानुपूर्वी रचनेके लिए तथा शिष्यकी शक्तिके अनुसार सिद्धान्तप्रक्रिया बतानेके लिए इस सूत्रकी रचना हुई है। परन्तु यहां कोई शिष्याचार्य सम्बन्ध विवक्षित नहीं है किन्तु संसार-सागरमें डूबते हुए अनेक प्राणियोंके उद्धारकी पुण्य भावनासे मोक्षमार्गका निरूपण करनेवाले इस सूत्रकी रचना की गई है।

§ १ दर्शनमोह कर्मके उपशम क्षय या क्षयोपशम रूप अन्तरङ्ग कारणसे होनेवाले तत्त्वार्थश्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस अन्तरङ्ग कारणकी पूर्णता कहीं निसर्गसे होती है और कहीं अधिगम अर्थात् परोपदेशसे होती है। इसी कारणसे सम्यग्दर्शन भी निसर्गज और अधिगमजके भेदसे दो प्रकारका हो जाता है।

§ २ प्रमाण और नयोंके द्वारा जीवादितत्त्वोंका संशय विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ ३ संसारके कारणभूत रागद्वेषादिकी निवृत्तिके लिए कृतसंकल्प विवेकी पुरुष का शरीर और वचनकी बाह्य क्रियाओंसे और आभ्यन्तर मानस क्रियासे विरक्त होकर स्वस्वरूपस्थिति प्राप्त करना सम्यक् चारित्र है। पूर्ण यथाख्यात चारित्र वीतरागी-ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें तथा जीवन्मुक्त केवलीके होता है। उससे नीचे विविध प्रकारका तरतम चारित्र श्रावक और दसवें गुणस्थान तकके साधुओंको होता है।

§ ४ ज्ञान और दर्शन शब्द करणसाधन हैं अर्थात् आत्माकी उस शक्तिका नाम ज्ञान है जिससे पदार्थ जाने जाते हैं और उस शक्तिका नाम दर्शन है जिससे तत्त्वश्रद्धान होता है। चारित्र शब्द कर्मसाधन है अर्थात् जो आचरण किया जाता है वह चारित्र है।

§ ५–६ **प्रश्न**–यदि जिसके द्वारा जाना जाय उस करणको ज्ञान कहते हैं तो जैसे 'कुल्हाड़ीसे लकड़ी काटते हैं' यहां कुल्हाड़ी और काटनेवाला दो जुदा पदार्थ हैं उसी तरह कर्त्ता आत्मा और करण-ज्ञान इन दोनोंको दो जुदा पदार्थ होना चाहिए? **उत्तर**–नहीं, जैसे 'अग्नि उष्णतासे पदार्थको जलाती है' यहाँ अग्नि और उष्णता दो जुदा पदार्थ नहीं हैं फिर भी कर्त्ता और करणरूपसे भेदप्रयोग हो जाता है उसी तरह आत्मा और ज्ञानमें भी जुदापन न होनेपर भी कर्त्ता-करणरूपसे भेदव्यवहार हो जायगा। एवम्भूतनयकी दृष्टिसे ज्ञानक्रिया में परिणत आत्मा ही ज्ञान है और दर्शनक्रियामें परिणत आत्मा दर्शन जैसे कि उष्णपर्यायमें परिणत आत्मा अग्नि है। यदि अग्निको उष्णस्वभाव नहीं माना जाय तो अग्निका स्वरूप ही क्या रह जाता है जिससे उसे अग्नि कहा जा सकेगा? उसी तरह यदि आत्माको ज्ञान-दर्शनस्वरूप न माना जाय तो आत्माका भी क्या स्वरूप बचेगा जिससे उस ज्ञानदर्शनादिशून्य पदार्थको आत्मा कह सकें? अतः अखण्ड द्रव्यदृष्टिसे आत्मा और ज्ञानमें कोई भेद नहीं है।

§ ७–८ **प्रश्न**–जिस प्रकार नीले रंगके सम्बन्धसे साड़ी या कम्बल आदिमें 'नीला' यह प्रत्यय हो जाता है उसी तरह भिन्न ज्ञानगुणके सम्बन्धसे आत्मा ज्ञानवाला तथा भिन्न उष्णताके सम्बन्धसे अग्नि उष्ण बन जायगी? **उत्तर**–नहीं, जैसे पुरुषसे संयुक्त होनेके पहिले डंडा एक स्वतन्त्र सिद्ध पदार्थ है और पुरुष भी दण्डसम्बन्धके पहिले अपने लक्षणोंसे स्वतन्त्रसिद्ध पदार्थ है उसी तरह क्या उष्णसम्बन्धके पहिले अग्नि स्वतः सिद्ध पदार्थ है? क्या ज्ञानके सम्बन्धके पहिले आत्मा स्वतःसिद्ध पदार्थ है? दण्ड और पुरुषका तथा नीलरंग और साड़ीका सम्बन्ध तो उचित है क्योंकि ये सब पृथक् सिद्ध पदार्थ हैं। परन्तु ज्ञानादिके सम्बन्धसे पहिले ज्ञानादिशून्य आत्मा और उष्णगुणके सम्बन्धके पहिले अनुष्ण अग्नि सिद्ध ही नहीं हैं। इसी तरह निराश्रय ज्ञान और उष्ण भी स्वतः सिद्ध पदार्थ नहीं हैं अतः इन्हें भिन्न मानकर इनके सम्बन्धकी कल्पना उचित नहीं है।

§ ९ उष्णगुणके सम्बन्धसे पहिले अग्निमें 'उष्ण' यह ज्ञान होता है या नहीं? यदि होता है, तो उष्णगुणके सम्बन्धकी आवश्यकता ही क्या है? यदि नहीं, तो अनुष्णपदार्थ में उष्णगुणके सम्बन्धसे उष्ण व्यवहार हो ही नहीं सकता अन्यथा घटादिमें भी उष्ण व्यवहार होना चाहिए। यदि अग्नि उष्णगुणके सम्बन्धसे उष्ण है तो उष्णगुण किसके सम्बन्धसे उष्ण होगा? यदि उष्णगुणमें उष्णता लानेके लिए अन्य उष्णत्वका सम्बन्ध माना जाता है तो उस उष्णत्वमें उष्णता लानेके लिए अन्य उष्णत्व मानना होगा, उसमें भी उष्णता लानेके लिए तदन्य उष्णत्व इस तरह अनवस्था नामका दूषण होता है। यदि उष्णगुणमें स्वतः ही उष्णता है तो अग्निको ही स्वतः उष्ण माननेमें क्या आपत्ति है? फिर भिन्न पदार्थके सम्बन्ध

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

से भी प्रतीत होती है यह प्रतिज्ञा भी नहीं रही। इसी तरह आत्मा और ज्ञानमें भी समझ लेना चाहिए। अतः आत्माको स्वतः ज्ञानस्वरूप मानना चाहिए अन्यथा अनवस्था और प्रतिज्ञा-हानि दूषण आते हैं।

§ १० जिस प्रकार दण्डका सम्बन्ध होनेपर भी पुरुष स्वयं दण्ड नहीं बन जाता किन्तु दण्डवान् या दण्डी इस व्यवहारको ही प्राप्त होता है उसी तरह उष्णत्व नामके विशिष्ट सामान्यके सम्बन्ध होनेपर भी उष्णगुण 'उष्णत्ववान्' तो बन सकता है स्वतः उष्ण नहीं। इसी तरह अग्नि भी उष्णवान् बन सकती है स्वतः उष्ण नहीं, क्योंकि द्रव्य गुण और सामान्य पदार्थ वैशेषिकोंके मतसे पृथक् स्वतन्त्र हैं।

§ ११ **प्रश्न**–वैशेषिक समवाय नामका सम्बन्ध मानते हैं, इससे अपृथक् सिद्ध पदार्थोंमें 'इह इदम्' यह प्रत्यय होता है और इसीसे गुण-गुणीमें अभेदकी तरह भान होने लगता है। इस समवाय सम्बन्धके कारण उष्णत्वसमवायसे उष्णगुण उष्ण बन जायगा और उष्णगुणके समवायसे अग्नि उष्ण हो जायगी? **उत्तर**–नहीं, स्वतन्त्र पदार्थोंमें समवायका कोई नियम नहीं बन सकता। जब अग्नि और उष्ण भिन्न हैं तब क्या कारण है कि उष्णका समवाय अग्निमें ही होता है जलमें नहीं? उष्णत्वका समवाय उष्णमें ही होता है शीतमें नहीं? अतः उष्णताको अग्निद्रव्यका ही परिणमन मानना चाहिए, पृथक् पदार्थ नहीं।

§ १२–१३ समवाय नामका स्वतन्त्र पदार्थ भी सिद्ध नहीं होता। जिस प्रकार गुणकी गुणीमें समवाय सम्बन्धसे वृत्ति मानी जाती है उसी तरह समवायकी गुण और गुणीमें किस सम्बन्धसे वृत्ति होगी? समवायान्तरसे तो नहीं, क्योंकि समवाय पदार्थ एक ही स्वीकार किया गया है। संयोगसे भी नहीं, क्योंकि दो पृथक् सिद्ध द्रव्योंमें ही संयोग होता है। संयोग और समवायसे भिन्न तीसरा कोई सम्बन्ध है भी नहीं। अतः अपने समवायियोंसे असम्बद्ध होनेके कारण समवाय नामका कोई स्वतन्त्र पदार्थ सिद्ध नहीं होता। यदि कहा जाय कि–चूंकि समवाय 'सम्बन्ध' है अतः उसे स्वसम्बन्धियोंमें रहनेके लिए अन्य सम्बन्धकी आवश्यकता नहीं है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि संयोगसे व्यभिचारदूषण आता है। संयोग भी 'सम्बन्ध' है पर उसे स्वसम्बन्धियोंमें समवायसे रहना पड़ता है।

§ १४ 'जिस प्रकार दीपक स्वप्रकाशी और परप्रकाशी दोनों है उसी प्रकार समवाय भी अन्य सम्बन्धकी अपेक्षा किए बिना स्वतः ही द्रव्यादिकी परस्पर वृत्ति करा देगा तथा स्वयं भी उनमें रह जायगा।' यह तर्क उचित नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेसे समवायको द्रव्यादिकी पर्याय ही माननी पड़ेगी। जैसे दीपक प्रकाशस्वरूपसे अभिन्न है अतः स्वप्रकाशमें उसे प्रकाशान्तरकी आवश्यकता नहीं होती उसी तरह न केवल समवायको ही किन्तु गुण कर्म सामान्य और विशेषको भी द्रव्यकी ही पर्यायविशेष मानना होगा। द्रव्य ही बाह्य-आभ्यन्तर कारणोंसे गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय आदि पर्यायोंको प्राप्त हो जाता है। दीपकका दृष्टान्त भी उचित नहीं है क्योंकि जैसे दीपक घटादि प्रकाश्य पदार्थोंसे भिन्न अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है उस तरह समवायकी द्रव्यादिसे भिन्न अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यदि गुणादि द्रव्यसे भिन्न हों, तो द्रव्यमें अद्रव्यत्वका प्रसंग तो होगा ही, साथ ही साथ निराश्रय होनेसे गुणादिका भी अभाव हो जायगा। अतः गुणादिको द्रव्यका ही पर्यायविशेष मानना युक्तिसंगत है।

§ १५–१६ जब ज्ञान क्षणिक तथा एकार्थग्राही है तब ऐसे ज्ञानसे यह विवेक ही नहीं हो सकता कि युतसिद्धों–पृथक्सिद्धोंका संयोग होता है तथा अयुतसिद्धोंका समवाय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कार भी अनुभवके अनुसार ही होता है, अतः एकार्थग्राही ज्ञानसे पड़ा हुआ संस्कार भी एकार्थग्राही ही फलित होता है इसलिये संस्कारसे भी उक्त विवेक नहीं हो सकेगा।

अथवा, ज्ञान आत्माका स्वभाव होकर भी जब कथञ्चित् भिन्न विवक्षित हो जाता है तब एक ही आत्मा कर्त्ता और करण भी बन जाता है।

§ १७–१८ पर्याय और पर्यायीके भेद और अभेदको अनेकान्तदृष्टिसे देखना चाहिए। यथा, घट कपाल सकोरा आदि पर्यायोंमें मृद्रूप द्रव्यकी दृष्टिसे कथञ्चित् एकत्व है तथा उन घट आदि पर्यायोंकी दृष्टिसे विभिन्नता है उसी तरह आत्मा और ज्ञानादि गुणोंमें द्रव्यदृष्टिसे एकता है तथा गुण और गुणीकी दृष्टिसे विभिन्नता है। आत्मा ही बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंसे ज्ञानादि पर्यायोंको प्राप्त होता है और ज्ञान दर्शन आदि व्यवहारोंका विषय बन जाता है। वस्तुतः आत्मा और ज्ञानादि भिन्न नहीं है। यदि यह ऐकान्तिक नियम बनाया जाय कि कर्त्ता और करणको भिन्न ही होना चाहिए तो 'वृक्ष शाखाओंके भारसे टूट रहा है' यहां वृक्ष और शाखाभारमें भी भेद मानना होगा। पर ऐसा है नहीं, क्योंकि शाखाभारको छोड़कर वृक्षकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसी तरह आत्माको छोड़कर ज्ञानका और ज्ञानादिको छोड़कर आत्माका पृथक् अस्तित्व नहीं है।

§ १९–२१ जैसे द्रव्य मूर्त भी होते हैं तथा अमूर्त भी उसी तरह करण दो प्रकार का होता है–एक विभक्तकर्त्तृक–जिनका कर्त्ता जुदा और करण जुदा होता है और दूसरा अविभक्तकर्तृक। 'कुल्हाड़ीसे लकड़ी काटी जाती है' यहां कुल्हाड़ी विभक्तकर्त्तृक करण है तथा 'वृक्ष शाखाओंके भारसे टूटता है' यहां शाखाभार अविभक्तकर्तृक करण है। इसी तरह 'अग्नि उष्णतासे जलाती है' 'आत्मा ज्ञानसे जानता है' यहां उष्णता और ज्ञान अविभक्त-कर्तृक करण हैं क्योंकि उष्णताकी अग्निसे तथा ज्ञानकी आत्मासे पृथक् सत्ता ही नहीं है। जैसे 'कुशूल टूट रहा है' यहां जब कुशूल स्वयं ही नष्ट हो रहा है तो स्वयं ही कर्त्ता और स्वयं ही करण बन जाता है उसी तरह आत्मा ही ज्ञाता और ज्ञान होकर कर्त्ता और करण रूप बन जाता है। एक ही अर्थकी अनेक पर्याएं होती हैं। जैसे एक ही देवराज इन्द्र शक्र और पुरन्दर आदि पर्यायोंको धारण करता है। इन्दन क्रियाके समय इन्द्र, शासन क्रियाके समय शक्र तथा पूर्दारण क्रियाके समय पुरन्दर कहा जाता है। देवराजसे उक्त तीनों अवस्थाएँ सर्वथा भिन्न नहीं हैं क्योंकि एक ही देवराज उन तीन अवस्थारूप होता है। वे देवराजसे अभिन्न हैं, इसलिए वह जिस रूपसे इन्द्र है उसी रूपसे शक्र, और पुरन्दर भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इन्द्रादि अवस्थाएं जुदी जुदी हैं, उसी तरह एक ही आत्माका ज्ञान दर्शन आदि अवस्थाओंसे कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद है। अतः ज्ञानादिकको आत्मासे सर्वथा भिन्न नहीं कहा जा सकता।

§ २२–२३ अथवा, ज्ञान दर्शन आदि शब्दोंको कर्तृसाधन मानना चाहिए—'जानाति इति ज्ञानम्' अर्थात् जो जाने सो ज्ञान, 'पश्यतीति दर्शनम्' अर्थात् जो तत्त्वश्रद्धा करे वह दर्शन, 'चरतीति चारित्रम्'–अर्थात् जो आचरण करे वह चारित्र। तात्पर्य यह कि ज्ञानादि-पर्यायोंसे परिणत आत्मा ही ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप होता है, इसलिए कर्त्ता और करणकी भिन्नताका सिद्धान्त मानकर आत्मा और ज्ञानमें भेद करना उचित नहीं है। व्याकरण शास्त्रसे भी ज्ञान दर्शन चारित्र आदि शब्दोंमें होनेवाले युट् और णित्र प्रत्यय कर्त्ता आदि सभी साधनोंमें होते हैं अतः कोई शाब्दिक विरोध भी नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ २४ अथवा, ज्ञान दर्शनादि शब्दोंको भावसाधन कहना चाहिए–'ज्ञातिर्ज्ञानम्' अर्थात् जाननेरूप क्रिया, 'दृष्टिदर्शनम्' अर्थात् तत्त्वश्रद्धान, चरणं चारित्रम् अर्थात् आचरण। उदासीनरूपसे स्थित ज्ञान दर्शनादि क्रियाएँ ही मोक्षमार्ग हैं। क्रियामें व्यापृत ज्ञानादिमें तो यथासंभव कर्तृसाधन करणसाधन आदि व्यवहार होंगे।

§ २५ **प्रश्न**–यदि ज्ञानको ही आत्मा कहा जाता है तो ज्ञानशब्दको आत्मा शब्दकी तरह पुल्लिग और एकवचन होना चाहिए ? **उत्तर**–नहीं, एक ही अर्थमें व्यक्तिभेदसे लिंगभेद और वचनभेद हो जाता है। जैसे कि–'गेहं कुटी मठः' यहां एक ही घर रूप अर्थमें विभिन्न लिङ्गवाले शब्दोंका प्रयोग है। 'पुष्यः तारका नक्षत्रम्' यहां एक ही तारारूप अर्थ में विभिन्नलिङ्गक और विभिन्न वचनवाले शब्दोंका प्रयोग है।

§ २६–२९ **प्रश्न**–सूत्रमें ज्ञान शब्दका ग्रहण पहिले करना चाहिए क्योंकि ज्ञानशब्द दर्शन शब्दसे थोड़े अक्षरोंवाला है और ज्ञानपूर्वक ही दर्शन होता है अतः पूर्ववर्ती भी है ? **उत्तर**–नहीं, जैसे मेघपटलके हटते ही सूर्यका प्रकाश और प्रताप एक साथ ही फैलता है उसी तरह दर्शनमोहका उपशम क्षय या क्षयोपशम होते ही आत्मामें ज्ञान और दर्शनकी युगपत् वृत्ति होती है। तात्पर्य यह कि जिस समय आत्मामें सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसी समय उसके मत्यज्ञान श्रुताज्ञान आदि मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि रूपसे सम्यग्ज्ञान बन जाते हैं अतः दोनोंमें पौर्वापर्य नहीं है। थोड़े अक्षर होनेके कारण ही पूर्वग्रहण नहीं होता, जो पूज्य होता है उसका अधिकाक्षर होनेपर भी पूर्वग्रहण करना न्याय्य है। दर्शन ही ज्ञानमें सम्यक्त्व लानेके कारण पूज्य है, अतः उसका ही प्रथम ग्रहण करना न्याय्य है।

§ ३० सूत्रमें दर्शन और चारित्रके बीचमें ज्ञानका ग्रहण किया गया है; क्योंकि चारित्र ज्ञानपूर्वक ही होता है।

§ ३१–३३ 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि' यहाँ सर्वपदार्थप्रधान द्वन्द्व समास है। इसका यह तात्पर्य है कि मोक्षमार्गके प्रति तीनोंकी प्रधानता है किसी एककी नहीं। इसीलिए बहुवचनका प्रयोग है। 'द्वन्द्व समासके साथ कोई भी विशेषण चाहे वह आदिमें प्रयुक्त हो या अन्तमें सबके साथ जुट जाता है' यह नियम है अतः सम्यक् विशेषणका दर्शनादिके साथ अन्वय हो जाता है अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जैसे कि 'देवदत्त जिनदत्त यज्ञदत्तको भोजन कराओ' यहाँ भोजन क्रियाका तीनोंमें अन्वय हो जाता है।

§ ३४ 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि' इस बहुवचन पदके साथ समानाधिकरण होनेसे मार्ग शब्दमें बहुवचन और नपुंसक लिंग नहीं हो सकता, क्योंकि मार्गस्वभावता तीनोंमें समान रूपसे होनेके कारण उस मार्गस्वभावताकी प्रधानतापर दृष्टि रखनेसे उसमें पुल्लिगता और एकवचनत्व रखनेमें कोई विरोध नहीं है।

§ ३५ समस्त कर्मोंके आत्यन्तिक उच्छेदको मोक्ष कहते हैं। मोक्ष शब्द 'मोक्षणं मोक्षः' इस प्रकार कियाप्रधान भावसाधन है, 'मोक्ष् असने' धातुसे बना है।

§ ३६–३७ मार्गशब्द प्रसिद्ध मार्गकी तरह है। जैसे कांटे आदिसे रहित राजमार्गसे यात्री अपने गन्तव्य स्थानको सुखपूर्वक पहुँच जाता है उसी तरह मिथ्यादर्शनादि कंटकोंसे रहित सम्यग्दर्शनादि मार्गसे मोक्षनगर तक सुखपूर्वक पहुंचा जा सकता है। मार्ग धातु अन्वेषण अर्थमें है अर्थात् मोक्ष जिसके द्वारा ढूंढ़ा जाय उन सम्यग्दर्शनादिको मार्ग कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ ३८ जिस प्रकार वातादिके विकारसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंके निदानको नष्ट करनेके कारण औषधि आरोग्यका मार्ग कहलाती है उसी तरह संसार रोगरूप मिथ्यादर्शनादि के कारणोंको नष्ट करनेके कारण सम्यग्दर्शनादि मोक्षके मार्ग कहे जाते हैं।

§ ३९–४६ शंका–मिथ्याज्ञानसे ही सभी वादियोंने बन्ध माना है अतः मोक्ष भी केवल सम्यग्ज्ञानसे ही होना चाहिए अतः सम्यग्दर्शनादि तीन मोक्षके मार्ग नहीं हो सकते। यथा–

सांख्य (४०–४१) धर्मसे ब्राह्म सौम्य आदि उच्च योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है तथा अधर्मसे मानुष पशु आदि नीच योनियोंमें। प्रकृति और पुरुषमें विवेक ज्ञान होनेसे मोक्ष होता है तथा प्रकृति और पुरुष विषयक विपर्यय ज्ञानसे बन्ध। जबतक पुरुषको महान् बुद्धि, अहंकार, पांच तन्मात्राएं–स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द, अहंकारजन्य पांच इन्द्रियां–पांचभौतिक शरीर आदि अनात्मीय पदार्थोंमें 'मैं सुनता हूं, मैं देखता हूं' आदि मिथ्या ज्ञान होता है, वह शरीरको ही आत्मा मानता है तब तक इसको विपर्ययज्ञानके कारण बन्ध होता है और वह संसारी है पर जब इसे प्रकृति और पुरुषमें भेदविज्ञान हो जाता है, वह पुरुषके सिवाय यावत् पदार्थोंको प्रकृतिकृत और त्रिगुणात्मक मानकर उनसे विरक्त होकर 'इनमें मैं नहीं हूं, मेरे ये नहीं हैं' यह परम विवेकज्ञान जाग्रत होता है तब सम्यग्ज्ञानसे मोक्ष हो जाता है। तात्पर्य यह कि सांख्य विपर्ययसे बन्ध और ज्ञानसे मोक्ष मानता है।

वैशेषिक–इच्छा और द्वेषसे धर्म और अधर्मकी प्रवृत्ति होती है उनसे सुख और दुःख रूप संसार। जिस पुरुषको तत्त्वज्ञान हो जाता है उसे इच्छा और द्वेष नहीं होते, इनके न होनेसे धर्म-अधर्म नहीं होते, धर्म और अधर्मके न होनेसे नए शरीर और मनका संयोग नहीं होता, जन्म नहीं होता और संचित कर्मोंका निरोध हो जानेसे मोक्ष हो जाता है। जैसे प्रदीप के बुझ जानेसे प्रकाशका अभाव हो जाता है उसी तरह धर्म और अधर्म रूप बन्धनके हट जानेपर जन्म-मरण-चक्ररूप संसारका अभाव हो जाता है। अतः षट्पदार्थका तत्त्वज्ञान होते ही अनागत धर्म और अधर्मकी उत्पत्ति नहीं होगी और संचित धर्माधर्मका उपभोग और ज्ञानाग्निसे विनाश होकर मोक्ष हो जाता है। अतः वैशेषिकके मतसे भी विपर्यय बन्धका कारण है और तत्त्वज्ञान मोक्षका।

नैयायिक–तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होनेपर क्रमशः दोष प्रवृत्ति जन्म और दुःखकी निवृत्ति होनेको मोक्ष कहते हैं। दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष और मिथ्याज्ञानका कारण-कार्यभाव है अर्थात् मिथ्याज्ञानका कार्य दोष, दोषका कार्य प्रवृत्ति, प्रवृत्तिका कार्य जन्म और जन्मका कार्य दुःख है। अतः कारणकी निवृत्ति होनेपर कार्यकी निवृत्ति होना स्वाभाविक ही है। आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिको ही मोक्ष कहते हैं।

बौद्ध–अविद्यासे बन्ध तथा विद्यासे मोक्ष मानते हैं। अनित्य अनात्मक अशुचि और दुःखरूप सभी पदार्थोंको नित्य सात्मक शुचि और सुखरूप मानना अविद्या है। इस अविद्यासे रागादिक संस्कार उत्पन्न होते हैं। संस्कार तीन प्रकारके हैं–१ पुण्योपग (शुभ), २ अपुण्योपग (अशुभ), ३ आनेञ्ज्योपग (अनुभयरूप)। वस्तुकी प्रतिविज्ञप्तिको विज्ञान कहते हैं। इन संस्कारोंके कारण वस्तुमें इष्ट अनिष्ट प्रतिविज्ञप्ति होती है, इसीलिए संस्कार विज्ञानमें प्रत्यय अर्थात् कारण माना जाता है। इस विज्ञानसे नाम अर्थात् चार अरूपी स्कन्ध–वेदना संज्ञा संस्कार और विज्ञान, तथा रूप अर्थात रूपस्कंध–पृथिवी जल अग्नि और वायु उत्पन्न होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इस पंचस्कन्धको नामरूप कहते हैं। विज्ञानसे ही नाम और रूपको नामरूप संज्ञाएं मिलती हैं अतः इन्हें विज्ञानसम्भूत कहा गया है। इस नामरूपसे ही चक्षु आदि पांच इन्द्रियां और मन ये षडायतन होते हैं। अतः षडायतनको नामरूपप्रत्यय कहा है। विषय इन्द्रिय और विज्ञानके सन्निपातको स्पर्श कहते हैं। छह आयतन द्वारों का विषयाभिमुख होकर प्रथम ज्ञानतन्तुओंको जाग्रत करना स्पर्श है। स्पर्शके अनुसार वेदना अर्थात् अनुभव होता है। वेदनाके बाद उसमें होनेवाली आसक्ति तृष्णा कहलाती है। उन उन अनुभवोंमें रस लेना, उनका अभिनन्दन करना, उनमें लीन रहना तृष्णा है। तृष्णाकी वृद्धिसे उपादान होता है। यह इच्छा होती है कि मेरी यह प्रिया मेरे साथ सदा बनी रहे, मुझमें सानुराग रहे और इसीलिए तृष्णातुर व्यक्ति उपादान करता है। इस उपादानसे ही पुनर्भव अर्थात् परलोकको उत्पन्न करनेवाला कर्म होता है। इसे भव कहते हैं। यह कर्म मन, वचन और काय इन तीनोंसे उत्पन्न होता है। इससे परलोकमें नए शरीर आदिका उत्पन्न होना जाति है। शरीर स्कन्ध का पक जाना जरा है और उस स्कन्धका विनाश मरण कहलाता है। इसीलिए जरा और मरणको जातिप्रत्यय बताया है। इस तरह यह द्वादशांगवाला चक्र परस्परहेतुक है। इसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं। प्रतीत्य अर्थात् एकको निमित्त बनाकर अन्यका समुत्पाद अर्थात् उत्पन्न होना। इसके कारण यह भवचक्र बराबर चलता रहता है। जब सब पदार्थोंमें अनित्य निरात्मक अशुचि और दुःख रूप तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है तब अविद्या नष्ट हो जाती है, फिर अविद्याके विनाशसे क्रमशः संस्कार आदि नष्ट होकर मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इस तरह बौद्धमतमें भी अविद्यासे बन्ध और विद्यासे मोक्ष माना गया है। जैनसिद्धान्तमें भी मिथ्यादर्शन अविरति आदिको बन्धहेतु बताया है। पदार्थोंमें विपरीत अभिप्रायका होना ही मिथ्यादर्शन है और यह मिथ्यादर्शन अज्ञानसे होता है अतः अज्ञान ही बन्धहेतु फलित होता है। 'सामायिक मात्रसे अनन्त जीव सिद्ध हुए हैं' इस आर्ष वचनमें ज्ञानरूप सामायिकसे स्पष्टतया सिद्धिका वर्णन है। अतः जब अज्ञानसे बंध और ज्ञानसे मोक्ष यह सभी वादियोंको निर्विवाद रूपसे स्वीकृत है तब सम्यग्दर्शनादि तीनको मोक्षका मार्ग मानना उपयुक्त नहीं है।

एक बार एक लड़केको हाथीने मार डाला। एक वणिक्ने समझा कि मेरा लड़का मर गया है और वह पुत्र शोकमें बेहोश हो गया। जब कुशल मित्रोंने होशमें लाकर उस वणिक्को उसका जीवित पुत्र दिखाया तब उसे यह ज्ञान हुआ कि मेरा पुत्र जीवित है, मेरे पुत्रके समान कोई रूपवाला दूसरा ही लड़का मरा है तो वह स्वस्थ हो गया। इस लौकिक दृष्टान्तसे भी यह सिद्ध होता है कि अज्ञानसे दुःख अर्थात् बन्ध और ज्ञानसे सुख अर्थात् मोक्ष होता है।

§ ४७ समाधान–यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि मोक्षकी प्राप्तिका सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनोंसे अविनाभाव है, वह इनके बिना नहीं हो सकती। जैसे मात्र रसायनके श्रद्धान ज्ञान या आचरण मात्रसे रसायनका फल-आरोग्य नहीं मिलता। पूर्णफलकी प्राप्तिके लिए रसायनका विश्वास ज्ञान और उसका सेवन आवश्यक ही है उसी तरह संसार व्याधिकी निवृत्ति भी तत्त्वश्रद्धान ज्ञान और चारित्रसे ही हो सकती है। अतः तीनोंको ही मोक्षमार्ग मानना उचित है। 'अनन्ताः सामायिकसिद्धाः' वचन भी तीनोंके मोक्षमार्गका समर्थन करता है। ज्ञानरूप आत्माके तत्त्वश्रद्धानपूर्वक ही सामायिक-समताभाव रूप चारित्र हो सकता है। सामायिक अर्थात् समस्त पापयोगोंसे निवृत्त होकर अभेद समता और वीतरागतामें प्रतिष्ठित होना। कहा भी है—क्रियाहीन ज्ञान नष्ट है और अज्ञा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियोंकी क्रिया निष्फल है। दावानलसे व्याप्त वनमें जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति इधर-उधर भागकर भी जल जाता है उसी तरह लँगड़ा देखता हुआ भी जल जाता है। एक चकस रथ नहीं चलता। अतः ज्ञान और क्रियाका संयोग ही कार्यकारी है। यदि अन्धा और लँगड़ा दोनों मिल जायँ और अन्धेके कन्धेपर लंगड़ा बैठ जाय तो दोनों हीका उद्धार हो जाय। लँगड़ा रास्ता बताकर ज्ञानका कार्य करे और अन्धा पैरों चलकर चारित्रका कार्य करे तो दोनों ही नगरमें आ सकते हैं।

§ ४८–५१ यदि ज्ञानमात्रसे ही मोक्ष माना जाय तो पूर्णज्ञानकी प्राप्तिके द्वितीय क्षणमें ही मोक्ष हो जायगा। एक क्षण भी पूर्णज्ञानके बाद संसारमें ठहरना नहीं हो सकेगा, उपदेश, तीर्थप्रवृत्ति आदि कुछ भी नहीं हो सकेंगे। यह संभव ही नहीं है कि दीपक भी जल जाय और अँधेरा भी रह जाय। उसी तरह यदि ज्ञानमात्रसे मोक्ष हो तो यह संभव ही नहीं हो सकता कि ज्ञान भी हो जाय और मोक्ष न हो। यदि पूर्णज्ञान होनेपर भी कुछ संस्कार ऐसे रह जाते हैं जिनका नाश हुए बिना मुक्ति नहीं होती और जब तक उन संस्कारोंका क्षय नहीं होता तब तक उपदेश आदि हो सकते हैं, तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि संस्कारक्षयसे मुक्ति होगी ज्ञानमात्र से नहीं। फिर यह बताइये कि संस्कारोंका क्षय ज्ञानसे होगा या अन्य किसी कारणसे? यदि ज्ञानसे, तो ज्ञान होते ही संस्कारोंका क्षय भी हो जायगा और तुरंत ही मुक्ति हो जानेसे तीर्थोपदेश आदि नहीं बन सकेंगे। यदि संस्कार क्षयके लिए अन्य कारण अपेक्षित है तो वह चारित्र ही हो सकता है, अन्य नहीं। अतः ज्ञानमात्रसे मोक्ष मानना उचित नहीं है। यदि ज्ञानमात्रसे ही मोक्ष हो जाय तो सिरका मुंडाना, गेरुआ वेष, यम नियम जप-तप, दीक्षा आदि सभी व्यर्थ हो जायगे।

§ ५२ इसी तरह ज्ञान और वैराग्यसे भी मुक्ति माननेपर तीर्थोपदेश आदि नहीं बन सकेंगे। क्योंकि तत्त्वज्ञान होते ही विषयविरक्तिरूप वैराग्य अवश्य ही होगा और तुरंत मोक्ष हो जानेपर संसारमें ठहरना ही नहीं हो सकेगा।

§ ५३–५५ यदि आत्माको नित्य और व्यापक माना जाता है तो उसमें न तो ज्ञानादिकी उत्पत्ति ही हो सकती है और न हलन-चलन रूप क्रिया ही। इस तरह किसी भी प्रकारकी विक्रिया अर्थात् परिणमन न हो सकनेके कारण ज्ञान और वैराग्यरूप कारणोंकी संभावना ही नहीं है। आत्मा इन्द्रिय मन और अर्थके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान निर्विकारी आत्मामें कैसे पैदा होगा? जब आत्मा सदा एकसा रहता है, उसमें किसी भी प्रकारका परिवर्तन असंभव है तो कूटस्थ नित्य आकाशकी तरह मोक्ष आदि नहीं बन सकेंगे।

इसी तरह आत्माको सर्वथा क्षणिक अर्थात् प्रतिक्षण निरन्वयविनाशी माननेपर भी ज्ञानवैराग्यादि परिणमनोंका आधारभूत पदार्थ न होनेसे मोक्ष नहीं बन सकेगा। जिस मतमें सभी संस्कार क्षणिक हैं उसके यहाँ ज्ञानादिका उत्पत्तिके बाद ही तुरंत नाश हो जानेपर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध आदि नहीं बनेंगे और समस्त अनुभवसिद्ध लोकव्यवहारोंका लोप हो जायगा। क्षणोंकी अवास्तविक सन्तान मानना निरर्थक ही है। यदि सन्तान क्षणोंसे अभिन्न है तो क्षणों की तरह ही निरन्वय क्षणिक होगी। ऐसी दशामें उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। यदि क्षणोंसे भिन्न है तो उससे क्षणोंका परस्पर समन्वय कैसे हो सकेगा? आदि अनेक दूषण आते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ ५६ जिस पुरुषने स्थाणु और पुरुषको पृथक् अनुभव किया हो उसको अन्धकार इन्द्रियदोष आदिसे स्थाणुमें पुरुषभान रूप विपर्यय होता है। जिसने आज तक स्थाणु और पुरुषगत विशेषोंको नहीं जाना है उसे विपर्यय हो ही नहीं सकता। इस तरह जब अनादिसे पुरुष और प्रकृतिमें भेदोपलब्धि नहीं हुई तब विपर्यय कैसे हो सकता है ? इसी तरह बौद्ध-मतमें भी जब पहिले कभी अनित्य अनात्मक अशुचि दुःखरूपसे प्रतीति नहीं हुई तब विपर्यय कैसे हो सकता है ? यदि सांख्य यह कहे कि-- हां, पहिले कभी प्रकृति और पुरुषमें भेदोपलब्धि हुई है, तो उसी समय भेदविज्ञानसे मुक्ति हो जाना चाहिए थी, फिर आज बन्ध कैसा ? इसी प्रकार यदि बौद्धको अनित्यादि रूपसे पहिले कभी प्रतीति हुई हो तो उसे भी मोक्ष हो जाना चाहिए था।

§ ५७ जिनके मतमें एक ज्ञान एक ही अर्थको जानता है उनके यहां स्थाणु विषयक ज्ञान स्थाणको ही जानेगा तथा पुरुषविषयक ज्ञान पुरुषको ही। अतः एक ज्ञानका दो अर्थोंको जानना जब संभव ही नहीं है तब न तो संशय हो सकता है और न विपर्यय ही। अतः एकार्थ-ग्राहिज्ञानवादी के मतसे न तो विपर्यय होगा न बंध और न मोक्ष।

§ ५८–६० **शंका**–ज्ञान और दर्शन चूंकि एक साथ उत्पन्न होते हैं अतः इन्हें एक ही मानना चाहिए ? **समाधान**–जिस प्रकार ताप और प्रकाश एक साथ होकर भी दाह और प्रकाशन रूप अपने भिन्न लक्षणोंसे अनेक हैं, उसी तरह तत्त्वज्ञान और तत्त्वश्रद्धानरूप भिन्न लक्षणोंसे ज्ञान और दर्शन भी भिन्न भिन्न हैं। फिर, यह कोई नियम नहीं है कि जो एक साथ उत्पन्न हों वे एक हों। गायके दोनों सींग एक साथ उत्पन्न होते हैं पर अनेक हैं, अतः इस पक्षमें दृष्टविरोध दोष आता है। जैनदर्शनमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंसे वस्तुका विवेचन किया जाता है। अतः द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता और पर्यायार्थिक नयकी गौणता करनेपर ज्ञान और दर्शनमें एकत्व भी है। जैसे परमाणु आदि पुद्गलद्रव्योंमें बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंसे एक साथ रूपरसादि परिणमन होता है फिर भी रूप-रस आदिमें परस्पर एकत्व नहीं है उसी तरह ज्ञान और दर्शनमें भी समझना चाहिए। अथवा, जैसे अनादि पारिणामिक पुद्गलद्रव्यकी विवक्षामें द्रव्यार्थिकनयकी प्रधानता और पर्यायार्थिकनयकी गौणता रहनेपर रूप रस आदिमें एकत्व है क्योंकि वही द्रव्य रूप है और वही द्रव्य रस, उसी तरह अनादिपारिणामिक चैतन्यमय जीवद्रव्यकी विवक्षा रहनेपर ज्ञान और दर्शनमें अभेद है क्योंकि वही आत्मद्रव्य ज्ञानरूप होता है तथा वही आत्मद्रव्य दर्शनरूप। जब हम उन उन पर्यायोंकी विवक्षा करते हैं तब ज्ञानपर्याय भिन्न है तथा दर्शन पर्याय भिन्न।

§ ६१–६४ **प्रश्न**–ज्ञान और चारित्रमें कालभेद नहीं है अतः दोनोंको एक ही मानना चाहिए। किसी व्यभिचारी पुरुषने अंधेरी रातमें मार्गमें जाती हुई अपनी व्यभि-चारिणी माताको ही छेड़ दिया। इसी समय बिजली चमकी। उस समय जैसे ही उसे यह ज्ञान हुआ कि यह 'मां' है वैसे ही तुरंत वह अगम्यागमनसे निवृत्त हो जाता है, इसी तरह जैसे ही इस जीवको यह सम्यग्ज्ञान होता है कि जीवहिंसा नहीं करनी चाहिए वैसे ही वह हिंसासे निवृत्त हो जाता है। अतः ज्ञान और चारित्रमें कालभेद नहीं है और इसीलिए इन्हें एक मानना चाहिए। **उत्तर**–जिस प्रकार सुईसे ऊपर नीचे रखे हुए १०० कमलपत्रोंको एक साथ छेदने पर सूक्ष्म कालभेदकी प्रतीति नहीं होती यद्यपि वहां कालभेद है उसी तरह ज्ञान और चारित्र-में भी सूक्ष्म कालभेदका भान नहीं हो पाता, कारण काल अत्यन्त सूक्ष्म है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान और चारित्रमें अर्थभेद भी है–ज्ञान जाननेको कहते हैं तथा चारित्र कर्मबन्धकी कारण क्रियाओंकी निवृत्तिको। फिर यह कोई नियम नहीं है कि जिनमें कालभेद न हो उनमें अर्थभेद भी न हो। देखो, जिस समय देवदत्तका जन्म होता है उसी समय मनुष्यगति पंचेन्द्रियजाति शरीर वर्ण गन्ध आदिका भी उदय होता है पर सबके अर्थ जुदे जुदे हैं। इसी तरह ज्ञान और चारित्रके भी अर्थ भिन्न भिन्न हैं।

यह पहिले कह भी चुके हैं कि द्रव्यार्थिक दृष्टिसे ज्ञानादिकमें एकत्व है तथा पर्यायार्थिक दृष्टिसे अनेकत्व।

§ ६५–६६ **प्रश्न**–यदि दर्शन ज्ञान आदिमें लक्षण भेद है तो ये मिलकर एक मार्ग नहीं हो सकते, इन्हें तीन मार्ग मानना चाहिए ? **उत्तर**–यद्यपि इनमें लक्षणभेद है फिर भी ये मिलकर एक ऐसी आत्मज्योति उत्पन्न करते हैं जो अखण्डभावसे एक मार्ग बन जाती है जैसे कि दीपक बत्ती तेल आदि विलक्षण पदार्थ मिलकर एक दीपक बन जाते हैं। इसमें किसी वादीको विवाद भी नहीं है। सांख्य प्रसादलाघव-शोषताप-आवरणसादन रूपसे भिन्न लक्षणवाले सत्व, रज और तम इन तीनोंकी साम्यावस्थाको एक प्रधान तत्त्व मानते हैं। बौद्ध कक्खड-कर्कश द्रव उष्ण आदि रूपसे भिन्न लक्षणवाले पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों तथा रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन चार भौतिकोंके समुदायको एक रूपपरमाणु मानते हैं। इसी तरह रागादि धर्म और प्रमाण प्रमेय अधिगम आदि धर्मोंका समावेश एक ही विज्ञानमें माना जाता है। नैयायिकादि भिन्न रंगवाले सूतसे एक चित्रपट मान लेते हैं। उसी तरह भिन्न लक्षणवाले सम्यग्दर्शनादि तीनों एक मार्ग बन सकते हैं।

§ ६७–६८ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें पूर्वकी प्राप्ति होनेपर उत्तरकी प्राप्ति भजनीय है अर्थात् हो भी न भी हो। किन्तु उत्तरकी प्राप्तिमें पूर्वका लाभ निश्चित है–वह होगा ही। जैसे जिसे सम्यक्चारित्र होगा उसे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन होंगे ही पर जिसे सम्यग्दर्शन है उसे पूर्णसम्यग्ज्ञान और चारित्र हो भी और न भी हो।

§ ६९–७१ **शंका**–पूर्व सम्यग्दर्शनके लाभमें उत्तर ज्ञानका लाभ भजनीय है अर्थात् हो भी न भी हो यह नियम उचित नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन होनेपर भी ज्ञान यदि नहीं होता तो अज्ञानपूर्वक श्रद्धानका प्रसङ्ग होता है। फिर जब तक स्वतत्त्वका ज्ञान नहीं किया गया तब तक उसका श्रद्धान कैसा ? जैसे कि अज्ञात फलके सम्बन्धमें यह विधान नहीं किया जा सकता कि 'इस फलके रससे यह आरोग्य आदि होता है' उसी तरह अज्ञात तत्त्वका श्रद्धान भी नहीं किया जा सकता। ज्ञान तो आत्माका स्वभाव है अतः वह न्यूनाधिक रूपमें सदा स्थायी गुण है उसे कभी भी भजनीय नहीं कहा जा सकता अन्यथा आत्माका ही अभाव हो जायगा, क्योंकि सम्यग्दर्शन होनेपर मिथ्याज्ञानकी तो निवृत्ति हो जायगी और सम्यग्ज्ञान नियमतः होगा नहीं, अतः सर्वथा ज्ञानाभावसे आत्माका ही अभाव हो जायगा।

§ ७२ **समाधान**–पूर्ण ज्ञानको भजनीय कहा है न कि ज्ञानसामान्यको। ज्ञानकी पूर्णता श्रुतकेवली और केवलीके होती है। सम्यग्दर्शन होनेपर पूर्ण द्वादशांग और चतुर्दश पूर्वरूप श्रुतज्ञान और केवलज्ञान अवश्य हो ही जायगा यह नियम नहीं है। इसी तरह चारित्र भी यथासंभव देशसंयतको सकलसंयम यथाख्यात आदि भजनीय हैं।

§ ७३ 'पूर्व–अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके लाभमें चारित्र भजनीय है' यह अर्थ करना उचित नहीं है क्योंकि वार्तिकमें 'पूर्वस्य' यह एक वचनपद है अतः इससे एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का ही ग्रहण हो सकता । यदि दो की विवक्षा होती तो 'पूर्वयोः' ऐसा द्विवचनान्त पद देना चाहिए था । यदि एकवचनके द्वारा भी सामान्य रूपसे दोका ग्रहण किया जाता है तो 'भजनीयमुत्तरम्' यहां भी 'उत्तरम्' इस एकवचन पदके द्वारा ज्ञान और चारित्र दोका ग्रहण होनेसे पूर्वोक्त दोष बना ही रहता है । अथवा, 'क्षायिक सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेपर क्षायिक ज्ञान भजनीय है–हो अथवा न हो' यह व्याख्या कर लेनी चाहिए । अथवा, 'सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनोंकी एक साथ उत्पत्ति होती है अतः नारद और पर्वतके साहचर्यकी तरह एकके ग्रहणसे दूसरेका भी ग्रहण हो ही जाता है अतः पूर्व अर्थात् सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञानका लाभ होनेपर भी उत्तर अर्थात् चारित्र भजनीय है' यह अर्थ भी किया जा सकता है ।

सम्यग्दर्शनका स्वरूप—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥२॥

तत्त्वार्थका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ।

§ १–२ सम्यक् यह प्रशंसार्थक शब्द (निपात) है । यह प्रशस्त रूप गति जाति कुल आयु विज्ञान आदि अभ्युदय और निःश्रेयसका प्रधान कारण होता है । 'सम्यगिष्टार्थतत्त्वयोः' इस प्रमाणके अनुसार सम्यक् शब्दका प्रयोग इष्टार्थ और तत्त्व अर्थमें होता है अतः इसका प्रशंसा अर्थ उचित नहीं है, इस शंकाका समाधान यह है कि निपात शब्दोंके अनेक अर्थ होते हैं, अतः प्रशंसा अर्थ माननेमें कोई विरोध नहीं है । अथवा सम्यक्का अर्थ 'तत्त्व' भी किया जा सकता है जिसका अर्थ होगा 'तत्त्वदर्शन' । अथवा, यह क्विप् प्रत्ययान्त शब्द है । इसका अर्थ है जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही जाननेवाला ।

दर्शन शब्द करणसाधन कर्तृसाधन और भावसाधन तीनों रूप है ।

§ ३–४ **प्रश्न**–दर्शन दृशि धातुसे बना है और दृशि धातुका अर्थ देखना है । अतः दर्शनका श्रद्धान अर्थ नहीं हो सकता ? **उत्तर**–धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं, इसलिए उनमेंसे श्रद्धान अर्थ भी ले लिया जायगा । चूंकि यहां मोक्षका प्रकरण है अतः दर्शनका देखना अर्थ इष्ट नहीं है किन्तु तत्त्वश्रद्धान अर्थ ही इष्ट है ।

§ ५–६ तत्त्व शब्द भावसामान्यका वाचक है । 'तत्' यह सर्वनाम है जो भावसामान्यवाची है । अतः तत्त्व शब्दका स्पष्ट अर्थ है–जो पदार्थ जिस रूपसे है उसका उसी रूप होना । अर्थ माने जो जाना जाय । तत्त्वार्थ माने जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित है उसका उसी रूपसे ग्रहण । तात्पर्य यह कि जिसके होने पर तत्त्वार्थ–अर्थात् वस्तुका यथार्थ ग्रहण हो उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

§ ७–८ जिस प्रकार दर्शन शब्द करण भाव और कर्म तीनों साधनोंमें निष्पन्न होता है उसी तरह श्रद्धान शब्द भी 'जिसके द्वारा श्रद्धान हो' 'जो श्रद्धान किया जाय' और 'श्रद्धामात्र' इन तीनों साधनोंमें निष्पन्न होता है । यह श्रद्धान आत्माकी पर्याय है । आत्मा ही श्रद्धान रूपसे परिणत होता है ।

§ ९–१६ **प्रश्न**–मोहनीय कर्मकी प्रकृतियोंमें भी 'सम्यक्त्व' नामकी कर्मप्रकृति है और 'निर्देशस्वामित्व' आदि सूत्रके विवरणसे भी ज्ञात होता है कि यहां सम्यक्त्व कर्म प्रकृति का सम्यग्दर्शनसे ग्रहण है अतः सम्यक्त्वको कर्मपुद्गल रूप मानना चाहिए ? **उत्तर**–यहां मोक्षके कारणोंका प्रकरण है, अतः उपादानभूत आत्मपरिणाम ही विवक्षित है । औपशमिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि सम्यग्दर्शन सीधे आत्मस्वरूप ही हैं। सम्यक्त्व प्रकृति तो पुद्गलकी पर्याय है। यद्यपि उत्पत्ति स्व और पर उभय निमित्तोंसे होती है फिर भी पर पदार्थ तो उपकरणमात्र हैं, साधारण निमित्त हैं। वस्तुतः मिट्टी ही घड़ा बनती है, दण्ड आदि तो साधारण उपकरण हैं, बाह्य-साधन हैं। इसी तरह सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें भी आत्मपरिणमन ही मुख्य है। इस दर्शन-मोह नामक कर्मको आत्मविशुद्धिके द्वारा ही रसघात करके स्वल्पघाती क्षीणशक्तिक सम्यक्त्व कर्म बनाया जाता है। अतः यह सम्यक्त्व प्रकृति आत्मस्वरूप मोक्षका प्रधान कारण नहीं हो सकती। आत्मा ही अपनी शक्तिसे दर्शन पर्यायको धारण करता है अतः वही मोक्षका कारण है। आत्माकी आन्तरिक सम्यग्दर्शन पर्याय अहेय होती है जब कि सम्यक्त्व प्रकृति हेय। इस सम्यक्त्व प्रकृतिका नाश करके ही क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। अतः आभ्यन्तर स्वशक्ति-रूप ही सम्यग्दर्शन हो सकता है सम्यक्त्व कर्मपुद्गलरूप नहीं। आभ्यन्तर परिणमन ही प्रधान होता है, वही प्रत्यासन्न कारण होता है और उसी रूपसे आत्मा परिणति करता है अतः अहेय होनेसे प्रधान और प्रत्यासन्न कारण होनेसे आत्मपरिणामरूप सम्यग्दर्शन ही मोक्षका कारण हो सकता है न कि कर्मपुद्गल। अल्पबहुत्वका विवेचन भी उपशम सम्यग्दर्शन आदि आत्मपरिणामके आधारसे किया जा सकता है, उसके लिए भी कर्मपुद्गलकी कोई आवश्यकता नहीं है। सबसे कम उपशम सम्यग्दृष्टि हैं, क्षायिकसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि उनसे असंख्यातगुणे हैं। सिद्ध क्षायिक सम्यग्दृष्टि अनन्तगुणे होते हैं। अतः आत्मपरिणामरूप सम्यग्दर्शन ही मोक्षका साक्षात् कारण हो सकता है।

§ १७-२१ **प्रश्न**–अर्थश्रद्धानको ही सम्यग्दर्शन कहना चाहिए, यहां 'तत्त्व' पद-व्यर्थ है। इससे सूत्रमें भी लघुता आयगी? **उत्तर**–यदि तत्त्व पद न दिया जाय सभी अर्थोंके श्रद्धानका नाम सम्यग्दर्शन हो जायगा। मिथ्यावादिप्रणीत अर्थ भी उनके द्वारा जाने तो जाते ही हैं पर वे तत्त्व नहीं हैं। अर्थ शब्दके अनेक अर्थ हैं, अतः सन्देह भी होगा कि किस अर्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा जाय? वैशेषिक शास्त्रमें द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थोंकी अर्थ संज्ञा है। 'आप यहां किस अर्थसे आए' यहां अर्थ शब्दका प्रयोजन अर्थ है। 'अर्थवान् देवदत्तः' में अर्थवान्का अर्थ धनवान् है। 'शब्दार्थसम्बन्ध' में अर्थका तात्पर्य अभिधेय है। इस तरह अर्थ शब्दके अनेक अर्थ होते हैं। यह तर्क तो अनुचित है कि–'सभी अर्थोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन माननेपर सभीका अनुग्रह हो जायगा, आपको सर्वानुग्रहसे द्वेष क्यों है'; क्योंकि असत् अर्थोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन नाम नहीं पा सकता, अतः सर्वानुग्रहके विचार से ही सन्मार्ग प्रदर्शन बुद्धिसे अर्थके साथ 'तत्त्व' विशेषण लगा दिया है जिससे लोग असदर्थोंमें न भटक जांय। यद्यपि 'अर्यते इति अर्थः' अर्थात् जो जाना जाय वह अर्थ, इस व्युत्पत्तिके अनुसार मिथ्यावादिप्रणीत अर्थ तो ज्ञेय हो ही नहीं सकते क्योंकि वे अविद्यमान हैं अतः अर्थ-पदका इतना विशिष्ट अर्थ करके ही तत्त्व पदका कार्य चलाया जा सकता है किन्तु मिथ्यात्व के उदयमें इस आत्माको अस्ति नास्ति नित्य अनित्य आदि एकान्तोंमें मिथ्या अर्थबुद्धि होने लगती है, जैसे कि पित्तज्वर वाले को मधुर रस भी कटुक मालूम होता है। अतः इन एकान्त अर्थोंका निराकरण करनेके लिए 'तत्त्व' पद दिया ही जाना चाहिए।

§ २२-२५ यद्यपि 'तत्त्व ही अर्थ है' यह विग्रह करनेपर तत्त्वके कहनेसे कार्य चल जाता है फिर भी अर्थ पदका ग्रहण निर्दोष प्रतिपत्तिके लिए किया गया है। यथा–यदि 'तत्त्व है' इस श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा जाय, तो एकान्तवादियोंको भी 'नास्ति आत्मा' इत्यादि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूपसे तत्त्वश्रद्धा होती है अतः उनकी श्रद्धाको भी सम्यग्दर्शन कहना होगा। यदि 'तत्त्वकी श्रद्धा' को सम्यग्दर्शन कहा जाय, तो तत्त्व अर्थात् भावसामान्यकी श्रद्धा भी सम्यक्त्व कही जायगी। 'तत्त्व-भाव-सामान्य एक स्वतन्त्र पदार्थ है' यह मान्यता वैशेषिककी है। वे यह भी कहते हैं कि द्रव्यत्व गुणत्व कर्मत्व आदि सामान्य द्रव्यादिसे भिन्न हैं। अथवा, तत्त्व–एकत्व, 'पुरुषरूप ही यह जगत् है' इस ब्रह्मैकवादके श्रद्धानको भी सम्यग्दर्शनत्वका प्रसङ्ग प्राप्त होगा। किन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि अद्वैतवादमें क्रियाकारक आदि समस्त भेद-व्यवहारका लोप हो जाता है। यदि 'तत्त्वेन-तत्त्वरूपसे श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं' तो 'किसका श्रद्धान, किसमें श्रद्धान' ये प्रश्न खड़े रहते हैं। अतः अर्थपदका ग्रहण अत्यन्त आवश्यक है अर्थात् तत्त्व-रूपसे प्रसिद्ध अर्थोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

§ २६–२८ कोई वादी इच्छापूर्वक श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। उनका यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि भी बहुश्रुतत्व दिखानेके लिए या जैनमतको पराजित करनेके लिए अर्हत्तत्त्वोंका झूठा ही श्रद्धान कर लेते हैं, जैन शास्त्रोंको पढ़ते हैं। इच्छाके बिना तो यह हो ही नहीं सकता। अतः इन्हें भी सम्यग्दर्शन मानना होगा। यदि इच्छा का नाम सम्यग्दर्शन हो तो इच्छा तो लोभकी पर्याय है, निर्मोही केवलीके तो इच्छा नहीं होती अतः केवलीके सम्यक्त्वका अभाव हो जायगा। अतः 'जिसके होनेपर आत्मा यथाभूत अर्थको ग्रहण करता है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं' यही लक्षण उचित है।

§ २९–३१ सम्यग्दर्शन दो प्रकारका है–१ सराग सम्यग्दर्शन, २ वीतराग-सम्यग्दर्शन। प्रशम संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्यसे जिसका स्वरूप अभिव्यक्त होता है वह सरागसम्यग्दर्शन है। रागादिकी शान्ति प्रशम है। संसारसे डरना संवेग है। प्राणि-मात्रमें मैत्रीभाव अनुकम्पा है। जीवादि पदार्थोंके यथार्थस्वरूपमें 'अस्ति' बुद्धि होना आस्तिक्य है। मोहनीयकी सात कर्मप्रकृतियोंका अत्यन्त विनाश होनेपर आत्मविशुद्धिरूप वीतराग सम्यक्त्व होता है। सराग सम्यक्त्व साधन ही होता है और वीतराग सम्यग्दर्शन साध्य भी।

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके प्रकार—

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥३॥

सम्यग्दर्शन निसर्ग (स्वभाव) और अधिगम (परोपदेश) दो प्रकारसे उत्पन्न होता है। यहां 'उत्पद्यते–उत्पन्न होता है' इस क्रियाका अध्याहार कर लेना चाहिए।

§ १–६ **प्रश्न**–निसर्गज सम्यग्दर्शन नहीं बन सकता; क्योंकि तत्त्वाधिगम हुए बिना उनका श्रद्धान कैसे हो सकता है? जब तक रसायनका ज्ञान नहीं होगा तब तक रसायन की श्रद्धा हो ही नहीं सकती। अतः जब प्रत्येक सम्यग्दर्शनके लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है तब निसर्गज सम्यग्दर्शन नहीं बन सकता। 'जिस प्रकार वेदार्थको जाने बिना भी शूद्रको वेद-विषयक भक्ति हो जाती है उसी तरह अनधिगत तत्त्वमें श्रद्धा भी हो सकती है' यह कथन उपयुक्त नहीं है; क्योंकि शूद्रको महाभारत आदि ग्रन्थोंसे वेदकी महिमा सुनकर या वेद-पाठियोंसे वेदके महत्त्वको जानकर वेदभक्ति होना उचित है पर ऐसी भक्ति नैसर्गिक नहीं कही जा सकती। किन्तु जीवादितत्त्व विषयक ज्ञान यदि किसी भी प्रकारसे पहिले होता है तो निसर्गज सम्यग्दर्शन नहीं हो सकेगा। इसी तरह मणिकी विशेष सामर्थ्यको न जानकर सामान्यसे उसकी चमक-दमकको देखकर मणिका ग्रहण और फलका मिलना ठीक भी है पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवादिको सामान्यरूपसे भी बिना जाने नैसर्गिक श्रद्धानका होना कैसे संभव है ? यदि सामान्य-ज्ञान हो जाता है तो वह अधिगमज ही सम्यग्दर्शन कहलायगा नैसर्गिक नहीं। जिस समय इस जीवके सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है ठीक उसी समय इसके मत्यज्ञान आदिकी निवृत्तिपूर्वक मतिज्ञान आदि सम्यग्ज्ञान सूर्यके ताप और प्रकाशकी तरह युगपत् उत्पन्न हो जाते हैं अतः नैसर्गिक सम्यग्दर्शनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं बन पाती; क्योंकि जिसके ज्ञानसे पहिले सम्यग्दर्शन हो उसीके वह नैसर्गिक कहा जायगा। यहां तो दोनों ही साथ साथ होते हैं।

उत्तर–दोनों सम्यग्दर्शनोंमें अन्तरंग कारण तो दर्शनमोहका उपशम क्षय या क्षयोपशम समान है। इसके होनेपर जो सम्यग्दर्शन बाह्योपदेशके बिना प्रकट होता है वह निसर्गज कहलाता है तथा जो परोपदेशसे होता है वह अधिगमज। लोकमें भी शेर, भेड़िया, चीता आदिमें शूरता-क्रूरता आदि परोपदेशके बिना होनेसे नैसर्गिक कहे जाते हैं यद्यपि उनमें ये सब कर्मोदयरूप निमित्तसे होनेके कारण सर्वथा आकस्मिक नहीं है फिर भी परोपदेशकी अपेक्षा न होनेसे नैसर्गिक कहलाते हैं। अतः परोपदेश निरपेक्षमें निसर्गता स्वीकार की गई है।

§ ७–१० **प्रश्न**–भव्य जीव अपने समयके अनुसार ही मोक्ष जायगा। यदि अधिगम सम्यक्त्वके बलसे समयसे पहिले मोक्षप्राप्तिकी संभावना हो तभी अधिगम सम्यक्त्वकी सार्थकता है। अतः एक निसर्गज सम्यक्त्व ही मानना चाहिए। **उत्तर**–यदि केवल निसर्गज या अधिगमज सम्यग्दर्शनसे मोक्ष माना गया होता तो यह प्रश्न उचित था। पर मोक्ष तो ज्ञान और चारित्र सहित सम्यक्त्वसे स्वीकार किया गया है। अतः विचार तो यह है कि वह सम्यग्दर्शन किन कारणोंसे उत्पन्न होता है। जैसे कि कुरुक्षेत्रमें बाह्य प्रयत्नके बिना ही सुवर्ण मिल जाता है उसी तरह बाह्य उपदेशके बिना ही जो तत्त्वश्रद्धान प्रकट होता है उसे निसर्गज कहते हैं और जैसे सुवर्णपाषाणसे बाह्य प्रयत्नों द्वारा सुवर्ण निकाला जाता है उसी तरह सदुपदेशसे जो सम्यक्त्व प्रकट होता है वह अधिगमज कहलाता है। अतः यहां मोक्षका प्रश्न ही नहीं है। फिर भव्योंकी कर्मनिर्जराका कोई समय निश्चित नहीं है और न मोक्षका ही। कोई भव्य संख्यात कालमें सिद्ध होंगे कोई असंख्यातमें और कोई अनन्त कालमें। कुछ ऐसे भी हैं जो अनन्तानन्त कालमें भी सिद्ध नहीं होंगे। अतः भव्यके मोक्षके कालनियमकी बात उचित नहीं है। जो व्यक्ति मात्र ज्ञानसे या चारित्रसे या दोसे या तीन कारणोंसे मोक्ष मानते हैं उनके यहां 'कालानुसार मोक्ष होगा' यह प्रश्न ही नहीं होता। यदि सबका काल ही कारण मान लिया जाय तो बाह्य और आभ्यन्तर कारण-सामग्रीका ही लोप हो जायगा।

§ ११–१२ इस सूत्रमें 'तत्' शब्दका निर्देश अनन्तरोक्त सम्यग्दर्शनके ग्रहणके लिए है। अन्यथा मोक्षमार्ग प्रधान था सो उसका ही ग्रहण हो जाता, और इस तरह निसर्गसे और बहुश्रुतत्व प्रदर्शनकी इच्छावाले मिथ्यादृष्टियोंको भी अधिगमसे मोक्ष मार्गका प्रसङ्ग आ जाता। 'अनन्तरका ही विधान या प्रतिषेध होता है' यह नियम 'प्रत्यासत्ति रहनेपर भी प्रधान बलवान् होता है' इस नियमसे बाधित हो जाता है; अतः 'तत्' शब्दके बिना प्रधानभूत मोक्षमार्गका ही सम्बन्ध हो जाता। अतः स्पष्टताके लिए 'तत्' शब्दका ग्रहण किया गया है।

तत्त्वोंका निरूपण––

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥

जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ १ संक्षेप और विस्तारसे पदार्थोंके एकसे लेकर अनन्त तक विभाग किए जा सकते हैं। यथा एक ही पदार्थ अनन्तपर्यायवाला है। जीव और अजीवके भेदसे दो पदार्थ हैं। अर्थ शब्द और ज्ञान रूपसे तीन पदार्थ हैं। इसी तरह शब्दोंके प्रयोगकी अपेक्षा संख्यात और ज्ञानके ज्ञेयकी अपेक्षा असंख्यात और अनन्त भेद हो सकते हैं। यदि अत्यन्त संक्षेपसे कथन किया जाय तो विद्वज्जनोंको ही प्रतीति हो सकेगी और अतिविस्तारसे निरूपण किया जाय तो चिरकाल तक भी प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी, अतः शिष्यके आशयानुसार मध्यमक्रमसे सात तत्त्वरूप विभाजन किया है।

§ २–५ **प्रश्न**–आस्रव बन्ध आदि पदार्थ या तो जीवकी पर्याय होंगे या अजीवकी, अतः इनमें ही उनका अन्तर्भाव करके दो ही पदार्थ कहना चाहिए इनका पृथक् उपदेश निरर्थक है? **उत्तर**–जीव और अजीवके परस्पर संश्लेष होनेपर संसार होता है, अतः संसार और मोक्षके प्रधान कारणोंके प्रतिपादनके लिए सात तत्त्व रूपसे विभाग किया है। यथा–मोक्षमार्गका प्रकरण है अतः मोक्षका निरूपण तो करना ही चाहिए। वह मोक्ष किसको होता है? सो जीवका ग्रहण करना चाहिए। मोक्ष संसारपूर्वक होता है और संसारका अर्थ है जीव और अजीवका परस्पर संश्लेष। अतः अजीवका ग्रहण भी आवश्यक है। संसारके प्रधान कारण बंध और आस्रव हैं और मोक्षके प्रधान कारण संवर और निर्जरा। सामान्यमें अन्तर्भूत भी विशेषोंका प्रयोजनवश पृथक् निरूपण किया जाता है जैसे 'क्षत्रिय आए हैं, शूर वर्मा भी आया है' उसी तरह प्रयोजन विशेषसे इन सात तत्त्वोंका विभाग किया है।

फिर, प्रश्नकर्ताने आस्रव आदिको जीव और अजीवसे पृथक् जाना है या नहीं? यदि जाना है तो उनका पृथक् अस्तित्व सिद्ध हो ही जाता है। यदि नहीं जाना; तो प्रश्न ही कैसे करता है? आस्रव आदि जीव और अजीवसे भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ हैं या नहीं? यदि हैं, तो इनका स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध हो ही जाता है। यदि नहीं; तो किसका किनमें अन्तर्भाव का प्रश्न किया जा रहा है? गधेके सींगके अन्तर्भावका प्रश्न तो कहीं किसीने किया नहीं है।

वस्तुतः जीव अजीव और आस्रवादिके भेदाभेदका अनेकान्त दृष्टिसे विचार करना चाहिए। आस्रवादि द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकार हैं। द्रव्य पुद्गल रूप हैं तथा भाव जीवरूप। द्रव्यार्थिक दृष्टिकी प्रधानता रहनेपर अनादि पारिणामिक जीव और अजीव द्रव्यकी मुख्यता होनेसे आस्रव आदि पर्यायोंकी विवक्षा न होनेपर उनका जीव और अजीवमें अन्तर्भाव हो जाता है। जिस समय उन उन आस्रवादि पर्यायोंको पृथक् ग्रहण करनेवाले पर्यायार्थिक नयकी मुख्यता होती है तथा द्रव्यार्थिकनय गौण हो जाता है तब आस्रव आदि स्वतन्त्र हैं उनका जीव और अजीवमें अन्तर्भाव नहीं होता। अतः पर्यायार्थिक दृष्टिसे इनका पृथक् उपदेश सार्थक है निरर्थक नहीं।

§ ६–१३ जीवादि शब्दोंका निर्वचन इस प्रकार है—

पाँच इन्द्रिय मनोबल वचनबल कायबल आयु और श्वासोच्छ्वास इन दश प्राणोंमेंसे अपनी पर्यायानुसार गृहीत प्राणोंके द्वारा जो जीता था, जी रहा है और जीवेगा इस त्रैकालिक जीवन गुणवालेको जीव कहते हैं। 'सिद्धोंके यद्यपि ये दश प्राण नहीं हैं फिर भी चूंकि वे इन प्राणोंसे पहिले जिए थे अतः उनमें भी जीवत्व सिद्ध हो जाता है' इस तरह सिद्धोंमें औपचारिक जीवत्वकी आशंका नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनमें अभी भी ज्ञानदर्शनरूप भाव प्राण हैं अतः मुख्य ही जीवत्व है। अथवा रूढिवश क्रियाकी गौणतासे जीव शब्दका निर्वचन करना

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

चाहिये। रूढिमें क्रिया गौण हो जाती है जैसे 'गच्छतीति गौः-जो चले सो गौ' यहाँ बैठी हुई गौमें भी गौ व्यवहार हो जाता है क्योंकि कभी तो वह चलती थी, उसी तरह कभी तो सिद्धोंने द्रव्य प्राणोंको धारण किया था। अतः रूढिवश उनमें जीव व्यवहार होता रहता है। ऊपर कहा गया जीवन जिनमें न पाया जाय वे अजीव हैं। जिनसे कर्म आवें वह और कर्मोंका आना आस्रव है। जिनसे कर्म बँधें वह और कर्मोंका बँधना बंध है। जिनसे कर्म रुकें वह और कर्मोंका रुकना संवर है। जिनसे कर्म झड़ें वह और कर्मोंका झड़ना निर्जरा है। जिनसे कर्मों-का समूल उच्छेद हो वह और कर्मोंका पूर्णरूपसे छूटना मोक्ष है।

§ १४ जीव चेतना स्वरूप है। चेतना ज्ञानदर्शन रूप होती है। इसीके कारण जीव अन्य द्रव्योंसे व्यावृत्त होता है।

§ १५ जिसमें चेतना न पाई जाय वह अजीव है। भावकी तरह अभाव भी वस्तु-का ही धर्म होता है जैसे कि विपक्षाभाव हेतुका स्वरूप होता है। यदि अभावको वस्तुका धर्म न माना जाय तो सर्वसांकर्य हो जायगा, क्योंकि प्रत्येक वस्तुमें स्वभिन्न पदार्थोंका अभाव होता ही है।

प्रश्न–वनस्पति आदिमें बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति नहीं देखी जाती अतः उनमें जीव नहीं मानना चाहिए। कहा भी है–"अपने शरीरमें बुद्धिपूर्वक क्रिया बुद्धिके रहते ही देखी जाती है, वैसी क्रिया यदि अन्यत्र हो तो वहाँ भी बुद्धिका सद्भाव मानना चाहिए, अन्यथा नहीं।" **उत्तर**–वनस्पति आदिमें भी ज्ञानादिका सद्भाव है। इसको सर्वज्ञ तो अपने प्रत्यक्ष ज्ञानसे जानते हैं और हम लोग आगमसे। खाद पानीके मिलनेपर पुष्टि और न मिलनेपर म्लानता देख-कर उनमें चैतन्यका अनुमान भी होता है। गर्भस्थजीव, मूर्च्छित और अंडस्थ जीवमें बुद्धिपूर्वक स्थूल क्रिया भी नहीं दिखाई देती, अतः न दिखने मात्रसे अभाव नहीं किया जा सकता।

§ १६ पुण्य और पापरूप कर्मोंके आगमनके द्वारको आस्रव कहते हैं। जैसे नदियों के द्वारा समुद्र प्रतिदिन जलसे भरा जाता है वैसे ही मिथ्यादर्शन आदि स्रोतोंसे आत्मामें कर्म आते रहते हैं। अतः मिथ्यादर्शनादि आस्रव हैं।

§ १७ मिथ्यादर्शनादि द्वारोंसे आए हुए कर्मपुद्गलोंका आत्मप्रदेशोंमें एकक्षेत्रा-वगाह हो जाना बंध है। जैसे बेड़ी आदिसे बँधा हुआ प्राणी परतन्त्र हो जाता है और इच्छा-नुसार देशादिमें नहीं जा आ सकता उसी प्रकार कर्मबद्ध आत्मा परतन्त्र होकर अपना इष्ट विकास नहीं कर पाता। अनेक प्रकारके शारीर और मानस दुःखोंसे दुःखी होता है।

§ १८ मिथ्यादर्शनादि आस्रव द्वारोंके निरोधको संवर कहते हैं। जैसे जिस नगरके द्वार अच्छी तरह बन्द हों वह नगर शत्रुओंको अगम्य होता है उसी तरह गुप्ति समिति धर्म आदिसे सुसंवृत आत्मा कर्मशत्रुओंके लिए अगम्य होता है।

§ १९ तप विशेषसे संचित कर्मोंका क्रमशः अंशरूपसे झड़ जाना निर्जरा है। जिस प्रकार मन्त्र या औषधि आदिसे निःशक्ति किया हुआ विष दोष उत्पन्न नहीं करता उसी प्रकार तप आदिसे नीरस किए गये और निःशक्ति हुए कर्म संसारचक्रको नहीं चला सकते।

§ २० सम्यग्दर्शनादि कारणोंसे संपूर्ण कर्मोंका आत्यन्तिक मूलोच्छेद होना मोक्ष है। जिस प्रकार बन्धनयुक्त प्राणी स्वतन्त्र होकर यथेच्छ गमन करता है उसी तरह कर्म-बन्धन-मुक्त आत्मा स्वाधीन हो अपने अनन्त ज्ञानदर्शन सुख आदिका अनुभव करता है।

§ २१–२७ समस्त मोक्षमार्गोपदेशादि प्रयत्न जीवके ही लिए किए जाते हैं अतः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वोंमें सर्वप्रथम जीवको स्थान दिया गया है। शरीर वचन मन श्वासोच्छ्वास आदिके द्वारा अजीव आत्माका प्रकृष्ट उपकारक है अतः जीवके बाद अजीवका ग्रहण किया गया है। जीव और पुद्गलके सम्बन्धाधीन ही आस्रव होता है और आस्रवपूर्वक बन्ध अतः इन दोनोंका क्रमशः ग्रहण किया है। संवृत-सुरक्षित व्यक्तिको बंध नहीं होता अतः बंधकी विपरीतता दिखानेके लिए बंधके पास संवरका ग्रहण किया है। संवर होनेपर ही निर्जरा होती है अतः संवरके बाद निर्जराका ग्रहण किया है। अन्तमें मोक्ष प्राप्त होता है अतः सबके अन्तमें मोक्षका ग्रहण किया गया है।

§ २८ आस्रव और बंध या तो पुण्यरूप होते हैं या पापरूप। अतः पुण्य और पाप पदार्थोंका अन्तर्भाव इन्हींमें कर दिया जाता है।

§ २९-३१ **प्रश्न**–सूत्रमें तत्त्व शब्द भाववाची है और जीवादि शब्द द्रव्यवाची, अतः इनका व्याकरण शास्त्रके नियमानुसार एकार्थ प्रतिपादकत्वरूप सामानाधिकरण्य नहीं बन सकता? **उत्तर**–द्रव्य और भावमें कोई भेद नहीं है, अतः अभेद विवक्षामें दोनों ही एकार्थप्रतिपादक हो जाते हैं जैसे ज्ञान ही आत्मा है। चूंकि तत्त्व शब्द उपात्त-नपुंसकलिंग और एकवचन है अतः जीवादिकी तरह उसमें पुल्लिंगत्व और बहुवचनत्व नहीं हो सकता।

जीवादितत्त्वोंके संव्यवहारके लिए निक्षेप प्रक्रियाका निरूपण—

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥५॥

नाम स्थापना द्रव्य और भावसे जीवादि पदार्थोंका न्यास करना चाहिए।

§ १ शब्द प्रयोगके जाति गुण क्रिया आदि निमित्तोंकी अपेक्षा न करके की जानेवाली संज्ञा नाम है। जैसे परमैश्वर्यरूप इन्दन क्रियाकी अपेक्षा न करके किसीका भी इन्द्र नाम रखना या जीवनक्रिया और तत्त्वश्रद्धानरूप क्रियाकी अपेक्षाके बिना जीव या सम्यग्दर्शन नाम रखना।

§ २ 'यह वही है' इस रूपसे तदाकार या अतदाकार वस्तुमें किसीकी स्थापना करना स्थापना निक्षेप है, यथा–इन्द्राकार प्रतिमामें इन्द्रकी या शतरंजके मुहरोंमें हाथी घोड़ा आदिकी स्थापना करना।

§ ३-७ आगामी पर्यायकी योग्यतावाले उस पदार्थको द्रव्य कहते हैं जो उस समय उस पर्यायके अभिमुख हो। जैसे इन्द्रप्रतिमाके लिए लाए गए काठको भी इन्द्र कहना। इसी तरह जीव पर्याय या सम्यग्दर्शन पर्यायके प्रति अभिमुख द्रव्यजीव या द्रव्यसम्यग्दर्शन कहा जायगा।

प्रश्न–यदि कोई अजीव जीवपर्यायको धारण करनेवाला होता तो द्रव्यजीव बन सकता था अन्यथा नहीं? **उत्तर**–यद्यपि सामान्यरूपसे द्रव्यजीव नहीं है फिर भी मनुष्यादि विशेष पर्यायोंकी अपेक्षा 'द्रव्यजीव' का व्यवहार कर लेना चाहिए। आगमद्रव्य और नोआगमद्रव्यके भेदसे द्रव्य दो प्रकारका है। जीवशास्त्रका अभ्यासी पर तत्काल तद्विषयक उपयोगसे रहित आत्मा आगमद्रव्यजीव है। नोआगमद्रव्यजीव ज्ञाताका त्रिकालवर्ती शरीर, भावि पर्यायोन्मुख द्रव्य और कर्म नोकर्मके भेदसे तीन प्रकारका होता है।

§ ८-११ वर्तमान उस उस पर्यायसे विशिष्ट द्रव्यको भावजीव कहते हैं। जीवशास्त्रका अभ्यासी तथा उसके उपयोगमें लीन आत्मा आगमभावजीव है। जीवनादि पर्यायवाला जीव नोआगमभावजीव है।

१२ यद्यपि नाम और स्थापना दोनों निक्षेपोंमें संज्ञा रखी जाती हैं। बिना नाम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रखे स्थापना हो ही नहीं सकती तो भी स्थापित जिन आदिमें पूजा आदर और अनुग्रहाभिलाषा होती है जबकि केवल नाममें नहीं। अतः इन दोनोंमें अन्तर है।

§ १३ यद्यपि द्रव्य और भावकी पृथक् सत्ता नहीं है, दोनोंमें अभेद है, फिर भी संज्ञा लक्षण आदिकी दृष्टिसे इन दोनोंमें भिन्नता है।

§ १४–१८ **प्रश्न**–सबसे पहिले द्रव्यका ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि द्रव्यके ही नाम स्थापना आदि निक्षेप किए जाते हैं? **उत्तर**–चूंकि समस्त लोकव्यवहार संज्ञा अर्थात् नामसे चलते हैं अतः संव्यवहारमें मुख्य हेतु होनेसे नामका सर्वप्रथम ग्रहण किया है। स्तुति निन्दा राग द्वेष आदि सारी प्रवृत्तियां नामाधीन हैं। जिसका नाम रख लिया गया है उसीकी 'यह वही है' इस प्रकार स्थापना होती है। अतः नामके बाद स्थापनाका ग्रहण किया है। द्रव्य और भाव पूर्वोत्तरकालवर्ती हैं। अतः पहिले द्रव्य और बादमें भावका ग्रहण किया है। अथवा–भावके साथ निकटता और दूरीकी अपेक्षा इनका क्रम समझना चाहिए। भाव प्रधान है क्योंकि भावकी व्याख्या ही अन्यके द्वारा होती है। भावके निकट द्रव्य है क्योंकि दोनोंका सम्बन्ध है। इसके पहिले स्थापना इसलिए रखी गई है कि वह अतद्रूप पदार्थमें तद्बुद्धि करानेमें प्रधान कारण है। उससे पहिले नामका ग्रहण किया है क्योंकि वह भावसे अत्यन्त दूर है।

§ १९–२५ **प्रश्न**–विरोध होनेके कारण एक जीवादि अर्थके नामादि चार निक्षेप नहीं हो सकते। जैसे नाम नाम ही है स्थापना नहीं। यदि उसे स्थापना माना जाता है तो उसे नाम नहीं कह सकते। यदि नाम कहते हैं तो वह स्थापना नहीं हो सकती क्योंकि उनमें विरोध है। **उत्तर**–एक ही वस्तुमें लोकव्यवहारमें नाम आदि चारों व्यवहार देखे जाते हैं अतः उनमें कोई विरोध नहीं है। इन्द्र नामका व्यक्ति है। मूर्तिमें इन्द्रकी स्थापना होती है। इन्द्रकी प्रतिमा बनानेके लिए लाए गए काष्ठको भी लोग इन्द्र कह देते हैं। आगेकी पर्यायकी योग्यतासे भी इन्द्र, राजा, सेठ आदि व्यवहार होते हैं तथा शचीपति इन्द्रमें भावव्यवहार प्रसिद्ध ही है। शंकाकारने जो दृष्टान्त दिया है कि नाम नाम ही है स्थापना नहीं, वह ठीक नहीं है क्योंकि यह कहा ही नहीं जा रहा है कि नाम स्थापना है किन्तु नाम स्थापना द्रव्य और भावसे एक वस्तुके चार प्रकारसे व्यवहार की बात है। जैसे ब्राह्मण मनुष्य अवश्य होता है क्योंकि ब्राह्मणमें मनुष्य जातिरूप सामान्य अवश्य पाया जाता है पर मनुष्य ब्राह्मण हो न भी हो उसी तरह स्थापना 'नाम' अवश्य होगी क्योंकि बिना नामकरणके स्थापना नहीं होती परन्तु जिसका नाम रखा है उसकी स्थापना हो भी न भी हो। इसी तरह द्रव्य 'भाव' अवश्य होगा क्योंकि उसकी उस योग्यताका विकास अवश्य होगा परन्तु भाव 'द्रव्य' हो भी न भी हो क्योंकि उस पर्यायमें आगे अमुक योग्यता रहे भी न भी रहे। अतः नामस्थापनादिमें परस्पर अनेकान्त है। छाया और प्रकाश तथा कौआ और उल्लूमें पाया जानेवाला सहानवस्था और बध्यघातक विरोध विद्यमान ही पदार्थोंमें होता है अविद्यमान खरविषाण आदिमें नहीं। अतः विरोधकी संभावनासे ही नामादिचतुष्टयका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। विरोध यदि नामादिरूप है तो वह उनके स्वरूपकी तरह विरोधक नहीं हो सकता। यदि नामादिरूप नहीं है तो भी विरोधक नहीं हो सकता। इस तरह तो सभी पदार्थ परस्पर एक दूसरेके विरोधक हो जायंगे।

§ २६–३० **प्रश्न**–भाव निक्षेपमें वे गुण आदि पाए जाते हैं अतः इसे ही सत्य कहा जा सकता है नामादिको नहीं। **उत्तर**–ऐसा माननेपर नाम स्थापना और द्रव्यसे होनेवाले यावत् लोकव्यवहारोंका लोप हो जायगा। लोक-व्यवहारमें बहुभाग तो नामादि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीनका ही है। नामाद्याश्रित व्यवहारोंको उपचारसे स्वीकार करना ठीक नहीं है; क्योंकि बच्चेमें क्रूरता शूरता आदि गुणोंका एकदेश देखकर उपचारसे सिंह व्यवहार तो उचित है पर नामादिमें तो उन गुणोंका एकदेश भी नहीं पाया जाता अतः नामाद्याश्रित व्यवहार औपचारिक भी नहीं कहे जा सकते। यदि नामादि-व्यवहारको औपचारिक कहा जाता है तो "गौण और मुख्यमें मुख्यका ही ज्ञान होता है"इस नियमके अनुसार मुख्य 'भाव'का ही संप्रत्यय होगा नामादि का नहीं। अर्थ प्रकरण और संकेत आदिके अनुसार नामादिका भी मुख्य प्रत्यय भी देखा ही जाता है अतः नामादि व्यवहारको औपचारिक कहना उचित नहीं है। "कृत्रिम और अकृत्रिम पदार्थों में कृत्रिमका ही बोध होता है" यह नियम भी सर्वथा एकरूप नहीं है। यद्यपि 'गोपालको लाओ' यहां जिसकी गोपाल संज्ञा है वही व्यक्ति लाया जाता है न कि जो गायोंको पालता है वह। तथापि इस नियमकी उभयरूपसे प्रवृत्ति देखी जाती है। जैसे किसी प्रकरणके न जाननेवाले गांवडेके व्यक्तिसे 'गोपालको लाओ' यह कहनेपर उसकी दोनों गति होंगी–वह गोपाल नामक व्यक्तिको जिस प्रकार लायगा उसी तरह गायके पालनेवालेको भी ला सकता है। लोकमें अर्थ और प्रकरणसे कृत्रिममें प्रत्यय देखा जाता है। फिर सामान्य दृष्टिसे नामादि भी अकृत्रिम ही हैं। इनमें कृत्रिमत्व और अकृत्रिमत्वका अनेकान्त है।

§ ३१–३३ **प्रश्न**–जब नाम स्थापना और द्रव्य द्रव्यार्थिक नयके विषय हैं तथा भाव पर्यायार्थिक नयका। अतः इनका नयोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है और नयोंका कथन आगे होगा ही ? **उत्तर**–विनेयोंको समझानेके अभिप्रायसे दो तीन आदि नयोंका संक्षेप या विस्तारसे कथन किया जाता है। जो विद्वान् शिष्य हैं वे दो नयोंके द्वारा ही सभी नयोंके वक्तव्य-प्रतिपाद्य अर्थोंको जान लेते हैं उनकी अपेक्षा पृथक् कथनका प्रयोजन न भी हो पर जो मन्दबुद्धि हैं उनके लिए पृथक् नय और निक्षेपका कथन करना ही चाहिए। विषय और विषयीकी दृष्टिसे नय और निक्षेपका पृथक् पृथक् निरूपण है।

§ ३४–३७ यद्यपि सम्यग्दर्शनादिका प्रकरण था अतः सूत्रमें 'तत्' शब्दका ग्रहण किए बिना भी सम्यग्दर्शनादिके साथ नामादिका सम्बन्ध हो जाता फिर भी प्रधान सम्यग्दर्शनादि और गौण विषयभूत जीवजीवादि सभीके साथ नामादिका सम्बन्ध द्योतन करनेके लिए विशेष रूपसे 'तत्' शब्दका ग्रहण किया है। 'अनन्तरका ही विधि या निषेध होता है' इस नियमके अनुसार जीवादिका ही सम्बन्ध होगा सम्यग्दर्शनादिका नहीं' इस शंका का समाधान तो यह है कि–जीवादि सम्यग्दर्शनादिके विषय होनेसे गौण हैं, अतः प्रत्यासन्न होनेपर भी मुख्य सम्यग्दर्शनादिका ही ग्रहण किया जायगा। फिर–'विशेष बात प्रकरणागत सामान्यमें बाधा नहीं दे सकती' इस नियमके अनुसार विषय विशेषके रूपमें कहे गए जीवादि पदार्थ प्रकरणागत सम्यग्दर्शनादिके ग्रहणके बाधक नहीं हो सकते।

तत्त्वाधिगमके उपाय–

प्रमाणनयैरधिगमः ॥६॥

प्रमाण और नयों से जीवादि पदार्थोंका अधिगम-ज्ञान होता है।

§ १–३ व्याकरणशास्त्रके 'अल्प अक्षरवाले पदका पूर्व प्रयोग करना चाहिए' इस नियमके अनुसार नयका प्रथम ग्रहण करना चाहिए था; किन्तु उक्त नियमके बाधक 'पूज्यका पूर्व निपात होता है' इस नियमके अनुसार 'प्रमाण' पदका प्रथम ग्रहण किया है। प्रमाण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के द्वारा प्रकाशित ही अर्थके एक देशमें नयकी प्रवृत्ति होती है अतः प्रमाण पूज्य है। प्रमाण समुदायको विषय करता है तथा नय अवयवको। प्रमाण सकलादेशी होता है तथा नय विकलादेशी।

§ ४ ज्ञान स्वाधिगम हेतु होता है जो प्रमाण और नयरूप होता है। वचन पराधिगम हेतु हैं। वचनात्मक स्याद्वाद श्रुतके द्वारा जीवादिकी प्रत्येक पर्याय सप्तभंगी रूपसे जानी जाती है।

§ ५ प्रश्नके अनुसार एक वस्तुमें प्रमाणसे अविरुद्ध विधिप्रतिषेध धर्मोंकी कल्पना सप्तभंगी है। एक ही घड़ेका गौण और मुख्य रूपसे १ स्यात् घट, २ स्यात् अघट, ३ स्यात् उभय, ४ स्यात् अवक्तव्य, ५ स्यात् घट और अवक्तव्य, ६ स्यात् अघट और अवक्तव्य, ७ स्यात् उभय और अवक्तव्य इन सात रूपसे निरूपण किया जा सकता है। घट स्वस्वरूपसे है पररूपसे नहीं है। घड़ेके स्वात्मा और परात्माका विवेचन अनेक प्रकारसे होता है। यथा–

(१) जिसमें घट बुद्धि और घट शब्दका व्यवहार हो वह स्वात्मा तथा उससे भिन्न परात्मा है। स्वरूप ग्रहण और पररूप त्यागके द्वारा ही वस्तुकी वस्तुता स्थिर की जाती है। यदि पररूपकी व्यावृत्ति न हो तो सभी रूपोंसे घटव्यवहार होना चाहिए और यदि स्वरूप ग्रहण न हो तो निःस्वरूपत्वका प्रसङ्ग होनेसे वह खरविषाणकी तरह असत् ही हो जायगा।

(२) नाम स्थापना द्रव्य और भाव निक्षेपोंका जो आधार होता है वह स्वात्मा तथा अन्य परात्मा। यदि अन्य रूपसे भी घट हो जाय तो प्रतिनियत नामादि व्यवहारका ही उच्छेद हो जायगा।

(३) घटशब्दके वाच्य अनेक घड़ोंमेंसे विवक्षित अमुक घटका जो आकार आदि है वह स्वात्मा अन्य परात्मा। यदि इतर घटके आकारसे भी वह घट 'घट' हो जाय तो सभी घड़े एक घटरूप ही हो जायँगे और इस तरह अनेकत्वमूलक घटसामान्य व्यवहार ही नष्ट हो जायगा।

(४) अमुक घट भी द्रव्यदृष्टिसे अनेक क्षणस्थायी होता है। अतः अन्वयी मृद्द्रव्यकी अपेक्षा स्थास कोश कुशूल घट कपाल आदि पूर्वोत्तर अवस्थाओंमें भी घट व्यवहार हो सकता है इनमें स्थास कोश कुशूल और कपाल आदि पूर्व और उत्तर अवस्थाएं परात्मा हैं तथा मध्यक्षणवर्ती घट अवस्था स्वात्मा है। उसी अवस्थासे वह घट है क्योंकि उसीमें घड़ेके गुण क्रिया आदि पाए जाते हैं। यदि उन कुशूलादि अवस्थाओंमें भी घड़ेकी उपलब्धि हो तो घटकी उत्पत्ति और विनाशके लिए किया जानेवाला पुरुषका प्रयत्न ही निष्फल हो जायगा।

(५) उस मध्यकालवर्ती घटपर्यायमें भी प्रतिक्षण उपचय और अपचय होता रहता है अतः ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे एकक्षणवर्ती घट ही स्वात्मा है अतीत और अनागतकालीन उस घटकी ही पर्यायें परात्मा हैं। यदि प्रत्युत्पन्न क्षणकी तरह अतीत और अनागत क्षणोंसे भी घट माना जाय तो सभी वर्तमान क्षणमात्र ही हो जायँगे। अतीत और अनागतकी तरह प्रत्युत्पन्न क्षणसे भी असत्त्व माना जाय तो जगत्से घटव्यवहारका ही लोप हो जायगा।

(६) उस प्रत्युत्पन्न घटक्षणमें रूप रस गन्ध पृथुबुध्नोदराकार आदि अनेक गुण और पर्यायें हैं अतः घड़ा पृथुबुध्नोदराकारसे 'है' क्योंकि घटव्यवहार इसी आकारसे होता है अन्यसे नहीं। यदि उस आकारसे भी घड़ा 'न' हो तो घटका अभाव ही हो जायगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(७) आकारमें रूप रस आदि सभी हैं। घड़ेके रूपको आंखसे देखकर ही घटके अस्तित्वका व्यवहार होता है अतः रूप स्वात्मा है तथा रसादि परात्मा। 'आंखसे घड़ेको देखता हूं' यहां रूपकी तरह रसादि भी घटके स्वात्मा हों तो रसादि भी चक्षुर्ग्राह्य हो जानेसे रूपात्मक हो जायंगे फिर अन्य इन्द्रियोंकी कल्पना ही निरर्थक हो जायगी। यदि रसादिकी तरह रूप भी स्वात्मा न हो तो वह चक्षुके द्वारा दिखाई ही नहीं देगा।

(८) शब्दभेदसे अर्थभेद होता ही है अतः घट शब्दका अर्थ जुदा है तथा कुट आदि शब्दोंका जुदा। घटन क्रियाके कारण घट है तथा कुटिल होनेके कारण कुट। अतः घड़ा जिस समय घटन क्रियामें परिणत हो उसी समय उसे घट कहना चाहिए। इसलिए घटका घटनक्रियामें कर्त्तारूपसे उपयुक्त होनेवाला स्वरूप स्वात्मा है और अन्य परात्मा। यदि इतर रूपसे भी घट कहा जाय तो पटादिमें भी घटव्यवहारका प्रसङ्ग प्राप्त होगा। और इस तरह सभी पदार्थ एकशब्दके वाच्य हो जायंगे।

(९) घटशब्दप्रयोगके बाद उत्पन्न घटज्ञानाकार स्वात्मा है क्योंकि वही अन्तरंग है और अहेय है। बाह्य घटाकार परात्मा है। अतः घड़ा उपयोगाकारसे है अन्य से नहीं। यदि उपयोगाकारसे भी अघट हो जाय तो वचन व्यवहारके मूलाधार उपयोगके अभावमें सभी व्यवहार विनष्ट हो जायँगे।

(१०) चैतन्य शक्तिके दो आकार होते हैं–१ ज्ञानाकार २ ज्ञेयाकार। प्रतिबिम्ब-शून्य दर्पणकी तरह ज्ञानाकार है और प्रतिबिम्ब सहित दर्पणकी तरह ज्ञेयाकार। इनमें ज्ञेयाकार स्वात्मा है क्योंकि घटाकार ज्ञानसे ही घट व्यवहार होता है। और ज्ञानाकार परात्मा है क्योंकि वह सर्वसाधारण है। यदि ज्ञानाकारसे घट माना जाय तो पटादि ज्ञान कालमें भी घट-व्यवहार होना चाहिए। यदि ज्ञेयाकारसे भी घट 'न' माना जाय तो घट-व्यवहार निराधार हो जायगा।

इस प्रकार उक्त रीतिसे सूचित घटत्व और अघटत्व दोनों धर्मोंका आधार घड़ा ही होता है। यदि दोनोंमें भेद माना जाय तो घटमें ही दोनों धर्मोंके निमित्तसे होनेवाली बुद्धि और वचन प्रयोग नहीं हो सकेंगे। अतः घड़ा उभयात्मक है। क्रमसे दोनों धर्मोंकी विवक्षा होनेपर घड़ा स्यात् घट भी है और अघट भी। यदि उभयात्मक वस्तुको घट ही कहा जाय तो दूसरे स्वरूपका संग्रह न होनेसे वह अतत्त्व ही हो जायगी। यदि अघट कही जाय तो घट रूपका संग्रह न होनेसे अतत्त्व बन जायगी। और कोई ऐसा शब्द है नहीं जो युगपत् उभय रूपोंका प्रधान भावसे कथन कर सके अतः युगपदुभय विवक्षामें वस्तु अवक्तव्य है। प्रथम समयमें घटस्वरूपकी मुख्यता तथा द्वितीय समयमें युगपदुभय विवक्षा होनेपर घट स्यात् घट और अवक्तव्य है। अघट रूपकी विवक्षा तथा क्रमशः युगपदुभय विवक्षा होनेपर घट स्यादघट और अवक्तव्य है। क्रमशः उभय धर्म और युगपदुभय धर्मोंकी सामूहिक विवक्षा होनेपर घट स्यादुभय और अवक्तव्य है। इस तरह यह सप्तभंगी प्रक्रिया सभी सम्यग्दर्शनादिमें लगा देनी चाहिए।

यदि द्रव्यार्थिक नयका एकान्त आग्रह किया जाता है तो अतत्को तत् कहनेके कारण उन्मत्त वाक्यकी तरह वह अग्राह्य हो जायगा। इसी तरह यदि पर्यायार्थिकका सर्वथा आग्रह किया जाता है तो तत्को भी अतत् कहनेके कारण असद्वाद ही हो जायगा। स्याद्वाद वस्तुके यथार्थरूपका निश्चय करनेके कारण सद्वाद है। वस्तुको सर्वथा अवक्तव्य कहना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी असद्वाद है। क्योंकि इस दशामें 'अवक्तव्य' यह वचन भी नहीं बोल सकेंगे जैसे कि मौनव्रती 'मैं मौनव्रती हूं' यह शब्द भी नहीं बोल सकता। अतः स्याद‌वक्तव्यवाद ही सत्य है। हिताहितविवेक भी इसीसे होता है।

§ ६–७ **प्रश्न**–यदि अनेकान्तमें भी यह विधि प्रतिषेध कल्पना लगती है तो जिस समय अनेकान्तमें 'नास्ति' भंग प्रयुक्त होगा उस समय एकान्तवादका प्रसङ्ग आ जाता है। और अनेकान्तमें अनेकान्त लगानेपर अनवस्था दूषण होता है। अतः अनेकान्तको अनेकान्त ही कहना चाहिए। **उत्तर**–अनेकान्तमें भी प्रमाण और नयकी दृष्टिसे अनेकान्त और एकान्त रूपसे अनेकमुखी कल्पनाएं हो सकती हैं। अनेकान्त और एकान्त दोनों ही सम्यक् और मिथ्याके भेदसे दो दो प्रकारके होते हैं। प्रमाणके द्वारा निरूपित वस्तुके एक देशको सयुक्ति ग्रहण करनेवाला सम्यगेकान्त है। एक धर्मका सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मोंका निराकरण करनेवाला मिथ्या एकान्त है। एक वस्तुमें युक्ति और आगमसे अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मोंको ग्रहण करनेवाला सम्यगनेकान्त है तथा वस्तुको तत् अतत् आदि स्वभावसे शून्य कहकर उसमें अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करना अर्थशून्य वचनविलास मिथ्या अनेकान्त है। सम्यगेकान्त नय कहलाता है तथा सम्यगनेकान्त प्रमाण। यदि अनेकान्तको अनेकान्त ही माना जाय और एकान्तका लोप किया जाय तो सम्यगेकान्तके अभावमें शाखादिके अभावमें वृक्षके अभावकी तरह तत्समुदाय रूप अनेकान्तका भी अभाव हो जायगा। यदि एकान्त ही माना जाय तो अविनाभावी इतर धर्मोंका लोप होनेपर प्रकृत शेषका भी लोप होनेसे सर्वलोपका प्रसंग प्राप्त होता है।

§ ८ अनेकान्त छल रूप नहीं है क्योंकि जहां वक्ताके अभिप्रायसे भिन्न अर्थकी कल्पना करके वचन विघात किया जाता है वहां छल होता है। जैसे 'नवकम्बलो देवदत्तः' यहां 'नव' शब्दके दो अर्थ होते हैं। एक ९ संख्या और दूसरा नया। तो 'नूतन' विवक्षासे कहे गये 'नव' शब्दका ९ संख्या रूप अर्थविकल्प करके वक्ताके अभिप्रायसे भिन्न अर्थकी कल्पना छल कही जाती है किन्तु सुनिश्चित मुख्य गौण विवक्षासे संभव अनेक धर्मोंका सुनिर्णीत रूपसे प्रतिपादन करनेवाला अनेकान्तवाद छल नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें वचनविघात नहीं किया गया है अपितु यथावस्थित वस्तुतत्त्वका निरूपण किया गया है।

§ ९–१४ **प्रश्न**–एक आधारमें विरोधी अनेक धर्मोंका रहना असंभव है अतः अनेकान्त संशय हेतु है? **उत्तर**–सामान्य धर्मका प्रत्यक्ष होनेसे विशेष धर्मोंका प्रत्यक्ष न होनेपर किन्तु उभय विशेषोंका स्मरण होनेसे संशय होता है। जैसे धुंधली रात्रिमें स्थाणु और पुरुषगत ऊंचाई आदि सामान्य धर्मकी प्रत्यक्षता होने पर स्थाणुगत कोटर पक्षिनिवास तथा पुरुषगत सिर खुजाना कपड़ा हिलने आदि विशेष धर्मोंके न दिखनेपर किन्तु इन विशेषोंका स्मरण रहनेपर ज्ञान दो कोटियोंमें दोलित हो जाता है कि यह स्थाणु है या पुरुष। किन्तु अनेकान्तवादमें विशेष धर्मोंकी अनुपलब्धि नहीं है। सभी धर्मोंकी सत्ता अपनी अपनी निश्चित अपेक्षाओंसे स्वीकृत है। तत्तद् धर्मोंका विशेष प्रतिभास निर्विवाद सापेक्ष रीतिसे बताया गया है। संशयका यह आधार भी उचित नहीं है कि 'अस्ति आदि धर्मोंको पृथक्-पृथक् सिद्ध करनेवाले हेतु हैं या नहीं? यदि नहीं है तो प्रतिपादन कैसा? यदि हैं; तो एक ही वस्तुमें परस्पर विरुद्ध धर्मोंकी सिद्धि होनेपर संशय होना ही चाहिए'; क्योंकि यदि विरोध होता तो संशय होता। किन्तु अपनी अपनी अपेक्षाओंसे संभवित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मोंमें विरोधकी कोई संभावना ही नहीं है। जैसे एक ही देवदत्त भिन्न-भिन्न पुत्रादि सम्बन्धियोंकी दृष्टिसे पिता पुत्र मामा आदि निर्विरोध रूपसे व्यवहृत होता है। उसी तरह अस्तित्व आदि धर्मोंका भी एक वस्तुमें रहनेमें कोई विरोध नहीं है। देवदत्त यदि अपने पुत्रकी अपेक्षा पिता है तो सबकी अपेक्षा पिता नहीं हो सकता। जैसे कि एक ही हेतु सपक्षमें सत् होता है और विपक्षमें असत् होता है उसी तरह विभिन्न अपेक्षाओंसे अस्तित्व आदि धर्मोंके रहनेमें भी कोई विरोध नहीं है।

अथवा, जैसे वादी या प्रतिवादीके द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक हेतु स्वपक्षकी अपेक्षा साधक और परपक्षकी अपेक्षा दूषक होता है उसीप्रकार एक ही वस्तुमें विभिन्न अपेक्षाओंसे विविध धर्म रह सकते हैं। 'एक वस्तु अनेक धर्मात्मक है' इसमें किसी वादीको विवाद भी नहीं है। यथा–सांख्य सत्त्व, रज और तम, इन भिन्न स्वभाववाले धर्मोंका आधार एक 'प्रधान' मानते हैं। वैशेषिक पृथिवीत्व आदि सामान्यविशेष स्वीकार करते हैं। एक ही पृथिवीत्व स्वव्यक्तियोंमें अनुगत होनेसे सामान्यात्मक होकर भी जलादि से व्यावृत्ति करानेके कारण विशेष कहा जाता है। इसीलिए इसकी सामान्यविशेष संज्ञा है। बौद्ध कर्कश आदि विभिन्न लक्षणवाले परमाणुओंके समुदायको एक रूप स्वलक्षण मानते हैं। इनके मतमें भी विभिन्न परमाणुओंमें रूपकी दृष्टिसे कोई विरोध नहीं है। विज्ञानाद्वैतवादी एक ही विज्ञानको ग्राह्याकार, ग्राहकाकार और संवेदनाकार इस प्रकार त्रयाकार स्वीकार करते ही हैं। सभी वादी पूर्वावस्थाको कारण और उत्तरावस्थाको कार्य मानते हैं अतः एक ही पदार्थमें अपनी पूर्व और उत्तरपर्यायकी दृष्टिसे कारण-कार्य व्यवहार निर्विरोध रूपसे होता ही है। उसी तरह सभी जीवादि पदार्थ विभिन्न अपेक्षाओंसे अनेक धर्मोंके आधार होते हैं।

जीवादिके अधिगमके अन्य उपाय–

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥७॥

निर्देश-नाममात्र कथन या स्वरूप निश्चय, स्वामित्व–अधिकारी, साधन–कारण, अधिकरण-आधार, स्थिति-कालमर्यादा और विधान–भेद-प्रभेदसे भी जीवादिका अधिगम होता है।

§ १-२ जिस पदार्थके स्वरूपका निश्चय हो जाता है उसीके स्वामित्व साधन आदि जाननेकी इच्छा होती है अतः सर्वप्रथम निर्देशका ग्रहण किया गया है। अन्य स्वामित्व आदिका प्रश्नोंके अनुसार क्रम है।

§ ३-५ पर्यायार्थिक नयसे औपशमिक आदि भावरूप जीव है। द्रव्यार्थिक नयसे नामादि रूप जीव है। प्रमाणदृष्टिसे जीवका निर्देश उभयरूपसे होता है।

§ ६-७ निश्चयदृष्टिसे जीव अपनी पर्यायोंका स्वामी है। जैसे कि अग्निका स्वामित्व उष्णता पर है। पर्याय और पर्यायीमें कथञ्चिद् भेद दृष्टिसे स्वामित्व व्यवहार हो जाता है। व्यवहार नयसे सभी पदार्थोंका स्वामी जीव हो सकता है।

§ ८-९ निश्चय नयसे जीव अपने अनादि पारिणामिक भावोंसे ही स्वस्वरूपलाभ करता है। व्यवहार नयसे औपशमिकादि भावोंसे तथा माता-पिताके रजवीर्य आहार आदिसे भी स्वरूपलाभ करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ १०--११ निश्चय नयसे जीव अपने असंख्यात प्रदेशोंमें रहता है तथा व्यवहार नयसे कर्मानुसार प्राप्त शरीरमें रहता है।

§ १२ द्रव्यदृष्टिसे जीवकी स्थिति अनाद्यनन्त है। कभी भी जीव चैतन्य जीवद्रव्यत्व उपयोग असंख्यातप्रदेशित्व आदि सामान्य स्वरूपको नहीं छोड़ सकता। पर्यायकी अपेक्षा स्थिति एक समय आदि अनेक प्रकार की है।

§ १३ जीवद्रव्य नारक मनुष्य आदि पर्यायोंके भेदसे संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रकार के हैं।

§ १४ इसी तरह अजीवादिमें भी निर्देश आदिकी योजना करनी चाहिए। यथा निर्देश–दश प्राणरहित अजीव होता है। अथवा नाम आदि रूप भी अजीव है। अजीवका स्वामी अजीव ही होता है अथवा भोक्ता होनेके कारण जीव भी। पुद्गलोंके अणुत्वका साधन भेद है और स्कन्धका साधन भेद और संघात। बाह्य साधन कालादि हैं। धर्म अधर्म काल और आकाशमें स्वाभाविक गतिहेतुता, स्थितिहेतुता, वर्तनाहेतुता और अवगाहनहेतुता ही साधन है। अथवा जीव और पुद्गल, क्योंकि इनके निमित्तसे गत्यादिहेतुताकी अभिव्यक्ति होती है। साधारणतया सभी द्रव्योंका अपना निज रूप ही अधिकरण है। आकाश बाह्य अधिकरण है। जलादिके लिए घट आदि अधिकरण हैं। द्रव्य दृष्टिसे स्थिति अनाद्यनन्त है तथा पर्यायदृष्टिसे एक समय आदि। द्रव्यदृष्टिसे धर्मादि तीन द्रव्य एक एक हैं। पर्यायार्थिक दृष्टिसे अनन्त जीवपुद्गलोंकी गत्यादिमें निमित्त होनेसे अनेक हैं–संख्यात असंख्यात और अनन्त हैं। काल संख्यात और असंख्यात है। परपरिणमनमें निमित्त होता है अतः अनन्त भी है। पुद्गलद्रव्य सामान्यसे एक है। विशेष रूपसे संख्यात असंख्यात और अनन्त है।

आस्रव–मन, वचन और कायकी क्रिया रूप होता है, अथवा नामादि रूप आस्रव होता है। उपादान रूपसे आस्रवका स्वामी जीव है, निमित्तकी दृष्टिसे कर्मपुद्गल भी आस्रवका स्वामी होता है। अशुद्ध आत्मा साधन है अथवा निमित्त रूपसे कर्म भी। जीव ही आधार है क्योंकि कर्मपरिपाक जीवमें ही होता है। कर्मनिमित्तक शरीरादि भी उपचार से आधार हैं। वाचनिक और मानस आस्रवकी स्थिति जघन्यसे एक समय और उत्कृष्टसे अन्तर्मुहूर्त है। कायास्रवकी जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल या असंख्यात पुद्गल परिवर्तन प्रमाण है। वाचनिक और मानस आस्रव सत्य असत्य उभय और अनुभयके भेदसे चार प्रकारका है। कायास्रव औदारिक औदारिकमिश्र वैक्रियिक वैक्रियिकमिश्र आहारक आहारकमिश्र और कार्मणके भेदसे सात प्रकारका है। औदारिक और औदारिकमिश्र मनुष्य और तिर्यञ्चोंके होता है। वैक्रियिक और वैक्रियिकमिश्र देव और नारकियोंके होता है। ऋद्धिप्राप्त संयतोंके आहारक और आहारकमिश्र होता है। विग्रहगतिप्राप्त जीव और समुद्घातगत केवलियोंके कार्मण कायास्रव होता है। आस्रव शुभ और अशुभके भेदसे भी दो प्रकारका है। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील आदिमें प्रवृत्ति अशुभ कायास्रव है तथा निवृत्ति शुभकायास्रव। कठोर गाली चुगली आदि रूपसे परबाधक वचनोंकी प्रवृत्ति वाचनिक अशुभास्रव है और इनसे निवृत्ति वाचनिक शुभास्रव। मिथ्या श्रुति ईर्षा मात्सर्य षड्यन्त्र आदि रूपसे मानस प्रवृत्ति मानस अशुभास्रव है और इनसे निवृत्ति मानस शुभास्रव।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्ध–जीव और कर्मप्रदेशोंका परस्पर संश्लेष बन्ध है अथवा जिसका नाम बन्ध रखा या स्थापना आदि की, वह बन्ध है। बन्धका फल जीवको भोगना पड़ता है अतः स्वामी जीव है। चूंकि बन्ध दोमें होता है अतः पुद्गल कर्म भी स्वामी कहा जा सकता है। मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय और योग ये बन्धके साधन हैं अथवा इन रूपसे परिणत आत्मा साधन है। स्वामिसम्बन्धके योग्य वस्तु ही अर्थात् जीव और कर्मपुद्गल ही बन्धके आधार हैं। जघन्य स्थिति वेदनीयकी बारह मुहूर्त, नाम और गोत्रकी आठ मुहूर्त और शेष कर्मोंकी अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट स्थिति ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अन्तरायकी तीस कोड़ा-कोड़ी सागर है। मोहनीयकी सत्तर कोड़ाकोड़ी, नाम और गोत्रकी बीस कोड़ाकोड़ी सागर है। आयुकी तेतीस सागर स्थिति है। अभव्य जीवोंके बन्ध सन्तानकी अपेक्षा अनाद्यनन्त है। उन भव्योंका बन्ध भी अनाद्यनन्त है जो अनन्तकाल तक सिद्ध न होंगे। ज्ञानावरण आदि कर्मोंका उत्पाद और विनाश प्रतिसमय होता रहता है अतः सादि सान्त भी है। सामान्यरूपसे बन्ध एक है। शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकार है। द्रव्य भाव और उभयके भेदसे तीन प्रकारका है। प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेशके भेदसे चार प्रकारका है। मिथ्यादर्शनादि कारणोंके भेदसे पांच प्रकारका है। नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूपसे छह प्रकारका है। इनमें भव और मिलानेसे सात प्रकार का है। ज्ञानावरण आदि मूल कर्मप्रकृतियोंकी दृष्टिसे आठ प्रकारका है। इस प्रकार कारणकार्यकी दृष्टिसे संख्यात असंख्यात और अनन्त विकल्प होते हैं।

संवर–आस्रव-निरोधको संवर कहते हैं अथवा नामादि रूप भी संवर होता है। इसका स्वामी जीव होता है अथवा रोके जानेवाले कर्मकी दृष्टिसे कर्म भी स्वामी है। गुप्ति समिति धर्म अनुप्रेक्षा आदि साधन हैं। स्वामि सम्बन्धके योग्य वस्तु आधार है। जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति कुछ कम पूर्वकोटि प्रमाण है। विधान एकसे लेकर एक सौ आठ तक तथा आगे भी संख्यात आदि विकल्प होते हैं। तीन गुप्ति, पांच समिति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय, बारह तप, नव प्रायश्चित्त, चार विनय, दस वैयावृत्य, पांच स्वाध्याय, दो व्युत्सर्ग, दस धर्म ध्यान और चार शुक्लध्यान ये संवरके १०८ भेद होते हैं।

निर्जरा–यथाकाल या तपोविशेषसे कर्मोंकी फलदानशक्ति नष्ट कर उन्हें झड़ा देना निर्जरा है। नामस्थापना आदि रूप भी निर्जरा होती है। निर्जराका स्वामी आत्मा है अथवा द्रव्य निर्जराका स्वामी जीव भी है। तप और समयानुसार कर्मविपाक ये दो साधन हैं। आत्मा या निर्जराका स्वस्वरूप आधार है। सामान्यसे निर्जरा एक प्रकार की है, यथाकाल और औपक्रमिकके भेदसे दो प्रकार की है, मूल कर्मप्रकृतियोंकी दृष्टिसे आठ प्रकार की है, इसी तरह कर्मके रसको क्षीण करनेके विभिन्न प्रकारोंकी अपेक्षा संख्यात असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं।

मोक्ष–संपूर्ण कर्मोंका क्षय मोक्ष है अथवा नामादिरूप मोक्ष होता है। परमात्मा और मोक्षस्वरूप ही स्वामी है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षके साधन हैं। स्वामिसम्बन्धके योग्य पदार्थ अर्थात् जीव और पुद्गल आधार होते हैं। सादि अनन्त स्थिति है। सामान्यसे मोक्ष एक ही प्रकारका है। द्रव्य भाव और भोक्तव्यकी दृष्टिसे अनेक प्रकार का है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दर्शन–तत्त्वार्थश्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं अथवा नामादिरूप भी सम्यग्दर्शन होता है। स्वामी आत्मा और सम्यग्दर्शन पर्याय है। दर्शनमोहके उपशम आदि अन्तरंग साधन हैं, उपदेश आदि बाह्य साधन हैं। स्वामि सम्बन्धके योग्य वस्तु अधिकरण है। जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक छयासठ सागर प्रमाण है। अथवा औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन सादि सान्त होते हैं तथा क्षायिक सम्यग्दर्शन सादि अनन्त। सामान्यसे सम्यग्दर्शन एक है, निसर्गज और अधिगमज रूपसे दो प्रकारका है, औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिकके भेदसे तीन प्रकारका है। इसी तरह विभिन्न परिणामोंकी दृष्टिसे संख्यात असंख्यात और अनन्त विकल्प होते हैं।

ज्ञान–जीवादितत्त्वोंके प्रकाशनको ज्ञान कहते हैं अथवा नामादि रूप भी ज्ञान होता है। स्वामी आत्मा है या ज्ञान पर्याय। ज्ञानावरण आदि कर्मका क्षयोपशम आदि साधन हैं अथवा अपनेको प्रकट करनेकी योग्यता। आत्मा अथवा स्वाकार ही अधिकरण है। क्षायोपशमिक मति आदि चार ज्ञान सादि सान्त हैं। क्षायिक ज्ञान सादि अनन्त होता है। सामान्यसे ज्ञान एक है, प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रकारका है। द्रव्य गुण और पर्यायरूप ज्ञेयके भेदसे तीन प्रकारका है। नामादिके भेदसे चार प्रकारका है। मति श्रुत अवधि आदिके भेदसे पांच प्रकारका है। इसी तरह ज्ञेयाकार परिणतिके भेदसे संख्यात असंख्यात और अनन्त विकल्प होते हैं।

चारित्र–कर्मोंके आनेके कारणोंकी निवृत्तिको चारित्र कहते हैं अथवा नामादिरूप भी चारित्र होता है। आत्मा अथवा चारित्रपर्याय स्वामी है। चारित्रमोहका उपशम आदि अथवा चारित्रशक्ति साधन हैं। स्वामिसम्बन्धके योग्य वस्तु अधिकरण है। जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति कुछ कम पूर्वकोटी प्रमाण है। अथवा औपशमिक और क्षायोपशमिक चारित्र सादि और सान्त हैं। क्षायिक चारित्र शुद्धिकी प्रकटताकी अपेक्षा सादि अनन्त होता है। सामान्यसे चारित्र एक है। बाह्य और आभ्यन्तर निवृत्तिकी अपेक्षा दो प्रकारका है। औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिकके भेदसे तीन प्रकारका है। चार प्रकारके यतिकी दृष्टिसे या चतुर्यमकी अपेक्षा चार प्रकारका है। सामायिक आदिके भेदसे पांच प्रकारका है। इसी तरह विविध निवृत्तिरूप परिणामोंकी दृष्टिसे संख्यात असंख्यात और अनन्त विकल्परूप होता है।

जीवादिके अधिगमके अन्य उपाय–

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥८॥

सत् संख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर भाव और अल्प बहुत्वके द्वारा भी जीवादिपदार्थोंका अधिगम होता है।

§ १–२ यद्यपि 'सत्' शब्दका प्रयोग अनेक अर्थोंमें होता है–जैसे 'सत्पुरुष, सदश्व' यहाँ प्रशंसार्थक सत् शब्द है। 'सन् घटः सन् पटः' यहाँ सत् शब्द अस्तित्ववाचक है। 'प्रव्रजितः सन् कथमनृतं ब्रूयात्–अर्थात् दीक्षित होकर असत्य भाषण कैसे कर सकते हैं' यहाँ सत् शब्द प्रतिज्ञावाचक है। 'सत्कृत्य'में सत् शब्द आदरार्थक है। यहाँ विवक्षासे सत् शब्द विद्यमानवाची ग्रहण किया गया है। चूंकि सत् सर्वपदार्थव्यापी है और समस्त विचारों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का आधार होता है अतः उसको सर्वप्रथम ग्रहण किया है। गुण और क्रिया आदि किसीमें होते हैं किसीमें नहीं पर 'सत्' सर्वत्र अप्रतिहतगति है।

§ ३ जिसका सद्भाव प्रसिद्ध है उसी पदार्थकी संख्यात असंख्यात या अनन्त रूपसे गणना की जाती है अतः सत्के बाद परिमाण निश्चय करनेवाली संख्याका ग्रहण किया गया है।

§ ४ जिसकी संख्याका परिज्ञान हो गया है उस पदार्थके ऊपर-नीचे आदि रूपसे वर्तमान निवासकी प्रतिपत्तिके अर्थ उसके बाद क्षेत्रका ग्रहण किया है।

§ ५ पदार्थोंकी त्रैकालिक अवस्थाएँ विचित्र होती हैं, अतः त्रैकालिक क्षेत्रकी प्रतिपत्तिके लिए उसके बाद स्पर्शनका ग्रहण किया है। किसीका क्षेत्र प्रमाण ही स्पर्शन होता है तो किसीका एक जीव या नाना जीवोंकी अपेक्षा ६ राजू या आठ राजू।

§ ६ किसी क्षेत्रमें स्थित पदार्थकी काल मर्यादा निश्चय करना काल है।

§ ७ अन्तर शब्दके अनेक अर्थ हैं। यथा–'सान्तरं काष्ठम्' में छिद्र अर्थ है। 'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभते' यहां द्रव्यान्तरका अर्थ अन्य द्रव्य है। 'हिमवत्सागरान्तरे'में अन्तर शब्दका अर्थ मध्य है। 'शुक्लरक्ताद्यन्तरस्थस्य स्फटिकस्य–सफेद और लाल रंगके समीप रखा हुआ स्फटिक' यहाँ अन्तरका समीप अर्थ है। कहींपर 'विशेषता' अर्थमें भी प्रयुक्त होता है। जैसे 'घोड़ा हाथी और लोहेमें' 'लकड़ी पत्थर और कपड़ेमें' स्त्री-पुरुष और जलमें अन्तर ही नहीं, महान् अन्तर है। यहाँ अन्तर शब्द वैशिष्टयवाचक है। 'ग्रामस्यान्तरे कूपाः' में बाह्यार्थक अन्तर शब्द है अर्थात् गाँवके बाहर कुआ है। कहीं उपसंव्यान अर्थात् अन्तर्वस्त्रके अर्थमें अन्तर शब्दका प्रयोग होता है यथा 'अन्तरे शाटकाः'। कहीं विरह अर्थमें जैसे 'अनभिप्रेत श्रोतृजनान्तरे मन्त्रयते–अनिष्ट व्यक्तियोंके विरहमें मन्त्रणा करता है'। प्रकृतमें छिद्र मध्य और विरहमेंसे कोई एक अर्थ लेना चाहिए।

§ ८ किसी समर्थ द्रव्यकी किसी निमित्तसे अमुक पर्यायका अभाव होनेपर निमित्तान्तरसे जब तक वह पर्याय पुनः प्रकट नहीं होती तब तकके कालको अन्तर कहते हैं।

§ ९ औपमशमिक आदि परिणामोंके निर्देशके लिए भावका ग्रहण किया है।

§ १० संख्याका निश्चय होनेपर भी परस्पर न्यूनाधिक्यका ज्ञान करनेके लिए अल्पबहुत्वका कथन है।

§ ११–१४ **प्रश्न**–निर्देशके ग्रहणसे ही 'सत्'का अर्थ पूरा हो जाता है अतः इस सूत्रमें 'सत्' का ग्रहण निरर्थक है? **उत्तर**–'सत्'के द्वारा गति इन्द्रिय काय आदि चौदह मार्गणाओंमें 'कहां है कहां नहीं है?' आदिरूपसे सम्यग्दर्शनादिका अस्तित्व सूचित किया जाता है। अधिकृत जीवादि और सम्यग्दर्शनादिका यद्यपि 'निर्देश'के द्वारा ग्रहण हो जाता है परन्तु अनधिकृत क्रोधादि या अजीवपर्याय वर्णादिके अस्तित्वका सूचन करनेके लिए 'सत्' का ग्रहण आवश्यक है।

§ १५ विधान और संख्या ग्रहणके पृथक्-पृथक् प्रयोजन हैं–विधानके द्वारा सम्यग्दर्शनादिके प्रकारोंकी गिनती की जाती है और प्रत्येक प्रकारकी वस्तुओंकी गिनती संख्याके द्वारा की जाती है–इतने उपशम सम्यग्दृष्टि हैं, इतने क्षायिकसम्यग्दृष्टि हैं आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ १६ यद्यपि आपाततः क्षेत्र और अधिकरणमें कोई अन्तर नहीं है फिर भी अधिकृत अनधिकृत सभी पदार्थों का क्षेत्र बतानेके लिए विशेषरूपसे क्षेत्रका ग्रहण किया है।

§ १७–१९ **प्रश्न**–क्षेत्रके होनेपर ही स्पर्शन होता है, घटरूप क्षेत्रके रहने पर ही जल उसे स्पर्शन करता है अतः क्षेत्रसे स्पर्शनका पृथक् कथन नहीं करना चाहिए? **उत्तर**–क्षेत्र शब्द विषयवाची है जैसे राजा जनपदक्षेत्रमें रहता है यहां राजाका विषय जनपद है न कि वह सम्पूर्ण जनपदको स्पर्श करता है परन्तु स्पर्शन सम्पूर्ण विषयक होता है। क्षेत्र वर्तमानवाची है और स्पर्शन त्रिकालगोचर होता है, अर्थात् त्रैकालिक क्षेत्रको स्पर्शन कहते हैं।

§ २० मुख्यकालके अस्तित्वकी सूचना देनेके लिए स्थितिसे पृथक् कालका ग्रहण किया है। व्यवहारकाल पर्याय और पर्यायीकी अवधिका परिच्छेद करता है। सभी पदार्थों के अधिगमके लिए किंचित् विशेषका निरूपण किया गया है।

§ २१ यद्यपि निक्षेपोंमें 'भाव' का निरूपण है किन्तु यहां भावसे औपशमिकादि जीवभावोंके कहनेकी विवक्षा है और वहां सामान्यसे पर्यायनिरूपण की।

§ २२ तत्त्वाधिगमके विभिन्न प्रकारोंका निर्देश शिष्यकी योग्यता अभिप्राय और जिज्ञासाकी शान्तिके लिए किया जाता है। कोई अति संक्षेपमें समझ लेते हैं कोई विस्तारसे और कोई मध्यम रीतिसे। अन्यथा 'प्रमाण' इस संक्षिप्त ग्रहणसे ही सब प्रयोजन सिद्ध हो सकते हैं तो अन्य सभी उपायोंका कथन निरर्थक हो जायगा।

सम्यग्ज्ञानका वर्णन—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥९॥

मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवल ये पांच ज्ञान हैं।

§ १ मत्यावरण कर्मके क्षयोपशम होने पर इन्द्रिय और मनकी सहायतासे अर्थोंका मनन मति है। यह 'मननं मतिः' भावसाधन है। 'मनुते अर्थान् मतिः' यह कर्तृसाधन भी स्वतन्त्र विवक्षामें होता है। 'मन्यते अनेन' यह करण-साधन भी मति शब्द होता है। ज्ञान और आत्माकी भेद-अभेद विवक्षामें तीनों प्रकार बन जाते हैं।

§ २ श्रुत शब्द कर्मसाधन भी होता है। श्रुतावरण कर्मके क्षयोपशम होनेपर जो सुना जाय वह श्रुत। कर्तृसाधनमें श्रुतपरिणत आत्मा श्रुत है। करण विवक्षामें जिससे सुना जाय वह श्रुत है। भावसाधनमें श्रवणक्रिया श्रुत है।

§ ३ अव पूर्वक धा धातुसे कर्म आदि साधनोंमें अवधि शब्द बनता है। 'अव' शब्द 'अधः'वाची है जैसे अधःक्षेपणको अवक्षेपण कहते हैं: अवधिज्ञान भी नीचेकी ओर बहुत पदार्थों को विषय करता है। अथवा, अवधिशब्द मर्यादार्थक है अर्थात् द्रव्यक्षेत्रादिकी मर्यादासे सीमित ज्ञान अवधिज्ञान है। यद्यपि केवलज्ञानके सिवाय सभी ज्ञान सीमित हैं फिर भी रूढ़िवश इसी ज्ञानको अवधिज्ञान-सीमितज्ञान कहते हैं। जैसे गतिशील सभी पदार्थ हैं पर गाय ही रूढ़िवश गौ (गच्छतीति गौः) कही जाती है।

§ ४ मनःपर्यय-ज्ञानावरणके क्षयोपशम होनेपर दूसरेके मनोगत अर्थको जानना मनःपर्यय है। पर मनोगत अर्थको मन कहते हैं, मनमें रहनेके कारण वह अर्थ मन कहलाता है। अर्थात् मनोविचारका विषय भावघट आदिको विशुद्धिवश जान लेना मनःपर्यय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ ५ प्रश्न–आगममें 'मनसा मनः संपरिचिन्त्य–अर्थात् मनके द्वारा मनको विचारकर' ऐसा कथन है अतः मनोनिमित्त होनेसे इसे मानस मतिज्ञान कहना चाहिए ?

उत्तर–जैसे आकाशमें चन्द्रको देखनेमें आकाशकी साधारण अपेक्षा होती है उसी तरह मनःपर्यय ज्ञानमें मन अपेक्षा मात्र है जैसे मन मतिज्ञानमें कारण होता है उस तरह यहां कारण नहीं है क्योंकि मनःपर्ययमात्र आत्मविशुद्धिजन्य है।

§ ६–७ जिसके लिए बाह्य और आभ्यन्तर विविध प्रकारके तप तपे जाते हैं वह लक्ष्यभूत केवलज्ञान है। जैसे 'केवल अन्न खाता है' यहां केवल शब्द असहाय अर्थमें है अर्थात् असहाय शाक आदि रहित अन्न खाता है उसी तरह केवल अर्थात् क्षायोपशमिक आदि ज्ञानोंकी सहायतासे रहित असहाय केवल ज्ञान है। यह रूढ़ शब्द है।

§ ८–९ जैनमतमें जिस प्रकार ज्ञान करण आदि साधनोंमें निष्पन्न होता है अन्य एकान्तवादियोंके यहां ज्ञानकी करणादि साधनता नहीं बन सकती।

§ १० जो बौद्ध आत्माका ही अस्तित्व नहीं मानते उनके यहां कर्ताका अभाव होनेसे ज्ञानमें 'ज्ञायते अनेन' यह करण प्रयोग नहीं हो सकता। फरसेके प्रयोग करनेवाले देवदत्तके रहनेपर ही फरसा छेदन क्रियाका करण कहा जा सकता है। इसी तरह 'ज्ञातिर्ज्ञानम्' यह भाव साधन भी नहीं बन सकता; क्योंकि भाववान्के अभावमें भावकी सत्ता नहीं रह सकती। 'जानातीति ज्ञानम्' इस तरह ज्ञानको कर्तृसाधन कहना भी उचित नहीं हैं क्योंकि जब सभी पदार्थ निरीह हैं एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखते तब निरीह पदार्थ कर्त्ता कैसे बन सकता है ? फिर, पूर्व और उत्तर पर्यायकी अपेक्षा रखनेवाला पदार्थ कर्ता होता है। क्षणिक ज्ञान तो पूर्वोत्तरकी अपेक्षा नहीं रखता अतः निरपेक्ष होनेके कारण कर्ता नहीं बन सकता। संसारमें करणके व्यापारकी अपेक्षा रखनेवाला पदार्थ कर्ता होता है, पर ज्ञानके लिए कोई अन्य करण तो है ही नहीं अतः वह कर्त्ता नहीं बन सकता। स्वशक्तिको करण कहना तो उचित नहीं है; क्योंकि शक्ति और शक्तिमान्में भेद माननेपर शक्तिमान्की जगह आत्माका अस्तित्व सिद्ध हो जायगा। अभेद माननेपर तो वही कर्तृत्वाभाव नामक दोष आता है। सन्तानकी अपेक्षा पूर्व क्षणको कर्ता और उत्तर क्षणको करण मानकर व्यवस्था बनाना भी उचित नहीं है; क्योंकि सन्तान यदि परमार्थ है, तो आत्माकी सिद्धि हो जाती है। यदि मिथ्या है; तो मृषावाद हो जायगा। सन्तान यदि क्षणोंसे भिन्न है; तो उन क्षणोंसे कोई वास्तविक सम्बन्ध न होनेके कारण वह 'उनकी' सन्तान नहीं कही जा सकती। यदि अभिन्न है तो क्षणोंकी तरह परस्पर निरन्वय रहनेके कारण पूर्वोक्त दोष बने रहेंगे। मन रूप इन्द्रियको करण कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि उसमें वह शक्ति ही नहीं है। "छहों ज्ञानोंके लिए एक क्षण पूर्वका ज्ञान मन होता है" यह उनका सिद्धान्त है। इसीलिए अतीतज्ञान रूप मन इन्द्रिय भी नहीं हो सकता। जो ज्ञान उत्पन्न हो रहा है तत्समकालीनको भी करण नहीं कह सकते; क्योंकि समसमयवालोंमें कार्य कारण व्यवहार नहीं बन सकता जैसे कि एक साथ उत्पन्न होनेवाले दाएं बाएं दो सींगोंमें परस्पर। ज्ञानमें 'ज्ञा–जानना' इस प्रकृतिको छोड़कर अन्य कोई अंश तो है नहीं जो 'जाननेवाला' बनकर कर्ता हो सके। क्षणिकवादीके मतमें कर्तृत्व जब एक क्षणवर्ती है तब वह अनेक क्षणवर्ती 'कर्तृ' शब्दसे कहा ही कैसे जायगा ? 'कर्तृ' शब्द भी जब एकक्षणवर्ती नहीं है तब वाचक कैसे बन सकता है ? सन्तानकी दृष्टिसे वाच्यवाचक सम्बन्ध बनाना भी समुचित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है क्योंकि सन्तान अवास्तविक है। तत्त्वको सर्वथा अवाच्य कहना तो नितान्त अनुचित है क्योंकि अवाच्य पक्षमें उसे 'अवाच्य' शब्दसे भी नहीं कह सकेंगे, अतः तत्त्व प्रतिपत्तिके उपायका भी लोप हो जायगा। किंच, कर्तृसाधन और करणसाधन दोनोंको जाननेवाला एक व्यक्ति ही यह भेद कर सकता है कि 'ज्ञान कर्तृसाधन है, करणसाधन नहीं है' जब क्षणिकवादीके यहाँ प्रत्येक ज्ञान एक अर्थको विषय करनेवाला और क्षणिक है तब निर्णय ही नहीं हो सकेगा। जो व्यक्ति सफेद और कालेको नहीं जानता वह 'यह काला है सफेद नहीं' यह विधिनिषेध कर ही नहीं सकता।

§ ११ आत्माका अस्तित्व मानकर भी यदि उसे निरतिशय अविकारी नित्य माना जाता है तो भी ज्ञानमें करणसाधनता आदि सिद्ध नहीं हो सकते; क्योंकि अपरिणामी आत्मासे ज्ञान आदि परिणामोंका सम्बन्ध ही नहीं बन पाता। जब आत्मा एक स्वतन्त्र पदार्थ है तथा आत्मा इन्द्रिय मन और अर्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न ज्ञान भी स्वतन्त्र; तब ज्ञान आत्माका करण कैसे बन सकता है क्योंकि दोनों निरपेक्ष होनेसे परस्पर सम्बन्धी नहीं हो सकते। जिस प्रकार छेदनेवाले देवदत्तसे करणभूत फरसा कठोर तीक्ष्ण आदि रूपसे अपना पृथक् अस्तित्व रखता है उस तरह ज्ञानका पृथक् सिद्ध कोई स्वरूप उपलब्ध नहीं होता जिससे उसे करण बनाया जाय। फरसा भी तब करण बनता है जब वह देवदत्तकृत ऊपर उठने और नीचे गिरकर लकड़ीके भीतर घुसने रूप व्यापारकी अपेक्षा रखता है, किन्तु ज्ञानमें कर्ताके द्वारा की जानेवाली कोई क्रिया नहीं दिखाई देती जिसकी अपेक्षा रखनेके कारण उसे करण कहा जाय। स्वयं छेदनक्रियामें परिणत देवदत्त अपनी सहायताके लिए फरसेको लेता है और इसीलिए फरसा करण कहलाता है पर यहाँ आत्मा स्वयं ज्ञानक्रिया रूपसे परिणति ही नहीं करता। क्योंकि ज्ञान स्वतन्त्र पदार्थ है। यदि ज्ञान आत्मासे भिन्न है तो आत्मा घटादि पदार्थोंकी तरह अज्ञ अर्थात् ज्ञानशून्य जड़ हो जायगा। दंडेके सम्बन्धसे दंडीकी तरह सम्बन्ध कल्पना उचित नहीं है क्योंकि जब आत्मा स्वयं ज्ञानस्वभाव नहीं है तब ज्ञानका सम्बन्ध आत्मासे ही हो मन या इन्द्रियसे नहीं, यह प्रतिनियम ही नहीं बन सकता। फिर, दण्ड और दण्डी दोनों अपने अपने लक्षणोंसे पृथक् सिद्ध हैं अतः उनका सम्बन्ध तो समझमें आता है पर आत्मासे भिन्न ज्ञानकी या ज्ञानशून्य आत्माकी जब स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं होती तब उनमें दण्डदण्डिकी तरह सम्बन्ध कैसे बन सकता है? ज्ञानके उत्पन्न होने पर भी यदि आत्मामें हिताहित विचाररूप परिणमन नहीं होता तो ज्ञान आत्माका विशेषण कैसे बन सकता है? दो अंधोंके संयोगसे जैसे रूप दर्शनकी शक्ति नहीं आ सकती वैसे ही ज्ञानशून्य आत्मा और ज्ञानके सम्बन्धसे 'ज्ञ' व्यवहार नहीं हो सकेगा।

किंच, यदि 'जिनके द्वारा जाना जाय वह ज्ञान' ऐसा निर्वचन किया जाता है तो इन्द्रिय और मनमें ज्ञानत्वका प्रसंग आता है। क्योंकि इनके द्वारा भी जाना जाता है। किंच, आत्मा सर्वगत होनेसे क्रियाशून्य है और ज्ञान गुण होनेसे क्रियारहित है क्योंकि क्रियावाला द्रव्य ही होता है, अतः दोनों क्रियारहित पदार्थोंमें न तो कर्तृत्व बन सकता है और न करणत्व ही।

सांख्य पुरुषको प्रकृतिसे भिन्न नित्य शुद्ध और निर्विकार कहते हैं। इनके मतमें भी ज्ञान करण नहीं हो सकता। इन्द्रिय मन अहङ्कार और महान् तत्त्वोंके आलोचन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संकल्प अभिमान और अध्यवसायात्मक व्यापाररूप बुद्धि प्रकृतितत्त्व है पुरुष इससे भिन्न नित्य शुद्ध और अविकारी है। बुद्धि ऐसे पुरुषका करण कैसे बन सकती है? क्रिया-परिणत देवदत्तको ही करणकी आवश्यकता लोकमें प्रसिद्ध है।

इसी तरह ज्ञान कर्तृसाधन नहीं बन सकता। करणरूपसे प्रसिद्ध तलवार आदि की तीक्ष्णता आदि गुणोंकी प्रशंसामें 'तलवारने छेद दिया' इस प्रकारका कर्तृत्वधर्मका अध्यारोपण करके कर्तृसाधन प्रयोग होता है किन्तु यहाँ जब ज्ञानकी करणरूपसे सिद्धि ही नहीं है तब इसमें कर्तृत्व धर्मका आरोप करके करण प्रयोग कैसे हो सकता है?

ज्ञान भावसाधन भी नहीं हो सकता। जिन चावल आदि पदार्थोंमें स्वतः विक्रिया-स्वभाव है उन्हींमें पचनक्रिया देखकर 'पचनं पाकः' यह क्रियाप्रधान भावप्रयोग होता है आकाश आदिमें नहीं। अतः परिणमनरहित अविकारी ज्ञानमें क्रियाप्रधान भावप्रयोग नहीं हो सकता। किंच, ज्ञानको प्रमाण माना जाता है। अतः जब तक उससे कोई अन्य अवबोध या फलात्मक ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा तब तक उस ज्ञानका 'ज्ञातिर्ज्ञानम्' ऐसा भावसाधन निर्देश नहीं हो सकता। बौद्धोंका यह कहना उचित नहीं है कि—'अधिगम भिन्न पदार्थ नहीं है अतः फलमें ही प्रमाणताका आरोप कर लेना चाहिए' क्योंकि मुख्य वस्तुके रहनेपर ही अन्यत्र आरोपकल्पना होती है, किन्तु यहां मुख्य प्रमाण पृथक् सिद्ध ही नहीं है। एक ही ज्ञानमें आकार भेदसे प्रमाण-फल भावकी कल्पना भी उचित नहीं है; क्योंकि आकार और आकारवान्‌में भेद और अभेद पक्षमें अनेक दोष आते हैं। निरंश तत्त्वमें आकारभेदकी कल्पना भी उचित नहीं है। ज्ञानवादमें बाह्य वस्तुओंके आकारके अभावमें अन्तरंग ज्ञानमें आकार आ ही नहीं सकता। जैनदर्शनमें प्रत्येक वस्तु अनेक-धर्मात्मक है। अतः पर्यायभेदसे एक ही ज्ञान कर्तृ करण और भाव साधन बन सकता है।

§१२ मति आदि प्रत्येकमें 'ज्ञान'का अन्वय कर लेना चाहिए। 'द्वन्द्व समासमें आदि या अन्तमें प्रयुक्त शब्दका सबके साथ अन्वय होता है' यह व्याकरणशास्त्रका प्रसिद्ध नियम है। 'केवलानि ज्ञानम्'में सामानाधिकरण्य होनेपर भी चूंकि 'ज्ञान' शब्द उपात्तसंख्यक है अतः एकवचन ही रहा है बहुवचन नहीं हुआ।

§१३ मति शब्द घिसंज्ञक है अल्पाक्षर है और मतिज्ञान अल्पविषयक है अतः उसका सर्वप्रथम ग्रहण किया गया है।

§१४–१६ चूंकि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है अतः मतिके बाद श्रुतका ग्रहण किया है। मति और श्रुतका विषय बराबर है और नारद और पर्वतकी तरह दोनों सहभावी हैं अतः दोनोंका पास-पास निर्देश हुआ है।

§१७–२० तीनों प्रत्यक्षोंमें अवधिज्ञान सबसे कम विशुद्धिवाला है अतः इसका सर्व-प्रथम निर्देश है इससे विशुद्धतर होनेके कारण संयमी जीवोंके ही होनेवाले मनःपर्ययका ग्रहण किया है। सबके अन्तमें केवलज्ञानका निर्देश है क्योंकि इससे बड़ा कोई ज्ञान नहीं है। केवल ज्ञान अन्य सब ज्ञानोंको जान सकता है पर केवलज्ञानको जाननेवाला उससे बड़ा दूसरा ज्ञान नहीं है। चूंकि केवलज्ञानके साथ ही निर्वाण होता है न कि क्षायोपशमिक मति आदि ज्ञानोंके साथ। इसलिए भी इसका अन्तमें निर्देश किया है।

§२१–२५ प्रश्न–चूंकि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों सहचारी हैं और एक व्यक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में युगपत् पाए जाते हैं अतः दोनोंमें कोई विशेषता न होनेसे दोनोंको एक ही कहना चाहिए ?

उत्तर–साहचर्य तथा एक व्यक्तिमें दोनोंके युगपत् रहनेसे ही यह सिद्ध होता है कि दोनों जुदे जुदे हैं, क्योंकि दोनों बातें भिन्न सत्तावाले पदार्थोंमें ही होती हैं। मतिपूर्वक श्रुत होता है, इसलिए दोनोंकी कारण-कार्यरूपसे विशेषता सिद्ध है ही।

"कारणके सदृश ही कार्य होता है, चूंकि श्रुत मतिपूर्वक हुआ है अतः उसे भी मतिरूप ही कहना चाहिए। सम्यग्दर्शन होने पर कुमति और कुश्रुतको युगपत् ज्ञानव्यपदेश प्राप्त होता है, अतः दोनों एक ही कहना चाहिए" यह शंका ठीक नहीं है; क्योंकि जिन कारणसदृशत्व और युगपद्वृत्ति हेतुओंसे आप एकत्व सिद्ध करना चाहते हो उन्हींसे उनमें भिन्नता सिद्ध होती है। सादृश्य और युगपद्वृत्ति पृथक्सिद्ध पदार्थोंमें ही होते हैं। यद्यपि मति और श्रुतका विषय समान है परन्तु जाननेके प्रकार जुदा जुदा हैं। विषय एक होनेसे ज्ञानोंमें एकता नहीं हो सकती, अन्यथा एक घटविषयक दर्शन और स्पर्शनमें भी एकत्व हो जायगा।

§ २६–२९ **प्रश्न**–मति और श्रुत दोनों इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होते हैं, मतिकी तरह श्रुत भी वक्ताकी जिह्वा और श्रोताके कान और मनसे उत्पन्न होता है। अतः एक कारणजन्य होनेसे दोनों एक हैं ? **उत्तर**–एककारणता असिद्ध है। वक्ताकी जीभ शब्दोच्चारणमें निमित्त होती है न कि ज्ञानमें। श्रोताका कान भी शब्द प्रत्यक्षरूप मतिज्ञानमें निमित्त होता है न कि अर्थज्ञानमें, अतः श्रुतमें इन्द्रिय और मनोनिमित्तता असिद्ध है। शब्द सुननेके बाद जो मनसे ही अर्थज्ञान होता है वह श्रुत है अतः श्रुत अनिन्द्रियनिमित्तक है। यद्यपि ईहादि ज्ञान भी मनोजन्य होते हैं किन्तु वे मात्र अवग्रहके द्वारा गृहीत ही पदार्थको जानते हैं जब कि श्रुतज्ञान अपूर्व पदार्थको भी विषय करता है। एक घड़ेको इन्द्रिय और मनसे जानकर तज्जातीय विभिन्न देशकालवर्ती घटोंके सम्बन्ध जाति आदिका विचार भी श्रुतसे होता है। श्रुतज्ञान मतिके द्वारा एक जीवको जानकर उसके सम्बन्धके सत् संख्या क्षेत्र आदि अनुयोगोंके द्वारा नानाविध विशेषोंको जानता है। 'सुनकर निश्चय करना श्रुत है' यह तो मतिज्ञानका लक्षण है क्योंकि वह भी शब्दको सुनकर 'यह गोशब्द है' ऐसा निश्चय करता ही है। किन्तु श्रुतज्ञान मन और इन्द्रियके द्वारा गृहीत या अगृहीत पर्यायवाले शब्द या उसके वाच्यार्थको श्रोत्रेन्द्रियके व्यापारके बिना ही नय आदि योजना द्वारा विभिन्न विशेषोंके साथ जानता है।

मति आदि ज्ञान प्रमाण हैं–

तत्प्रमाणे ॥१०॥

मति आदि पाँचों ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे दो प्रमाणोंमें विभाजित हैं।

§ १ प्रमाणशब्द भाव कर्तृ और करण तीनों साधनोंमें निष्पन्न होता है। जब भावकी विवक्षा होती है तो प्रमाको प्रमाण कहते हैं। कर्तृविवक्षामें प्रमातृत्वशक्तिकी मुख्यता होती है और करणविवक्षामें प्रमाता प्रमेय और प्रमाणकी भेदविवक्षा होती है। इनमें विवक्षानुसार अर्थ ग्रहण किया जाता है।

§ २ **प्रश्न**–प्रमाणकी सिद्धि स्वतः होती है या प्रमाणान्तर से ? यदि स्वतः, तो प्रमेयकी सिद्धि भी स्वतः होनी चाहिए। यदि अन्य प्रमाणसे, तो प्रमाणान्तरकी अपेक्षा होनेसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनवस्था दूषण आता है ? इच्छा मात्रसे किसीकी स्वतः सिद्धि और किसीकी परतःसिद्धि माननेमें कोई विशेष हेतु देना चाहिए अन्यथा स्वेच्छाचारित्वका दोष आयगा।

उत्तर–जिस प्रकार दीपक घटादि पदार्थोंके साथ ही साथ स्वस्वरूपका भी प्रकाशक है उसी तरह प्रमाण भी। प्रमाण या दीपकको स्वस्वरूपके प्रकाशनके लिए प्रमाणान्तर या प्रदीपान्तरकी आवश्यकता नहीं होती। जिस प्रकार एक ही प्रदीप 'प्रदीपनं प्रदीपः–प्रदीपन मात्र प्रदीप, प्रदीपयति प्रदीपः–प्रदीपन करनेवाला प्रदीप, प्रदीप्यतेऽनेन–जिसके द्वारा प्रदीपन हो वह प्रदीप' इन तीन साधनोंमें व्यवहृत होता हैं उसमें न तो कोई विरोध ही आता है और न अनवस्था ही; उसी तरह प्रमाणको भी तीनों साधनों में व्यवहार करनेमें कोई विरोध या अनवस्था नहीं है।

§ ३–५ यदि प्रमाण स्वसंवेदी न हो तो परसंवेद्य होनेके कारण वह प्रमाण ही नहीं हो सकता; क्योंकि परसंवेद्य तो प्रमेय होता है। यदि घटज्ञान स्वाकारका परिच्छेदक नहीं है तो घटज्ञान और घट दोनोंमें अन्तर नहीं हो सकेगा क्योंकि दोनोंमें समानरूपसे विषयाकारता ही रहती है। इसी तरह घटज्ञान और घटज्ञानका ज्ञान इन दोनों ज्ञानोंमें अस्वसंवेदन दशामें कोई अन्तर नहीं होगा क्योंकि जैसे घटज्ञानमें विषयाकारता रहेगी वैसे ही घटज्ञानज्ञानमें भी अन्ततः विषयाकारता ही विषय पड़ेगी, स्वाकार नहीं। यदि ज्ञान स्वसंवेदी न हो तो उसे 'ज्ञोऽहम्–में जाननेवाला हूं' यह स्मृति उत्तरकालमें नहीं हो सकेगी। इसी तरह जिस ज्ञानने अपने स्वरूपको नहीं जाना उस ज्ञानके द्वारा ज्ञात अर्थकी स्मृति नहीं हो सकेगी जैसे कि पुरुषान्तरके ज्ञानके द्वारा जाने गए पदार्थों की। पुरुषान्तरके ज्ञेयकी स्मृति हमें इसीलिए नहीं होती कि हम उसके ज्ञानको नहीं जानते। यदि हमारा भी ज्ञान हमें अज्ञात हो तो उस ज्ञानके द्वारा ज्ञात अर्थकी स्मृति हमें स्वयं नहीं हो सकेगी।

§६–७ **प्रश्न**–यदि भावसाधनमें प्रमाको प्रमाण कहा जाता है तो फलका अभाव हो जायगा। प्रमा ही फल होती थी। **उत्तर**–अर्थावबोधमें जो प्रीति होती है वही फल है, कर्ममलिन आत्माको इन्द्रियादिके द्वारा जब अर्थावबोध होता है तो उसे प्रीति होती है, वही प्रमाणका फल है। प्रमाणका मुख्य फल अज्ञाननिवृत्ति है। इसी तरह राग और द्वेषरूप वृत्ति न होकर उपेक्षा भावका होना भी प्रमाणका फल है।

§८–९ **प्रश्न**–प्रमाण शब्दको कर्तृसाधन मानने पर वह प्रमाता रूप हो जाता है, पर, प्रमाता तो आत्मा होता है जो कि गुणी है और प्रमाण तो ज्ञान रूप गुण है, गुण और गुणी तो जुदे होते हैं। कहा भी है कि–"आत्मा मन इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह भिन्न है" अतः प्रमाणशब्दको कर्तृसाधन न मानकर करणसाधन मानना ही उचित है। **उत्तर**–यदि ज्ञानको आत्मासे सर्वथा भिन्न माना जाता है तो आत्मा घटकी तरह अज्ञ–ज्ञानशून्य जड हो जायगा। ज्ञानके सम्बन्धसे 'ज्ञ' कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि अन्धेको जैसे दीपकका संयोग होने पर भी दिखाई नहीं देता यतः वह स्वयं दृष्टिशून्य है उसी तरह ज्ञानस्वभावरहित आत्मामें ज्ञानका सम्बन्ध होनेपर भी ज्ञत्व नहीं आ सकेगा।

§१०–१३ **प्रश्न**–जैसे दीपक जुदा है और घड़ा जुदा, उसी तरह जो प्रमाण है वह प्रमेय नहीं हो सकता और जो प्रमेय है वह प्रमाण नहीं। दोनोंके लक्षण भिन्न भिन्न हैं। **उत्तर**–जिस प्रकार बाह्य प्रमेयोंसे प्रमाण जुदा है उसी तरह उसमें यदि अन्तरङ्ग प्रमेयता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न हो अर्थात् वह स्वयं अपना प्रमेय न बन सकता हो तो अनवस्था दूषण होगा, क्योंकि उसे अपनी सत्ता सिद्ध करनेके लिए द्वितीय प्रमाणकी आवश्यकता होगी और द्वितीय प्रमाणको भी तृतीय प्रमाण की। यदि अनवस्था दूषणके निवारणके लिए ज्ञानको दीपक की तरह स्वपरप्रकाशी अर्थात् स्वप्रमेय माना जाता है तो प्रमाण और प्रमेयके भिन्न होनेका पक्ष समाप्त हो जाता है। वस्तुतः संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिकी भिन्नता होनेसे प्रमाता प्रमाण और प्रमेयमें भिन्नता है तथा पृथक् पृथक् रूपसे अनुपलब्धि होनेके कारण अभिन्नता है। निष्कर्ष यह है कि प्रमेय नियमसे प्रमेय ही है किन्तु प्रमाण प्रमाण भी है और प्रमेय भी।

§ १४ आगे मति और श्रुतका परोक्ष तथा अवधि आदिका प्रत्यक्ष रूपसे वर्णन है, अतः इन्हीं दो भेदोंकी अपेक्षा 'प्रमाणे' यह द्विवचन निर्देश किया गया है।

§ १५ 'तत्' शब्दके द्वारा मति आदि ज्ञानोंमें प्रमाणताका विधान है, ये ही प्रमाण हैं सन्निकर्ष आदि नहीं।

§ १६-२२ सन्निकर्षको प्रमाण और अर्थाधिगमको फल मानने पर सर्वज्ञत्व नहीं बन सकेगा, क्योंकि सकल पदार्थोंसे सन्निकर्ष नहीं बनता। सर्वज्ञके आत्मा मन इन्द्रिय और अर्थ तथा आत्मा मन और अर्थ यह चतुष्टयसन्निकर्ष और त्रयसन्निकर्ष अर्थज्ञानमें कारण नहीं हो सकता; क्योंकि मन और इन्द्रियां एक साथ प्रवृत्ति नहीं करती हैं तथा इनका विषय मर्यादित है। सूक्ष्म व्यवहित और विप्रकृष्ट आदि रूपसे ज्ञेय अनन्त हैं। इनका सन्निकर्ष हुए बिना इनका ज्ञान होगा नहीं, अतः सर्वज्ञत्वका अभाव हो जायगा। आत्माको सर्वगत मानकर सर्वार्थ-सन्निकर्ष कहना उचित नहीं है; क्योंकि आत्माका सर्वगतत्व परीक्षासिद्ध नहीं है। यदि आत्मा सर्वगत है तो उसमें क्रिया न होनेसे पुण्य पाप और पुण्य-पापमूलक संसार तथा संसारोच्छेदरूप मुक्ति आदि नहीं बन सकेंगे। इन्द्रियां तो अचेतन हैं अतः इन्हें संसार और मोक्ष नहीं हो सकता। चक्षु और मन प्राप्यकारी (पदार्थोंसे सन्निकर्ष करके जाननेवाले) नहीं हैं अतः सभी इन्द्रियोंसे सन्निकर्ष भी नहीं होता। जो इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं अर्थात् जिन स्पर्शनादि इन्द्रियोंसे पदार्थका सम्बन्ध होकर ज्ञान होता है उनके द्वारा सदा और पूर्ण रूपसे ग्रहण होना चाहिए; क्योंकि वे सर्वगत आत्माके द्वारा पदार्थोंके प्रत्येक भागसे सम्बन्धको प्राप्त हैं। यदि सन्निकर्षको प्रमाण माना जाता है तो सन्निकर्षके फल अर्थाधिगमको अर्थमें भी होना चाहिए जैसे कि स्त्री और पुरुषके संयोगका फल-सुखानुभव दोनोंका होता है। ऐसी दशामें आत्माकी तरह इन्द्रिय मन और अर्थको भी अर्थज्ञान होना चाहिए। शय्या पर सोनेवाले पुरुषके दृष्टान्तसे केवल पुरुषमें अर्थावबोध सिद्ध करना उचित नहीं है; क्योंकि शय्या अचेतन है वह सुखकी अधिकारिणी नहीं हो सकती। यदि इन्द्रिय मन और अर्थमें अचेतन होनेके कारण सन्निकर्षके फल अर्थावबोधका वारण किया जाता है तो इस युक्तिसे तो आत्मामें भी अर्थावबोध नहीं हो सकेगा, क्योंकि सन्निकर्षवादियोंके मतमें आत्मा भी ज्ञानशून्य है अर्थात् अर्थबोधके पहिले सभी अज्ञ हैं; तब अर्थावबोध आत्मामें ही हो इन्द्रिय मन और अर्थमें नहीं यह नियम कैसे बन सकता है ? ज्ञानका आत्मासे ही सम्बन्ध हो इन्द्रिय आदिसे नहीं इसमें क्या विशेष हेतु है ? 'ज्ञानका समवाय आत्मामें ही होता है अन्यमें नहीं' यह उत्तर भी विवाद रहित नहीं है क्योंकि जब सभी ज्ञानशून्य हैं तब 'आत्मामें ही ज्ञानका समवाय हो अन्यमें नहीं' यही प्रतिनियम नहीं बन सकता। समवाय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक और सर्वगत है और आत्मा आदि सभी समान रूपसे ज्ञानशून्य हैं तब क्या कारण है कि समवाय 'आत्मामें ही ज्ञानका सम्बन्ध कराता है अन्यमें नहीं ?' अत: सन्निकर्षको प्रमाण मानना उचित नहीं है।

परोक्ष ज्ञानका वर्णन–

आद्ये परोक्षम् ॥११॥

आदिके मति और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं।

§ १ आदि शब्द प्रथम प्रकार व्यवस्था समीपता अवयव आदि अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता है फिर भी यहाँ विवक्षासे उसका 'प्रथम' अर्थ लेना चाहिए।

§ २–५ **प्रश्न**–यदि आदि शब्दका 'प्रथम' अर्थ है तो श्रुतका ग्रहण नहीं हो सकेगा क्योंकि सूत्रमें तो मतिका प्रथम निर्देश हुआ है। यह समाधान तो उचित नहीं है कि 'श्रुत अवधिकी अपेक्षा प्रथम है'; क्योंकि इसमें तो केवलज्ञानके सिवाय सभी अपने उत्तर ज्ञानकी अपेक्षा आदि हो सकते हैं। द्विवचनका निर्देश होनेसे श्रुतका ग्रहण करनेमें तो विवाद ही है कि किन दोका ग्रहण करना चाहिए ? **उत्तर**–निकटताके कारण श्रुतका ग्रहण किया जाना चाहिए। द्विवचन निर्देशसे जिस दूसरेका ग्रहण करना है वह प्रथम मतिका समीप–निकट होना चाहिए। समीपताके कारण श्रुतको भी 'आद्य' कह सकते हैं। एक तो सूत्रमें मतिके पास श्रुतका ग्रहण है दूसरे दोनों करीब-करीब समानविषयक और समस्वामिक होनेसे परस्पर निकट हैं।

§ ६–७ उपात्त-इन्द्रियां और मन तथा अनुपात्त-प्रकाश उपदेश आदि 'पर' हैं। परकी प्रधानतासे होनेवाला ज्ञान परोक्ष है। जैसे गतिस्वभाववाले पुरुषका लाठी आदिकी सहायतासे गमन होता है उसी प्रकार ज्ञस्वभाव आत्माको मतिश्रुतावरणका क्षयोपशम होनेपर भी इन्द्रिय और मन रूप परद्वारोंसे ही ज्ञान होता है। यह ज्ञान पराधीन होनेसे परोक्ष है। परोक्षका अर्थ अज्ञान या अनवबोध नहीं है किन्तु पराधीन ज्ञान।

प्रत्यक्ष ज्ञान–

प्रत्यक्षमन्यत् ॥१२॥

अन्य अवधि मन:पर्यय और केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

§ १ इन्द्रिय और मनकी अपेक्षाके बिना व्यभिचाररहित जो साकार ग्रहण होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। 'अतत्' को 'तत्' रूपसे ग्रहण करना व्यभिचार है, प्रत्यक्ष 'तत्' को 'तत्' जानता है अत: अव्यभिचारी है। इस विशेषणसे विभङ्ग-कुअवधिका निराकरण हो जाता है क्योंकि यह मिथ्यादर्शनके उदयसे व्यभिचारी-अन्यथा ग्राहक होता है। आकार अर्थात् विकल्प, जो ज्ञान सविकल्प अर्थात् निश्चयात्मक है वह साकार है। इस विशेषणसे अवधिदर्शन और केवलदर्शनका निराकरण हो जाता है क्योंकि ये अनाकार हैं। इन्द्रिया-निन्द्रियानपेक्ष विशेषण मति और श्रुत ज्ञानकी व्यावृत्ति कर देता है क्योंकि ये ज्ञान इन्द्रियमनोजन्य हैं।

§ २–३ प्रत्यक्ष लक्षणमें कहे गए विशेषण सूत्रसे ही प्रतीत होते हैं, ऊपरसे नहीं मिलाए गए हैं। यथा, 'अक्ष अर्थात् आत्मा, जो ज्ञान प्रक्षीणावरण या क्षयोपशमप्राप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्ममात्रकी अपेक्षासे हो वह प्रत्यक्ष' प्रत्यक्ष शब्दका यह व्युत्पत्त्यर्थ करनेसे इन्द्रिय और मनरूप परकी अपेक्षाकी निवृत्ति हो जाती है । 'ज्ञान'का प्रकरण है, अतः अनाकार दर्शनका व्यवच्छेद हो जाता है । इसी तरह 'सम्यक्' का प्रकरण होनेसे व्यभिचारी ज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है ?

४–५ **प्रश्न**–इन्द्रिय और मन रूप बाह्य और आभ्यन्तर करणोंके बिना ज्ञान का उत्पन्न होना ही असम्भव है। बिना करणके तो कार्य होता ही नहीं है ? **उत्तर**–असमर्थके लिए बसूला करोंत आदि बाह्य साधनोंकी आवश्यकता होती है । जैसे रथ बनानेवाला साधारण रथकार उपकरणोंसे रथ बनाता है किन्तु समर्थ तपस्वी अपने ऋद्धि-बलसे बाह्य बसूला आदि उपकरणोंके बिना संकल्प मात्रसे रथको बना सकता है उसी तरह कर्ममलीमस आत्मा साधारणतया इन्द्रिय और मनके बिना नहीं जान सकता पर वही आत्मा जब ज्ञानावरणका विशेष क्षयोपशम रूप शक्तिवाला हो जाता है या ज्ञानावरणका पूर्ण क्षय कर देता है तब उसे बाह्य करणोंके बिना भी ज्ञान हो जाता है । आत्मा तो सूर्य आदिकी तरह स्वयंप्रकाशी है, इसे प्रकाशनमें परकी अपेक्षा नहीं होती है। आत्मा विशिष्ट क्षयोपशम या आवरणक्षय होनेपर स्वशक्तिसे ही पदार्थोंको जानता है ।

§ ६–८ **प्रश्न**–इन्द्रियव्यापारजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष और इन्द्रिय-व्यापारकी अपेक्षा न रखनेवाले ज्ञानको परोक्ष कहना चाहिए । सभी वादी इसमें प्रायः एकमत हैं। यथा, बौद्ध कल्पनापोढ अर्थात् निर्विकल्प ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं । नाम जाति आदिकी योजना कल्पना कहलाती है। इन्द्रियां चूंकि असाधारण कारण हैं अतः चाक्षुष प्रत्यक्ष रासन प्रत्यक्ष आदि रूपसे इन्द्रियोंके अनुसार प्रत्यक्षका नामकरण हो जाता है। नैयायिक इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न होनेवाले, अव्यपदेश्य-निर्विकल्पक, अव्य-भिचारि और व्यवसायात्मक ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं । सांख्य श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी वृत्ति को प्रत्यक्ष कहते हैं। मीमांसक इन्द्रियोंका सम्प्रयोग होनेपर पुरुषके उत्पन्न होनेवाली बुद्धिको प्रत्यक्ष मानते हैं ।

उत्तर–इन्द्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष माननेसे आप्तके प्रत्यक्ष ज्ञान न हो सकेगा, सर्वज्ञताका लोप हो जायगा, क्योंकि सर्वज्ञ आप्तके इन्द्रियज ज्ञान नहीं होता। आगमसे अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान मानकर सर्वज्ञताका समर्थन करना तो युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि आगम प्रत्यक्षदर्शी वीतराग पुरुषके द्वारा प्रणीत होता है । जब अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है तब अतीन्द्रिय पदार्थोंमें आगमका प्रामाण्य कैसे बन सकता है ? आगमका अपौरुषेयत्व तो असिद्ध है। पुरुष प्रयत्नके बिना उत्पन्न हुआ कोई भी विधायक शब्द प्रमाण नहीं है। हिंसादिका विधान करनेवाला वेद प्रमाण नहीं हो सकता।

§ ९–१० **बौद्ध** का यह कहना भी उचित नहीं है कि–'योगियोंको आगम विकल्पसे शून्य एक अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है, उससे वह समस्त पदार्थोंका ज्ञान करता है। कहा भी है–योगियोंको गुरुनिर्देश अर्थात् आगमोपदेशके बिना पदार्थमात्रका बोध हो जाता है'; क्योंकि इस मतमें प्रत्यक्ष शब्दका अक्ष-इन्द्रियजन्य अर्थ नहीं बनेगा, कारण योगियोंके इन्द्रियां नहीं हैं। अथवा, जब 'स्वहेतु परहेतु उभयहेतु या बिना हेतुके पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकते, सामान्य और विशेषमें एकदेश और सर्वदेश रूपसे वृत्ति माननेपर अनेक दूषण आते हैं' आदि हेतुओंसे पदार्थमात्रका अभाव किया जाता है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानमात्र निरालम्बन है तब योगियोंको सर्वार्थज्ञानकी संभावना ही नहीं की जा सकती। निर्विकल्प पदार्थकी कल्पना न तो युक्तिसंगत ही है और न प्रमाणसिद्ध ही। बौद्धोंके मतमें योगीकी सत्ता भी स्वयं सिद्ध नहीं है, निर्वाणदशामें तो सर्वशून्यता तक स्वीकार की गई है। कहा भी है–'निर्वाण दो प्रकारका है–सोपधिशेष और निरुपधिशेष। सोपधिशेष निर्वाणमें ज्ञाताकी सत्ता रहती है।' परन्तु जिस प्रकारसे वे बाह्य पदार्थोंका अभाव करते हैं उन्हीं युक्तियोंसे अन्तरङ्ग पदार्थ आत्माका भी अभाव हो जायगा।

नैयायिक का यह कहना भी उचित नहीं है कि 'आत्मा इन्द्रियादिसे रहित होकर भी योगजधर्मके प्रसादसे सर्वज्ञ हो सकता है,' क्योंकि निष्क्रिय और नित्य योगीमें जिस प्रकार समस्त क्रियाएँ नहीं होती उसी तरह कोई भी अनुग्रह या विकार भी नहीं हो सकता, वह तो कूटस्थ अपरिणामी नित्य है।

§ ११ **बौद्धों** का प्रत्यक्षका 'कल्पनापोढ' लक्षण भी नहीं बनता; क्योंकि कल्पनापोढ अर्थात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष यदि सर्वथा कल्पनापोढ है, तो 'प्रमाण ज्ञान है, प्रत्यक्ष कल्पनापोढ है' इत्यादि कल्पनाएं भी उसमें नहीं की जा सकेंगी अर्थात् उसके अस्तित्व आदि की भी कल्पना नहीं की जा सकेगी, उसका 'अस्ति' इस प्रकारसे भी सद्भाव-सिद्ध नहीं होगा। यदि उसमें 'अस्ति' 'कल्पनापोढ' इत्यादि कल्पनाओंका सद्भाव माना जाता है तो वह सर्वथा कल्पनापोढ नहीं कहलायगा। यदि कथञ्चित् कल्पनापोढ माना जाता है तब भी स्ववचनव्याघात निश्चित है।

बौद्ध (पूर्वपक्ष)–निर्विकल्पकको हम सर्वथा कल्पनापोढ नहीं कहते। कल्पनापोढ यह विशेषण परमतके निराकरणके लिए है अर्थात् परमतमें नामजाति आदि भेदोंके उपचारको कल्पना कहा है उस कल्पनासे रहित प्रत्यक्ष होता है न कि स्वरूपभूत विकल्पसे भी रहित। कहा भी है–"पाँच विज्ञानधातु सवितर्क और सविचार हैं, वे निरूपण और अनुस्मरण रूप विकल्पोंसे रहित हैं।"

जैन (**उत्तरपक्ष**)–विषयके प्रथम ज्ञानको वितर्क कहते हैं। उसीका बार बार चिन्तन विचार कहलाता है। उसीमें नाम जाति आदिकी दृष्टिसे शब्दयोजनाको निरूपण कहते हैं। पूर्वानुभवके अनुसार स्मरणको अनुस्मरण कहते हैं। ये सभी धर्म क्षणिक निरन्वय विनाशी इन्द्रियविषय और ज्ञानोंमें नहीं बन सकते क्योंकि दोनोंकी एक साथ उत्पत्ति होती है और क्षणिक हैं। गायके एक साथ उत्पन्न होनेवाले दोनों सींगोंकी तरह इनमें परस्पर कार्यकारणभावमूलक ग्राह्यग्राहकभाव भी नहीं बन सकता। यदि पदार्थ और ज्ञानको क्रमवर्ती मानते हैं तो ज्ञानकालमें पदार्थका तथा पदार्थकालमें ज्ञानका अभाव होनेसे विषयविषयिभाव नहीं बन सकता। मिथ्या सन्तानकी अपेक्षा भी इनमें उक्त धर्मोंका समावेश करना उचित नहीं है। अतः समस्त विकल्पोंकी असम्भवता होनेसे 'यह, निर्विकल्पक है, यह नहीं है' आदि कोई भी विकल्प नहीं हो सकेगा। इस तरह समस्त विकल्पातीत ज्ञानका अभाव ही प्राप्त होता है। ज्ञानमें अनुस्मरण आदि माननेपर तो उस ज्ञानको या ज्ञानाधार आत्माको अनेकक्षणस्थायी मानना होगा, क्योंकि स्मरण स्वयमनुभूत वस्तुका कालान्तरमें होता है, अन्यके द्वारा अनुभूतका अन्यको नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्धोंने–पांच इन्द्रिय और मानस ज्ञानमें एकक्षण पूर्वके ज्ञानको मन कहा है। ऐसे मनसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको मानस प्रत्यक्ष कहना युक्त नहीं हैं; क्योंकि जब मन अतीत होनेसे असत् हो गया तब वह ज्ञानका कारण कैसे हो सकता है ? यदि पूर्वके नाश और उत्तरके उत्पादको एक साथ मानकर कार्यकारण भाव माना जाता है; तो भिन्न सन्तानवर्ती पूर्वोत्तर क्षणोंमें भी कार्यकारणभाव मानना चाहिए। यदि एक सन्तानवर्ती क्षणोंमें किसी शक्ति या योग्यताका अनुगम माना जाता है तो क्षणिकत्वकी प्रतिज्ञा नष्ट होती है।

§ १२ **बौद्धोंने** ज्ञानको अपूर्वार्थग्राही माना है। उनका यह मत भी युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि सभी ज्ञान प्रमाण हो सकते हैं। जैसे दीपक प्रथमक्षणमें अन्धकारमग्न पदार्थोंको प्रकाशित करता है और उत्तरकालमें भी वह प्रकाशक बना रहता है कभी भी अप्रकाशक नहीं होता उसी तरह ज्ञान भी प्रतिसमय प्रमाण रहता है चाहे वह गृहीतको जाने या अगृहीतको। यदि प्रतिक्षण परिवर्तनके आधारसे प्रदीपमें प्रतिक्षण नूतन प्रकाशकत्व माना जाता है और इसी तरह ज्ञानको भी प्रतिक्षण अपूर्वका प्रकाशक बनाया जाता है "तो स्मृति इच्छा और द्वेष आदिकी तरह पूर्वपूर्व पदार्थोंका जाननेवाला ज्ञान प्रमाण नहीं है" यह बौद्ध ग्रन्थका वाक्य खंडित हो जाता है; क्योंकि प्रतिक्षण परिवर्तनके अनुसार कोई भी ज्ञान गृहीतग्राही हो ही नहीं सकता।

१३–१४ ज्ञानद्वैतवादी बौद्धोंके मतसे ज्ञान विषयाकार भी होता है और स्वाकार भी। ये उभयाभास ज्ञानके स्वसंवेदनको प्रमाणका फल मानते हैं। उनका स्वसंवेदनको फल मानना उचित नहीं है क्योंकि फल चूँकि कार्य है अतः उसे भिन्न होना ही चाहिए जैसे कि छेदन क्रिया छेदनेवाले और छिदे जानेवालेसे भिन्न होती है। यह समाधान भी उचित नहीं है कि 'अधिगमरूप फलमें ही व्यापाररूप प्रमाणताका उपचार करके एक ही अधिगमको प्रमाण और फल कह देते हैं'; क्योंकि उपचार तब होता है जब मुख्य वस्तु स्वतन्त्र भावसे प्रसिद्ध है। जैसे सिंह अपने शूरत्व-क्रूरत्व आदि गुणोंसे प्रसिद्ध है, तभी उसका सादृश्यसे बालकमें उपचार किया जाता है, पर यहां जब मुख्य प्रमाण ही प्रसिद्ध नहीं है तब फलमें उसके उपचारकी कल्पना ही नहीं हो सकती।

§ १५ एक ही ज्ञानमें ग्राहकाकार विषयाकार और संवेदनाकार इन तीन आकारोंको मानकर प्रमाण-फलव्यवस्था बनाना उचित नहीं है; क्योंकि इस कल्पनामें एकान्तवादका निराकरण होकर अनेकान्तवादकी स्थापना हो जाती है। एक वस्तु अनेकधर्मवाली होती है यह तो जैनेन्द्रका अनेकान्त सिद्धान्त है। यदि एक ज्ञानमें अनेकाकारता हो सकती है तो जगत्के प्रत्येक पदार्थको अनेकधर्मात्मक माननेमें क्या बाधा है ? यदि अनेकान्तात्मक द्रव्यसिद्धिके भयसे केवल आकार ही आकार मानते हैं तो यह प्रश्न होता है कि 'वे आकार किसके हैं ?' निराश्रय आकार तो रह नहीं सकते। अतः उनका अभाव ही हो जायगा। वे आकार यदि युगपत् उत्पन्न होते हैं तो उनमें कार्यकारणभाव नहीं बन सकेगा। क्षणिक आकारोंकी क्रमिक उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। यदि हो; तो 'अधिगम भिन्न पदार्थ नहीं है अर्थात् आकाररूप ही है' यह सिद्धान्त खण्डित हो जाता है क्योंकि क्रमिक उत्पत्तिमें अधिगमकी भी किसी क्षणमें स्वतन्त्र उत्पत्ति माननी पड़ेगी। यदि बाह्य पदार्थोंकी सत्ता नहीं है और केवल ज्ञानमात्र ही सत् है; प्रमाण और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और प्रमाणाभासकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी क्योंकि अन्तरंग आकारमें तो कोई भेद नहीं होता। जो 'असत्'को 'सत्' जाने वह प्रमाणाभास और जो 'असत्' ही है यह जाने वह प्रमाण–इस प्रकारकी प्रमाण-प्रमाणाभास व्यवस्था माननेपर स्वलक्षण और सामान्यलक्षण इन दो प्रमेयोंसे प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणोंका नियम करना असङ्गत हो जायगा; क्योंकि यह नियम प्रमेयकी सत्ता स्वीकार करके किया गया है। 'प्रत्यक्ष स्वलक्षण-को विषय करता है, असाधारण वस्तु स्वलक्षण है, वह विकल्पातीत है, इसीका 'यह वह' इत्यादिरूपसे व्यवहारमें निर्देश होता है, सामान्य अनुमानका विषय होता है' आदि व्याख्याएँ सर्वाभाववादमें नहीं बन सकतीं। सर्वाभाववादमें किसी भी भेदकी संभावना ही नहीं की जा सकती। सम्बन्धियोंके भेदसे अभावमें भेद कहना तो तब उचित है जब सम्बन्धियोंकी सत्ता सिद्ध हो।

संवेदनाद्वैतवादीका यह कथन भी उचित नहीं है कि–'सभी ज्ञान निरालम्बन होनेसे अयथार्थ है, निर्विकल्पक स्वज्ञान ही प्रमाण है। शास्त्रोंमें जो प्रमाण प्रमेय आदिकी प्रक्रिया है उसके द्वारा अविद्याका ही विस्तार किया गया है। विद्या तो आगमविकल्पसे परे है, वह स्वयं प्रकाशमान है"; क्योंकि संवेदनाद्वैतकी सिद्धिका कोई उपाय नहीं है। कहा भी है–

"जो संवेदनाद्वैत प्रत्यक्षबुद्धिका विषय नहीं है, जिसका अनुमान अर्थरूप लिंगके द्वारा हो नहीं सकता, और जिसके स्वरूपकी सिद्धि वचनों द्वारा भी नहीं हो सकती उस सर्वथा असिद्ध संवेदनको माननेवालोंकी क्या गति होगी ?" अतः संवेदनाद्वैतवाद त्याज्य है।

मति ज्ञानके प्रकार–

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

मति स्मृति संज्ञा चिन्ता और अभिनिबोध आदि मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होनेके कारण भिन्न नहीं है।

§ १ इति शब्दके अनेक अर्थ होते हैं–यथा 'हन्तीति पलायते–मारा इसलिए भागा' यहाँ इति शब्दका अर्थ हेतु है। 'इति स्म उपाध्यायः कथयति–उपाध्याय इस प्रकार कहता है' यहाँ 'इस प्रकार' अर्थ है। 'गौः अश्वः इति–गाय घोड़ा आदि प्रकार' यहाँ इतिशब्द प्रकारवाची है। 'प्रथममाह्निकमिति, यहाँ इति शब्दका अर्थ समाप्ति है। इसी तरह व्यवस्था अर्थविपर्यास शब्दप्रादुर्भाव आदि अनेक अर्थ हैं। यहाँ विवक्षासे आदि और प्रकार ये दो अर्थ लेने चाहिए। मति स्मृति आदिमें आदि शब्दसे प्रतिभा बुद्धि उपलब्धि आदिका ग्रहण होता है।

§ २ यद्यपि मति आदि शब्दोंमें अर्थभेद है फिर भी रूढ़िवश इन शब्दोंमें एकार्थता है। जैसे कि 'गच्छति गौः' इस प्रकार व्युत्पत्त्यर्थ मान लेने पर भी गौ शब्द सभी चलनेवालोंमें प्रयुक्त न होकर एक पशुविशेषमें रूढ़िके कारण प्रयुक्त होता है। ये सभी मति आदि मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे ही पदार्थबोध कराते हैं अतः इनमें भेद नहीं है।

§ ३–५ **प्रश्न**–जैसे गौ अश्व आदिमें शब्दभेदसे अर्थभेद है उसी तरह मत्यादिमें भी होना चाहिए। **उत्तर**–'शब्द भेदसे अर्थभेद'का नियम संशय उत्पन्न करनेवाला है उससे किसी पक्षविशेषका निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्र शक्र और पुरन्दर आदिमें शब्दभेद होनेपर भी अर्थभेद नहीं देखा जाता। तीनों शब्द एक इन्द्र अर्थके वाचक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। यदि शब्दभेदसे अर्थभेद है तो शब्द-अभेदसे अर्थ-अभेद भी होना चाहिए। फलतः वचन पृथिवी आदि ग्यारह अर्थोमें अभेद हो जाना चाहिए, क्योंकि ये सभी एक 'गो' शब्दके वाच्य हैं। अथवा, जैननयके अनुसार इन शब्दोंमें भेद भी है और अभेद भी। द्रव्यदृष्टिसे जैसे इन्द्रादि शब्द इन्द्र द्रव्यके वाचक होनेसे अभिन्न हैं उसी तरह एक मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न सामान्य मतिज्ञानकी अपेक्षासे अथवा एक आत्मद्रव्यकी दृष्टिसे मत्यादि अभिन्न हैं और तत् तत् पर्यायकी दृष्टिसे भिन्न हैं। इन्दनक्रिया शासनक्रिया आदिसे विशिष्ट इन्द्रादिपर्यायें जैसे भिन्न हैं उसी तरह मनन स्मरण संज्ञान चिन्तन आदि पर्यायें भी भिन्न हैं। यह पर्यायार्थिक नयकी दृष्टि है।

§ ६-७ प्रश्न–जैसे मनुष्य मानव मनुज आदि पर्याय शब्द मनुष्यके लक्षण नहीं हैं उसी तरह मति आदि पर्याय शब्द भी मतिज्ञानके लक्षण नहीं हो सकते। उत्तर–जो पर्याय पर्यायवालेसे अभिन्न होती है वह लक्षण बनती है जैसे उष्ण पर्याय अग्निसे अभिन्न होनेके कारण अग्निका लक्षण बनती ही है। जैसे मनुष्य मानव मनुज आदि शब्द घटादि द्रव्योंसे व्यावृत्त होकर एक सामान्य मनुष्य रूप अर्थके लक्षक होनेसे लक्षण हैं, अन्यथा यदि ये मनुष्य सामान्यका प्रतिपादन न करें तो मनुष्यका अभाव ही हो जायगा उसी प्रकार मति आदि शब्द अभिनिबोधसामान्यात्मक मतिज्ञानके लक्षक होनेसे मतिज्ञानके लक्षण होते हैं। जैसे 'अग्नि कौन ?' यह प्रश्न होनेपर बुद्धि तुरंत दौड़ती है कि 'जो उष्ण', और 'कौन उष्ण' कहनेपर 'जो अग्नि' इस प्रकार गत्वा-प्रत्यागत न्याय (समान प्रश्नोत्तर न्याय) से भी पर्याय शब्द लक्षण बन सकते हैं। मति आदिमें भी यही न्याय समझना चाहिए, यथा– 'मतिज्ञान कौन ?' 'जो स्मृति आदि', 'स्मृति आदि क्या हैं' ? जो 'मतिज्ञान'। इस प्रकार मत्यादि पर्याय शब्दोंके लक्षण बननेमें कोई बाधा नहीं है।

सभी पर्यायें लक्षण नहीं होती किन्तु आत्मभूत अन्तरंग पर्याय ही लक्षण होती है। अग्निका लक्षण उष्णता तो हो सकती है धूम आदि नहीं। उसी तरह मति आदि ज्ञान पर्यायें लक्षण हो सकती हैं न कि मति आदि पुद्गल शब्द आदि बाह्य पदार्थ।

§ ८–१० अथवा, इति शब्द अभिधेयवाची है। अर्थात् मति स्मृति संज्ञा आदिके द्वारा जो अर्थ कहा जाता है वह मतिज्ञान है। मत्यादिके द्वारा श्रुतज्ञान आदिका तो कथन होता ही नहीं है क्योंकि उनके भिन्न भिन्न लक्षण आगे कहे जायँगे।

मतिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण–

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥१४॥

मतिज्ञान इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है।

§ १ इन्द्र अर्थात् आत्मा। कर्ममलीमस आत्मा सावरण होनेसे स्वयं पदार्थोंके ग्रहणमें असमर्थ होता है। उस आत्माको अर्थोपलब्धिमें लिङ्ग अर्थात् द्वार या कारण इन्द्रियाँ होती हैं।

§ २-३ अनिन्द्रिय अर्थात् मन, अन्तःकरण। जैसे अब्राह्मण कहनेसे ब्राह्मणत्व-रहित किसी अन्य पुरुषका ज्ञान होता है वैसे अनिन्द्रिय कहनेसे इन्द्रियरहित किसी अन्य पदार्थका बोध नहीं करना चाहिए; क्योंकि अनिन्द्रियमें जो 'न' है वह 'ईषत् प्रतिषेध'को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहता है। जैसे 'अनुदरा कन्या' कहनेसे 'बिना पेटकी लड़की' न समझकर गर्भ धारण आदिके अयोग्य छोटे पेटवाली लड़कीका ज्ञान होता है उसी तरह अनिन्द्रियसे इन्द्रियत्वका अभाव नहीं होता किन्तु मन, चक्षुरादिकी तरह प्रतिनियत देशवर्ती विषयोंको नहीं जानकर अनियत विषयवाला है अतः वह 'अनिन्द्रिय' पदका वाच्य होता है। मन, गुण दोष विचार आदि अपनी प्रवृत्तिमें इन्द्रियादिकी अपेक्षा नहीं रखता अतः वह अन्तरंग करण होनेसे अन्तःकरण कहा जाता है।

§ ४ यद्यपि मतिज्ञानका प्रकरण होनेसे मतिज्ञानका सम्बन्ध हो ही जाता है अतः इस सूत्रमें 'तत्' शब्दके ग्रहणकी आवश्यकता न थी; फिर भी आगेके सूत्रमें कहे जानेवाले अवग्रहादि भेद मतिज्ञानके हैं यह स्पष्ट बोध करानेके लिए यहाँ 'तत्' शब्दका ग्रहण किया है।

मतिज्ञानके भेद–

अवग्रहेहावायधारणाः ॥१५॥

अवग्रह ईहा अवाय और धारणा ये चार मतिज्ञानके भेद हैं।

§ १ विषय और विषयी-इन्द्रियोंका सन्निपात अर्थात् योग्य देशस्थिति होनेपर दर्शन होता है। इसके बाद जो आद्य अर्थग्रहण है वह अवग्रह कहलाता है।

§ २ अवग्रहके द्वारा 'यह पुरुष है' ऐसा आद्यग्रहण होनेपर पुनः उसकी भाषा उमर रूपादिके द्वारा विशेष जाननेकी ओर झुकना ईहा है।

§ ३ भाषा आदि विशेषोंके द्वारा उसकी उस विशेषताका यथार्थ ज्ञान कर लेना अवाय है जैसे यह दक्षिणी है युवा है या गौर है आदि।

§ ४ निश्चित विशेषकी कालान्तरमें स्मृतिका कारण धारणा होती है।

§ ५ अवग्रह आदि क्रमशः उत्पन्न होते हैं, अतः उनका सूत्रमें क्रमशः ग्रहण किया है।

§ ६–१० **प्रश्न**–जैसे चक्षुके रहते हुए संशय होता है अतः उसे निर्णय नहीं कह सकते उसी तरह अवग्रहके होते हुए ईहा देखी जाती है। ईहा निर्णय रूप तो है नहीं क्योंकि निर्णयके लिए ईहा है न कि स्वयं निर्णयरूप, और जो निर्णयरूप नहीं है वह संशयकी ही कोटिका होता है अतः अवग्रह और ईहाको प्रमाण नहीं कह सकते। जैसे ऊर्ध्वताका आलोचन होनेपर भी स्थाणु और पुरुष कोटिक संशय हो जाता है उसी तरह अवग्रहके द्वारा 'यह पुरुष है' इस ग्रहणमें भी आगेके विशेषोंको लेकर संशय उत्पन्न होता है। अतः अवग्रहमें ईहाकी अपेक्षा होनेसे करीब-करीब संशयरूपता ही है। **उत्तर**–अवग्रह और संशयके लक्षण जल और अग्निकी तरह अत्यन्त भिन्न हैं, अतः दोनों जुदे-जुदे हैं। संशय स्थाणु पुरुष आदि अनेक पदार्थोंमें दोलित रहता है, अनिश्चयात्मक होता है और स्थाणु पुरुष आदिमेंसे किसीका निराकरण नहीं करता जब कि अवग्रह एक ही अर्थको विषय करता है, निश्चयात्मक है और स्वविषयसे भिन्न पदार्थोंका निराकरण करता है। सारांश यह कि संशय निर्णयका विरोधी होता है अवग्रह नहीं। अवग्रहमें भाषा वय रूप आदि सम्बन्धी निश्चय न होनेके कारण उसे संशयतुल्य कहना उचित नहीं है; क्योंकि अवग्रह जितने विशेषको जानता है उतनेका निर्णय ही करता है।

§ ११–१३ निर्णयात्मक न होनेसे ईहाको संशय कहना भी ठीक नहीं है;

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि ईहामें पदार्थ विशेषके निर्णयकी ओर झुकाव होता है जब कि संशयमें किसी एक कोटिकी ओर कोई झुकाव नहीं होता। अवग्रहके द्वारा 'पुरुष' ऐसा निश्चय हो जाने पर 'यह दक्षिणदेशीय है या उत्तर देशीय' यह संशय होता है। इस संशयका उच्छेद करनेके लिए 'दक्षिणी होना चाहिए' इस प्रकारके एककोटिक निर्णयके लिए ईहा होती है। अतः इसे संशय नहीं कह सकते। इसीलिए सूत्रमें संशयका ग्रहण नहीं किया क्योंकि संशयमें किसी अर्थविशेषका ग्रहण नहीं है जब कि ईहामें है।

प्रश्न–अवाय नाम ठीक है या अपाय? **उत्तर**–दोनों ठीक है। जब 'दक्षिणी ही है' यह अवाय निश्चय करता है तब 'उत्तरी नहीं है' यह अपाय-त्याग अर्थात् ही हो जाता है। इसी तरह 'उत्तरी नहीं है' इस प्रकार अपाय-त्याग होनेपर 'दक्षिणी है' यह अवाय-निश्चय हो ही जाता है। अतः एकसे दूसरेका ग्रहण हो जानेसे दोनों ठीक है।

प्रश्न–दर्शन और अवग्रहमें क्या अन्तर है? **उत्तर**–विषय और विषयीके सन्निपात के बाद चक्षुर्दर्शनावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमके अनुसार प्रथम समयमें जो 'यह कुछ है' इस प्रकारका विशेषशून्य निराकार प्रतिभास होता है वह दर्शन कहलाता है। इसके बाद दो दूसरे तीसरे आदि समयोंमें 'यह रूप है' 'यह पुरुष है' आदि रूपसे विशेषांश का निश्चय अवग्रह कहलाता है। अवग्रहमें चक्षुरिन्द्रिय ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमकी अपेक्षा होती है। जातमात्र बालकके भी इसी क्रमसे दर्शन और अवग्रह होते हैं। यदि बालकके प्रथम समयमें होनेवाले सामान्यालोचनको अवग्रहजातीय ज्ञान कहा जाता है तो वह कौन ज्ञान होगा? बालकके प्रथम समय भावी आलोचनको संशय और विपर्यय तो नहीं कह सकते; क्योंकि ये दोनों सम्यग्ज्ञानपूर्वक होते हैं। जिसने पहिले स्थाणु और पुरुषका सम्यग्ज्ञान किया है उसे ही तद्विषयक संशय और विपर्यय हो सकता है। चूंकि प्रश्न प्राथमिक ज्ञानका है अतः उसे संशय और विपर्यय नहीं कहा जा सकता। अनध्यवसाय भी नहीं कह सकते; क्योंकि जन्मान्ध और जन्मबधिरकी तरह रूपमात्र और शब्दमात्रका स्पष्ट बोध हो ही रहा है। सम्यग्ज्ञान भी नहीं कह सकते; क्योंकि किसी अर्थविशेषके आकारका निश्चय नहीं हुआ है। अवग्रह और दर्शनके उत्पादक कारण–ज्ञानावरणका क्षयोपशम और दर्शनावरणका क्षयोपशम चूंकि जुदे जुदे हैं, अतः दोनों घट-पटकी तरह भिन्न हैं। अवग्रहसे पहिले वस्तुमात्रका सामान्यालोचन रूप दर्शन होता है फिर 'रूप है' यह अवग्रह, फिर 'यह शुक्ल है या कृष्ण' यह संशय, फिर 'शुक्ल होना चाहिए' यह ईहा, फिर 'शुक्ल ही है' यह अवाय, तदनन्तर अवायकी दृढ़तम अवस्था धारणा होती है। ज्ञानावरण कर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ असंख्यात लोक प्रमाण हैं जो इस प्रकारके प्रत्येक इन्द्रियजन्य अवग्रहादि ज्ञानोंका आवरण करती हैं। और इनके क्षयोपशमानुसार उक्त ज्ञान प्रकट होते हैं।

प्रश्न–मतिज्ञान तो इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है पर ईहा आदि चूंकि अवग्रह आदिसे उत्पन्न हुए हैं अतः इन्हें मतिज्ञान नहीं कहना चाहिए?

उत्तर–ईहा आदि मनसे उत्पन्न होनेके कारण मतिज्ञान हैं। यद्यपि श्रुतज्ञान भी अनिन्द्रियजन्य होता है पर ईहा आदिमें परम्परया इन्द्रियजनितता भी है क्योंकि इन्द्रियज अवग्रहके बाद ही ईहादि ज्ञान परम्परा चलती है और तब भी इन्द्रिय व्यापार रुकता नहीं है श्रुतकेवल अनिन्द्रिय जन्य है। इसीलिए ईहा आदिमें चक्षुरादि इन्द्रियजन्यताका भी व्यवहार हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवग्रहादि किन अर्थोंके होते हैं ?

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥१६॥

बहु एक बहुविध एकविध क्षिप्र अक्षिप्र अनिःसृत निःसृत अनुक्त उक्त ध्रुव और अध्रुव इन बारह प्रकारके अर्थोंके अवग्रह आदि होते हैं।

§ १ बहु शब्द संख्यावाची भी है और परिमाणवाचक भी। जैसे एक दो बहुत आदि, बहुत दाल बहुत भात आदि।

§ २-८ **प्रश्न**–जब एक ज्ञान एक ही अर्थको ग्रहण करता है तब बहु आदि विषयक अवग्रह नहीं हो सकता ? **उत्तर**–यदि एक ज्ञान एक ही अर्थको विषय करता है तो उससे सदा एक ही प्रत्यय होगा। नगर वन सेना आदि बहुविषयक ज्ञान नहीं हो सकेंगे। नगर आदि संज्ञाएँ और व्यवहार समुदायविषयक हैं। अतः समुदायविषयक समस्त व्यवहारोंका लोप ही हो जायगा। एकार्थग्राहि ज्ञानपक्षमें यदि पूर्वज्ञानके कालमें ही उत्तर ज्ञानकी उत्पत्ति हो जाती है तो 'एक मन होनेसे एक अर्थविषयक ही ज्ञान होता है' इस सिद्धान्तका विरोध हो जायगा। जैसे एक ही मन अनेक ज्ञानोंको उत्पन्न कर सकता है उसी तरह एक ज्ञानको अनेक अर्थोंको विषय करनेवाला माननेमें क्या आपत्ति है ? यदि अनेक ज्ञानोंको एककालीन मानकर अनेकार्थोंकी उपलब्धि एक साथ की जाती है ; तो 'एक का ज्ञान एक ही अर्थको जानता है' इस सिद्धान्तका खंडन हो जायगा। यदि पूर्व ज्ञानके निवृत्त होनेपर उत्तर ज्ञानकी उत्पत्ति मानी जाती है तो सदा एकार्थ विषयक ज्ञानकी सत्ता रहनेसे 'यह इससे छोटा है, बड़ा है' इत्यादि आपेक्षिक व्यवहारोंका लोप हो जायगा। एकार्थग्राहिज्ञानवादमें मध्यमा और प्रदेशिनी अंगुलियोंमें होनेवाले ह्रस्व दीर्घ आदि समस्त आपेक्षिक व्यवहारोंका लोप हो जायगा क्योंकि कोई भी ज्ञान दो को नहीं जानेगा। इस पक्षमें उभयार्थग्राही संशयज्ञान नहीं हो सकेगा क्योंकि स्थाणु विषयक ज्ञान पुरुषको नहीं जानेगा तथा न पुरुष विषयक ज्ञान स्थाणुको। इस वादमें किसी भी इष्ट अर्थकी सम्पूर्ण उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। जैसे कोई चित्रकार पूर्ण कलशका चित्र बना रहा है तो उसके प्रतिक्षणवर्ती ज्ञान पूर्वापरका अनुसन्धान तो कर ही नहीं सकेंगे, ऐसी दशामें पूर्णकलशका परिपूर्ण चित्र नहीं बन सकेगा। इस पक्षमें दो तीन आदि बहुसंख्या-विषयक प्रत्यय नहीं हो सकेंगे ; क्योंकि कोई भी ज्ञान दो तीन आदि समूहोंको जान ही नहीं सकेगा। सन्तान या संस्कारकी कल्पनामें दो प्रश्न होते हैं कि वे ज्ञानजातीय होंगे या अज्ञानजातीय ? अज्ञानजातीयसे तो अपना कोई प्रयोजन सिद्ध होगा ही नहीं। ज्ञानजातीय होकर यदि इनने भी एक ही अर्थको जाना तो समस्त दूषण ज्योंके त्यों बने रहेंगे। यदि अनेकार्थको जानते हैं तो एकार्थवाली प्रतिज्ञा की हानि हो जायगी।

§ ९-१५ विध शब्द प्रकारार्थक है, बहुविध अर्थात् बहुत प्रकारवाले पदार्थ। क्षिप्र अर्थात् शीघ्रतासे। अनिःसृतका अर्थ है वस्तुके कुछ भागोंका दिखना, पूरी वस्तुका न दिखना। अनुक्तका अर्थ है कहनेके बिना ही अभिप्रायसे जान लेना। ध्रुव अर्थात् यथार्थ ग्रहण। सेतरका अर्थ है इनसे उलटे पदार्थ, अर्थात् अल्प अल्पविध चिर निःसृत उक्त और अध्रुव। 'इन सबके अवग्रहादि होते हैं' इस प्रकारका कर्मनिर्देश अवग्रह आदि ज्ञानोंकी अपेक्षा समझना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ १६ बहु आदिका शब्दोंसे निर्देश इसलिए किया है कि इनके ज्ञानमें ज्ञानावरणके क्षयोपशमकी विशुद्धि अत्यधिक अपेक्षित होती है। इन बारह प्रकारके अर्थोंके अवग्रहादि प्रत्येक इन्द्रिय और मनके द्वारा होते हैं। जैसे श्रोत्रेन्द्रियावरण और वीर्यान्तरायका प्रकृष्ट क्षयोपशम होनेपर तदनुकूल अङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे उन उन अङ्ग उपाङ्गोंके सद्भावसे कोई श्रोता एक साथ तत वितत घन सुषिर आदि बहुत शब्दोंको सुनता है। क्षयोपशमादिकी न्यूनतामें एक या अल्प शब्दको सुनता है। प्रकृष्ट क्षयोपशमादिसे ततादि शब्दोंके एक-दो-तीन संख्यात असंख्यात आदि प्रकारोंको ग्रहण कर बहुविध शब्दोंको जानता है। क्षयोपशमादिकी न्यूनतामें एक प्रकारके ही शब्दोंको सुनता है। क्षयोपशम की विशुद्धिमें क्षिप्र-शीघ्रतासे शब्दोंको सुनता है। क्षयोपशमकी न्यूनतामें अक्षिप्र–देरीसे शब्दको सुनता है। क्षयोपशमकी विशुद्धिमें अनिःसृत–पूरे वाक्यका उच्चारण न होनेपर भी उसका ज्ञान कर लेता है। निःसृत अर्थात् पूर्ण रूपसे उच्चारित शब्दका ज्ञान कर लेना। क्षयोपशमकी प्रकृष्टतामें एक भी शब्दका उच्चारण किए बिना अभिप्राय मात्रसे अनुक्त शब्दको जान लेता है। अथवा वीणा आदिके तारों के सम्हालते समय ही यह जान लेना कि 'इसके द्वारा यह राग बजाया जायगा' अनुक्त ज्ञान है। उक्त अर्थात् कहे गये शब्दको जानना। ध्रुव ग्रहणमें जैसा प्रथम समयमें ज्ञान हुआ था आगे भी वैसा ही ज्ञान होता रहता है न कम और न अधिक, परन्तु अध्रुवग्रहणमें क्षयोपशयकी विशुद्धि और अविशुद्धिके अनुसार कम और अधिक रूपसे ज्ञान होता है, कभी बहुत शब्दोंको जानना हो तो कभी एकको, कभी क्षिप्र तो कभी देरीसे, कभी निःसृत तो कभी अनिःसृत आदि।

प्रश्न–बहु और बहुविधमें क्या अन्तर है?

उत्तर–जैसे कोई बहुत शास्त्रोंका सामान्यरूपसे व्याख्यान करता है और दूसरा उन्हीं शास्त्रोंकी अनेकविध व्याख्याएँ करता है, उसी तरह ततादि शब्दोंका सामान्य ग्रहण बहुग्रहण है तथा उन्हींका अनेकगुणी विशेषताओंसे ज्ञान करना बहुविध ग्रहण है।

प्रश्न–उक्त और निःसृतमें क्या विशेषता है?

उत्तर–परोपदेश पूर्वक शब्दोंका ग्रहण उक्त है और अपने आप ज्ञान करना निःसृत है। इसी प्रकार चक्षु इन्द्रियके द्वारा भी बह्वादि बारह प्रकारके अर्थोंका ग्रहण होता है। पंचरंगी साड़ीके एक छोरके रंगोंको देखकर पूरी साड़ीके रंगोंका ज्ञान कर लेना अनिःसृत ग्रहण है। सफेद काले आदि रंगोंके मिश्रणसे जो रंग तैयार होते हैं उनके सम्बन्धमें बिना कहे हुए अभिप्रायमात्रसे यह जान लेना कि 'आप इन दोनों रंगोंके मिश्रणसे यह रंग बनायेंगे' अनुक्त रूप ग्रहण है। अथवा अन्य देशमें रखे हुए पंचरंगे वस्त्रके सम्बन्धमें अभिप्रायमात्रसे यह जान लेना कि आप इन रंगोंका कथन करेंगे अनुक्त ग्रहण है। दूसरेके अभिप्रायके बिना स्वयं अपने क्षयोपशमानुसार रूपको जानना उक्त ग्रहण है। अन्य बहु आदि विकल्पोंकी व्याख्या सरल है। इसी तरह घ्राणादि इन्द्रियोंमें भी लगा लेना चाहिये।

§ १७ **प्रश्न**–स्पर्शन रसना घ्राण और श्रोत्र ये चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी अर्थात् पदार्थोंसे सम्बद्ध होकर ज्ञान करनेवाली हैं अतः इनसे अनिःसृत और अनुक्त ज्ञान नहीं हो सकते?

उत्तर–इन इन्द्रियोंसे किसी न किसी रूपमें पदार्थका सम्बन्ध अवश्य हो जाता है, जैसे कि चींटीको सुदूरवर्ती गुड़ आदिके रस और गन्धका ज्ञान सूक्ष्म परमाणुओंके सम्बन्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से होता है। हमलोगोंको अनिःसृत और अनुक्त अवग्रहादि श्रुतज्ञानकी अपेक्षासे होते हैं क्योंकि इनमें परोपदेश अपेक्षित होता है। शास्त्रमें श्रुतज्ञानके भेदप्रभेदके प्रकरणमें लब्ध्यक्षके चक्षु श्रोत्र घ्राण रसना स्पर्शन और मनके भेदसे छह भेद किये हैं, इसलिए इन लब्ध्यक्षररूप श्रुतज्ञानोंसे उन उन इन्द्रियों द्वारा अनिःसृत और अनुक्त आदिका विशिष्ट अवग्रहादि ज्ञान होता रहता है।

ये बहु आदि भेद पदार्थके हैं—

अर्थस्य ॥१७॥

चक्षु आदि इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थको अर्थ कहते हैं।

§ १ जो बाह्य और आभ्यन्तर निमित्तोंसे समुत्पन्न पर्यायोंका आधार हो वह द्रव्य अर्थ है।

§ २ 'अर्थ'के ग्रहण करनेसे नैयायिकादिके इस कथनका निराकरण हो जाता है कि 'रूपादि गुण ही इन्द्रियोंके द्वारा गृहीत होते हैं'; क्योंकि अमूर्त रूपादि गुणोंका इन्द्रियोंसे सम्बन्ध ही नहीं हो सकता। समुदाय अवस्थामें भी जब गुण अपनी सूक्ष्मता नहीं छोड़ते तब उनका ग्रहण कैसे हो सकता है? चूंकि अर्थसे रूपादि अभिन्न हैं, अतः अर्थके ग्रहण होने पर भी 'रूपको देखा, गन्ध सूंघी' आदि प्रयोग हो जाते हैं।

§ ३-५ **प्रश्न**—इनके होनेपर मतिज्ञान होता है अतः 'अर्थे' ऐसा सप्तम्यन्त सूत्र बनाना चाहिये?

उत्तर—यह कोई एकान्त नियम नहीं है कि अर्थके होनेपर ज्ञान होता ही है। तलघरमें बढ़े हुए बालकको 'घट'के सामने रहनेपर भी घटज्ञान नहीं होता। कारक विवक्षाके अनुसार होता है, अतः अधिकरण विवक्षा न रहनेके कारण सप्तमी न होकर क्रिया-कारक सम्बन्धकी विवक्षामें सम्बन्धार्थक षष्ठीका प्रयोग हुआ है। अवग्रह आदि क्रिया-विशेष बहु आदि रूप अर्थके होते हैं।

§ ६-८ बहु आदिके साथ सामानाधिकरण्य होनेसे 'अर्थानाम्' ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग होना चाहिये?

उत्तर—अवग्रहादिके साथ अर्थका सम्बन्ध किया जाना चाहिये। अवग्रहादि 'किसके' ऐसे प्रश्नका उत्तर है 'अर्थके'। अथवा बहु आदि सभी ज्ञानके विषय होनेके कारण अर्थ हैं, अतः सामान्य दृष्टिसे एकवचन निर्देश कर दिया है। अथवा बहु आदि एक एकसे एकवचन-वाले 'अर्थ'का सम्बन्ध कर लेना चाहिये।

अवग्रहादिकी विशेषता—

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥१८॥

व्यञ्जन—अव्यक्त शब्दादि पदार्थ, अर्थात् जिनका इन्द्रियोंसे सम्बन्ध होकर ज्ञान होता है ऐसे प्राप्त पदार्थ। इनका अवग्रह ही होता है ईहादिक नहीं।

§ १—जैसे 'अपो भक्षयति—पानी पीता है' इस वाक्यमें 'एवकार' न रहनेपर भी 'पानी ही पीता है' ऐसा अवधारणात्मक ज्ञान हो जाता है। उसी तरह सूत्र में एवकार न देनेपर भी 'अवग्रह ही होता है' ऐसा अवधारण समझ लेना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ २ व्यक्त ग्रहण अर्थावग्रह कहलाता है और अव्यक्त ग्रहण व्यञ्जनावग्रह। जैसे नया मिट्टीका सकोरा पानीकी दो तीन बिन्दु डालने तक गीला नहीं होता पर लगातार जलबिन्दुओंके डालते रहनेपर धीरे धीरे गीला हो जाता है उसी तरह व्यक्त ग्रहणके पहिले का अव्यक्तज्ञान व्यञ्जनावग्रह है और व्यक्तग्रहण अर्थावग्रह।

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥

§ १ चक्षु और मनके द्वारा व्यवञ्जनावग्रह नहीं होता क्योंकि चक्षु और मन योग्यदेशमें स्थित पदार्थको सम्बन्ध किये बिना ही ज्ञान करते हैं अतः जो भी ज्ञान होता है वह स्पष्ट ही होता है।

§ २-३ मन अप्राप्त अर्थका विचार करता है यह तो निर्विवाद है और चक्षुकी अप्राप्यकारिता आगम और युक्तिसे सिद्ध है, स्वेच्छासे नहीं। आगममें बताया है कि-शब्द कानसे स्पृष्ट होकर सुना जाता है पर रूप अस्पृष्ट होकर दूरसे ही देखा जाता है। गन्ध रस और स्पर्श इन्द्रियोंसे जब स्पृष्ट होते हैं और विशिष्ट सम्बन्धको प्राप्त होते हैं तब जाने जाते हैं।

युक्तियोंसे भी चक्षुकी अप्राप्यकारिता प्रसिद्ध है। यथा-चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है क्योंकि वह अपनेमें लगे हुए अंजनको नहीं देख पाती। स्पर्शनेन्द्रिय प्राप्यकारी है तो वह अपनेसे छुए हुए किसी भी पदार्थके स्पर्शको जानती ही है। अतः मनकी तरह चक्षु अप्राप्यकारी है। 'चक्षु प्राप्यकारी है क्योंकि वह ढके हुए पदार्थको नहीं देखती जैसे कि स्पर्शनेन्द्रिय' यह पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि चक्षु काँच अभ्रक स्फटिक आदिसे आवृत-ढके हुए पदार्थोंको बराबर देखता है अतः पक्षमें ही अव्यापक होनेसे उक्त हेतु असिद्ध है; जैसे कि वनस्पतिमें चैतन्य सिद्ध करनेके लिए दिया जानेवाला 'स्वाप-सोना' हेतु, क्योंकि किन्हीं वनस्पतियोंमें पत्र-संकोच आदि चिह्नोंसे 'सोना' स्पष्ट जाना जाता है किन्हींका नहीं। चुम्बक तो दूरसे ही लोहेको खींचनेके कारण अप्राप्यकारी है फिर भी वह ढके हुए लोहेको नहीं खींचता अतः संशय भी होता है कि आवृतको न देखनेके कारण चक्षु इन्द्रिय स्पर्शनकी तरह प्राप्यकारी है या चुम्बककी तरह अप्राप्यकारी। भौतिक होनेसे चक्षुको अग्निकी तरह प्राप्यकारी कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि चुम्बक भौतिक होकर भी अप्राप्यकारी है। बाह्येन्द्रिय होनेसे स्पर्शनेन्द्रियकी तरह चक्षुको प्राप्यकारी कहना ठीक नहीं है; क्योंकि बाहिर दिखनेवाली द्रव्येन्द्रिय तो अन्तरंग मुख्य भावेन्द्रियकी सहायक हैं, मात्र उनसे ज्ञान नहीं होता। स्पर्शनेन्द्रिय आदि में भी भीतरी भावेन्द्रिय ही की प्रधानता है। अतः यह हेतु कार्यकारी नहीं है। जिस प्रकार चुम्बक अप्राप्त लोहेको खींचता है परन्तु अतिदूरवर्ती अतीत अनागत या व्यवहित लोहेको नहीं खींचता उसी तरह चक्षु भी न व्यवहितको देखता है और न अतिदूरवर्तीको ही; क्योंकि पदार्थोंकी शक्तियाँ मर्यादित हैं। अप्राप्यकारी माननेपर चक्षुके द्वारा संशय और विपर्ययज्ञानके अभावका दूषण तो प्राप्यकारी मानने पर भी बना रहता है। अतः संशय और विपर्यय तो इन्द्रिय-दोषसे दोनों ही अवस्थाओंमें होते हैं।

'चक्षु चूंकि तेजोद्रव्य है अतः इसके किरणें होती हैं और यह किरणोंके द्वारा पदार्थसे सम्बन्ध करके ही ज्ञान करता है जैसे कि अग्नि।' यह अनुमान ठीक नहीं है; क्योंकि चक्षुको तेजोद्रव्य मानना ही गलत है। अग्नि तो गरम होती है अतः चक्षुइन्द्रियका स्थान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उष्ण होना चाहिए। अग्निकी तरह चक्षुमें चमकदार भासुर रूप भी होना चाहिए। पर न तो चक्षु उष्ण ही है और न भासुररूपवाली ही। अदृष्ट–अर्थात् कर्मके कारण ऐसे तेजोद्रव्य की कल्पना करना 'जिसमें न भासुर रूप हो और न उष्णस्पर्श' उचित नहीं है, क्योंकि अदृष्ट निष्क्रिय गुण है वह पदार्थके स्वाभाविक गुणोंको पलट नहीं सकता। बिल्ली आदि की आखोंको प्रकाशमान देखकर चक्षुको तेजोद्रव्य कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि पार्थिव आदि पुद्गल द्रव्योंमें भी कारणवश चमक उत्पन्न हो जाती है जैसे कि पार्थिवमणि या जलीय बरफ आदि में। जो गतिमान् होता है वह समीपवर्ती और दूरवर्ती पदार्थोंसे एक साथ सम्बन्ध नहीं कर सकता जैसे कि स्पर्शनेन्द्रिय किन्तु चक्षु समीपवर्ती शाखा और दूरवर्ती चन्द्रको एक साथ जानता है, अतः गतिमान्से विलक्षण प्रकारका होनेसे चक्षु अप्राप्यकारी है। यदि चक्षु गतिमान् होकर प्राप्यकारी होता तो अँधियारी रातमें दूरदेशवर्ती प्रकाशको देखनेके समय उसे प्रकाशके पास रखे हुए पदार्थोंका तथा मध्यवर्ती पदार्थोंका ज्ञान भी होना चाहिए था। आपके मतमें जब चक्षु स्वयं प्रकाशरूप है तब अन्य प्रकाशकी आवश्यकता उसे होनी ही नहीं चाहिए। किंच, यदि चक्षु प्राप्यकारी होता तो जैसे शब्द कानके भीतर सुनाई देता है, उसी तरह रूप भी आँखके भीतर ही दिखाई देना चाहिए। आंखके द्वारा जो अन्तरालका ग्रहण और अपनेसे बड़े पदार्थका अधिकरूपमें ग्रहण होता है वह नहीं होना चाहिए। यह मत कि 'इन्द्रियाँ बाहर जाकर पदार्थसे सम्बन्ध करके उन्हें जानती हैं अतः सान्तर और अधिक ग्रहण हो जाता है' ठीक नहीं है; क्योंकि इन्द्रियोंकी बहिर्वृत्ति अप्रसिद्ध है। चिकित्सा आदि तो शरीर देशमें ही किए जाते हैं बाहर नहीं। यदि इन्द्रियां बाहिर जाती हैं तो जिस समय देखना प्रारम्भ हुआ उसी समय आंखकी पलक बन्द कर लेने पर भी दिखाई देना चाहिए। कारण– इन्द्रिय तो बाहर जा चुकी है। फिर, मनसे अधिष्ठित होकर ही इन्द्रियां स्वविषयमें व्यापार करती हैं, पर मन तो अन्तःकरण है, वह तो बाहिर जाकर इन्द्रियोंकी सहायता नहीं कर सकता, शरीर देशमें ही उसकी सहायता संभव है। यदि अणुरूप मन बाहर चला भी गया तो वह फैले हुए आंखोंकी किरणोंका नियन्त्रण कैसे कर सकता है? अतः चक्षु शरीर देशमें रहकर ही योग्यदेशस्थित पदार्थको जानता है।

बौद्ध का मत है कि श्रोत्र भी चक्षुकी तरह अप्राप्यकारी है क्योंकि वह दूरवर्ती शब्दको सुन लेता है। यह मत ठीक नहीं है क्योंकि श्रोत्रका दूरसे शब्दका सुनना असिद्ध है। वह तो नाककी तरह अपने देशमें आये हुए शब्द पुद्गलोंको सुनता है। शब्द वर्गणाएँ कानके भीतर पहुंचकर ही सुनाई देती हैं। यदि कान दूरवर्ती शब्दको सुनता है तो उसे कानके भीतर घुसे हुए मच्छरका भिनभिनाना नहीं सुनाई देना चाहिए क्योंकि कोई भी इन्द्रिय अति निकटवर्ती और दूरवर्ती पदार्थोंको नहीं जान सकती। शब्दको आकाशका गुण मानना तो अत्यन्त असंगत है; क्योंकि अमूर्तद्रव्यके गुण इन्द्रियोंके विषय नहीं हो सकते जैसे कि आत्माके सुखादि गुण। श्रोत्रको प्राप्यकारी मानने पर भी 'अमुक देश अमुक दिशा आदिमें शब्द है' इस प्रकार दिग्देशविशिष्टताके ग्रहणका कोई विरोध नहीं है क्योंकि वेगवान् शब्दपरिणत पुद्गलोंके त्वरित और नियत देशादिसे आनेके कारण उस प्रकारका ज्ञान हो जाता है। शब्द पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म हैं, वे चारों ओर फैलकर श्रोताओंके कानोंमें प्रविष्ट होते हैं। कहीं कहीं प्रतिघात भी प्रतिकूल वायु और दीवाल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदिसे हो जाता है। अतः चक्षु और मनको छोड़कर शेष इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं। इनसे प्रथम व्यञ्जनावग्रह होता है बादमें अर्थावग्रह और चक्षु और मनसे सीधा अर्थावग्रह।

§ ३-७ **प्रश्न**–मन अपने विचारात्मक कार्यमें इन्द्रियान्तरकी सहायता की अपेक्षा नहीं करता अतः उसे चक्षुकी तरह इन्द्रिय ही कहना चाहिए अनिन्द्रिय नहीं ? **उत्तर**–मन चक्षुरादि इन्द्रियोंकी तरह दूसरोंको दिखाई नहीं देता, सूक्ष्म है, वह अन्तरंग करण है अतः उसे अनिन्द्रिय कहते हैं। इस अनुमानसे उसका सद्भाव सिद्ध होता है–चक्षु आदि इन्द्रियोंके समर्थ होने पर भी बाह्य रूपादि पदार्थोंकी उपस्थिति तथा उनके युगपत् जाननेका प्रयोजन रहने पर जिसके न होनेसे युगपत् ज्ञान और क्रियाएं नहीं होतीं वही मन है। मन जिस-जिस इन्द्रियको सहायता करता है उसी उसीके द्वारा क्रमशः ज्ञान और क्रिया होती है। जिसके द्वारा देखे या सुने गये पदार्थका स्मरण होता है वह मन है। स्मरणसे मनका सद्भाव सिद्ध होता है। अप्रत्यक्ष पदार्थोंका ज्ञान अनुमानसे ही किया जाता है जैसे सूर्यकी गति और वनस्पतिके वृद्धि और ह्रास का।

§ ८-९ यद्यपि आत्मा स्वयं समस्त ज्ञान और क्रियाशक्तियोंसे सम्पन्न है फिर भी उसे उन उन ज्ञान आदिके लिए भिन्न भिन्न इन्द्रियोंकी आवश्यकता होती है, जैसे कि अनेक कलाकुशल देवदत्तको चित्र बनाते समय कलम ब्रुश आदि उपकरणोंकी अपेक्षा होती है और अलमारी बनानेके लिए बसूला करोंत आदि उपकरणोंकी। नामकर्मके उदयसे उत्पन्न अङ्ग उपाङ्गोंके कारण इन्द्रियोंका भेद होता है। कान यवनालीके समान, नाक मोतीके समान, जीभ खुरपाके समान, आंख मसूरके समान काले तारेके आकार और स्पर्शनेन्द्रिय सर्वशरीरव्यापी अनेक आकारोंकी है। ये ही इन्द्रियां अपने अपने विषयोंको जाननेमें समर्थ हैं, अन्य नहीं।

द्रव्यकी दृष्टिसे मतिज्ञानी सभी द्रव्योंकी कुछ पर्यायोंको उपदेशसे जानता है। क्षेत्रकी दृष्टिसे उपदेश द्वारा सभी क्षेत्रोंको जानता है। अथवा, आंखका उत्कृष्ट क्षेत्र ४७२६३$\frac{७}{२०}$ योजन है। कानका क्षेत्र १२ योजन, नाक, जीभ और स्पर्शनका ९ योजन है। उपदेशसे सभी काल सभी औदयिक आदि भावोंको मतिज्ञानी जान सकता है। सामान्यसे मतिज्ञान एक है। इन्द्रियज और अनिन्द्रियजके भेदसे २ प्रकारका है। अवग्रह आदिके भेदसे चार प्रकारका है। अवग्रहादि चार छहों इन्द्रियोंसे होते हैं अतः २४ प्रकारका है। चार इन्द्रियोंसे चार व्यञ्जनावग्रह भी होते हैं अतः मिलकर २८ प्रकारका है। इन्हीं अट्ठाईसमें द्रव्य क्षेत्र काल भाव या अवग्रहादि चारको मिलानेसे ३२ प्रकारका हो जाता है। इस तरह इन २४, २८, ३२ प्रकारोंको बहु आदि ६ भेदोंसे गुणा करने पर क्रमशः १४४, १६८, १९२ भेद हो जाते हैं और बहु आदि १२ से गुणा करने पर २८८, ३३६ और ३८४।

व्यञ्जनावग्रहमें भी अव्यक्त रूपसे बहु आदि बारह प्रकारके पदार्थोंका ग्रहण होता है। अनिःसृत ग्रहणमें भी जितने सूक्ष्म पुद्गल प्रकट हैं उनसे अतिरिक्तका ज्ञान भी अव्यक्त रूपसे हो जाता है। उन सूक्ष्म पुद्गलोंका इन्द्रियदेशमें आ जाना ही उनका अव्यक्तग्रहण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुतज्ञानका विवेचन—

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥२०॥

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है और उसके अंगबाह्य अंगप्रविष्ट दो भेद हैं। अंगबाह्यके अनेक भेद हैं और अंगप्रविष्टके बारह भेद।

§ १ जिस प्रकार कुशल शब्दका व्युत्पत्त्यर्थ कुशको काटनेवाला होता है फिर भी रूढ़िसे उसका चतुर अर्थ लिया जाता है उसी तरह श्रुतका व्युत्पत्त्यर्थ 'सुना हुआ' होनेपर भी उसका श्रुतज्ञान रूप ज्ञानविशेष अर्थ लिया जाता है।

§ २ पूर्व अर्थात् कारण, कार्यको पोषण या उसे पूर्ण करनेकी वजहसे कारण पूर्व कहा जाता है।

§ ३-५ **प्रश्न**—जैसे मिट्टीके पिण्डसे बना हुआ घड़ा मिट्टी रूप होता है उसी तरह मतिपूर्वक श्रुत भी मतिरूप ही होना चाहिए अन्यथा उसे मतिपूर्वक नहीं कह सकते।

उत्तर—मतिज्ञान श्रुतज्ञानमें निमित्तमात्र है उपादान नहीं। उपादान तो श्रुतपर्यायसे परिणत होनेवाला आत्मा है। जैसे दंड चक्रादि घड़ेमें निमित्त हैं अतः इनका घटरूप परिणमन नहीं होता और न इनके रहने मात्रसे घटभवनके अयोग्य रेत ही घड़ा बन सकती है किन्तु घट होने लायक मिट्टी ही घड़ा बनती है उसी तरह श्रोत्रेन्द्रियजन्य मतिज्ञानके निमित्त होने मात्रसे श्रुतज्ञान नहीं बनता और न श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे रहित आत्मामें श्रुतज्ञान होता है किन्तु श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे जिसमें श्रुत होनेकी योग्यता है वही आत्मा श्रुतज्ञानरूपसे परिणत होता है। फिर, यह कोई नियम नहीं है कि कारणके समान ही कार्य होना चाहिए। पुद्गलद्रव्यकी दृष्टिसे मिट्टी रूप कारणके समान घड़ा होता है पर पिण्ड और घट पर्यायोंकी अपेक्षा दोनों विलक्षण हैं। यदि कारणके सदृश ही कार्य हो तो घट अवस्थासे भी पिंड शिवक आदि पर्यायें मिलनी चाहिए थीं। जैसे मृत्पिंडमें जल नहीं भर सकते उसी तरह घड़ेमें भी नहीं भरा जाना चाहिए। घटका भी घट रूपसे ही परिणमन होना चाहिए, कपालरूप नहीं, क्योंकि आपके मतसे कारणके सर्वथा सदृश ही कार्यके होनेका नियम है। उसी तरह चैतन्य द्रव्यकी दृष्टिसे मति और श्रुत दोनों एक हैं क्योंकि मति भी ज्ञान है और श्रुत भी ज्ञान है। किन्तु तत्तत् ज्ञान पर्यायोंकी दृष्टिसे दोनों ज्ञान जुदा जुदा हैं।

§ ६ **प्रश्न**—श्रोत्रेन्द्रियजन्य मतिज्ञानसे जो उत्पन्न हो उसे ही श्रुत कहना चाहिए क्योंकि सुनकर जो जाना जाता है वही श्रुत होता है। इस प्रकार चक्षु इन्द्रिय आदिसे श्रुत नहीं हो सकेगा ?

उत्तर—श्रुत शब्द श्रुतज्ञान विशेषमें रूढ़ होनेके कारण सभी मतिज्ञान पूर्वक होनेवाले श्रुतज्ञानोंमें व्याप्त है।

§ ७ **प्रश्न**—जिसका आदि होता है उसका अन्त भी, अतः श्रुतमें अनादिनिधनता नहीं बन सकती। पुरुषकर्तृक होनेके कारण श्रुत अप्रमाण भी होगा ? **उत्तर**—द्रव्यादि सामान्यकी अपेक्षा श्रुत अनादि है, क्योंकि किसी भी पुरुषने किसी नियत समयमें अविद्यमान श्रुतकी उत्पत्ति नहीं देखी। उस उस श्रुत पर्याय की अपेक्षा उसका आदि भी है और अन्त भी। तात्पर्य यह कि श्रुतज्ञान सन्तति की अपेक्षा अनादि है। अपौरुषेयता प्रमाणताका कारण नहीं है अन्यथा चोरी व्यभिचार आदिके उपदेश भी प्रमाण हो जायेंगे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि इनका कोई आदिप्रणेता ज्ञात नहीं है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अनित्य हैं पर इससे उनकी प्रमाणतामें कोई कसर नहीं आती।

§ ८ **प्रश्न**–प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होनेपर एक साथ मत्यज्ञान और श्रुताज्ञानकी निवृत्ति होकर मति और श्रुत उत्पन्न होते हैं अतः श्रुतको मतिपूर्वक नहीं कहना चाहिए ? **उत्तर**–मति और श्रुतमें 'सम्यक्' व्यपदेश युगपत् होता है न कि उत्पत्ति। दोनोंकी उत्पत्ति तो अपने अपने कारणोंसे क्रमशः ही होती है।

§ ९ चूंकि सभी प्राणियोंके अपने अपने श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमके अनुसार श्रुतकी उत्पत्ति होती है अतः मतिपूर्वक होनेपर भी सभीके श्रुतज्ञानोंमें विशेषता बनी रहती है। कारणभेदसे कार्यभेदका नियम सर्वसिद्ध है।

§ १० **प्रश्न**–घट शब्दको सुनकर प्रथम घट अर्थका श्रुतज्ञान हुआ उस श्रुतसे जलधारणादि कार्योंका जो द्वितीय श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है उसे श्रुतपूर्वक श्रुत होनेसे 'मतिपूर्वक' नहीं कह सकते, अतः लक्षण अव्याप्त हो जाता है। इसी तरह धूम अर्थका ज्ञान प्रथम श्रुत हुआ, उससे उत्पन्न होनेवाले अविनाभावी अग्निके ज्ञानमें श्रुतपूर्वक श्रुतत्व होनेसे 'मतिपूर्वक' लक्षण अव्याप्त हो जाता है।

उत्तर–प्रथम श्रुतज्ञानमें मतिजन्य होनेसे 'मतिज्ञानत्व'का उपचार कर लिया जाता है और इस तरह द्वितीय श्रुतमें भी 'मतिपूर्वकत्व' सिद्ध हो जाता है। अथवा, पूर्वशब्द व्यवहित पूर्वको भी कहता है। जैसे 'मथुरासे पटना पूर्वमें है' यहां अनेक नगरोंसे व्यवहित भी पटना पूर्व कहा जाता है उसी तरह साक्षात् या परम्परया मतिपूर्वक ज्ञान श्रुत कहे जाते हैं।

§ ११ भेद शब्दका अन्वय द्वि आदिसे कर लेना चाहिए। अर्थात् दो भेद, अनेक भेद और बारह भेद।

§ १२ श्रुतज्ञानके मूल दो भेद हैं–एक अंगप्रविष्ट और दूसरा अङ्गबाह्य। अङ्गप्रविष्ट आचाराङ्ग आदिके भेदसे बारह प्रकारका है। भगवान् महावीररूपी हिमाचलसे निकली हुई वाग्गंगाके अर्थरूप जलसे जिनका अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल है, उन बुद्धि ऋद्धिके धनी गणधरों द्वारा ग्रन्थरूपमें रचे गये आचाराङ्ग आदि बारह अङ्ग हैं।

आचाराङ्गमें चर्याका विधान आठ शुद्धि, पांच समिति, तीन गुप्ति आदि रूपसे वर्णित है। सूत्रकृताङ्गमें–ज्ञानविनय, क्या कल्प्य है क्या अकल्प्य, छेदोपस्थापना आदि व्यवहारधर्मकी क्रियाओंका निरूपण है। स्थानाङ्गमें एक एक, दो दो आदिके रूपसे अर्थोंका वर्णन है। समवायाङ्गमें सब पदार्थोंकी समानता रूपसे समवायका विचार किया गया है। जैसे धर्म अधर्म लोकाकाश और एक जीवके तुल्य असंख्यात प्रदेश होनेसे इनका द्रव्यरूपसे समवाय कहा जाता है। जम्बूद्वीप सर्वार्थसिद्धि अप्रतिष्ठान नरक नन्दीश्वरद्वीपकी बावड़ी ये सब १ लाख योजन विस्तारवाले होनेसे इनका क्षेत्रकी दृष्टिसे समवाय होता है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दोनों दश कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण होनेसे इनका कालकी दृष्टिसे समवाय है। क्षायिक सम्यक्त्व केवलज्ञान केवलदर्शनयथाख्यातचारित्र ये सब अनन्त विशुद्धिरूपसे भावसमवायवाले हैं। व्याख्याप्रज्ञप्तिमें 'जीव है कि नहीं' आदि साठ हजार प्रश्नोंके उत्तर हैं। ज्ञातृधर्मकथामें अनेक आख्यान और उपाख्यानोंका निरूपण है। उपासकाध्ययनमें श्रावकधर्मका विशेष विवेचन किया गया है। अन्तकृद्दशांगमें प्रत्येक तीर्थङ्करके समयमें होनेवाले उन दश दश अन्तकृत् केवलियोंका वर्णन है जिनने भयङ्कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपसर्गोंको सह कर मुक्ति प्राप्त की। जैसे महावीरके समय नमि मतङ्ग सोमिल रामपुत्र सुदर्शन यमलीक वलीक निष्कम्बल पाल और अम्बष्ठपुत्र ये दश अंतकृत् केवली हुए थे। अथवा इसमें अर्हत् और आचार्यों की विधि तथा सिद्ध होनेवालोंकी अन्तिम विधिका वर्णन है।

अनुत्तरोपपादिकदशाङ्गमें–प्रत्येक तीर्थङ्करके समय होनेवाले उन दस दस मुनियों का वर्णन है जिनने दारुण उपसर्गोंको सहकर विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पांच अनुत्तर विमानोंमें जन्म लिया। महावीरके समय ऋषिदास वान्य सुनक्षत्र कार्तिक नन्दनन्दन शीलभद्र अभय वारिषेण और चिलातपुत्र ये दश मुनि हुए थे। अथवा, इसमें विजय आदि अनुत्तर विमानोंकी आयु विक्रिया क्षेत्र आदिका निरूपण है।

प्रश्नव्याकरणमें युक्ति और नयोंके द्वारा अनेक आक्षेप विक्षेप रूप प्रश्नोंका उत्तर दिया गया है, सभी लौकिक वैदिक अर्थोंका निर्णय किया गया है। विपाकसूत्रमें पुण्य और पापके विपाकका विचार है।

बारहवाँ दृष्टिवाद अंग है। इसमें ३६३ कुवादियोंके मतोंका निरूपण पूर्वक खंडन है। कौत्कल काणेविद्धि कौशिक हरिस्मश्रु मांछपिक रोमश हारीत मुण्ड आश्वलायन आदि क्रियावादियोंके १८० भेद हैं। मरीचिकुमार कपिल उलूक गार्ग्य व्याघ्रभूति वाद्वलि माठर मौद्गलायन आदि अक्रियावादियोंके ८४ प्रकार हैं। साकल्य बाल्कल कुथुमि सात्यमुग्र नारायण कठ माध्यन्दिन मौद पैप्पलाद वादरायण अम्बष्ठि कृदौविकायन वसु जैमिनि आदि अज्ञानवादियोंके ६७ भेद हैं। वशिष्ठ पाराशर जतुकर्णि वाल्मीकि रौमहर्षिणि सत्यदत्त व्यास एलापुत्र औपमन्यव इन्द्रदत्त अयस्थुण आदि वैनयिकोंके ३२ भेद हैं। इस प्रकार कुल ३६३ भेद होते हैं। दृष्टिवादके पाँच भेद हैं–परिकर्म सूत्र प्रथमानुयोग पूर्वगत और चूलिका। पूर्वगतके उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद हैं। उत्पादपूर्वमें जीवपुद्गलादिका जहाँ जब जैसा उत्पाद होता है उस सबका वर्णन है। अग्रायणी पूर्वमें क्रियावाद आदिकी प्रक्रिया और स्वसमयका विषय विवेचित है। वीर्यप्रवादमें छद्मस्थ और केवलीकी शक्ति सुरेन्द्र असुरेन्द्र आदिकी ऋद्धियां नरेन्द्र चक्रवर्ती बलदेव आदिकी सामर्थ्य द्रव्योंके लक्षण आदिका निरूपण है। अस्तिनास्ति प्रवादमें–पांचों अस्तिकायोंका और नयोंका अस्तिनास्ति आदि अनेक पर्यायों द्वारा विवेचन है। ज्ञानप्रवादमें पांचों ज्ञानों और इन्द्रियोंका विभाग आदि निरूपित है।

सत्यप्रवाद पूर्वमें वाग्गुप्ति, वचन संस्कारके कारण, वचन प्रयोग, बारह प्रकारकी भाषाएँ दस प्रकारके सत्य, वक्ताके प्रकार आदिका विस्तारसे विवेचन है। वचन संस्कारके सिर कंठ आदि आठ स्थान हैं। शुभ और अशुभके भेदसे वाक् प्रयोग दो प्रकारका है। अभ्याख्यान कलह आदि रूपसे भाषा बारह प्रकार की है। हिंसादिसे विरक्त मुनि या श्रावकको हिंसादिका दोष लगाना अभ्याख्यान है। कलह–लड़ाई कराना। पीठ पीछे दोष दिखाना पैशुन्य है। चारों पुरुषार्थों से सम्बन्ध रखनेवाला प्रलाप असम्बद्ध भाषा है। शब्दादि विषयोंमें या अमुक देश नगर आदिमें रति उत्पन्न करनेवाली रतिवाक् है। इन्हींमें अरति उत्पन्न करनेवाली अरतिवाक् है। जिसे सुनकर परिग्रहके अर्जन रक्षण आदिमें आसक्ति उत्पन्न हो वह उपधिवाक् है। जिससे व्यापारमें ठगनेको प्रोत्साहन मिले वह निकृतिवाक् है। जिसे सुनकर तपोनिधि या गुणी जीवोंके प्रति अविनयकी प्रेरणा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिले वह अप्रणतिवाक् है। जिससे चोरीमें प्रवृत्ति हो वह मोषवाक् है। सम्यक् मार्गकी प्रवर्तिका सम्यग्दर्शनवाक् है। मिथ्यात्ववर्धिनी मिथ्यावाक् है। 'द्वीन्द्रिय आदि जीव वक्ता हैं' जो शब्दोच्चारण कर सकते हैं। द्रव्य क्षेत्र काल भाव आदिकी दृष्टिसे असत्य अनेक प्रकार का है। सत्यके दस भेद हैं–सचेतन या अचेतन द्रव्यका व्यवहारके लिए इच्छानुसार नाम रखना नाम सत्य है। चित्र आदि तदाकार रूपोंमें उसका व्यवहार करना रूप सत्य है। जुआ आदिमें या शतरंजके मुहरोंमें हाथी घोड़ा आदिकी कल्पना स्थापना सत्य है। औपशमिकादि भावोंकी दृष्टिसे किया जानेवाला व्यवहार प्रतीत्य सत्य है। जो लोकव्यवहार में प्रसिद्ध प्रयोग है उसे संवृति सत्य कहते हैं, जैसे पृथिवी जल आदि अनेक कारणोंसे उत्पन्न भी कमलको पंकज कहना। धूप उबटन आदिमें या कमल मगर हंस सर्वतोभद्र आदि में सचेतन अचेतन द्रव्योंके भाव विधि आकार आदिकी योजना करनेवाले वचन संयोजना सत्य हैं। आर्य और अनार्य रूपमें विभाजित बत्तीस देशोंमें धर्मादिकी प्रवृत्ति करनेवाले वचन जनपदसत्य हैं। ग्राम नगर राज्य गण मत जाति कुल आदि धर्मोंके उपदेशक वचन देशसत्य हैं। संयत या श्रावकको स्वधर्मपालनके लिए 'यह प्रासुक है यह अप्रासुक है' इत्यादि वचन भावसत्य हैं। आगमगम्य पदार्थोंका निरूपण समयसत्य है।

आत्मप्रवादमें आत्मद्रव्यका और छह जीवनिकायोंका अस्ति नास्ति आदि विविध भंगोंसे निरूपण है। कर्मप्रवादमें कर्मोंकी बन्ध उदय उपशम आदि दशाओंका और स्थिति आदिका वर्णन है। प्रत्याख्यानप्रवादमें व्रत नियम प्रतिक्रमण तप आराधना आदि तथा मुनित्वमें कारण द्रव्योंके त्याग आदिका विवेचन है। विद्यानुवादपूर्वमें समस्त विद्याएँ, आठ महानिमित्त, रज्जुराशिविधि, क्षेत्र, श्रेणी, लोकप्रतिष्ठा, समुद्घात आदिका विवेचन है। अंगुष्ठप्रसेना आदि ७०० अल्पविद्याएँ और रोहिणी आदि ५०० महाविद्याएँ होती हैं। अन्तरीक्ष, भूमि, अङ्ग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यञ्जन और छिन्न ये आठ महानिमित्त हैं। क्षेत्र अर्थात् आकाश। कपड़ेके ताने-बानेकी तरह ऊपर-नीचे जो असंख्यात आकाश प्रदेश पंक्तियां हैं उन्हें श्रेणी कहते हैं। अनन्त अलोकाकाशके मध्यमें लोक है। इसमें ऊर्ध्वलोक मृदंगके आकार है। अधोलोक वेत्रासनके आकार तथा मध्यलोक झालरके आकार है। यह लोक तनुवातवलयसे अन्तमें वेष्टित है और चौदह राजू लम्बा है। यह प्रतरंवृत्त है। मेरु पर्वतके नीचे वज्र पृथिवी पर स्थित आठ मध्यप्रदेश लोकमध्य हैं। लोकमध्यसे ऊपर ऐशान स्वर्ग तक १॥ रज्जु, माहेन्द्र स्वर्ग तक ३ रज्जु, ब्रह्मलोक तक ३॥ रज्जु, कापिष्ठ तक ४ रज्जु, महाशुक्र तक ४॥ रज्जु, सहस्रार तक ५ रज्जु, प्राणत तक ५॥ रज्जु, अच्युत तक ६ रज्जु और लोकान्त तक सात रज्जु है। लोकमध्यसे नीचे शर्कराप्रभा तक १ रज्जु, फिर पांचों नरक क्रमशः एक एक राजू हैं। इस प्रकार सातवें नरक तक छह राजू होते हैं। फिर लोकान्त तक एक राजू, इस प्रकार सात राजू हो जाते हैं। घनोदधिवातवलय घनवातवलय और तनुवलय इन तीन वातवलयोंसे यह लोक चारों ओरसे घिरा हुआ है। अधोलोककी दिशा और विदिशामें तीनों वात वलय बीस-बीस हजार योजन मोटे हैं। ऊपर क्रमशः घटकर तीनों वातवलय मध्यलोककी आठों दिशाओंमें ५, ४ और ३ योजन मोटे रह जाते हैं। ऊर्ध्वलोकमें बढ़कर ब्रह्मलोककी आठों दिशाओंमें ७, ५ और ४ योजन मोटे हो जाते हैं। फिर ऊपर क्रमशः घटकर तीनों वलय लोकाग्रमें ५,४ और ३ योजन मोटे रह जाते हैं। ये ऊपर नीचे गोल डंडेके समान हैं। लोकाग्रके ऊपर ये क्रमशः दो गव्यूति, एक कोश और कुछ कम एक कोश प्रमाण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विस्तारवाले हैं। नीचे कलकल पृथ्वीके नीचे क्रमशः ७,५ और ४ योजन विस्तृत हैं। नीचे लोकमूलमें चौड़ाई ७ राजू है। मध्यलोकमें एक राजू, ब्रह्मलोकमें पांच राजू और लोकाग्रमें एक राजू है। लोकमध्यसे एक रज्जु नीचे शर्करा प्रभाके अन्तमें आठों दिशाओंमें चौड़ाई १$\frac{६}{७}$ राजू है, उससे एक रज्जू नीचे वालुकाप्रभाके अन्तमें २$\frac{५}{७}$ राजू, फिर एक राजू नीचे पंक प्रभाके अन्तमें ३$\frac{४}{७}$ राजू, फिर एक राजू नीचे धूमप्रभाके अन्तमें ४$\frac{३}{७}$ राजू, फिर एक राजू नीचे तमःप्रभाके अन्तमें ५$\frac{२}{७}$ राजू, फिर एक राजू नीचे महातमःप्रभाके अन्तमें ६$\frac{१}{७}$ राजू, फिर एक राजू नीचे कलकल पृथ्वीके अन्तमें ७ राजू चौड़ाई है। इसी तरह लोक-मध्यसे एक राजू ऊपर २$\frac{१}{७}$ राजू, फिर एक राजू ऊपर ३$\frac{२}{७}$ राजू, फिर एक राजू ऊपर ४$\frac{३}{७}$ राजू, फिर आधी राजू ऊपर जाने पर ५ राजू विस्तार है। फिर आधी राजू ऊपर जाकर ४$\frac{३}{७}$ राजू, फिर एक राजू ऊपर ३$\frac{२}{७}$ राजू, फिर एक राजू ऊपर २$\frac{१}{७}$ राजू, फिर एक राजू ऊपर लोकान्तमें एक राजू विस्तार है। वेदना आदि निमित्तोंसे कुछ आत्मप्रदेशोंका शरीरसे बाहिर निकलना समुद्घात है; वह सात प्रकारका है—वात पित्तादि विकार-जनित रोग या विषपान आदिकी तीव्र वेदनासे आत्मप्रदेशोंका बाहिर निकलना वेदना समुद्घात है। क्रोधादि कषायोंके निमित्तसे कषाय समुद्घात होता है। उदीरणा या कालक्रमसे होनेवाले मरणके निमित्तसे मारणान्तिक समुद्घात होता है। जीवोंके अनुग्रह और विनाशमें समर्थ तैजस शरीरकी रचनाके लिए तैजस समुद्घात होता है। एकत्व पृथक् आदि नाना प्रकारकी विक्रियाके निमित्तसे वैक्रियिक समुद्घात होता है। अल्पहिंसा और सूक्ष्मार्थ परिज्ञान आदि प्रयोजनोंके लिए आहारक शरीरकी रचनाके निमित्त आहारक समुद्घात होता है। जब वेदनीयकी स्थिति अधिक हो और आयु कर्मकी अल्प तब स्थिति-समीकरणके लिए केवली भगवान् केवलिसमुद्घात करते हैं। जैसे मदिरामें फेन आकर शान्त हो जाता है उसी तरह समुद्घातमें आत्म-प्रदेश बाहिर निकलकर फिर शरीरमें समा जाते हैं। अहारके और मारणान्तिक समुद्घात एक दिशामें होते हैं; क्योंकि आहारक शरीरकी रचनाके समय श्रेणिगति होनेके कारण एक ही दिशामें असंख्य आत्मप्रदेश निकलकर एक अरत्नि प्रमाण आहारक शरीरको बनाते हैं। मारणान्तिकमें जहां नरक आदिमें जीवको मरकर उत्पन्न होना है वहांकी ही दिशामें आत्मप्रदेश निकलते हैं। शेष पांच समुद्घात श्रेणिके अनुसार ऊपर नीचे पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण इन छहों दिशाओंमें होते हैं। वेदना आदि छह समुद्घातोंका काल असंख्यात समय है और केवलि समुद्घातका काल आठ समय है। दण्ड, कवाट, प्रतर, लोकपूरण, फिर प्रतर, कपाट, दंड और स्वशरीर-प्रवेश इस तरह आठ समय होते हैं।

क्रियाविशाल पूर्वमें सूर्य चन्द्र ग्रह नक्षत्र तारागणोंका गमनक्षेत्र, उपपादक्षेत्र, शकुन, चिकित्सा, भूतिकर्म, इन्द्रजाल विद्या, चौंसठ कला, शिल्प, काव्य, गुणदोष, छन्द, क्रिया, क्रियाफलके भोक्ता आदिका विस्तृत विवेचन है।

लोकबिन्दुसारमें आठ व्यवहार, चार बीजराशि परिकर्म आदि गणित तथा समस्त श्रुतसम्पत्तिका विवरण है।

§ १३-१४ गणधरदेवके शिष्य प्रशिष्यों द्वारा अल्पायु-बुद्धिबलवाले प्राणियोंके अनुग्रहके लिए अंगोंके आधारसे रचे गये संक्षिप्त ग्रन्थ अंगबाह्य हैं। कालिक उत्कालिक आदिके भेदसे अंगबाह्य अनेक प्रकारके हैं। स्वाध्यायकालमें जिनके पठन-पाठनका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियम है उन्हें कालिक कहते हैं तथा जिनके पठन-पाठनका कोई नियत समय न हो वे उत्कालिक हैं। उत्तराध्ययन आदि अंगबाह्य ग्रन्थ हैं।

§ १५ अनुमान आदिका स्वप्रतिपत्ति कालमें अनक्षरश्रुतमें अन्तर्भाव होता है तथा परप्रतिपत्ति कालमें अक्षरश्रुत में। इसीलिए इनका पृथक् उपदेश नहीं किया है।

प्रत्यक्षपूर्वक तीन प्रकारका अनुमान होता है–पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। अग्नि और धूमके अविनाभावको जिस व्यक्तिने पहिले ग्रहण कर लिया है उसे पीछे धूमको देखकर अग्निका ज्ञान होना पूर्ववत् अनुमान है। जिसने सींग और सींगवालेके सम्बन्धको देखा है उसे सींगके रूपको देखकर सींगवालेका अनुमान होना शेषवत् है। देवदत्तका देशान्तरमें पहुंचना गमनपूर्वक होता है, यह देखकर सूर्यमें देशान्तर प्राप्तिरूप हेतुसे गतिका अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट है। 'गाय सरीखा गवय होता है' इस उपमान वाक्यको सुनकर जंगलमें गवयको देखकर उससें गवय संज्ञाके सम्बन्धको जान लेना उपमान है। शब्द प्रमाण तो श्रुत है ही। 'भगवान् ऋषभने यह कहा' इत्यादि प्राचीन परम्परागत तथ्य ऐतिह्य प्रमाण है। 'यह आदमी दिनको नहीं खाकर भी जीता है' इस वाक्यको सुनकर अर्थात् ही 'रात्रिको खाता है' इस प्रकार रात्रि भोजनका ज्ञान कर लेना अर्थापत्ति है। 'चार प्रस्थका आढक होता है' इस ज्ञानके होनेपर एक आढकमें दो कुडव (आधा आढक) हैं इस प्रकारकी संभावना संभव प्रमाण है। वनस्पतियोंमें हरा भरापन आदि न दिखनेपर वृष्टिके अभावका ज्ञान करना अभाव प्रमाण है। ये सभी अर्थापत्ति आदि अनुमानमें अन्तर्भूत हैं, अतः अनुमानकी तरह स्वप्रतिपत्तिकालमें अनक्षरश्रुत हैं तथा परप्रतिपत्तिकालमें अक्षरश्रुत।

प्रत्यक्ष दो प्रकार का है देशप्रत्यक्ष और सर्वप्रत्यक्ष। देशप्रत्यक्षके अवधि और मनःपर्यय दो प्रकार हैं और सर्वप्रत्यक्ष एक केवल ज्ञानरूप है। अवधि-ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे द्रव्य-क्षेत्रादिसे मर्यादित रूपीद्रव्यका ज्ञान अवधिज्ञान है। अवधिज्ञान दो प्रकार का है–भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। अथवा देशावधि और सर्वावधि ये दो भेद भी होते हैं। परमावधि सर्वावधि की अपेक्षा न्यून होनेसे देशावधिमें ही गिन ली गई है।

भवप्रत्यय अवधिका स्वरूप–

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥२१॥

भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोंके होता है।

§ १–६ भव अर्थात् आयु और नामकर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाली पर्याय, प्रत्यय अर्थात् निमित्त। भवको निमित्त लेकर जो अवधि ज्ञानावरणके क्षयोपशम पूर्वक ज्ञान होता है वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है। प्रत्यय शब्दके ज्ञान शपथ हेतु आदि अनेक अर्थ हैं, पर यहां 'निमित्त' अर्थकी विवक्षा है। देव और नारकी पर्यायमें जन्म लेते ही अवधि ज्ञानावरण का क्षयोपशम हो जाता है और उससे अवधिज्ञान होता है। जैसे आकाश पक्षीके उड़नेमें निमित्त मात्र है क्योंकि आकाशके रहने पर ही पक्षी उड़ सकता है उसी तरह भव बाह्य निमित्त है। यदि भव ही मुख्य कारण होता तो सभी देव नारकियोंके एक जैसा तुल्य अवधिज्ञान होता पर उनमें अपने अपने क्षयोपशमके अनुसार तारतम्य आगममें स्वीकार किया गया है। जैसे मनुष्य और तिर्यंचोंको अहिंसादिव्रतरूप गुणोंसे अवधिज्ञान होता है

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

उस तरह देवनारकियोंको व्रतादिधारणकी आवश्यकता नहीं होती, उनके तो उस पर्यायके कारण ही क्षयोपशम प्रकट हो जाता है। अतः भव बाह्य निमित्त है। सम्यग्ज्ञानका प्रकरण होनेसे मिथ्यादृष्टि देवनारकियोंके मिथ्या अवधि अर्थात् विभंगावधि होती है इसलिए सभी देवनारकियोंको सामान्यरूपसे अवधिज्ञानका प्रसंग नहीं होता।

§ ७ **प्रश्न**–जीवस्थान आदि आगमोंमें सदादि अनुयोग द्वारोंमें 'नारक' शब्दका ही पहले ग्रहण किया है अतः यहां भी नारक शब्दका ही पहले प्रयोग करना चाहिए? **उत्तर**–देव शब्द अल्पस्वर है और पूज्य है, अतः व्याकरणके नियमानुसार देवशब्दका ही पूर्वप्रयोग उचित है। आगममें तो क्रमसे गतियोंका निरूपण है वहां नियमकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि जुदे जुदे वाक्य हैं।

दस प्रकारके भवनवासियोंका अवधिक्षेत्र जघन्य २५ योजन है। उत्कृष्ट असुर कुमारोंका नीचेकी ओर असंख्यात कोड़ा-कोड़ी योजन और ऊपर ऋतुविमानके ऊपरी भाग तक है। नागकुमार आदि नव भवनवासियोंका उत्कृष्ट नीचेकी तरफ असंख्यात हजार योजन और ऊपर सुमेरु पर्वतके शिखर तक है तथा तिरछा असंख्यात हजार योजन है। आठों प्रकारके व्यन्तरोंका जघन्य २५ योजन उत्कृष्ट नीचे असंख्यात हजार योजन ऊपर अपने विमानके ऊपरी भाग तक और तिरछे असंख्यात कोड़ा कोड़ी योजन है। ज्योतिषियोंका जघन्य नीचेकी ओर संख्यात योजन उत्कृष्ट असंख्यात हजार योजन, ऊपरकी ओर उत्कृष्ट अपने विमानके ऊपरी भाग तक तथा तिरछे असंख्यात कोड़ा कोड़ी योजन है। वैमानिकोंमें सौधर्म और ईशान स्वर्गवासी देवोंके जघन्य अवधि ज्योतिषियोंके उत्कृष्टक्षेत्र प्रमाण है तथा उत्कृष्ट अवधि नीचेकी ओर रत्नप्रभाके अन्तिम पटल तक है। सानत्कुमार और माहेन्द्रमें नीचेकी ओर जघन्य रत्नप्रभाके अन्तिम पटल तक और उत्कृष्ट शर्करा-प्रभाके अन्तिम पटल तक अवधिका क्षेत्र है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लान्तव और कापिष्टमें नीचेकी ओर जघन्य अवधि शर्करा प्रभाका अन्तिम भाग और उत्कृष्ट वालुका प्रभाका अन्तिम भाग है। शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रारमें नीचेकी ओर जघन्य अवधि वालुका प्रभाका अन्तिम भाग और उत्कृष्ट पंकप्रभाका अन्तिम भाग है। आनत प्राणत आरण और अच्युतमें नीचेकी ओर जघन्य अवधि पंकप्रभाका अन्तिम भाग तथा उत्कृष्ट धूमप्रभाका अन्तिम भाग है। नव ग्रैवेयकोंकी जघन्य अवधि धूमप्रभाका अन्तिमभाग और उत्कृष्ट तमःप्रभाका अन्तिम भाग है। नव अनुदिश और पांच अनुत्तर विमानवासियोंकी अवधि लोकनाली पर्यन्त है। सौधर्म आदि अनुत्तर पर्यन्त विमानवासियोंकी अवधि ऊपरकी ओर अपने अपने विमानके ऊपरी भाग तक है। तिरछी असंख्यात कोड़ाकोड़ी योजन है। जिस अवधिज्ञानका जितना क्षेत्र है उतने आकाश प्रदेश प्रमाण काल और द्रव्य होते हैं अर्थात् उतने समय प्रमाण अतीत और अनागतका ज्ञान होता है और उतने भेदवाले अनन्त प्रदेशी पुद्गलस्कन्धोंमें और सकर्मक जीवोंमें ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। भावकी दृष्टिसे अपने विषयभूत पुद्गल स्कन्धोंके रूपादिगुणोंमें और जीवके औदयिक औपशमिक आदि भावोंमें अवधिज्ञानकी प्रवृत्ति होती है।

नारकी जीवोंमें रत्नप्रभामें अवधिक्षेत्र नीचे एक योजन शर्कराप्रभामें ३॥ गव्यूति बालुका प्रभामें ३ गव्यूति, पंक प्रभामें २॥ गव्यूति, धूम प्रभामें २ गव्यूति, तमःप्रभामें १॥ गव्यूति और महातमः प्रभामें एक गव्यूति है। सभी नरकोंमें ऊपरकी ओर अवधिज्ञान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने नरकबिलोंके ऊपरी भाग तक है और तिरछे असंख्यात कोड़ाकोड़ी योजन है।

क्षयोपशमनिमित्तक अवधि–

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥२२॥

अवधिज्ञानावरणके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय आगामीका सदवस्था उपशम और देशघाती प्रकृतिका उदय रूप क्षयोपशमसे होनेवाला अवधिज्ञान शेष अर्थात् मनुष्य और तिर्यंचोंके होता है।

§ १–३ शेष ग्रहणसे देवनारकियोंके अतिरिक्त सभी प्राणिमात्रके अवधिका विधान नहीं समझना चाहिए क्योंकि असंज्ञी और अपर्याप्तकोंमें इसकी शक्ति ही नहीं है। संज्ञी और पर्याप्तकोंमें भी उन्हींके, जिनके सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम हो गया है। यद्यपि सभी अवधि क्षयोपशमनिमित्तक होती है फिर भी विशेष रूपसे क्षयोपशमके ग्रहण करनेसे यह नियम होता है कि मनुष्य और तिर्यंचोंके क्षयोपशम-निमित्तक ही अवधिज्ञान होता है भवप्रत्यय नहीं।

§ ४–अवधिज्ञानके अनुगामी अननुगामी वर्धमान हीयमान अवस्थित और अनवस्थित ये छह भेद हैं। कोई अवधि सूर्यप्रकाशकी तरह पीछे-पीछे भवान्तर तक जाती है। कोई वहीं रुक जाती है जैसे मूर्खका प्रश्न। कोई अवधि सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी विशुद्धिके कारण पत्तोंमें लगी हुई अग्निकी तरह असंख्यातलोक तक बढ़ती है। कोई अवधि ईंधन-रहित अग्निकी तरह अंगुलके असंख्येय भाग तक कम हो जाती है। कोई अवधि ज्योंकी त्यों स्थिर रहती है न कम होती है और न बढ़ती है जैसे कि तिल आदि चिह्न। वायुसे दोलित जलकी लहरोंकी तरह कोई अवधि घटती भी है और बढ़ती भी है।

देशावधि परमावधि और सर्वावधिके भेदसे भी अवधि-ज्ञान तीन प्रकारका है। देशावधि और परमावधिके जघन्य उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट ये तीन प्रकार हैं। सर्वावधि एक ही प्रकारका है। देशावधिका जघन्यक्षेत्र उत्सेधांगुलका असंख्यात भाग है और उत्कृष्ट सर्वलोक। मध्यमक्षेत्र जघन्य और उत्कृष्टके बीचका असंख्यात प्रकारका है। परमावधिका जघन्यक्षेत्र एक प्रदेश अधिक लोक प्रमाण है और उत्कृष्ट असंख्यात लोक प्रमाण है। मध्यके विकल्प अजघन्योत्कृष्ट क्षेत्र हैं। परमावधिके उत्कृष्ट क्षेत्रसे बाहिर असंख्यात लोकक्षेत्र सर्वावधिका है। उपर्युक्त अनुगामी आदि छह भेदोंके साथ प्रतिपाती अर्थात् बिजलीकी चमककी तरह विनाशशील बीचमें ही छूटनेवाला और अप्रतिपाती अर्थात् केवलज्ञान होने तक नहीं छूटनेवाला ये आठों भेद देशावधिके होते हैं। परमावधि हीयमान और प्रतिपाती नहीं होती। सर्वावधिके अवस्थित अनुगामी अननुगामी और अप्रतिपाती ये चार ही भेद होते हैं।

सर्वजघन्य देशावधिका उत्सेधांगुलका असंख्यातवां भाग क्षेत्र, आवलिका असंख्यातवां भाग काल और अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण द्रव्य है, अर्थात् इतने बड़े असंख्यात स्कन्धोंमें ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। स्वविषय स्कन्धके अनेक रूपादि भाव हैं। एक जीवके प्रदेशोत्तर क्षेत्रवृद्धि नहीं होती, नाना जीवोंकी अपेक्षा प्रदेशोत्तर क्षेत्रका विकल्प संभव है। एक जीवके मंडूकप्लुति क्रमसे अंगुलके असंख्येय भाग प्रमाण क्षेत्रवृद्धि होती है–सर्वलोक तक। काल-वृद्धि एक जीव और नाना जीवोंकी अपेक्षा एक समय दो समय आदि आवलिके असंख्यात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाग तक होती है। द्रव्य क्षेत्र और कालकी वृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि संख्यात भागवृद्धि संख्यात गुणवृद्धि और असंख्यात गुणवृद्धि इन चार प्रकारोंसे होती है। भाववृद्धि अनन्त भागवृद्धि और अनन्त गुणवृद्धि मिलाकर छह प्रकारोंसे होती है। हानि भी इसी क्रमसे होती है।

अंगुलके असंख्यात भाग क्षेत्रवाली अवधिका आवलिका संख्यात भाग काल है, अंगुलके असंख्यात भाग आकाश प्रदेश बराबर द्रव्य है, भाव अनन्त असंख्यात या संख्यात रूप है। अंगुल प्रमाणक्षेत्रवाली अवधिका कुछ कम आवलि प्रमाण काल है, द्रव्य और भाव पहिलेकी तरह। अंगुल पृथक्त्व (तीनसे ऊपर ९ से नीचेकी संख्या) क्षेत्रवाली अवधिका आवली प्रमाण काल है। एक हाथ क्षेत्रवाली अवधिका आवलि पृथक्त्व काल है। एक गव्यूति प्रमाण क्षेत्रवाली अवधिका कुछ अधिक उच्छ्वास प्रमाण काल है। योजनमात्र क्षेत्रवाली अवधिका अन्तर्मुहूर्त काल है। पच्चीस योजन क्षेत्रवाली अवधिका कुछ कम एक दिन काल है। भरतक्षेत्र प्रमाणवाली अवधिका आधा माह काल है। जम्बूद्वीप प्रमाण क्षेत्रवाली अवधिका कुछ अधिक एक माह काल है। मनुष्यलोक प्रमाण क्षेत्रवाली अवधिका एक वर्ष काल है। रुचकद्वीप प्रमाण क्षेत्रवाली अवधिका संवत्सर-पृथक्त्व काल है। संख्यात द्वीप समुद्र प्रमाण क्षेत्रवाली अवधिका संख्यात वर्ष काल है। असंख्यात द्वीप समुद्र प्रमाण क्षेत्रवाली अवधिका असंख्यात वर्ष काल है। इस तरह तिर्यंच और मनुष्योंकी मध्य देशावधिके द्रव्यक्षेत्र काल आदि हैं।

तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट देशावधिका क्षेत्र असंख्यात द्वीपसमुद्र, काल असंख्यात वर्ष और तेजःशरीर प्रमाण द्रव्य है, अर्थात् वह असंख्यात द्वीप समुद्र प्रमाण आकाश प्रदेशोंसे परिमित असंख्यात तेजोद्रव्य वर्गणासे रचे गए अनन्त प्रदेशी स्कन्धोंको जानता है। भाव पहिलेकी तरह है। तिर्यंचों और मनुष्योंके जघन्य देशावधि होता है। तिर्यंचोंके केवल देशावधि ही होता है परमावधि और सर्वावधि नहीं।

मनुष्योंकी उत्कृष्ट देशावधिका क्षेत्र असंख्यात द्वीप समुद्र, काल असंख्य वर्ष और द्रव्य कार्मण शरीर प्रमाण है अर्थात् वह असंख्यात द्वीपसमुद्र प्रमाण आकाश प्रदेशोंसे परिमित असंख्यात ज्ञानावरणादि कार्मण द्रव्यकी वर्गणाओंको जानता है। भाव पहिले की तरह है। यह उत्कृष्ट देशावधि संयत मनुष्योंके होती है।

परमावधि–जघन्य परमावधिका क्षेत्र एकप्रदेश अधिक लोकप्रमाण, काल असंख्यात वर्ष, द्रव्य प्रदेशाधिक लोकाकाश प्रमाण और भाव अनन्तादि विकल्पवाला है। इसके बाद नाना जीव या एक जीवके क्षेत्रवृद्धि असंख्यात लोकप्रमाण होगी। असंख्यात अर्थात् आवलिकाके असंख्यात भाग प्रमाण। परमावधिका उत्कृष्ट क्षेत्र अग्नि-जीवोंकी संख्या प्रमाण लोकालोक प्रमाण असंख्यात लोक। परमावधि उत्कृष्ट चारित्रवाले संयतके ही होती है। यह वर्धमान होती है हीयमान नहीं। अप्रतिपाती होती है प्रतिपाती नहीं। अवस्थित होती है। अनवस्थित भी वृद्धिकी ओर होती है हानिकी ओर नहीं। इस पर्यायमें क्षेत्रान्तरमें साथ जानेसे अनुगामी होती है। परलोकमें नहीं जाती इसलिए अननुगामी भी होती है। चरमशरीरीके होनेके कारण परलोक तक जानेका अवसर ही नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वावधि–असंख्यात लोकसे गुणित उत्कृष्ट परमावधिका क्षेत्र सर्वावधिका क्षेत्र है। काल द्रव्य और भाव पहिलेकी तरह। यह सर्वावधि न तो वर्धमान होता है न हीयमान, न अनवस्थित और न प्रतिपाती। केवलज्ञान होने तक अवस्थित है और अप्रतिपाती है। पर्यायान्तरको नहीं जाता इसलिए अननुगामी है। क्षेत्रान्तरको जाता है अतः अनुगामी है।

परमावधिका देशावधिमें अन्तर्भाव करके देशावधि और सर्वावधि ये दो भेद भी अवधिज्ञानके होते हैं।

ऊपर कही गई वृद्धियोंमें जब कालवृद्धि होती है तब चारोंकी वृद्धि निश्चित है पर क्षेत्रवृद्धि होनेपर कालवृद्धि भाज्य है अर्थात् हो भी और न भी हो। भाववृद्धि होनेपर द्रव्यवृद्धि नियत है पर क्षेत्र और कालवृद्धि भाज्य है। यह अवधिज्ञान श्रीवृक्ष स्वस्तिक नन्द्यावर्त आदि शरीरचिह्नोंमेंसे किसी एकसे प्रकट होनेपर एकक्षेत्र और अनेकसे प्रकट होनेपर अनेकक्षेत्र कहा जाता है। इन चिह्नोंकी अपेक्षा रखनेके कारण इसे पराधीन-अतएव परोक्ष नहीं कह सकते; क्योंकि इन्द्रियोंको ही 'पर' कहा गया है जैसा कि गीता-में भी कहा है–"इन्द्रियां पर हैं, इन्द्रियोंसे भी परे मन है, मनसे परे बुद्धि और बुद्धिसे भी परे आत्मा है।" अतः इन्द्रियोंकी अपेक्षा न होनेसे परोक्ष नहीं कह सकते।

मनःपर्ययज्ञानका वर्णन–

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥२३॥

मनःपर्यय ऋजुमति और विपुलमतिके भेदसे दो प्रकारका है। ऋजु अर्थात् सरल और विपुल अर्थात् कुटिल। परकीय मनोगत मन वचन काय सम्बन्धी पदार्थोंको जाननेके कारण मनःपर्यय दो प्रकारका हो जाता है।

§ १-६ वीर्यान्तराय और मनःपर्ययज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर तथा तदनुकूल अङ्ग उपाङ्गोंका निर्माण होनेपर अपने और दूसरेके मनकी अपेक्षासे होनेवाला ज्ञान मनःपर्यय कहलाता है। अपने मनकी अपेक्षा तो इसलिए होती है कि वहांके आत्म-प्रदेशोंमें मनःपर्ययज्ञानावरणका क्षयोपशम होता है। जैसे चक्षुमें अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर चक्षुकी अपेक्षा होने मात्रसे अवधिज्ञानको मतिज्ञान नहीं कहते उसी तरह मनःपर्यय भी मतिज्ञान नहीं है क्योंकि वह इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न नहीं होता। परके मनमें स्थित विचारोंको जानता है अतः आकाशमें चन्द्रको देखनेके लिए जैसे आकाश साधारण-सा निमित्त है वह चन्द्रज्ञानका उत्पादक नहीं है उसी तरह परका मन साधारण-सा आधार है वह मनःपर्ययज्ञानका उत्पादक नहीं है। इसलिए मनःपर्यय मतिज्ञान नहीं हो सकता। इसी तरह धूमसे स्वसम्बन्धी अग्निके ज्ञानकी तरह परकीय मनःसम्बन्धी विचारोंको जाननेके कारण मनःपर्यय ज्ञानको अनुमान नहीं कह सकते; क्योंकि अनुमान या तो इन्द्रियोंसे हेतुको देखकर या परोपदेशसे हेतुको जानकर ही उत्पन्न होता है परन्तु मनःपर्ययमें न तो इन्द्रियोंकी अपेक्षा होती है और न परोपदेश की ही। फिर अनुमान परोक्ष ज्ञान है जब कि मनःपर्यय प्रत्यक्ष। इसमें 'इन्द्रिय मनकी अपेक्षा न करके जो अव्यभिचारी और साकार ग्रहण होता है वह प्रत्यक्ष है' यह प्रत्यक्षका लक्षण पाया जाता है। जैसा कि सूत्रमें बताया है मनःपर्यय दो प्रकारका है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ ७ ऋजुमनस्कृतार्थज्ञ ऋजुवाक्कृतार्थज्ञ और ऋजुकायकृतार्थज्ञ इस प्रकार ऋजुमति तीन प्रकारका है। जैसे किसीने किसी समय सरल मनसे किसी पदार्थका स्पष्ट विचार किया, स्पष्ट वाणीसे कोई विचार व्यक्त किया और शरीरसे इसी प्रकारकी स्पष्ट क्रिया की, कालान्तरमें उसे भूल गया, फिर यदि ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानीसे पूछा जाय कि–'इसने अमुक समयमें क्या सोचा था, क्या कहा था या क्या किया था ?' या न भी पूछा जाय तो भी वह स्पष्ट रूपसे सभी बातोंको प्रत्यक्ष जानकर बता देगा। महाबन्ध शास्त्रमें बताया है कि 'मनसा मनः परिच्छिद्य परेषां संज्ञादीन् विजानाति' अर्थात् मनसे–आत्मासे दूसरेके मनको जानकर उसकी संज्ञा चिन्ता जीवित मरण दुःख लाभालाभको जान लेता है। जैसे मंच पर बैठे हुए लोगोंको उपचारसे मंच कहते हैं उसी तरह मनमें विचारे गये चेतन अचेतन अर्थोंको भी मन कहते हैं। यह स्पष्ट और सरल मनवाले लोगोंकी बातको जानता है, कुटिल मनवालोंकी बातको नहीं। कालसे जघन्यरूपसे अपने या अन्य जीवोंके दो तीन भव और उत्कृष्ट रूपसे सात आठ भवोंको गति आगति अर्थात् जिस भवको छोड़ा और जिसे ग्रहण किया उनकी दो गिनती करके जानता है। क्षेत्रसे जघन्य गव्यूति पृथक्त्वके भीतर और उत्कृष्ट योजनपृथक्त्वके भीतर जानता है।

§ ८ विपुलमति ऋजुके साथ ही साथ कुटिल मन वचन काय सम्बन्धी प्रवृत्तियोंको भी जानता है अतः छह प्रकारका हो जाता है। अर्थात् यह अपने या परके व्यक्त मनसे या अव्यक्त मनसे चिन्तित या अचिन्तित या अर्धचिन्तित सभी प्रकारसे चिन्ता जीवित मरण-सुख दुःख लाभ अलाभ आदिको जानता है। विपुलमति कालसे जघन्यरूपसे सात आठ भव तथा उत्कृष्टरूपसे गत्यागतिकी दृष्टिसे असंख्यात भवोंको जानता है। क्षेत्र जघन्यरूपसे योजनपृथक्त्व है और उत्कृष्ट मानुषोत्तर पर्वतके भीतर है, बाहिर नहीं।

दोनों मनःपर्यय ज्ञानोंकी परस्पर विशेषता–

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥२४॥

ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होनेवाली निर्मलताको विशुद्धि कहते हैं। संयम शिखरसे गिरनेको प्रतिपात कहते हैं। ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती उपशान्तकषायका प्रतिपात होता है बारहवें क्षीणकषायीका नहीं। इन दो दृष्टियोंसे ऋजुमति और विपुलमतिमें विशेषता है अर्थात् विपुलमति विशुद्धतर और अप्रतिपाती होता है।

§ १–२ यद्यपि पहिले सूत्रसे ही विशेषता ज्ञात हो जाती थी फिर भी अन्य रूपसे विशेषता दिखानेके लिए यह सूत्र बनाया है। यदि विशुद्धि और अप्रतिपात मनःपर्ययज्ञान के भेद होते तो समुच्चयार्थक 'च' शब्दका ग्रहण करना उचित था पर ये भेद नहीं हैं। ये तो उनकी परस्पर विशेषता बतानेवाले प्रकार हैं।

सर्वावधिके विषयभूत कार्मणद्रव्यका अनन्तवाँ भाग ऋजुमतिका ज्ञेय होता है, उसका भी अनन्तवाँ भाग सूक्ष्म विपुलमतिका। अतः ऋजुमतिकी अपेक्षा विपुलमति द्रव्य क्षेत्र काल और भाव प्रत्येक दृष्टिसे विशुद्धतर है। विपुलमति अप्रतिपाती होनेके कारण ऋजुमतिसे विशिष्ट है क्योंकि विपुलमतिके स्वामी प्रवर्धमान चारित्रवाले होते हैं जब कि ऋजुमतिके स्वामी हीयमान चारित्रवाले।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवधि और मनःपर्ययकी परस्पर विशेषता—

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥२५॥

विशुद्धि—निर्मलता, क्षेत्र—जहाँके पदार्थोंको जानता है, स्वामी—ज्ञानवाला और विषय अर्थात् ज्ञेय इनसे अवधि और मनःपर्ययमें विशेषता है।

§ १ यद्यपि सर्वावधिज्ञानका अनन्तवाँ भाग मनःपर्ययका विषय होता है अतः अल्प विषय है फिर भी वह उस द्रव्यकी बहुत पर्यायोंको जानता है। जैसे बहुत शास्त्रोंका थोड़ा थोड़ा परिचय रखनेवाले पल्लवग्राही पंडितसे एक शास्त्रके यावत् सूक्ष्म अर्थोंको तलस्पर्शी गंभीर व्याख्याओंसे जाननेवाला प्रगाढ़ विद्वान् विशुद्धतर माना जाता है उसी तरह मनःपर्यय भी सूक्ष्मग्राही होकर भी विशुद्धतर है। क्षेत्रकी अपेक्षा विशेषता बताई जा चुकी है। विषय अभी ही आगे बतायेंगे। मनःपर्ययका स्वामी संयमी मनुष्य ही होता है जब कि अवधिज्ञान चारों गतियोंके जीवोंके होता है। आगममें कहा है कि—'मनःपर्यय मनुष्योंके होता है देव नारकी और तिर्यंचोंके नहीं। मनुष्योंमें भी गर्भजोंके ही होता है सम्मूर्च्छनोंके नहीं। गर्भजोंमें भी कर्मभूमिजोंके होता है अकर्मभूमिजोंके नहीं। कर्मभूमिजोंमें पर्याप्तकोंके, पर्याप्तकोंमें सम्यग्दृष्टियोंके, सम्यग्दृष्टियोंमें पूर्णसंयमियोंके, संयमियोंमें छठवेंसे बारहवें गुणस्थानवालोंके ही, उनमें भी जिनका चारित्र प्रवर्धमान है और जिन्हें कोई ऋद्धि प्राप्त है, उनमें भी किसीको ही होता है सबको नहीं। इस तरह विशिष्ट संयमवालोंके होनेके कारण मनःपर्यय विशिष्ट है।

मति और श्रुतका विषय—

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥२६॥

मति और श्रुत द्रव्योंकी कुछ पर्यायोंको विषय करते हैं।

§ १-२ ऊपरके सूत्रसे 'विषय' शब्दका सम्बन्ध यहां हो जाता है अतः यहां फिर 'विषय' शब्द देनेकी आवश्यकता नहीं है। यद्यपि पूर्वसूत्रमें विषय शब्द अन्यविभक्तिक है फिर भी 'अर्थवशाद् विभक्तिपरिणामः—अर्थात् अर्थके अनुसार विभक्तिका परिणमन हो जाता है' इस नियमके अनुसार यहां अनुकूल विभक्तिका सम्बन्ध कर लेना चाहिए, जैसे कि—'देवदत्तके बड़े-बड़े मकान हैं उसे बुलाओ' यहां 'देवदत्तके' इस षष्ठी विभक्तिवाले देवदत्तका 'उसे' इस द्वितीया विभक्ति रूप परिणमन अर्थके अनुसार हो गया है।

§ ३-४ 'द्रव्येषु' यह बहुवचनान्त प्रयोग सर्वद्रव्योंके संग्रहके लिए है। अर्थात् मति और श्रुत जानते तो सभी द्रव्योंको हैं पर उनकी कुछ ही पर्यायोंको जानते हैं इसीलिए सूत्रमें 'असर्वपर्यायेषु' यह द्रव्योंका विशेषण दे दिया है। मतिज्ञान चक्षुरादि इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है और रूपादिको विषय करता है अतः स्वभावतः वह रूपी द्रव्योंको जानकर भी उनकी कुछ स्थूल पर्यायोंको ही जानेगा। श्रुत भी प्रायः शब्दनिमित्तक होता है और असंख्यात शब्द अनन्त पदार्थोंकी स्थूल पर्यायोंको ही कह सकते हैं सभी पर्यायोंको नहीं। कहा भी है—'शब्दोंके द्वारा प्रज्ञापनीय पदार्थोंसे वचनातीत पदार्थ अनन्तगुने हैं अर्थात् अनन्तवें भाग पदार्थ प्रज्ञापनीय होते हैं और जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ हैं उनके अनन्तवें भाग श्रुत निबद्ध होते हैं।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ ४ धर्म अधर्म आकाशादि अरूपी अतीन्द्रिय पदार्थ भी मानस मतिज्ञानके विषय होते हैं अतः मतिश्रुतमें सर्वद्रव्य विषयता बन जाती है ।

अवधिज्ञानका विषय–

रूपिष्ववधेः ॥२७॥

अवधिज्ञान रूपी पदार्थोंको जानता है ।

§ १–३ रूप शब्दका स्वभाव भी अर्थ है और चक्षुके द्वारा ग्राह्य शुक्ल आदि गुण भी । पर यहां शुक्ल आदि रूप ही ग्रहण करना चाहिए । 'रूपी' में जो मत्वर्थीय प्रत्यय है उसका 'नित्ययोग' अर्थ लेना चाहिए अर्थात् क्षीरी–सदा दूधवाले वृक्षकी तरह जो द्रव्य सदा रूपवाले हों उन्हें रूपी कहते हैं । उपलक्षणभूत रूपके ग्रहण करनेसे रूपके अविनाभावी रस गन्ध और स्पर्शका भी ग्रहण हो जाता है । अर्थात् रूप रस गन्ध स्पर्शवाले पुद्गल अवधिज्ञानके विषय होते हैं ।

§ ४ इस सूत्रमें 'असर्वपर्याय' की अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए । अर्थात् पहिले कहे गए रूपी द्रव्योंकी कुछ पर्यायोंको और जीवके औदयिक औपशमिक और क्षायोपशमिक भावोंको अवधिज्ञान विषय करता है क्योंकि इनमें रूपी कर्मका सम्बन्ध है । वह क्षायिक भाव तथा धर्म अधर्म आदि अरूपी द्रव्योंको नहीं जानता ।

मनःपर्यय ज्ञानका विषय–

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥२८॥

सर्वावधि ज्ञानके विषयभूत रूपी द्रव्यके सूक्ष्म अनन्तवें भागमें मनःपर्यय ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है ।

केवलज्ञानका विषय–

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥२९॥

सभी द्रव्योंकी सभी पर्याएँ केवलज्ञानके विषय हैं ।

§ १–३ जो स्वतन्त्र कर्ता होकर अपनी पर्यायोंको प्राप्त होता है अथवा अपनी पर्यायोंके द्वारा प्राप्त किया जाता है वह द्रव्य है । एक ही द्रव्य कर्ता भी होता है कर्म भी, क्योंकि उसका अपनी पर्यायोंसे कथञ्चिद् भेद है । यदि सर्वथा अभेद होता तो एक ही निर्विशेष द्रव्यकी सत्ता रहनेसे कर्ता और कर्म ये विभिन्न व्यवहार नहीं हो सकते ।

§ ४ स्वाभाविक या नैमित्तिक विरोधी या अविरोधी धर्मोंमें अमुक शब्द व्यवहारके लिए विवक्षित द्रव्यकी अवस्थाविशेषको पर्याय कहते हैं । जो धर्म द्रव्य क्षेत्र काल भाव आदि निमित्तोंसे होते हैं उन्हें उपात्तहेतुक कहते हैं और जो तीनों कालोंमें अपनी स्वाभाविक सत्ता रखते हैं वे अनुपात्तहेतुक हैं, जैसे जीवके औदयिक आदि भाव और अनादि पारिणामिक चैतन्य आदि । कुछ धर्म अविरोधी होते हैं और कुछ विरोधी, जैसे जीवके अनादि पारिणामिक चैतन्य भव्यत्व या अभव्यत्व ऊर्ध्वगतिस्वभाव अस्तित्वादि एक साथ होनेसे अविरोधी हैं और नारक तिर्यञ्च मनुष्य देव गति स्त्री पुरुष नपुंसकत्व एकेन्द्रियादि जाति बचपन जवानी क्रोध शान्ति आदि एक साथ नहीं हो सकतीं अतः विरोधी हैं । पुद्गलके रूप रसादिसामान्य अचेतनत्व अस्तित्वादि अविरोधी हैं और अमुक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुक्ल कृष्ण आदि रूप कड़वा चिरपरा कषायला आदि रस आदि परस्पर विरोधी हैं। इसी तरह धर्माधर्मादि द्रव्योंमें कुछ सामान्यधर्म अविरोधी हैं और विशेषधर्म विरोधी होते हैं।

§ ५–६ द्रव्य और पर्याय शब्द का इतरेतर योग द्वन्द्व समास है। द्वन्द्व समास जैसे प्लक्ष और न्यग्रोध आदि भिन्न पदार्थोंमें होता है उसी तरह कथञ्चिद् भिन्न गो और गोत्व आदि में भी होता है। गो और गोत्व सामान्य और विशेषरूपसे कथञ्चिद् अभिन्न हैं। 'द्रव्याणां पर्यायाः' ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास करके द्रव्योंको पर्यायका विशेषण बनाना उचित नहीं है; क्योंकि ऐसी दशामें द्रव्य शब्द ही निरर्थक हो जायगा, कारण अद्रव्य की तो पर्याय होती नहीं है। फिर, तत्पुषसमासमें उत्तर पदार्थ प्रधान होता है अतः 'केवलज्ञानके द्वारा पर्यायें ही जानी जाती हैं, द्रव्य नहीं' यह अनिष्ट प्रसंग प्राप्त होता है। 'सब पर्यायोंके जान लेनेपर द्रव्य तो जान ही लिया जाता है' यह समाधान भी ठीक नहीं है क्योंकि इस पक्षमें द्रव्यग्रहणकी अनर्थकता ज्योंकी त्यों बनी रहती है। अतः उभयपदार्थ प्रधान द्वन्द्व समास ही यहां ठीक है। 'पर्यायके बिना द्रव्य उपलब्ध नहीं होता' अतः द्वन्द्व समासमें भी द्रव्यग्रहण निरर्थक है' यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि की दृष्टिसे द्रव्य पर्यायमें विभिन्नता है।

§ ९ लोक और अलोक में त्रिकाल विषयक जितने अनन्तानन्त द्रव्य और पर्याय हैं उन सभीमें केवलज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। जितना यह लोक है उतने यदि अनन्त भी लोक हों तो उन्हें भी केवलज्ञान जान सकता है।

एक साथ कितने ज्ञान होते हैं?

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥३०॥

एक साथ एक आत्मामें एक से लगाकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं।

§ १ एक शब्दके संख्या भिन्नता अकेलापन प्रथम प्रधान आदि अनेक अर्थ हैं पर यहां 'प्रथम' अर्थ विवक्षित है।

§ २–३ आदि शब्दके भी व्यवस्था प्रकार सामीप्य अवयव आदि अनेक अर्थ हैं, यहां अवयव अर्थ की विवक्षा है। अर्थात् एक–प्रथम परोक्षज्ञानका आदि-अवयव मतिज्ञान। अथवा, आदि शब्द समीपार्थक है। इसका अर्थ है मतिज्ञानका आदि-समीप-श्रुतज्ञान।

§ ४–**प्रश्न**–यदि मतिज्ञान का समीप 'श्रुतज्ञान' आदि शब्दसे लिया जाता है तो इसमें मतिज्ञान छूट जायगा? **उत्तर**–चूंकि मति और श्रुत सदा अव्यभिचारी हैं, नारद पर्वत की तरह एक दूसरेका साथ नहीं छोड़ते अतः एकके ग्रहणसे दूसरेका ग्रहण ही हो जाता है।

§ ५–७ जैसे 'ऊंटके मुख की तरह मुख है जिसका वह उष्ट्रमुख' इस बहुव्रीहि समासमें एक मुख शब्दका लोप हो गया है उसी तरह 'एकादि हैं आदिमें जिनके वे एकादीनि' यहां भी एक आदि शब्दका लोप हो जाता है। अवयवसे विग्रह होता है और समुदाय समासका अर्थ होता है। इससे एकको आदिको लेकर चार तक विभाग करना चाहिए; क्योंकि केवलज्ञान असहाय है उसे किसी अन्य ज्ञानकी सहायताकी अपेक्षा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है जब कि क्षायोपशमिक मति आदि चार ज्ञान सहायताकी अपेक्षा रखते हैं अतः केवलज्ञान अकेला ही होता है उसके साथ अन्य ज्ञान नहीं रह सकते ।

§ ८–१० **प्रश्न**–केवलज्ञान होनेपर अन्य क्षायोपशमिक ज्ञानोंका अभाव नहीं होता, किन्तु वे दिनमें तारागणोंकी तरह विद्यमान रहकर भी अभिभूत हो जाते हैं और अपना कार्य नहीं करते ? **उत्तर**–केवलज्ञान चूंकि क्षायिक और परम विशुद्ध है अतः सकलज्ञानावरणका विनाश होनेपर केवलीमें ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होनेवाले ज्ञानोंकी संभावना कैसे हो सकती है ? सर्वशुद्धिकी प्राप्ति हो जाने पर लेशतः अशुद्धिकी कल्पना ही नहीं हो सकती । आगममें असंज्ञी पंचेन्द्रियसे अयोगकेवलि तक जो पंचेन्द्रिय गिनाए हैं वहां द्रव्येन्द्रियोंकी विवक्षा है ज्ञानावरणके क्षयोपशमरूप भावेन्द्रियोंकी नहीं । यदि भावेन्द्रियां विवक्षित होतीं तो ज्ञानावरणका सद्भाव होनेसे सर्वज्ञता ही नहीं हो सकती । अतः एक आत्मामें दो ज्ञान मति और श्रुत, तीन ज्ञान मति श्रुत अवधि या मति श्रुत मनःपर्यय, चार ज्ञान मति श्रुत अवधि और मनःपर्यय होंगे, पांच एक साथ नहीं होंगे । अथवा, एक शब्दको संख्यावाची मानकर अकेला मतिज्ञान भी एक हो सकता है क्योंकि जो अंगप्रविष्ट आदि रूप श्रुतज्ञान है वह हर एकको हो भी न भी हो । अथवा, संख्या असहाय और प्राधान्यवाची एक शब्दको मानकर अकेला असहाय और प्रधान केवलज्ञान एक होगा दो मति श्रुत आदि ।

मति श्रुत अवधि विपर्यय भी होते हैं–

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥३१॥

च शब्द समुच्चयार्थक है । अर्थात् मति श्रुत और अवधि मिथ्या भी होते हैं और सम्यक् भी ।

§ १–३ मिथ्यादृष्टि जीवके मिथ्यादर्शनके साथ रहनेके कारण इन ज्ञानोंमें मिथ्यात्व आ जाता है जैसे कड़वी तूमरीमें रखा हुआ दूध कड़ुआ हो जाता है उसी तरह मिथ्यादृष्टिरूप आधार-दोषसे ज्ञानमें मिथ्यात्व आ जाता है । यह आशंका उचित नहीं है कि 'मणि सुवर्ण आदि मलस्थानमें गिरकर भी जैसे अपने स्वभावको नहीं छोड़ते वैसे ज्ञानको भी नहीं छोड़ना चाहिए'; क्योंकि पारिणामिक अर्थात् परिणमन करानेवालेकी शक्तिके अनुसार वस्तुओंमें परिणमन होता है । कड़ुवी तूंबड़ीके समान मिथ्यादर्शनमें ज्ञान दूधको बिगाड़नेकी शक्ति है । यद्यपि मलस्थानसे मणि आदिमें बिगाड़ नहीं होता पर अन्य धातु आदिके सम्बन्धसे सुवर्ण आदि भी विपरिणत हो ही सकते हैं । सम्यग्दर्शनके होते ही मत्यादिका मिथ्याज्ञानत्व हटकर उनमें सम्यक् ज्ञानत्व आ जाता है और मिथ्यादर्शनके उदयमें ये ही–मत्यज्ञान श्रुताज्ञान और विभङ्गावधि बन जाते हैं ।

'जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि मति श्रुत अवधिसे रूपादिको जानता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी, अतः ज्ञानोंमें मिथ्यादर्शनसे क्या विपर्यय हुआ ? मिथ्यादृष्टि भी रूपको रूप ही जानता है अन्यथा नहीं' इस आशंकाका परिहार करनेके लिए सूत्र कहते हैं–

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥३२॥

§ १ सत्–अर्थात् प्रशस्ततत्त्वज्ञान, असत् अर्थात् अज्ञान इनमें मिथ्यादृष्टिको कोई विशेषताका भान नहीं होता वह कभी सत्को असत् और असत्को सत् कहता है, झोंकमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आक : यदृच्छासे सत्को सत् और असत्को असत् कहने पर भी उसका वह मिथ्याज्ञान ही है। जैसे कि कोई पागल गायको घोड़ा या घोड़ाको गाय कहता है, कभी गायको गाय और घोड़ेको घोड़ा कहने पर भी उसका सब पागलपन ही कहा जाता है ।

§ २ अथवा सत् शब्द विद्यमानार्थक है । वह कभी विद्यमानको अविद्यमान अविद्यमानको विद्यमान रूपसे जानता है ।

§ ३ इसका कारण है विभिन्न मतवादियों द्वारा वस्तुके स्वरूपका विभिन्न प्रकार से वर्णन और प्रचार करना । किन्हींका (अद्वैत) कहना है कि द्रव्य ही है, रूपादिकी सत्ता नहीं है तो कोई (बौद्ध) रूपादिको ही मानना चाहते हैं द्रव्यको नहीं । कोई (वैशेषिक) कहते हैं कि द्रव्यसे रूपादि गुण भिन्न होते हैं। ये तीनों ही पक्ष मिथ्या हैं; क्योंकि यदि द्रव्य ही हो रूपादि न हो तो द्रव्यका परिचायक लक्षण न रहनेसे लक्ष्यभूत द्रव्यका ही अभाव हो जायगा। इन्द्रियोंसे पूरे द्रव्यका अखण्ड रूपसे ग्रहण होनेके कारण पाँच इन्द्रियाँ माननेकी आवश्यकता नहीं रह जाती क्योंकि द्रव्य तो किसी एक भी इन्द्रियसे पूर्ण रूपसे गृहीत हो ही जायगा । पर ऐसा मानना न तो इष्ट ही है और न प्रमाणप्रसिद्ध ही । इसी तरह यदि द्रव्य का अस्तित्व न हो तो निराश्रय रूपादिका आधार क्या होगा ? यदि रूपादि परस्परमें अभिन्न हों तो एकसे अभिन्न होनेके कारण सभी एक हो जायँगे समुदायका अभाव ही हो जायगा । यदि द्रव्य और गुणमें सर्वथा भेद है तो उनमें परस्पर लक्ष्यलक्षणभाव नहीं हो सकेगा । दण्ड और दण्डीकी तरह पृथक् सिद्धगत लक्ष्यलक्षणभाव तो तब बन सकता है जब द्रव्य और गुण दोनों पृथक् सिद्ध हों । द्रव्यसे भिन्न अमूर्त रूपादि गुणोंसे इन्द्रियका सन्निकर्ष भी नहीं होगा और इस तरह उनका परिज्ञान करना ही असम्भव हो जायगा; क्योंकि भिन्न द्रव्य तो कारण हो नहीं सकेगा ।

§ ४ केवल स्वरूपमें ही नहीं किन्तु जगत्के मूल कारणोंमें ही प्रवादियोंको विवाद है। जैसे **सांख्यों** का मत है कि–अव्यक्त प्रकृतिसे महान्–बुद्धि, महान्से अहङ्कार, अहङ्कार से पाँच इन्द्रियाँ, पाँच इन्द्रियोंके विषय तन्मात्रा और पृथिवी आदि पाँच महाभूत और मन ये सोलह गण और पाँच महाभूतोंसे यह दृश्य जगत् उत्पन्न होता है । यह मत निर्दोष नहीं है; क्योंकि अमूर्त निरवयव निष्क्रिय अतीन्द्रिय नित्य और पर प्रयोगसे अप्रभावित प्रधानसे मूर्त सावयव सक्रिय इन्द्रियग्राह्य आदि विपरीत लक्षणवाले घटादि पदार्थोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । स्वयं चेतनाशून्य प्रधानका इस तरह बुद्धिपूर्वक सृष्टिको उत्पन्न करना सम्भव ही नहीं है । पुरुष स्वयं निष्क्रिय है वह प्रधानको प्रेरणा भी नहीं दे सकता । फिर प्रधानको सृष्टि के उत्पन्न करनेका खास प्रयोजन भी नहीं दिखाई देता । 'पुरुषको भोग सम्पादन करना' यह प्रयोजन भी नहीं हो सकता; क्योंकि नित्य और विभु आत्माका भोक्तारूपसे परिणमन ही नहीं हो सकता । स्वयं अचेतन प्रधान प्रेरित होकर भी बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति नहीं कर सकता।

वैशेषिकों का मत है कि–पृथिवी आदि द्रव्योंके जुदा जुदा परमाणु हैं । उनमें अदृष्ट आदिसे क्रिया होती है फिर द्व्यणुकादिक्रमसे घटादिकी उत्पत्ति होती है । यह मत भी ठीक नहीं है; क्योंकि परमाणु नित्य हैं, अतः उनमें कार्यको उत्पन्न करनेका परिणमन ही नहीं हो सकता। यदि परिणमन हो तो नित्यता नहीं हो सकती । फिर परमाणुओंसे भिन्न किसी स्वतन्त्र अवयवीरूप कार्यकी उपलब्धि भी नहीं होती । परमाणुओंमें पृथिवीत्व आदि जाति-भेदकी कल्पना भी प्रमाणसिद्ध नहीं है; क्योंकि भिन्नजातीय चन्द्रकान्तमणिसे जलकी, जल

से पार्थिव मोतीकी, लकड़ीसे अग्नि आदिकी उत्पत्ति देखी जाती है। भिन्नजातीयोंमें केवल समुदायकी कल्पना करना तुल्यजातीयोंमें भी समुदायमात्रको ही सिद्ध करेगी, कार्योत्पत्ति को नहीं। निष्क्रिय और निर्विकारी आत्मा कर्त्ता भी नहीं हो सकता। आत्माका अदृष्ट गुण भी चूंकि निष्क्रिय है अतः वह भी भिन्न पदार्थोंमें क्रिया उत्पन्न नहीं कर सकेगा।

बौद्धोंकी मान्यता है कि वर्णादिपरमाणुसमुदयात्मक रूप परमाणुओंका संचय ही इन्द्रियग्राह्य होकर घटादि व्यवहारका विषय होता है। इनका यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि जब प्रत्येक परमाणु अतीन्द्रिय है तो उनसे अभिन्न समुदाय भी इन्द्रियग्राह्य नहीं हो सकता। जब उनका कोई दृश्य कार्य सिद्ध नहीं होता तब कार्यलिङ्गक अनुमानसे परमाणुओंकी सत्ता भी सिद्ध नहीं की जा सकेगी। परमाणु चूँकि क्षणिक और निष्क्रिय हैं अतः उनसे कार्योत्पत्ति भी नहीं हो सकती। विभिन्न शक्तिवाले उन परमाणुओंका परस्पर स्वतः सम्बन्धकी संभावना नहीं है और अन्य कोई सम्बन्धका कर्ता हो नहीं सकता। तात्पर्य यह कि परस्पर सम्बन्ध नहीं होनेके कारण घटादि स्थूल कार्योंकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकेगी।

इसी तरह बिगड़े पित्तवाले रोगीको रसनेन्द्रियके विपर्ययकी तरह अनेक प्रकारके विपर्यय मिथ्यादृष्टिको होते रहते हैं।

चारित्र मोक्षका प्रधान कारण है अतः उसका वर्णन मोक्षके प्रसङ्गमें किया जायगा। केवलज्ञान हो जानेपर भी जब तक व्युपरतक्रियानिवर्ति ध्यानरूप चरम चारित्र नहीं होता तब तक मुक्तिकी संभावना नहीं है। अब नयोंका निरूपण करते हैं–

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः ॥३३॥

शब्दकी अपेक्षा नयोंके एकसे लेकर असंख्यात विकल्प होते हैं। यहाँ मध्यमरुचि शिष्योंकी अपेक्षा सात भेद बताए हैं।

§ १ प्रमाणके द्वारा प्रकाशित अनेकधर्मात्मक पदार्थके धर्मविशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान नय है। नयके मूल दो भेद हैं–एक द्रव्यास्तिक और दूसरा पर्यायास्तिक। द्रव्यमात्रके अस्तित्वको ग्रहण करनेवाला द्रव्यास्तिक और पर्यायमात्रके अस्तित्वको ग्रहण करनेवाला पर्यायास्तिक है। अथवा द्रव्य ही जिसका अर्थ है–गुण और कर्म आदि द्रव्यरूप ही हैं वह द्रव्यार्थिक और पर्याय ही जिसका अर्थ है वह पर्यायार्थिक। पर्यायार्थिकका विचार है कि अतीत और अनागत चूंकि विनष्ट और अनुत्पन्न हैं अतः उनसे कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता अतः वर्तमान मात्र पर्याय ही सत् है। द्रव्यार्थिकका विचार है कि अन्वयविज्ञान अनुगताकार वचन और अनुगत धर्मोंका लोप नहीं किया जा सकता, अतः द्रव्य ही अर्थ है।

§ २–३ अर्थके संकल्पमात्रको ग्रहण करनेवाला नैगमनय है। जैसे प्रस्थ बनाने के निमित्त जंगलसे लकड़ी लेनेके लिए जानेवाले फरसाधारी किसी पुरुषसे पूछा कि 'आप कहाँ जा रहे हैं?' तो वह उत्तर देता है कि 'प्रस्थके लिए'। अथवा, 'यहां कौन जा रहा है?' इस प्रश्नके उत्तरमें 'बैठा हुआ' कोई व्यक्ति कहे कि 'मैं जा रहा हूँ'। इन दोनों दृष्टान्तोंमें प्रस्थ और गमनके संकल्प मात्रमें वे व्यवहार किये गये हैं। इसी तरहके सभी व्यवहार नैगमनयके विषय हैं। यह नैगमनय केवल भाविसंज्ञा व्यवहार ही नहीं है, क्योंकि वस्तुभूत राजकुमार या चावलोंमें योग्यताके आधारसे राजा या भात संज्ञा भाविसंज्ञा कहलाती है पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नैगमनयमें कोई वस्तुभूत पदार्थ सामने नहीं है यहाँ तो तदर्थ किए जानेवाले संकल्पमात्रमें ही वह व्यवहार किया जा रहा है।

§ ४ **प्रश्न**–भाविसंज्ञामें तो यह आशा है कि आगे उपकार आदि हो सकते हैं, पर नैगमनयमें तो केवल कल्पना ही कल्पना है, अतः यह संव्यवहारके अनुपयुक्त है? **उत्तर**–नयोंके विषयके प्रकरणमें यह आवश्यक नहीं है कि उपकार या उपयोगिताका विचार किया जाय। यहाँ तो केवल उनका विषय बताना है। फिर संकल्पके अनुसार निष्पन्न वस्तुसे आगे उपकारादिकी भी संभावना भी है ही।

§ ५ अनुगताकार बुद्धि और अनुगत शब्द प्रयोगका विषयभूत सादृश्य या स्वरूप जाति है। चेतनकी जाति चेतनत्व और अचेतनकी जाति अचेतनत्व है। अतः अपने अविरोधी सामान्यके द्वारा उन उन पदार्थोंका संग्रह करनेवाला संग्रहनय है। जैसे 'सत' कहनेसे सत्ता सम्बन्धके योग्य द्रव्यगुण कर्म आदि सभी सद्व्यक्तियोंका ग्रहण हो जाता है अथवा द्रव्य कहनेसे द्रव्य व्यक्तियोंका। इस तरह यह संग्रह पर और अपरके भेदसे अनेक प्रकार का होता है।

सत्ता नामक भिन्न पदार्थके सम्बन्धसे 'सत्' यह प्रत्यय मानना उचित नहीं है; क्योंकि यदि सत्ता सम्बन्धके पहिले द्रव्यादिमें 'सत्' प्रत्यय होता था, तो फिर अन्य सत्ता-का सम्बन्ध मानना ही निरर्थक है जैसे कि प्रकाशितका प्रकाशन करना। इस तरह दो सत्ताएं एक पदार्थमें माननी होंगी–एक भीतरी और दूसरी बाहिरी। ऐसी दशामें "सत् सत् प्रत्यय सर्वत्र समान होनेसे तथा विशेष लिङ्ग न होनेसे एक ही सामान्य पदार्थ होता है" इस सिद्धान्तका विरोध हो जायगा। यदि सत्ता सम्बन्धसे पहिले द्रव्यादि 'असत्' हैं; तो उनमें खरविषाणकी तरह सत्ता सम्बन्ध नहीं हो सकेगा। समवाय भी सत्ताका नियामक स्वतः नहीं हो सकता। किंच, स्वयं सत्तामें 'सत्' इस ज्ञानको यदि अन्य सत्तामूलक मानते हैं तो अनवस्था दूषण आता है। तथा 'द्रव्य गुण कर्ममें ही सत्ता रहती है' इस सिद्धान्तका विरोध भी होता है। यदि पदार्थकी शक्तिविचित्रतासे द्रव्यादिमें होनेवाले 'सत्' प्रत्ययको अन्य सामान्यहेतुक और सत्तामें स्वतः ही सत् प्रत्यय माना जाता है, तो यह व्यवस्था स्वेच्छाकृत होगी प्रमाणसिद्ध नहीं, और इस तरह संसर्गसे प्रत्यय माननेके सिद्धान्तका भी परित्याग हो जाता है। किंच, द्रव्यादिकमें सत्ताकी वृत्ति यदि 'यह उसकी है' इस रूपसे मानी जाती है तो मतुप् प्रत्यय होकर 'सत्तावान् द्रव्य' ऐसा प्रयोग होगा जैसे गोमान् यवमान् आदि। अतः 'सद्द्रव्यम्' इस प्रयोगमें भावार्थक और मत्वर्थक दोनों प्रत्ययोंकी निवृत्ति करनी पड़ेगी। यदि 'यह वही है' इस प्रकार अभेदवृत्ति मानी जाती है तो 'यष्टिः पुरुषः' की तरह 'सत्ता द्रव्यम्' यह प्रयोग होगा न कि 'सद्द्रव्यम्' यह। इस पक्षमें भावार्थक तल् प्रत्ययकी निवृत्ति माननी पड़ेगी। संसारमें कोई भी एक पदार्थ अनेकमें सम्बन्धसे रहने-वाला प्रसिद्ध भी नहीं जिसे दृष्टान्त बनाकर सत्ताको एक होकर अनेक सम्बधिनी बनाया जाय। नीली आदि द्रव्य तो उन उन कपड़ोंमें जुदे जुदे हैं।

§ ६ संग्रह नयके द्वारा संगृहीत पदार्थोंमें विधिपूर्वक विभाजन करना व्यवहार-नय है। जैसे सर्वसंग्रहनयने 'सत्' ऐसा सामान्य ग्रहण किया था पर इससे तो व्यवहार चल नहीं सकता था अतः भेद किया जाता है कि–जो सत् है वह द्रव्य है या गुण? द्रव्य भी जीव है या अजीव? जीव और अजीव सामान्यसे भी व्यवहार नहीं चलता था, अतः उसके भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देव नारक आदि और घट पट आदि भेद लोकव्यवहारके लिए किए जाते हैं। 'कषायरस'को किसी वैद्यने दवारूपमें बताया तो जब तक किसी खास 'आंवला' आदिका निर्देश न किया जाय तब तक समस्त संसारका कषाय रस तो सम्राट् भी इकट्ठा नहीं कर सकता। यह व्यवहार नय वहाँ तक भेद करता जायगा जिससे आगे कोई भेद नहीं हो सकता होगा।

§ ७ जिस प्रकार सरल सूत डाला जाता है उसी तरह ऋजुसूत्र नय एक समयवर्ती वर्तमान पर्यायको विषय करता है। अतीत और अनागत चूंकि विनष्ट और अनुत्पन्न हैं अतः उनसे व्यवहार नहीं हो सकता। इसका विषय एक क्षणवर्ती वर्तमान पर्याय है। 'कषायो भैषज्यम्' में वर्तमानकालीन वह कषाय भैषज हो सकती है जिसमें रसका परिपाक हुआ है न कि प्राथमिक अल्परसवाला कच्चा कषाय।

पच्यमान इस नयका विषय है। पच्यमानमें भी कुछ अंश तो वर्तमानमें पकता है तथा कुछ अंश पक चुकते हैं। अतः पच्यमान भातको अंशतः पक्व कहनेमें भी कोई विरोध नहीं है; क्योंकि पाकके प्रथम समयमें कुछ अंश यदि पक जाता है तो मान लेना चाहिए कि पच्यमान पदार्थ अंशतः पक्व हो चुका है। यदि नहीं पकता; तो द्वितीयादि क्षणोंमें भी पकनेकी गुञ्जाइश नहीं हो सकती। अतः पाकका ही अभाव हो जायगा। उस दशामें स्यात् पच्यमान ही कह सकते हैं; क्योंकि जितने विशद रंधे हुए भातमें 'पक्व' का अभिप्राय है उतना पाक अभी नहीं हुआ है। स्यात् पक्व भी कह सकते हैं; क्योंकि किसी भोजनार्थीको उतना ही पाक इष्ट हो सकता है। इसी तरह क्रियमाणमें भी अंशतः कृत व्यवहार, भुज्यमानमें भी अंशतः भुक्त व्यवहार, बध्यमानमें भी अंशतः बद्ध व्यवहार आदि कर लेना चाहिए।

जिस समय प्रस्थसे धान्य आदि मापा जाता हो उसी समय उसे प्रस्थ कह सकते हैं। वर्तमानमें अतीत और अनागतसे धान्यका माप तो होता ही नहीं है। इस नयकी दृष्टिसे कुम्भकार व्यवहार नहीं हो सकता; क्योंकि शिविक आदि पर्यायोंके बनाने तक तो उसे कुम्भकार कह ही नहीं सकते और घट पर्यायके समय अपने अवयवों से स्वयं ही घड़ा बन रहा है। जिस समय जो बैठा है वह उस समय यह नहीं कह सकता कि 'अभी ही आ रहा हूँ'; क्योंकि उस समय आगमन क्रिया नहीं हो रही है। जितने आकाश प्रदेशोंमें वह ठहरा है उतने ही प्रदेशोंमें उसका निवास है अथवा स्वात्मा में; अतः ग्रामनिवास गृहनिवास आदि व्यवहार नहीं हो सकते। इस नयकी दृष्टिमें 'कौआ काला' नहीं है क्योंकि काला रंग काला है और कौआ कौआ है। यदि काला रंग कौआ रूप हो जाय तो संसारके भौंरा आदि सभी काले पदार्थ कौआ बन जायंगे। इसी तरह यदि कौआ काले रंग स्वरूप हो जाय तो शुक्ल काकका अभाव ही हो जायगा। फिर कौआका रक्त मांस पित्त हड्डी चमड़ा आदि मिलकर पंचरंगी वस्तु होती है, अतः उसे केवल काला ही कैसे कह सकते हैं? कृष्ण और काकमें सामानाधिकरण्य भी नहीं बन सकता; क्योंकि विभिन्न शक्तिवाली पर्याएं ही अपना अस्तित्व रखती हैं द्रव्य नहीं। यदि कृष्णगुणकी प्रधानतासे काकको काला कहा जाता है तो कम्बल आदिमें अतिप्रसंग हो जायगा क्योंकि उनमें भी काला रंग विशेष है, अतः उन्हें भी काक कहना चाहिए। अधिक कसैले और स्वल्प मधुर मधुको फिर मधु नहीं कहना चाहिए। परोक्षमें कहनेपर संशय भी हो सकता है कि--क्या कृष्णगुणकी प्रधानतासे काकको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृष्णताका वर्णन 'कृष्णः' शब्दसे हो रहा है या कृष्णपरिणमनवाले द्रव्यका ही ? इस नयकी दृष्टिमें पलालका दाह नहीं हो सकता; क्योंकि अग्नि सुलगाना, धौंकना और जलाना आदि असंख्य समयकी क्रियाएँ वर्तमान क्षणमें नहीं हो सकतीं। जिस समय दाह है उस समय पलाल नहीं और जिस समय पलाल है उस समय दाह नहीं, तब पलालदाह कैसा ? 'जो पलाल है वह जलता है' यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि बहुत पलाल बिना जला भी बाकी है। यह समाधान भी उचित नहीं है कि–'समुदायवाची शब्दोंकी अवयवमें भी प्रवृत्ति देखी जाती है अतः अंशदाहसे सर्वदाह ले लेंगे' क्योंकि कुछ पलाल तो बिना जला शेष है ही। यदि संपूर्णदाह नहीं हो सकता; तो 'पलालदाह' यह प्रयोग ही नहीं करना चाहिए। यदि संपूर्णदाह नहीं हो सकता अतः एकदेशदाहसे पलालका दाह माना जायगा उसमें, 'अदाह' नहीं होगा तो आपके वचन भी संपूर्ण रूपसे परपक्षके दूषक नहीं हो सकते, अतः एकदेशके दूषक होनेसे उन्हें सर्वथा दूषक ही माना जायगा किसी भी तरह 'अदूषक' नहीं होंगे और इस तरह उनमें स्वपक्ष-अदूषकत्व अर्थात् साधकत्व भी नहीं होगा। यदि अनेक अवयव होनेसे कुछ अवयवोंमें दाह होनेसे सर्वत्र दाह माना जाता है, तो कुछ अवयवोंमें अदाह होनेसे सर्वत्र अदाह क्यों नहीं माना जायगा ? यदि सर्वत्र दाह है तो अदाह सर्वत्र क्यों नहीं ? इसी तरह इस नयकी दृष्टिसे पान-भोजन आदि कोई व्यवहार नहीं बन सकते। इस नयकी दृष्टिसे सफेद चीज काली नहीं बन सकती; क्योंकि दोनोंका समय भिन्न भिन्न है। वर्तमानके साथ अतीतका कोई सम्बन्ध नहीं है।

यह नय व्यवहारलोपकी कोई चिंता नहीं करता। यहाँ तो उसका विषय बताया गया है। व्यवहार तो पूर्वोक्त व्यवहार आदि नयोंसे ही सध जाता है।

§ ८-९ जिस व्यक्तिने संकेतग्रहण किया है उसे अर्थबोध करानेवाला शब्द होता है। शब्दनय लिंग संख्या साधनादि सम्बन्धी व्यभिचारकी निवृत्ति करता है अर्थात् उसकी दृष्टिसे ये व्यभिचार हो ही नहीं सकते क्योंकि अन्य अर्थका अन्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वह व्याकरणशास्त्रके इन व्यभिचारोंको न्याय्य नहीं मानता।

लिंगव्यभिचार–स्त्रीलिंगके साथ पुल्लिंगका प्रयोग करना, जैसे 'तारका स्वातिः'। पुल्लिंगके साथ स्त्रीलिंगका प्रयोग, जैसे 'अवगमो विद्या'। स्त्रीलिंगके साथ नपुंसकका प्रयोग, जैसे 'वीणा आतोद्यम्'। नपुंसकलिंगके साथ स्त्रीलिंगका प्रयोग, जैसे–'आयुधं शक्तिः'।

संख्याव्यभिचार–एकवचनके स्थानमें द्विवचनका प्रयोग, जैसे 'नक्षत्रं पुनर्वसू'। एकवचनके स्थानमें बहुवचन, जैसे 'नक्षत्रं शतभिषजः'। द्विवचनके स्थानमें एकवचन, जैसे 'गोदौ ग्रामः'। द्विवचनके स्थानमें बहुवचन, जैसे 'पुनर्वसू पञ्चतारकाः'। बहुवचनके स्थानमें एकवचन जैसे 'आम्राः वनम्'। बहुवचनके स्थानमें द्विवचन, जैसे 'देवमनुष्याः उभौ राशी'।

साधनव्यभिचार–परिहासमें मध्यम पुरुषके स्थानमें उत्तम पुरुष और उत्तम पुरुषके स्थानमें मध्यम पुरुषका प्रयोग करना, जैसे–'एहि, मन्ये रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि यातस्ते पिता' इसका प्रकृतरूप यह है 'त्वम् एहि, त्वं मन्यसे यत् अहं रथेन यास्यामि, त्वं नहि यास्यसि ते पिता अग्रे यातः'। यहाँ मन्यसेके स्थानमें मन्येका तथा यास्यामिके स्थानमें यास्यसि का प्रयोग हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालव्यभिचार–जिसने विश्वको देख लिया ऐसा विश्वदृश्वा (विश्वं दृष्टवान्) पुत्र उत्पन्न होगा। उपसर्गके अनुसार धातुओंमें परस्मैपद और आत्मनेपदका प्रयोग उपग्रह व्यभिचार है। जैसे संतिष्ठते प्रतिष्ठते विरमति उपरमति आदिमें। इत्यादि व्यभिचार अयुक्त हैं क्योंकि अन्य अर्थका अन्य अर्थसे कोई सम्बन्ध नहीं है अन्यथा घट पट हो जायगा और पट मकान। अतः यथालिंग यथावचन और यथासाधन प्रयोग करना चाहिए।

यह नय लोक और व्याकरणशास्त्रके विरोधकी कोई चिन्ता नहीं करता। यहाँ तो नयका विषय बताया जा रहा है मित्रोंकी खुशामद नहीं की जा रही है।

§ १० अनेक अर्थोंको छोड़कर किसी एक अर्थमें मुख्यतासे रूढ होनेको समभिरूढ नय कहते हैं। जैसे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान अर्थ व्यञ्जन और योगकी संक्रान्ति न होनेसे मात्र एक सूक्ष्म काययोगमें परिनिष्ठित हो जाता है उसी तरह 'गौ' आदि शब्द वाणी पृथ्वी आदि ग्यारह अर्थोंमें प्रयुक्त होनेपर भी सबको छोड़कर मात्र एक सास्नादिवाली 'गाय' में रूढ़ हो जाता है। अथवा, शब्दका प्रयोग अर्थज्ञानके लिए किया जाता है। जब एक शब्दसे अर्थबोध हो जाता है तब उसीमें अन्य पर्यायवाची शब्दोंका प्रयोग निरर्थक है। शब्दभेदसे अर्थभेद होना ही चाहिए, जैसे इन्दन क्रियासे इन्द्र, शासन या शक्तिके कारण शक्र और पूर्दारणसे पुरन्दर। अथवा जो जहां अधिरूढ़ है वहीं उसका मुख्य रूपसे प्रयोग करना समभिरूढ़ है। जैसे किसीने पूछा कि–आप कहां हैं ? तो समभिरूढ़ नय उत्तर देगा–'अपने स्वरूपमें' क्योंकि अन्य पदार्थकी अन्यत्र वृत्ति नहीं हो सकती अन्यथा ज्ञानादि और रूपादिकी भी आकाशमें वृत्ति होनी चाहिए।

§ ११-१२ जिस समय जो पर्याय या क्रिया हो उस समय तद्वाची शब्दके प्रयोगको ही एवंभूत नय स्वीकार करता है। जिस समय इन्दन अर्थात् परमैश्वर्यका अनुभव करे उसी समय इन्द्र कहा जाना चाहिए, नाम स्थापना द्रव्यनिक्षेपकी दशामें नहीं। इसी तरह प्रत्येक शब्दका प्रयोग उस क्रियामें परिणत अवस्थामें ही उचित है। अथवा, यह नय जिस पर्यायमें है उसी रूपसे निश्चय करता है। गौ जिस समय चलती है उसी समय गौ है न तो बैठनेकी अवस्थामें और न सोनेकी अवस्थामें। पूर्व और उत्तर अवस्थाओंमें वह पर्याय नहीं रहती अतः उस शब्दका प्रयोग ठीक नहीं है। अथवा, इन्द्र या अग्नि ज्ञानसे परिणत आत्मा ही इन्द्र या अग्नि है ऐसा निश्चय एवम्भूत नय करता है। ज्ञान या आत्मा में अग्निव्यपदेश करनेके कारण दाहकत्व आदिका अतिप्रसङ्ग आत्मामें नहीं देना चाहिए; क्योंकि नाम स्थापना आदिमें पदार्थके जो जो धर्म वाच्य होते हैं वे ही उनमें रहेंगे, नोआगमभाव अग्निमें ही दाहकत्व आदि धर्म होते हैं उनका प्रसङ्ग आगमभाव अग्निमें देना उचित नहीं है।

ये नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषयक तथा पूर्व पूर्व हेतुक हैं अतः इनका निर्दिष्ट क्रमके अनुसार निर्देश किया है। ये नय पूर्व पूर्वमें विरुद्ध और महा विषयवाले हैं और उत्तरोत्तर अनुकूल और अल्प विषयवाले हैं। अनन्तशक्तिक द्रव्यकी हर एक शक्तिकी अपेक्षा इनके बहुत भेद होते हैं। गौण मुख्य विवक्षासे परस्पर सापेक्ष होकर ये नय सम्यग्दर्शनके कारण होते हैं और पुरुषार्थ क्रियामें समर्थ होते हैं। जैसे तन्तु परस्पर सापेक्ष होकर पट अवस्थाको प्राप्त करके ही शीत निवारण कर सकते हैं और स्वतन्त्र दशामें न तो पट ही कहे जाते हैं और न शीतसे रक्षा ही कर सकते हैं। जिस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार अकेला तन्तु पटके द्वारा होनेवाली अर्थक्रिया नहीं कर. सकता वैसे ही निरपेक्ष नय सम्यग्ज्ञानोत्पत्ति नहीं कर सकते। तन्तु तन्तुसाध्य अर्थक्रिया भी अपने अंशुओंकी अपेक्षा रखकर ही कर सकता है। यदि तन्तुओंमें शक्तिकी अपेक्षा पट कार्यकी संभावना है तो निरपेक्ष नयोंमें भी शक्त्यपेक्षया सम्यग्ज्ञानोत्पत्तिकी संभावना है ही।

इस अध्यायमें ज्ञान दर्शन तत्त्व नयोंके लक्षण और ज्ञानकी प्रमाणता आदिका निरूपण किया गया है।

प्रथम अध्याय समाप्त

लघुहव्व नृपतिके वर अर्थात् ज्येष्ठ या श्रेष्ठ पुत्र, निखिल विद्वज्जनोंके द्वारा जिनकी विद्याका लोहा माना जाता है, जो सज्जन पुरुषोंके हृदयोंको आह्लादित करनेवाले हैं वे अकलङ्क ब्रह्मा जयशील हैं।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

द्वितीय अध्याय

जीवके स्वभाव या स्वतत्त्वोंका वर्णन—

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥१॥

औपशमिक क्षायिक मिश्र औदयिक और पारिणामिक ये पांच जीवके स्वतत्त्व हैं।

§ १ जैसे कतकफल या निर्मलीके डालनेसे मैले पानीका मैल नीचे बैठ जाता है और जल निर्मल हो जाता है उसी तरह परिणामोंकी विशुद्धिसे कर्मों की शक्तिका अनुद्भूत रहना उपशम है। उपशमके लिए जो भाव होते हैं वे औपशमिक हैं।

§ २ जिस जलका मैल नीचे बैठा हो उसे यदि दूसरे बर्तनमें रख दिया जाय तो जैसे उसमें अत्यन्त निर्मलता होती है उसी तरह कर्मों की अत्यन्त निवृत्तिसे जो आत्यन्तिक विशुद्धि होती है वह क्षय है और कर्मक्षयके लिए जो भाव होते हैं वे क्षायिक भाव हैं।

§ ३ जैसे कोदोंको धोनेसे कुछ कोदोंकी मदशक्ति क्षीण हो जाती है और कुछ की अक्षीण उसी तरह परिणामोंकी निर्मलतासे कर्मों के एकदेशका क्षय और एकदेशका उपशम होना मिश्र भाव है। इस क्षयोपशमके लिए जो भाव होते हैं उन्हें क्षायोपशमिक कहते हैं।

§ ४ द्रव्य क्षेत्र काल और भावके निमित्तसे कर्मोंका फल देना उदय है और उदयनिमित्तक भावोंको औदयिक कहते हैं।

§ ५–६ जो भाव कर्मों के उपशमादिकी अपेक्षा न रखकर द्रव्यके निजस्वरूपमात्रसे होते हैं उन्हें पारिणामिक कहते हैं।

§ ७–१५ यद्यपि औदयिक और पारिणामिक भव्य और अभव्य सभी जीवोंमें रहते हैं अतः बहुव्यापी हैं फिर भी भव्यजीवोंके धर्मविशेषोंको प्रधानता देनेके लिए औपशमिक आदिका प्रथम ग्रहण किया है। उनमें भी औपशमिकको प्रथम इसलिए ग्रहण किया है कि सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन औपशमिक ही होता है फिर क्षायोपशमिक और फिर क्षायिक। उपशम सम्यग्दृष्टि अन्तर्मुहूर्त कालमें अधिकसे अधिक पल्यके असंख्यात भाग तक हो सकते हैं। अतः संख्याकी दृष्टिसे सभी सम्यग्दृष्टियोंमें अल्प हैं और उसका काल भी अल्प है। क्षायिक सम्यग्दर्शनमें मिथ्यात्व, सम्यङमिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीनों प्रकृतियोंका क्षय हो जानेसे परम विशुद्धि है और क्षायिक सम्यग्दर्शनका काल तेंतीस सागर है अतः इतने समय तक संचयकी दृष्टिसे जीवोंकी संख्या औपशमिककी अपेक्षा आवलिके असंख्यात भागसे गुणित है अतः विशुद्धि और संख्याकी दृष्टिसे अधिक होनेके कारण क्षायिकका औपशमिकके बाद ग्रहण किया है। यद्यपि क्षायिक भाव शुद्धिकी दृष्टिसे क्षायोपशमिकसे अनन्तगुणा है तो भी छयासठ सागर कालमें संचित क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियोंकी संख्या क्षायिकसे आवलिकाके असंख्यात भाग गुणित है अतः क्षायिकके बाद इसका ग्रहण किया है। औदयिक और पारिणामिककी संख्या सबसे अनन्तगुणी है, अतः दोनोंका अन्तमें ग्रहण किया है। ये दोनों भाव सभी जीवोंके समान संख्यामें होते हैं तथा इनसे ही अतीन्द्रिय और अमूर्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्माका ज्ञान किया जाता है । मनुष्य तिर्यञ्च आदि गतिभाव और चैतन्य आदि भाव ही जीवके परिचायक होते हैं। इसलिए सर्वसाधारण होनेसे दोनोंको अन्तमें ग्रहण किया है।

§ १६-१८ जैसे 'गायें धन हैं' यहाँ गायोंके भीतरी संख्याकी विवक्षा न होनेसे सामान्य रूपसे एक वचन धनके साथ सामानाधिकरण्य बन जाता है उसी तरह औपशमिक आदि भीतरी भेदकी विवक्षा न करके सामान्य स्वतत्त्वकी दृष्टिसे 'स्वतत्त्वम्' यह एकवचन निर्देश है। अथवा 'औपशमिक स्वतत्त्व है क्षायिक स्वतत्त्व है' इस प्रकार प्रत्येकके साथ स्वतत्त्वका सम्बन्ध कर लेना चाहिए।

§ १९-२० सूत्रमें यदि द्वन्द्व समास किया जाता तो दो 'च' शब्द नहीं देने पड़ते फिर भी 'मिश्र' शब्दसे औपशमिक और क्षायिकसे भिन्न किसी तृतीय ही भावके ग्रहणका अनिष्ट प्रसङ्ग प्राप्त होता अतः द्वन्द्व समास नहीं किया गया है। ऐसी दशामें 'च' शब्दसे उपशम और क्षयका मिला हुआ मिश्र भाव ही लिया जायगा। 'क्षायोपशमिक' शब्दके ग्रहणसे तो शब्दगौरव हो जाता है।

§ २१ मध्यमें 'मिश्र' शब्दके ग्रहणका प्रयोजन यह है कि भव्य जीवोंके औपशमिक और क्षायिकके साथ मिश्र भाव होता है और अभव्योंके औदयिक और पारिणामिकके साथ मिश्र भाव होता है। इस तरह पूर्व और उत्तर दोनों ओर 'मिश्र' का सम्बन्ध हो जाय।

§ २२ सूत्रगत 'जीवस्य' यह पद सूचित करता है कि ये भाव जीवके ही हैं अन्य द्रव्योंके नहीं।

§ २३-२५ **प्रश्न**-आत्मा औपशमिकादि भावोंको यदि छोड़ता है तो स्वतत्त्वके छोड़नेसे उष्णताके छोड़नेपर अग्निकी तरह अभाव अर्थात् शून्यताका प्रसंग होता है और यदि नहीं छोड़ता तो औदयिक आदि भावोंके बने रहनेसे मोक्ष नहीं हो सकेगा? **उत्तर**-अनेकान्तवादमें अनादि पारिणामिक चैतन्य द्रव्यकी दृष्टिसे स्वभावका अपरित्याग और आदिमान् औदयिक आदि पर्यायोंकी दृष्टिसे स्वभावका त्याग ये दोनों ही पक्ष बन जाते हैं। फिर स्वभावके त्याग या अत्यागसे तो मोक्ष होता नहीं है, मोक्ष तो सम्यग्दर्शनादि अन्तः करणोंसे संपूर्ण कर्मोंका क्षय होनेपर होता है। अग्नि उष्णताको छोड़ भी दे तो भी उसका सर्वथा अभाव नहीं होता; क्योंकि जो पुद्गल अग्नि पर्यायको धारण किए था वह अन्य रूपस्पर्शवाली दूसरी पर्यायको धारण करके पुद्गल द्रव्य बना रहता है। जैसे कि निद्रा आदि अवस्थाओंमें रूपोपलब्धि न रहनेपर भी नेत्रका अभाव नहीं माना जाता, अथवा केवली अवस्थामें मतिज्ञानरूप रूपोपलब्धि न होने पर भी द्रव्यनेत्र रहनेसे नेत्रका अभाव नहीं माना जाता। उसी तरह मोक्षावस्थामें भी क्षायिक भावोंके विद्यमान रहनेसे कर्मनिमित्तक औदयिकादि भावोंका नाश होनेपर भी आत्माका अभाव नहीं होता।

औपशमिकादि भावोंके भेद-

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥२॥

इन भावोंके क्रमशः दो नव अठारह इक्कीस और तीन भेद हैं।

§ १-२ द्वि नव आदि शब्दोंका इतरेतरयोगार्थक द्वन्द्व समास है। **प्रश्न**-इतरेतरयोग तुल्ययोगमें होता है किन्तु यहाँ तुल्ययोग नहीं है क्योंकि द्वि आदि शब्द संख्येय प्रधान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हें तथा एकविंशति शब्द संख्याप्रधान। **उत्तर**–निमित्तानुसार द्वि आदि शब्द भी संख्याप्रधान हो जाते हैं जैसे राजा स्वयं समय समयपर मन्त्रीको प्रधानता देता है। **प्रश्न**–तर्क से कैसा ही समाधान हो जाय पर व्याकरण शास्त्रमें स्पष्ट कहा है कि दो से १९ तकके अंक संख्येय प्रधान ही होते हैं तथा बीस आदि कभी संख्याप्रधान और कभी संख्येयप्रधान। यदि दो आदि शब्द भी कदाचित् संख्यावाची हों तो बीस आदिके समान ही इनकी स्थिति हो जायगी ऐसी दशामें 'विंशतिर्गवाम्' की तरह सम्बन्धीमें षष्ठी विभक्ति और स्वयंमें एकवचनान्त प्रयोग होना चाहिए। व्याकरणमें ही जो 'द्वयेकयोः' यह संख्याप्रधान प्रयोग देखा जाता है वह संख्यार्थक नहीं है किन्तु जिसके अवयव गौण हैं ऐसे समुदायके अर्थमें है, जैसे कि 'बहुशक्तिकिटकं वनम्'–शक्तिशाली शूकरोंवाला वन। **उत्तर**–संख्याप्रधान होनेपर भी इन्हें संख्येय विषयक मान लेते हैं। 'भावप्रत्ययके बिना भी गुणप्रधान निर्देश हो जाता है' यह नियम है। इस तरह दो आदि शब्द जब संख्येय प्रधान हो गये और एकविंशति शब्द भी संख्येय प्रधान तब तुल्ययोग होनेसे द्वन्द्व समास होनेमें कोई बाधा नहीं है।

भेद शब्दसे द्विआदि शब्दोंका स्वपदार्थ प्रधान समास है। विशेषणविशेष्य समास में 'दो नव आदि ही भेद' ऐसा स्वपदार्थप्रधान निर्देश हो जाता है।

प्रश्न–'द्वियमुनम्' आदिमें पूर्वपदार्थप्रधान समास होता है, अतः द्वि आदि शब्दोंको विशेष्य और भेद-शब्दको विशेषण माननेमें भेद शब्दका पूर्वनिपात होना चाहिये ?

उत्तर–सामान्योपक्रममें विशेष कथन होनेपर वह नियम लागू होता है। 'के?' कहनेसे 'द्वे यमुने' यह उत्तर मिलता है पर 'यमुने' यह कहनेपर दो शब्द निरर्थक हो जाता है। परन्तु यहां बहुत होनेसे सन्देह होता है–'भेदाः' यह कहनेपर 'कति' यह सन्देह बना रहता है और 'द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयः' कहनेपर 'के ते ?' यह सन्देह रहता है अतः उभयव्यभिचार होनेसे विशेषण विशेष्य भाव इष्ट है। दो आदि गुणवाचक हैं अतः विशेषण हैं। अथवा 'दो आदि हैं भेद जिनके' इस प्रकार अन्यपदार्थप्रधान भी समास किया जा सकता है। संख्या शब्दोंका विशेष्य होनेपर भी 'सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानम्' सूत्रसे पूर्वनिपात हो जायगा। पूर्वसूत्रमें कहे गये औपशमिक आदिका अर्थवश विभक्ति परिणमन कराके 'औपशमिकादीनाम्' के रूपमें सम्बन्ध कर लिया जायगा।

§ ३ भेद शब्दका सम्बन्ध प्रत्येकमें कर लेना चाहिये, जैसे कि 'देवदत्त जिनदत्त गुरुदत्तको भोजन कराओ' यहां भोजनका सम्बन्ध प्रत्येकसे हो जाता है। 'यथाक्रमम्' शब्द दो आदिका निर्देशानुसार औपशमिक आदि भावोंसे क्रमशः सम्बन्ध सूचित करता है।

औपशमिक भाव–

सम्यक्त्वचारित्रे ॥३॥

औपशमिक सम्यग्दर्शन और औपशमिकचारित्र ये दो औपशमिक भाव हैं।

§ १–२ मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये तीन दर्शनमोह तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार चारित्रमोह, इस प्रकार इन सात कर्मप्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। अनादिमिथ्यादृष्टि भव्यके काललब्धि आदिके निमित्तसे यह सम्यग्दर्शन होता है। काललब्धि अनेक प्रकारकी है। जैसे–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) भव्य जीवके अर्धपुद्गलपरिवर्तन रूप समय शेष रहनेपर वह सम्यक्त्वके योग्य होता है अधिक कालमें नहीं। (२) जब कर्म उत्कृष्ट स्थिति या जघन्य स्थितिमें बँध रहे हों तब प्रथम सम्यक्त्व नहीं होता किन्तु जब कर्म अन्तःकोड़ाकोड़ि सागरकी स्थितिमें बँध रहे हों तथा पूर्वबद्ध कर्म परिणामोंकी निर्मलताके द्वारा संख्यात हजार सागर कम अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिवाले कर दिए गये हों तब प्रथम सम्यक्त्वकी योग्यता होती है। (३) तीसरी काललब्धि भवकी अपेक्षा है। सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें जातिस्मरण वेदना आदि भी निमित्त होते हैं।

भव्य पञ्चेन्द्रिय संज्ञी मिथ्यादृष्टि पर्याप्तक परिणामोंकी विशुद्धिसे अन्तर्मुहूर्तमें ही मिथ्यात्व कर्मके सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यङ्मिथ्यात्व रूपसे तीन विभाग कर देता है।

उपशम सम्यग्दर्शन चारों ही गतियोंमें होता है। सातों नरकोंमें पर्याप्तक ही नारकी जीव अन्तर्मुहूर्तके बाद प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं। तीसरे नरक तक जातिस्मरण, वेदनानुभव और धर्मश्रवण इन तीन कारणोंसे तथा आगे धर्मश्रवणके सिवाय शेष दो कारणोंसे सम्यक्त्वका लाभ हो सकता है। सभी द्वीप समुद्रोंके पर्याप्तक ही तिर्यञ्च दिवस पृथक्त्व (तीनसे ऊपर ८ से नीचेकी संख्याको पृथक्त्व कहते हैं)के बाद सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं। तिर्यञ्चोंके जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनप्रतिमाका दर्शन ये तीन सम्यक्त्वोत्पत्तिके निमित्त हैं। ढाई द्वीपके पर्याप्तक ही मनुष्य आ० वर्षकी आयुके बाद जातिस्मरण धर्मश्रवण और जिनबिम्बदर्शन रूप किसी भी कारण से सम्यक्त्व लाभ करते हैं। अन्तिम ग्रैवेयक तकके पर्याप्तक ही देव अन्तर्मुहूर्तके बाद ही सम्यक्त्व लाभ कर सकते हैं। भवनवासी आदि सहस्रार स्वर्ग तकके देव जातिस्मरण धर्मश्रवण जिनमहिमा-दर्शन तथा देवैश्वर्य-निरीक्षण रूप किसी भी कारणसे सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं। आनत आदि चार स्वर्गवासी देवोंमें देव-ऋद्धि निरीक्षणके सिवाय तीन कारण और नव ग्रैवेयेकवासी देवोंमें देव-ऋद्धि निरीक्षण और जिनमहिमा दर्शनके बिना शेष दो कारणोंसे सम्यक्त्वोत्पत्ति हो सकती है। ग्रैवेयेकसे ऊपरके देव नियमसे सम्यग्दृष्टि ही होते हैं।

§ ३ अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान और संज्वलन क्रोध मान माया लोभ ये सोलह कषाय, हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये ९ नोकषाय, मिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये तीन दर्शनमोह इस प्रकार अट्ठाईस मोह प्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक चारित्र होता है।

§ ४ औपशमिक सम्यग्दर्शन होनेके बाद ही क्रमशः औपशमिक चारित्र होता है अतः पूज्य होनेसे उसका प्रथम ग्रहण किया है।

क्षायिकभाव–

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥४॥

केवलज्ञान, केवलदर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य और चशब्दसे सम्यक्त्व और चारित्र ये नव क्षायिकभाव हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ १ समग्र ज्ञानावरणके क्षयसे केवलज्ञान और दर्शनावरणके क्षयसे केवलदर्शन क्षायिक होते हैं।

§ २ समस्त दानान्तराय कर्मके अत्यन्त क्षयसे अनन्त प्राणियोंको अभय और अहिंसाका उपदेशरूप अनन्त दान क्षायिक दान है।

§ ३ संपूर्ण लाभान्तरायका अत्यन्त क्षय होनेपर कवलाहार न करनेवाले केवली को शरीरकी स्थितिमें कारणभूत परम शुभ सूक्ष्म दिव्य अनन्त पुद्गलोंका प्रतिसमय शरीर में सम्बन्धित होना क्षायिक लाभ है। अतः "कवलाहारके बिना कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष तक औदारिक शरीरकी स्थिति कैसे रह सकती है ?" यह शंका निराधार हो जाती है।

§ ४ संपूर्ण भोगान्तरायके नाशसे उत्पन्न होनेवाला सातिशय भोग क्षायिक भोग है। इसीसे पुष्पवृष्टि •गन्धोदकवृष्टि पदकमलरचना सुगन्धित शीत वायु सद्य धूप आदि अतिशय होते हैं।

§ ५ समस्त उपभोगान्तरायके नाशसे उत्पन्न होनेवाला सातिशय उपभोग क्षायिक उपभोग है। इसीसे सिंहासन छत्र-त्रय चमर अशोकवृक्ष भामण्डल दिव्यध्वनि देवदुन्दुभि आदि होते हैं।

§ ६ समस्त वीर्यान्तरायके अत्यन्त क्षयसे प्रकट होनेवाला अनन्त क्षायिक वीर्य है।

§ ७ दर्शनमोहके क्षयसे क्षायिक सम्यग्दर्शन और चारित्रमोहके क्षयसे क्षायिक चारित्र होता है।

प्रश्न–दानान्तराय आदिके क्षयसे प्रकट होनेवाली दानादिलब्धियोंके अभयदान आदि कार्य सिद्धोंमें भी होने चाहिए ?

उत्तर–दानादिलब्धियोंके कार्यके लिए शरीर नाम और तीर्थङ्कर प्रकृतिके उदयकी भी अपेक्षा है। सिद्धोंमें ये लब्धियां अव्याबाध अनन्तसुख रूपसे रहती हैं। जैसे कि केवल ज्ञानरूपमें अनन्तवीर्य। जैसे पोरोंके पृथक् निर्देशसे अंगुलि सामान्यका कथन हो जाता है उसीतरह सभी क्षायिक भावोंमें व्यापक सिद्धत्वका भी कथन उन विशेष क्षायिकभावोंके कथनसे हो ही गया है, उसके पृथक् कथनकी आवश्यकता नहीं है।

क्षायोपशमिक भाव–

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥५॥

चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पांच लब्धियां, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम ये १८ क्षायोपशमिक भाव हैं।

§ १-२ चतुः त्रि आदि शब्दोंका द्वन्द्व समास करके पीछे भेदशब्दसे अन्यपदार्थ-प्रधान बहुव्रीहि समास करना चाहिए। यहां सूत्रमें 'त्रि' शब्द दो बार आया है अतः द्वन्द्वका अपवाद करके एकशेष नहीं किया गया है; क्योंकि एक त्रि संख्यासे अर्थबोध नहीं होता, यहां अन्यपदार्थ प्रधान है और त्रि शब्दको पृथक् कहनेका विशेष प्रयोजन भी है। 'चार प्रकारका ज्ञान, तीन अज्ञान' आदि अनुक्रमसे सम्बन्ध ज्ञापन करानेके लिए यहां 'यथाक्रम' शब्दका अनुवर्तन 'द्विनवाष्टा' सूत्रसे कर लेना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ ३ उदयप्राप्त सर्वघाति स्पर्धकोंका क्षय होनेपर, अनुदयप्राप्त सर्वघाति स्पर्धकोंका सदवस्थारूप उपशम होनेपर तथा देशघाति स्पर्धकोंके उदय होनेपर क्षायोपशमिक भाव होते हैं।

§ ४ स्पर्धक–उदय प्राप्त कर्मके प्रदेश अभव्योंके अनन्तगुणे तथा सिद्धोंके अनन्त-भाग प्रमाण होते हैं। उनमेंसे सर्वजघन्य गुणवाले प्रदेशके अनुभागका बुद्धिके द्वारा उतना सूक्ष्म विभाग किया जाय जिससे आगे विभाजन न हो सकता हो। सर्वजीवराशिके अनन्तगुण प्रमाण ऐसे सर्वजघन्य अविभाग परिच्छेदोंकी राशिको एक वर्ग कहते हैं। इसी तरह सर्वजघन्य अविभाग परिच्छेदोंके, जीवराशिसे अनन्तगुण प्रमाण, राशिरूप वर्ग बनाने चाहिए। इन समगुणवाले समसंख्यक वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं। पुनः एक अविभाग परिच्छेद अधिक गुणवालोंके सर्वजीवराशिकी अनन्तगुण प्रमाण राशिरूप वर्ग बनाने चाहिए। उन वर्गोंके समुदायकी वर्गणा बनानी चाहिए। इस तरह एक एक अविभाग परिच्छेद बढ़ाकर वर्ग और वर्गसमूहरूप वर्गणाएँ तब तक बनानी चाहिए जब-तक एक अधिक परिच्छेद मिलता जाय। इन क्रमहानि और क्रमवृद्धिवाली वर्गणाओंके समुदायको एक स्पर्धक कहते हैं। इसके बाद दो तीन चार संख्यात और असंख्यात गुण अधिक परिच्छेद नहीं मिलते किन्तु अनन्तगुण अधिकवाले ही मिलते हैं। फिर उनमेंसे पूर्वोक्त क्रमसे समगुणवाले वर्गोंके समुदायरूप वर्गणा बनानी चाहिए। इस तरह जहां तक एक एक अधिक परिच्छेदका लाभ हो वहां तककी वर्गणाओंके समूहका दूसरा स्पर्धक बनता है। इसके आगे दो तीन चार संख्यात असंख्यात गुण अधिक परिच्छेद नहीं मिलेंगे किन्तु अनन्तगुण अधिक ही मिलते हैं। इस तरह समगुणवाले वर्गोंके समुदायरूप वर्ग-णाओंके समूहरूप स्पर्धक एक उदयस्थानमें अभव्योंसे अनन्तगुणे तथा सिद्धोंके अनन्तभाग प्रमाण होते हैं।

§ ५ वीर्यान्तराय और मतिश्रुतज्ञानावरणके सर्वघाति स्पर्धकोंका उदयक्षय और आगामीका सदवस्था उपशम होनेपर तथा देशघाति स्पर्धकोंका उदय होनेपर क्षायोपशमिक मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं। देशघाति स्पर्धकोंके अनुभागतारतम्यसे क्षयोपशममें भेद होता है। इसी तरह अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान भी क्षायोपशमिक होते हैं।

§ ६ मिथ्यात्वकर्मके उदयसे मत्यज्ञान श्रुताज्ञान और विभंगज्ञान ये तीन अज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान होते हैं।

§ ७ चक्षुर्दर्शन अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन ये तीन दर्शन अपने अपने आव-रणोंके क्षयोपशमसे होते हैं।

§ ८ दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य ये पांच लब्धियाँ दानान्तराय आदिके क्षयोपशमसे होती हैं।

अनन्तानुबन्धी चार कषाय मिथ्यात्व और सम्यङ्मिथ्यात्वके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम होनेपर तथा सम्यक्त्व नामक देशघाति प्रकृतिके उदयमें क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। यह वेदक भी कहलाता है। अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान रूप बारह कषायोंके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम होनेपर तथा चार संज्वलनोंमें से किसी एक कषाय और नव नोकषायोंका यथासंभव उदय होनेपर क्षायोपशमिक चारित्र होता है। अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानरूप आठ कषायोंका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदयक्षय और सदवस्था उपशम, प्रत्याख्यान कषायका उदय संज्वलनके देशघाति स्पर्धक और यथासंभव नोकषायोंका उदय होनेपर विरत-अविरत परिणाम उत्पन्न करनेवाला क्षायोपशमिक संयमासंयम होता है।

§ ९ क्षायोपशमिक संज्ञित्व भाव नोइन्द्रियावरणके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेके कारण मतिज्ञानमें अन्तर्भूत हो जाता है। सम्यङ्मिथ्यात्व यद्यपि दूध पानीकी तरह उभयात्मक है फिर भी सम्यक्त्वपना उसमें विद्यमान होनेसे सम्यक्त्वमें अन्तर्भूत हो जाता है। योगका वीर्यलब्धिमें अन्तर्भाव हो जाता है। अथवा, च शब्दसे इन भावोंका संग्रह हो जाता है। पंचेन्द्रियत्व समान होनेपर भी जिसके संज्ञिजाति नामकर्मके उदयके साथ ही नोइन्द्रियावरणका क्षयोपशम होता है वही संज्ञी होता है, अन्य नहीं।

औदयिक भाव--

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥६॥

चार गति, चार कषाय, तीन लिङ्ग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व और छह लेश्याएँ ये इक्कीस औदयिक भाव हैं।

§ १ जिस कर्मके उदयसे आत्मा नारक आदि भावोंको प्राप्त हो वह गति है। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये चार गतियाँ होती हैं।

§ २ कषाय नामक चारित्रमोहके उदयसे होनेवाली क्रोधादिरूप कलुषता कषाय कहलाती है। यह आत्माके स्वाभाविक रूपको कष् देती है अर्थात् उसकी हिंसा करती है। क्रोध मान माया और लोभ ये चार कषाएँ होती हैं।

§ ३ द्रव्य और भावके भेदसे लिंग दो प्रकार का है। चूंकि आत्मभावोंका प्रकरण है, अतः नामकर्मके उदयसे होनेवाले द्रव्यलिंगकी यहाँ विवक्षा नहीं है। स्त्रीवेदके उदयसे होनेवाली पुरुषाभिलाषा स्त्रीवेद है, पुरुषवेदके उदयसे होनेवाली स्त्री-अभिलाषा पुरुषवेद और नपुंसकवेदके उदयसे होनेवाली उभयाभिलाषा नपुंसकवेद है।

§ ४ दर्शनमोहके उदयसे तत्त्वार्थमें अरुचि या अश्रद्धान मिथ्यात्व कहलाता है।

§ ५ जिस प्रकार प्रकाशमान सूर्यका तेज सघन मेघों द्वारा तिरोहित हो जाता है उसी तरह ज्ञानावरणके उदयसे ज्ञानस्वरूप आत्माके ज्ञान गुणकी अनभिव्यक्ति अज्ञान है। एकेन्द्रियके रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्रेन्द्रियावरणके सर्वघाति स्पर्धकोंका उदय होनेसे रसादिका अज्ञान रहता है। तोता मैना आदिके सिवाय पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चोंमें तथा कुछ मनुष्योंमें अक्षर श्रुतावरणके सर्वघाति स्पर्धकोंका उदय होनेसे अक्षर श्रुतज्ञान नहीं हो पाता। नोइन्द्रियावरणके उदयसे होनेवाला असंज्ञित्व अज्ञानमें ही अन्तर्भूत है। इसी तरह अवधि ज्ञानावरणादिके उदयसे होनेवाले यावत् अज्ञान औदयिक हैं।

§ ६ चारित्रमोहके उदयसे होनेवाली हिंसादि और इन्द्रिय विषयोंमें प्रवृत्ति असंयम है।

§ ७ अनादि कर्मबद्ध आत्माके सामान्यतः सभी कर्मोंके उदयसे असिद्ध पर्याय होती है। दसवें गुणस्थान तक आठों कर्मोंके उदयसे, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोहनीयके सिवाय सात कर्मोंके उदयसे और सयोगी तथा अयोगीमें चार अघातिया कर्मोंके उदयसे असिद्धत्व भाव होता है।

§ ८ कषायके उदयसे अनुरंजित योगप्रवृत्ति लेश्या है। द्रव्यलेश्या पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्मके उदयसे होती है अतः आत्मभावोंके प्रकरणमें उसका ग्रहण नहीं किया है। यद्यपि योगप्रवृत्ति आत्मप्रदेश परिस्पन्द रूप होनेसे क्षायोपशमिक वीर्यलब्धिमें अन्तर्भूत हो जाती है और कषाय औदयिक होती है फिर भी कषायोदयके तीव्र मन्द आदि तारतम्यसे अनुरंजित लेश्या पृथक् ही है। आत्मपरिणामोंके अशुद्धि तारतम्यकी अपेक्षा लेश्याके कृष्ण नील कापोत पीत पद्म और शुक्ल ये छह भेद हो जाते हैं।

यद्यपि उपशान्तकषाय क्षीणकषाय और सयोगकेवली गुणस्थानोंमें कषायका उदय नहीं है फिर भी वहां भूतपूर्व प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा शुक्ल लेश्या उपचारसे कही है। 'जो योगप्रवृत्ति पहिले कषायानुरंजित थी वही यह है' इस तरह एकत्व उपचारका निमित्त होता है। चूंकि अयोगीमें योगप्रवृत्ति भी नहीं है अतः वे अलेश्य कहे जाते हैं।

§ ९-११ मिथ्यादर्शनमें दर्शनावरणके उदयसे होनेवाले अदर्शनका अन्तर्भाव हो जाता है। यद्यपि मिथ्यादर्शन तत्त्वार्थश्रद्धान रूप है फिर भी अदर्शन सामान्यमें दर्शनाभाव रूपसे दोनों प्रकारके दर्शनोंका अभाव ले लिया जाता है। लिंगके सहचारी हास्य रति आदि छह नोकषाय लिंगमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। गति अघातिकर्मोदयका उपलक्षण है, इससे नाम कर्म वेदनीय आयु और गोत्रकर्मके उदयसे होनेवाले यावत् जीवविपाकी भाव गृहीत हो जाते हैं। सूत्रमें 'यथाक्रम' का अनुवर्तन करके गति आदिका चार आदिके साथ क्रमशः सम्बन्ध कर लेना चाहिये।

पारिणामिक भाव–

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥७॥

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन अन्य द्रव्यमें न पाए जानेवाले आत्माके पारिणामिक भाव हैं।

§ १-२ कर्मके उदय उपशम क्षय और क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखनेवाले मात्र द्रव्यकी स्वभावभूत अनादि पारिणामिकी शक्तिसे ही आविर्भूत ये भाव पारिणामिक हैं।

§ ३-६ यदि आयु नामक कर्म पुद्गलके सम्बन्धसे जीवत्व माना जाय तो उस कर्म पुद्गलका सम्बन्ध तो धर्म अधर्म आदि द्रव्योंसे भी है अतः उनमें भी जीवत्व होना चाहिए और सिद्धोंमें कर्म सम्बन्ध न होनेसे जीवत्वका अभाव हो जाना चाहिए, अतः अनादि पारिणामिक जीवद्रव्यका निज परिणाम ही जीवत्व है। 'जीवति अजीवीत् जीविष्यति' यह प्राणधारणकी अपेक्षा जो व्युत्पत्ति है वह केवल व्युत्पत्ति है उससे कोई सिद्धान्त फलित नहीं होता जैसे कि 'गच्छतीति गौः' से मात्र गोशब्दकी व्युत्पत्ति ही होती है न कि गौका लक्षण आदि। जीवका वास्तविक अर्थ तो चैतन्य ही है और वह अनादि पारिणामिक द्रव्य निमित्तक है।

§ ७-९ सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र पर्याय जिसकी प्रकट होगी वह भव्य है और जिसके प्रकट न होगी वह अभव्य। द्रव्यकी शक्तिसे ही यह भेद है। उस भव्यको जो अनन्तकालमें भी सिद्ध नहीं होगा, अभव्य नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें भव्यत्वशक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जैसे कि उस कनक पाषाणको जो कभी भी सोना नहीं बनेगा अन्धपाषाण नहीं कह सकते अथवा उस आगामी कालको जो अनन्तकालमें भी नहीं आयगा अनागामी नहीं कह सकते उसी तरह सिद्धि न होनेपर भी भव्यत्वशक्ति होनेके कारण उसे अभव्य नहीं कह सकते। वह भव्यराशिमें ही शामिल है।

§ १० **प्रश्न**–द्वन्द्व समासके बाद भावार्थक 'त्व' प्रत्यय करनेपर चूंकि भाव एक है अतः एकवचन प्रयोग होना चाहिए? **उत्तर**–द्रव्य भेदसे भाव भी भिन्न हो जाता है अतः भेद विवक्षामें बहुवचन किया गया है। 'त्व' का प्रत्येकसे सम्बन्ध कर लेना चाहिए–जीवत्व भव्यत्व और अभव्यत्व।

§ ११ आगममें सासादन गुणस्थानमें दर्शन मोहके उदय उपशम क्षय या क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखनेके कारण जो पारिणामिक भाव बताया है वह सापेक्ष है। वस्तुतः वहां अनन्तानुबन्धिका उदय होनेसे औदयिक भाव ही है। अतः उसका यहां ग्रहण नहीं किया है।

§ १२–१३ अस्तित्व अन्यत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व पर्यायवत्त्व असर्वगतत्व अनादिसन्ततिबन्धनबद्धत्व प्रदेशवत्त्व अरूपत्व नित्यत्व आदिके समुच्चयके लिए सूत्रमें 'च' शब्द दिया है। चूंकि ये भाव अन्य द्रव्योंमें भी पाए जाते हैं अतः असाधारण पारिणामिक जीवभावोंके निर्देशक इस सूत्रमें इनका ग्रहण नहीं किया है, यद्यपि ये सभी भाव कर्मके उदय उपशम क्षय क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखनेके कारण पारिणामिक हैं। अस्तित्व छहों द्रव्योंमें पाया जाता है अतः साधारण है। एक द्रव्य दूसरेसे भिन्न होता है, अतः अन्यत्व भी सर्वद्रव्यसाधारण है। स्वकार्यका कर्तृत्व भी सभी द्रव्योंमें ही है। धर्म अधर्म आदिमें भी 'अस्ति' आदि क्रियाओंका कर्तृत्व है ही। आत्मप्रदेश परिस्पन्द रूप योग क्षायोपशमिक है। जीवका पुण्य पाप सम्बन्धी कर्तृत्व कर्मके उदय और क्षयोपशमके अधीन होनेसे पारिणामिक नहीं है। मिथ्यादर्शन दर्शनमोहके उदयसे, अविरति प्रमाद और कषाय चारित्र मोहके उदयसे और योग वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे होते हैं। चैतन्य होनेके कारण ही यदि पुण्य पापका कर्तृत्व जीवका असाधारण धर्म माना जाय तो मुक्त जीवोंमें भी पुण्यपापका कर्तृत्व मानना होगा। अतः कर्तृत्व सर्वद्रव्यसाधारण धर्म है। एक प्रकृष्ट शक्तिवाले द्रव्यके द्वारा दूसरे द्रव्यकी सामर्थ्यको ग्रहण करना भोक्तृत्व कहलाता है। जैसे कि आत्मा आहारादिद्रव्यकी शक्तिको खींचनेके कारण भोक्ता कहा जाता है। ऐसा भोक्तृत्व सर्वसाधारण ही है। विष द्रव्य अपनी तीव्र शक्तिसे कोदों आदिकी शक्तिको खींच लेता है अतः वह उसका भोक्ता है। नमककी झील लकड़ी पत्थर आदिको नमक बना देती है अतः वह उनकी भोक्त्री है। पदार्थोंकी तत्तत् प्रतिनियत शक्तियोंके कारण द्रव्योंमें परस्पर भोक्तृभोग्यभाव होता है। वीर्यान्तरायके क्षयोपशम अङ्गोपाङ्ग नाम कर्मका उदय आदि कारणोंसे शुभ-अशुभ कर्मपुद्गलके फल भोगनेकी शक्ति आत्मामें आती है। आहारादिके भोगनेकी शक्ति भोगान्तरायके क्षयोपशमसे और उसको पचानेकी शक्ति वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे होती है।

पर्यायवत्त्व भी सभी द्रव्योंमें पाया जाता है। आकाशको छोड़कर परमाणु आदि सभी द्रव्योंमें असर्वगतत्व धर्म पाया जाता है। जीवका स्वशरीर प्रमाण अवगाहनाको धारण करना कर्मोदयनिमित्तक होनेसे पारिणामिक नहीं है। सभी द्रव्य अपने अनादिकालीन स्वभाव सन्ततिसे बद्ध हैं, सभीके अपने अपने स्वभाव अनाद्यनन्त हैं। अनादिकालीन कर्म-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्धनबद्धता यद्यपि जीवमें ही पाई जाती है पर वह पारिणामिक नहीं है किन्तु कर्मोदय-निमित्तक है। प्रदेशवत्त्व भी सर्वद्रव्यसाधारण है, सब अपने अपने नियत प्रदेशोंको रखते हैं। अरूपत्व भी जीव धर्म अधर्म आकाश और काल द्रव्योंमें साधारण है। नित्यत्व भी द्रव्यदृष्टिसे सर्वद्रव्यसाधारण है। अग्नि आदि की भी ऊर्ध्वगति होती है अतः ऊर्ध्वगतित्व भी साधारण है। इसी तरह आत्मामें अन्य भी साधारण पारिणामिक भाव होते हैं।

§ १४–१८ **प्रश्न**–गति आदि औदयिक भावोंके संग्रहके लिए 'च' शब्द मानना चाहिये। **उत्तर**–गति आदि पारिणामिक नहीं हैं किन्तु कर्मोदयनिमित्तक हैं अतः सूत्रमें पारिणामिक भाव तीन ही बताए हैं। क्षयोपशम भावकी तरह गति आदिको औदयिक और पारिणामिक रूपसे उभयरूप नहीं कह सकते; गति आदि भाव केवल औदयिक हैं पारिणामिक नहीं। यदि ये पारिणामिक होते तो जीवत्वकी तरह सिद्धोंमें भी पाए जाते। आगममें जिस प्रकार क्षय और उपशमका 'मिश्र' क्षायोपशमिक बताया है उस तरह औद-यिक और पारिणामिकको मिलाकर एक अन्य 'मिश्र' नहीं बताया है। अतः अस्तित्व आदि के समुच्चयके ही लिए 'च' शब्द दिया गया है।

§ १९–२० **प्रश्न**–अस्तित्व आदिके समुच्चयके लिए सूत्रमें 'आदि' शब्द देना चाहिये? **उत्तर**–आदि शब्द देनेसे पारिणामिक भाव 'तीन' ही नहीं रहेंगे। च शब्दसे गौणरूप से द्योतित होनेवाले अस्तित्व आदि भावोंकी संख्यासे पारिणामिक भावोंकी मुख्य तीन संख्या का व्याघात नहीं होता; क्योंकि प्रधान और असाधारण पारिणामिक तीन ही विवक्षित हैं। और यदि 'आदि' शब्द दिया जाता तो आदि शब्दसे सूचित होनेवाले अस्तित्व आदिका ही प्राधान्य हो जाता, जीवत्व भव्यत्व और अभव्यत्व तो उपलक्षक हो जानेसे गौण ही हो जाते। यदि तद्गुणसंविज्ञान पक्ष भी लिया जाय तो भी दोनोंकी ही समानरूपसे प्रधानता हो जायगी।

§ २१–२२ सान्निपातिक नामका कोई छठवाँ भाव नहीं है। यदि है भी तो वह 'मिश्र' शब्दसे गृहीत हो जाता है। 'मिश्र' शब्द केवल क्षयोपशमके लिए ही नहीं है किन्तु उसके पास ग्रहण किया गया 'च' शब्द सूचित करता है कि मिश्र शब्दसे क्षायोपशमिक और सान्निपातिक दोनोंका ग्रहण करना चाहिए। सान्निपातिक नामका एक स्वतन्त्र भाव नहीं है। संयोग भंगकी अपेक्षा आगममें उसका निरूपण किया गया है।

सान्निपातिक भाव २६, ३६ और ४१ आदि प्रकारके बताए हैं।

द्विसंयोगी १०, त्रिसंयोगी १०, चतुःसंयोगी ५ और पंचसंयोगी १ इस तरह २६ भाव होते हैं। **द्विसंयोगी**–१ औदयिक-औपशमिक– मनुष्य और उपशान्त क्रोध। २ औद-यिक-क्षायिक– मनुष्य और क्षीणकषायी। ३ औदयिक-क्षायोपशमिक– मनुष्य और पंचे-न्द्रिय। ४ औदयिक-पारिणामिक– लोभी और जीव। ५ औपशमिक-क्षायिक– उपशान्त लोभ और क्षायिक सम्यग्दृष्टि। ६ औपशमिक-क्षायोपशमिक– उपशान्तमान और मति-ज्ञानी। ७ औपशमिक-पारिणामिक– उपशान्तमाया और भव्य। ८ क्षायिक-क्षायोपशमिक– क्षायिक सम्यग्दृष्टि और श्रुतज्ञानी। ९ क्षायिक-पारिणामिक– क्षीणकषाय और भव्य। १० क्षायोपशमिक-पारिणामिक– अवधिज्ञानी और जीव। इस तरह द्विसंयोगीके १० भेद होते हैं। **त्रिसंयोगी**–१ औदयिक-औपशमिक-क्षायिक– मनुष्य उपशान्तमोह और क्षायिक-सम्यग्दृष्टि। २ औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक– मनुष्य उपशान्त क्रोध और वाग्योगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३ औदयिक-औपशमिक-पारिणामिक– मनुष्य उपशान्तमोह और जीव। ४ औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक– मनुष्य क्षीणकषाय और श्रुतज्ञानी। ५ औदयिक-क्षायिक पारिणामिक– मनुष्य क्षायिकसम्यग्दृष्टि और जीव। ६ औदयिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक– मनुष्य मनोयोगी और जीव। ७ औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक– उपशान्तमान क्षायिकसम्यग्दृष्टि और काययोगी। ८ औपशमिक-क्षायिक-पारिणामिक– उपशान्तवेद क्षायिकसम्यग्दृष्टि और भव्य। ९ औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक– उपशान्तमान मतिज्ञानी और जीव। १० क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक– क्षीणमोह पंचेन्द्रिय और भव्य।

चतुःसंयोगी–१ औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक– उपशान्तलोभ क्षायिकसम्यग्दृष्टि पंचेन्द्रिय और जीव। २ औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक–मनुष्य क्षीणकषाय मतिज्ञानी और भव्य। ३ औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक– मनुष्य उपशान्तवेद श्रुतज्ञानी और जीव। ४ औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-पारिणामिक–मनुष्य उपशान्तराग क्षायिकसम्यग्दृष्टि और जीव। ५ औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक–मनुष्य उपशान्तमोह क्षायिकसम्यग्दृष्टि और अवधिज्ञानी।

पंचभावसंयोगी–१ औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक– मनुष्य उपशान्तमोह क्षायिकसम्यग्दृष्टि पंचेन्द्रिय और जीव। इस तरह २६ प्रकारके सान्निपातिक भाव हैं।

३६ प्रकार—दो औदयिक भाव और औदयिकका औपशमिक आदिसे संयोग करने पर ५ भंग होते हैं–१ औदयिक-औदयिक– मनुष्य और क्रोधी। २ औदयिक-औपशमिक–मनुष्य और उपशान्तक्रोध। ३ औदयिक-क्षायिक–मनुष्य और क्षीणकषाय। ४ औदयिक-क्षायोपशमिक–क्रोधी और मतिज्ञानी। ५ औदयिक-पारिणामिक–मनुष्य और भव्य।

दो औपशमिक और औपशमिकका शेष चारके साथ संयोग करनेपर पांच भंग होते हैं–१ औपशमिक-औपशमिक– उपशमसम्यग्दृष्टि और उपशान्तकषाय। २ औपशमिक-औदयिक–उपशान्तकषाय और मनुष्य। ३ औपशमिक-क्षायिक–उपशान्तक्रोध और क्षायिक सम्यग्दृष्टि। ४ औपशमिक-क्षायोपशमिक–उपशान्तकषाय और अवधिज्ञानी ५ औपशमिक पारिणामिक–उपशमसम्यग्दृष्टि और जीव।

दो क्षायिक और क्षायिकका औपशमिक आदिसे मेल करनेपर पांच भंग होते हैं—१ क्षायिक-क्षायिक– क्षायिकसम्यग्दृष्टि और क्षीणकषाय। २ क्षायिक-औदयिक–क्षीणकषाय और मनुष्य। ३ क्षायिक-औपशमिक–क्षायिकसम्यग्दृष्टि और उपशान्तवेद। ४ क्षायिक-क्षायोपशमिक–क्षीणकषाय और मतिज्ञानी। ५ क्षायिक पारिणामिक–क्षीणमोह और भव्य।

दो क्षायोपशमिक और क्षायोपशमिकका शेषके साथ मेल करनेपर पांच भंग होते हैं। क्षायोपशमिक-क्षायोपशमिक– संयत और अवधिज्ञानी। २ क्षायोपशमिक-औदयिक–संयत और मनुष्य। ३ क्षायोपशमिक-औपशमिक– संयत और उपशान्तकषाय। ४ क्षायोपशमिक-क्षायिक–संयतासंयत और क्षायिकसम्यग्दृष्टि। ५ क्षायोपशमिक-पारिणामिक–अप्रमत्तसंयत और जीव।

दो पारिणामिक और पारिणामिकका शेषके साथ मेल करनेपर पांच भंग होते हैं–१ पारिणामिक-पारिणामिक–जीव और भव्य। २ पारिणामिक-औदयिक–जीव और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रोधी। ३ पारिणामिक-औपशमिक-भव्य और उपशान्तकषाय। ४ पारिणामिक-क्षायिक-भव्य और क्षीणकषाय। ५ पारिणामिक-क्षायोपशमिक-संयत और भव्य। इस तरह द्विभाव-संयोगी २५ त्रिभाव संयोगी १० और पंचभावसंयोगी १ मिलकर कुल ३६ भंग हो जाते हैं। इन्हीं छत्तीसमें चतुर्भावसंयोगी ५ भंग मिलानेपर ४१ प्रकारके भी सान्निपातिक भाव होते हैं।

§ २३ यद्यपि औपशमिक क्षायिक औदयिक आदि भाव पुद्गल कर्मोंके उदय उपशम निर्जरा आदिकी अपेक्षा रखते हैं, फिर भी वे आत्माके ही परिणाम हैं। आत्मा ही कर्मनिमित्तसे उन उन परिणामोंको प्राप्त करता है, और इसीलिए इन परिणामोंको आत्माका असाधारण स्वतत्त्व कहा है। कहा भी है–"जिस समय जो द्रव्य जिस रूपसे परिणत होता है उस समय वह तन्मय हो जाता है। इसलिए धर्मपरिणत आत्मा धर्म कहा जाता है।"

§ २४–२७ **प्रश्न**–चूँकि आत्मा अमूर्त है अतः उसका कर्मपुद्गलोंसे अभिभव नहीं होना चाहिए? **उत्तर**–अनादि कर्मबन्धनके कारण उसमें विशेष शक्ति आ जाती है। अनादि पारिणामिक चैतन्यवान् आत्माकी नारकादि मतिज्ञानादि रूप पर्याएं भी चेतन ही हैं। वह अनादि कार्मण शरीरके कारण मूर्तिमान् हो रहा है और इसीलिए उस पर्याय सम्बन्धी शक्तिके कारण मूर्तिक कर्मोंको ग्रहण करता है। आत्मा कर्मबद्ध होनेसे कथञ्चित् मूर्तिक है तथा अपने ज्ञानादि स्वभावको न छोड़नेके कारण अमूर्तिक है। जिस प्रकार मदिराको पीकर मनुष्य मूच्छित हो जाता है, उसकी स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है उसी तरह कर्मोदयसे आत्माके स्वाभाविक ज्ञानादि गुण अभिभूत हो जाते हैं। मदिराके द्वारा इन्द्रियों में विभ्रम या मूर्च्छा आदि मानना ठीक नहीं है; क्योंकि जब इन्द्रियाँ अचेतन हैं तो अचेतनमें बेहोशी आ नहीं सकती अन्यथा जिस पात्रमें मदिरा रखी है उसे ही मूछित हो जाना चाहिए। यदि इन्द्रियोंमें चैतन्य है तो यह सिद्ध हो जाता है कि बेहोशी चेतनमें होती है न कि अचेतन में।

पूर्वपक्ष–(चार्वाक)–जिस प्रकार महुआ गुड़ आदिके सड़ाने पर उनमें मादकता प्रकट हो जाती है उसी तरह पृथिवी जल आदि भूतोंका विशेष रासायनिक मिश्रण होनेपर सुखदुःखादिरूप चैतन्य प्रकट हो जाता है, कोई स्वतन्त्र अमूर्त चैतन्य नहीं है।

उत्तरपक्ष (जैन)–सुखादिकसे रूपादिकमें विलक्षणता है। रूपरसादि पृथिवी आदि के गुण जब पृथिवी आदिको विभक्त कर देते हैं तब कम हो जाते हैं और जब पृथिवी आदि अविभक्त रहते हैं तब अधिक देखे जाते हैं। ऐसे ही शरीरके अवयवोंके विभक्त या अविभक्त कहने पर सुख ज्ञानादि गुणोंमें न्यूनाधिकता नहीं देखी जाती। यदि सुखादि पृथिवी आदिके गुण हों तो मृत शरीरमें वे गुण रूपादि गुणोंकी तरह अवश्य मिलने चाहिए। यह तर्क तो उचित नहीं है कि–'मृत शरीरसे कुछ सूक्ष्म भूत निकल गए हैं, अतः ज्ञानादि नहीं मिलते'; क्योंकि बहुतसे स्थूल भूत जब मिलते हैं तो ज्ञानादि गुणोंका अभाव नहीं होना चाहिए। यदि सूक्ष्म भूतोंके निकल जानेसे वे गुण मृत शरीरमें नहीं रहे तो वे गुण उन सूक्ष्म भूतोंके ही माने जाने चाहिए न कि समुदाय प्राप्त सभी भूतोंके। ऐसी दशामें मदिराका दृष्टान्त समुचित नहीं होगा क्योंकि मदिरामें तो कण-कणमें मादकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याप्त रहती है। फिर उन सूक्ष्म भूतोंकी सिद्धि कैसे की जायगी ? यदि ज्ञानादिके द्वारा, तो ज्ञानादिसे आत्मा की ही सिद्धि मान लेनी चाहिए।

जिन इन्द्रियोंमें शराबके द्वारा बेहोशी मानते हैं वे इन्द्रियां यदि बाह्य करण हैं तो अचेतन होनेके कारण उनपर मदिराका कोई असर नहीं होना चाहिए। यदि अन्तःकरण होकर वे अचेतन हैं तो इनमें भी बेहोशी नहीं आ सकती। यदि चेतन हैं; तो यह मानना होगा कि ज्ञानरूप होनेसे ही इनपर मदिराका असर हुआ। ऐसी दशामें 'अमूर्त होनेसे अभिभव नहीं हो सकता' यह पक्ष स्वतः खंडित हो जाता है।

यद्यपि आत्मा अनादिसे कर्मबद्ध है फिर भी उसका अपने ज्ञानादि गुणोंके कारण स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है। कहा भी है–

"बन्धकी दृष्टिसे आत्मा और कर्ममें एकत्व होनेपर भी लक्षणकी दृष्टिसे दोनोंमें भिन्नता है। अतः आत्मामें एकान्तसे अमूर्तिकपना नहीं है।"

जीवका लक्षण–

उपयोगो लक्षणम् ॥८॥

उपयोग जीवका लक्षण है।

§ १ दो प्रकारके बाह्य तथा दो प्रकारके आभ्यन्तर हेतुओंका यथासंभव सन्निधान होनेपर आत्माके चैतन्यान्वयी परिणमनको उपयोग कहते हैं। बाह्य हेतु आत्मभूत और अनात्मभूतके भेदसे दो प्रकारके हैं। आत्मासे सम्बद्ध शरीरमें निर्मित चक्षु आदि इन्द्रियां आत्मभूत बाह्य हेतु हैं और प्रदीप आदि अनात्मभूत बाह्य हेतु। मन वचन कायकी वर्गणाओंके निमित्तसे होनेवाला आत्मप्रदेश परिस्पन्दन रूप द्रव्ययोग अन्तःप्रविष्ट होनेसे आभ्यन्तर अनात्मभूत हेतु है तथा द्रव्ययोगनिमित्तक ज्ञानादिरूप भावयोग तथा आत्माकी विशुद्धि आभ्यन्तर आत्मभूत हेतु है। इन हेतुओंका यथासंभव ही सन्निधान होता है। मनुष्योंको दीपककी आवश्यकता होती है, पर रात्रिचर बिल्ली आदिको नहीं। इन्द्रियां भी एकेन्द्रियादिके यथायोग्य ही रहती हैं। असंज्ञी जीवोंके मन नहीं होता है। एकेन्द्रिय, विग्रहगतिप्राप्त जीव और समुद्घातगत सयोगकेवलीके एक काययोग ही होता है। क्षीणकषाय तक क्षयोपशमानुसार तन्निमित्तक एक ही भावयोग होता है। आगे ज्ञानावरणादिका क्षय होता है। इस तरह विभिन्न जीवोंके उपयोगके कारण भिन्न-भिन्न होते हैं। चैतन्य केवल सुख दुःख मोह रूप ही नहीं है जिससे ज्ञानदर्शनको चैतन्य कहनेसे पूर्वापर विरोध हो। चैतन्य आत्माका सामान्य असाधारण धर्म है। वह सुख दुःखादि रूप भी होता है और ज्ञान दर्शनादि रूप भी। 'समुदायवाची शब्दोंका प्रयोग अवयवोंमें भी हो जाता है' इस न्यायके अनुसार सुखदुःखादिको चैतन्य कह दिया गया है।

§ २–३ परस्पर सम्मिलित वस्तुओंसे जिसके द्वारा किसी वस्तुका पृथक्करण हो वह उसका लक्षण होता है। जैसे सोना और चांदीकी मिली हुई डलीमें पीला रंग और वजन सोनेका भेदक होता है उसी तरह शरीर और आत्मामें बंधकी दृष्टिसे परस्पर एकत्व होनेपर भी ज्ञानादि उपयोग उसके भेदक आत्मभूत लक्षण होते हैं। लक्षण आत्मभूत और अनात्मभूतके भेदसे दो प्रकार का है। अग्निकी उष्णता आत्मभूत लक्षण है और दण्डी पुरुषका भेदक दंड अनात्मभूत है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ ४ गुणी आत्मा और ज्ञानादि गुणमें सर्वथा भेद मानना उचित नहीं है। क्योंकि यदि आत्मा ज्ञानादि स्वभाव न हो तो उसका निश्चायक कोई स्वभाव न होनेसे अभाव हो जायगा और इसी तरह ज्ञानादिका भी निराश्रय होनेसे सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकेगा।

§ ५-६ **प्रश्न**–गुणी लक्ष्य है और गुण लक्षण है। लक्ष्य और लक्षण तो जुदे जुदे होते हैं। अतः आत्मा और ज्ञानमें भेद मानना चाहिए? **उत्तर**–यदि लक्ष्य और लक्षणमें सर्वथा भेद माना जाय तो अनवस्था हो जायगी क्योंकि लक्षणका परिचायक अन्य लक्षण मानना होगा उसका भी परिचायक अन्य। यदि लक्षणका परिचायक अन्य लक्षण नहीं माना जाता है तो लक्षणशून्य होनेसे उसका मण्डूक शिखण्डकी तरह अभाव हो जायगा। लक्ष्य और लक्षणमें कथञ्चित् भेद माननेसे लक्षणके पृथक् लक्षणकी आवश्यकता नहीं रहती उसका साधारणलक्षण 'तल्लक्ष्यमें रहनेवाला' यह बन जाता है। लक्ष्य और लक्षण पृथक् उपलब्ध न होनेसे अभिन्न होकर भी संज्ञा संख्या गुण-गुणी आदिके भेदसे भिन्न भी होते हैं।

§ ७-१२ **प्रश्न**–जैसे दूधका दूध रूपसे ही परिणमन नहीं होता किन्तु दही रूपसे, उसी तरह ज्ञानात्मक आत्माका ज्ञानरूपसे परिणमन नहीं हो सकेगा। अतः जीवके ज्ञानादि उपयोग नहीं होना चाहिए। यदि आप यह कहें कि आत्माका ज्ञानरूपसे तो उपयोग होगा दूधका दूध रूपसे नहीं तो हम भी यह कह सकते हैं कि दूधका दूध रूपसे उपयोग हो, पर आत्माका ज्ञान रूपसे न हो। यह पक्ष आपके लिए अनिष्ट है। **उत्तर**–चूंकि आत्मा और ज्ञानमें अभेद है इसीलिए उसका ज्ञानरूपसे उपयोग होता है। आकाशका सर्वथा भिन्न रूपादिक रूपसे उपयोग नहीं देखा जाता। जिस प्रकार गायके उदरमें दूध बननेके योग्य तृणजलादि द्रव्योंका दूध रूपसे परिणमन होता है। वे तृणादि द्रव्यदृष्टिसे दूध पर्यायके सम्मुख होनेसे दूध कहे जाते हैं और आगे वे ही दूध पर्यायको धारण करते हैं उसी तरह ज्ञानपर्यायके अभिमुख जीव भी ज्ञानव्यपदेशको प्राप्त करके स्वयं घटपटादि-विषयक अवग्रहादि ज्ञान पर्यायको धारण करता है अतः द्रव्यदृष्टिसे उसका ही उसी रूपसे परिणमन सिद्ध होता है। जो जिस रूप नहीं उसका उस रूपसे परिणमन माननेमें अतिप्रसङ्ग दोष आता है। देखिए आपके वचन स्वपक्ष साधन और परपक्षदूषणरूप हैं। उनका स्वपक्ष साधन और परपक्षदूषणरूपसे ही परिणमन होता है। जैसे आप दूधका दही रूप अन्यथापरिणमन ही मानते हो दूधरूप नहीं उसी तरह अपने वचनोंका भी स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषणरूपसे परिणमन नहीं होकर अन्यथा ही परिणमन मानना होगा। आप स्वयं रूपाद्यात्मक पृथिवी आदि महाभूतोंका रूपादिक रूपसे ही परिणमन मानते ही हैं। यदि अन्यथा परिणमन मानोगे तो स्वसिद्धान्तविरोध होगा। जिसके मतमें सदा आत्मा ज्ञानात्मक ही रहता है उसके मतमें आत्माका ज्ञानरूपसे परिणमन तो कहा नहीं जा सकता क्योंकि उस रूपसे वह स्वयं परिणत है ही। जैन मतमें आत्मा कभी ज्ञानरूपसे, कभी दर्शनरूपसे और कभी सुखादिरूपसे परिणमन करता रहता है। अतः कभी ज्ञानात्मकका ज्ञानात्मक भी परिणमन होता है तथा कभी दर्शनात्मक आदि रूप भी। यदि सर्वथा किसी एक रूपसे आत्माका परिणमन माना जाय तो फिर उस पर्यायका कभी विराम नहीं हो सकेगा। यदि हुआ तो आत्माका ही अभाव हो जायगा। तदात्मकका ही तद्रूप परिणमन देखा जाता है। देखो, गायके स्तनोंसे निकला हुआ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूध गरम ठंडा मीठा गाढ़ा आदि अनेक पर्यायोंको धारण करके भी दूध तो रहता ही है। इन अवस्थाओंमें दूधका दूध रूपसे ही परिणमन होता है। इसी तरह आत्माका भी उपयोग रूपसे ही परिणमन होता रहता है। यदि तत्का तदात्मक परिणमन न माना जाय तो वस्तु परिणामशून्य ही हो जायगी; क्योंकि अन्यथा परिणमन मानने पर सर्वपदार्थसांकर्य दूषण होता है, जो कि अनिष्ट है। अतः परिणामशून्यता और अन्यथापरिणमनके दूषणोंसे बचनेके लिए वस्तुमें तत्का तदात्मक ही परिणमन स्वीकार करना होगा।

§ १३–१५ **प्रश्न**–चूंकि आत्माके कोई उत्पादक कारण आदि नहीं हैं अतः मण्डूक शिखण्डकी तरह उसका अभाव ही है। अतः लक्ष्यभूत आत्माके अभावमें उपयोग आत्माका लक्षण नहीं हो सकता। आत्माका सद्भाव सिद्ध हो भी तो भी उपयोग चूंकि अस्थिर है अतः वह आत्माका लक्षण नहीं हो सकता। अस्थिर पदार्थको लक्षण बनानेपर वही दशा होगी जैसे किसीने देवदत्तके घरकी पहिचान बताई कि 'जिसपर कौआ बैठा है वह देवदत्तका घर है' सो जब कौआ उड़ जाता है तो देवदत्तके घरकी पहिचान समाप्त हो जाती है और लक्षणके अभावमें लक्ष्यके अवधारणका कोई उपाय ही नहीं बच पाता।

§ १६–१८ **उत्तर**–'अकारणत्वात्' हेतुसे आत्माका लोप करना उचित नहीं है; क्योंकि आत्मा नर नारकादि पर्यायोंसे पृथक् तो मिलता नहीं है और ये पर्यायें मिथ्यादर्शन आदि कारणोंसे होती हैं अतः अकारणत्व हेतु असिद्ध है। पर्यायोंको छोड़कर पृथक् आत्मद्रव्यकी सत्ता न होनेसे आश्रयासिद्ध भी है। जितने घटादि सत् हैं वे स्वभावसे ही सत् हैं न कि किसी कारणविशेषसे। जो सत् है वह तो अकारण ही होता है। मण्डूकशिखण्ड भी 'नास्ति' इस प्रत्ययका होनेसे 'सत्' तो है पर इसके उत्पादक कारण नहीं है अतः यह हेतु अनैकान्तिक भी है। मण्डूक शिखण्ड दृष्टान्त भी साध्यसाधन उभयधर्मोसे विकल होनेके कारण दृष्टान्ताभास है। क्योंकि उसके भी किसी अपेक्षासे कारण बन जाते हैं और वह 'सत्' भी सिद्ध हो जाता है। यथा–कोई जीव मेंढक था और वही जीव जब युवतीकी पर्यायको धारण करता है तो भूतपूर्वनयकी अपेक्षा उस युवतीको भी हम मेंढक कह ही सकते हैं और उसके युवतिपर्यायापन्न मंडूकके शिखा होनेसे मंडूकशिखण्ड व्यवहार हो सकता है। पुद्गलद्रव्यकी पर्यायोंका कोई नियम नहीं है अतः युवतीके द्वारा उपभुक्त भोजन आदि पुद्गल द्रव्योंका शिखण्डक रूपसे परिणमन होनेके कारण सकारणता भी बन जाती है। इसी तरह आकाशकुसुम भी अपेक्षासे बन जाता है। वनस्पतिनामकर्मका जिस जीवके उदय है वह जीव और पुद्गलका समुदाय पुष्प कहा जाता है। जिस प्रकार वृक्षके द्वारा व्याप्त होनेसे वह पुष्प पुद्गल वृक्षका कहा जाता है उसी तरह आकाशके द्वारा व्याप्त होनेके कारण आकाशका क्यों न कहा जाय? वृक्षके द्वारा उपकृत होनेके कारण यदि वह वृक्षका कहा जाता है तो आकाशकृत अवगाहनरूप उपकारकी अपेक्षा उसे आकाशका भी कहना चाहिए। वृक्षसे टूटकर फूल गिर भी जाय पर आकाशसे तो कभी भी दूर नहीं हो सकता, सदा आकाशमें ही रहता है। अथवा मण्डूकशिखण्डविषयक ज्ञानका विषय होनेसे भी मंडूक शिखंडका सद्भाव सिद्ध मानना चाहिए।

इसी तरह 'अप्रत्यक्ष' हेतुके द्वारा आत्माका अभाव करना भी उचित नहीं हैं, क्योंकि शुद्ध आत्मा केवलज्ञानके प्रत्यक्ष होता है तथा अशुद्ध कार्मणशरीरसंयुक्त आत्मा अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानके द्वारा। इन्द्रिय प्रत्यक्षकी दृष्टिसे तो आत्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परोक्ष ही माना जाता है। घटादि परोक्ष हैं क्योंकि वे अग्राहकनिमित्तसे ग्राह्य होते हैं जैसे कि धूमसे अनुमित अग्नि। इन्द्रियाँ अग्राहक हैं क्योंकि उनके नष्ट हो जानेपर भी स्मृति देखी जाती है। जैसे खिड़कीके नष्ट हो जानेपर भी उसके द्वारा देखनेवाला कायम रहता है उसी तरह इन्द्रियोंसे देखनेवाला ग्राहक आत्मा स्थिर है। अतः अग्राहकनिमित्तसे ग्राह्य होनेके कारण इन्द्रियग्राह्य पदार्थ परोक्ष ही है। अप्रत्यक्ष शब्दको यदि पर्युदासरूप लिया जाता है तो प्रत्यक्षसे भिन्न अप्रत्यक्ष वस्त्वन्तर सिद्ध होता है। यदि प्रसज्यपक्ष लेते हैं तो प्रतिषेध्यका क्वचित् सद्भावसिद्ध होनेपर ही प्रतिषेध किया जाता है अतः कथञ्चित् सत्ता सिद्ध होनेसे हेतु असिद्ध हो जाता है। असत् खरविषाण आदि अप्रत्यक्ष हैं तथा विद्यमान ज्ञान आदि भी अप्रत्यक्ष हैं अतः यह हेतु अनैकान्तिक है। यदि ज्ञानको स्वप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष होनेसे प्रत्यक्ष मानते हो तो आत्माको ही इस तरह प्रत्यक्ष माननेमें क्या बाधा है ?

जितने भी पदार्थ शब्दगोचर हैं वे सब विधिनिषेधात्मक हैं। कोई भी वस्तु सर्वथा निषेधगम्य नहीं होती। जैसे कुरवक पुष्प लाल और सफेद दोनों रंगोंका नहीं होता, तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह वर्णशून्य है। इसी तरह परकी अपेक्षासे वस्तुमें नास्तित्व होने पर भी स्वदृष्टिसे उसका अस्तित्व प्रसिद्ध ही है। कहा भी है कथञ्चित् असत्की भी उपलब्धि और अस्तित्व है तथा कथञ्चित् सत्की भी अनुपलब्धि और नास्तित्व। यदि सर्वथा अस्ति और उपलब्धि मानी जाय तो घटकी पटादि रूपसे भी उपलब्धि होनेसे सभी पदार्थ सर्वात्मक हो जायँगे और यदि पररूपकी तरह स्वरूपसे भी असत्त्व माना जाय अर्थात् सर्वथा असत्त्व माना जाय तो पदार्थका ही अभाव हो जायगा, वह शब्दका विषय ही नहीं हो सकेगा। अतः नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्वसे शून्य जो होगा वह अवस्तु ही होगा। इस तरह जब धर्मी ही अप्रसिद्ध हो जाता है तब अनुमान नहीं बन सकेगा।

§ १९–२० इन्द्रियों और तज्जनित ज्ञानोंमें नहीं पाया जानेवाला 'जो मैं देखनेवाला था वही चखनेवाला हूँ' यह एकत्व-विषयक फल, सभी इन्द्रिय द्वारोंसे जाननेवाले तथा सभी ज्ञानोंमें परस्पर एकसूत्रता कायम रखनेवाले गृहीता आत्माका सद्भाव सिद्ध करता है। 'आत्मा है' यह ज्ञान यदि संशय रूप है तो भी आत्माकी सत्ता सिद्ध होती है; क्योंकि अवस्तुका संशय नहीं होता। इसी तरह 'आत्मा है' इस ज्ञानको अनादिकालसे प्रत्येक व्यक्ति आत्माका अनुभव करता है अतः अनध्यवसाय भी नहीं कह सकते। यदि इसे विपरीत ज्ञान कहते हैं तब भी आत्माकी क्वचित् सत्ता सिद्ध हो ही जाती है क्योंकि अप्रसिद्ध पदार्थका विपर्यय ज्ञान नहीं होता। तात्पर्य यह कि 'आत्मा है' यह ज्ञान किसी भी रूपमें आत्माके अस्तित्वका ही साधक है। सम्यक् रूपमें तो आत्मसाधक है ही।

§ २१ बौद्धका यह पक्ष भी ठीक नहीं है कि अनेकज्ञानक्षणोंकी एक सन्तान है, इसीसे उक्त प्रत्यभिज्ञान आदि हो जाते हैं; क्योंकि उनके मतसे सन्तान संवृतिसत् अर्थात् काल्पनिक है वास्तविक नहीं। यदि इस अनेक क्षणवर्ती सन्तानको वस्तु मानते हैं तो आत्मा और सन्तानमें नाममात्रका ही अन्तर रहा–पदार्थका नहीं, क्योंकि अनेक ज्ञानादिपर्यायोंमें अनुस्यूत द्रव्यको ही आत्मा कहते हैं।

§ २२–२३ यह शंका भी ठीक नहीं है कि उपयोग अस्थिर है अतः वह आत्माका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्षणे नहीं हो सकता; क्योंकि एक उपयोग क्षणके नष्ट हो जानेपर भी दूसरा उसका स्थान ले लेता है, कभी भी उपयोगकी धारा टूटती नहीं है। पर्याय दृष्टिसे अमुक पदार्थ-विषयक उपयोगका नाश होनेपर भी द्रव्यदृष्टिसे उपयोग सामान्य बना ही रहता है। यदि उपयोगका सर्वथा विनाश माना जाय तो उत्तर कालमें स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदि नहीं हो सकेंगे क्योंकि स्मरण स्वयं अनुभूत पदार्थका स्वयंको ही होता है अन्यके द्वारा अनुभूतका अन्यको नहीं। स्मरणके अभावमें समस्त लोकव्यवहारका लोप ही हो जायगा।

§ २४ उपयोगको पृथक् गुण मानकर उसके सम्बन्धको लक्षण कहना उचित नहीं है; क्योंकि यदि ज्ञानादि उपयोगको आत्मासे पृथक् माना जाता है तो उसका 'आत्मासे ही सम्बन्ध हो अन्यसे नहीं' यह नियम नहीं बन सकेगा। अतः उपयोगको आत्मभूत लक्षण मानना ही उचित है। दंड तो अनात्मभूत है। अतः वह पृथक् रहकर भी सम्बन्धसे लक्षण बन सकता है।

उपयोगके भेद–

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥९॥

आठ प्रकारका ज्ञान और चार प्रकारका दर्शन, इस प्रकार उपयोग दो प्रकारका है।

§ १–२ साकार और अनाकार दो प्रकारका उपयोग है। ज्ञान साकार होता ह तथा दर्शन निराकार।

यद्यपि दर्शन पूर्वकालभावी है फिर भी विशेष ग्राहक होनेके कारण पूज्य होनेसे ज्ञानका ग्रहण पहिले किया है।

§ ३ ज्ञानकी संख्या आठ पहिले लिखी गई है अतः ज्ञानकी पूज्यता सिद्ध होती है। इसी तरह 'छोटी संख्याका पहिले ग्रहण करना चाहिए' इस व्याकरणके सामान्य नियमके रहते हुए भी 'पूज्यका प्रथम ग्रहण होता है' इस विशेष नियमके अनुसार ज्ञानकी आठ संख्याका प्रथम ग्रहण किया गया है। ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है–मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभङ्गावधिज्ञान। दर्शनोपयोग चार प्रकार का है चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। ये उपयोग निरावरण केवलीमें युगपत् होते हैं तथा छद्मस्थोंके क्रमशः।।

जीवोंके भेद–

संसारिणो मुक्ताश्च ॥१०॥

संसारी और मुक्तके भेदसे जीव दो प्रकार के हैं।

§ १–२ अपने किए कर्मोंसे स्वयं पर्यायान्तरको प्राप्त होना संसार ह। आत्मा स्वयं कर्मोंका कर्त्ता है और उनके फलोंका भोक्ता। सांख्यका यह मत कि–'प्रकृति कर्त्री है और पुरुष फल भोगता है' नितान्त असङ्गत है; क्योंकि अचेतन प्रकृतिमें घटादिकी तरह पुण्यपापकी कर्तृता नहीं आ सकती। यदि अन्यकृत कर्मोंका फल अन्यको भोगना पड़े तो मुक्ति नहीं हो सकती और कृतप्रणाश (किये गये कर्मोंका निष्फल होना) नामका दूषण होता है। संसार द्रव्य क्षेत्र काल भाव और भव इस प्रकार पांच प्रकारका है। जिनके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसार है वे संसारी हैं। जिनके पुद्गलकर्मरूप द्रव्यबन्ध और तज्जनित क्रोधादिकषायरूप भावबन्ध दोनों नष्ट हो गये हैं वे मुक्त हैं।

§ ३–५ यदि सूत्रमें लघुताके विचारसे द्वन्द्व समास किया जाता तो अल्प अक्षर और पूज्य होनेसे मुक्त शब्दका पूर्वनिपात होने पर 'मुक्तसंसारिणः' यह प्रयोग प्राप्त होता। इसका सीधा अर्थ निकलता–'छोड़ दिया है संसार जिनने' ऐसे जीव। अर्थात् केवल मुक्त-जीवोंका ही बोध हो पाता। अतः संसारिणः मुक्ताश्च यह पृथक्-पृथक् वाक्य ही दिए गए हैं। सूत्रमें 'च' शब्द समुच्चयार्थक नहीं है किन्तु अन्वाचय अर्थमें है। संसारी जीवोंमें उपयोगकी मुख्यता और मुक्त जीवोंमें उपयोगकी गौणता बतानेके लिए 'च' शब्द दिया है। संसारी जीवोंमें उपयोग बदलता रहता है अतः जैसे एकाग्र चिन्तानिरोधरूप ध्यान छद्मस्थोंमें मुख्य है, केवलीमें तो उसका फल कर्मध्वंस देखकर उपचारसे ही वह माना जाता है उसी तरह संसारियोंमें पर्यायान्तर होनेसे उपयोग मुख्य है, मुक्त जीवोंमें सतत एक-सी धारा रहनेसे गौण है।

§ ६ संसारियोंके अनेक भेद हैं तथा मोक्ष संसारपूर्वक ही होता है और सभीके स्वसंवेद्य है अतः संसारीका ग्रहण प्रथम किया है। मुक्त तो अत्यन्त परोक्ष हैं, उनका अनुभव अभी तक अप्राप्त ही है।

संसारी जीवोंके भेद–

समनस्काऽमनस्काः ॥११॥

संज्ञी और असंज्ञी दो प्रकारके संसारी हैं।

§ १ मन दो प्रकारका है–एक द्रव्य मन और दूसरा भावमन। पुद्गलविपाकी नाम कर्मके उदयसे द्रव्यमन होता है और वीर्यान्तराय तथा नोइन्द्रियावरणके क्षयोपशमसे होनेवाली आत्मविशुद्धि भावमन है। मन सहित जीव समनस्क और मनरहित अमनस्क, इस प्रकार दो तरहके संसारी हैं।

§ २–७ **प्रश्न**–दो प्रकारके जीवोंका प्रकरण है अतः संसारी समनस्क और मुक्त अमनस्क इस प्रकार यथाक्रम सम्बन्ध कर लेना चाहिए। मुक्त जीवोंको मनरहित मानना इष्ट भी है। **उत्तर**–इस प्रकार सभी संसारी जीवोंमें समनस्कताका प्रसंग आता है। 'संसारिणो मुक्ताश्च' और 'समनस्काऽमनस्काः' ये दो पृथक् सूत्र बनानेसे ज्ञात होता है कि पूर्वसूत्रसे केवल संसारी पदका यहां सम्बन्ध होता है अन्यथा एक ही सूत्र बनाना चाहिए था। अथवा आगे आनेवाले 'संसारिणः त्रसस्थावराः' सूत्रसे 'संसारी' पदका यहां सम्बन्ध कर लेना चाहिए। आगेके पूरे सूत्रका यहां सम्बन्ध विवक्षित नहीं है अन्यथा सभी त्रसोंमें समनस्कताका अनिष्ट प्रसङ्ग प्राप्त होता। यदि 'त्रसस्थावराः'का भी सम्बन्ध इष्ट होता तो एक ही सूत्र बनाना चाहिए था। तात्पर्य यह कि तीनों पृथक् सूत्र बनानेसे यही फलित होता कि विवक्षानुसार पदोंका सम्बन्ध करना चाहिए। यदि एक सूत्र बनाना इष्ट होता तो एक संसारी पद निरर्थक हो जाता है और सूत्रका आकार 'संसारिमुक्ताः समनस्का-मनस्कास्त्रसस्थावराश्च' यह होता। ऐसी दशामें कई अनिष्ट प्रसङ्ग होते हैं।

§ ८ समनस्क ग्रहण प्रथम किया है क्योंकि वह पूज्य है। समनस्कके सभी इन्द्रियां होती हैं।

४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसारीके भेद–

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥१२॥

संसारी जीव त्रस और स्थावरके भेदसे दो प्रकारके हैं।

§ १–२ जीव विपाकी त्रस नाम कर्मके उदयसे त्रस होते हैं। 'जो भयभीत होकर गति करें वे त्रस' यह व्युत्पत्त्यर्थ ठीक नहीं है; क्योंकि गर्भस्थ अण्डस्थ मूर्च्छित सुषुप्त आदिमें बाह्य भयके निमित्त मिलने पर भी हलन-चलन नहीं होता अतः इनमें अत्रसत्वका प्रसङ्ग प्राप्त होता है। 'त्रस्यन्तीति त्रसाः' यह केवल 'गच्छतीति गौः' की तरह व्युत्पत्ति मात्र है।

३–५ जीवविपाकी स्थावर नामकर्मके उदयसे स्थावर होते हैं। 'जो ठहरें वे स्थावर' यह व्युत्पत्ति करनेपर वायु अग्नि जल आदि गतिशील जीव स्थावर नहीं कहे जा सकेंगे। आगममें भी द्वीन्द्रियसे लेकर अयोगकेवली तक जीवोंको त्रस कहा है। अतः वायु आदिको स्थावर कोटिसे निकालकर त्रसकोटिमें लाना उचित नहीं है। इसलिए चलन और अचलनकी अपेक्षा त्रस और स्थावर व्यवहार नहीं किया जा सकता।

§ ६ त्रस शब्द चूँकि अल्प अक्षरवाला है और पूज्य है इसलिए पहिले लिया गया है। त्रसोंके सभी उपयोग हो सकते हैं अतः वह पूज्य है।

स्थावरोंके भेद–

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

पृथिवी जल अग्नि वायु और वनस्पति ये पाँच स्थावर हैं।

§ १ पृथिवी काय आदि स्थावर नामकर्मके उदयसे जीवोंकी पृथिवी आदि संज्ञाएं होती हैं। पृथन क्रिया आदि तो व्युत्पत्तिके लिए साधारण निमित्त हैं, वस्तुतः रूढिवश ही पृथिवी आदि संज्ञाएं की जाती हैं। आर्ष ग्रन्थोंमें पृथिवी आदिके चार भेद किए हैं–पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक और पृथिवी जीव। पृथिवी स्वाभाविक पुद्गल परिणमनरूप, कठिनता आदि गुणोंवाली और अचेतन है। अचेतन होनेसे यद्यपि इसमें पृथिवी कायिक नाम कर्मका उदय नहीं है फिर भी यह प्रथन क्रियासे उपलक्षित होनेके कारण पृथिवी कही जाती है। अथवा, पृथिवी सामान्य रूप है। आगेके तीनों भेदोंमें यह अनुगत है। पृथिवी कायिक जीवके द्वारा छोड़ा गया पृथिवी शरीर अर्थात् मुर्दा शरीर की तरह अचेतन पृथिवी पृथिवीकाय है। पृथिवीकाय नामकर्मका उदय जिस जीवको है और जो जीव पृथिवीको शरीर रूपसे स्वीकार किए हुए है वह पृथिवी कायिक है। जिसके पृथिवीकाय नामकर्मका उदय तो हो गया है पर अभी तक जिसने पृथिवी-शरीरको धारण नहीं किया वह विग्रहगति-प्राप्त जीव पृथिवीजीव है। इसी तरह जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिके चार चार भेद समझना चाहिए।

§ २–६ घट आदि पृथिवीके द्वारा जलका, सिगड़ी आदि पृथिवीके द्वारा अग्निका चमड़ेके कुप्पे आदिसे वायुका सुखपूर्वक ग्रहण किया जाता है, पर्वत मकान आदि रूपसे पृथिवी स्थूल रूपमें सर्वत्र मिलती है, भोजन, वस्त्र, मकान आदि रूपसे बहुतर उपकार पृथिवीके ही हैं, इतना ही नहीं, जल अग्नि वायु आदिके कार्य आधारभूत पृथिवीके बिना हो ही नहीं सकते अतः सर्वाधारभूत पृथिवीका सूत्रमें सर्वप्रथम ग्रहण किया है। जलका आधार पृथिवी है वह आधेय है तथा पृथिवी और अग्निका विरोध है, अग्नि पृथिवीको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जलाकर खाक बना देती है और उसका शमन जलके द्वारा ही होता है अतः पृथिवी और अग्निके बीचमें जलका ग्रहण किया है। पृथिवी और जलका परिपाक अग्निके द्वारा होता है अतः इन दोनोंके बाद अग्निका ग्रहण किया है। अग्निका सन्दीपन वायुके द्वारा होता है, अतः अग्निके बाद तत्सखा वायुका ग्रहण किया है। वनस्पतिकी उत्पत्तिमें पृथिवी आदि चारों निमित्त होते हैं अतः वनस्पतिका ग्रहण सबके अन्तमें किया है। वनस्पति कायिक जीवोंकी संख्या पृथिवी आदिसे अनन्तगुणी है, इसलिए संख्याकी दृष्टिसे भी उसका नम्बर अन्तमें ही आता है। इनके स्पर्शनेन्द्रिय कायबल आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं।

त्रसोंके भेद–

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥१४॥

दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रियवाले जीव त्रस हैं।

§ १ आदि शब्दके अनेक अर्थ हैं, पर यहाँ आदि शब्द व्यवस्थावाची है।

§ २-४ **प्रश्न**–'दो इन्द्रियाँ हैं जिसकी' इस प्रकार बहुव्रीहि समासमें अन्य पदार्थ प्रधान होनेसे द्वीन्द्रियसे आगेके जीव त्रस कहे जायँगे जैसे कि 'पर्वतसे लेकर खेत है' यहाँ पर्वतकी गिनती खेतमें नहीं होती। **उत्तर**–जैसे 'सफेद वस्त्रवालेको लाओ' इस तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिमें सफेद कपड़ा नहीं छूटता है उसी तरह 'द्वीन्द्रियादयः' में भी द्वीन्द्रिय शामिल हो जाती है।

अथवा, अवयवसे विग्रह करनेपर भी समासका अर्थ समुदाय होता है, जैसे 'सर्वादिः' में सर्वका भी ग्रहण होता है उसी तरह द्वीन्द्रियका भी त्रसमें अन्तर्भाव कर लेना चाहिये।

द्वीन्द्रियके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां, वचनबल और कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये छह प्राण होते हैं। त्रीन्द्रियके घ्राणेन्द्रियके साथ सात, चतुरिन्द्रियके चक्षुके साथ आठ, पंचेन्द्रिय असंज्ञी तिर्यंचके श्रोत्रके साथ नव और संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च मनुष्य देव और नारकियोंके मनोबलके साथ दस प्राण होते हैं।

इन्द्रियाँ–

पञ्चेन्द्रियाणि ॥१५॥

इन्द्रियां पांच होती हैं।

अन्य मतवादी छह और ग्यारह भी इन्द्रियाँ मानते हैं उनका निराकरण करनेके लिए पांच शब्द दिया है।

§ १-२ कर्मपरतन्त्र होने पर भी अनन्त ज्ञानादि शक्तियोंका स्वामी आत्मा इन्द्र कहलाता है। अतः इन्द्रभूत आत्माके अर्थग्रहणमें लिंग अर्थात् कारणको इन्द्रिय कहते हैं। अथवा, कर्मके कारण ही यह आत्मा चारों गतियोंमें संसरण करता है अतः इस समर्थ कर्म को इन्द्र कहते हैं। इस कर्मके द्वारा सृष्ट–रची गईं इन्द्रियां हैं। ये इन्द्रियां पांच हैं।

§ ३-४ मन भी यद्यपि कर्मकृत है और आत्माको अर्थग्रहणमें सहायक होता है फिर भी वह चक्षुरादि इन्द्रियोंकी तरह नियतस्थानीय नहीं है, अनवस्थित है अतः वह इन्द्रियोंमें शामिल नहीं किया गया है। चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञान होनेके पहिले ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनका व्यापार होता है। जब आत्माको रूप देखनेका मन होता है तब ही वह मनके द्वारा उपयोगको रूपाभिमुख करता है, इसके बाद ही इन्द्रिय व्यापार होता है अतः मन अनिन्द्रिय है।

§ ५-६ सांख्य वाक् पाणि पाद गुदा और उपस्थ (पुरुष या स्त्रीका चिह्न) इनको वचन आदि क्रियाका साधन होनेसे कर्मेन्द्रिय मानते हैं। पर चूंकि यहां उपयोगका प्रकरण है अतः उपयोगके साधन ज्ञानेन्द्रियोंका ही ग्रहण किया है। क्रियाके साधन अंगोंको यदि इन्द्रियोंकी श्रेणीमें गिना जाय तो सिर आदि अनेक अवयवोंको भी इन्द्रिय मानना होगा अर्थात् इन्द्रियोंकी कोई संख्या ही निश्चित नहीं की जा सकेगी।

इन्द्रियोंके भेद–

द्विविधानि ॥१६॥

इन्द्रियां दो प्रकार की हैं–एक द्रव्येन्द्रिय और दूसरी भावेन्द्रिय।

द्रव्येन्द्रियाँ

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥

निर्वृत्ति और उपकरणके भेदसे द्रव्येन्द्रियां दो प्रकार की हैं।

§ १-४ नाम कर्मसे जिसकी रचना हो उसे निर्वृत्ति कहते हैं। निर्वृत्ति बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकार की है। उत्सेधांगुलके असंख्यातभागप्रमाण विशुद्ध आत्म-प्रदेशोंकी चक्षुरादिके आकाररूपसे रचना आभ्यन्तर निर्वृत्ति है अर्थात् आत्मप्रदेशोंका चक्षु आदिके आकार रूप होना। नाम कर्मके उदयसे शरीर पुद्गलोंकी इन्द्रियोंके आकाररूपसे रचना होना बाह्यनिर्वृत्ति है।

§ ५-६ जो निर्वृत्तिका उपकार करे वह उपकरण है। आंखमें सफेद और काला मंडल आभ्यन्तर उपकरण है और पलक आदि बाह्य उपकरण है।

भावेन्द्रियां–

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥१८॥

लब्धि और उपयोग भावेन्द्रियां हैं।

लाभको लब्धि कहते हैं। षित्वात् अङ्प्रत्यय होकर लब्धा इसलिए नहीं बना कि अनुबन्धकृत विधियां अनित्य होती हैं। महाभाष्यमें भी अनुपलब्धि प्रयोग है। अथवा, स्त्रीलिंग क्तिन् प्रत्यय करके लब्धि शब्द सिद्ध हो जाता है।

§ १ जिस ज्ञानावरणक्षयोपशमके रहनेपर आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचनाके लिए व्यापार करता है उसे लब्धि कहते हैं।

§ २-४ लब्धिके अनुसार होनेवाला आत्माका ज्ञानादि व्यापार उपयोग है। यद्यपि उपयोग इन्द्रियका फल है फिर भी कारणके धर्मका कार्यमें उपचार करके उसे भी इन्द्रिय कहा है जैसे कि घटाकार परिणत ज्ञानको घट कह देते हैं। 'इन्द्रका लिंग, इन्द्रके द्वारा सृष्ट' इत्यादि शब्दव्युत्पत्ति तो मुख्य रूपसे उपयोगमें ही घटती है। अतः उपयोगको इन्द्रिय कहनेमें कोई बाधा नहीं होनी चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥१९॥

स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां हैं।

§ १ स्पर्शन आदि शब्द करणसाधन और कर्तृसाधन दोनोंमें निष्पन्न होते हैं। 'मैं इस आंखसे देखता हूं' इत्यादि रूपसे जब आत्मा स्वतन्त्र विवक्षित होता है तो इन्द्रियां परतन्त्र होनेसे करण बन जाती हैं। वीर्यान्तराय और उन उन इन्द्रियावरणोंके क्षयोपशम होनेपर 'स्पृशति अनेन आत्मा–छूता है जिससे आत्मा' इत्यादि करणसाधनता बन जाती है। जब 'मेरी आंख अच्छा देखती है' इत्यादि रूपसे इन्द्रियोंकी स्वतन्त्रता विवक्षित होती है तब 'स्पृशतीति स्पर्शनम्' जो छुए वह स्पर्शन इत्यादि रूपसे कर्तृसाधनता बन जाती है। इसमें आत्मा स्वयं स्पर्शन आदि रूपसे विवक्षित होता है।

§ २ कोई सूत्रमें 'इन्द्रियाणि' यह पाठ अधिक मानते हैं, पर चूंकि इन्द्रियोंका प्रकरण है अतः 'पंचेन्द्रियाणि' सूत्रसे 'इन्द्रियाणि'का अनुवर्तन हो जाता है इसलिए उक्त पाठ अधिक मानना व्यर्थ है।

§ ३–१० स्पर्शनेन्द्रिय सर्वशरीरव्यापी है, 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इस सूत्रमें एक शब्दसे स्पर्शनेन्द्रियका ग्रहण करना है और सभी संसारी जीवोंके यह अवश्य पाई जाती है अतः सूत्रमें इसका ग्रहण सर्वप्रथम किया है। प्रदेशोंकी दृष्टिसे सबसे कम चक्षुके प्रदेश हैं, श्रोत्रेन्द्रियके संख्यातगुणें, घ्राणेन्द्रियके इससे कुछ अधिक और रसनाके असंख्यातगुणें। अतः क्रमशः रसना आदि इन्द्रियोंका ग्रहण किया है। यद्यपि इस क्रममें चक्षुको सबसे पीछे लेना चाहिये था, फिर भी चूंकि श्रोत्रेन्द्रिय बहूपकारी है–इसीसे उपदेश सुनकर हितप्राप्ति और अहितपरिहारमें प्रवृत्ति होती है अतः इसीको अन्तमें लिया है। रसनाको भी वक्तृत्वके कारण बहूपकारी कहनेका सीधा अर्थ तो यह है कि शंकाकार श्रोत्रकी बहूपकारिता तो स्वीकार करता ही है। रसनाके द्वारा वक्तृत्व तो तब होता है जब पहिले श्रोत्रसे शब्दोंको सुन लेता है। अतः अन्ततः श्रोत्र ही बहूपकारी है। यद्यपि सर्वज्ञमें श्रोत्रेन्द्रियसे सुननेके बाद वक्तृत्व नहीं देखा जाता क्योंकि वे समग्र ज्ञानावरणके क्षय हो जानेपर रसनेन्द्रियके सद्भाव मात्रसे उपदेश देते हैं, तथापि यहाँ इन्द्रियोंका प्रकरण होनेसे इन्द्रियजन्य वक्तृत्ववालोंकी ही चरचा है केवलियोंकी नहीं।

§ ११ आगे आनेवाले 'कृमिपिपीलिका' आदि सूत्रमें एक एक वृद्धिके साथ संगति बैठानेके लिए स्पर्शनादि इन्द्रियोंका क्रम रखा है।

§ १२ इन्द्रियोंका परस्पर तथा आत्मासे कथञ्चित् एकत्व और नानात्व है। ज्ञानावरणके क्षयोपशम रूप शक्तिकी अपेक्षा सभी इन्द्रियां एक हैं। समुदायसे अवयव भिन्न नहीं होते हैं अतः समुदायकी दृष्टिसे एक हैं। सभी इन्द्रियोंके अपने अपने क्षयोपशम जुदे जुदे हैं और अवयव भी भिन्न हैं अतः परस्पर भिन्नता है। साधारण इन्द्रिय बुद्धि और शब्द प्रयोगकी दृष्टिसे एकत्व है और विशेषकी दृष्टिसे भिन्नता है। आत्मा ही चैतन्यांशका परित्याग नहीं करके तपे हुए लोहेके गोलेकी तरह इन्द्रिय रूपसें परिणमन करता है, उसको छोड़कर इन्द्रियां पृथक् उपलब्ध नहीं होतीं अतः आत्मा और इन्द्रियोंमें एकत्व है अन्यथा आत्मा इन्द्रियशून्य हो जायगा। किसी एक इन्द्रियके नष्ट हो जाने पर भी आत्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नष्ट नहीं होता, आत्मा पर्यायी है और इन्द्रियां पर्याय, तथा संज्ञा संख्या प्रयोजन आदिके भेदसे आत्मा और इन्द्रियोंमें भेद है।

इन्द्रियोंके विषय---

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥२०॥

स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द इन्द्रियोंके विषय हैं।

§ १ स्पर्श आदि शब्द द्रव्यविवक्षामें कर्मसाधन और पर्यायविवक्षामें भावसाधन होते हैं। द्रव्यविवक्षामें इन्द्रियोंसे द्रव्य गृहीत होता है उससे भिन्न स्पर्शादि तो पाये ही नहीं जाते, अतः 'स्पृश्यते इति स्पर्शः--जो छुआ जाय वह स्पर्श' ऐसी कर्मसाधन व्युत्पत्ति द्रव्यपरक हो जाती है। पर्यायविवक्षामें उदासीन भावका भी कथन होता है अतः 'स्पर्शनं स्पर्शः' आदि भावसाधनमें व्युत्पत्ति बन जाती है। यद्यपि परमाणुओंके स्पर्शादि इन्द्रियग्राह्य नहीं है फिर भी उनके कार्यभूत स्थूल पदार्थोंमें स्पर्शादिका परिज्ञान होता है अतः उनमें भी स्पर्शादिकी सत्ता निर्विवाद है।

§ २-३ **प्रश्न**--'तदर्थाः' में 'तत्' शब्द इन्द्रियसापेक्ष होनेसे असमर्थ हो जाता है अतः उसका अर्थ शब्दसे समास नहीं हो सकता। **उत्तर**--जैसे 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' यहाँ गुरुशब्द सदा शिष्यापेक्ष होकर भी समासको प्राप्त हो जाता है उसी तरह यहाँ भी सामान्यवाची 'तत्' शब्द विशेष इन्द्रियोंकी अपेक्षा रखनेके कारण समासको प्राप्त हो जाता है।

§ ४ इन्द्रियक्रमके अनुसार ही स्पर्श आदिका क्रम रखा गया है। ये सब सामान्य रूपसे पुद्गल द्रव्यके गुण हैं। **वैशेषिक** मतवादी पृथिवीमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, जलमें रूप रस और स्पर्श, तेजमें रूप और स्पर्श तथा वायुमें केवल स्पर्श मानते हैं। इस प्रकारका गुणविभाजन अयुक्त है; क्योंकि सभीमें सभी गुण पाए जाते हैं। वायुमें भी रूप है क्योंकि उसमें स्पर्श है जैसे कि घटमें। अग्निमें भी रस और गन्ध है; क्योंकि उसमें रूप है जैसे कि गुड़में। जलमें भी गन्ध है क्योंकि उसमें रस है जैसे कि पके आममें। जल आदिमें गन्ध आदि गुणोंकी साक्षात् उपलब्धि भी होती है। यह कल्पना तो अत्यन्त असंगत है कि जलादिकमें गन्ध पार्थिव परमाणुओंके संयोगसे आई है स्वतः नहीं है, क्योंकि हम तो यही कहेंगे कि गन्धादि जलादिके ही गुण हैं क्योंकि वहीं पाए जाते हैं। यदि जलमें गन्धको संयोगज मानते हैं तो रसको भी संयोगज ही कहना चाहिये, उसे स्वाभाविक क्यों कहते हैं? फिर, पृथिवी आदिमें जातिभेद भी नहीं है। एक ही पुद्गल द्रव्य पृथिवी आदि नाना रूपोंमें पाया जाता है। पृथिवी ही निमित्त पाकर पिघल जाती है और जल बनती है। द्रवीभूत जल भी जमकर बरफ बन जाता है। अग्नि काजल बन जाती है आदि। इसी तरह वायु आदिमें भी रूप आदि समझ लेना चाहिए। हाँ कोई गुण कहीं विशेष प्रकट होता है कहीं नहीं।

§ ५ स्पर्शादि परस्पर तथा द्रव्यसे कथञ्चिद् भिन्न और कथञ्चिद अभिन्न हैं। यदि स्पर्शादिमें सर्वथा एकत्व हो तो स्पर्शके छूनेपर रस आदिका ज्ञान हो जाना चाहिए। यदि द्रव्यसे सर्वथा एकत्व हो तो या तो द्रव्यकी सत्ता रहेगी या फिर स्पर्शादि की। यदि द्रव्यकी सत्ता रहती है तो लक्षणके अभावमें उसका भी अभाव हो जायगा और यदि गुणों की; तो निराश्रय होनेसे उनका अभाव ही हो जायगा। यदि सर्वथा भेद माना जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है तो घटके दिखनेपर घटकी तरह स्पर्शके छूनेपर 'घड़ेको छुआ' यह व्यवहार नहीं होना चाहिए। इन्द्रियभेदसे स्पर्शादिमें सर्वथा भेद मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग परत्वापरत्व आदि रूपी द्रव्यमें समवाय सम्बन्धसे रहनेके कारण चाक्षुष होनेपर भी परस्पर भिन्न हैं। लक्षण भेदसे भी नानात्व नहीं होता; क्योंकि द्रव्य गुण कर्ममें सत्तासम्बन्धित्व रूप एक लक्षणके पाए जानेपर भी भेद देखा जाता है। स्पर्शादि भिन्न उपलब्ध नहीं होते अतः सर्वथा एकत्व मानना उचित नहीं है; क्योंकि सांख्यके मतमें सत्त्व रज और तम पृथक् उपलब्ध नहीं होते फिर भी भेद माना जाता है। इनमें व्यक्त और अव्यक्त आदिके रूपसे अनेकधा भेद पाया जाता है। अतः द्रव्य दृष्टिसे कथञ्चित् एकत्व और पर्यायदृष्टिसे कथञ्चित् भेद मानना ही उचित है।

मनका वर्णन–

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥२१॥

श्रुतज्ञानका विषयभूत पदार्थ मनका विषय है।

श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर आत्माकी श्रुतज्ञानके विषयभूत पदार्थमें मन के निमित्तसे प्रवृत्ति होती है। अथवा, श्रुतज्ञान मनसे उत्पन्न होता है। यह पदार्थ इन्द्रिय-व्यापारसे परे है।

§ १ श्रोत्रेन्द्रियजन्य ज्ञानको या श्रोत्रेन्द्रियके विषयको श्रुत नहीं कह सकते; क्योंकि वह इन्द्रियजन्य होनेसे मतिज्ञान ही है। मतिज्ञानके बाद जो विचार केवल मन-जन्य होता है वह श्रुत है।

इन्द्रियोंके स्वामी–

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥२२॥

पृथिव्यादि वनस्पति पर्यन्त स्थावरोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है।

§ १–३ अन्त शब्द पर्यन्तवाची है। यदि अन्त शब्दका अर्थ समीपता लिया जायगा तो वनस्पतिके समीप अर्थात् वायु और त्रसोंका बोध होगा। अन्त शब्द सम्बन्धि-शब्द है अतः वनस्पति-पर्यन्त कहनेसे 'पृथिवीको आदि लेकर' यह ज्ञान हो ही जाता है।

§ ४ एक शब्द प्रथमताका वाचक है, अतः जिस किसी इन्द्रियका ज्ञान न कराके प्रथम स्पर्शनेन्द्रियका बोधक है। वीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रियावरणका क्षयोपशम, शरीर अङ्गोपाङ्ग नाम और एकेन्द्रिय जातिका उदय होनेपर एक स्पर्शनेन्द्रिय होती है।

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२३॥

कृमि पिपीलिका भ्रमर और मनुष्यादिके क्रमशः एक एक इन्द्रियां बढ़ती गई हैं।

§ १–५ 'एकैकम्' यह वीप्सार्थक है। सभी इन्द्रियोंकी अपेक्षा 'वृद्धानि' में बहु-वचन दिया है। 'स्पर्शन' का अनुवर्तन करके क्रमशः एक एक इन्द्रियकी वृद्धि विवक्षित है। स्पर्शन और रसना कृमि आदिके, घ्राण अधिक पिपीलिका आदिके, चक्षु अधिक भ्रमर आदिके और श्रोत्र अधिक मनुष्यके आदिके होती हैं। आदि शब्द प्रकार और व्यवस्थाके अर्थ में है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संज्ञिनः समनस्काः ॥२४॥

मनसहित जीव संज्ञी होते हैं ।

§ १-५ **प्रश्न**–यह हित है और यह अहित इस प्रकारके गुण-दोष-विचारको संज्ञा कहते हैं । मनका भी यही कार्य है अतः समनस्क विशेषण व्यर्थ है । **उत्तर**–संज्ञा शब्दके अनेक अर्थ हैं, जो समनस्क जीवोंके सिवाय अन्यत्र भी पाये जाते हैं। यदि संज्ञाका अर्थ 'नाम' लिया जाता है तो वह संसारके सभी प्राणियोंमें पाया जाता है ऐसी दशामें किसीकी व्यावृत्ति नहीं की जा सकेगी । यदि संज्ञाका अर्थ 'ज्ञान' लेते हैं तब भी वही बात है, सभी प्राणी ज्ञानात्मक होते हैं । यदि संज्ञाका अर्थ 'आहार भय मैथुन और परिग्रह संज्ञा' लिया जाता है; तब भी कोई अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि सभी प्राणियोंके यथायोग्य ये संज्ञाएँ पाई जाती हैं । अतः मनरहित प्राणियोंकी व्यावृत्तिके लिए समनस्क विशेषणकी सार्थकता है । इस तरह गर्भस्थ अण्डस्थ मूच्छित सुषुप्त आदि अवस्थाओंमें हिताहित विचार न होने पर भी मनकी सत्ता होनेसे संज्ञित्व बन जाता है ।

नवीन शरीरग्रहणकी प्रक्रिया–

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥२५॥

विग्रहगतिमें कर्मनिमित्तक योग अर्थात् परिस्पन्द होता है ।

§ १-४ औदारिकादि नाम कर्मके उदयसे उन शरीरोंके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण विग्रह कहलाता है । विरुद्ध ग्रह अर्थात् कर्म पुद्गलोंका ग्रहण होनेपर भी जहां नोकर्म पुद्गलोंका ग्रहण नहीं होता वह विग्रह । विग्रहके लिए गति विग्रहगति कही जाती है । इस विग्रहगतिमें सभी औदारिकादि शरीरोंको उत्पन्न करनेवाले कार्मण शरीरके निमित्तसे ही आत्मप्रदेश परिस्पन्द होता है । इसलिए समनस्क और अमनस्क सभी प्राणियोंकी गतिमें कोई व्यवधान नहीं पड़ता ।

अनुश्रेणि गतिः ॥२६॥

विग्रहगति आकाश प्रदेशोंकी श्रेणिके अनुसार होती है ।

§ १-५ लोकके मध्यसे लेकर ऊपर नीचे और तिरछे आकाशके प्रदेश क्रमशः श्रेणिबद्ध हैं । इसके अनुकूल ही सभी गतिवाले जीव पुद्गलोंकी गति होती है । गतिका प्रकरण होनेपर भी इस सूत्रमें जो पुनः 'गति' शब्दका ग्रहण किया है और आगेके सूत्रमें जो 'जीव' शब्दका विशेषरूपसे ग्रहण किया है उससे ज्ञात होता है कि इस सूत्रसे सभी गतिवाले जीव पुद्गलोंकी गतिका विधान किया गया है । विग्रहगतिमें जीवका बैठना सोना या ठहरना आदि तो होता नहीं है जिससे इनकी निवृत्तिके लिए 'गति' शब्दकी सार्थकता मानी जाय ।

§ ६ अनुश्रेणि गतिका देश और काल नियत है । इसके सिवाय लोकमें चक्र आदिकी विविध प्रकार विश्रेणि गति भी होती है । जीवोंके मरणकालमें नवीन पर्याय धारण करनेके समय तथा मुक्तजीवोंके ऊर्ध्वगमनके समय अनुश्रेणि ही गति होती है । ऊर्ध्वलोकसे नीचे अधोलोकसे ऊपर या तिर्यक् लोकसे ऊपर-नीचे जो गति होगी वह अनुश्रेणि होगी । पुद्गलोंकी जो लोकान्त तक गति होती है, वह नियमसे अनुश्रेणि ही होती है । अन्य गतियोंका कोई नियम नहीं है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अविग्रहा जीवस्य ॥२७॥

मुक्तजीवके अविग्रहा अर्थात् बिना मोड़ लिए हुए गति होती है ।

§ १ आगेके सूत्रमें 'संसारी' का ग्रहण किया है, अतः यह सूत्र मुक्तके लिए है यह निश्चित हो जाता है। यद्यपि 'अनुश्रेणि गतिः' सूत्रसे मुक्तकी अविग्रह गति सिद्ध हो जाती है फिर भी जब वह सूत्र जीव-पुद्गल दोनोंके लिए साधारण हो गया और वह भी इसी सूत्रके बलपर तब इस सूत्रकी आवश्यकता बनी ही रहती है ।

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥२८॥

संसारी जीवोंके चार समयसे पहिले विग्रहवाली अर्थात् मोड़वाली भी गति होती है।

§ १ चार समयसे पहिले ही मोड़ेवाली गति होती है, क्योंकि संसारमें ऐसा कोई कोनेवाला टेढ़ा-मेढ़ा क्षेत्र ही नहीं है जिसमें तीन मोड़ासे अधिक मोड़ा लेना पड़े। जैसे षष्टिक चावल साठ दिनमें नियमसे पक जाते हैं उसी तरह विग्रह गति भी तीन समयमें समाप्त हो जाती है ।

§ २ च शब्दसे उपपाद क्षेत्रके प्रति ऋजुगति अविग्रहा तथा कुटिल गति सविग्रहा इस प्रकार दोनोंका समुच्चय हो जाता है ।

§ ३-४ प्राक् शब्दकी जगह 'आचतुर्भ्यः' कहनेसे लाघव तो होता पर इससे चौथे समयके ग्रहणका अनिष्ट प्रसंग प्राप्त हो जाता है। यद्यपि 'आङ' का मर्यादा अर्थ भी होता है पर अभिविधि और मर्यादामेंसे विवक्षित अर्थके जाननेके लिए व्याख्यान आदिका गौरव होता अतः स्पष्टताके लिए 'प्राक्' शब्द ही दे दिया है ।

ये गतियां चार हैं-इषुगति पाणिमुक्ता लांगलिका और गोमूत्रिका। इषुगति बिना विग्रहके होती है और शेष गतियां मोड़ेवाली हैं। बाणकी तरह सीधी सरल गति मुक्तजीवोंके तथा किन्हीं संसारियोंके एक समयवाली बिना मोड़की होती है। हाथसे छोड़े गये जलादिकी तरह पाणिमुक्ता गति एक विग्रहवाली और दो समयवाली होती हैं। हलकी तरह दो मोड़वाली लांगलिका गति तीन समयमें निष्पन्न होती है। गोमूत्रकी तरह तीन विग्रहवाली गोमूत्रिका गति चार समयमें परिपूर्ण होती है ।

एकसमयाऽविग्रहा ॥२९॥

§ १ बिना मोड़ेकी ऋजुगति एक समयवाली ही होती है। लोकके अग्रभाग तक जीव पुद्गलोंकी गति एक ही समयमें हो जाती है ।

§ २-३ आत्माको सर्वगत अत एव निष्क्रिय मानकर गतिका निषेध करना उचित नहीं है; क्योंकि जैसे बाह्य आभ्यन्तर कारणोंसे पत्थर सक्रिय होता है उसी तरह आत्मा भी कर्मसम्बन्धसे शरीरपरिमाणवाला होकर शरीरकृत क्रियाओंके अनुसार स्वयं सक्रिय होता है। शरीरके अभावमें दीपशिखाकी तरह स्वाभाविक क्रियामें परिपूर्ण रहता है। यदि आत्माको सर्वगत अतएव क्रियाशून्य माना जाता है तो संसार और बन्ध आदि नहीं हो सकेंगे। मोक्ष तो क्रियासे ही संभव है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनाहारकताका नियम–

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥३०॥

जीव एक दो या तीन समय तक अनाहारक रहता है।

§ १ पूर्व सूत्रसे 'समय' शब्दकी अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए। यद्यपि पूर्वसूत्रमें समय शब्द समासान्तर्गत होनेसे गौण है फिर भी सामर्थ्यसे उसीका सम्बन्ध हो जाता है।

§२-३ वा शब्द विकल्पार्थक है। विकल्पका अर्थ है यथेच्छ सम्बन्ध करना। अत्यन्त संयोग विवक्षित होनेके कारण सप्तमी न होकर यहां द्वितीया विभक्ति की गई है।

§ ४ औदारिक वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरोंके तथा छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलोंका ग्रहण करना आहार है। तैजस और कार्मण शरीरके पुद्गल तो जब तक मोक्ष नहीं होता तब तक प्रतिक्षण आते ही रहते हैं।

§ ५-६ ऋद्धिप्राप्त ऋषियोंके ही आहारक शरीर होता है अतः विग्रह गतिमें इसकी संभावना नहीं है। विग्रहगतिमें बाकी कवलाहार लेपाहार आदि कोई भी आहार नहीं होते; क्योंकि इन आहारोंमें समय लगता है अतः समयका व्यवधान पड़ जायगा। जैसे तपाया हुआ बाण लक्ष्य देशपर पहुंचनेके पहिले भी बरसातके जलको ग्रहण करता जाता है उसी तरह पूर्वदेहको छोड़नेके दुःखसे सन्तप्त यह प्राणी आठ प्रकारके कर्मपुद्गलोंसे निर्मित कार्मण शरीरके कारण जाते समय ही नोकर्मपुद्गलोंको भी ग्रहण करके आहारक हो जाता है। वक्रगतिमें तीन समय तक अनाहारक रहता है। एक समयवाली इषुगतिमें नोकर्म पुद्गलोंको ग्रहण करता हुआ ही जाता है अतः अनाहारक नहीं होता। दो समय और एक मोड़ा वाली पाणिमुक्ता गतिमें प्रथम समयमें अनाहारक रहता है। तीन समय और दो मोड़ावाली लांगलिका गतिमें दो समय तक अनाहारक रहता है। चार समय और तीन मोड़ावाली गोमूत्रिका गतिमें तीन समय तक अनाहारक रहकर चौथे समयमें आहारक हो जाता है।

जन्मके प्रकार–

सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ॥३१॥

सम्मूर्च्छन गर्भ और उपपाद ये तीन जन्म हैं।

§ १ तीनों लोकोंमें ऊपर नीचे तिरछे सभी दिशाओंसे पुद्गलपरमाणुओंका इकट्ठा होकर शरीर बनना सम्मूर्छन है।

§ २-३ स्त्रीके गर्भाशयमें शुक्र और शोणितके मिश्रणको गर्भ कहते हैं। अथवा, माताके द्वारा गृहीत आहारसे जहां रस ग्रहण किया जाय वह गर्भ है।

§ ४ देव और नारकियोंके उत्पत्तिस्थानोंको उपपाद कहते हैं। इन नियत स्थानोंके पुद्गलोंसे उपपादजन्म होता है।

§ ५-१० सम्मूर्च्छन शरीर अत्यन्त स्थूल होता है, अल्पकालजीवी होता है तथा उसके कारण मांसादि और कार्य शरीर, दोनों ही प्रत्यक्ष हैं अतः उसका ग्रहण प्रथम किया है। इसके बाद गर्भका; क्योंकि यह अधिक कालमें परिपूर्ण होता है। अति दीर्घजीवी होनेके कारण उपपादका सबके अन्तमें ग्रहण किया है। परिणामाधीन विविध कर्मोंके विपाकसे इन विभिन्न रूपोंमें प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है। कर्मके अनुसार ही जन्म होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ ११ यद्यपि जन्मके प्रकार अनेक हैं फिर भी प्रकारगत सामान्यकी अपेक्षासे 'जन्म' शब्दको एकवचन ही रखा है।

जन्मकी आधारभूत योनियोंके भेद–

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

सचित्त शीत संवृत अचित्त उष्ण विवृत और सचित्ताचित्त शीतोष्ण और संवृत-विवृत ये नव योनियां हैं।

§ १–५ आत्माके चैतन्य परिणमनको चित्त कहते हैं। चित्त सहित सचित्त कहलाता है। शीत अर्थात् ठंडा स्पर्श और ठंडा पदार्थ। संवृत अर्थात् ढका हुआ। इतर अर्थात् अचित्त उष्ण और विवृत। मिश्र अर्थात् उभयात्मक।

§ ६–८ च शब्द प्रत्येकके समुच्चयके लिए है, अन्यथा 'सचित्त शीत संवृत जब अचित्त उष्ण और विवृतसे मिश्र हों तब योनियां होंगीं' यह अर्थ हो जाता। च शब्दसे 'प्रत्येक भी योनियाँ हैं तथा मिश्र भी' यह स्पष्ट बोध हो जाता है। यद्यपि कहीं 'च' शब्द न देने पर भी समुच्चयका बोध देखा जाता है और समुच्चय और विशेषण दोनों अर्थोंमें इच्छानुसार समुच्चय अर्थ भी लिया जा सकता था फिर भी सूत्रमें नहीं कही गई चौरासी लाख योनियोंके संग्रहके लिए 'च' शब्दकी सार्थकता है।

§ ९ 'एकशः' पदसे ज्ञात होता है कि मिश्र योनियोंमें क्रममिश्रता होनी चाहिये। अर्थात् सचित-अचित, शीत-उष्ण, संवृत-विवृत आदि, न कि सचित्त-शीत आदि।

§ १० 'तत्' पदसे ज्ञात होता है कि ये योनियां पूर्वोक्त सम्मूर्च्छन आदि जन्मों की हैं।

§ ११–१२ योनि शब्दको केवल स्त्रीलिंग समझकर द्वन्द्वसमासमें सचित्तादि शब्दोंके पुल्लिग प्रयोगमें आपत्ति नहीं करनी चाहिये; क्योंकि योनि शब्द उभयलिंग है। यहां पुल्लिग समझना चाहिये।

§ १३–योनि आधार है तथा जन्म आधेय है। सचित्तादि योनियोंमें ही सम्मूर्च्छनादि जन्मोंके द्वारा आत्मा शरीर ग्रहण करता है। यही योनि और जन्ममें भेद है।

§ १४–१७ चेतनात्मक होनेसे सचित्तका प्रथम ग्रहण किया है, उसके बाद तृप्तिकारक होनेसे शीतका तथा गुप्त होनेसे संवृतका अन्तमें ग्रहण किया है। जीवोंके कर्मविपाक नाना प्रकारके हैं अतः योनियां भी अनेक प्रकार की मानी गई हैं।

§ १८–२६ देव और नारकोंके अचित्त योनि हैं; क्योंकि इनके उपपाद प्रदेशके पुद्गल अचेतन हैं। माताके उदरमें अचेतन वीर्य और रजसे चेतन आत्माका मिश्रण होनेसे गर्भजोंके मिश्र योनि हैं। सम्मूर्छन जीवोंमें साधारण शरीरवालोंके सचित्त योनि है। शेषमें किसीके अचित्त योनि तथा किसीके मिश्रयोनि होती है। देव और नारकियोंके शीत और उष्ण योनि, तेजस्कायिकोंके उष्णयोनि तथा शेष जीवोंके शीत उष्ण और मिश्रयोनि होती हैं। देव नारक और एकेन्द्रिय जीवोंके संवृतयोनि, विकलेन्द्रियोंके विवृत योनि और गर्भज जीवोंके मिश्रयोनि होती है।

§ २७ इन योनियोंके चौरासी लाख भेदोंका 'च' शब्दसे समुच्चय किया गया है। सर्वज्ञने इनका साक्षात्कार किया है और अल्पज्ञानियोंको ये आगमगम्य हैं। नित्यनिगोदके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७ लाख, अनित्य निगोदके ७ लाख, पृथिवी जल अग्नि और वायु प्रत्येकके सात सात लाख, वनस्पतिके दस लाख, विकलेन्द्रियोंके छह लाख, देव नारकी और पंचेन्द्रियतिर्यञ्च प्रत्येकके चार चार लाख, मनुष्योंके चौदह लाख इस प्रकार कुल ८४ लाख योनिभेद होते हैं। जो कभी भी त्रस पर्यायको प्राप्त न होंगे वे नित्यनिगोद तथा जिनने त्रस पर्याय पाई थी या आगे पायेंगे वे अनित्य निगोद हैं।

जन्म विवरण–

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥३३॥

जरायुज अण्डज और पोतका गर्भजन्म होता है।

§ १–३ गर्भाशयमें प्राणीके ऊपर जो मांस और रक्तका जाल होता है वह जरायु है। शुक्र और शोणितसे परिवेष्टित, नखके ऊपरी भागकी तरह कठिन और श्वेत गोलाकार अण्डा होता है। इनमें उत्पन्न जीव क्रमशः जरायुज और अण्डज हैं। जो योनिसे निकलते ही चलने फिरनेकी शक्ति रखते हैं, गर्भाशयमें जिनके ऊपर कोई आवरण नहीं रहता वे पोत हैं।

§ ४–५ कोई 'पोतजाः' ऐसा पाठ रखते हैं। पर यह ठीक नहीं है; क्योंकि पोत तो स्वयं आत्मा ही है, उसमें उत्पन्न होनेवाला कोई दूसरा जीव नहीं है जो पोतज कहा जाय। आत्मा ही पोत परिणमन करके पोत कहलाता है।

§ ६–१० चूंकि जरायुजोंमें भाषा अध्ययन आदि असाधारण क्रियाएँ देखी जाती हैं, चक्रवर्ती वासुदेव आदि महाप्रभावशाली जरायुज ही होते हैं तथा मोक्षकी प्राप्ति जरायुजोंको ही होती है अतः पूज्य होनेसे उसका ग्रहण सर्वप्रथम किया है। अण्डजोंमें भी तोता मैना आदि अक्षरोच्चारण आदिमें कुशल होते हैं अतः पोतसे पहिले उनका ग्रहण किया है।

§ ११ यद्यपि पहिले सूत्रमें सम्मूर्च्छनोंका नाम प्रथम लिया है अतः यहां भी उसीका वर्णन होना चाहिये था फिर भी आगे 'शेषाणां सम्मूर्च्छनम्' इस सूत्रकी लघुता के लिए उसका यहाँ प्रथम ग्रहण नहीं किया है; क्योंकि यदि सम्मूर्च्छनका प्रथम कथन करते तो 'एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियाणां तिरश्चां मनुष्याणां च केषाञ्चित् सम्मूर्च्छनम्' इतना बड़ा सूत्र बनाना पड़ता।

§ १२ जरायुज आदिके गर्भजन्म सिद्ध ही था फिर भी 'गर्भ' शब्दके ग्रहण करनेसे 'जरायुज अण्डज और पोतोंके ही गर्भ होता है' यह नियम ज्ञापित होता है। आगेके सूत्रमें 'शेष' पद देनेसे ज्ञात होता है कि जन्मका ही नियम किया गया है जन्मवालोंका नहीं। यदि इन सूत्रोंसे जन्मवालोंका नियम होता तो आगे 'शेष' ग्रहण करना निरर्थक ही हो जाता।

देवनारकाणामुपपादः ॥३४॥

देव और नारकियोंके उपपादजन्म होता है।

§ १ जिस समयसे देवगतिका उदय हो तभीसे उसका जन्म स्वीकार करना इसलिए ठीक नहीं है कि विग्रहगतिमें भी देवगतिका उदय हो जाता है पर शरीरयोग्य पुद्गलोंका ग्रहण न होनेसे उस समय जन्म नहीं माना जाता। इसलिए उपपादको जन्म कहना ठीक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥३५॥

शेषके सम्मूर्च्छन जन्म होता है।

§ १-२ देव और नारकियोंके ही उपपाद और शेषके ही सम्मूर्च्छन होता है। पहिले गर्भ और उपपाद जन्मका तो नियम हुआ है पर जरायुज आदिका नहीं, उनके सम्मूर्च्छन जन्मका भी प्रसंग प्राप्त होता है अतः उसके वारण करनेके लिए यह सूत्र बनाया गया है। यदि 'जरायुज अण्डज पोतोंके गर्भ ही होता है और देव नारकियोंके उपपाद ही होता है; तो अर्थात् ही शेषके सम्मूर्च्छन ही होता है, यह फलित हो जाता है। ऐसी दशामें न केवल शेषग्रहण किन्तु यह सूत्र ही निरर्थक हो जाता है। परन्तु जन्म और जन्मवाले दोनोंके अवधारणका प्रसंग उपस्थित होनेपर 'जन्मका ही अवधारण करना चाहिए' यह व्यवस्था इस सूत्रसे ही फलित होती है अतः सूत्रकी सार्थकता है।

शरीरोंका वर्णन-

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥३६॥

औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस और कार्मण ये पांच शरीर हैं।

§ १-३ जो शीर्ण हों वे शरीर हैं। यद्यपि घटादि पदार्थ भी विशरणशील ह परन्तु वे उनमें नामकर्मोदय निमित्त नहीं हैं, अतः उन्हें शरीर नहीं कह सकते। जिस प्रकार 'गच्छतीति गौः' यह विग्रह रूढ शब्दोंमें भी किया जाता है उसी तरह 'शरीर' शब्दका भी विग्रह समझना चाहिए। शरीरत्व नामकी जातिके समवायसे शरीर कहना तो उचित नहीं है क्योंकि स्वयं शरीरस्वभाव न मानने पर अमुक जगह ही शरीरत्वका सम्बन्ध हो अमुक जगह न हो इत्यादि नियम नहीं बन सकता।

§ ४-९ उदार अर्थात् स्थूल प्रयोजनवाला या स्थूल जो शरीर वह औदारिक है। अणिमा आदि आठ प्रकारके ऐश्वर्यके कारण अनेक प्रकारके छोटे-बड़े आकार करने रूप विक्रिया करना जिसका प्रयोजन है वह वैक्रियिक है। प्रमत्तसंयत मुनिके द्वारासूक्ष्मतत्त्वज्ञान और असंयमके परिहारके लिए जिसकी रचना की जाती है वह आहारक है। जो दीप्तिका कारण होता है वह तैजस है। कर्मोंका कार्य या कर्मोंके समूहको कार्मण कहते हैं।

§ १०-१३ जैसे मिट्टीके पिण्डसे उत्पन्न होनेवाले घट घटी सकोरा आदिमें संज्ञा लक्षण आकार आदिकी दृष्टिसे भेद है उसी तरह यद्यपि औदारिकादि शरीर कर्मकृत हैं, फिर भी उनमें संज्ञा लक्षण आकार और निमित्त आदिकी दृष्टिसे परस्पर भिन्नता है। औदारिकादि शरीर प्रतिनियत नामकर्मके उदयसे होते हैं। कार्मण शरीरसे ही औदारिकादि शरीर उत्पन्न होते हैं अतः कारण कार्यकी अपेक्षा भी कार्मण और औदारिकादि भिन्न हैं। जैसे गीले गुड़पर धूलि आकर जम जाती है उसी तरह कार्मण शरीर पर ही औदारिकादि शरीरोंके योग्य परमाणु, जिन्हें विस्रसोपचय कहते हैं, आकर जमा होते हैं। इस दृष्टिसे भी कार्मण और औदारिकादि भिन्न हैं।

§ १४-१७ जैसे दीपक परप्रकाशी होनेके साथ ही साथ स्वप्रकाशी भी है उसी तरह कार्मण शरीर औदारिकादिका भी निमित्त है और अपने उत्तर कार्मणका भी। अतः निर्निमित्त होनेसे उसे असत् नहीं कह सकते। फिर मिथ्यादर्शन आदि कार्मण शरीरके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निमित्त हैं। यदि यह निर्निमित्त माना जायगा तो मोक्ष ही नहीं हो सकता क्योंकि विद्यमान और निर्हेतुक पदार्थ नित्य होता है, उसका कभी विनाश नहीं हो सकेगा। कार्मण शरीरमें प्रतिसमय उपचय-अपचय होता रहता है अतः उसका अंशतः विशरण सिद्ध है और इसीलिए वह शरीर है।

§ १८–१९ यद्यपि कार्मण शरीर सबका आधार और निमित्त है अतः उसका सर्वप्रथम ग्रहण करना चाहिए था किन्तु चूंकि वह सूक्ष्म है और औदारिकादि स्थूल कार्योंके द्वारा अनुमेय है अतः उसका प्रथम ग्रहण नहीं किया। कर्मके मूर्तिमान् औदारिकादि फल देखे जाते हैं अतः वह मूर्तिमान् सिद्ध होता है। आत्माके अमूर्त अदृष्ट नामके निष्क्रिय गुणसे परमाणुओंमें क्रिया होकर द्रव्योत्पत्ति मानना उचित नहीं है।

§ २०–२१ अत्यन्त स्थूल और इन्द्रियग्राह्य होनेसे औदारिक शरीरको प्रथम ग्रहण किया है। आगे आगे सूक्ष्मता दिखानेके लिए वैक्रियिक आदि शरीरोंका क्रम है।

परं परं सूक्ष्मम् ॥३७॥

आगे आगेके शरीर सूक्ष्म हैं।

§ १–२ पर शब्दके व्यवस्था, भिन्न, प्रधान, इष्ट आदि अनेक अर्थ हैं पर यहां 'व्यवस्था' अर्थ विवक्षित है। संज्ञा लक्षण आकार प्रयोजन आदिकी दृष्टिसे परस्पर विभिन्न शरीरोंका सूक्ष्मताके विचारसे पर शब्दका वीप्सा अर्थमें दो बार निर्देश किया है।

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥३८॥

तैजस शरीर तक असंख्यातगुणे प्रदेशवाले हैं।

§ १–५ प्रदेश अर्थात् परमाणु। परमाणुओंसे ही आकाशादिका क्षेत्र-विभाग किया जाता है। पूर्वसूत्रसे 'परं परम्' की अनुवृत्ति होती है अतः मर्यादा बाँधनेके लिए 'प्राक् तैजसात्' यह स्पष्ट निर्देश किया है। प्रदेशोंकी दृष्टिसे पल्यके असंख्येय भागसे गुणित होनेपर भी इन शरीरोंका अवगाह क्षेत्र कम ही होता है। तात्पर्य यह कि औदारिकसे वैक्रियिक असंख्यात गुण प्रदेशवाला है और वैक्रियकसे आहारक। जैसे समप्रदेशवाले लोहा और रुईके पिण्डमें परमाणुओंके निबिड और शिथिल संयोगोंकी दृष्टिसे अवगाहनक्षेत्रमें तारतम्य है उसी तरह वैक्रियिक आदि शरीरोंमें उत्तरोत्तर निबिड संयोग होनेसे अल्पक्षेत्रता और सूक्ष्मता है।

अनन्तगुणे परे ॥३९॥

आहारकसे तैजस और तैजससे कार्मण क्रमशः अनन्तगुणे प्रदेशवाले हैं।

§ १–२ अनन्तगुणे अर्थात् अभव्योंके अनन्तगुणेंसे गुणित और सिद्धोंके अनन्तवें भागसे गुणित। अनन्तके अनन्त ही विकल्प होते हैं, अतः उत्तरोत्तर अनन्तगुणता समझनी चाहिए। पूर्व सूत्रसे 'परं परं' की अनुवृत्ति होती है अतः आहारकसे तैजस अनन्तगुणा तथा तैजससे कार्मण अनन्तगुणा समझना चाहिए।

§ ३–५ **प्रश्न**–पर तो कार्मण हुआ और तैजस अपर, अतः 'परापरे' यह पद रखना चाहिए ? **उत्तर**–शब्दोच्चारणकी दृष्टिसे यहाँ 'पर' व्यवहार अपेक्षित नहीं है किन्तु ज्ञानकी दृष्टिसे। बुद्धिमें आहारकसे आगे रखे गये तैजस और कार्मण दोनों ही 'पर' कहे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाते हैं। जैसे 'पटनासे मथुरा परे है' यहां काशी आदि देशोंका व्यवधान होनेपर भी व्यवहित मथुरामें पर शब्दका प्रयोग हो जाता है उसी तरह आहारकसे पर तैजस और तैजससे पर कार्मणमें भी पर शब्दका प्रयोग उचित है।

§ ६ यद्यपि तैजस और कार्मणमें परमाणु अधिक हैं फिर भी उनका अतिसघन संयोग और सूक्ष्म परिणमन होनेसे इन्द्रियोंके द्वारा उपलब्धि नहीं हो सकती।

अप्रतीघाते ॥४०॥

ये दोनों शरीर सर्वत्र अप्रतीघाती हैं।

§ १-३ एक मूर्तिमान् द्रव्यका दूसरे मूर्तिमान् द्रव्यसे रुक जाना या टकराना प्रतीघात कहलाता है। जैसे अग्नि सूक्ष्म परिणमनके कारण लोहेके पिंडमें भी घुस जाती है उसी तरह ये दोनों शरीर वज्रपटलादिकसे भी नहीं रुकते, सब जगह प्रवेश कर जाते हैं। यद्यपि वैक्रियिक और आहारक भी अपनी-अपनी सीमामें अप्रतीघाती हैं फिर भी लोक भरमें सर्वत्र अप्रतीघाती ये दोनों ही हैं, अतः दोनोंको ही अप्रतीघाती कहा है।

अनादिसम्बन्धे च ॥४१॥

§ १-२ ये दोनों शरीर अनादिसे इस जीवके साथ हैं। उपचय-अपचयकी दृष्टि-से इनका सादिसम्बन्ध भी होता है, इसीलिए च शब्द दिया है। जैसे वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्ष इस प्रकार सन्ततिकी दृष्टिसे बीज-वृक्ष अनादि होकर भी तद्बीज और तद्वृक्ष की अपेक्षा सादि हैं उसी तरह तैजस कार्मण भी बन्धसन्ततिकी दृष्टिसे अनादि और तत् तत् दृष्टिसे सादि हैं।

§ ३-५ यदि सर्वथा आदिमान् माना जाय तो अशरीर आत्माके नूतन शरीर का सम्बन्ध ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि शरीरसम्बन्धका कोई निमित्त ही नहीं है। और यदि निर्निमित्त ही शरीरसम्बन्ध होने लगे तो मुक्त आत्माओंके साथ भी शरीरका सम्बन्ध हो जायगा। इस तरह कोई मुक्त ही नहीं रह सकेगा। और यदि अनादि होने से उसे अनन्त माना जायगा; तो भी किसीको मोक्ष ही नहीं हो सकेगा। अतः जैसे अनादि-कालीन बीज-वृक्ष सन्तति भी अग्नि आदि कारणोंसे नष्ट हो जाती है उसी तरह कर्म-शरीर भी ध्यानाग्निसे नष्ट हो जाता है।

सर्वस्य ॥४२॥

§ १-२ ये दोनों शरीर सभी संसारी जीवोंके होते हैं। 'सर्वस्य' यह एक वचन संसारिसामान्यकी अपेक्षा दिया है। यदि ये किसी संसारीके न हों तो वह संसारी ही नहीं हो सकता।

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥४३॥

एक जीवके एक साथ इन दो शरीरोंको लेकर चार शरीर तक हो सकते हैं।

§ १-६ 'तत्' शब्दसे जिन दो शरीरोंका प्रकरण है उनका ग्रहण करना चाहिए। 'आदि' शब्द व्यवस्थावाची है। 'आङ' उपसर्ग अभिविधिके अर्थमें है, अतः किसी के चार भी हो सकते हैं। यदि मर्यादार्थक होता तो चारसे पहिले अर्थात् तीन शरीरतक का नियम होता। किसी आत्माके दो शरीर तैजस और कर्मण होंगे। तीन औदारिक तैजस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और कार्मण अथवा वैक्रियिक तैजस और कार्मण होंगे। किसीके औदारिक आहारक तैजस और कार्मण ये चार भी हो सकते हैं। वैक्रियिक और आहारक एक साथ नहीं होते अतः पांचकी संभावना नहीं है; क्योंकि आहारक जिस प्रमत्तसंयत मुनिके होता है उसके वैक्रियिक नहीं होता, जिन देव और नारकियोंके वैक्रियिक होता है उनके आहारक नहीं होता।

निरुपभोगमन्त्यम् ॥४४॥

अन्तिम कार्मण शरीर निरुपभोग होता है।

§ १-३ इन्द्रियोंके द्वारा शब्दादिककी उपलब्धिको उपभोग कहते हैं। यद्यपि कर्मादान निर्जरा और सुखदुःखानुभवन आदि उपभोग कार्मण शरीरमें संभव हैं फिर भी विग्रहगतिमें द्रव्येन्द्रियोंकी रचना नहीं होती, अतः विवक्षित उपभोग कार्मण शरीरमें नहीं पाया जाता। तैजस शरीर चूंकि योगनिमित्त, योग अर्थात् आत्मप्रदेश परिस्पन्दमें भी निमित्त नहीं होता अतः उसकी उपभोग विचारमें विवक्षा नहीं है। अतः योगनिमित्त शरीरोंमें अन्तिम कार्मण शरीर ही निरुपभोग है, शेष सोपभोग हैं।

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥४५॥

जितने गर्भज और सम्मूर्च्छनजन्य शरीर हैं वे सब औदारिक हैं।

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥४६॥

उपपादजन्य यावत् शरीर वैक्रियिक हैं।

लब्धिप्रत्ययं च ॥४७॥

वैक्रियिक शरीर ऋद्धिनिमित्तक भी होता है।

§ १-२ प्रत्यय शब्दके ज्ञान, सत्यता, कारण आदि अनेक अर्थ हैं किन्तु यहाँ कारण अर्थ विवक्षित है। विशेष तपसे जो ऋद्धि प्राप्त होती है वह लब्धि है। लब्धि-कारणक भी वैक्रियिक शरीर होता है।

§ ३ उपपाद तो निश्चित है, पर लब्धि अनिश्चित है, किसीके ही विशेष तप धारण करने पर होती है।

§ ४ विक्रियाका अर्थ विनाश नहीं है, जिससे प्रति समय न्यूनाधिक रूपसे सभी शरीरोंका विनाश होनेसे सबको वैक्रियिक कहा जाय किन्तु नाना आकृतियोंको उत्पन्न करना है। विक्रिया दो प्रकार की है—१ एकत्व विक्रिया, २ पृथक्त्व विक्रिया। अपने शरीरको ही सिंह व्याघ्र हिरण हंस आदि रूपसे बना लेना एकत्व विक्रिया है और शरीरसे भिन्न मकान मण्डप आदि बना देना पृथक्त्व विक्रिया है। भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी और सोलह स्वर्गके देवोंके दोनों प्रकारकी विक्रिया होती है। ऊपर ग्रैवेयक आदि सर्वार्थ-सिद्धि पर्यन्तके देवोंके प्रशस्त एकत्व विक्रिया ही होती है। छठवें नरक तकके नारकियोंके त्रिशूल चक्र तलवार मुद्गर आदि रूपसे जो विक्रिया होती है वह एकत्वविक्रिया ही है न कि पृथक्त्व विक्रिया। सातवें नरकमें गाय बराबर कीड़े लोहू आदि रूपसे एकत्व विक्रिया ही होती है, आयुधरूपसे एकत्व विक्रिया और पृथक्त्व विक्रिया नहीं होती। तिर्यञ्चोंमें मयूर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदिके एकत्व विक्रिया होता है पृथक्त्व विक्रिया नहीं। मनुष्योंके भी तप और विद्या आदिके प्रभावसे एकत्व विक्रिया होता है।

तैजसमपि ॥४८॥

§ १ तैजस शरीर भी लब्धिप्रत्यय होता है। यद्यपि आहारकका प्रकरण था परन्तु लब्धिप्रत्ययोंके प्रकरणमें लाघवके लिए तैजसका कथन कर दिया है।

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥४९॥

आहारक शरीर शुभ विशुद्ध और अव्याघाती होता है, यह प्रमत्तसंयतके ही होता है।

§ १-३ जैसे प्राणोंका कारण होनेसे उपचारसे अन्नको भी प्राण कह देते हैं उसी तरह शुभ आहारकयोगका कारण होनेसे यह शरीर शुभ कहा जाता है। विशुद्ध कर्मके उदयसे होनेके कारण यह विशुद्ध है। न तो आहारक शरीर किसीका व्याघात करता है और न किसीसे व्याघातित ही होता है अतः अव्याघाती है।

§ ४ भरत और ऐरावत क्षेत्रमें केवलियोंका अभाव होनेपर महाविदेह क्षेत्रमें केवली भगवान्‌के पास औदारिक शरीरसे जाना तो शक्य नहीं है और असंयम भी बहुत होगा अतः प्रमत्तसंयत मुनि सूक्ष्म पदार्थके निर्णयके लिए या ऋद्धिका सद्भाव जाननेके लिए या संयम परिपालनके लिए आहारक शरीरकी रचना करता है। इन बातोंके समुच्चयके लिए 'च' शब्द दिया गया है।

§ ५-७ 'प्रमत्त संयतके ही आहारक होता है' इस प्रकार अवधारण करनेके लिए एवकार है न कि 'प्रमत्तसंयतके आहारक ही होता है' इस अनिष्ट अवधारणके लिए। जिस समय मुनि आहारक शरीरकी रचना करता है उस समय वह प्रमत्तसंयत ही हो जाता है।

§ ८ इन शरीरोंमें परस्पर संज्ञा लक्षण कारण स्वामित्व सामर्थ्य प्रमाण क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर संख्या प्रदेश भाव और अल्पबहुत्व आदिकी दृष्टिसे भेद है। यथा,

संज्ञा–औदारिक आदिके अपने-अपने जुदे नाम हैं।

लक्षण–स्थूल शरीर औदारिक है। विविधगुण ऋद्धिवाली विक्रिया करनेवाला शरीर वैक्रियिक है। सूक्ष्मपदार्थविषयक निर्णयके लिए आहारक शरीर होता है। शंखके समान शुभ्र तैजस होता है। वह दो प्रकारका है–१ निःसरणात्मक २ अनिःसरणात्मक। औदारिक वैक्रियिक और आहारक शरीरमें दीप्ति करनेवाला-रौनक लानेवाला अनिःसरणात्मक तैजस है। निःसरणात्मक तैजस उग्रचारित्रवाले अतिक्रोधी यतिके शरीरसे निकलकर जिसपर क्रोध है उसे घेरकर ठहरता है और उसे शाककी तरह पका देता है, फिर वापिस होकर यतिके शरीरमें ही समा जाता है। यदि अधिक देर ठहर जाय तो उसे भस्मसात् कर देता है। सभी शरीरोंमें कारणभूत कर्मसमूहको कार्मण शरीर कहते हैं।

कारण–औदारिक आदि भिन्न-भिन्न नाम कर्मोंके उदयसे ये शरीर होते हैं। अतः कारणभेद स्पष्ट है।

स्वामित्व–औदारिक शरीर तिर्यञ्च और मनुष्योंके होता है। वैक्रियिक शरीर देव नारकी तेजस्काय वायुकाय और पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च तथा मनुष्योंमें किसीके होता है। **प्रश्न**–जीवस्थानके योगभंग प्रकरणमें तिर्यञ्च और मनुष्योंके औदारिक और औदारिक मिश्र

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

तथा देव और नारकियोंके वैक्रियिक और वैक्रियिकमिश्र बताया है पर यहां तो तिर्यञ्च और मनुष्योंके भी वैक्रियिकका विधान किया है । इस तरह परस्पर विरोध आता है ?

उत्तर–व्याख्या प्रज्ञप्ति दंडकके शरीरभंगमें वायुकायिकके औदारिक वैक्रियिक तैजस और कार्मण ये चार शरीर तथा मनुष्योंके पांच शरीर बताए हैं । भिन्न-भिन्न अभिप्रायों से लिखे गये उक्त सन्दर्भोंमें परस्पर विरोध भी नहीं है। जीवस्थानमें जिस प्रकार देव और नारकियोंके सर्वदा वैक्रियिक शरीर रहता है उस तरह तिर्यञ्च और मनुष्योंके नहीं होता, इसीलिए तिर्यञ्च और मनुष्योंके वैक्रियिक शरीरका विधान नहीं किया है जब कि व्याख्याप्रज्ञप्तिमें उसके सद्भावमात्रसे ही उसका विधान कर दिया है।

आहारक प्रमत्तसंयतके ही होता है । तैजस और कार्मण सभी संसारियोंके होते हैं।

सामर्थ्य–मनुष्य और तिर्यञ्चोंमें सिंह और केशरी चक्रवर्ती वासुदेव आदिके औदारिक शरीरोंमें शक्तिका तारतम्य सर्वानुभूत है। यह भवप्रत्यय है । उत्कृष्ट तपस्वियोंके शरीरविक्रिया करनेकी शक्ति गुणप्रत्यय है। वैक्रियिक शरीरमें मेरुकम्पन और समस्त भूमण्डलको उलटा-पुलटा करनेकी शक्ति है । आहारक शरीर अप्रतिघाती होता है, वज्रपटल आदिसे भी वह नहीं रुकता। यद्यपि वैक्रियिक शरीर भी साधारणतया अप्रतिघाती होता है, फिर भी इन्द्र सामानिक आदिमें शक्तिका तारतम्य देखा जाता है । अनन्तवीर्ययतिने इन्द्रकी शक्तिको कुंठित कर दिया था यह प्रसिद्ध ही है। अत: वैक्रियिक क्वचित् प्रतिघाती होता है किन्तु सभी आहारक शरीर समशक्तिक और सर्वत्र अप्रतिघाती होते हैं। तैजस शरीर क्रोध और प्रसन्नताके अनुसार दाह और अनुग्रह करनेकी शक्ति रखता है । कार्मण शरीर सभी कर्मोंको अवकाश देता है, उन्हें अपनेमें शामिल कर लेता है।

प्रमाण–सबसे छोटा औदारिक शरीर सूक्ष्मनिगोदिया जीवोंके अंगुलके असंख्यात भाग बराबर होता है और सबसे बड़ा नन्दीश्वरवापीके कमलका कुछ अधिक एक हजार योजन प्रमाणका होता है। वैक्रियिक मूल शरीरकी दृष्टिसे सबसे छोटा सर्वार्थसिद्धिके देवोंके एक अरत्नि प्रमाण और सबसे बड़ा सातवें नरकमें पांच सौ धनुष प्रमाण है । विक्रियाकी दृष्टिसे बड़ीसे बड़ी विक्रिया जम्बूद्वीप प्रमाण होती है । आहारक शरीर एक अरत्नि प्रमाण होता है । तैजस और कार्मण शरीर जघन्यसे अपने औदारिक शरीरके बराबर होते हैं और उत्कृष्टसे केवलि समुद्‌घातमें सर्वलोकप्रमाण होते हैं ।

क्षेत्र–औदारिक वैक्रियिक और आहारकका लोकका असंख्यातवां भाग क्षेत्र है।

तैजस और कार्मणका लोकका असंख्यातवां भाग असंख्यात बहुभाग या सर्वलोक क्षेत्र होता है प्रतर और लोकपूरण अवस्थामें ।

स्पर्शन–तिर्यञ्चोंने औदारिक शरीरसे सम्पूर्ण लोकका स्पर्शन किया है, और मनुष्योंने लोकके असंख्यातवें भागका । मूल वैक्रियिक शरीरसे लोकके असंख्यात बहुभाग और उत्तर वैक्रियिकसे कुछ कम ८/१४ भाग स्पृष्ट होते हैं। सौधर्मस्वर्गके देव स्वयं या परनिमित्तसे ऊपर आरण अच्युत स्वर्ग तक छह राजू जाते हैं और नीचे स्वयं बालुकाप्रभा नरक तक दो राजू, इस तरह ८/१४ भाग होते हैं । आहारक शरीरके द्वारा लोकका असंख्यातवां भाग स्पर्श किया जाता है । तैजस और कार्मण समस्त लोकका स्पर्शन करते हैं ।

काल–तिर्यञ्च और मनुष्योंके औदारिक शरीरका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त कम तीन पल्य है । यह अन्तर्मुहूर्त अपर्याप्तकका काल है । वैक्रियिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीरका देवोंकी अपेक्षा मूलवैक्रियिकका जघन्य काल अपर्याप्तकालके अन्तर्मुहूर्तसे कम दस हजार वर्ष प्रमाण है। उत्कृष्ट अपर्याप्तकालीन अन्तर्मुहूर्तसे कम तेंतीस सागर है। उत्तर वैक्रियिकका जघन्य और उत्कृष्ट दोनों ही काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। तीर्थङ्करोंके जन्मोत्सव नन्दीश्वरपूजा आदिके समय अन्तर्मुहूर्तके बाद नए नए उत्तरवैक्रियिक शरीर उत्पन्न होते जाते हैं। आहारकका जघन्य और उत्कृष्ट दोनों ही काल अन्तर्मुहूर्त है। तैजस और कार्मण शरीर अभव्य और दूरभव्योंकी दृष्टिसे सन्तानकी अपेक्षा अनादि अनन्त हैं। भव्योंकी दृष्टिसे अनादि और सान्त है। निषेककी दृष्टिसे एक समयमात्र काल है। तैजस शरीरकी उत्कृष्ट निषेक स्थिति छयासठ सागर और कार्मण शरीरकी सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर है।

अन्तर–औदारिक शरीरका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट अपर्याप्तिकालके अन्तर्मुहूर्तसे अधिक तेंतीस सागर है। वैक्रियिक शरीरका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल है। आहारकका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्टसे अन्तर्मुहूर्त कम अर्धपुद्गल परिवर्तनकाल प्रमाण है। तैजस और कार्मण शरीरका अन्तर नहीं है।

संख्या–औदारिक असंख्यात लोक प्रमाण हैं। वैक्रियिक असंख्यात श्रेणी और लोकप्रतरका असंख्यातवाँ भाग हैं। आहारक ५४ हैं। तैजस और कार्मण अनन्त हैं, अनन्तानन्त लोक प्रमाण हैं।

प्रदेश–औदारिकके प्रदेश अभव्योंसे अनन्तगुणे और सिद्धोंके अनन्तभाग प्रमाण हैं। शेष चारके प्रदेश उत्तरोत्तर अधिक अनन्त प्रमाण हैं।

भाव–औदारिकादि नामके उदयसे सभीके औदयिकभाव हैं।

अल्पबहुत्व–सबसे कम आहारकशरीर हैं, वैक्रियिकशरीर असंख्यातगुणे हैं। असंख्यात श्रेणी वा लोकप्रतरका असंख्यातवाँ भाग गुणकार है। उससे औदारिक शरीर असंख्यातगुणे हैं। यहाँ गुणकार असंख्यात लोक हैं। तैजस और कार्मण अनन्तगुणे हैं। यहाँ गुणकार सिद्धोंका अनन्तगुणा है।

लिङ्गनियम–

नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥५०॥

नारक और सम्मूर्च्छन जन्मवाले नपुंसक होते हैं।

§ १–४ धर्म आदि चार पुरुषार्थोंका नयन करनेवाले 'नर' होते हैं जो इन नरोंको शीत उष्ण आदिकी वेदनाओंसे शब्दाकुलित कर दे वह नरक है। अथवा पापी जीवोंको आत्यन्तिक दुःखको प्राप्त करानेवाले नरक हैं। इन नरकोंमें जन्म लेनेवाले जीव नारक हैं। जो चारों ओरके परमाणुओंसे शरीर बनता है वह संमूर्च्छे है इस सम्मूर्च्छसे उत्पन्न होनेवाले जीव सम्मूर्च्छन कहलाते हैं। ये दोनों चारित्रमोहनीयके नपुंसकवेद नोकषाय तथा अशुभ नामकर्मके उदयसे न स्त्री और न पुरुष अर्थात् नपुंसक ही होते हैं। इनमें स्त्री और पुरुष सम्बन्धी स्वल्प सुख भी नहीं है।

न देवाः ॥५१॥

§ १ देवोंमें नपुंसक नहीं होते। वे स्त्री और पुरुषसम्बन्धी अतिशय सुखका उपभोग करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शेषास्त्रिवेदाः ॥५२॥

शेष जीवोंके यथासंभव तीनों ही वेद होते हैं।

§ १ चारित्रमोहके भेद पुंवेद आदिके उदयसे तीनों वेद होते हैं। जो अनुभवमें आवे उसे वेद कहते हैं। वेद अर्थात् लिंग। लिंग दो प्रकारका है–१ द्रव्यलिंग और दूसरा भावलिंग। नामकर्मके उदयसे योनि पुरुषलिंग आदि द्रव्यलिंग हैं और नोकषायके उदयसे भावलिंग होते हैं। स्त्रीवेदके उदयसे जो गर्भ धारण कर सके वह स्त्री, जो सन्ततिका उत्पादक हो वह पुरुष और जो दोनों शक्तियोंसे रहित हो वह नपुंसक है। ये सब रूढ शब्द हैं। रूढियोंमें क्रिया साधारण व्युत्पत्तिके लिए होती है जैसे 'गच्छतीति गौः' यहां। यदि क्रियाकी प्रधानता हो तो बाल वृद्ध तिर्यंच और मनुष्य तथा कार्मणयोगवर्ती देवोंमें गर्भधारणादि क्रियाएं नहीं पाई जातीं अतः उनमें स्त्री आदि व्यपदेश नहीं हो सकेगा। स्त्रीवेद लकड़ीके अंगारकी तरह, पुरुषवेद तृणकी अग्निकी तरह और नपुंसकवेद ईंटके भट्ठेकी तरह होता है।

अकालमृत्युका नियम–

औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥५३॥

उपपाद जन्मवाले देव और नारकी, चरमोत्तम देहवाले और असंख्यात वर्षकी आयुवालोंकी आयुका घात विष-शस्त्रादिसे नहीं होता।

§ १–५ औपपादिक–देव और नारकी। चरम–उसी जन्मसे मोक्ष जानेवाले। उत्तम शरीरी अर्थात् चक्रवर्ती वासुदेव आदि। असंख्येयवर्षायुष् पल्य प्रमाण आयुवाले उत्तरकुरु आदिके जीव। अपवर्त–विष शस्त्र आदिके निमित्तसे आयुके ह्रासको अपवर्त कहते हैं।

§ ६–९ **प्रश्न**–उत्तम देहवाले भी अन्तिम चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त और कृष्ण वासुदेव तथा और भी ऐसे लोगोंकी अकालमृत्यु सुनी जाती है अतः यह लक्षण ही अव्यापी है? **उत्तर**–चरम शब्द उत्तमका विशेषण है अर्थात् अन्तिम उत्तम देहवालोंकी अकालमृत्यु नहीं होती। यदि केवल उत्तमदेह पद देते तो पूर्वोक्त दोष बना रहता है। यद्यपि केवल 'चरमदेह' पद देनेसे कार्य चल जाता है फिर भी उस चरमदेहकी सर्वोत्कृष्टता बतानेके लिए उत्तम विशेषण दिया है। कहीं 'चरमदेहाः' यह पाठ भी देखा जाता है। इनकी अकालमृत्यु कभी नहीं होती।

§ १०–१३ जैसे कागज पयाल आदिके द्वारा आम आदिको समयसे पहिले ही पका दिया जाता है उसी तरह निश्चित मरणकालसे पहिले भी उदीरणाके कारणोंसे आयुकी उदीरणा होकर अकालमरण हो जाता है। आयुर्वेदशास्त्रमें अकालमृत्युके वारणके लिए औषधिप्रयोग बताये गए हैं। जैसे दवाओंके द्वारा वमन विरेचन आदि कराके श्लेष्म आदि दोषोंको बलात् निकाल दिया जाता है उसी तरह विष शस्त्रादि निमित्तोंसे आयुकी भी समयसे पहिले ही उदीरणा हो जाती है। उदीरणामें भी कर्म अपना फल देकर ही झड़ते हैं, अतः कृतनाशकी आशंका नहीं है। न तो अकृत कर्मका फल ही भोगना पड़ता है और न कृत कर्मका नाश ही होता है, अन्यथा मोक्ष ही नहीं हो सकेगा और न दानादि क्रियाओंके करनेका उत्साह ही होगा। तात्पर्य यह कि जैसे गीला कपड़ा फैला देनेपर जल्दी सूख जाता है और वही यदि इकट्ठा रखा रहे तो सूखनेमें बहुत समय लगता है उसी तरह उदीरणाके निमित्तोंसे समयके पहिले ही आयु झड़ जाती है। यही अकालमृत्यु है।

द्वितीय अध्याय समाप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय अध्याय

नरक पृथ्वियाँ—

रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाश-प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥१॥

रत्नप्रभा आदि सात पृथ्वियाँ नीचे-नीचे हैं और घनोदधिवात, घनवात और तनुवात इन तीन वातवलयोंसे वेष्टित हैं। इन वातवलयोंका आधार आकाश है।

§ १–४ रत्न आदि शब्दोंका द्वन्द्व समास करके प्रत्येकमें प्रभा शब्द जोड़ देना चाहिए, रत्नप्रभा शर्कराप्रभा आदि। जैसे यष्टि सहित देवदत्तको यष्टि कहते हैं उसी तरह चित्र वज्र वैडूर्य लोहित आदि सोलह रत्नोंकी प्रभासे सहित होनेके कारण रत्नप्रभा संज्ञा की गई है। इसी तरह शर्कराप्रभा आदि समझना चाहिए। तमकी भी अपनी एक आभा होती है। केवल दीप्तिका नाम ही प्रभा नहीं है किन्तु द्रव्योंका जो अपना विशेष-विशेष सलोनापन होता है, उसीसे कहा जाता है कि यह स्निग्ध कृष्ण प्रभावाला है यह रूक्ष कृष्ण प्रभावाला।

§ ५–६ जैसे मखमली कीड़ेकी 'इन्द्रगोप' संज्ञा रूढ़ है, इसमें व्युत्पत्ति अपेक्षित नहीं है उसी तरह तमःप्रभा आदि संज्ञाएँ अनादि पारिणामिकी रूढ़ समझनी चाहिए। यद्यपि ये रूढ़ शब्द हैं फिर भी ये अपने प्रतिनियत अर्थोंको कहते हैं।

§ ७–८ जिस प्रकार स्वर्गपटल भूमिका आधार लिए बिना ही ऊपर ऊपर हैं उस प्रकार नरक नहीं है किन्तु भूमियोंमें हैं। इन भूमियोंका आलम्बन घनोदधिवातवलय है, घनोदधिवातवलय घनवातवलयसे वेष्टित है और घनवातवलय तनुवातवलयसे। तनुवात-वलयका आधार आकाश है और आकाश स्वात्माधार है। तीनों ही वातवलय बीस-बीस हजार योजन मोटे हैं। घनोदधिका रंग मूंगके समान, घनवातका गोमूत्रके समान और तनुवातका रंग अव्यक्त है।

रत्नप्रभा पृथिवी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। उसके तीन भाग हैं। १ खरभाग २ पंकबहुल ३ अब्बहुल। चित्र आदि सोलह प्रकारके रत्नोंकी प्रभासे चम-चमाता हुआ खरपृथिवी भाग सोलह हजार योजन मोटा है। पंकबहुल भाग चौरासी हजार योजन मोटा है और अब्बहुल भाग अस्सी हजार योजन मोटा है। खर पृथिवी भागके ऊपर और नीचेकी ओर एक एक हजार योजन छोड़कर मध्यके १४ हजार योजनमें किन्नर किंपुरुष महोरग गन्धर्व यक्ष भूत और पिशाच इन सात व्यन्तरोंके तथा नाग विद्युत सुपर्ण अग्नि वात स्तनित उदधि द्वीप और दिक्कुमार इन नव भवनवासियोंके निवास हैं। पंक-बहुल भागमें असुर और राक्षसोंके आवास हैं। अब्बहुल भागमें नरक बिल है। शर्करा-प्रभाकी मुटाई ३२ हजार योजन, बालुकाप्रभाकी २८ हजार योजन, इस तरह छठवीं पृथिवी तक चार चार हजार योजन कम होती गई है। सातवीं नरकभूमि आठ हजार योजन मोटी है। सभीमें तिरछा अन्तर असंख्यात कोड़ा-कोड़ी योजन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ ९–१२ सात ही नरकभूमियाँ हैं न छह और न आठ। अतः कोई मतवालोंका यह मानना ठीक नहीं है कि–अनन्त लोक धातुओंमें अनन्त पृथ्वी प्रस्तार हैं। ये भूमियाँ नीचे-नीचे हैं तिरछी नहीं हैं। यद्यपि इन भूमियोंमें परस्पर असंख्यात कोड़ा-कोड़ी योजनका अन्तराल है फिर भी इसकी विवक्षा न होनेसे अथवा अन्तरको भूमिके ऊपर-नीचेके भागमें शामिल कर देनेसे सामीप्य अर्थमें 'अधोऽधः' यह दो बार 'अधः' शब्दका प्रयोग किया है। विद्यमान भी पदार्थकी अविवक्षा होती है जैसे कि अनुदरा कन्या और बिना रोमकी भेड़ आदिमें।

§ १३–१४ श्वेताम्बर सूत्रपाठमें 'पृथुतराः' यह पाठ है किन्तु जब तक कोई 'पृथु' सामने न हो तब तक किसीको 'पृथुतर' कैसे कहा जा सकता है? दो मेंसे किसी एकमें अतिशय दिखानेके लिए 'तर'का प्रयोग होता है, खासकर रत्नप्रभामें तो 'पृथुतर' प्रयोग हो ही नहीं सकता; क्योंकि कोई इससे पहिलेकी भूमि ही नहीं हैं। नीचे-नीचेकी पृथिवियाँ उत्तरोत्तर हीन परिमाणवाली हैं, अतः उनमें भी 'पृथुतरा' प्रयोग नहीं किया जा सकता। अधोलोकका आकार वेत्रासनके समान नीचे-नीचे पृथु होता गया है, अतः इसकी अपेक्षा 'पृथुतर' प्रयोगकी उपपत्ति किसी तरह बैठ भी जाय तो भी इससे भूमियोंके आजू-बाजू बाहर पृथुत्व आयगा न कि नरकभूमियोंमें। कहा है–"स्वयम्भूरमण समुद्रके अन्तसे यदि सीधी रस्सी डाली जाय तो वह सातवीं नरकभूमिके काल महाकाल रौरव महारौरवके अन्तमें जाकर गिरती है"। यदि कथञ्चित् 'पृथुतराः' पाठ बैठाना भी हो तो 'तिर्यक् पृथुतराः' कहना चाहिए, न कि 'अधोऽधः'। अथवा नीचे-नीचेके नरकोंमें चूंकि दुःख अधिक है आयु भी बड़ी है अतः इनकी अपेक्षा भूमियोंमें भी 'पृथुतरा' व्यवहार यथाकथंचित् किया जा सकता है। फिर भी रत्नप्रभामें 'पृथुतरा' व्यवहार किसी भी तरह नहीं बन सकेगा।

बिलोंकी संख्या–

तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥२॥

इन रत्नप्रभा आदि पृथिवियोंमें क्रमशः ३० लाख २५ लाख १५ लाख १० लाख ३ लाख पांच कम एक लाख और ५ बिल हैं।

§ १–२ 'त्रिंशत्' आदि पदार्थोंका परस्पर सम्बन्ध अर्थमें समास है। यथाक्रम कहनेसे क्रमशः संख्याओंका सम्बन्ध कर लेना चाहिए।

रत्नप्रभाके अब्बहुल भागमें ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर मध्य भागमें नरक हैं। वे इन्द्रक श्रेणि और पुष्पप्रकीर्णकके रूपमें तीन विभागोंमें विभाजित हैं। इसमें १३ नरक प्रस्तार हैं और उनमें सीमन्तक निरय रौरव आदि १३ ही इन्द्रक हैं। शर्कराप्रभामें ११ नरक प्रस्तार और स्तनक संस्तनक आदि ग्यारह इन्द्रक हैं। बालुकाप्रभामें ९ नरक प्रस्तार और तप्त त्रस्त आदि ९ इन्द्रक हैं। पंकप्रभामें ७ नरक प्रस्तार और आर मार आदि सात ही इन्द्रक हैं। धूमप्रभामें ५ नरक प्रस्तार और तम भ्रम आदि ५ इन्द्रक हैं। तमःप्रभामें तीन नरक प्रस्तार और हिमवर्दल और ललक ये तीन ही इन्द्रक हैं। महातमःप्रभामें एक ही इन्द्रक नरक अप्रतिष्ठान नामका है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सीमन्त इन्द्रक नरककी चारों दिशाओं और चार विदिशाओंमें क्रमबद्ध नरक हैं तथा मध्यमें प्रकीर्णक। दिशाओंकी श्रेणीमें ४९, ४९ नरक हैं तथा विदिशाओंकी श्रेणीमें ४८, ४८। निरय आदि शेष इन्द्रकोंमें दिशा और विदिशाके श्रेणीबद्ध नरकोंकी संख्या क्रमसे एक-एक कम होती गई है। अतः

पृथिवी	श्रेणी और इन्द्रक	पुष्प प्रकीर्णक	योग
१	४४३३	२९९५५६७	३००००००
२	२६९५	२४९७३०५	२५०००००
३	१४८५	१४९८५१५	१५०००००
४	७०७	९९९२९३	१००००००
५	२६५	२९९७३५	३००००००
६	६३	९९९३२	९९९९५
७	५	×	५
	९६५३	८३९०३४७	८४०००००

सातवेंमें विदिशाओंमें नरक नहीं है। पूर्वमें काल, पश्चिममें महाकाल, दक्षिणमें रौरव, उत्तरमें महारौरव और मध्यमें अप्रतिष्ठान है।

इन सातों पृथिवियोंमें कुछ नरक संख्यात लाख योजन विस्तारवाले और कुछ असंख्यात लाख योजन विस्तारवाले हैं। पाँचवें भाग तो संख्यात योजन विस्तारवाले और ४ भाग असंख्यात योजन विस्तारवाले हैं।

इन्द्रक बिलोंकी गहराई प्रथम नरकमें १ कोश और आगे क्रमशः आधा-आधा कोश बढ़ती हुई सातवेंमें ४ कोश हो जाती है। श्रेणीबद्धकी गहराई अपने इन्द्रककी गहराईसे तिहाई और अधिक है। प्रकीर्णकोंकी गहराई, श्रेणी और इन्द्रक दोनोंकी मिली हुई गहराईके बराबर है। ये सब नरक ऊँट आदिके समान अशुभ आकारवाले हैं। इनके शोचन रोदन आदि भद्दे-भद्दे नाम हैं।

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदना विक्रियाः ॥३॥

नारकी जीवोंके सदा लेश्या, परिणमन, देह, वेदना और विक्रिया सभी अशुभतर होते हैं।

§ १-३ तिर्यञ्चोंकी अपेक्षा अथवा ऊपरके नरकोंकी अपेक्षा नीचे नरकोंमें लेश्या आदि अशुभतर होते हैं।

§ ४ जैसे 'नित्यप्रहसितो देवदत्तः-देवदत्त नित्य हंसता है' यहाँ नित्य शब्द बहुधा अर्थ में है अर्थात् निमित्त मिलनेपर देवदत्त जरूर हंसता है उसी तरह नारकी भी निमित्त मिलनेपर अवश्य ही अशुभतर लेश्यावाले होते हैं। यहाँ नित्यका अर्थ शाश्वत या कूटस्थ नहीं है। अतः लेश्याकी अनिवृत्तिका प्रसंग नहीं होता।

प्रथम और द्वितीय नरकमें कापोतलेश्या, तृतीय नरकमें ऊपर कापोत तथा नीचे नील, चौथेमें नील, पाँचवें में ऊपर नील और नीचे कृष्ण, छठवेंमें कृष्ण, और सातवेंमें परमकृष्ण द्रव्यलेश्या होती है। भावलेश्या तो छहों होती हैं और वे अन्तर्मुहूर्तमें बदलती रहती हैं। क्षेत्रके कारण वहाँके स्पर्श, रस गन्ध वर्ण और शब्द परिणमन अत्यन्त दुःखके कारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं। उनके शरीर अशुभ नाम कर्मके उदयसे हुंडक संस्थानवाले बीभत्स होते हैं। यद्यपि उनका शरीर वैक्रियिक है फिर भी उसमें मल मूत्र पीब आदि सभी बीभत्स सामग्री रहती है। प्रथम नरकमें शरीरकी ऊंचाई ७ धनुष ३ हाथ और ६ अंगुल है। आगेके नरकोंमें दूनी होकर सातवें नरकमें ५०० धनुष हो जाती है। आभ्यन्तर असातावेदनीय के उदयसे शीत उष्ण आदिकी बाह्य तीव्र वेदनाएं होती हैं। नरकोंमें इतनी गरमी होती है कि यदि हिमालय बराबर तांबेका गोला उसमें डाल दिया जाय तो वह क्षणमात्रमें गल जायगा, और यदि वही पिघला हुआ शीतनरकोंमें डाला जाय तो क्षणमात्रमें ही जम जायगा। आदिके चार नरकोंमें उष्णवेदना है। पाँचवेंके दो लाख बिलोंमें उष्णवेदना तथा शेषमें शीतवेदना है। छठवें और सातवेंमें शीतवेदना ही है। तात्पर्य यह है कि ८२ लाख नरक उष्ण हैं और दो लाख नरक शीत। नारकी जीव विचारते हैं कि शुभ करें पर कर्मोदयसे होता अशुभ ही है। दुःख दूर करनेके जितने उपाय करते हैं उनसे दूना दुःख ही उत्पन्न होता है।

परस्परोदीरितदुःखाः ॥४॥

§ १ जिस प्रकार एक कुत्ता दूसरे कुत्तेको देखकर अकारण ही भोंकता है और काटता है उसी तरह नारकी तीव्र अशुभ कर्मके उदयसे तथा विभङ्गावधिसे पूर्वकृत वैरके कारणोंको जान जानकर निरन्तर एक दूसरेको तीव्र दुःख उत्पन्न करते रहते हैं। आपसमें मारना काटना छेदना घानीमें पेलना आदि भयंकर दुःख कारणोंको जुटाते रहते हैं।

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

पूर्वभवके संक्लेशपरिणामोंसे बाँधे गये अशुभ कर्मके उदयसे सतत संक्लेशपरिणामवाले असुरकुमार चौथे नरकसे पहिले नारकियोंको परस्पर लड़ाते भिड़ाते हैं।

§ १-५ असुर नामक देवगतिके उदयसे असुर होते हैं। सभी असुर संक्लिष्ट नहीं होते किन्तु अम्बाम्बरीष आदि जातिके कुछ ही असुर। तीसरी पृथिवी तक ही इनकी गमन शक्ति है। यद्यपि 'आचतुर्भ्यः' कहनेसे लघुता होती फिर भी चूंकि 'आङ' का अर्थ मर्यादा और अभिविधि दोनों ही होता है अतः सन्देह हो सकता था कि 'चौथी पृथ्वीको भी शामिल करना या नहीं?' इसलिए स्पष्ट और असन्दिग्ध अर्थबोधके लिए 'प्राक्' पद दिया है।

§ ६ 'च' शब्द पूर्वोक्त दुःख हेतुओंके समुच्चयके लिए है, अन्यथा तीन पृथिवियोंमें पूर्वहेतुओंके अभावका प्रसङ्ग होता।

§ ७ यद्यपि पूर्वसूत्रमें उदीरित शब्द है फिर भी चूंकि वह समासान्तर्गत होनेसे गौण हो गया है अतः उसका यहाँ सम्बन्ध नहीं हो सकता था अतः इस सूत्रमें पुनः 'उदीरित' शब्द दिया है।

§ ८ यद्यपि 'परस्परेणोदीरितदुःखाः संक्लिष्टासुरैश्च प्राक् चतुर्थ्याः' ऐसा एक वाक्य बनाया जा सकता था फिर भी उदीरणाके विविध प्रकारोंके प्रदर्शनके लिए पृथक् उदीरित शब्द देकर पूर्वोक्त सूत्र बनाए हैं। नरकोंमें असुर कुमार जातिके देव परस्पर तपे हुए लोहेको पिलाना, जलते हुए लोहस्तम्भसे चिपटा देना, लौह-मुद्गरोंसे ताड़ना, बसूला छुरी तलवार आदिसे काटना, तप्त तेलसे सींचना, भाँड़में भूंजना, लोहेके घड़ेमें पका देना, कोल्हूमें पेल देना, शूली पर चढ़ा देना, करोंतसे काट देना, सुई जैसी घास पर घसीटना, सिंह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याघ्र कौआ उल्लू आदिके द्वारा खिलाया जाना, गरम रेत पर सुला देना, वैतरिणीमें पटकना आदिके द्वारा नारकियोंके तीव्र दुःखके कारण होते हैं। वे ऐसे कलहप्रिय और संक्लेशमना हैं कि जब तक वे इस प्रकारकी मारकाट मार-धाड़ आदि नहीं करा लेते तब तक उन्हें शान्ति नहीं मिलती जैसे कि यहाँ कुछ रुद्र लोग मेढ़ा तीतर मुर्गा बटेर आदिको लड़ाकर अपनी रौद्रानन्दी कुटेवकी तृप्ति करते हैं। यद्यपि उनके देवगति नामकर्मका उदय है फिर भी उनके माया मिथ्या निदान शल्य, तीव्र कषाय आदिसे ऐसा अकुशलानुबन्धी पुण्य बंधा है जिससे उन्हें अशुभ और संक्लेशकारक प्रवृत्तियोंमें ही आनन्द आता है। इस तरह भयंकर छेदन भेदन आदि होनेपर भी नारकियोंकी कभी अकालमृत्यु नहीं होती।

नारकियोंकी आयु–

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥६॥

इन नरकोंके जीवोंकी क्रमशः एक तीन सात दस सत्रह बाईस और तेंतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है।

§ १–२ सागरमें जिस प्रकार अपार जलराशि होती है उसी तरह नारकियोंकी आयुमें निषेकोंकी संख्या अपार होती है अतः सागरकी उपमासे आयुका निर्देश किया है। एक आदि शब्दोंका द्वन्द्व समास करके सागरोपमा विशेषणसे अन्वय कर देना चाहिए। **प्रश्न**–जब 'एका च तिस्रश्च' इत्यादि विग्रहमें एक शब्द स्त्रीलिंग है तब सूत्रमें उसका पुल्लिग रूपसे निर्देश कैसे हो गया ? **उत्तर**–यह पुल्लिग निर्देश नहीं है किन्तु 'एकस्याः क्षीरम् एकक्षीरम्'की तरह औत्तरपदिक ह्रस्वत्व है। अथवा 'सागर उपमा यस्य तत् सागरोपमम् आयुः' फिर, 'एकं च त्रीणि च' आदि विग्रह करके स्त्रीलिंग स्थिति शब्दसे बहुव्रीहि समास करने पर स्थिति शब्दकी अपेक्षा स्त्रीलिंग निर्देश है।

§ ३ द्वितीय सूत्रसे 'यथाक्रमम्'का अनुवर्तन करके क्रमशः रत्नप्रभा आदिसे सम्बन्ध कर लेना चाहिए। रत्नप्रभाकी एक सागर, शर्करा प्रभाकी तीन सागर आदि।

§ ४–५ **प्रश्न**–'तेषु' कहनेसे रत्नप्रभा पृथिवीके सीमन्तक आदि नरक पटलोंमें ही पूर्वोक्त स्थितिका सम्बन्ध होना चाहिए; क्योंकि प्रकरण-सामीप्य इन्हींसे है। पर यह आपको इष्ट नहीं है। अतः 'तेषु' यह पद निरर्थक है। **उत्तर**–जो रत्नप्रभा आदिसे उपलक्षित तीस लाख पच्चीस लाख आदिरूपसे नरकबिल गिने गए हैं उन नरकोंके जीवोंकी एक सागर आदि आयु विवक्षित है। अथवा, नरक सहचरित भूमियोंको भी नरक ही कहते हैं, अतः इन रत्नप्रभा आदि नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी यह स्थिति है। इसीलिए 'तेषु' पद की सार्थकता है, अन्यथा भूमिसे आयुका सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता क्योंकि वे व्यवहित हो गई हैं।

§ ६ 'सत्त्वानाम्' यह स्पष्ट पद दिया है अतः नरकवासी जीवोंकी यह स्थिति है न कि नरकों की।

§ ७ परा अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति। रत्नप्रभा आदिमें प्रस्तार क्रमसे जघन्य स्थिति इस प्रकार है–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तार	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
१ सीमन्तक	दस हजार वर्ष	९० हजार वर्ष
२ निरय	९० हजार वर्ष	९० लाख वर्ष
३ रौरुक	१ पूर्व कोटी	असंख्यात पूर्व कोटी
४ भ्रान्त	असंख्यात पूर्व कोटी	१/१३ सागर
५ उद्भ्रान्त	१/१३ सागर	२/१३ सागर
६ सम्भ्रान्त	२/१३ सागर	३/१३ सागर
७ असम्भ्रान्त	३/१३ सागर	४/१३ सागर
८ विभ्रान्त	४/१३ सागर	५/१३ सागर
९ तप्त	५/१३ सागर	६/१३ सागर
१० त्रस्त	६/१३ सागर	७/१३ सागर
११ व्युत्क्रान्त	७/१३ सागर	८/१३ सागर
१२ अवक्रान्त	८/१३ सागर	९/१३ सागर
१३ विक्रान्त	९/१३ सागर	१ सागर

जघन्य स्थितिसे एक समय अधिक और उत्कृष्टसे एक समय कमके समस्त विकल्प रूप मध्य स्थिति है।

इसी तरह शर्कराप्रभा आदिमें भी प्रति प्रस्तार जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति समझ लेनी चाहिए। उसका नियम यह है—

उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिका अन्तर निकालकर प्रतरोंकी संख्यासे उसे विभाजित करके पहिली पृथिवीकी उत्कृष्ट स्थितिमें जोड़नेपर दूसरी पृथिवीके प्रथम पटलकी उत्कृष्ट स्थिति होती है। आगे वही इष्ट जोड़ते जाना चाहिए। जैसे शर्कराप्रभाकी उत्कृष्ट ३ सागर और जघन्य एक सागर है। दोनोंका अन्तर २ आया। इसमें प्रतरसंख्या ११ का भाग देने पर २/११ इष्ट हुआ। इसे प्रतिपटलमें बढ़ानेपर अवान्तर पटलोंकी उत्कृष्ट स्थिति हो जाती है। पहिली पहिली पृथिवीकी तथा पहिले पहिले पटलोंकी उत्कृष्ट स्थिति आगे आगेकी पृथिवियों और पटलोंमें जघन्य हो जाती है।

उत्पत्तिका विरहकाल—सभी पृथिवियोंमें जघन्य एक समय और उत्कृष्ट क्रमशः २४ मुहूर्त, सात रात-दिन, एक पक्ष, एक माह, दो माह, चार माह और छह माह होता है।

उत्पाद और निर्गति—असंज्ञी प्रथम पृथिवी तक, सरीसृप द्वितीय तक, पक्षी तीसरी तक, सर्प चौथी तक, सिंह पाँचवीं तक, स्त्रियाँ छठवीं तक और मत्स्य तथा मनुष्य सातवीं पृथिवी तक उत्पन्न होते हैं। देव नरकमें और नारकी देवोंमें उत्पन्न नहीं हो सकते। पहिले नरकमें उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्वी नारक कोई मिथ्यात्वके साथ कोई सासादन होकर और कोई सम्यक्त्वको प्राप्त करके निकलते हैं। पहिली पृथिवीमें उत्पन्न होनेवाले बद्धायुष्क क्षायिक सम्यग्दृष्टि सम्यग्दर्शनके साथ ही निकलते हैं। द्वितीय आदि पाँच नरकोंमें उत्पन्न मिथ्यादृष्टि नारक कुछ मिथ्यात्वके साथ कुछ सासादनके साथ और कुछ सम्यक्त्व प्राप्त करके निकलते हैं। सातवें नरकमें मिथ्यात्वसे ही प्रविष्ट होते हैं तथा मिथ्यात्वके साथ ही निकलते हैं। छठवीं पृथिवी तक नारक मिथ्यात्व और सासादनके साथ निकलकर तिर्यञ्च और मनुष्य दो गतियोंको प्राप्त करते हैं। तिर्यञ्चोंमें पंचेन्द्रिय गर्भज संज्ञी पर्याप्तक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संख्येय वर्षकी आयुवाले तिर्यञ्च होते हैं। मनुष्योंमें गर्भज पर्याप्तक संख्येय वर्षकी आयुवाले ही मनुष्य होते हैं। सम्यङ्मिथ्यादृष्टि नारकोंका उसी गुणस्थानमें मरण नहीं होता। सम्यग्दृष्टि नारक सम्यक्त्वके साथ निकलकर केवल मनुष्यगतिमें ही जाते हैं। मनुष्योंमें भी गर्भज पर्याप्तक संख्येय वर्षकी आयुवाले मनुष्योंमें ही उत्पन्न होते हैं। सातवें नरकसे नारक मिथ्यात्वके साथ निकलकर एक तिर्यञ्च गतिमें ही जाते हैं। तिर्यञ्चोंमें भी पंचेन्द्रिय गर्भज संख्येय वर्षकी आयुवाले ही होते हैं। वहाँ उत्पन्न होकर भी मति, श्रुत, अवधिज्ञान, सम्यक्त्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और संयमासंयमको उत्पन्न नहीं कर सकते। छठवें नरकसे निकलकर तिर्यञ्च और मनुष्योंमें उत्पन्न हुए कोई जीव मति श्रुत अवधिज्ञान सम्यक्त्व सम्यङ्मिथ्यात्व और देशसंयम इन छहोंको प्राप्त कर सकते हैं। पाँचवीं से निकलकर तिर्यञ्चोंमें उत्पन्न हुए कोई जीव पूर्वोक्त छह स्थानोंको प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्योंमें उत्पन्न हुए जीव उक्त छहके साथ ही साथ पूर्ण संयम और मनःपर्यय ज्ञानको भी प्राप्त कर सकते हैं। चौथीसे निकलकर तिर्यञ्चोंमें उत्पन्न हुए कोई जीव मति आदि छहको ही प्राप्त कर सकते हैं, अधिकको नहीं। मनुष्योंमें उत्पन्न हुए केवल ज्ञान भी प्राप्त कर सकते हैं। मोक्ष जा सकते हैं पर बलदेव वासुदेव चक्रवर्ती और तीर्थंकर नहीं हो सकते। तीसरी पृथिवी तकके तिर्यञ्चोंमें उत्पन्न हुए जीव पूर्वोक्त छह स्थानोंको प्राप्त कर सकते हैं, मनुष्योंमें उत्पन्न जीव तीर्थंकर भी हो सकते हैं, मोक्ष भी जा सकते हैं, पर बलदेव वासुदेव और चक्रवर्ती नहीं होते।

तिर्यग् लोकका वर्णन–

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥७॥

चूंकि स्वयंभूरमण पर्यन्त असंख्यात द्वीप समुद्र तिर्यक्-समभूमि पर तिरछे व्यवस्थित हैं अतः इसको तिर्यक् लोक कहते हैं।

जम्बूद्वीप लवणसमुद्र आदि शुभनामवाले द्वीप और समुद्र हैं।

§ १ अतिविशाल महान् जम्बूवृक्षका आधार होनेसे यह द्वीप जम्बूद्वीप कहलाता है। उत्तरकुरुक्षेत्रमें ५०० योजन लम्बी-चौड़ी तिगुनी परिधिवाली, बीचमें बारह योजन मोटी और अन्तमें दो कोश मोटी भूमि है। उसके मध्यभागमें ८ योजन लंबा ४ योजन चौड़ा इतना ही ऊँचा एक पीठ है। यह पीठ १२ पद्मवरवेदिकाओंसे परिवेष्टित है। उन वेदिकाओंमें प्रत्येकमें चार चार शुभ्र तोरण हैं। इन पर सुवर्णस्तूप बने हैं। उसके ऊपर एक योजन लम्बा चौड़ा दो कोस ऊँचा मणिमय उपपीठ है। इस पर दो योजन ऊंची पीठवाला ६ योजन ऊंचा मध्यमें ६ योजन विस्तारवाला और आठ योजन लम्बा सुदर्शन नामका जम्बूवृक्ष है। इसके चारों ओर इससे आधे लम्बे चौड़े और ऊँचे १०८ परिवारभूत जम्बूवृक्ष और हैं।

§ २ खारे जलवाला होनेसे इस समुद्रका नाम 'लवणोद' पड़ा है।

इस तिर्यक्लोकमें जम्बूद्वीप, लवणोद, धातुकीखंड, कालोद, पुष्करवर, पुष्करोद, वारुणीवर, वारुणोद, क्षीरवर, क्षीरोद, घृतवर, घृतोद, इक्षुवर, इक्षूद, नन्दीश्वरवर, नन्दीश्वरवरोद इत्यादि शुभ नामवाले असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। अन्तमें स्वयम्भूरमणद्वीप और स्वयम्भूरमणोद समुद्र है। अढ़ाई सागर कालके समयोंकी संख्याके बराबर द्वीप-समुद्रोंकी संख्या है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥

क्रमशः दूने दूने विस्तारवाले और उत्तरोत्तर द्वीप समुद्र पूर्व पूर्वको घेरे हुए हैं और चूड़ीके आकार हैं।

§ १-३ पहिले द्वीपका जितना विस्तार है उससे दूना उसको घेरनेवाला समुद्र है उससे दूना उसको घेरनेवाला द्वीप है इस प्रकार आगे आगे दूने दूने विस्तारका स्पष्ट प्रतिपादन करनेके लिए 'द्विर्द्विः' ऐसा वीप्सार्थक निर्देश किया है। यद्यपि 'द्विदशा' की तरह समास करनेसे वीप्सा-अभ्यावृत्तिकी प्रतीति हो जाती पर यहां स्पष्ट ज्ञान करानेके लिए 'द्विर्द्विः' यह स्फुट निर्देश किया गया है।

ये द्वीप समुद्र ग्राम नगर आदिकी तरह बेसिलसिलेके नहीं बसे हैं किन्तु पूर्वपूर्वको घेरे हुए हैं और न ये चौकोर तिकोने पंचकोने षट्कोने आदि हैं किन्तु गोल हैं।

जम्बू द्वीपका वर्णन–

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥९॥

सभी द्वीप समुद्रोंके बीचमें एकलाखयोजन विस्तारवाला जम्बूद्वीप है। इसके बीचमें नाभिकी तरह गोलाकार सुमेरु पर्वत है।

§ १ 'तत्' शब्द पूर्वोक्त असंख्य द्वीपसमुद्रोंका निर्देश करता है। जम्बूद्वीप की परिधि ३१६२२७ योजन ३ कोश १२८ धनुष १३॥ अंगुलसे कुछ अधिक है। इस जम्बूद्वीपके चारों ओर एक वेदिका है। यह आधा योजन मोटी, आठ योजन ऊंची, मूल मध्य और अन्तमें क्रमशः १२, ८ और ४ योजन विस्तृत, वज्रमयतलवाली, वैडूर्यमणिमय ऊपरी भागवाली; मध्यमें सर्वरत्नखचित, झरोखा, घंटा, मोती सोना मणि पद्ममणि आदिकी नौ जालियोंसे भूषित है। ये जालियाँ आधे योजन ऊंची पाँच सौ धनुष चौड़ी और वेदिकाके समान लम्बी हैं। इसके चारों दिशाओंमें विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित नामके चार महाद्वार हैं। ये आठ योजन ऊंचे और चार योजन चौड़े हैं। विजय और वैजयन्तका अन्तराल ७९००५२$\frac{3}{4}$ योजन $\frac{3}{4}$ कोश ३२ धनुष ३$\frac{1}{4}$ अंगुल अंगुलका $\frac{1}{2}$ भाग तथा कुछ अधिक है।

सात क्षेत्र–

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥

भरत हैमवत हरि विदेह रम्यक हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।

§ १ विजयार्धसे दक्षिण, समुद्रसे उत्तर और गंगा सिन्धु नदियोंके मध्य भागमें १२ योजन लम्बी ९ योजन चौड़ी विनीता नामकी नगरी थी। उसमें भरत नामका षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती हुआ था। उसने सर्वप्रथम राजविभाग करके इस क्षेत्रका शासन किया था अतः इसका नाम भरत पड़ा।

§ २ अथवा, जैसे संसार अनादि है उसी तरह क्षेत्र आदिके नाम भी बिना किसी कारणके स्वाभाविक अनादि हैं।

§ ३ तीन ओर समुद्र और एक ओर हिमवान् पर्वतके बीचमें भरतक्षेत्र है। इसके गंगा सिन्धु और विजयार्ध पर्वतसे विभक्त होकर छह खंड हो जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ ४ चक्रवर्तीके विजयक्षेत्रकी आधी सीमा इस पर्वतसे निर्धारित होती है। अतः इसे विजयार्ध कहते हैं। यह ५० योजन विस्तृत २५ योजन ऊँचा ६। योजन गहरा है और अपने दोनों छोरोंसे पूर्व और पश्चिमके समुद्रको स्पर्श करता है। इसके दोनों ओर आधा योजन चौड़े और पर्वत बराबर लंबे वनखंड हैं। ये वन आधी योजन ऊंची पांच सौ धनुष चौड़ी और वन बराबर लंबी वेदिकाओंसे घिरे हुए हैं। इस पर्वतमें तमिस्र और खण्डप्रपात नामकी दो गुफाएँ हैं। ये गुफाएँ उत्तर दक्षिण ५० योजन लंबी पूर्व-पश्चिम १२ योजन चौड़ी हैं। इसके उत्तर दक्षिण दिशाओंमें ८ योजन ऊँचे दरवाजे हैं। इनमें ६¼ योजन चौड़े एक कोश मोटे और आठ योजन ऊँचे वज्रमय किवाड़ लगे हैं। इनसे चक्रवर्ती उत्तरभरत विजयार्धको जाता है। इन्हींसे गंगा और सिन्धु निकली हैं। इनमें विजयार्धसे निकली हुई उन्मग्नजला और निमग्नजला दो नदियाँ मिलती हैं। इसी पहाड़की तलहटीमें भूमितलसे दस योजन ऊपर दोनों ओर दस योजन चौड़ी और पर्वत बराबर लम्बी विद्याधर श्रेणियां हैं। दक्षिण श्रेणीमें रथनूपुर चक्रवाल आदि ५० विद्याधरनगर हैं। उत्तर श्रेणीमें गगनवल्लभ आदि ६० विद्याधर नगर हैं। यहाँके निवासी भी यद्यपि भरतक्षेत्रकी तरह षट्कर्मसे ही आजीविका करते हैं, किन्तु प्रज्ञप्ति आदि विद्याओंको धारण करनेके कारण विद्याधर कहे जाते हैं। इनसे दश योजन ऊपर दोनों ओर दश योजन विस्तृत व्यन्तर श्रेणियाँ हैं। इनमें इन्द्रके सोम यम वरुण और वैश्रवण ये चार लोकपाल तथा आभियोग्य व्यन्तरोंका निवास है। इससे पाँच योजन ऊपर दश योजन विस्तृत शिखरतल है। पूर्वदिशामें ६। योजन ऊंचा तथा इतना ही विस्तृत, वेदिकासे वेष्टित सिद्धायतनकूट है। इसपर उत्तर दक्षिण लंबा, पूर्व-पश्चिम चौड़ा, एक कोस लंबा, आधा कोस चौड़ा कुछ कम एक कोस ऊंचा, वेदिकासे वेष्टित, चतुर्दिक् द्वारवाला सुन्दर जिनमन्दिर है। इसके बाद दक्षिणार्ध भरतकूट खण्डकप्रपातकूट माणिकभद्रकूट विजयार्धकूट पूर्णभद्रकूट तमिस्रगुहाकूट उत्तरार्धभरतकूट और वैश्रवणकूट ये आठ कूट सिद्धायतनकूटके समान लंबे चौड़े ऊंचे हैं। इनके ऊपर क्रमशः दक्षिणार्धभरतदेव वृत्तमाल्यदेव माणिभद्रदेव विजयार्धगिरिकुमारदेव पूर्णभद्रदेव कृतमालदेव उत्तरार्धभरतदेव और वैश्रवणदेवोंके प्रासाद हैं।

§ ५–७ हिमवान् नामके पर्वतके पासका क्षेत्र, या जिसमें हिमवान् पर्वत है वह हैमवत है। यह क्षुद्रहिमवान् और महाहिमवान् तथा पूर्वापर समुद्रोंके बीचमें है। इसके बीचमें शब्दवान् नामका वृत्तवेदाढ्य पर्वत है। यह एक हजार योजन ऊंचा, २५० योजन जड़में, ऊपर और मूलमें एक हजार योजन विस्तारवाला है। इसके चारों ओर आधा योजन विस्तारवाली तथा चतुर्दिक् द्वारवाली वेदिका है। उसके तलमें ६२½ योजन ऊंचा ३१¼ योजन विस्तृत स्वातिदेवका विहार है।

§ ८–१० हरि अर्थात् सिंहके समान शुक्ल रूपवाले मनुष्य इसमें रहते हैं अतः यह हरिवर्ष कहलाता है। यह निषधसे दक्षिण महाहिमवान्से उत्तर और पूर्वापर समुद्रोंके मध्यमें है। इसके बीचमें विकृतवान् नामका वृत्तवेदाढ्य है। इसपर अरुणदेवका विहार है।

§ ११–१२ निषधसे उत्तर नील पर्वतसे दक्षिण और पूर्वापरसमुद्रोंके मध्यमें विदेह क्षेत्र है। इसमें रहनेवाले मनुष्य सदा विदेह अर्थात् कर्मबन्धोच्छेदके लिए यत्न करते रहते हैं इसलिए इस क्षेत्रको विदेह क्षेत्र कहते हैं। यहाँ कभी भी धर्मका उच्छेद नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ १३ यह पूर्वविदेह अपरविदेह उत्तरकुरु और देवकुरु इन चार भागोंमें विभाजित है। भरतक्षेत्रके दिग्विभागकी अपेक्षा मेरुके पूर्वमें पूर्वविदेह, उत्तरमें उत्तर कुरु, पश्चिममें अपर विदेह और दक्षिणमें देवकुरु है। विदेहके मध्यभागमें मेरु पर्वत है। उसकी चारों दिशाओंमें चार वक्षार पर्वत हैं।

सीतानदीके पूर्वकी ओर जम्बूवृक्ष है। उसके पूर्व दिशाकी शाखा पर वर्तमान प्रासादमें जम्बूद्वीपाधिपति अनावृत नामका व्यन्तरेश्वर रहता है। तथा अन्य दिशाओंमें उसके परिवारका निवास है।

नीलकी दक्षिण दिशामें एक हजार योजन तिरछे जानेपर सीतानदीके दोनों तटोंपर दो यमकाद्रि हैं।

सीतानदीसे पूर्वविदेहके दो भाग हो जाते हैं–उत्तर और दक्षिण। उत्तरभाग चार वक्षार पर्वत और तीन विभंग नदियोंसे बंट जाता है और ये आठों भूखण्ड आठ चक्रवर्तियोंके उपभोग्य होते हैं। कच्छ सुकच्छ महाकच्छ कच्छक कच्छकावर्त लांगलावर्त पुष्कल और पुष्कलावर्त ये उन देशोंके नाम हैं। उनमें क्षेमा क्षेमपुरी अरिष्टा अरिष्टपुरी खड्गा मंजूषा ओषधि और पुण्डरीकिणी ये आठ राजनगरियाँ हैं। कच्छदेशमें पूर्व पश्चिम लंबा विजयार्ध पर्वत है। वह गंगा सिन्धु और विजयार्धसे बंटकर छह खंडको प्राप्त हो जाता है। इसी तरह दक्षिण पूर्वविदेह भी चार वक्षार और तीन विभंग नदियोंसे विभाजित होकर आठ चक्रवर्तियोंके उपभोग्य होता है। वत्सा सुवत्सा महावत्सा वत्सावती रम्या रम्यका रमणीया और मंगलावती ये आठ देशोंके नाम हैं।

इसी तरह अपर विदेह भी उत्तर-दक्षिण विभक्त होकर आठ-आठ देशोंमें विभाजित होकर आठ-आठ चक्रवर्तियोंके उपभोग्य होता है।

विदेहके मध्यमें मेरु पर्वत है। यह ९९ हजार योजन ऊंचा, पृथिवीतलमें एक हजार योजन नीचे गया है। इसके ऊपर भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पांडुक ये चार वन हैं। पांडुक वनमें बीचोबीच मेरुकी शिखर प्रारम्भ होती है। उस शिखरकी पूर्व दिशामें पांडुक शिला, दक्षिणमें पाण्डुकम्बल शिला, पश्चिममें रक्तकम्बल शिला और उत्तरमें अतिरक्त कम्बल नामकी शिला हैं। उनपर पूर्वमुख सिंहासन रखे हुए हैं। पूर्व सिंहासनपर पूर्वविदेहके तीर्थङ्करोंका, दक्षिणके सिंहासनपर भरतक्षेत्रके तीर्थङ्करोंका, पश्चिममें अपर विदेहके तीर्थङ्करोंका और उत्तरमें ऐरावतके तीर्थङ्करोंका जन्माभिषेक देवगण करते हैं। यह मेरु पर्वत तीनों लोकोंका मानदंड है। इसके नीचे अधोलोक, चूलिकाके ऊपर ऊर्ध्वलोक है और मध्यमें तिरछा फैला हुआ मध्यलोक है। इत्यादि विदेह क्षेत्रका विस्तृत वर्णन मूल-ग्रन्थसे जान लेना चाहिए।

§ १४-१६ नील पर्वतके उत्तर रुक्मि पर्वतके दक्षिण तथा पूर्व-पश्चिम समुद्रोंके बीच रम्यक क्षेत्र है। रमणीय देश नदी-पर्वतादिसे युक्त होनेके कारण इसे रम्यक कहते हैं। वैसे 'रम्यक' नाम रूढ़ ही है। रम्यक क्षेत्रके मध्यमें गन्धवान् नामक वृत्तवेदाढ्य है। यह शब्दवान् वृत्तवेदाढ्यके समान लम्बा-चौड़ा है। इसपर पद्मदेवका निवास है।

§ १७-१९ रुक्मिके उत्तर शिखरीके दक्षिण तथा पूर्व पश्चिम समुद्रोंके बीच हैरण्यवत क्षेत्र है। हिरण्यवाले रुक्मि पर्वतके पास होनेसे इसका नाम हैरण्यवत पड़ा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसमें शब्दवान् वृत्तवेदाढ्यकी तरह माल्यवान् वृत्तवेदाढ्य हैं। इसपर प्रभासदेवका निवास है।

§ २०–२२ शिखरी पर्वत तथा पूर्व-पश्चिम और दक्षिण-उत्तर समुद्रोंके बीच ऐरावत क्षेत्र है। रक्ता तथा रक्तोदा नदियोंके बीच अयोध्या नगरी है। इसमें एक ऐरावत नामका राजा हुआ था। उसके कारण इस क्षेत्रका ऐरावत नाम पड़ा है। इसके बीचमें विजयार्ध पर्वत है।

पर्वतोंका वर्णन–

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥११॥

पूर्व और पश्चिम लवण समुद्र तक लम्बे हिमवन् महाहिमवन् निषध नील रुक्मी और शिखरी ये छह पर्वत हैं। इन पर्वतोंके कारण भरत आदि क्षेत्रोंका विभाग होता है अतः ये वर्षधर पर्वत कहे जाते हैं।

§ १–२ हिम जिसमें पाया जाय वह हिमवान्। चूंकि सभी पर्वतोंमें हिम पाया जाता है अतः रूढ़िसे ही इसकी हिमवान् संज्ञा समझनी चाहिए। यह भरत और हैमवत क्षेत्रकी सीमापर स्थित है। इसे क्षुद्रहिमवान् कहते हैं। यह २५ योजन पृथ्वीके नीचे, १०० योजन ऊंचा १०५२$\frac{१२}{१९}$ योजन विस्तृत है। इसके ऊपर पूर्व दिशामें सिद्धायतन कूट है। पश्चिम दिशा में हिमवत् भरत इला गंगा श्री रोहितास्या सिन्धु सुरा हैमवत् और वैश्रवण ये दश कूट हैं इन सब पर चैत्यालय और प्रासाद हैं। इनमें हिमवत् भरत हैमवत् और वैश्रवण कूट पर इन्हीं नामवाले देव तथा शेष कूटों पर उसी नामवाली देवियाँ रहती हैं।

§ ३–४ महाहिमवान् संज्ञा रूढ़िसे है। यह हैमवत और हरिवर्षका विभाग करनेवाला है। ५० योजन गहरा २०० योजन ऊंचा और ४२१०$\frac{१०}{१९}$ योजन विस्तृत है। इसपर सिद्धायतन महाहिमवत् हैमवत् रोहित् हरि हरिकान्ता हरिवर्ष और वैडूर्य ये आठ कूट है। कूटोंमें चैत्यालय और प्रासाद है। प्रासादोंमें कूटके नामवाले देव और देवियाँ निवास करती हैं।

§ ५–६ जिसपर देव और देवियाँ क्रीड़ा करें वह निषध। यह संज्ञा रूढ है। यह हरि और विदेह क्षेत्रकी सीमा पर है। यह १०० योजन गहरा ४०० योजन ऊंचा और १६८४२$\frac{२}{१९}$ योजन विस्तृत है। इस पर सिद्धायतन निषध हरिवर्ष पूर्वविदेह हरि धृति सीतोदा अपरविदेह और रुचकनामके नव कूट हैं। कूटोंपर चैत्यालय और देवप्रासाद हैं। इनमें कूटोंके नामवाले देव और देवियाँ रहती हैं।

§ ७–८ नीलवर्ण होनेके कारण इसे नील कहते हैं। वासुदेवकी कृष्णसंज्ञाकी तरह यह संज्ञा है। यह विदेह और रम्यक क्षेत्रकी सीमापर स्थित है। इसका विस्तार आदि निषधके समान है। इस पर सिद्धायतन नील पूर्वविदेह सीता कीर्ति नरकान्ता अपरविदेह रम्यक और आदर्शक ये नव कूट हैं। इन पर चैत्यालय और प्रासाद हैं। प्रासादोंमें अपने कूटों के नाम वाले देव और देवियाँ रहती हैं।

§ ९–१० चांदी जिसमें पाई जाय वह रुक्मी। यह रूढ संज्ञा है जैसे कि हाथीकी करिसंज्ञा। यह रम्यक और हैरण्यवत क्षेत्रका विभाग करता है। इसका विस्तार आदि महा-

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

हिमवान्‌के समान है। इस पर सिद्धायतन रुक्मि रम्यक नारी बुद्धि रूप्यकूला हैरण्यवत और मणिकांचन ये आठ कूट हैं। इनपर जिन-मन्दिर और प्रासाद हैं। प्रासादोंमें अपने कूटके नामवाले देव और देवियाँ रहती हैं।

§ ११-१२ जिसके शिखर हों वह शिखरी। यह रूढ संज्ञा है जैसे कि मोरकी शिखंडी संज्ञा। यह हैरण्यवत और ऐरावतकी सीमा पर पुलके समान स्थित है। इसका विस्तार आदि हिमवान्‌के समान है। इसपर सिद्धायतन शिखरी हैरण्यवत रसदेवी रक्तावती श्लक्ष्णकूला लक्ष्मी गन्धदेवी ऐरावत और मणिकांचन ये ११ कूट हैं। इनपर जिनायतन और प्रासाद हैं। प्रासादोंमें अपने कूटके नामवाले देव और देवियाँ रहती हैं।

पर्वतोंका रंग–

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥१२॥

हिमवान् हेममय चीनपट्टवर्ण का है। महाहिमवान् अर्जुनमय शुक्लवर्ण है। निषध तपनीयमय मध्याह्नके सूर्यके समान वर्णवाला है। नील वैडूर्यमय मोरके कंठके समान वर्णका है। रुक्मी रजतमय शुक्लवर्णवाला है। शिखरी हेममय चीनपट्टवर्णका है।

'मय' विकारार्थक है। हरएक पर्वतके दोनों ओर वनखंड और वेदिकाएँ हैं।

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥१३॥

इन पर्वतोंके पार्श्वभाग रंग विरंगी मणियोंसे चित्रविचित्र हैं और ये ऊपर नीचे और मध्यमें तुल्य विस्तारवाले हैं।

§ १ उपरि आदि वचन अनिष्ट संस्थानकी निवृत्तिके लिए है। च शब्दसे मध्यका ग्रहण कर लेना चाहिये।

सरोवरोंका वर्णन–

पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि॥१४॥

इन सरोवरोंके ऊपर पद्म महापद्म तिगिञ्छ केसरी महापुण्डरीक और पुण्डरीक नामके छह सरोवर हैं।

§ १ पद्म आदि कमलोंके नाम हैं। इनके साहचर्यसे सरोवरोंकी भी पद्म आदि संज्ञाएँ हैं।

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्धविष्कम्भो ह्रदः ॥१५॥

प्रथम सरोवर पूर्व-पश्चिम एक हजार योजन लम्बा और उत्तर दक्षिण पाँच सौ योजन चौड़ा है। इसका वज्रमय तल और मणिजटित तट है। यह आधी योजन ऊँची और पांच सौ धनुष विस्तृत पद्मवरवेदिकासे वेष्टित है। चारों ओर यह मनोहर वनोंसे शोभायमान है। विमल स्फटिककी तरह स्वच्छ जलवाला विविध जलपुष्पोंसे परित: विराजित शरत्कालमें चन्द्रतारा आदिके प्रतिबिम्बोंसे चमचमायमान यह सरोवर ऐसा मालूम होता है मानो आकाश ही पृथ्वीपर उलट गया हो।

दशयोजनावगाहः ॥१६॥

पहिले सरोवरकी गहराई दस योजन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥१७॥

इसके मध्यमें एक योजनका कमल है। इसके पत्ते एक एक कोसके और कर्णिका दो कोस विस्तृत है। जलसे दो कोस ऊंचा नाल है और पत्रोंका भाग भी दो कोस ऊंचा ही है। इसका मूलभाग वज्रमय, कन्द अरिष्ट मणिमय, मृणाल रजतमणिमय और नाल वैडूर्यमणि-मय हैं। इसके बाहरी पत्ते सुवर्णमय, भीतरी पत्ते चाँदीके समान, केसर सुवर्णके समान और कर्णिका अनेक प्रकारकी चित्रविचित्र मणियोंसे युक्त है। इसके आसपास १०८ कमल और भी हैं। इसके ईशान उत्तर और वायव्यमें श्रीदेवी और सामानिक देवोंके चार हजार कमल हैं। आग्नेयमें अभ्यन्तर परिषद्के देवोंके बत्तीस हजार कमल हैं। दक्षिणमें मध्यम परिषद्-देवोंके चालीस हजार कमल हैं। नैर्ऋत्यमें बाह्यपरिषद् देवोंके अड़तालीस हजार कमल हैं। पश्चिममें सात अनीक महत्तरोंके सात कमल हैं। चारों दिशाओंमें आत्मरक्ष देवोंके सोलह हजार कमल हैं। ये सब परिवार कमल मुख्य कमलसे आधे ऊंचे हैं।

तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥१८॥

आगेके सरोवरों और कमलोंका विस्तार दूना दूना है।

§ १ पद्मह्रदसे दूना लम्बा-चौड़ा और गहरा महापद्मह्रद, महापद्मह्रदसे दूना लम्बा चौड़ा और गहरा तिगिंछह्रद है। इसी तरह कमल भी दूने लम्बे-चौड़े हैं।

§ २-४ **प्रश्न**-यदि पद्मह्रदसे आगेके दो सरोवरोंको ही दूना दूना कहना है तो 'द्विगुणाः' यहाँ बहुवचन न कहकर द्विवचन कहना चाहिए? **उत्तर**-'आदि और अन्तके पद्म और पुण्डरीकह्रदसे दक्षिण और उत्तरके दो दो ह्रद दूने-दूने प्रमाणवाले हैं।' इस अर्थकी अपेक्षा बहुवचनका प्रयोग किया है। यद्यपि सूत्रमें दिये गये 'तत्' शब्दसे पद्मह्रदका ही ग्रहण होता है फिर भी व्याख्यानसे विशेष अर्थका बोध होता है। आगे 'उत्तरा दक्षिण-तुल्याः' सूत्रसे भी इसी अर्थका समर्थन होता है।

प्रश्न-यदि 'तत्' शब्दका द्विगुणशब्दसे समास किया जाता है तो 'तद्द्विगुण' शब्दका ही द्वित्व होगा न कि केवल द्विगुणशब्द का। यदि पहिले द्विगुणशब्दको द्वित्व किया जाता है तो 'तत्' शब्दसे समास नहीं हो सकेगा। यदि वीप्सार्थक द्वित्व किया जाता है तो वाक्य ही रह जायगा। **उत्तर**-'तत्' यह अपादानार्थक निपात है। अतः 'ततो द्विगुणद्विगुणाः' 'तद्द्विगुणद्विगुणाः' पद बन जाता है।

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ॥१९॥

इन कमलोंकी कर्णिकाके बीचमें शरत्कालीन चन्द्रकी तरह समुज्ज्वल प्रासाद हैं। ये प्रासाद एक कोस लंबे, आधे कोस चौड़े और कुछ कम एक कोस ऊंचे हैं। इनमें श्री ह्री धृति कीर्ति बुद्धि और लक्ष्मी सामानिक और पारिषत्क जातिके देवोंके साथ रहती हैं।

§ १-३ श्री आदिका द्वन्द्व समास है। वे क्रमशः पद्म आदि ह्रदोंमें रहती हैं। इनकी आयु एक पल्य की है। ये सामानिक और पारिषत्क जातिके देवोंके साथ निवास करती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नदियोंका वर्णन–

गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्ता-सुवर्णकूलारूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥

इन क्षेत्रोंके मध्यमें गंगा आदि चौदह नदियाँ हैं।

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥

गंगा सिन्धु आदि नदी युगलोंमें प्रथम नदी पूर्व समुद्रमें जाकर मिलती है।

§ १–२ दो-दो नदियाँ एक-एक क्षेत्रमें बहती हैं। 'पूर्वाः पूर्वगाः' से नदियोंके बहावकी दिशा बताई है।

शेषास्त्वपरगाः ॥२२॥

गंगा सिन्धु आदि नदी युगलोंमें दूसरी नदी पश्चिम समुद्रमें मिलती है।

§ १ पद्महृदके पूर्व तोरणद्वारसे गंगा नदी निकली है। वह पाँच सौ योजन पूर्वकी ओर जाकर गंगा कूटसे ५२३ ६/१९ दक्षिणमुख जाती है। स्थूल मुक्तावलीकी तरह १०० योजन धारावाली ६ १/४ योजन विस्तृत आधे योजन गहरी यह आगे ६० योजन लंबे चौड़े १० योजन गहरे कुंडमें गिरती है। फिर दक्षिण तरफसे निकलकर खंडकप्रपातगुहासे विजयार्धको लांघकर दक्षिणभरतक्षेत्रको प्राप्त करके पूर्वमुखी होकर लवणसमुद्रमें मिल जाती है।

§ २ पद्महृदके पश्चिम तोरणसे सिन्धु नदी निकलती है। वह ५०० योजन आगे जाकर सिन्धुकूटसे टकराकर सिन्धुकुण्डमें गिरती हुई तमिस्र गुहासे विजयार्ध होती हुई पश्चिम लवणसमुद्रमें मिलती है।

गंगाकुण्डके द्वीपके प्रासादमें गंगादेवी और सिन्धुकुण्डवर्ती द्वीपके प्रासादमें सिन्धु देवी रहती है। हिमवान् पर्वतपर गंगा और सिन्धुके मध्यमें दो कमलके आकारके द्वीप हैं। इनके प्रासादोंमें क्रमशः बला और लवणा नामकी एक पल्यस्थितिवाली देवियाँ रहती हैं।

§ ३ पद्महृदके ही उत्तर द्वारसे रोहितास्या नदी निकली है। यह २६७ ६/१९ योजन उत्तरकी तरफ जाकर श्रीदेवीके कुण्डमें गिरती है। फिर कुण्डके उत्तर द्वारसे निकलकर उत्तरकी तरफ बहती हुई शब्दवान् वृत्तवेदाढ्यको घेरकर पश्चिमकी ओर बहकर पश्चिम लवण समुद्रमें मिलती है।

§ ४ रोहित् नदी महाहिमवान् पर्वतवर्ती महापद्महृदके दक्षिण तोरणद्वारसे निकलकर पूर्वलवण समुद्रमें मिलती है।

§ ५ हरिकान्ता नदी महाहिमवान् पर्वतवर्ती महापद्महृदके उत्तर तोरणद्वारसे निकलकर रोहितकी तरह पहाड़की तलहटीमें जाकर कुण्डमें गिरती है। फिर उत्तरकी ओर बहकर विकृतवान् वृत्तवेदाढ्यको आध योजन दूरसे घेरकर पश्चिम मुख हो पश्चिम समुद्रमें गिरती है।

§ ६ हरित् नदी निषध पर्वतवर्ती तिगिंछ हृदके दक्षिण तोरण द्वारसे निकलकर पूर्वकी ओर बहकर कुण्डमें गिरती है। फिर पूर्व समुद्रमें मिलती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ ७ सीतोदा नदी तिगिंछ ह्रदके उत्तर तोरण द्वारसे निकलकर कुण्डमें गिरती है फिर कुण्डके उत्तर तोरण द्वारसे निकलकर देवकुरुके चित्र विचित्रकूटके बीचसे उत्तर मुख बहती हुई मेरु पर्वतको आध योजन दूरसे ही घेरकर विद्युत्प्रभको भेदती हुई अपर विदेहके बीचसे बहती हुई पश्चिम समुद्रमें मिलती है।

§ ८ सीता नदी नीलपर्वतवर्ती केसरी ह्रदके दक्षिण तोरणद्वारसे निकलकर कुंडमें गिरती हुई माल्यवान्‌को भेदती हुई पूर्वविदेहमें बहकर पूर्वसमुद्रमें मिलती है।

§ ९ नरकान्ता नदी केसरी ह्रदके उत्तर तोरणद्वारसे निकलकर गन्धवान् वेदाढ्य को घेरती हुई पश्चिम समुद्रमें मिलती है।

§ १० नारी नदी रुक्मि पर्वतके ऊपर स्थित महापुण्डरीक ह्रदके दक्षिणतोरण-द्वारसे निकलकर गन्धवान् वेदाढ्यको घेरती हुई पूर्वसमुद्रमें गिरती है।

§ ११ इसी महापुण्डरीक ह्रदके उत्तर तोरणद्वारसे रूप्यकूला नदी निकलती है और माल्यवान् वृत्तवेदाढ्यको घेरकर पश्चिम समुद्रमें गिरती है।

§ १२ शिखरी पर्वतपर स्थित पुण्डरीक ह्रदके दक्षिण तोरणद्वारसे सुवर्णकूला नदी निकलती है और माल्यवान् वृत्तवेदाढ्यको घेरती हुई पूर्वसमुद्रमें मिलती है।

§ १३ इसी पुण्डरीक ह्रदके पूर्वतोरणद्वारसे रक्ता नदी निकली है और यह गंगा नदीकी तरह पूर्वसमुद्रमें मिलती है।

§ १४ इसी पुण्डरीक ह्रदके पश्चिम तोरणद्वारसे रक्तोदा नदी निकलती है और पश्चिम समुद्रमें मिलती है।

ये सभी नदियाँ अपने अपने नामके कुण्डोंमें गिरती हैं और उसमें नदीके नामवाली देवियाँ रहती हैं।

गंगा सिन्धु रक्ता और रक्तोदा नदियाँ कुटिलगति होकर बहती हैं शेष ऋजुगतिसे। सभी नदियोंके दोनों किनारे वनखंडोंसे सुशोभित हैं।

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥

गंगा सिन्धु आदि नदियोंके चौदह हजार आदि सहायक नदियाँ हैं।

§ १-३ यदि प्रकरणगत होनेके कारण 'गंगासिन्धु आदि'का ग्रहण नहीं किया जाता तो 'अनन्तरका ही विधि या निषेध होता है' इस नियमके अनुसार अपरगा-पश्चिम-समुद्रमें मिलनेवाली नदियोंका ही ग्रहण होता। इसी तरह यदि 'गंगा' का ग्रहण करते तो पूर्वगा–पूर्वसमुद्रमें गिरनेवाली नदियोंका ही ग्रहण होता। यद्यपि 'नदी' कहनेसे सबका ग्रहण हो सकता था फिर भी 'द्विगुण-द्विगुण' बतानेके लिए 'गंगा सिन्धु आदि' पद दिया गया है। यदि केवल 'द्विगुण'का सम्बन्ध करते तो 'गंगाकी चौदह हजार और सिन्धुकी अट्ठाईस हजार' यह अनिष्ट प्रसंग होता। अतः गंगा और सिन्धु दोनोंके चौदह हजार, रोहित रोहितास्याके अट्ठाइस हजार, हरित् हरिकान्ताके छप्पन हजार और सीता सीतोदाके एक लाख बारह हजार सहायक नदियाँ हैं। आगे 'उत्तरा दक्षिणतुल्याः'के अनुसार व्यवस्था है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भरतक्षेत्रका विस्तार–

भरतः षड्विंश-पञ्चयोजनशतविस्तारः षट्चैकान्नविंशतिभागा योजनस्य ॥२४॥

भरतक्षेत्रका विस्तार ५२६$\frac{६}{१९}$ योजन है।

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥२५॥

विदेहक्षेत्र पर्यन्तके पर्वत और क्षेत्र क्रमशः दूने दूने विस्तारवाले हैं।

§ १ यद्यपि व्याकरणके नियमानुसार वर्षशब्दका पूर्वनिपात होना चाहिए था फिर भी आनुपूर्वी दिखानेके लिए 'वर्षधर' शब्दका पूर्वप्रयोग किया है। 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इस प्रयोगके बलसे यह नियम फलित होता है।

§ २ 'विदेहान्त' पदसे मर्यादा ज्ञात हो जाती है। अर्थात् हिमवान्का विस्तार १०५२$\frac{१२}{१९}$ योजन, हैमवतका २१०५$\frac{५}{१९}$ योजन, महाहिमवान्का ४२१०$\frac{१०}{१९}$ योजन, हरिवर्षका ८४२१$\frac{१}{१९}$ योजन, निषधका १६८४२$\frac{२}{१९}$ और विदेहका ३३६८४$\frac{४}{१९}$ योजन है।

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥२६॥

ऐरावत आदि नील पर्वत पर्यन्त क्षेत्र पर्वत भरत आदिके समान विस्तारवाले हैं।

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥२७॥

भरत और ऐरावत क्षेत्रमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके छह छह कालोंमें वृद्धि और ह्रास होता है।

§ १-३ जैसे 'पर्वतदाह' कहनेसे पर्वतवर्ती वनस्पति आदिका दाह समझा जाता है उसी तरह क्षेत्रकी वृद्धिह्रासका अर्थ है क्षेत्रमें रहनेवाले मनुष्योंकी आयु आदिका वृद्धि-ह्रास। अथवा, 'भरतैरावतयोः' यह आधारार्थक सप्तमी है। अर्थात् इन क्षेत्रोंमें मनुष्योंका अनुभव आयु शरीरकी ऊंचाई आदिका वृद्धिह्रास होता है।

§ ४-५ जिसमें अनुभव आयु शरीरादिकी उत्तरोत्तर उन्नति हो वह उत्सर्पिणी और जिसमें अवनति हो वह अवसर्पिणी है। अवसर्पिणी–सुषमसुषमा, सुषमा, सुषमदुःषमा, दुःषमसुषमा, दुःषमा और अतिदुःषमाके भेदसे छह प्रकार की और उत्सर्पिणी अतिदुःषमाके क्रमसे छह प्रकारकी है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दोनों ही दस दस कोड़ाकोड़ी सागरकी होती हैं। इन्हें कल्पकाल कहते हैं। सुषमसुषमा चार कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है। इसमें मनुष्य देवकुरु और उत्तरकुरुके समान होते हैं अर्थात् प्रथम भोगभूमिकी रचना होती है। फिर क्रमशः हानि होते होते सुषमा तीन कोड़ाकोड़ी सागरकी आती है। इसके प्रारम्भमें हरिक्षेत्रकी तरह मध्यम भोगभूमि होती है। फिर क्रमशः सुषमदुःषमा दो कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है। इसमें हैमवत क्षेत्रकी तरह जघन्य भोगभूमि होती है। फिर क्रमशः ४२ हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरका दुःषमसुषमा काल होता है। इसके प्रारम्भमें मनुष्य विदेह-क्षेत्रके समान होते हैं। क्रमसे २१ हजार वर्षका दुःषमा और फिर इक्कीस हजार वर्षका अतिदुःषमा काल आता है। उत्सर्पिणी अतिदुःषमासे प्रारम्भ होती है और क्रमशः बढ़ती हुई सुषमा तक जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥२८॥

भरत और ऐरावतके सिवाय अन्य भूमियोंमें परिवर्तन नहीं होता, वे सदा एक-सी रहती हैं।

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतक-हारिवर्षक-दैवकुरुवकाः ॥२९॥

हैमवत, हरिवर्ष और देवकुरुमें क्रमशः एक, दो और तीन पल्यकी आयु है।

§ १-२ हैमवतक, हारिवर्षक और दैवकुरुवकका अर्थ है इन क्षेत्रोंमें रहनेवाले मनुष्य। पाँचों हैमवत क्षेत्रके मनुष्योंकी आयु एक पल्य, शरीरकी ऊंचाई २००० धनुष, और रंग नीलकमलके समान है। ये दूसरे दिन आहार करते हैं। यहाँ सुषमदुःषमा काल अर्थात् जघन्य भोगभूमि सदा रहती है। पाँचों हरिक्षेत्रमें मध्यम भोगभूमि अर्थात् सुषमाकाल रहता है। इसमें मनुष्योंकी आयु दो पल्य, शरीरकी ऊंचाई ४ हजार धनुष, रंग शंखके समान धवल है। ये तीसरे दिन भोजन करते हैं। पाँचों देवकुरुमें सुषमसुषमा अर्थात् प्रथम भोगभूमि सदा रहती है। इसमें मनुष्योंकी आयु तीन पल्य, शरीरकी ऊंचाई ६००० धनुष और रंग सुवर्णके समान होता है। ये चौथे दिन भोजन करते हैं।

तथोत्तराः ॥३०॥

उत्तरवर्ती क्षेत्र दक्षिणके समान हैं अर्थात् हैरण्यवत हैमवतके समान, रम्यक हरिवर्षके समान और देवकुरु उत्तरकुरुके समान हैं।

विदेहेषु संख्येयकालः ॥३१॥

विदेहक्षेत्रमें संख्यात वर्षकी आयु होती है। इसमें सुषमदुःषमाकाल सदा रहता है। मनुष्योंकी ऊंचाई पाँच सौ धनुष है। नित्य भोजन करते हैं। उत्कृष्ट स्थिति एकपूर्वकोटि और जघन्य अन्तर्मुहूर्त है।

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥

भरतक्षेत्रका विस्तार जम्बूद्वीपका १९०वाँ भाग है।

§ १-२ धातकीखंड और पुष्करवरके क्षेत्रोंके विस्तार-निरूपणमें सुविधाके लिए भरतक्षेत्रका प्रकारान्तरसे विस्तार कहा है।

§ ३-७ लवण समुद्रका सम भूमितलमें दो लाख योजन विस्तार है। उसके मध्यमें यवराशिकी तरह १६ हजार योजन ऊँचा जल है। वह मूलमें दश हजार योजन विस्तृत है तथा एक हजार योजन गहरा है। इसमें क्रमशः पूर्वादि दिशाओंमें पाताल बडवामुख यूपकेसर और कलम्बुक नामके चार महापाताल हैं। ये एक लाख योजन गहरे हैं, तथा इतने ही मध्यमें विस्तृत हैं। जलतल और मूलमें दस हजार योजन विस्तृत हैं। इन पातालोंमें सबसे नीचेके तीसरे भागमें वायु है, मध्यके तीसरे भागमें वायु और जल है तथा ऊपरी त्रिभागमें केवल जल है। रत्नप्रभा पृथिवीके खरभागमें रहनेवाली वातकुमार देवियोंकी क्रीड़ासे क्षुब्ध वायुके कारण ५०० योजन जलकी वृद्धि होती है। विदिशाओंमें क्षुद्रपाताल हैं तथा अन्तरालमें भी हजार हजार पाताल हैं। मध्यमें पचास पचास क्षुद्र पाताल और भी हैं। रत्नवेदिकासे तिरछे बयालीस हजार योजन जाकर चारों दिशाओंमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेलन्धर नागाधिपतिके नगर हैं। वेलन्धर नागाधिपतियोंकी आयु एक पल्य, शरीरकी ऊंचाई दश धनुष है। प्रत्येकके चार चार अग्रमहिषी हैं। ४२ हजार नाग लवणसमुद्रके आभ्यन्तर तटको, ७२ हजार बाह्य तटको तथा २८ हजार बढ़े हुए जलको धारण करते हैं।

§ ८ रत्नवेदिकासे तिरछे १२ हजार योजन जाकर १२ हजार योजन लंबा चौड़ा गौतम नामके समुद्राधिपतिका गौतम द्वीप है। रत्नवेदिकासे प्रति ९५ हाथ आगे एक हाथ गहराई है। इस तरह ९५ योजनपर एक योजन, ९५ हजार योजनपर एक हजार योजन गहराई है। लवण समुद्रके दोनों ओर तट हैं। लवणसमुद्रमें ही पाताल हैं अन्य समुद्रोंमें नहीं। सभी समुद्र एक हजार योजन गहरे हैं। लवणसमुद्रका जल खारा है। वारुणीवरका मदिराके समान, क्षीरोदका दूधके समान, घृतोदका घीके समान जल है। कालोद पुष्कर और स्वयम्भूरमणका जल पानी जैसा ही है। बाकीका इक्षुरसके समान जल है। लवण समुद्र कालोदधि और स्वयम्भूरमण समुद्रमें ही मछली कछवा आदि जलचर हैं, अन्यत्र नहीं। लवणसमुद्रमें नदी गिरनेके स्थानपर ९ योजन अवगाहनावाले मत्स्य हैं, मध्यमें १८ योजनके हैं। कालोदधिमें नदीमुखमें १८ योजन तथा मध्यमें ३६ योजनके मत्स्य हैं। स्वयम्भूरमण में नदीमुखमें ५०० योजनके तथा मध्यमें एक हजार योजनके मत्स्य हैं।

धातकीखंडका वर्णन–

द्विर्धातकीखण्डे ॥३३॥

धातकीखंडमें भरतादि क्षेत्र और पर्वत दो दो हैं।

§ १ जैसे 'द्विस्तावानयं प्रासादः' यहाँ 'मीयते' क्रियाका अध्याहार करके क्रिया की अभ्यावृत्तिमें सुज् प्रत्यय होता है उसी तरह 'द्विर्धातकीखण्डे' में भी 'संख्यायन्ते' क्रियाका अध्याहार करके सुज् प्रत्यय कर लेना चाहिए। धातकीखंडमें भरतादि क्षेत्र दो दो हैं तथा उनका विस्तार भी दूना दूना है।

§ २–४ धातकीखंडके भरतका आभ्यन्तर विष्कम्भ–६६१४ योजन, योजनके $\frac{१२९}{२१२}$ भाग प्रमाण है। मध्यविष्कम्भ–१२५८१ योजन एक योजनके $\frac{३६}{२१२}$ भाग प्रमाण है। बाह्य विष्कम्भ–१८५४७ $\frac{१५५}{२१२}$ योजन प्रमाण है।

§ ५ धातकीखंडमें भरतसे चौगुना हैमवत, हैमवतसे चौगुना हरिक्षेत्र और हरिक्षेत्रसे चौगुना विदेह क्षेत्र है। दक्षिणकी तरह ही उत्तरके क्षेत्र हैं। धातकीखंडका विस्तार ४ लाख योजन है। इसकी परिधि ४११०९६१ योजन है। क्षेत्र पर्वत नदी वृत्तवेदाढ्य और सरोवरोंके वे ही नाम है। विस्तार आदि दूना दूना हो गया है।

§ ६ भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें कालोदधि और लवणसमुद्रको स्पर्श करनेवाले १०० योजन गहरे, ४०० योजन ऊंचे, ऊपर एक हजार योजन विस्तृत इष्वाकार पर्वत हैं। धातकीखंडमें पूर्व और पश्चिममें दो मेरु पर्वत हैं। ये एक हजार योजन गहरे ९५०० योजन मूलमें विस्तृत, पृथ्वीतलपर ९४०० योजन विस्तृत और ८४००० हजार योजन ऊंचे हैं। भूमितलसे ५०० योजन ऊपर नन्दनवन है। यह ५०० योजन विस्तृत है। ५५५०० योजन ऊपर सौमनस वन है। यह भी ५०० योजन विस्तृत है। इससे २८ हजार योजन ऊपर पांडुकवन है। जम्बूद्वीपमें जहाँ जम्बू वृक्ष है धातकीखंडमें वहीं धातकीवृक्ष है। जैसे चक्रके आरे होते हैं उसी प्रकारके पर्वत हैं और आरेके बीचके भागके समान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षेत्र हैं। घातकीखंडको घेरे हुए कालोदधि समुद्र है। कालोदधिके बाद पुष्करवर द्वीप सोलह लाख योजन विस्तृत है।

पुष्करवरद्वीपका वर्णन–

पुष्करार्धे च ॥३४॥

आधे पुष्करद्वीपमें भी भरतादिक्षेत्र दो दो हैं।

§ १ च शब्दसे 'द्विः' इस संख्याकी पूर्वसूत्रसे अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए। यह द्विगुणता जम्बूद्वीपके भरतादिकी संख्याकी अपेक्षासे है। यद्यपि धातकीखंडका वर्णन अनन्तर निकट है, फिर भी इच्छानुसार जम्बूद्वीपकी संख्यासे ही द्विगुणता लेनी चाहिये।

§ २–४ पुष्करार्धके भरतका आभ्यन्तर विष्कम्भ–४१५७९ योजन और ७३ भाग है। मध्यविष्कम्भ ५३५१२ योजन और १९९ भाग प्रमाण है। बाह्यविष्कम्भ ६५४४२ योजन और १३ भाग प्रमाण है।

§ ५ विदेह तक एक क्षेत्रसे दूसरा क्षेत्र चौगुने विस्तारवाला है। उत्तरके क्षेत्रोंका विस्तार क्रमशः दक्षिणके क्षेत्रोंके ही समान है। पर्वत विजयार्ध वृत्तवेदाढ्य आदिकी संख्या और विस्तार भी दूना दूना है। जम्बूद्वीपमें जहाँ जम्बू वृक्ष है वहाँ पुष्करद्वीपमें पुष्कर है। इसीके कारण इस द्वीपको पुष्करवर द्वीप कहते हैं।

§ ६ मानुषोत्तर पर्वतसे अर्ध विभक्त होनेके कारण इसे पुष्करार्ध कहते हैं। पुष्करद्वीपके मध्यमें मानुषोत्तर पर्वत है। यह १७२१ योजना ऊंचा ४३०¼ योजन गहरा २२ हजार योजन मूलमें विस्तृत १७२३ योजन मध्यमें विस्तृत ४२४ योजन ऊपर विस्तृत है। यवराशिके समान यह पर्वत नीचे मुख किए हुए बैठे सिंहके सदृश मालूम होता है। उसके ऊपर चारों दिशाओंमें ५० योजन लम्बे २५ योजन चौड़े और ३७½ योजन ऊंचे जिनायतन हैं। इसके ऊपर वैडूर्य आदि चौदह कूट हैं।

प्राङ् मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥३५॥

मानुषोत्तर पर्वतके इस ओर ही मनुष्य हैं उस ओर नहीं। उपपाद और समुद्घात अवस्थाके सिवाय इस पर्वतके उस ओर विद्याधर या ऋद्धिधारी मनुष्य भी नहीं जा सकते। इसीलिए इसकी मानुषोत्तर संज्ञा सार्थक है।

आठवाँ नन्दीश्वर द्वीप है। इसका विस्तार १६३८४०००००० योजन है। इसके मध्यमें चारों दिशाओंमें ८४ हजार योजन ऊंचे चार अंजनगिरि हैं। इसकी चारों दिशाओंमें चार चार बावड़ी हैं। ये १ हजार योजन गहरी और एक लाख योजन विस्तारवाली हैं। इन सोलह वापियोंमें दस हजार योजन विस्तृत दधिमुख पर्वत हैं। इन वापियोंके चारों ओर चार वन हैं। इन वापियोंके चारों कोनोंमें एक हजार योजन ऊंचे चार चार रतिकर हैं। इस तरह ६४ रतिकर हैं। बाहरी कोणोंमें स्थित ३२ रतिकर चार अंजनगिरि तथा १६ दधिमुख इस तरह ५२ पर्वतों पर ५२ जिनालय हैं। ये जिनालय १०० योजन लम्बे, ५० योजन चौड़े तथा ७५ योजन ऊंचे हैं।

ग्यारहवाँ कुण्डलवर द्वीप है। उसके मध्यमें कुंडलवर पर्वत है। उसके ऊपर प्रत्येक दिशामें चार-चार कूट हैं। इसको घेरे हुए कुण्डलवर समुद्र है। इसके आगे क्रमशः शंखवरद्वीप, शंखवरसमुद्र, रुचकवरद्वीप, रुचकवरसमुद्र आदि असंख्यात द्वीपसमुद्र हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रुचकवर द्वीपमें ८४ हजार योजन ऊँचा ४२ हजार योजन विस्तृत रुचक पर्वत है। इसके नन्द्यावर्त आदि चार कूट हैं। इनमें दिग्गजेन्द्र रहते हैं। उनके ऊपर प्रत्येकके आठ-आठ कूट और हैं। इन पर दिक्कुमारियाँ रहती हैं। ये तीर्थङ्करोंके गर्भ और जन्मकल्याणकके समय माताकी सेवा करती हैं।

आर्या म्लेच्छाश्च ॥३६॥

मानुषोत्तरसे पहिले रहनेवाले मनुष्य आर्य और म्लेच्छके भेदसे दो प्रकार के हैं।

§ १–२ गुण और गुणवानोंसे जो सेवित हैं वे आर्य हैं। आर्य दो प्रकारके हैं–एक ऋद्धिप्राप्त और दूसरे अनृद्धिप्राप्त आर्य। अनृद्धिप्राप्त आर्य पांच प्रकार के हैं–क्षेत्रार्य जात्यार्य कर्मार्य चारित्रार्य और दर्शनार्य। काशी कौशल आदि देशोंमें उत्पन्न क्षेत्रार्य हैं। इक्ष्वाकु ज्ञाति भोज आदि कुलोंमें उत्पन्न जात्यार्य हैं। कर्मार्य तीन प्रकार के हैं–सावद्यकर्मार्य अल्पसावद्यकर्मार्य और असावद्यकर्मार्य। सावद्यकर्मार्य असि मषी कृषि विद्या शिल्प और वणिक्कर्मके भेदसे छह प्रकार के हैं। तलवार धनुष आदि शस्त्रविद्यामें निपुण असिकर्मार्य हैं। मुनीमीका कार्य करनेवाले मषिकर्मार्य हैं। हल आदिसे कृषि करनेवाले कृषिकर्मार्य हैं। चित्र गणित आदि ७२ कलाओंमें कुशल विद्याकर्मार्य हैं। धोबी नाई लुहार कुम्हार आदि शिल्पकर्मार्य हैं। चन्दन घी धान्यादिका व्यापार करनेवाले वणिक्कर्मार्य हैं। ये छहों अविरत होनेसे सावद्यकर्मार्य हैं। श्रावक और श्राविकाएँ अल्पसावद्यकर्मार्य हैं। मुनिव्रतधारी संयत असावद्यकर्मार्य हैं। ये दो प्रकार के हैं–अधिगतचारित्रार्य और अनधिगतचारित्रार्य। जो बाह्योपदेशके बिना स्वयं ही चारित्रमोहके उपशम क्षय आदिसे चारित्रको प्राप्त हुए हैं वे अधिगतचारित्रार्य और जो बाह्योपदेशकी अपेक्षा चारित्रधारी हुए हैं वे अनधिगतचारित्रार्य हैं। दर्शनार्य दश प्रकार के हैं–सर्वज्ञकी आज्ञाको मुख्य मानकर सम्यग्दर्शनको प्राप्त हुए आज्ञारुचि हैं। अपरिग्रही मोक्षमार्गके श्रवणमात्रसे सम्यग्दर्शनको प्राप्त हुए मार्गरुचि हैं। तीर्थङ्कर बलदेव आदिके चरित्रके उपदेशको सुनकर सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले उपदेशरुचि हैं। दीक्षा आदिके निरूपक आचारांग आदि सूत्रोंके सुनने मात्रसे जिन्हें सम्यग्दर्शन हुआ है वे सूत्ररुचि है। बीजपदोंके निमित्तसे जिन्हें सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हुई वे बीजरुचि हैं। जीवादिपदार्थोंके संक्षेप कथनसे ही सम्यग्दर्शनको प्राप्त होनेवाले संक्षेपरुचि हैं। अंगपूर्वके विषय, प्रमाणनय आदिका विस्तार कथनसे जिन्हें सम्यग्दर्शन हुआ है वे विस्ताररुचि हैं। वचनविस्तारके बिना केवल अर्थग्रहणसे जिन्हें सम्यग्दर्शन हुआ वे अर्थरुचि हैं। आचारांग आदि द्वादशांगमें जिनका श्रद्धान अतिदृढ़ है वे अवगाढ़रुचि हैं। परमावधि केवल ज्ञानदर्शनसे प्रकाशित जीवादि पदार्थ विषयक प्रकाशसे जिनकी आत्मा विशुद्ध है वे परमावगाढ़रुचि हैं। इस तरह रुचिभेदसे सम्यग्दर्शन दस प्रकार का है और दर्शनार्य भी दस प्रकार के हैं।

§ ३ ऋद्धिप्राप्त आर्य आठ ऋद्धियोंके भेदसे आठ प्रकार के हैं। बुद्धि-ज्ञान, यह ऋद्धि केवलज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान बीजबुद्धि आदिके भेदसे अठारह प्रकार की है। केवलज्ञान अवधि और मनःपर्यय प्रसिद्ध हैं। जैसे उर्वर क्षेत्रमें एक भी बीज अनेक बीजोंका उत्पादक होता है उसी तरह एक बीजपदसे ही श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे अनेक पदार्थोंका ज्ञान करना बीजबुद्धि है। जैसे कोठारमें अनेक प्रकारके धान्य सुरक्षित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और जुदे-जुदे रखे रहते हैं उसी तरह बुद्धिरूपी कोठेमें समझे हुए पदार्थोंका सुविचारित रूपसे बने रहना कोष्ठबुद्धि है। पदानुसारित्व तीन प्रकार की है–अनुस्रोत प्रतिस्रोत और उभयरूप। आदि मध्य या अन्तके एक पदके अर्थको सुनकर समस्त ग्रन्थार्थका ज्ञान हो जाना पदानुसारित्व है। बारह योजन लम्बे और नव योजन चौड़े चक्रवर्तीके कटकके भी विभिन्न शब्दोंको एक साथ सुनकर उनको पृथक् पृथक् ग्रहण करना संभिन्नश्रोतृत्व है। रसनादि इन्द्रियोंके द्वारा उत्कृष्ट नव योजन आदि क्षेत्रोंसे रस गन्ध आदिका ज्ञान करना दूरादास्वादन दर्शन घ्राण स्पर्शन ऋद्धियाँ हैं।

महारोहिण्यादि लौकिक विद्याओंके प्रलोभनमें न पड़कर दशपूर्वका पाठी होना दशपूर्वित्व है। पूर्णश्रुतकेवली हो जाना चतुर्दशपूर्वित्व है। आठ महानिमित्तोंमें कुशल होना अष्टांग महानिमित्तज्ञत्व है। आकाशके सूर्य चन्द्र तारा आदिकी गतिसे अतीतानागत का ज्ञान करना अन्तरीक्षनिमित्त है। जमीनकी रूक्षस्निग्ध आदि अवस्थाओंसे हानि-लाभका परिज्ञान या जमीनमें गड़े हुए धन आदिका ज्ञान करना भौम निमित्त है। शरीरके अंग प्रत्यंगोंसे उसके सुखदुःखादिका ज्ञान अंग है। अक्षरात्मक या अनक्षरात्मक कैसे भी शब्दोंको सुनकर इष्टानिष्ट फलका ज्ञान कर लेना स्वर है। सिर मुँह गले आदिमें तिल मस्से आदि चिह्नोंसे लाभालाभ आदिका ज्ञान व्यञ्जन है। श्रीवृक्ष स्वस्तिक कलश आदि चिह्नोंसे शुभाशुभका ज्ञान कर लेना लक्षण है। वस्त्र-शस्त्र छत्र जूता आसन और शय्या आदिमें शस्त्र चूहा कांटे आदिसे हुए छेदके द्वारा शुभाशुभका ज्ञान करना छिन्न है। पिछली रातमें हुए चन्द्र सूर्यादि स्वप्नोंसे भाविसुखदुःखादिका निश्चय करना स्वप्न है।

श्रुतज्ञानियोंके द्वारा ही समाधान करने योग्य सूक्ष्म शंकाओंका भी अपने श्रुत-ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे समाधान कर देना प्रज्ञाश्रवणत्व है। परोपदेशके बिना स्वभावतः ही ज्ञान चारित्र आदिमें निपुण हो जाना प्रत्येकबुद्धता है। शास्त्रार्थमें कभी भी निरुत्तर नहीं होना वादित्व है।

क्रिया विषयक ऋद्धि दो प्रकार की है–चारणत्व और आकाशगामित्व। जल जंघा तन्तु पुष्प पत्र आदिका निमित्त लेकर अप्रतिहत गति करना चारणत्व है। पद्मासन या कायोत्सर्गरूपसे आकाशमें गमन करना आकाशगामित्व है।

विक्रिया विषयक ऋद्धि अणिमा आदिके भेदसे अनेक प्रकारकी है। सूक्ष्म शरीर बना लेना अणिमा, महान् शरीर बनाना महिमा, वायुसे भी लघु शरीर कर लेना लघिमा, वज्रसे भी गुरु शरीर बना लेना गरिमा है। भूमिपर बैठे हुए अंगुलीसे मेरु या सूर्य चन्द्र आदिको स्पर्श कर लेना प्राप्ति है। जलमें भूमिकी तरह चलना आदि प्राकाम्य है। त्रैलोक्यकी प्रभुता ईशित्व है। सबको वशमें कर लेना वशित्व है। पर्वतमें भी घुस जाना अप्रतीघात है। अदृश्य रूप बना लेना अन्तर्धान है। एक साथ अनेक आकार बना लेना कामरूपित्व है।

तपोऽतिशय-ऋद्धि सात प्रकारकी है–दो दिन तीन दिन चार दिन एक माहके उपवास आदि किसी भी उपवासको निरन्तर कठोरतापूर्वक करनेवाले उग्रतप हैं। महोपवास करनेपर भी जिनका काय वचन और मनोबल बढ़ता ही जाता है और शरीर

की दीप्ति उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होती है वे दीप्ततप हैं। गरम तवेपर गिरे हुए जलकी तरह जिनके अल्प आहारका मलादिरूपसे परिणमन नहीं होता, वह वहीं सूख जाता है वे तप्ततप हैं। सिंहनिष्क्रीडित आदि महान् तपोंको तपनेवाले महातप हैं। ज्वर सन्निपात आदि महाभयंकर रोगोंके होनेपर भी जो अनशन कायक्लेश आदिमें मन्द नहीं होते और भयानक श्मशान, पहाड़की गुफा आदिमें रहनेके अभ्यासी हैं वे घोर तप हैं। ये ही जब तप और योगको उत्तरोत्तर बढ़ाते जाते हैं तब घोरपराक्रम कहे जाते हैं। जो अस्खलित अखंड ब्रह्मचर्य धारण करते हैं तथा जिन्हें दुःस्वप्न तक नहीं आते वे घोर ब्रह्मचारी हैं।

बलालम्बन ऋद्धि तीन प्रकारकी है–मनःश्रुतावरण और वीर्यान्तरायके प्रकृष्ट क्षयोपशमसे अन्तर्मुहूर्तमें ही सकलश्रुतार्थके चिन्तनमें निष्णात मनोबली हैं। मन और रसनाश्रुतावरण तथा वीर्यान्तरायके प्रकृष्ट क्षयोपशमसे अन्तर्मुहूर्तमें ही सकलश्रुतके उच्चारणमें समर्थ वचनबली हैं। वीर्यान्तरायके असाधारण क्षयोपशमसे जो मासिक चातुर्मासिक सांवत्सरिक आदि प्रतिमायोगोंके धारण करनेपर भी थकावट और क्लान्तिका अनुभव नहीं करते वे कायबली हैं। औषध-ऋद्धि आठ प्रकारकी है–जिनके हाथ-पैर आदिके स्पर्शसे बड़ी भयंकर व्याधियाँ शान्त हो जाती हैं वे आमर्श ऋद्धिवाले हैं। जिनका थूक औषधिका कार्य करता है वे क्ष्वेलौषधि हैं। जिनका पसीना व्याधियोंको दूर कर देता है वे जल्लौषधि हैं। जिनका कान दाँत या आँखका मल औषधिरूप होता है वे मलौषधि हैं। जिनका प्रत्येक अवयवका स्पर्श या उसका स्पर्श करनेवाली वायु आदि सभी पदार्थ औषधिरूप हो जाते हैं वे सर्वौषधि ऋद्धिवाले हैं। उग्रविषमिश्रित भी आहार जिनके मुखमें जाकर निर्विष हो जाता है अथवा मुखसे निकले हुए वचनोंको सुनने मात्रसे महाविषव्याप्त भी निर्विष हो जाते हैं वे आस्याविष हैं। जिनके देखने मात्रसे ही तीव्र विष दूर हो जाता है वे दृष्ट्यविष हैं।

रस ऋद्धि प्राप्त आर्य छह प्रकारके हैं–जिस प्रकृष्ट तपस्वी यतिके 'मर जाओ' आदि शापसे व्यक्ति तुरंत मर जाता है वे आस्यविष हैं। जिनकी क्रोधपूर्ण दृष्टिसे मनुष्य भस्मसात् हो जाता है वे दृष्टिविष हैं। जिनके हाथमें पड़ते ही नीरस भी अन्न क्षीरके समान सुस्वादु हो जाता है, अथवा जिनके वचन क्षीरके समान सबको मीठे लगते हैं वे क्षीरास्रवी हैं। जिनके हाथमें पड़ते ही नीरस भी आहार मधुके समान मिष्ट हो जाता है, अथवा जिनके वचन मधुके समान श्रोताओंको तृप्त करते हैं वे मध्वास्रवी हैं। जिनके हाथमें पड़कर रूखा भी अन्न घीकी तरह पुष्टिकारक और स्निग्ध हो जाता है अथवा जिनके वचन घीकी तरह सन्तर्पक हैं वे सर्पिरास्रवी हैं। जिनके हाथमें रखा हुआ भोजन अमृतकी तरह हो जाता है या जिनके वचन अमृतकी तरह सन्तृप्ति देनेवाले हैं वे अमृतास्रवी हैं।

क्षेत्रऋद्धिप्राप्त आर्य दो प्रकारके हैं–अक्षीणमहानस और अक्षीणमहालय। प्रकृष्ट लाभान्तरायके क्षयोपशमवाले यतियोंको भिक्षा देनेपर उस भोजनसे चक्रवर्तीके पूरे कटकको भी जिमानेपर क्षीणता न आना अक्षीणमहानस ऋद्धि है। अक्षीणमहालय ऋद्धिवाले मुनि जहाँ बैठते हैं उस स्थानमें इतनी अवगाहन शक्ति हो जाती है कि वहाँ सभी देव मनुष्य और तिर्यञ्च निर्बाध रूपसे बैठ सकते हैं। ये सब ऋद्धिप्राप्त आर्य हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ ४ म्लेच्छ दो प्रकारके हैं—१ अन्तरद्वीपज और २ कर्मभूमिज। लवणसमुद्रकी आठों दिशाओंमें आठ और उनके अन्तरालमें आठ, हिमवान् और शिखरी तथा दोनों विजयार्धोके अन्तरालमें आठ इस तरह चौबीस अन्तरद्वीप हैं। दिशावर्ती द्वीप वेदिकासे तिरछे पाँच सौ योजन आगे हैं। विदिशा और अन्तरालवर्ती द्वीप ५५० योजन जाकर हैं। पहाड़ोंके अन्तिम भागवर्ती द्वीप छह सौ योजन भीतर आगे हैं। दिशावर्ती द्वीप सौ योजन विस्तृत हैं, विदिशावर्ती द्वीप पचास योजन और पर्वतान्तवर्ती द्वीप पच्चीस योजन विस्तृत हैं। पूर्व दिशामें एक जाँघ वाले, पश्चिममें पूँछवाले, उत्तरमें गूंगे, दक्षिणमें सींगवाले प्राणी हैं। विदिशाओंमें खरगोशके कान सरीखे कानवाले, पुड़ीके समान कानवाले, बहुत चौड़े कानवाले और लम्बकर्ण मनुष्य हैं। अन्तरालमें अश्व, सिंह, कुत्ता, सुअर, व्याघ्र उल्लू और बन्दरके मुख जैसे मुखवाले प्राणी हैं। शिखरी पर्वतके दोनों अन्तरालोंमें मेघ और बिजलीके समान मुखवाले, हिमवान्के दोनों अन्तरालोंमें मत्स्यमुख और कालमुख, उत्तर विजयार्धके दोनों अन्तमें हस्तिमुख और आदर्शमुख और दक्षिण विजयार्धके दोनों अन्तमें गोमुख और मेषमुखवाले प्राणी हैं। एक टाँगवाले गुफाओंमें रहते हैं और मिट्टीका आहार करते हैं। बाकी वृक्षोंपर रहते हैं और पुष्प फल आदिका आहार करते हैं। ये सब प्राणी पल्योपम आयुवाले हैं। ये चौबीसों द्वीप जल तलसे एक योजन ऊँचे हैं। इसी तरह कालोदधिमें हैं। ये सब अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ हैं। शक, यवन, शबर और पुलिन्द आदि कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं।

कर्मभूमियोंका वर्णन—

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥३७॥

भरत ऐरावत और देवकुरु उत्तरकुरु भागको छोड़कर शेष विदेह क्षेत्र कर्मभूमियाँ हैं। मोक्ष मार्गकी प्रवृत्ति कर्मभूमिसे ही होती है। यद्यपि भोगभूमियोंमें ज्ञान दर्शन होते हैं पर चारित्र नहीं होता।

§ १–३ यद्यपि ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका बन्ध और उनका फलभोग सभी मनुष्य क्षेत्रोंमें समान है फिर भी यहाँ कर्मभूमि व्यवहारविशेषके निमित्तसे है। सैवार्थसिद्धि प्राप्त करानेवाला या तीर्थङ्कर प्रकृति बाँधनेवाला प्रकृष्ट शुभकर्म अथवा सातवें नरक ले जानेवाला प्रकृष्ट अशुभकर्म कर्मभूमिमें ही बँधता है। सकल संसारका उच्छेद करनेवाली परमनिर्जराकी कारण तपश्चरणादि क्रियाएँ भी यहीं होती हैं। असि, मषि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य रूप छह कर्मोंकी प्रवृत्ति भी यहीं होती है। अतः भरतादिकमें ही कर्मभूमि व्यवहार उचित है।

§ ४ जैसे 'न क्वचित् सर्वदा सर्वविस्रम्भगमनं नयः अन्यत्र धर्मात्' अर्थात् धर्म को छोड़कर अन्य आर्थिक आदि प्रसङ्गोंमें पूर्ण विश्वास करना नीतिसंगत नहीं है। यहाँ 'अन्यत्र' शब्द 'छोड़कर' इस अर्थमें है उसी तरह 'अन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः' यहाँ भी। अर्थात् देवकुरु और उत्तरकुरुको छोड़कर शेष विदेहक्षेत्र कर्मभूमि है। देवकुरु उत्तरकुरु और हैमवत आदि भोगभूमि हैं।

मनुष्योंकी आयु—

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥३८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त है।

§ १–३ लौकिक और लोकोत्तरके भेदसे प्रमाण दो प्रकारका है। लौकिक मान छह प्रकारका है–मान, उन्मान, अवमान, गणना, प्रतिमान और तत्प्रमाण। मान दो प्रकारका है–रसमान और बीजमान। घी आदि तरल पदार्थोंको मापनेकी छटंकी आदि रसमान हैं और धान्य नापनेके कुडव आदि बीजमान हैं। तगर आदि द्रव्योंको ऊपर उठाकर जिनसे तौला जाता है वे तराजू आदि उन्मान हैं। खेत नापनेके डंडा आदि अवमान हैं। एक दो तीन आदि गणना है। पूर्वकी अपेक्षा आगेके मानोंकी व्यवस्था प्रतिमान है जैसे–चार मंहदीके फलोंका एक सफेद सरसों, सोलह सरसोंका एक उड़द, दो उड़दकी एक गुमची, दो गुमचीका एक रूप्यमाष (सफेद उड़द), दो रूप्यमाषका एक धरण, २॥ धरण का एक सुवर्ण कंस, चार कंसका एक पल, एक सौ पलकी तुला, तीन पल और आधे कंस का एक कुडव, चार कुडवका एक प्रस्थ, चार प्रस्थका एक आढक, चार आढकका एक द्रोण, सोलह द्रोणकी एक खारी, बीस खारीका एक वाह, इत्यादि मगध देशका प्रमाण है। मणि आदिकी दीप्ति, अश्व आदिकी ऊंचाई गुण आदिके द्वारा मूल्य निर्धारण करनेके लिए तत्प्रमाणका उपयोग होता है। जैसे मणिकी प्रभा ऊपर जहाँ तक जाय उतनी ऊंचाई तकका सुवर्णका ढेर उसका मूल्य होगा। घोड़ा जितना ऊंचा हो–उतनी ऊंची सुवर्ण मुद्राएं घोड़ेका मूल्य। अथवा जितनेमें रत्नके मालिकको सन्तोष हो उतना रत्नका मूल्य होता है। आदि।

§ ४ लोकोत्तर प्रमाण द्रव्य क्षेत्र काल और भावके भेदसे चार प्रकारका है। द्रव्य-प्रमाण एक परमाणुसे लेकर महास्कन्धपर्यन्त, क्षेत्र प्रमाण एक प्रदेशसे लेकर सर्व लोकपर्यन्त, और काल प्रमाण एक समयसे लेकर अनन्त कालपर्यन्त जघन्य मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन तीन प्रकारका है। भाव प्रमाण अर्थात् ज्ञान दर्शन उपयोग। वह जघन्य सूक्ष्म निगोदके उत्कृष्ट केवलीके और मध्यम अन्य जीवोंके होता है।

§ ५ द्रव्यप्रमाण संख्या और उपमाके भेदसे दो प्रकारका है। संख्या प्रमाण संख्येय असंख्येय और अनन्तके भेदसे तीन प्रकारका है। संख्येय प्रमाण जघन्य उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारका है। असंख्यात और अनन्त नौ नौ प्रकारके हैं।

संख्येय प्रमाणके ज्ञानके लिए जम्बूद्वीपके समान एक लाख लम्बे चौड़े और एक योजन गहरे शलाका प्रतिशलाका महाशलाका और अनवस्थित नामके चार कुण्ड बुद्धिसे कल्पित करने चाहिए। अनवस्थित कुण्डमें दो सरसों डालना चाहिए। यह जघन्य संख्येयका प्रमाण है। उस अनवस्थित कुण्डको सरसोंसे भर देना चाहिए। फिर कोई देव उससे एक-एक सरसोंको क्रमशः एक-एक द्वीप समुद्रमें डालता जाय। जब वह कुण्ड खाली हो जाय तब शलाका कुण्डमें एक दाना डाला जाय। जहाँ अनवस्थितकुण्डका अन्तिम सरसों गिरा था उतना बड़ा अनवस्थित कुण्ड कल्पना किया जाय। उसे सरसोंसे भरकर फिर उससे आगेके द्वीपोंमें एक एक सरसों डालकर उसे खाली किया जाय। जब वह खाली हो जाय तब शलाका कुण्डमें दूसरा सरसों डाले। फिर जहाँ अन्तिम सरसों गिरा था उतना बड़ा अनवस्थित कुण्ड कल्पित करके उसे सरसोंसे भरकर उससे आगेके द्वीपसमुद्रोंमें एक एक सरसों डालकर खाली करना चाहिए। तब शलाका कुण्डमें एक सरसों डाले। इस तरह अनवस्थितकुण्डको तब तक बढ़ाता जाय जब तक शलाका कुण्ड सरसोंसे न भर जाय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब शलाका कुण्ड भर जाय तब एक सरसों प्रतिशलाका कुण्डमें डाले। इस तरह उसे भी भरे। जब प्रतिशलाका कुण्ड भर जाय तब एक सरसों महाशलाका कुण्डमें डाले। उक्त विधिसे जब वह भी परिपूर्ण हो जाय तब जो प्रमाण आता है वह उत्कृष्ट संख्यातसे एक अधिक जघन्यपरीतासंख्यात है। उसमेंसे एक कम करनेपर उत्कृष्ट संख्यात होता है। जघन्य और उत्कृष्टके बीचके सभी भेद अजघन्योत्कृष्ट संख्यात हैं। जहाँ भी संख्यात शब्द आता है वहाँ यही अजघन्योत्कृष्ट संख्यात लिया जाता है।

असंख्यात तीन प्रकार है–परीतासंख्येय युक्तासंख्येय और असंख्येयासंख्येय। परीतासंख्यात जघन्य मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारका है। इसी तरह अन्य असंख्यातों के भी भेद होते हैं।

अनन्त भी तीन प्रकारका है–परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त। ये तीनों अनन्त जघन्य उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्टके भेदसे तीन तीन प्रकारके हैं। जघन्य परीतासंख्येयको फैलाकर मोतीके समान जुदे जुदे रखना चाहिए। प्रत्येक पर एक एक जघन्य परीतासंख्येयको फैलाना चाहिए। इनका परस्पर वर्ग करे। जो जघन्य परीतासंख्येय मुक्तावली पर दिये गये थे उनका गुणाकर एक राशि बनावे। उसे बिरलन कर उसपर उस वर्गित राशिको दे। उसका परस्पर वर्ग कर जो राशि आती है वह उत्कृष्ट परीतासंख्येयसे एक अधिक होती है। उसमेंसे एक कम करनेपर उत्कृष्ट परीतासंख्येय होता है। बीचके विकल्प अजघन्योत्कृष्ट परीतासंख्येय हैं। जहाँ आवलिसे प्रयोजन होता है वहाँ जघन्ययुक्तासंख्येय लिया जाता है। जघन्ययुक्तासंख्येयको विरलन कर प्रत्येकपर जघन्ययुक्तासंख्येयको स्थापित करे। उनका वर्ग करनेपर जो राशि आती है वह जघन्य संख्येयासंख्येय है। उसमेंसे एक कम करनेपर उत्कृष्ट युक्तासंख्येय होती है। बीचके विकल्प मध्यम युक्तासंख्येय हैं। जघन्य संख्येयासंख्येयका विरलनकर पूर्वोक्त विधिसे तीन बार वर्ग संवर्ग करनेपर भी उत्कृष्ट संख्येयासंख्येय नहीं होता। इसमें धर्म, अधर्म, एक जीव, लोकाकाश, प्रत्येक शरीरजीव, बादर निगोत शरीर ये छहों असंख्येय, स्थितिबन्धाध्यवसाय स्थान, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान, योगके अविभाग परिच्छेद, उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके समयोंको जोड़नेपर फिर तीन बार वर्गित संवर्गित करनेपर उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयसे एक अधिक जघन्यपरीतानन्त होता है। इसमेंसे एक कम करनेपर उत्कृष्टासंख्येयासंख्येय होता है। मध्यके विकल्प अजघन्योत्कृष्टासंख्येयासंख्येय होते हैं। असंख्येयासंख्येयके स्थानमें अजघन्योत्कृष्टासंख्येयासंख्येय विवक्षित होता है। इसी तरह जघन्यपरीतानन्तको विरलन कर तीन बार वर्गित संवर्गित करनेपर उत्कृष्टपरीतानन्तसे एक अधिक जघन्ययुक्तानन्त होता है। उससे एक कम करनेपर उत्कृष्टपरीतानन्त होता है। मध्यके विकल्प अजघन्योत्कृष्ट परीतानन्त हैं। अभव्यराशिके प्रमाणमें जघन्ययुक्तानन्त लिया जाता है। जघन्ययुक्तानन्तको विरलनकर प्रत्येकपर जघन्ययुक्तानन्तको रखे। उन्हें परस्पर वर्ग करनेपर जो राशि आती है वह उत्कृष्टयुक्तानन्तसे एक अधिक जघन्य अनन्तानन्तकी राशि है। उसमेंसे एक कम करनेपर उत्कृष्ट युक्तानन्त होता है। मध्यके विकल्प अजघन्योत्कृष्ट युक्तानन्त हैं। जघन्य अनन्तानन्तको विरलनकर प्रत्येकपर जघन्य अनन्तानन्तको स्थापितकर तीन बार वर्गित संवर्गित करनेपर भी उत्कृष्ट अनन्तानन्त नहीं होता। अतः उसमें सिद्ध, निगोदजीव, वनस्पतिकाय, अतीत अनागतकालके समय, सभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुद्गल, आकाशके प्रदेश, धर्म, अधर्म और अनन्त अगुरुलघुगुण जोड़े । फिर तीन बार वर्गित-संवर्गित करे । तब भी उत्कृष्ट अनन्तानन्त नहीं होता । अतः उसमें केवलज्ञान और केवलदर्शनको जोड़े तब उत्कृष्ट अनन्तानन्त होता है । उससे एक कम अजघन्योत्कृष्ट अनन्तानन्त होता है । जहां अनन्तानन्तका प्रकरण आता है वहाँ अजघन्योत्कृष्ट अनन्तानन्त लेना चाहिए ।

§ ७ उपमा प्रमाण आठ प्रकारका है–पल्य, सागर, सूची, प्रतर, घनांगुल, जगच्छ्रेणी, लोकप्रतर और लोक । आदि अन्तसे रहित अतीन्द्रिय एक रस एकगन्ध एक रूप और दो स्पर्शवाला अविभागी द्रव्य परमाणु कहलाता है। अनन्तानन्त परमाणुओंके संघात की एक उत्संज्ञासंज्ञा । आठ उत्संज्ञासंज्ञाकी एक संज्ञासंज्ञा । आठ संज्ञासंज्ञाकी एक त्रुटिरेणु । आठ त्रुटिरेणुकी एक त्रसरेणु । आठ त्रसरेणुकी एक रथरेणु । आठ रथरेणुका एक देवकुरु उत्तरकुरुके मनुष्यका बालाग्र। उन आठ बालाग्रोंका एक रम्यक और हरिवर्षके मनुष्योंका बालाग्र । उन आठ बालाग्रोंका एक हैरण्यवत और हैमवत क्षेत्रके मनुष्योंका बालाग्र । उन आठ बालाग्रोंका एक भरत ऐरावत और विदेहके मनुष्योंका बालाग्र । उन आठ बालाग्रोंकी एक लीख । आठ लीखकी एक जूं । आठ जूंका एक यवमध्य । आठ यवमध्योंका एक उत्सेधांगुल । इससे नारक तिर्यञ्च देव मनुष्य और अकृत्रिम चैत्यालयोंकी प्रतिमाओंका माप होता है । ५०० उत्सेधांगुलका एक प्रमाणांगुल । यही अवसर्पिणीके प्रथम चक्रवर्तीका आत्मांगुल होता है । उस समय इसीसे गाँव नगर आदिका माप किया जाता है। दूसरे युगोंमें उस उस युगके मनुष्योंके आत्मांगुलसे ग्राम नगर आदिका माप किया जाता है । प्रमाणांगुलसे द्वीप समुद्र वेदिका पर्वत विमान नरक प्रस्तार आदि अकृत्रिम द्रव्योंकी लम्बाई चौड़ाई मापी जाती है । छह अंगुलका एक पाद । बारह अंगुलका एक बीता । दो बीतेका एक हाथ । दो हाथका एक किष्कु । दो किष्कुका एक दंड । दो हजार दंडका एक गव्यूत । चार गव्यूतका एक योजन होता है ।

§ ८ पल्य तीन प्रकारका है–व्यवहारपल्य उद्धारपल्य और अद्धापल्य । व्यवहारपल्य आगेके पल्योंके व्यवहारमें कारण होता है, उससे अन्य किसीका परिच्छेद नहीं होता । उद्धारपल्यके लोमच्छेदोंसे द्वीप समुद्रोंकी गिनती की जाती है । अद्धापल्यसे स्थितिका परिच्छेद किया जाता है। प्रमाणांगुलसे परिमित एक योजन लम्बे चौड़े गहरे तीन गड्ढे किये जायँ। वे सात दिन तककी आयु वाले भेंड़ोंके रोमके अतिसूक्ष्म टुकड़ोंसे भरे जायं । एक एक सौ वर्षमें एक एक रोमका टुकड़ा निकाला जाय । जितने समयमें वह खाली हो उतना काल व्यवहारपल्य कहलाता है । उन्हीं रोमच्छेदोंको यदि प्रत्येकको असंख्यात करोड़ वर्षके समयोंसे छिन्न कर दिया जाय और प्रत्येक समयमें एक एक रोमछेदको निकाला जाय तो जितने समयमें वह खाली होगा वह समय उद्धारपल्य कहलाता है । दस कोड़ाकोड़ी उद्धारपल्योंका एक उद्धारसागर होता है । ढाई उद्धारसागरोंके जितने रोमच्छेद होते हैं उतने ही द्वीप समुद्र हैं । उद्धारपल्यके रोमच्छेदोंको सौ वर्षके समयोंसे छेद करके एक एक समयमें एक एक रोमच्छेदको निकालनेपर जितने समयमें वह खाली हो उतना समय अद्धापल्य कहलाता है । दस कोड़ाकोड़ी अद्धापल्योंका एक अद्धासागर होता है । दस कोड़ाकोड़ी अद्धासागरोंकी एक अवसर्पिणी होती है और इतनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही उत्सर्पिणी। अद्धापल्यसे नारक तिर्यञ्च मनुष्य और देवोंकी कर्मस्थिति भवस्थिति आयुस्थिति और कायस्थिति मापी जाती है। अद्धापल्यके अर्धच्छेदोंको विरलनकर प्रत्येक अद्धापल्यको स्थापितकर परस्पर गुणा करे, तब जितने रोमच्छेद हों उतने प्रदेशोंको सूच्यंगुल कहते हैं। सूच्यंगुलको सूच्यंगुलसे गुणा करनेपर प्रतरांगुल होता है। प्रतरांगुल को सूच्यंगुलसे गुणा करनेपर घनांगुल होता है। असंख्येय वर्षोंके जितने समय हैं उतने खंडवाला अद्धापल्य स्थापित करे। उनसे असंख्यात खंडोंको निकालकर एक असंख्यात भागको बुद्धिसे विरलनकर प्रत्येकपर घनांगुलको स्थापित करे। उनका परस्पर गुणा करनेपर एक जगत्श्रेणी होती है। जगत्श्रेणीको जगत्श्रेणीसे गुणा करनेपर प्रतरलोक होता है। प्रतरलोक जगत्श्रेणीसे वर्ग करनेपर घनलोक होता है।

क्षेत्र प्रमाण दो प्रकारका है–अवगाह क्षेत्र और विभागनिष्पन्न क्षेत्र। अवगाह क्षेत्र एक दो तीन चार संख्येय असंख्येय और अनन्त प्रदेशवाले पुद्गलद्रव्यको अवगाह देनेवाले आकाश प्रदेशोंकी दृष्टिसे अनेक प्रकारका है। विभाग निष्पन्नक्षेत्र भी अनेक प्रकारका है--असंख्यात आकाश श्रेणी, क्षेत्र प्रमाणांगुलका एक असंख्यात भाग, असंख्यात क्षेत्र प्रमाणांगुलके असंख्यात भाग, एक क्षेत्र प्रमाणांगुल। पाद बीता आदि पहिलेकी तरह जानना चाहिए।

कालप्रमाण--जघन्यगतिसे एक परमाणु सटे हुए द्वितीय परमाणु तक जितने कालमें जाता है उसे समय कहते हैं। असंख्यात समयकी एक आवली। संख्यात आवलीका एक उच्छ्वास या निश्वास। एक उच्छ्वास निश्वासका एक प्राण। सात प्राणोंका एक स्तोक। सात स्तोकका एक लव। ७७ लवका एक मुहूर्त। ३० मुहूर्तका एक दिन रात। १५ दिन रातका एक पक्ष। दो पक्षका एक माह। दो माहकी एक ऋतु। तीन ऋतुओंका एक अयन। दो अयनका एक संवत्सर। ८४ लाख वर्षोंका एक पूर्वाङ्ग। ८४ लाख पूर्वाङ्गोंका एक पूर्व। इसी तरह पूर्वाङ्ग पूर्व, नयुतांग नयुत, कुमुदांग कुमुद, पद्मांग पद्म, नलिनांग नलिन, कमलांग कमल, तुट्यांग तुट्य, अटटांग अटट, अममांग अमम, हूहूअंग हूहू, लतांग लता, महालतांग महालता आदि काल वर्षोंकी गिनतीसे गिना जानेवाला संख्येय कहलाता है। इसके आगेका काल पल्योपम सागरोपम आदि असंख्येय है, उसके अनन्तकाल है जो कि अतीत और अन्तगत रूप है। वह सर्वज्ञके प्रत्यक्षगम्य है।

पाँच प्रकारका ज्ञान भावप्रमाण है।

तिर्यंचोंकी स्थिति–

तिर्यग्योनिजानां च ॥३९॥

तिर्यंचोंकी भी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य अन्तर्मुहूर्त है।

§ १–२ तिर्यंच गति नाम कर्मके उदयसे जिनका जन्म हुआ है वे तिर्यंच हैं। तिर्यञ्च एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रियके भेदसे तीन प्रकारके हैं।

§ ३ शुद्ध पृथिवी कायिकोंकी उत्कृष्ट स्थिति १२ हजार वर्ष, खरपृथिवी कायिकों की २२ हजार वर्ष, वनस्पति कायिकोंकी १० हजार वर्ष, जल कायिकोंकी ७ हजार वर्ष, वायुकायिकोंकी तीन हजार वर्ष और तेजस्कायिकोंकी तीन रात दिन है।

§ ४ द्वीन्द्रियोंकी उत्कृष्ट स्थिति १२ वर्ष, त्रीन्द्रियोंकी ४९ दिन रात और चतुरिन्द्रियोंकी ६ माह है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ ५ जलचर पंचेन्द्रियोंकी उत्कृष्ट स्थिति मछली आदिकी एक पूर्वकोटि, परिसप गोह नकुल आदिकी ९ पूर्वाङ्ग, उरग-सर्पोंकी ४२ हजार वर्ष, पक्षियोंकी ७२ हजार वर्ष, चतुष्पदोंकी तीन पल्य। सबकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

§ ६ तिर्यंचोंकी आयुका पृथक् निर्देश इसलिए किया है जिससे प्रत्येककी उत्कृष्ट और जघन्य दोनों प्रकारकी स्थितिका ज्ञान स्वतन्त्र भावसे हो जाय। अन्यथा यथासंख्य अन्वय होकर मनुष्योंकी उत्कृष्ट और तिर्यंचोंकी जघन्य यह ज्ञान होता।

एक भवकी स्थिति भवस्थिति कहलाती है और एक कायका परित्याग किये बिना अनेक भव विषयक कायस्थिति होती है। पृथिवी जल तेज और वायुकायिकोंकी उत्कृष्ट कायस्थिति असंख्यात लोक है। वनस्पतिकायकी उत्कृष्ट काय स्थिति अनन्तकाल, असंख्यात पुद्गल परिवर्त, आवलिकाका असंख्यात भागमात्र है। विकलेन्द्रियोंकी असंख्यात हजार वर्ष, पंचेन्द्रिय तिर्यंच मनुष्योंकी पूर्वकोटि पृथक्त्व अधिक तीन पल्य। सभीकी जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त है। देव और नारकोंकी भवस्थिति ही कायस्थिति है।

तृतीय अध्याय समाप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चौथा अध्याय

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥१॥

§ १–२ देवगतिनामकर्मके उदय होनेपर बाह्य दीप्ति यथेच्छ क्रीड़ा आदिसे जो दिव्य ह वे देव हैं। अन्तर्गत भेदोंकी दृष्टिसे 'निकायाः' में बहुवचनका प्रयोग किया गया है।

§ ३ देवगतिनामकर्मोदयकी भीतरी सामर्थ्यसे बने हुए समुदायोंको निकाय कहते हैं। भवनवासी, किन्नर, ज्योतिष्क और वैमानिक ये चार निकाय हैं।

देवोंकी लेश्या–

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥२॥

आदिके तीन निकायोंमें पीतपर्यन्त लेश्याएँ होती हैं।

§ १–३ अन्त या मध्यसे नहीं किन्तु आदिसे एक या दो नहीं किन्तु तीन निकायों में अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषियोंमें कृष्ण नील कापोत और पीत ये चार लेश्याएँ होती हैं।

दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥३॥

§ १–३ इन्द्रसामानिक आदि कल्पनाएं जिनमें होती हैं वे कल्पोपपन्न हैं। यद्यपि भवनवासी आदिमें भी ये कल्पनाएं हैं फिर भी रूढ़िवश कल्पोपपन्न शब्दसे १६ स्वर्गवासियोंका ग्रहण है। ग्रैवेयक आदि कल्पातीतोंकी इससे निवृत्ति हो जाती है। अर्थात् भवनवासी दस प्रकार, व्यन्तर आठ प्रकार, ज्योतिषी पाँच प्रकार और वैमानिक कल्प बारह प्रकारके हैं।

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णका-भियोग्यकिल्विषकाश्चैकशः ॥४॥

प्रत्येक निकायमें इन्द्र सामानिक त्रायस्त्रिंश पारिषद् आत्मरक्ष लोकपाल अनीक प्रकीर्णक आभियोग्य और किल्विषक ये दश भेद हैं।

§ १ अन्य देवोंमें नहीं पाया जानेवाला अणिमा आदि ऋद्धिरूप ऐश्वर्यवाला इन्द्र है।

§ २ आज्ञा और ऐश्वर्यके सिवाय स्थान आयु शक्ति परिवार और भोगोपभोग आदिमें जो इन्द्रोंके समान हैं वे सामानिक हैं। ये पिता गुरु उपाध्याय आदिके समान आदरणीय होते हैं।

§ ३ मन्त्री और पुरोहितके समान हित चेतानेवाले त्रायस्त्रिंश देव होते हैं। त्रयस्त्रिंशत् संख्या और संख्येयमें भेद मानकर यहाँ समास हो गया है। अथवा स्वार्थिक अण् प्रत्यय करनेपर त्रायस्त्रिंश रूप बन जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ ४ पारिषद् अर्थात् सभ्य। ये मित्र और पीठमर्द–अर्थात् नर्तकाचार्यके समान विनोदशील होते हैं।

§ ५ अंगरक्षकके समान कवच पहिने हुए सशस्त्र पीछे खड़े रहनेवाले आत्मरक्ष हैं। यद्यपि कोई भय नहीं है फिर भी विभूतिके द्योतनके लिए तथा दूसरोंपर प्रभाव डालनेके लिए आत्मरक्ष होते हैं।

§ ६ अर्थरक्षकके समान लोकपाल होते हैं।

§ ७ पदाति आदि सात प्रकारकी सेना अनीक है।

§ ८ नगर या प्रान्तवासियोंके समान प्रकीर्णक होते हैं।

§ ९ दासोंके समान आभियोग्य होते हैं। ये ही विमान आदिको खींचते हैं और वाहक आदि रूपसे परिणत होते हैं।

§ १० पापशील और अन्तवासीकी तरह किल्विषक होते हैं।

§ ११ प्रत्येक निकायमें इन भेदोंकी सूचनाके लिए 'एकशः' पदमें वीप्सार्थक शस् प्रत्यय है।

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥५॥

व्यन्तर और ज्योतिष्कोंमें त्रायस्त्रिंश और लोकपालके सिवाय आठ भेद होते हैं।

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥६॥

भवनवासी और व्यन्तरोंमें दो दो इन्द्र होते हैं।

§ १-२ 'पूर्वयोः' इस शब्दसे प्रथम और द्वितीय निकायका ग्रहण करना चाहिए, समुदाय और समुदायवालेमें भेद विवक्षाकी दृष्टिसे देवोंके निकायोंमें ऐसा भेदपरक निर्देश किया है। जैसे आमोंका वन या धान्यकी राशि।

§ ३ 'द्वीन्द्राः' यहाँ वीप्सार्थकी विवक्षा है अर्थात् दो दो इन्द्र होते हैं। भवनवासियोंमें असुरकुमारोंके चमर और वैरोचन, नागकुमारोंके धरण और भूतानन्द, विद्युत्कुमारोंके हरिसिंह और हरिकान्त, सुपर्णकुमारोंके वेणुदेव और वेणुधारी, अग्निकुमारोंके अग्निशिख और अग्निमाणव, वातकुमारोंके वैलम्ब और प्रभञ्जन, स्तनितकुमारोंके सुघोष और महाघोष, उदधिकुमारोंके जलकान्त और जलप्रभ, द्वीपकुमारोंके पूर्ण और वशिष्ट तथा दिक्कुमारोंके अमितगति और अमितवाहन नामके इन्द्र हैं।

व्यन्तरोंमें किन्नरोंके किन्नर और किंपुरुष, किम्पुरुषोंके सत्पुरुष और महापुरुष, महोरगोंके अतिकाय और महाकाय, गन्धर्वोंके गीतरति और गीतयश, यक्षोंके पूर्णभद्र और माणिभद्र, राक्षसोंके भीम और महाभीम, पिशाचोंके काल और महाकाल तथा भूतोंके प्रतिरूप और अप्रतिरूप नामके इन्द्र हैं।

सुखभोगका प्रकार–

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥७॥

ऐशान स्वर्ग पर्यन्त मैथुन सेवन शरीरसे होता है।

§ १ मैथुन व्यवहारको प्रवीचार कहते हैं। शरीरसे मैथुन सेवनको कायप्रवीचार कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ २ आङ् उपसर्ग अभिविधि अर्थ में है। अर्थात् ऐशान स्वर्ग तकके देव संक्लिष्ट कर्मवाले होनेसे मनुष्योंकी तरह स्त्री विषयका सेवन करते हैं। यदि 'प्राग् ऐशानात्' ऐसा ग्रहण करते तो ऐशान स्वर्गके देव छूट जाते।

§ ३ 'आ ऐशानात्' ऐसा बिना सन्धिका निर्देश असन्देहके लिए किया गया है। यदि सन्धि कर देते तो 'आङ्' उपसर्गका पता ही न चलता। पूर्वसूत्रमें 'पूर्वयोः' का अधिकार है। अतः उसका अनुवर्तन होनेसे 'ऐशानसे पहिलेके' यह अनिष्ट अर्थ होता। अतः यहाँ सन्धि नहीं की है।

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ॥८॥

शेष स्वर्गोंमें स्पर्श रूप शब्द और मनके द्वारा ही कामवेदना शान्त हो जाती है।

§ १ शेष शब्दके द्वारा ऐशानके सिवाय अन्य विमानवासियोंका संग्रह होता है। ग्रैवेयकादिके देव तो 'परेऽप्रवीचाराः' सूत्रसे मैथुनरहित बताए जायंगे।

§ २-४ **प्रश्न**–इस सूत्रके द्वारा यह ज्ञात नहीं होता कि स्वर्गोंमें स्पर्श-प्रवीचार है तथा किनमें रूप-प्रवीचार आदि। अतः यह सूत्र अगमक है। 'दो दो' का सम्बन्ध लगानेसे भी आगमोक्त अर्थ नहीं निकलता। इन्द्रोंकी अपेक्षा दो दो का सम्बन्ध लगानेसे आनतादिक चार अन्तमें बच जाते हैं। तात्पर्य यह कि यह सूत्र अपूर्ण है।

§ ५ **उत्तर**–यद्यपि पूर्वसूत्रसे प्रवीचार शब्दकी अनुवृत्ति आती है फिर भी इस सूत्रमें दुबारा प्रवीचार शब्दके ग्रहण करनेसे इस प्रकार आगमाविरोधी इष्ट अर्थका ज्ञान हो जाता है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें देव-देवियाँ परस्पर अंग स्पर्श करनेसे सुखानुभवन करते हैं। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गके देव और देवियाँ परस्पर सुन्दर रूपको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं। शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार स्वर्गके देव और देवियाँ परस्पर मधुर संगीत श्रवण, मृदु हास्य, भूषणोंकी झंकार आदि शब्दोंके सुनने मात्रसे सुखानुभव करते हैं। आनत प्राणत आरण और अच्युत स्वर्गके देव देवियाँ मनमें एक दूसरेका विचार आते ही तृप्त हो जाते हैं।

परेऽप्रवीचाराः ॥९॥

§ १-२ कल्पातीत–ग्रैवेयकादि वासी देव प्रवीचारसे रहित हैं। प्रवीचार कामवेदनाका प्रतीकार है। इनके काम वेदना ही नहीं होती। अतः ये परमसुखका सदा अनुभव करते हैं।

भवनवासियोंके भेद–

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥१०॥

§ १-३ भवनोंमें रहनेके कारण ये भवनवासी कहे जाते हैं। असुर आदि उनके भेद हैं। ये भेद नामकर्मके कारण हैं।

§ ४-६ 'देवोंके साथ असुरका युद्ध होता था अतः ये असुर कहलाते हैं' यह देवोंका अवर्णवाद मिथ्यात्वके कारण किया जाता है। क्योंकि सौधर्मादि स्वर्गोंके देव महा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रभावशाली हैं, वे सदा जिनपूजा आदि शुभकार्योंमें लगे रहते हैं, उनमें स्त्रीहरण आदि निमित्तोंसे वैरकी संभावना ही नहीं है अतः अल्पप्रभाववाले असुरोंसे युद्धकी कल्पना ही व्यर्थ है।

§ ७-८ ये सदा कुमारोंकी तरह वेषभूषा तथा यौवनक्रीडाओंमें लगे रहते हैं अतः कुमार कहलाते हैं। कुमार शब्दका सम्बन्ध प्रत्येकके साथ है–असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार आदि।

इस जम्बूद्वीपसे तिरछे असंख्यात द्वीपसमुद्रोंके बाद पंक बहुल भागमें चमर नामके असुरेन्द्रके ३४ लाख भवन हैं। इस दक्षिणाधिपतिके ६४ हजार सामानिक, ३३ त्रायस्त्रिंश, तीन परिषत्, सात अनीक, चार लोकपाल, पाँच अग्रमहिषी, ४०३४ आत्मरक्ष यह विभव परिवार है। उत्तरदिशामें वैरोचनके तीस लाख भवन हैं। इसके ६० हजार सामानिक, ३३ त्रायस्त्रिंश, ३ परिषत्, ७ अनीक, ४ लोकपाल, ५ अग्रमहिषी, ४०६४ आत्मरक्ष यह विभव परिवार है। कुल मिलाकर पंकबहुल भागमें ६४ लाख भवन हैं।

खरपृथिवी भागके ऊपर नीचे एक एक हजार योजन छोड़कर शेष भागमें शेष नव कुमारोंके भवन हैं। इस जम्बूद्वीपसे तिरछे असंख्यात द्वीप समुद्रोंके बाद धरण नागराजके ४४ लाख भवन हैं। इसके ६० हजार सामानिक, ३३ त्रायस्त्रिंश, तीन परिषत्, सात अनीक, चार लोकपाल, छह अग्रमहिषी, छह हजार आत्मरक्ष हैं। इस जम्बूद्वीपसे तिरछे उत्तरकी ओर असंख्यात द्वीप-समुद्रोंके बाद भूतानन्द नागेन्द्रके ४० लाख भवन हैं। इसका विभव धरणेन्द्रके समान है। इस तरह नागकुमारोंके ८४ लाख भवन हैं। सुपर्णकुमारोंके ७२ लाख भवन हैं। इसमें दक्षिणदिशाधिपति वेणुदेवके ३८ लाख और उत्तराधिपति वेणुधारीके ३४ लाख हैं। विभव धरणेन्द्रके समान है। विद्युत्कुमार अग्निकुमार स्तनितकुमार उदधिकुमार द्वीपकुमार और दिक्कुमार इन प्रत्येकके ७६ लाख भवन हैं। इनमें दक्षिणेन्द्र हरिसिंह, अग्निशिख, सुघोष, जलकान्त, पूर्ण और अमितगति इन प्रत्येकके ४० लाख भवन हैं। हरिकान्त, अग्निमाणव, महाघोष, जलप्रभ, शिष्ट और अमितवाहन इन प्रत्येक उत्तरेन्द्रके ३६ लाख भवन हैं। वातकुमारोंके ९६ लाख भवन हैं। इनमें दक्षिणेन्द्र वेलम्बके ५० हजार भवन हैं। और उत्तराधिपति प्रभञ्जनके ४६ लाख भवन हैं। इस तरह कुल मिलाकर सात करोड़ ७२ लाख भवन हैं।

व्यन्तरोंके भेद–

व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥११॥

§ १-३ विविध देशोंमें निवास होनेसे इन्हें व्यन्तर कहते हैं। इनके किन्नर आदि आठ भेद हैं। देवगतिके उत्तरभेद रूप उन उन प्रकृतियोंके उदयसे ये किन्नर आदि भेद हुए हैं।

§ ४ **प्रश्न**–खोटे मनुष्योंको चाहनेके कारण किन्नर, कुत्सित पुरुषोंकी कामना करनेके कारण किम्पुरुष, मांस खानेसे पिशाच आदि कारणोंसे ये संज्ञाएं क्यों नहीं मानते? **उत्तर**–यह सब देवोंका अवर्णवाद है। ये पवित्र वैक्रियिक शरीरके धारक होते हैं वे कभी भी अशुचि औदारिक शरीरवाले मनुष्य आदिकी कामना नहीं करते और न वे मांस मदिरादिके खानपानमें प्रवृत्त ही होते हैं। लोकमें जो व्यन्तरोंकी मांसादि ग्रहणकी प्रवृत्ति सुनी जाती है वह केवल उनकी क्रीड़ा है। वे तो मानस आहार लेते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस जम्बूद्वीपसे तिरछे असंख्य द्वीप समुद्रोंके बाद नीचे खर पृथिवी भागमें दक्षिणाधिपति किन्नरेन्द्रके असंख्यात लाख नगर हैं। इसके ४ हजार सामानिक, तीन परिषद्, सात अनीक, चार अग्रमहिषी और सोलह हजार आत्मरक्ष हैं। उत्तराधिपति किन्नरेन्द्र किम्पुरुषका भी इतना ही विभव परिवार है। शेष छह दक्षिणाधिपति–सत्पुरुष अतिकाय गीतरति पूर्णभद्र स्वरूप और कालके दक्षिण दिशामें आवास हैं। तथा उत्तराधिपति महापुरुष महाकाय गीतयश माणिभद्र अप्रतिरूप और महाकालके उत्तरदिशामें आवास हैं। राक्षसेन्द्र भीमके दक्षिण दिशामें पंकबहुल भागमें असंख्यात लाख नगर हैं और उत्तराधिपति महाभीमके उत्तरदिशामें। सोलहों व्यन्तरोंके सामानिक आदि विभव परिवार एक जैसा है। भूमितलमें भी व्यन्तर द्वीप पर्वत समुद्र देश ग्राम नगर तिगड्डा चौराहा घर गली जलाशय उद्यान देवमन्दिर आदिमें निवास करते हैं।

ज्योतिष्कोंका वर्णन–

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥१२॥

सूर्य चन्द्रमा ग्रह नक्षत्र और तारागण ये पांच प्रकारके ज्योतिष्क देव हैं।

§ १–३ प्रकाश स्वभाव होनेसे ये ज्योतिष्क कहलाते हैं। ज्योतिष् शब्दसे स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होनेपर ज्योतिष्क शब्द सिद्ध होता है। यद्यपि ज्योतिष् शब्द नपुंसक लिंग है फिर भी क प्रत्यय स्वार्थमें होनेपर पुल्लिग ज्योतिष्क शब्द बन जाता है; जैसे कुटीसे कुटीर शुण्डासे शुण्डार आदि। अर्थात् कहीं कहीं लिंग-व्यतिक्रम हो जाता है।

§ ४–१० उन उन देवगति नाम कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंके उदयसे सूर्य चन्द्र आदि संज्ञाएं रूढ़ हुई हैं। 'सूर्याचन्द्रमसौ' यहाँ 'देवताद्वन्द्वे' सूत्रसे आनङ प्रत्यय हुआ है। यह सर्वत्र नहीं होता। 'सूर्याचन्द्रमसौ' का पृथक् ग्रहण इसलिए किया है कि ये प्रभाव ज्योति आदिके कारण सबमें प्रधान हैं। सूर्यका प्रथम पाठ इसलिए किया है कि उसमें अल्प स्वर हैं और वह प्रभावशाली तथा अपनी प्रभासे सबका अभिभव करनेमें समर्थ होनेसे पूज्य भी हैं। ग्रह शब्द अल्प अच्वाला है और अभ्यर्हित है अतः उसका नक्षत्र और तारकासे पहिले ग्रहण किया है। इसी तरह तारकासे नक्षत्र अल्पाच् और अभ्यर्हित है।

इस भूमितलसे ७९० योजन ऊपर ज्योतिर्मण्डलमें सबसे नीचे तारागण हैं। उससे दश योजन ऊपर सूर्य, उससे ८० योजन ऊपर चन्द्रमा, उससे तीन योजन ऊपर नक्षत्र, उससे तीन योजन ऊपर बुध, उससे तीन योजन ऊपर शुक्र, उससे तीन योजन ऊपर बृहस्पति, उससे चार योजन ऊपर मंगल और उससे चार योजन ऊपर शनैश्चर हैं। इस तरह सम्पूर्ण ज्योतिश्चक्र ११० योजन ऊंचाई और असंख्यात द्वीपसमूह प्रमाण लम्बाईमें है।

अभिजित नक्षत्र सबसे भीतर और मूल सबसे बाहिर है। भरणी सबसे नीचे और स्वाति सबसे ऊपर है। सूर्यके विमान तपे हुए सुवर्णके समान प्रभावाले लोहित मणिमय, $४८\frac{}{६१}$ योजन लम्बे $२४\frac{}{६१}$ योजन चौड़े, आधे गोलकके आकारवाले और सोलह हजार देवों द्वारा वहन किये जाते हैं। पूर्व दक्षिण उत्तर और पश्चिम दिशामें क्रमशः चार चार हजार देव सिंह हाथी वृषभ और घोड़ेके आकारको धारण करके सूर्यके विमानमें जुते रहते हैं। इनके ऊपर सूर्य देव हैं। इनके सूर्यप्रभा सुसीमा अर्चिमालिनी और प्रभंकरा ये चार अग्रमहिषी हैं। ये प्रत्येक चार चार हजार देवियोंकी विक्रिया कर सकती हैं। सूर्य असंख्यात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लाख विमानोंके स्वामी हैं। चन्द्रविमान निर्मल मृणालवर्णके समान धवल प्रभावाले हैं। ये ५६$\frac{४८}{६१}$ योजन लंबे २८$\frac{८}{६१}$ योजन चौड़े और हजार देवों द्वारा वहन किए जाते हैं। पूर्वादिक दिशाओंमें क्रमशः सिंह हाथी घोड़ा और वृषभके रूपको धारण किए हुए चार चार हजार देव चन्द्रविमानोंमें जुते रहते हैं। इनके चन्द्रप्रभा सुसीमा अर्चिमालिनी और प्रभंकरा ये चार अग्रमहिषी चार चार हजार देवियोंकी विक्रिया करनेमें समर्थ हैं। ये असंख्यात लाख विमानोंके अधिपति हैं।

राहुके विमान अंजनमणिके समान काले, एक योजन लम्बे चौड़े और २५० धनुष विस्तारवाले हैं। नव मल्लिका कुसुमकी तरह रजतमय शुक्र विमान हैं। ये एक गव्यूत लम्बे चौड़े हैं। बृहस्पतिके विमान अंकमणिमय और सुवर्ण तथा मोतीकी समान कान्तिवाले हैं। कुछ कम गव्यूत प्रमाण लम्बे चौड़े हैं। बुधके विमान कनकमय और पीले रंगके हैं। तपे हुए सोनेके समान लालरंगके शनैश्चरके विमान हैं। लोहित मणिमय तप्त सुवर्णकी कान्तिवाले मंगलके विमान हैं। बुध आदिके विमान आधे गव्यूत लम्बे चौड़े हैं। शुक्र आदिके विमान राहुके विमान बराबर लम्बे चौड़े हैं। राहु आदिके विमानोंको चार-चार हजार देव वहन करते हैं। नक्षत्र विमानोंको भी चार हजार देव ही ढोते हैं। तारा विमानोंको दो हजार देव वहन करते हैं। राहु आदिके विमानवाहक देव चन्द्रविमानवाहक देवोंकी तरह रूपविक्रिया करते हैं। नक्षत्र विमानोंका उत्कृष्ट विस्तार एक कोश है। तारा विमानोंका जघन्य विस्तार $\frac{१}{८}$ कोश, मध्यम कुछ अधिक $\frac{१}{४}$ कोश और उत्कृष्ट $\frac{१}{२}$ गव्यूत है। ज्योतिषी विमानोंका सर्वजघन्य विस्तार ५०० धनुष है। ज्योतिषियोंके इन्द्र सूर्य और चन्द्रमा हैं। ये असंख्यात हैं।

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥१३॥

ज्योतिषी देव मनुष्यलोकमें मेरुकी प्रदक्षिणा करके नित्य भ्रमण करते हैं।

§ १ अन्य प्रकारकी गतिकी निवृत्तिके लिए 'मेरुप्रदक्षिणा' शब्द दिया है।

§ २–३ यद्यपि गति प्रतिक्षण भिन्न होनेके कारण अनित्य है फिर भी सतत गतिकी सूचनाके लिए 'नित्य' पद दिया है। तात्पर्य यह कि वे सदा चलते हैं कभी रुकते नहीं। गति भी द्रव्यदृष्टिसे नित्य होती है क्योंकि सभी पदार्थ द्रव्यदृष्टिसे नित्य और पर्यायदृष्टिसे अनित्य इस तरह अनेकान्तरूप हैं।

§ ४ 'नृलोक' ग्रहण सूचित करता है कि ढाई द्वीपके ज्योतिषी नित्यगतिवाले हैं बाहरके नहीं। गतिपरिणत आभियोग्य जातिके देवों द्वारा इनके विमान ढोए जाते हैं अतः वे नित्यगतिक हैं। इन देवोंके ऐसे ही कर्मका उदय है जिससे इन्हें विमानोंको वहन करके ही अपना कर्मफल भोगना पड़ता है। ये मेरु पर्वतसे ११ सौ योजन दूर घूमते हैं।

जम्बूद्वीपमें २ सूर्य, २ चन्द्र, ५६ नक्षत्र, १७६ ग्रह, एक कोड़ाकोड़ी लाख ३३ कोड़ाकोडी हजार ९ कोड़ाकोडी सैकड़ा ५० कोड़ाकोड़ी तारागण हैं। लवण समुद्रमें ४ सूर्य, ४ चन्द्र, ११२ नक्षत्र, ३५२ ग्रह, २ कोड़ाकोडी लाख ६७ कोड़ाकोड़ी हजार ९ सौ कोड़ाकोड़ी तारा हैं। धातकीखण्डमें १२ सूर्य, १२ चन्द्र, ३३६ नक्षत्र, १०५६ ग्रह, आठ लाख कोड़ाकोड़ी ३७ सौ कोड़ाकोड़ी तारा हैं। कालोदधिमें ४२ सूर्य, ४२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चन्द्र, ११६७ नक्षत्र, ३६९६ ग्रह, २८ कोड़ाकोड़ी लाख १२ कोड़ाकोड़ी हजार ९ कोड़ीकोड़ी सैकड़ा ५० कोड़ाकोड़ी तारा हैं। पुष्करार्धमें ७२ सूर्य, ७२ चन्द्र, २०१६ नक्षत्र, ६३३६ ग्रह, ४८ कोड़ाकोड़ी लाख २२ कोड़ाकोड़ी हजार, दो कोड़ाकोड़ी सैकड़ा तारा हैं। बाह्य पुष्करार्धमें भी इतने ही ज्योतिष्क देव हैं। पुष्कर समुद्रमें इससे चौगुनी संख्या है उससे आगे प्रत्येक द्वीप समुद्रमें दूनी दूनी है।

ताराओंका जघन्य अन्तर $\frac{१}{८}$ गव्यूत है, मध्यम ५० गव्यूत और उत्कृष्ट अन्तर एक हजार योजन है। चन्द्र और सूर्यका जघन्य अन्तर ९९६४० योजन और उत्कृष्ट अन्तर १००६६६ योजन है। जम्बूद्वीप आदिमें एक एक चन्द्रमाके ६६ हजार कोड़ाकोड़ी ९ सौ कोड़ाकोड़ी और ७५ कोड़ाकोड़ी तारा, ८८ महाग्रह और २८ नक्षत्र हैं। सूर्यके १८४ मंडल ८० सौ जम्बूद्वीपके भीतर घुसकर प्रकाशित करते हैं। इनमें ६५ आभ्यन्तर मंडल हैं तथा लवणोदधिके भीतर ३३ सौ योजन घुसकर प्रकाशित करते हैं। बाह्य मण्डल ११९ हैं। एक एक मण्डलका अन्तर दो दो योजन है। २$\frac{४८}{६१}$ योजन उदयान्तर है। सबसे भीतरी मण्डलमें सूर्य ४४८२० योजन मेरुपर्वतसे दूर सूर्य प्रकाशित होता है। इसका विस्तार ९९६४० योजन है। इस समय १८ मुहूर्तका दिन होता है। एक मुहूर्तका गतिक्षेत्र ५२५१$\frac{२९}{६०}$ योजन है। सर्व बाह्यमण्डलमें सूर्य ४५३३० योजन मेरु पर्वतसे दूर रहकर प्रकाशित होता है। इसका विस्तार १००६६० योजन है। इस समय दिनमान १२ मुहूर्त है। ५३०५$\frac{१५}{६०}$ योजन मुहूर्तगतिक्षेत्र है। उस समय ३१८३१$\frac{१}{२}$ योजनमें सूर्य दिखाई देता है।

चन्द्रमण्डल १५ हैं। द्वीपके भीतर पाँच मंडल हैं और समुद्रमें दस। १५ मंडलों के १४ अन्तर हैं। एक एक मंडलान्तरका प्रमाण ३५$\frac{३०}{६१}$–$\frac{४}{७}$ योजन है। सर्वाभ्यन्तर मंडलको १३७२५ से भाग देनेपर ५०७३$\frac{७७४४}{१३७२५}$ शेष रहता है। यह चन्द्रमण्डलकी एक मुहूर्तकी गतिका परिमाण है। सर्व बाह्यमंडलको १३७२५ से भाग देनेपर ५१२५$\frac{६९९०}{१३७२५}$ शेष रहता है। यह चन्द्रमंडलकी एक मुहूर्तकी गतिका परिमाण है। ५१० योजन सूर्य और चन्द्रका चार क्षेत्रका विस्तार है।

तत्कृतः कालविभागः ॥१४॥

ज्योतिषियोंकी गतिसे दिन रात्रि आदि कालविभाग जाना जाता है।

§ १ 'तत्' शब्दसे ज्ञात होता है कि न तो केवल गतिसे कालविभाग होता है और न केवल ज्योतिषियोंसे; क्योंकि गतिकी उपलब्धि नहीं होती और ज्योतिषियोंमें परिवर्तन नहीं होता।

§ २–४ काल दो प्रकारका है–मुख्य और व्यवहार। समय आवली आदि व्यवहार काल ज्योतिषियोंकी गतिसे गिना जाता है। यह क्रियाविशेषसे परिच्छिन्न होता है और अन्य पदार्थोंके परिच्छेदका कारण होता है।

प्रश्न–सूर्य आदिकी गतिसे पृथक् कोई मुख्य काल नहीं है, क्योंकि उसका अनुमापक लिंग नहीं पाया जाता। कलाओंके समूहको काल कहते हैं। कला अर्थात् क्रियाके भाग। आगममें पाँच ही अस्तिकाय बताए हैं अतः छठवाँ काल कोई पदार्थ नहीं है।

उत्तर–सूर्यगति आदिमें जिस कालका उपचार किया जाता है वही मुख्य काल है। मुख्यके बिना कहीं भी गौण व्यवहार नहीं होता। यदि मुख्य गौ न होती तो बोझा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होनेवालेमें गौण भी व्यवहार कैसे होता ? अतः कालका गौण व्यवहार ही वर्तना लक्षण-वाले मुख्य कालका अस्तित्व सिद्ध करता है। इसीलिए कलाओंके समूहको ही काल नहीं कहते। अस्तिकायोंमें उन द्रव्योंको गिनाया है जिनमें प्रदेशप्रचय-बहुत प्रदेश पाये जाते हैं। काल एकप्रदेशी होनेसे अस्तिकाय नहीं है। यदि कालकी सत्ता ही न होती तो वह द्रव्योंमें क्यों गिनाया जाता ?

बहिरवस्थिताः ॥१५॥

मनुष्यलोकसे बाहरके ज्योतिषी देव अवस्थित हैं।

§ १ मनुष्य-लोकसे बाहिर ज्योतिषी हैं और अवस्थित हैं, इन दोनों बातोंकी सिद्धिके लिए यह सूत्र बनाया है। यदि यह न बनाया जाता तो पहिलेके सूत्रसे 'मनुष्य-लोकमें ही ज्योतिषी हैं और वे नित्यगति हैं' यह अर्थ स्थित रह जाता है।

वैमानिकाः ॥१६॥

यहाँसे वैमानिकोंका कथन किया जाता है–

जिनमें रहनेसे विशेषतया अपनेको सुकृति मानें वे विमान, विमानोंमें रहनेवाले वैमानिक हैं। इन्द्रक श्रेणि और पुष्पप्रकीर्णकके भेदसे विमान तीन प्रकारके हैं। इन्द्रक विमान इन्द्रकी तरह मध्यमें हैं। उसकी चारों दिशाओंमें क्रमबद्ध श्रेणिविमान हैं तथा विदिशाओंमें प्रकीर्ण पुष्पकी तरह अक्रमी पुष्पप्रकीर्णक विमान हैं।

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१७॥

वैमानिकोंके दो भेद हैं–कल्पोपपन्न और कल्पातीत। इन्द्र आदि दश प्रकारकी कल्पनाएं जिनमें पाई जायं वे कल्पोपपन्न तथा जहाँ सभी 'अहमिन्द्र' हों वे कल्पातीत।

§ १ यद्यपि नव ग्रैवेयेक नव अनुदिश आदिमें नव आदि संख्याकृत कल्पना है पर 'कल्पातीत' व्यवहारमें इन्द्र आदि दश प्रकारकी कल्पनाएं ही मुख्य रूपसे विवक्षित हैं।

उपर्युपरि ॥१८॥

§ १ ये ऊपर ऊपर हैं। न तो ज्योतिषियोंकी तरह तिरछे हैं और न व्यन्तरोंकी तरह अनियत ही हैं। यहाँ 'समीप' अर्थमें उपरि शब्दका द्वित्व हुआ है। यद्यपि इनमें परस्पर असंख्यात योजनोंका व्यवधान है फिर भी दो स्वर्गोंमें अन्य किसी सजातीय-स्वर्गका व्यवधान नहीं है अतः समीपता मानकर द्वित्व कर दिया है।

§ २-५ ऊपर ऊपर कल्प अर्थात् स्वर्ग हैं। देव तो एक दूसरेके ऊपर हैं नहीं और न विमान ही क्योंकि श्रेणि और पुष्पप्रकीर्णक विमान समतलपर तिरछे फैले हुए हैं। यद्यपि पूर्व सूत्रमें 'कल्पोपपन्नाः' में 'कल्प' पद समासान्तर्गत होनेसे गौण हो गया है फिर भी विशेष प्रयोजनसे उसका यहाँ सम्बन्ध हो जाता है। जैसे 'राजपुरुषोऽयम्' यहाँ 'कस्य' प्रश्न होनेपर 'राजपुरुष' में से 'राज' का सम्बन्ध कर लिया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्र-शतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्तजयान्तपराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥

सौधर्म ऐशान आदि स्वर्ग, नवग्रैवेयक विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित और सर्वार्थ-सिद्धिमें कल्पोपपन्न और कल्पातीत विमानवासियोंका निवास है।

§ १-२ सौधर्म आदि संज्ञाएं स्वभावसे अथवा साहचर्यसे पड़ी हैं। इनके साहचर्यसे इन्द्र भी सौधर्म आदि कहलाते हैं। सुधर्मा नामकी सभा जिसमें पाई जाती है वह सौधर्म कल्प है। सौधर्म कल्पके साहचर्यसे इन्द्र भी सौधर्म कहा जाता है। ईशान नामका इन्द्र है। ईशानका निवासभूत कल्प ऐशान कहा जाता है, फिर इन्द्र भी ऐशान ही कहा जाता है। सनत्कुमार नामका इन्द्र स्वभावसे है। उसका निवासभूत कल्प सानत्कुमार कहलाता है। इन्द्र भी इसीलिए सानत्कुमार कहा जाता है। महेन्द्र नामका इन्द्र है। इसका निवासभूत कल्प माहेन्द्र और इन्द्र भी माहेन्द्र कहा जाता है। ब्रह्मा इन्द्र है। उसके निवासको ब्रह्मलोक कल्प कहते हैं तथा इन्द्र भी ब्रह्म कहलाता है। इसी तरह ब्रह्मोत्तर। लान्तव इन्द्रके निवासभूत कल्पको लान्तव कहते हैं, इन्द्र भी लान्तव कहलाता है। शुक्र इन्द्रका निवास कल्प शौक्र या शुक्र, इन्द्र भी शुक्र। शतार इन्द्रका निवासभूत कल्प शतार और इन्द्र भी शतार। इसी तरह सहस्रारमें भी। आनत इन्द्रका निवासभूत कल्प आनत और इन्द्र भी आनत। प्राणत इन्द्रका निवास प्राणत कल्प और इन्द्रका नाम भी प्राणत। आरण इन्द्रका निवास कल्प आरण और इन्द्रका नाम भी आरण। अच्युत इन्द्रका निवास अच्युत कल्प और इन्द्र भी अच्युत। लोक पुरुषके ग्रीवाकी तरह ग्रैवेयक हैं। विजयादि विमानोंकी भी इसी तरह सार्थक संज्ञाएं हैं। इनके इन्द्रोंके भी यही नाम हैं।

§ ३ सर्वार्थसिद्धि विमानमें एक ही उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर की है, प्रभाव भी सर्वार्थसिद्धिके देवोंका सर्वोत्कृष्ट है इत्यादि विशेषताओंके कारण सर्वार्थसिद्धिका पृथग् ग्रहण किया है।

§ ४-५ ग्रैवेयक आदिको कल्पातीत बतलानेके लिए उनका पृथक् ग्रहण किया है। नव शब्दको पृथक् रखनेसे नव अनुदिशकी सूचना हो जाती है। अनुदिश अर्थात् प्रत्येक दिशामें वर्तमान विमान।

§ ६-८ 'उपरि उपरि' के साथ दो दो स्वर्गोंका सम्बन्ध है। अर्थात् सौधर्म ऐशान के ऊपर सानत्कुमार माहेन्द्र आदि। सोलह स्वर्गोंमें एक एक इन्द्र है पर मध्यके ८ स्वर्गोंमें चार इन्द्र हैं। इसलिए 'आनतप्राणतयोः आरणाच्युतयोः' इन चार स्वर्गोंका पृथक् निर्देश करना सार्थक होता है। अन्यथा लाघवके लिए एक ही द्वन्द्व समास करना उचित होता।

इस भूमितलसे ९९००४० योजन ऊपर सौधर्म ऐशान कल्प हैं। उनके ३१ विमान प्रस्तार हैं। ऋतु चन्द्र विमल आदि उनके नाम हैं। मेरु पर्वतके शिखर और ऋतुविमानमें मात्र एक बालका अन्तर है। ऋतुविमानसे चारों दिशाओंमें चार विमान श्रेणियां हैं। प्रत्येकमें ६२-६२ विमान हैं। विदिशाओंमें पुष्प प्रकीर्णक हैं। प्रभा नामक इन्द्रककी श्रेणीमें अठारहवाँ विमान कल्पविमान है। उसके स्वस्तिक वर्धमान और विश्रुत नामके तीन प्राकार हैं। बाह्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकारमें अनीक और पारिषद, मध्य प्राकारमें त्रायस्त्रिंश देव और अन्तर प्राकारमें सौधर्म इन्द्र रहता है। उस विमानकी चारों दिशाओंमें चार नगर हैं। उसके ३२ लाख विमान हैं। ३३ त्रायस्त्रिंश, ८४ हजार आत्मरक्ष, तीन परिषदें, सात अनीक, ८४ हजार सामानिक, चार लोकपाल, पद्मा आदि अग्रमहिषी, ४० हजार वल्लभिकाएं हैं। इत्यादि विभूति हैं। प्रभा विमानसे उत्तरमें १८वें कल्प विमानमें ऐशान इन्द्र रहता है। इसका परिवार सौधर्मकी तरह है। इसी तरह सोलहों स्वर्गका वर्णन है।

लोकानुयोगमें चौदह इन्द्र कहे गए हैं। पर यहाँ बारह विवक्षित हैं क्योंकि ब्रह्मोत्तर कापिष्ठ महाशुक्र और सहस्रार ये चार अपने दक्षिणेन्द्रके अनुवर्ती हैं।

आरणाच्युत विमानसे सैकड़ों योजन ऊपर अधोग्रैवेयकके तीन विमान पटल हैं। फिर मध्यम ग्रैवेयक और फिर उत्तम ग्रैवेयकके विमान पटल हैं। इनके ऊपर नव अनुदिश विमानोंका एक पटल है। इनसे सैकड़ों योजन ऊपर एक सर्वार्थसिद्धि पटल है। इसमें चारों दिशाओंमें विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित तथा मध्यमें सर्वार्थसिद्धि विमान है।

सौधर्म ईशानके विमान पंचवर्णके, सानत्कुमार माहेन्द्रके कृष्णवर्णके बिना चार वर्णके, ब्रह्मादि चार स्वर्गोंके कृष्ण और नीलके बिना तीन वर्णके, शुक्रादि आठ स्वर्गोंके विमान पीले और शुक्ल वर्णके हैं। ग्रैवेयक अनुदिश और अनुत्तर विमान शुक्लवर्णके ही हैं। सर्वार्थसिद्धि विमान परम शुक्लवर्ण हैं।

देवोंकी विशेषताएं—

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥२०॥

ऊपर ऊपरके देवोंके स्थिति प्रभाव सुख द्युति लेश्या इन्द्रियविषय और अवधिविषय उत्तरोत्तर अधिक हैं।

§ १-६ अपनी देवायुके उदयसे उस पर्यायमें रहना स्थिति है। शाप और अनुग्रहकी शक्तिको प्रभाव कहते हैं। सातावेदनीयके उदयसे बाह्य विषयोंमें इष्टानुभव करना सुख है। शरीर वस्त्राभरण आदिकी कान्तिको द्युति कहते हैं। कषायसे रंगी हुई योगप्रवृत्ति लेश्या कहलाती है। लेश्याकी निर्मलता लेश्याविशुद्धि है।

§ ७-८ यहाँ इन्द्रिय और अवधिज्ञानका विषय विवक्षित है, अन्यथा ऊपर ऊपरके स्वर्गोंमें इन्द्रियोंकी संख्या अधिक समझी जाती।

§ ९ स्थिति आदि ऊपर ऊपर विमानोंके तथा प्रसारोंके देवोंमें अधिक हैं। जिन स्वर्गोंमें समस्थिति है उनमें भी विमानों और प्रस्तारोंमें ऊपर क्रमशः अधिक है। निग्रह अनुग्रह सम्बन्धी प्रभाव या शक्ति भी इसी तरह ऊपर ऊपर अधिक होती गई है। यह शक्तिकी दृष्टिसे है क्योंकि ऊपर ऊपर अल्पसंक्लेश तथा मन्द अभिमान होनेसे उसके प्रयोगका अवसर ही नहीं आता। परन्तु—

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥२१॥

गति शरीर परिग्रह और अभिमानकी दृष्टिसे ऊपर ऊपरके देव हीन हैं।

§ १-४ एक देशसे दूसरे देश जानेको गति कहते हैं। शरीर तो प्रसिद्ध है। लोभ कषायके उदयसे होनेवाले मूर्छा परिणामको परिग्रह कहते हैं। मानकषायके उदयसे अभिमान होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ ५-८ गति शब्द स्वल्प तथा अल्प अच्वाला है अतः इसका सर्वप्रथम ग्रहण किया है। शरीरके रहते ही परिग्रहसंचयकी वृत्ति होती है अतः परिग्रहसे पहिले शरीरका ग्रहण है। यद्यपि वीतरागी केवलीके शरीर रहते भी परिग्रहकी इच्छा नहीं होती पर यहाँ देवोंका प्रकरण है अतः रागादियुक्त देवोंके शरीर रहते हुए परिग्रहेच्छा अवश्यंभाविनी है। परिग्रहमूलक ही संसारमें अभिमान देखा जाता है अतः परिग्रहके बाद अभिमानका ग्रहण किया है। ये सब बातें ऊपर ऊपरके देवोंमें क्रमशः कम होती गई हैं। जिस प्रकार सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देव विषय क्रीडा आदिके निमित्त इधर उधर गमन करते हैं उस प्रकार ऊपरके देव नहीं, क्योंकि उनकी विषयाभिलाषा क्रमशः कम होती जाती है।

सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंके शरीरकी ऊंचाई ७ अरत्नि प्रमाण है। सानत्कुमार और माहेन्द्रमें छह अरत्नि, ब्रह्मलोक ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठमें पाँच अरत्नि, शुक्र महाशुक्र सतार और सहस्रारमें चार अरत्नि, आनत और प्राणतमें ३½ अरत्नि, आरण और अच्युतमें तीन अरत्नि प्रमाण है। अधोग्रैवेयकमें २½ अरत्नि, मध्य ग्रैवेयकमें २ अरत्नि, उपरिम ग्रैवेयक तथा अनुदिश विमानों १½ अरत्नि और विजयादि अनुत्तर विमानोंमें एक अरत्नि प्रमाण है। परिग्रह और अभिमान भी ऊपर ऊपर कम है।

§ ९ मन्दकषायोंकी मन्दतासे अवधिज्ञानकी विशुद्धि होती है। अवधिकी विशुद्धिसे ऊपर ऊपरके देव नारकी तिर्यञ्च और मनुष्योंके विविध प्रकारके दुखोंको बराबर देखते रहते हैं और इसीलिए उनके वैराग्यरूप परिणाम रहते हैं तथा परिग्रह और अभिमान कम रहता है।

§ १० विशुद्ध परिणामोंसे ही जीव ऊपरके देवोंमें उत्पन्न होते हैं, इसलिए भी उनमें अभिमान आदि कषायें कम रहती हैं।

तिर्यञ्च असंज्ञी पर्याप्त पंचेन्द्रिय भवनवासी और व्यन्तरोंमें उत्पन्न होते हैं। संज्ञी तिर्यञ्च मिथ्यादृष्टि और सासादनगुणस्थानवर्ती सहस्रार स्वर्ग तक, सम्यग्दृष्टी तिर्यञ्च सौधर्म आदि अच्युत पर्यन्त, असंख्यातवर्षकी आयुवाले तिर्यञ्च और मनुष्य मिथ्यादृष्टि तथा सासादनगुणस्थानवर्ती एवं अन्य तपस्वी ज्योतिषी देवों तक, ये ही सम्यग्दृष्टी सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं। संख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि भवनवासी आदि उपरिम ग्रैवेयक तक उत्पन्न होते हैं। परिव्राजक ब्रह्मस्वर्ग तक, आजीवक सहस्रार स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं। इससे ऊपर अन्यलिंगियोंकी उत्पत्ति नहीं होती। जैनलिंगधारी उत्कृष्ट तप तपनेवाले मिथ्यादृष्टियोंका अन्तिम ग्रैवेयक तक उत्पाद होता है इससे ऊपर सम्यग्दृष्टि ही उत्पन्न होते हैं। श्रावक व्रतधारियोंका सौधर्म आदि अच्युतस्वर्गपर्यन्त उत्पाद होता है।

वैमानिकोंकी लेश्याएं—

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥२२॥

दो तीन तथा शेष में पीत पद्म और शुक्ल लेश्या है।

§ १ यहाँ अलगसे लेश्याओंका कथन लघुनिर्देशके लिए है। 'पीतपद्मशुक्ललेश्याः' पदमें पीत आदिमें औत्तरपदिक ह्रस्व है जैसे भाष्यमें 'मध्यमविलम्बितयोः' पदमें है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ २–६ सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंके पीतलेश्या होती है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देवोंमें पीत और पद्म लेश्या हैं। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लान्तव और कापिष्ट इन चार स्वर्गोंमें पद्मलेश्या है तथा शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार स्वर्गके देवोंमें पद्म और शुक्ल लेश्या हैं। आनतादिकके देवोंमें शुक्ल लेश्या हैं। तथा अनुत्तर विमानोंमें परमशुक्ल लेश्या है।

§ ७–८ यद्यपि सूत्रमें शुद्ध और मिश्र दो प्रकारकी लेश्याओंका निर्देश स्पष्ट नहीं किया गया है फिर भी जिनका मिश्रण है उन एक एकका ग्रहण होनेसे मिश्रका निर्देश समझ लेना चाहिए। यद्यपि सूत्रमें द्वि त्रि और शेष ग्रहण करनेसे पीत पद्म और शुक्ल इन तीनों लेश्याओंका पृथक् पृथक् अन्वय हो जाता है फिर भी इच्छानुसार सम्बन्ध इस प्रकार कर लेना चाहिए—दो कल्प युगलोंमें पीत लेश्या है, सानत्कुमार और माहेन्द्रमें पद्म लेश्याकी विवक्षा नहीं है। ब्रह्मलोक आदि तीन युगलोंमें पद्म लेश्या है, शुक्र महाशुक्रमें सुक्ललेश्याकी विवक्षा नहीं है। शतार आदि शेषमें शुक्ल लेश्या है, पद्मलेश्याकी विवक्षा नहीं है। इस तरह आगमविरोध नहीं होता।

§ ९ अथवा 'पीतमिश्रपद्ममिश्रशुक्ललेश्या द्विद्विश्चतुश्चतुः शेषेषु' यह स्पष्टार्थक सूत्रपाठ मान लेनेसे कोई दोष नहीं रहता।

§ १० निर्देश आदि सोलह अनुयोगों द्वारा लेश्याका विशेष विवेचन इस प्रकार है—

१ निर्देश–कृष्ण नील कपोत तेज पद्म और शुक्ल। वर्ण-भौंरा मयूरकण्ठ कबूतर सुवर्ण पद्म और शंखके समान क्रमशः लेश्याओंका वर्ण है। अवान्तर तारतम्य प्रत्येक लेश्यामें अनन्त प्रकारका है।

परिणाम–असंख्यात लोक प्रदेश प्रमाण कषायोंके उदयस्थान होते हैं। उनमें नीचेसे उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य अंशोंमें संक्लेश हानिसे क्रमशः कृष्ण नील और कपोत अशुभ लेश्या रूप परिणमन होता है। इसी तरह जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट अंशोंमें विशुद्धिकी वृद्धिसे तेज पद्म और शुक्ल तीन शुभ लेश्या रूप परिणाम होते हैं। इसी तरह ऊपरसे उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य अंशोंमें विशुद्धि हानिसे शुक्ल पद्म और पीत तथा जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट अंशोंमें संक्लेशवृद्धिसे कपोत नील और कृष्णलेश्या रूप परिणमन होता है। प्रत्येक लेश्याके असंख्यात लोक प्रमाण अवान्तर परिणाम होते हैं।

संक्रमण–यदि कृष्णलेश्यावाला अधिक संक्लेश करता है तो वह कृष्णलेश्याके ही अवान्तर उत्कृष्ट आदि भेदोंमें बना रहता है। इस तरह वृद्धिमें एक ही स्वस्थान संक्रमण होता है। हानिमें स्वस्थान तथा परस्थान दोनों संक्रमण होते हैं। शुक्ल लेश्यामें विशुद्धि वृद्धिमें एक स्वस्थान संक्रमण ही होगा तथा विशुद्धि हानिमें स्वस्थान और परस्थान दोनों संक्रमण होते हैं। मध्यकी लेश्याओंमें संक्लेश और विशुद्धिकी हानि-वृद्धिसे स्वस्थान और परस्थान दोनों संक्रमण होते हैं। अनन्त भागवृद्धि आदि इनमें होती रहती है।

लेश्याकर्म–जामुन भक्षणको दृष्टान्त मानकर–पीड़से वृक्षको काटना, शाखाएं काटना, छोटी डालियाँ काटना, गुच्छे तोड़ना, पके फल तोड़ना तथा स्वयं गिरे हुए पके फल खाना इस प्रकार कृष्ण आदि लेश्याओंके आचरण समझना चाहिए।

लक्षण–दुराग्रह, उपदेशावमानन, तीव्र वैर, अति क्रोध, दुर्मुख, निर्दयता, क्लेश, ताप, हिंसा, असन्तोष आदि परम तामस भाव कृष्णलेश्याके लक्षण हैं। आलस्य, मूर्खता,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्यानिष्ठा, भीरुता, अतिविषयाभिलाष, अतिगृद्धि, माया, तृष्णा, अतिमान, वंचना, अनृत भाषण, चपलता, अतिलोभ आदि भाव नीललेश्याके लक्षण हैं। मात्सर्य, पैशुन्य, परपरिभव, आत्मप्रशंसा, परपरिवाद, जीवन नैराश्य, प्रशंसकको धन देना, युद्ध, मरणोद्यम आदि कपोत लेश्याके लक्षण हैं। दृढ़मित्रता, दयालुता, सत्यवादिता, दानशीलत्व, स्वकार्यपटुता, सर्वधर्मसमदर्शित्व आदि तेजोलेश्याके लक्षण हैं। सत्यवाक्य, क्षमा, सात्त्विकदान, पाण्डित्य, गुरु-देवतापूजनरुचि आदि पद्मलेश्याके लक्षण हैं। निर्वैर, वीतरागता, शत्रुके भी दोषों पर दृष्टि न देना, निन्दा न करना, पाप कार्योंसे उदासीनता, श्रेयोमार्ग रुचि आदि शुक्ललेश्याके लक्षण हैं।

गति–लेश्याके छब्बीस अंशोंमें मध्यके आठ अंशोमें आयुबंध होता है तथा शेष अठारह अंश गतिहेतु होते हैं। उत्कृष्ट शुक्ललेश्यावाला सर्वार्थसिद्धि जाता है। जघन्य शुक्ल लेश्यासे शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार जाता है। मध्यम शुक्ललेश्यासे आनत और सर्वार्थसिद्धिके मध्यके स्थानोंमें उत्पन्न होता है। उत्कृष्ट पद्मलेश्यासे सहस्रार, जघन्य पद्मलेश्यासे सानत्कुमार माहेन्द्र तथा मध्यम पद्मलेश्यासे ब्रह्मलोकसे शतार तक उत्पन्न होता है। उत्कृष्ट तेजोलेश्यासे सानत्कुमार माहेन्द्र कल्पके अन्तमें चक्रेन्द्रकश्रेणि विमान तक, जघन्यतेजोलेश्यासे सौधर्म ऐशानके प्रथम इन्द्रकश्रेणि विमान तक, तथा मध्य तेजोलेश्यासे चन्द्रादि इन्द्रकश्रेणि विमानसे बलभद्र इन्द्रक श्रेणि विमान तक उत्पन्न होता है। उत्कृष्ट कृष्णलेश्यांशसे सातवें अप्रतिष्ठान नरक, जघन्य कृष्णलेश्यांशसे पांचवें नरकके तमिस्रबिल तक तथा मध्य कृष्णलेश्यांशसे हिमेन्द्रकसे महारौरव नरक तक उत्पन्न होते हैं। उत्कृष्ट नीललेश्यांशसे पांचवें नरकमें अन्ध इन्द्रक तक, जघन्य नीललेश्यांशसे तीसरे नरकके तप्त इन्द्रक तक, तथा मध्यमनीललेश्यांशसे तीसरे नरकके त्रस्त इन्द्रकसे झष इन्द्रक तक उत्पन्न होते हैं। उत्कृष्ट कपोतलेश्यांशसे बालुकाप्रभाके संप्रज्वलित नरकमें, जघन्यकपोत लेश्यांशसे रत्नप्रभाके सीमंतक तक तथा मध्यमकपोत लेश्यांशसे रौरकादिकमें संज्वलित इन्द्रक तक उत्पन्न होते हैं। कृष्ण नील कपोत और तेजके मध्यम अंशोंसे भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क पृथिवी जल और वनस्पतिकायमें उत्पन्न होते हैं। मध्यम कृष्ण नील कपोत लेश्यांशोंसे तेज और वायुकायमें उत्पन्न होते हैं। देव और नारकी अपनी लेश्याओंसे तिर्यञ्च और मनुष्यगतिमें जाते हैं।

स्वामित्व–रत्नप्रभा और शर्कराप्रभामें नारकियोंके कापोत लेश्या, है बालुकाप्रभामें कापोत और नील लेश्या, पंकप्रभामें नीललेश्या धूमप्रभामें, नील और कृष्ण लेश्या, तमःप्रभामें कृष्ण लेश्या तथा महातमःप्रभामें परमकृष्ण लेश्या है। भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंके कृष्ण नील कपोत और तेजो लेश्या, एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवोंके संक्लिष्ट कृष्ण नील और कपोत लेश्या, असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चोंके संक्लिष्ट कृष्ण नील कापोत और पीतलेश्या, चारों गुण स्थानवर्ती संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्योंके छहों लेश्याएं, पांचवें छठवें तथा सातवें गुणस्थानमें तीन शुभलेश्याएं, अपूर्वकरणसे १३ वें गुणस्थान तक केवल शुक्ललेश्या होती है। अयोगकेवलियोंके लेश्या नहीं होती। सौधर्म और ऐशानमें तेजोलेश्या सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें तेज और पद्मलेश्या, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लान्तव और कापिष्ठमें पद्मलेश्या, शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रारमें पद्म और शुक्ललेश्या, आनतसे लेकर सर्वार्थसिद्धिसे पहिले केवल शुक्ललेश्या तथा सर्वार्थसिद्धिमें परमशुक्ललेश्या होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधन–द्रव्यलेश्या शरीरके रंगसे सम्बन्ध रखती है, वह नामकर्मके उदयसे होती है। भावलेश्या कषायोंके उदय क्षयोपशम उपशम और क्षयसे होती है।

संख्या–कृष्ण नील और कपोत लेश्यावाले प्रत्येकका द्रव्यप्रमाण अनन्त है, कोई प्रमाण अनन्तानन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी प्रमाण है और क्षेत्र प्रमाण अनन्तानन्त-लोक प्रमाण है। तेजोलेश्याका द्रव्य प्रमाण ज्योतिषीदेवोंसे कुछ अधिक है। पद्म-लेश्यावालोंका द्रव्यप्रमाण संज्ञीपंचेन्द्रियतिर्यञ्च योनिनियोंके संख्येयभाग है। शुक्ललेश्या-वाले पल्योपमके असंख्यातवें भाग हैं।

क्षेत्र–कृष्ण नील और कपोतलेश्यावालोंका प्रत्येकका स्वस्थान, समुद्घात तथा उपपादकी दृष्टिसे सर्वलोकक्षेत्र है। तेजोलेश्या और पद्मलेश्यावालोंका प्रत्येकका स्वस्थान,समुद्घात और उपपादकी दृष्टिसे लोकके असंख्येय भाग है। शुक्ललेश्यावालोंका स्वस्थान और उपपादकी दृष्टिसे लोकका असंख्येयभाग, समुद्घातकी दृष्टिसे लोकके असंख्येय एक भाग असंख्येय बहुभाग और सर्वलोकक्षेत्र है।

स्पर्शन–कृष्ण नील और कपोत लेश्यावालोंका स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद की दृष्टिसे सर्वलोक स्पर्शन है। तेजोलेश्यावालोंका स्वस्थानकी दृष्टिसे लोकका असंख्येयभाग तथा कुछ कम $\frac{८}{१४}$ भाग स्पर्शन है, समुद्घातका दृष्टिसे लोकका असंख्येय-भाग तथा कुछ कम $\frac{८}{१४}$ और $\frac{९}{१४}$ भाग है, उपपादकी दृष्टिसे लोकके असंख्येय भाग तथा कुछ कम $\frac{१॥}{१४}$ भाग है। पद्मलेश्यावालोंका स्वस्थान और समुद्घातसे लोकका असंख्येय भाग तथा कुछ कम $\frac{८}{१४}$ भाग है, उपपादकी दृष्टिसे लोकका असंख्येय भाग तथा कुछ कम $\frac{५}{१४}$ भाग है। शुक्ललेश्यावालोंका स्वस्थान और उपपादकी दृष्टिसे लोकका असंख्येय भाग तथा कुछ कम $\frac{६}{१४}$ भाग स्पर्शन है, समुद्घातकी दृष्टिसे लोकका असंख्येय भाग, कुछ कम $\frac{६}{१४}$ भाग, असंख्येय बहुभाग और सर्वलोक स्पर्शन है।

काल–कृष्ण नील कपोतलेश्यावालोंका प्रत्येकका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ अधिक तेतीससागर सत्रहसागर और सातसागर है। तेज पद्म और शुक्ललेश्यावालोंका प्रत्येकका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्टसे कुछ अधिक दो सागर अठारह सागर और तेतीस सागर है।

अन्तर–कृष्ण नील कपोत लेश्यावालोंका प्रत्येकका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट कुछ अधिक तेतीससागर है। तेज पद्म और शुक्ललेश्यावालोंका प्रत्येकका अन्तर जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्टसे अनन्तकाल और असंख्यात पुद्गल परिवर्तन प्रमाण है।

भाव–छहों लेश्याओंमें औदयिक भाव हैं क्योंकि शरीर नाम कर्म और मोहके उदयसे होती हैं।

अल्पबहुत्व–सबसे कम शुक्ललेश्यावाले, पद्मलेश्यावाले असंख्यातगुणे, तेजोलेश्यावाले असंख्यातगुणे, अलेश्या अनन्तगुणे, कपोतलेश्यावाले अनन्तगुणे, नीललेश्यावाले विशेष अधिक तथा कृष्णलेश्यावाले विशेष अधिक हैं।

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥२३॥

सौधर्मसे लेकर ग्रैवेयकसे पहिलेकी कल्प संज्ञा है।

§ १ यदि सौधर्म आदिके बाद ही यह सूत्र रचा जाता तो स्थिति प्रभाव आदि तीन सूत्रोंका सम्बन्ध भी कल्प विमानोंसे ही होता जब कि इनका विधान पूरे देवलोकके लिए है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ ३-कल्पोंसे अतिरिक्त ग्रैवेयक आदि कल्पातीत हैं। भवनवासी आदिको कल्पातीत इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि यहाँ 'उपर्युपरि' का अनुवर्तन होता है जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि कल्पसे ऊपर ऊपर कल्पातीत हैं। कल्पातीत 'अहमिन्द्र' कहलाते हैं क्योंकि इनमें सामानिक आदि भेद नहीं हैं।

§ ४ यद्यपि देवोंके भवनवासी पातालवासी व्यन्तर ज्योतिष्क कल्पवासी और विमानवासीके भेदसे छह प्रकार तथा पांशुतापि लवणतापि तपनतापि भवनतापि सोमकायिक यमकायिक वरुणकायिक वैश्रवणकायिक पितृकायिक अनलकायिक रिष्टक अरिष्ट और संभव ये बारह प्रकारवाले आकाशोपपन्नको मिलाकर सात प्रकार हो सकते हैं; फिर भी इन सबका चारों निकायोंमें उसी तरह अन्तर्भाव हो जाता है जैसे कि लौकान्तिक देवोंका कल्पवासियोंमें। पातालवासी और आकाशोपपन्न व्यन्तरोंमें और कल्पवासियोंका वैमानिकोंमें अन्तर्भाव हो जाता है अतः चारसे अतिरिक्त निकाय नहीं हैं।

लौकान्तिकोंका वर्णन–

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥२४॥

§ १-२ जिसमें प्राणिगण रहें उसे आलय कहते हैं। लौकान्तिकोंका आलय ब्रह्मलोक है। सभी ब्रह्मलोकवासियोंको लौकान्तिक नहीं कह सकते क्योंकि 'लौकान्तिकाः' पदसे 'लोकान्त' निकाल लेते हैं। इससे यह अर्थ फलित होता है कि ब्रह्मलोकके अन्तमें रहनेवाले लौकान्तिक हैं अथवा जन्मजरामरणसे व्याप्त लोक संसारका अन्त करना जिनका प्रयोजन है वे लौकान्तिक हैं। ये निकटसंसारी हैं। वहाँसे च्युत होकर मनुष्य पर्यायको प्राप्त कर नियमसे मोक्ष चले जाते हैं।

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥२५॥

§ १ पूर्व उत्तर आदि दिशाओंमें यथाक्रम सारस्वत आदि देवोंका निवास है। अरुण समुद्रके मध्यसे एक तमस्कन्ध मूलमें असंख्यात योजनका विस्तृत तथा मध्य और अन्तमें क्रमशः घटकर संख्यात योजन विस्तारवाला है। यह अत्यन्त तीव्र अन्धकार रूप तथा समुद्रकी तरह गोल है। यह तमस्कन्ध अरिष्ट विमानके नीचे स्थित है। इससे आठ अन्धकार राशियाँ निकलती हैं जो अरिष्ट विमानके आसपास हैं। चारों दिशाओंमें दो-दो करके तिर्यक्लोक तक आठ हैं। इनके अन्तरालमें सारस्वत आदि लौकान्तिक हैं। पूर्व और उत्तरके कोणमें सारस्वत, पूर्वमें आदित्य, पूर्वदक्षिण कोणमें वह्नि, दक्षिणमें अरुण, दक्षिण पश्चिममें गर्दतोय, पश्चिममें तुषित, उत्तर पश्चिममें अव्याबाध और उत्तरमें अरिष्ट विमान है।

§ ३ दो दो लौकान्तिकोंमें अग्न्याभ सूर्याभ आदि १६ लौकान्तिक और भी हैं। सारस्वत और आदित्यके बीचमें अग्न्याभ और सूर्याभ, आदित्य और वह्निके अन्तरालमें चन्द्राभ और सत्याभ, वह्नि और अरुणके बीचमें श्रेयस्कर और क्षेमंकर, अरुण और गर्दतोयके अन्तरालमें वृषभेष्ट और कामचर, गर्दतोय और तुषितके बीचमें निर्माणरज और दिगन्तरक्षित, तुषित और अव्याबाधके बीचमें आत्मरक्षित और सर्वरक्षित, अव्याबाध और अरिष्टके बीचमें मरुत् और वसु तथा अरिष्ट और सारस्वतके बीच अश्व और विश्व हैं। इन नामोंके विमान हैं। इनमें रहनेवाले लौकान्तिक देव भी इसी नामसे व्यवहृत होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इनकी संख्या इस प्रकार है-सारस्वत-७००, आदित्य ७००, वह्नि, ७००७, अरुण ७००७, गर्दतोय ९००९, तुषित ९००९, अव्याबाध ११०११, अरिष्ट ११०११, अग्न्याभ ७००७, सूर्याभ ९००९, चन्द्राभ ११०११, सत्याभ १३०१३, श्रेयस्कर १५०१५, क्षेमंकर १७०१७, वृषभेष्ट १९०१९, कामवर २१०२१, निर्माणरज २३०२३, दिगन्तरक्षित २५०२५, आत्मरक्षित २७०२७, सर्वरक्षित २९०२९, मरुत् ३१०३१, वसु ३३०३३, अश्व ३५०३५, विश्व ३७०३७। इस तरह इन चालीस लौकान्तिकोंकी समग्र संख्या ४०७८६। ये सभी स्वतन्त्र हैं। विषयविरक्त होनेसे देवर्षि कहे जाते हैं। ये चौदह पूर्वके पाठी, ज्ञानोपयोगी, संसारसे उद्विग्न, अनित्य आदि भावनाओंको भानेवाले, अति विशुद्ध सम्यग्दृष्टि होते हैं। तीर्थङ्करोंकी दीक्षाके समय उन्हें प्रतिबोध देने आते हैं। नामकर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ असंख्यात हैं। उन्हींके उदयसे संसारी जीवोंके अनेक प्रकारकी शुभ-अशुभ संज्ञाएँ होती हैं।

यह अष्टकर्ममय संसार सामान्यतया भव्य और अभव्य दोनों ही प्रकारके जीवोंके अनादि अनन्त है। जो मोहका उपशम या क्षय करनेके लिए उद्यत हैं उन सम्यग्दृष्टियोंके उत्कृष्टसे ७-८ भव तथा जघन्यसे २-३ भवमें संसारका उच्छेद हो जाता है। जो सम्यक्त्वसे च्युत हो गए हैं उनका कोई नियम नहीं।

विजयादिषु द्विचरमाः ॥२६॥

§ १ आदि शब्द प्रकारार्थक है, अर्थात् विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित और अनुदिश विमानोंमें द्विचरम होते हैं। इनमें एकप्रकारता इसलिए है कि सभी पूर्व सम्यग्दृष्टि और अहमिन्द्र हैं। सर्वार्थसिद्धि नामसे ही सूचित होता है कि वहाँके देव सर्वोत्कृष्ट हैं और एकचरम हैं।

§ २-४ द्विचरमत्व मनुष्यदेहकी अपेक्षा है, अर्थात् विजयादिकसे च्युत होकर सम्यग्दर्शनको कायम रखते हुए मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं फिर संयमकी आराधना कर विजयादिकमें उत्पन्न होते हैं। फिर च्युत होकर मनुष्यभव धारण कर मुक्त हो जाते हैं। इस तरह मनुष्यभवकी अपेक्षा द्विचरमत्व है वैसे तो दो मनुष्यभव तथा एक देवभव मिलाकर त्रिचरम गिने जा सकते हैं। चूंकि मनुष्य पर्यायसे ही मोक्षलाभ होता है अतः मनुष्यदेहकी अपेक्षा ही चरमत्व गिना जा सकता है। यद्यपि चरम शब्द अन्त्यवाची है अतः एक ही चरम हो सकता है परन्तु चरमके पासका अव्यवहित पूर्वका मनुष्यभव भी उपचारसे चरम कहा जा सकता है। देवभवके व्यवधान अव्यवधानका विचार मोक्षके प्रकरणमें नहीं होता क्योंकि मोक्ष मनुष्य पर्यायसे ही होता है।

§ ५ प्रश्न-आगममें अन्तर प्रकरणमें अनुदिश अनुत्तर और विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित विमानवासियोंका जघन्य अन्तर वर्षपृथक्त्व तथा उत्कृष्ट अन्तर कुछ अधिक दो सागर बताया है। इसका यह अर्थ है कि मनुष्योंमें उत्पन्न होकर आठ वर्ष संयमकी आराधना कर अन्तर्मुहूर्तमें फिर विजयादिमें उत्पन्न हो जाते हैं इस तरह जघन्यसे वर्षपृथक्त्व अन्तर है। कुछ विजयादिकसे च्युत होकर मनुष्यभवसे सौधर्म ऐशान कल्पमें जाते हैं फिर मनुष्य होकर विजयादिमें जाते हैं इनके दो सागरसे कुछ अधिक उत्कृष्ट अन्तर होता है। इस अपेक्षा मनुष्यके तीन भव हो जानेसे द्विचरमत्व नहीं रहता ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर-आगममें उक्त कथन प्रश्न विशेषकी अपेक्षासे है। गौतमने भगवान्से यह प्रश्न किया कि विजयादिकमें देव मनुष्य पर्याय को प्राप्त कर कितनी गति आगति विजयादिकमें करते हैं ? इसके उत्तरमें भगवान्ने व्याख्याप्रज्ञप्तिदंडकमें कहा कि आगतिकी दृष्टिसे जघन्यसे एक भव तथा गति आगतिकी अपेक्षा उत्कृष्टसे दो भव। सर्वार्थसिद्धिसे च्युत होनेवाले मनुष्य-पर्यायमें आते हैं तथा उसी पर्यायसे मोक्षलाभ करते हैं। विजयादिके देव लौकान्तिककी तरह एकभविक नहीं हैं किन्तु द्विभविक हैं। इसमें बीचमें यदि कल्पान्तरमें उत्पन्न हुआ है तो उसकी विवक्षा नहीं है।

तिर्यञ्चोंका वर्णन--

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥२७॥

औपपादिक-देव और नारकी तथा मनुष्योंके सिवाय अन्य संसारी तिर्यञ्च हैं। यद्यपि मनुष्य शब्दका अल्पस्वरवाला होनेसे पहिले प्रयोग होना चाहिए था परन्तु चूंकि औपपादिकोंमें अन्तर्गत देव स्थिति प्रभाव आदिकी दृष्टिसे बड़े और पूज्य हैं अतः औपपादिक शब्दका ही पूर्वप्रयोग किया गया है।

§ १-२ औपपादिक-देव नारकी और मनुष्योंसे बचे शेष प्राणी तिर्यञ्च हैं। संसारी जीवोंका प्रकरण होनेसे सिद्धोंमें तिर्यञ्चत्वका प्रसङ्ग नहीं आता।

§ ३-७ तिरोभाव अर्थात् नीचे रहना-बोझा ढोनेके लायक। कर्मोदयसे जिनमें तिरोभाव प्राप्त हो वे तिर्यग्योनि हैं। इसके त्रस स्थावर आदि भेद पहिले बतलाये जा चुके हैं। तिर्यञ्चोंका आधार सर्वलोक है वे देवादिकी तरह निश्चित स्थानोंमें नहीं रहते। तिर्यञ्च सूक्ष्म और बादरके भेदसे दो प्रकारके हैं। सूक्ष्म पृथिवी अप् तेज और वायुकायिक सर्वलोकव्यापी हैं पर बादर पृथिवी अप् तेज वायु विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय लोकके कुछ भागोंमें पाये जाते हैं। चूंकि तीनों लोक ही सूक्ष्म तिर्यञ्चोंका आधार है अतः तीन लोकके वर्णनके बाद ही यहाँ उनका निर्देश किया है, द्वितीय अध्यायमें नहीं, और यहीं शेष शब्दका यथार्थ बोध भी हो सकता है क्योंकि नारक देवों और मनुष्योंके निर्देशके बाद ही शेषका अर्थ समझमें आ सकता है।

देवोंकी स्थिति--

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्धहीनमिताः ॥२८॥

असुरकुमारोंकी एक सागर, नागकुमारोंकी तीन पल्य, सुपर्णकुमारोंकी २॥ पल्य, द्वीपकुमारोंकी २ पल्य तथा शेष छह कुमारोंकी १॥ पल्य उत्कृष्ट स्थिति हैं।

सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ॥२९॥

सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें कुछ अधिक दो सागर स्थिति है। 'अधिके' यह अधिकार सहस्रार स्वर्गतक चालू रहेगा।

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥३०॥

सागर और अधिक पदका अनुवर्तन पूर्वसूत्रसे हो जाता है। अतः सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें कुछ अधिक सात सागर स्थिति समझनी चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु ॥३१॥

सातका तीन आदिके साथ सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिए। 'तु' शब्द सूचित करता है कि 'अधिक' का सम्बन्ध सहस्रार तक ही करना चाहिए। अर्थात्–ब्रह्म ब्रह्मोत्तरमें कुछ अधिक दश सागर, लान्तव कापिष्ठमें कुछ अधिक चौदह सागर, शुक्र महाशुक्रमें कुछ अधिक सोलह सागर, शतार सहस्रारमें कुछ अधिक १८ सागर, आनत प्राणतमें २० सागर, आरण अच्युतमें २२ सागर उत्कृष्ट स्थिति है। इस 'तु' शब्दसे ही 'अधिक' का अन्वय सहस्रार स्वर्ग तक ही होता है।

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च ॥३२॥

§ १-४ 'अधिक ग्रहण' की अनुवृत्ति आ रही है अतः 'एक एक अधिक' यह अर्थ कर लेना चाहिए। ग्रैवेयक और विजयादि का पृथक् ग्रहण करने से अनुदिशोंका संग्रह हो जाता है। 'नव' शब्द देनेसे प्रत्येक में 'एक अधिक' का सम्बन्ध हो जाता है। 'सर्वार्थसिद्ध' का पृथक् ग्रहण करनेसे सूचित होता है कि उसमें एक ही उत्कृष्ट स्थिति है, विजयादिकी तरह जघन्य और उत्कृष्ट विकल्प नहीं है। तात्पर्य यह कि अधो ग्रैवेयकोंमें पहिले ग्रैवेयकमें २३ सागर, दूसरेमें २४ सागर तथा तीसरेमें २५ सागर; मध्यम ग्रैवेयकके प्रथम ग्रैवेयकमें २६ सागर, दूसरेमें २७ तथा तृतीयमें २८; उपरिम ग्रैवेयकके प्रथम ग्रैवेयकमें २९ सागर, द्वितीयमें ३० तथा तृतीयमें ३१ सागर उत्कृष्ट स्थिति है। अनुदिश विमानोंमें ३२ तथा विजयादि और सर्वार्थसिद्धिमें ३३ सागर हैं। सर्वार्थसिद्धिमें केवल उत्कृष्ट ही स्थिति ३३ सागर है।

अपरा पल्योपममधिकम् ॥३३॥

सौधर्म और ऐशान स्वर्गकी जघन्य स्थिति कुछ अधिक एक पल्य है। आगेके सूत्रोंमें भवनवासी आदि तथा सानत्कुमार आदिकी जघन्य स्थिति बताई जायगी। अतः ज्ञात होता है कि इस सूत्रमें सौधर्म और ऐशानकी ही स्थिति बतायी जा रही है।

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ॥३४॥

पूर्व-पूर्वकी उत्कृष्ट स्थिति आगे आगे जघन्य हो जाती है।

§ १-३ 'अधिक' की अनुवृत्ति हो जाती है। सौधर्म और ऐशानकी जो दो सागरसे कुछ अधिक उत्कृष्ट स्थिति है वही कुछ अधिक होकर सानत्कुमार और माहेन्द्रमें जघन्य हो जाती है। सानत्कुमार और माहेन्द्रकी जो कुछ अधिक सात सागर उत्कृष्ट स्थिति है वही कुछ अधिक होकर ब्रह्म ब्रह्मोत्तरमें जघन्य हो जाती है। सर्वार्थसिद्धका पृथक् ग्रहण करनेसे यही सूचित होता है कि यह जघन्य स्थितिका क्रम विजयादि तक ही चलता है। यद्यपि पूर्वशब्दसे 'पहिलेकी स्थिति' का ग्रहण हो सकता है फिर भी चूँकि पूर्वशब्दका प्रयोग 'मथुरासे पूर्वमें पटना है' इत्यादि स्थलोंमें व्यवहितमें भी देखा जाता है अतः 'अव्यवहित' का सम्बन्ध करनेके लिए 'अनन्तर' शब्दका प्रयोग किया गया है।

सरल उपायसे नारकियोंकी जघन्य स्थितिका निरूपण–

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

च शब्दसे पूर्वसूत्रमें सूचित क्रमका सम्बन्ध हो जाता है। अतः रत्नप्रभाकी जो एक सागर उत्कृष्ट स्थिति है वह शर्कराप्रभामें जघन्य होती है। इसी प्रकार आगे भी।

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥३६॥

प्रथम नरककी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है।

भवनेषु च ॥३७॥

भवनवासियोंकी भी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है।

व्यन्तराणां च ॥३८॥

इसी तरह व्यन्तरोंकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है।

व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति पहिले इसीलिए नहीं कही गई कि यदि उत्कृष्ट स्थिति पहिले कही जाती तो जघन्य स्थितिके निर्देशके लिए फिरसे 'दशवर्षसहस्राणि' सूत्र बनाना पड़ता।

परा पल्योपममधिकम् ॥३९॥

व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति एक पल्यसे कुछ अधिक है।

ज्योतिष्काणां च ॥४०॥

ज्योतिषियोंकी भी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पल्य है।

तदष्टभागोऽपरा ॥४१॥

ज्योतिषियोंकी जघन्य स्थिति पल्यके आठवें भाग प्रमाण है।

§ १-९ चन्द्रकी उत्कृष्ट स्थिति एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य, सूर्यकी एक एक हजार वर्ष अधिक एक पल्य, शुक्रकी एक सौ वर्ष अधिक एक पल्य तथा बृहस्पतिकी पूर्ण एक पल्य है। शेष बुध आदि ग्रहोंकी और नक्षत्रोंकी आधे पल्य प्रमाण स्थिति है। तारागणकी पल्यका चौथा भाग उत्कृष्ट स्थिति है। तारा और नक्षत्रोंकी जघन्य स्थिति पल्यके आठवें भाग है। सूर्य आदिकी जघन्य स्थिति पल्यके चौथाई भाग प्रमाण है।

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥४२॥

§ १ सभी लौकान्तिकोंकी दोनों प्रकारकी स्थिति आठ सागर प्रमाण है।

§ २ जीव पदार्थका व्याख्यान हुआ।

§ ३ वह एक होकर भी अनेकात्मक है क्योंकि–

§ ४ वह अभावसे विलक्षण है। 'अभूत' 'नहीं है' आदि अभावमें कोई भेद नहीं पाया जाता पर भावमें तो अनेक धर्म और अनेक भेद पाये जाते हैं। भावमें ही जन्म, सद्भाव, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय और विनाश देखे जाते हैं। बाह्य आभ्यन्तर दोनों निमित्तोंसे आत्मलाभ करना जन्म है, जैसे मनुष्यगति आदिके उदयसे जीव मनुष्य पर्यायरूपसे उत्पन्न होता है। आयु आदि निमित्तोंके अनुसार उस पर्यायमें बने रहना सद्भाव या स्थिति है। पूर्वस्वभावको कायम रखते हुए अधिकता हो जाना वृद्धि है। क्रमशः एक देशका जीर्ण होना अपक्षय है। उस पर्यायकी निवृत्तिको विनाश कहते हैं। इस तरह पदार्थोंमें अनन्तरूपता

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

होती है। अथवा सत्त्व ज्ञेयत्व द्रव्यत्व अमूर्तत्व अतिसूक्ष्मत्व अवगाहनत्व असंख्येयप्रदेशत्व अनादिनिधनत्व और चेतनत्व आदिकी दृष्टिसे जीव अनेक रूप है।

§ ५ अनेक शब्द और अनेक ज्ञानका विषय होनेसे। जिस पदार्थमें जितने शब्दों का प्रयोग होता है उसमें उतनी ही वाच्य-शक्तियाँ होती हैं तथा वह जितने प्रकारके ज्ञानोंका विषय होता है उसमें उतनी ही ज्ञेय शक्तियाँ होती हैं। शब्द प्रयोगका अर्थ है प्रतिपादन क्रिया। उसके साधन दोनों ही हैं–शब्द और अर्थ। एक ही घटमें घट पार्थिव मार्तिक-मिट्टीसे बना हुआ, सत्, ज्ञेय, नया, बड़ा आदि अनेकों शब्दोंका प्रयोग होता है तथा इन अनेक ज्ञानोंका विषय होता है। अतः जैसे घड़ा अनेकान्त रूप है। उसी तरह आत्मा भी अनेक धर्मात्मक है।

§ ६ अनेक शक्तियोंका आधार होनेसे। जैसे घी चिकना है, तृप्ति करता है, उपबृंहण करता है अतः अनेक शक्तिवाला है अथवा, जैसे घड़ा जल-धारण आहरण आदि अनेक शक्तियोंसे युक्त है उसी तरह आत्मा भी द्रव्य क्षेत्र काल और भावके निमित्तसे अनेक प्रकारकी वैभाविक पर्यायोंकी शक्तियोंको धारण करता है।

§ ७ जिस प्रकार एक ही घड़ा अनेक सम्बन्धियोंकी अपेक्षा पूर्व पश्चिम, दूर पास, नया पुराना, समर्थ असमर्थ, देवदत्त कृत चैत्रस्वामिक, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभागादिके भेदसे अनेक व्यवहारोंका विषय होता है उसी तरह अनन्त सम्बन्धियोंकी अपेक्षा आत्मा भी उन उन अनेक पर्यायोंको धारण करता है। अथवा, जैसे अनन्त पुद्गल सम्बन्धियोंकी अपेक्षा एक ही प्रदेशिनी अंगुली अनेक भेदोंको प्राप्त होती है उसी तरह जीव भी कर्म और नोकर्म विषय उपकरणोंके सम्बन्धसे जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणास्थान, दंडी, कुंडली आदि अनेक पर्यायोंको धारण करता है। प्रदेशिनी अंगुलीमें मध्यमाकी अपेक्षा जो भिन्नता है वही अनामिकाकी अपेक्षा नहीं है, प्रत्येकपर रूपका भेद जुदा-जुदा है। मध्यमाने प्रदेशिनीमें ह्रस्वत्व उत्पन्न नहीं किया, अन्यथा शशविषाणमें भी उत्पन्न हो जाना चाहिए था, और न स्वतः ही था, अन्यथा मध्यमाके अभावमें भी उसकी प्रतीति हो जानी चाहिए थी। तात्पर्य यह कि अनन्त परिणामी द्रव्य ही उन-उन सहकारी कारणोंकी अपेक्षा उन उन रूपसे व्यवहारमें आता है।

§ ८ जिस प्रकार एक ही घड़ेके रूपादि गुणोंमें अन्यद्रव्योंके रूपादि गुणोंकी अपेक्षा एक दो तीन चार संख्यात असंख्यात आदि रूपसे तरतम भाव व्यक्त होता है और इसलिए वह अनेक है उसी तरह जीवमें भी अन्य आत्माओंकी अपेक्षा क्रोधादिके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी तरतमता होती है। अन्य सहकारियोंकी अपेक्षा वैसे क्रोधादि परिणाम अभिव्यक्त होते रहते हैं।

§ ९ जैसे मिट्टी आदि द्रव्य प्रध्वंसरूप अतीतकाल, संभावनारूप भविष्यत् काल तथा क्रिया सातत्यरूप वर्तमानकालके भेदसे उन उन कालोंमें अनेक पर्यायोंको प्राप्त होता है, उसीतरह जीव भी अनादि अतीतकाल, संभावनीय अनागत और वर्तमान अर्थपर्याय व्यञ्जनपर्यायोंसे अनन्तरूपको धारण करता है। यदि वर्तमान मात्र माना जाय तो पूर्व और उत्तरकी रेखा न होनेसे वर्तमानका भी अभाव हो जायगा।

§ १० अनन्तकाल और एककालमें अनन्त प्रकारके उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे युक्त होनेके कारण आत्मा अनेकान्तरूप है। जैसे घड़ा एक कालमें द्रव्य दृष्टिसे पार्थिव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूपमें उत्पन्न होता है जलरूपमें नहीं, देश दृष्टिसे यहाँ उत्पन्न होता है पटना आदिमें नहीं, कालदृष्टिसे वर्तमानकालमें उत्पन्न होता है अतीत-अनागतमें नहीं, भावदृष्टिसे बड़ा उत्पन्न होता है छोटा नहीं। यह उत्पाद अन्य सजातीय घट, किंचित् विजातीय घट, पूर्ण विजातीय पटादि तथा द्रव्यान्तर आत्मा आदिके अनन्त उत्पादोंसे भिन्न है अतः उतने ही प्रकारका है। इसी प्रकार उस समय उत्पन्न नहीं होनेवाले द्रव्योंकी ऊपर नीची तिरछी लम्बी चौड़ी आदि अवस्थाओंसे भिन्न वह उत्पाद अनेक प्रकारका है। अनेक अवयववाले मिट्टीके स्कन्धसे उत्पन्न होनेके कारण भी उत्पाद अनेक प्रकारका है। इसी तरह जल-धारण आहरण हर्ष भय शोक परिताप आदि अनेक अर्थक्रियाओंमें निमित्त होनेसे उत्पाद अनेक तरहका है। उसी समय उतने ही प्रतिपक्षभूत व्यय होते हैं। जब तक पूर्व पर्यायका विनाश नहीं होगा तब तक नूतनके उत्पादकी संभावना नहीं है। उत्पाद और विनाशकी प्रतिपक्षभूत स्थिति भी उतने ही प्रकारकी है। जो स्थित नहीं है उसके उत्पाद और व्यय नहीं हो सकते। 'घट' उत्पन्न होता है' इस प्रयोगको वर्तमान तो इसलिए नहीं मान सकते कि अभी तक घड़ा उत्पन्न ही नहीं हुआ है, उत्पत्तिके बाद यदि तुरन्त विनाश मान लिया जाय तो सद्भावकी अवस्थाका प्रतिपादक कोई शब्द ही प्रयुक्त नहीं होगा, अतः उत्पादमें भी अभाव और विनाशमें भी अभाव, इस तरह पदार्थका अभाव ही होनेसे तदाश्रित व्यवहारका लोप हो जायगा। अतः पदार्थमें उत्पद्यमानता उत्पन्नता और विनाश ये तीन अवस्थाएँ माननी ही होंगी। इसी तरह एक जीवमें भी द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयकी विषयभूत अनन्त शक्तियाँ तथा उत्पत्ति विनाश स्थिति आदि रूप होनेसे अनेकान्तात्मकता समझनी चाहिए।

§ ११ अन्वय व्यतिरेक रूप होनेसे भी। जैसे एक ही घड़ा सत् अचेतन आदि सामान्य रूपसे अन्वयधर्मका तथा नया पुराना आदि विशेष रूपसे व्यतिरेक धर्मका आधार होता है उसी तरह आत्मा भी सामान्य और विशेष धर्मोंकी अपेक्षा अन्वय और व्यतिरेकात्मक है। अनुगताकार बुद्धि और अनुगताकार शब्द प्रयोगके विषयभूत स्वास्तित्व आत्मत्व ज्ञातृत्व द्रष्टृत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व अमूर्तत्व असंख्यातप्रदेशत्व अवगाहनत्व अतिसूक्ष्मत्व अगुरुलघुत्व अहेतुकत्व अनादि सम्बन्धित्व ऊर्ध्वगतिस्वभाव आदि अन्वय धर्म हैं। व्यावृत्ताकार बुद्धि और शब्द प्रयोगके विषयभूत परस्पर विलक्षण उत्पत्ति स्थिति विपरिणाम वृद्धि ह्रास क्षय विनाश गति इन्द्रिय काय योग वेद कषाय ज्ञान दर्शन संयम लेश्या सम्यक्त्व आदि व्यतिरेक धर्म हैं।

§ १२–१३ इस अनेकान्तात्मक जीवका कथन शब्दोंसे दो रूपमें होता है–एक क्रमिक और दूसरा यौगपद्य रूपसे। तीसरा कोई प्रकार नहीं है। जब अस्तित्व आदि अनेक धर्म कालादिकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न विवक्षित होते हैं उस समय एक शब्दमें अनेक अर्थोंके प्रतिपादनकी शक्ति न होनेसे क्रमसे प्रतिपादन होता है। इसे विकलादेश कहते हैं। परन्तु जब उन्हीं अस्तित्वादि धर्मोंकी कालादिककी दृष्टिसे अभेद विवक्षा होती है तब एक भी शब्दके द्वारा एकधर्ममुखेन तादात्म्यरूपसे एकत्वको प्राप्त सभी धर्मोंका अखंड भावसे युगपत् कथन हो जाता है। यह सकलादेश कहलाता है। विकलादेश नयरूप हैं और सकलादेश प्रमाण रूप। कहा भी है–सकलादेश प्रमाणाधीन है और विकलादेश नयाधीन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ १४ एक गुणरूपसे संपूर्ण वस्तुधर्मोंका अखंडभावसे ग्रहण करना सकलादेश है। जिस समय एक अभिन्न वस्तु अखंडरूपसे विवक्षित होती है उस समय वह अस्तित्वादि धर्मोंका अभेदवृत्ति या अभेदोपचार करके पूरीकी पूरी एक शब्दसे कही जाती है यही सकलादेश है। द्रव्यार्थिकनयसे धर्मोंमें अभेद है तथा पर्यायार्थिककी विवक्षामें भेद होनेपर भी अभेदोपचार कर लिया जाता है।

§ १५ इस सकलादेशमें प्रत्येक धर्मकी अपेक्षा सप्तभंगी होती है। १ स्यात् अस्त्येव जीवः २ स्यात् नास्त्येव जीवः ३ स्यात् अवक्तव्य एव जीवः ४ स्यात् अस्ति च नास्ति च ५ स्यात् अस्ति च अवक्तव्यश्च ६ स्यात् नास्ति च अवक्तव्यश्च ७ स्यात् अस्ति नास्ति च अवक्तव्यश्च। कहा भी है--

"प्रश्नके वशसे सात ही भंग होते हैं। वस्तु सामान्य और विशेष उभय धर्मोंसे युक्त हैं।"

'स्यात् अस्त्येव जीवः' इस वाक्यमें जीव शब्द विशेष्य है द्रव्यवाची है और 'अस्ति' शब्द विशेषण है गुणवाची है। उनमें विशेषण विशेष्यभाव द्योतनके लिए 'एव' का प्रयोग है। इससे इतर धर्मोंकी निवृत्तिका प्रसंग होता है, अतः उन धर्मोंका सद्भाव द्योतन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया गया है। 'स्यात्' शब्द तिङन्तप्रतिरूपक निपात है। इसके अनेकान्त विधि विचार आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं परन्तु विवक्षा-वश यहाँ 'अनेकान्त' अर्थ लिया जाता है। यद्यपि 'स्यात्' शब्दसे सामान्यतया अनेकान्तका द्योतन हो जाता है फिर भी विशेषार्थी विशेष शब्दका प्रयोग करते हैं जैसे 'वृक्ष' कहनेसे धव खदिर आदिका ग्रहण हो जाने पर भी धव खदिर आदिके इच्छुक उन-उन शब्दोंका प्रयोग करते हैं। अथवा 'स्यात्' शब्द अनेकान्तका द्योतक होता है। जो द्योतक होता है वह किसी वाचक शब्दके द्वारा कहे गये अर्थका ही द्योतन कर सकता है अतः उसके द्वारा प्रकाश्य धर्मकी सूचनाके लिए इतर शब्दोंका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न--यदि 'स्यात् अस्त्येव जीवः' यह वाक्य सकलादेशी है तो इसीसे जीवद्रव्यके सभी धर्मोंका संग्रह हो ही जाता है, तो आगेके भंग निरर्थक हैं ?

उत्तर--गौण और मुख्य विवक्षासे सभी भंगों की सार्थकता है। द्रव्यार्थिक की प्रधानता तथा पर्यायार्थिक की गौणतामें प्रथम भंग सार्थक है और द्रव्यार्थिक की गौणता और पर्यायार्थिक की प्रधानतामें द्वितीय भंग। यहाँ प्रधानता केवले शब्द प्रयोगकी है, वस्तु तो सभी भंगोंमें पूरी ही ग्रहण की जाती है। जो शब्दसे कहा नहीं गया है अर्थात् गम्य हुआ है वह यहाँ अप्रधान है। तृतीय भंगमें युगपत् विवक्षा होनेसे दोनों ही अप्रधान हो जाते हैं क्योंकि दोनोंको प्रधान भावसे कहने वाला कोई शब्द नहीं है। चौथे भंगमें क्रमशः उभय प्रधान होते हैं। यदि अस्तित्वै-कान्तवादी 'जीव एव अस्ति' ऐसा अवधारण करते हैं तो अजीवके नास्तित्वका प्रसंग आता है अतः 'अस्त्येव' यहीं एवकार दिया जाता है। 'अस्त्येव' कहनेसे पुद्गलादिकके अस्तित्वसे भी जीवका अस्तित्व व्याप्त हो जाता है अतः जीव और पुद्गलमें एकत्वका प्रसंग होता है। 'अस्तित्व सामान्यसे जीवका सम्बन्ध होगा अस्तित्व विशेषसे नहीं, जैसे 'अनित्यमेव कृतकम्' कहनेसे अनित्यत्वके अभावमें कृतकत्व नहीं होता ऐसा अवधारण करने पर भी सब प्रकारके अनित्यत्वसे सब प्रकारके कृतकत्वकी व्याप्ति नहीं होती किन्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनित्यत्व सामान्यसे ही होती है न कि रथ घट पट आदिके अनित्यत्व विशेषसे।' यह समाधान प्रस्तुत करने पर तो यही फलित होता है कि आप स्वयं अवधारणकी निष्फलता स्वीकार कर रहे हैं। 'स्वगत विशेषसे अनित्यत्व है' इसका स्पष्ट अर्थ है कि परगत विशेषसे अनित्यत्व नहीं है। फिर तो 'अनित्यं कृतकम्' ऐसा विना अवधारणका वाक्य कहना चाहिए। ऐसी दशामें अनित्यत्वका अवधारण न होनेसे नित्यत्वका भी प्रसंग प्राप्त होता है। इसी तरह आप यदि 'अस्तित्व सामान्यसे जीव 'स्यादस्ति' है पुद्गलादिगत अस्तित्व विशेषसे नहीं' यह स्वीकार करते हैं तो यह स्वयं मान रहे हैं कि दो प्रकारका अस्तित्व है–एक सामान्य अस्तित्व और दूसरा विशेष अस्तित्व। ऐसी दशामें सामान्य अस्तित्वसे स्यादस्ति और विशेष अस्तित्वसे स्यान्नास्ति होने पर अवधारण निष्फल हो ही जाता है। सब प्रकारसे अस्तित्व स्वीकृत होनेपर ही नास्तित्वके निराकरणसे ही अवधारण सार्थक हो सकता है। नियम न रहने पर पुद्गलादिके अस्तित्वसे भी 'स्यादस्ति' की प्राप्ति होती है अतः एकान्तवादीको अवधारण मानना ही होगा और ऐसी स्थितिमें पूर्वोक्त दोष आता है।

'जो अस्ति है वह अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे, इतर द्रव्यादिसे नहीं क्योंकि वे अप्रस्तुत हैं। जैसे घड़ा पार्थिव रूपसे, इस क्षेत्रसे, इस कालकी दृष्टिसे तथा अपनी वर्तमान पर्यायोंसे 'अस्ति' है अन्यसे नहीं क्योंकि वे अप्रस्तुत हैं।' इस समाधानसे ही फलित होता है कि घड़ा स्यादस्ति और स्यान्नास्ति है। यदि नियम न माना गया तो वह घड़ा ही नहीं हो सकता क्योंकि सामान्यात्मकताके अभावमें विशेषरूपता भी नहीं टिक सकती, अथवा अनियत दव्यादिरूप होनेसे वह घड़ा ही नहीं रह सकता किंतु सर्वरूप होनेसे महा सामान्य बन जायगा। यदि घड़ा पार्थिवत्वकी तरह जलादि रूपसे भी अस्ति हो जाय तो जलादि रूप भी होनेसे वह एक सामान्य द्रव्य बन जायगा न कि घड़ा। यदि इस क्षेत्रकी तरह अन्य समस्त क्षेत्रोंमें भी घड़ा अस्ति हो जाय तो वह घड़ा नहीं रह पायगा किन्तु आकाश बन जायगा। यदि इस कालकी तरह अतीत अनागत कालसे भी वह 'अस्ति' हो तो भी घड़ा नहीं रह सकता किन्तु त्रिकालानुयायी होनेसे मृद् द्रव्य बन जायगा, फिर तो जिस प्रकार इस देश काल रूपसे हमलोगोंके प्रत्यक्ष है और अर्थक्रियाकारी है उसीतरह अतीत अनागतकाल तथा सभी देशोंमें उसकी प्रत्यक्षता तथा तत्सम्बन्धी अर्थक्रियाकारिता होनी चाहिये। इसी तरह जैसे वह नया है उसी तरह पुराने या सभी रूप रस गन्ध स्पर्श संख्या संस्थान आदिकी दृष्टिसे भी 'अस्ति' हो तो वह घड़ा नहीं रह जायगा किन्तु सर्वव्यापी होनेसे महासत्ता बन जायगा। इसी तरह मनुष्य जीव भी स्वद्रव्य क्षेत्र काल भावकी दृष्टिसे ही 'अस्ति' है अन्यरूपों से नास्ति है। यदि मनुष्य अन्य रूपसे भी 'अस्ति' हो जाय तो वह मनुष्य ही नहीं रह सकता, महासामान्य हो जायगा। इसी तरह अनियत क्षेत्र आदि रूपसे 'अस्ति' माननेमें अनियतरूपता का प्रसंग आता है।

स्वसद्भाव और पर-अभाव के अधीन जीव का स्वरूप होनेसे वह उभयात्मक है। यदि जीव परसत्ताके अभावकी अपेक्षा न करे तो वह जीव न होकर सन्मात्र हो जायगा। इसी तरह परसत्ताके अभावकी अपेक्षा होने पर भी स्वसत्ताका सद्भाव न हो तो वह वस्तु ही नहीं हो सकेगा, जीव होनेकी बात तो दूर ही रही। अतः परका अभाव भी स्वसत्ता सद्भावसे ही वस्तुका स्वरूप बन सकता है। जैसे अस्तित्व धर्म अस्तित्व रूपसे ही है नास्तित्व

रूपसे नहीं, अतः उभयात्मक है। अन्यथा वस्तुका अभाव ही हो जायगा क्योंकि अभाव, भावनिरपेक्ष होकर सर्वथा शून्यका ही प्रतिपादन करेगा तथा भाव अभावरूपसे निरपेक्ष रहकर सर्वसन्मात्ररूप वस्तुको कहेगा। सर्वथा सत् या सर्वथा अभाव रूपसे वस्तुकी स्थिति तो है नहीं। क्या कभी वस्तु सर्वभावात्मक या सर्वसत्तात्मक देखी गई है ? वैसी वस्तु ही नहीं हो सकती क्योंकि वह खरविषाणकी तरह सर्वाभाव रूप है। जब वस्तुत्व श्रावणत्वकी तरह सपक्ष विपक्ष दोनोंसे व्यावृत्त होनेके कारण असाधारण हो गया तब उसका बोध होना भी कठिन है। वस्तुमें क्रियागुण व्यपदेशका अभाव होनेसे भावविलक्षणताके कारण अभावता आती है तथा भावता अभाव वैलक्षण्यसे। इस तरह भावरूपता और अभाव रूपता दोनों परस्पर सापेक्ष हैं अभाव अपने सद्भाव तथा भावके अभावकी अपेक्षा सिद्ध होता है तथा भाव स्वसद्भाव और अभावके अभावकी अपेक्षासे। यदि अभावको एकांतसे अस्ति स्वीकार किया जाय तो जैसे वह अभावरूपसे अस्ति है उसी तरह भावरूपसे भी 'अस्ति' हो जानेके कारण भाव और अभावमें स्वरूपसांकर्य हो जायगा। यदि अभावको सर्वथा 'नास्ति' माना जाय तो जैसे वह भावरूपसे 'नास्ति' है उसी तरह अभावरूपसे भी 'नास्ति' होनेसे अभावका सर्वथा लोप होनेके कारण भावमात्र ही जगत् रह जायगा। और इस तरह खपुष्प आदि भी भावात्मक हो जायंगे। अतः घटादिक भाव स्यादस्ति और स्यान्नास्ति हैं। इस तरह घटादि वस्तुओंमें भाव और अभावको परस्पर सापेक्ष होनेसे प्रतिवादीका यह कथन कि 'अर्थ या प्रकरणसे जब घटमें पटादिकी सत्ताका प्रसंग ही नहीं है तब उसका निषेध क्यों करते हो ?' अयुक्त हो जाता है।

किंच, अर्थ होनेके कारण सामान्यरूपसे घटमें पटादि अर्थोंकी सत्ताका प्रसंग प्राप्त है ही, यदि उसमें हम विशिष्ट घटरूपता स्वीकार करना चाहते हैं तो वह पटादिकी सत्ता का निषेध करके ही आ सकती है। अन्यथा वह घट नहीं कहा जा सकता क्योंकि पटादि रूपोंकी व्यावृत्ति न होनेसे उसमें पटादि रूपता भी उसी तरह मौजूद है।

घटमें जो पटादिका 'नास्तित्व' है वह भी घड़ेका ही धर्म है, वह उसकी स्वपर्याय है। हाँ, परकी अपेक्षा व्यवहारमें आनेसे परपर्याय उपचारसे कही जाती है।

प्रश्न–'अस्त्येव जीवः' यहाँ 'अस्ति' शब्दके वाच्य अर्थ से जीव शब्दका वाच्य अर्थ भिन्न स्वभाववाला है, या अभिन्न स्वभाववाला ? यदि अभिन्न स्वभाव है, तो इसका यह अर्थ हुआ कि जो 'सत्' है वही जीव है, उसमें अन्य धर्म नहीं हैं। तब उनमें परस्पर सामानाधिकरण्य विशेषण-विशेष्य भाव आदि नहीं हो सकेंगे, तथा दोनों शब्दोंका प्रयोग भी नहीं होना चाहिये। जिस तरह 'सत्त्व' सर्व द्रव्य और पर्यायोंमें व्याप्त है उसी तरह उससे अभिन्न जीव भी व्याप्त होगा। तात्पर्य यह कि संसारके सब पदार्थोंमें एक जीवरूपताका प्रसंग आयगा। जीवमें सामान्य सत्स्वभाव होनेसे जीवके चैतन्य ज्ञानादि क्रोधादि नारकत्वादि सभी पर्यायोंका अभाव हो जायगा। अथवा, अस्तित्व जब जीवका स्वभाव हो गया, तब पुद्गलादिकमें 'सत्' यह प्रत्यय नहीं करा सकेगा। यदि उक्त दोषसे बचनेके लिए अस्ति शब्दके वाच्य अर्थसे जीव शब्दका वाच्य अर्थ भिन्न माना जाता है तो जीव स्वयं असद्रूप हो जायगा। कहा जा सकता है कि जीव असद्रूप है क्योंकि वह अस्ति शब्दके वाच्य अर्थसे भिन्न है जैसे कि खरविषाण। ऐसी दशामें जीवाश्रित बन्ध मोक्ष आदि सभी व्यवहार नष्ट हो जायँगे। और जिस तरह अस्तित्व जीवसे भिन्न है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसी तरह अन्य पुद्गलादिसे भी भिन्न होगा, तात्पर्य यह कि सर्वथा निराश्रय होनेसे उसका अभाव ही हो जायगा। किंच, अस्तित्वसे भिन्न स्वभाववाले जीवका फिर क्या स्वरूप रह जाता है ? जिसे भी आप स्वभाव कहोगे वह सब असद्रूप ही होगा।

उत्तर–'अस्ति' शब्दके वाच्य अर्थसे जीव शब्दका वाच्य अर्थ कथंचित् भिन्न रूप है तथा कथंचित् अभिन्न रूप। पर्यायार्थिक नयसे भवन और जीवन पर्यायोंमें भेद होनेसे दोनों शब्द भिन्नार्थक हैं। द्रव्यार्थिक दृष्टिसे दोनों अभिन्न हैं, जीवके ग्रहणसे तद्भिन्न अस्तित्वका भी ग्रहण होता ही है अतः पदार्थ स्यात् अस्ति और स्यान्नास्ति रूप हैं।

अर्थ अभिधान और प्रत्ययोंकी अस्ति और नास्ति उभयरूपसे प्रसिद्धि होनेके कारण भी पदार्थ अस्ति-नास्ति रूप है। जीव अर्थ जीवशब्द और जीव प्रत्यय ये तीनों अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। लोकमें प्रचलित वाच्यवाचक भाव और ज्ञेयज्ञायक भाव तीनोंके अस्तित्वके साक्षी हैं। शून्यवाद या शब्दाद्वैतवाद मानकर इनका निषेध करना उचित नहीं है। अतः प्रत्येक पदार्थ स्यादस्ति और स्यान्नास्ति रूप है। इनमें द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकको तथा पर्यायार्थिक द्रव्यार्थिकको अपनेमें अन्तर्भूत करके व्यापार करता है अतः दोनों ही भंग सकलादेशी हैं।

जब दो गुणोंके द्वारा एक अखंड अर्थकी युगपत् विवक्षा होती है तो तीसरा अवक्तव्य भंग होता है। जैसे प्रथम और द्वितीय भंगमें एककालमें एक शब्दसे एक गुणके द्वारा समस्त वस्तुका कथन हो जाता है उस तरह जब दो प्रतियोगी गुणोंके द्वारा अवधारण रूपसे युगपत् एक कालमें एक शब्दसे समस्त वस्तुके कहनेकी इच्छा होती है तो वस्तु अवक्तव्य हो जाती है क्योंकि वैसा शब्द और अर्थ नहीं है। गुणोंके युगपद्भावका अर्थ है कालादिकी दृष्टिसे अभेदवृत्ति।

वे कालादि आठ हैं--काल आत्मरूप अर्थ सम्बन्ध उपकार गुणिदेश संसर्ग और शब्द। जिस कारण गुण परस्पर विरुद्ध हैं अतः उनकी एक कालमें किसी एक वस्तुमें वृत्ति नहीं हो सकती अतः सत्त्व और असत्त्वका वाचक एक शब्द नहीं है। एक वस्तुमें सत्त्व और असत्त्व परस्पर भिन्न रूपमें हैं उनका एक स्वरूप नहीं है जिससे वे एक शब्दके द्वारा युगपत् कहे जा सकें। परस्पर विरोधी सत्त्व और असत्त्वकी एक अर्थमें वृत्ति भी नहीं हो सकती जिससे अभिन्न आधार मानकर अभेद और युगपद्भाव कहा जाय तथा किसी एक शब्दसे उनका प्रतिपादन हो सके। सम्बन्धसे भी गुणोंमें अभिन्नताकी संभावना नहीं है क्योंकि सम्बन्ध भिन्न होता है। देवदत्त और दंडका सम्बन्ध यज्ञदत्त और छत्रके सम्बन्धसे जुदा है ही। जब कारणभूत सम्बन्धी भिन्न हैं तब कार्यभूत सम्बन्ध एक नहीं हो सकता। इसी तरह सत्त्व और असत्त्वका पदार्थसे अपना-अपना पृथक् ही सम्बन्ध होगा, अतः सम्बन्धकी दृष्टिसे भी अभेदवृत्तिकी संभावना नहीं है। समवायको भी संयोगकी तरह विशेषणभेदसे भिन्न ही होना चाहिये। उपकार-दृष्टिसे भी गुण अभिन्न नहीं हैं, क्योंकि द्रव्यमें अपना प्रत्यय या विशिष्ट व्यवहार कराना रूप उपकार प्रत्येक गुणका जुदा-जुदा है। नील घटमें नीलानुराग और नील प्रत्यय उत्पन्न करता है जब कि पीत पीतानुराग और पीत प्रत्यय। इसी तरह सत्त्व सत् प्रत्यय कराता है और असत्त्व असत्प्रत्यय। अतः उपकारकी दृष्टिसे भी अभेदवृत्ति नहीं बन सकती। फिर गुणीका उपकार एक देशसे नहीं होता जिससे एक देशोपकारक होनेसे उनमें अभेदरूपता लाई जाय। एकान्त पक्षमें गुणोंसे संसृष्ट अनेकात्मक रूप नहीं है। जब शुक्ल और कृष्ण वर्ण परस्पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिन्न हैं तब उनका संसृष्ट रूप एक नहीं हो सकता जिससे एक शब्दसे कथन हो सके।

कोई एक शब्द या पद दो गुणोंको युगपत् नहीं कह सकता। यदि कहे तो 'सत्' शब्द सत्त्वकी तरह असत्त्वका भी कथन करेगा तथा 'असत्' शब्द सत्त्वका। पर ऐसी लोक-प्रतीति नहीं है क्योंकि प्रत्येकके वाचक शब्द जुदा-जुदा हैं। इस तरह कालादिकी दृष्टिसे युगपद्भावकी सम्भावना नहीं है तथा उभयवाची कोई एक शब्द है नहीं अतः वस्तु अवक्तव्य है। अथवा, शब्दमें वस्तुके तुल्य बलवाले दो धर्मोंका मुख्य रूपसे युगपत् कथन करनेकी शक्यता न होनेसे, या परस्पर शब्द प्रतिबन्ध होनेसे निर्गुणत्वका प्रसंग होनेसे तथा विवक्षित उभय धर्मोंका प्रतिपादन न होनेसे वस्तु अवक्तव्य है। यह भी सकलादेश है, क्योंकि परस्पर अवधारित दो मुख्य गुणोंसे अखण्ड वस्तुको समस्त रूपसे कहनेकी इच्छा है। यह अखंडता एक गुण रूपसे अभेद वृत्तिके द्वारा या अभेदोपचारसे बन जाती है। यह अवक्तव्य शब्दके द्वारा अन्य छह भंगोंके द्वारा वक्तव्य होनेसे 'स्यात्' अवक्तव्य है सर्वथा नहीं। यदि सर्वथा अवक्तव्य हो जाय तो 'अवक्तव्य' शब्दके द्वारा भी उसका कथन नहीं हो सकता। ऐसी दशामें बन्ध मोक्षादिकी प्रक्रियाका निरूपण निरर्थक हो जाता है।

जब दोनों धर्मोंकी क्रमशः मुख्य रूपसे विवक्षा होती है तब उनके द्वारा समस्त वस्तुका ग्रहण होनेसे चौथा भी भंग सकलादेशी होता है। यह भी 'कथञ्चित्' ही समझना चाहिए। यदि सर्वथा उभयात्मक हो तो परस्पर विरोध दोष तथा उभय दोषका प्रसंग होता है। इनका निरूपण इस प्रकार होता है–

१—सर्वसामान्य और तदभावसे। पदार्थ दो प्रकारके हैं एक श्रुतिगम्य और दूसरे अर्थाधिगम्य। श्रुतिमात्रसे बोधित श्रुतिगम्य है तथा अर्थ प्रकरण अभिप्राय आदिसे कल्पित अर्थाधिगम्य है। 'आत्मा अस्ति' यहाँ सभी प्रकारके अवान्तर भेदोंकी विवक्षा न रहने पर सर्वविशेषव्यापी सन्मात्रकी दृष्टिसे उसमें 'अस्ति' व्यवहार होता है और उसके प्रतिपक्षी अभाव सामान्यसे 'नास्ति' व्यवहार होता है। जब इन्हीं दृष्टियोंसे ये दोनों धर्म युगपत् विवक्षित होते हैं तो वस्तु अवक्तव्य और क्रमशः विवक्षित होनेपर उभयात्मक है।

२—विशिष्ट सामान्य और तदभावसे। आत्मा आत्मत्व रूप विशिष्ट सामान्यकी दृष्टिसे 'अस्ति' है और अनात्मत्वकी दृष्टिसे 'नास्ति' है। युगपत् उभय विवक्षामें अवक्तव्य तथा क्रमशः उभय विवक्षामें उभयात्मक है।

३—विशिष्ट सामान्य और तदभाव सामान्यसे। आत्मा 'आत्मत्व' रूपसे 'अस्ति' है तथा पृथिवी जल घट पट आदि सब प्रकारसे अभाव सामान्य रूपसे 'नास्ति' है। युगपत् उभय विवक्षामें अवक्तव्य और क्रम विवक्षामें उभयात्मक है।

४—विशिष्ट सामान्य और तद्विशेषसे। आत्मा 'आत्मत्व' रूपसे 'अस्ति' है और आत्मविशेष 'मनुष्य' रूपसे 'नास्ति' है। युगपत् विवक्षामें अवक्तव्य और क्रम-विवक्षामें उभयात्मक है।

५—सामान्य और विशिष्ट सामान्यसे। सामान्य दृष्टिसे द्रव्यत्व रूपसे आत्मा 'अस्ति' है और विशिष्ट सामान्यके अभाव रूप अनात्मत्वसे 'नास्ति' है। युगपत् उभय विवक्षामें अवक्तव्य और क्रम विवक्षामें उभयात्मक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

। ६—द्रव्य सामान्य और गुणसामान्यसे। द्रव्यत्व रूपसे आत्मा 'अस्ति' है तथा प्रतियोगि गुणत्वकी दृष्टिसे 'नास्ति' है। युगपत् उभय विवक्षामें अवक्तव्य और क्रमशः उभय विवक्षामें उभयात्मक है।

७—धर्मसमुदाय और तद्व्यतिरेकसे। त्रिकाल गोचर अनेकशक्ति तथा ज्ञानादि धर्म समुदाय रूपसे आत्मा 'अस्ति' है तथा तदभाव रूपसे 'नास्ति' है। युगपत् उभय विवक्षा में अवक्तव्य और क्रमशः उभय विवक्षामें उभयात्मक है।

८—धर्म सामान्य सम्बन्धसे और तदभावसे। ज्ञानादि गुणोंके सामान्य सम्बन्ध की दृष्टिसे आत्मा 'अस्ति' है तथा किसी भी समय धर्मसामान्य सम्बन्धका अभाव नहीं होता अतः तदभावकी दृष्टिसे 'नास्ति' है। युगपत् विवक्षामें अवक्तव्य और क्रमविवक्षामें उभयात्मक है।

९—धर्मविशेष सम्बन्ध और तदभावसे। किसी विवक्षित धर्मके सम्बन्धकी दृष्टि से आत्मा 'अस्ति' है तथा उसीके अभाव रूपसे 'नास्ति' है। जैसे आत्मा नित्यत्व या चेतनत्व किसी अमुक धर्मके सम्बन्धसे 'अस्ति' है और विपक्षी धर्मसे 'नास्ति' है। युगपत् उभय विवक्षामें अवक्तव्य है और क्रमविवक्षामें उभयात्मक है।

पाँचवाँ भंग तीन स्वरूपोंसे द्व्यात्मक होता है। अनेक द्रव्य और अनेक पर्यायात्मक जीवके किसी द्रव्यार्थ विशेष या पर्यायार्थ विशेषकी विवक्षामें एक आत्मा 'अस्ति' है, वही पूर्व विवक्षा तथा द्रव्यसामान्य और पर्यायसामान्य या दोनोंकी युगपदभेद विवक्षामें वचनोंके अगोचर होकर अवक्तव्य हो जाता है। जैसे आत्मा द्रव्यत्व जीवत्व या मनुष्यत्व रूपसे 'अस्ति' है तथा द्रव्यपर्याय सामान्य तथा तदभावकी युगपत् विवक्षामें अवक्तव्य है। इस तरह 'स्यादस्ति अवक्तव्य' भंग बनता है। यह भी विवक्षासे अखंड वस्तुको ग्रहण करनेके कारण सकलादेश है क्योंकि इसने एक अंशरूपसे समस्त वस्तुको ग्रहण किया है।

छठवाँ भंग भी तीन स्वरूपोंसे दो अंशवाला होता है। वस्तुगत नास्तित्व ही जब अवक्तव्य रूपसे अनुबद्ध होकर विवक्षित होता है तब यह भंग बनता है। नास्तित्व पर्याय-की दृष्टिसे है। पर्यायें दो प्रकारकी हैं—एक सहभाविनी और दूसरी क्रमभाविनी। गति इन्द्रिय काय योग वेद कषाय आदि सहभाविनी तथा क्रोध मान बाल्य यौवन आदि क्रम-भाविनी पर्यायें हैं। गत्यादि और क्रोधादि पर्यायोंसे भिन्न कोई एक अवस्थायी जीव नहीं है, किन्तु ये ही क्रमिक-पर्यायें जीव कही जाती हैं। जो वस्तुत्वेन 'सत्' है वही द्रव्यांश है तथा जो अवस्तुत्वेन 'असत्' है वही पर्यायांश है। इन दोनोंकी युगपत् अभेद विवक्षामें वस्तु अवक्तव्य है। इस तरह आत्मा नास्ति अवक्तव्य है। यह भी सकलादेश है क्योंकि विव-क्षित धर्मरूपसे अखण्ड वस्तुको ग्रहण करता है।

सातवाँ भङ्ग चार स्वरूपोंसे तीन अंशवाला है। किसी द्रव्यार्थ विशेषकी अपेक्षा अस्तित्व किसी पर्यायविशेषकी अपेक्षा 'नास्तित्व' होता है तथा किसी द्रव्यपर्याय विशेष और द्रव्यपर्याय सामान्यकी युगपत् विवक्षामें वही अवक्तव्य भी हो जाता है। इस तरह अस्ति नास्ति अवक्तव्य भंग बन जाता है। यह भी सकलादेश है क्योंकि इसने विवक्षित-धर्मरूपसे अखण्ड समस्त वस्तुका ग्रहण किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ २५ निरंश वस्तुमें गुणभेदसे अंशकल्पना करना विकलादेश है। स्वरूपसे अविभागी अखंड सत्ताक वस्तुमें विविध गुणोंकी अपेक्षा अंश कल्पना करना अर्थात् अनेकत्व और एकत्वकी व्यवस्थाके लिए मूलतः नरसिंहमें सिंहत्वकी तरह समुदायात्मक वस्तुस्वरूपको स्वीकार करके ही काल आदिकी दृष्टिसे परस्पर विभिन्न अंशोंकी कल्पना करना विकलादेश है। केवल सिंहमें सिंहत्वकी तरह एकमें एकांशकी कल्पना विकलादेश नहीं हैं। जैसे दाडिम कर्पूर आदिसे बने हुए शर्बतमें विलक्षण रसकी अनुभूति और स्वीकृतिके बाद अपनी पहचान शक्तिके अनुसार 'इस शर्बतमें लायची भी है, कर्पूर भी है' इत्यादि विवेचन किया जाता है उसी तरह अनेकान्तात्मक एक वस्तुकी स्वीकृतिके बाद हेतुविशेषसे किसी विवक्षित अंशका निश्चय करना विकलादेश है। अखंड भी वस्तुमें गुणोंसे भेद होता है जैसे 'गतवर्ष आप पटु थे, इस वर्ष पटुतर हैं' इस प्रयोगमें अवस्थाभेदसे तदभिन्न द्रव्यमें भेद व्यवहार होता है। गुणभेदसे गुणिभेदका होना स्वाभाविक ही है।

§ २६ विकलादेशमें भी सप्तभंगी होती है। गुणभेदक अंशोंमें क्रम, यौगपद्य तथा क्रम-यौगपद्य दोनोंसे विवक्षाके वश विकलादेश होते हैं। प्रथम और द्वितीय भंगमें स्वतंत्र क्रम, तीसरेमें यौगपद्य, चौथेमें संयुक्त क्रम, पांचवें और छठें भंगमें स्वतंत्र क्रमके साथ यौगपद्य तथा सातवें भंगमें संयुक्त क्रम और यौगपद्य हैं। सर्वसामान्य आदि किसी एक द्रव्यार्थ-दृष्टिसे 'स्यादस्त्येव आत्मा' यह पहिला विकलादेश है। इस भंगमें अन्य धर्म यद्यपि वस्तुमें विद्यमान हैं तो भी कालादिकी अपेक्षा भेदविवक्षा होनेसे शब्दवाच्यत्वेन स्वीकृत नहीं हैं अतः न उनका विधान ही है और न प्रतिषेध ही। इसी तरह अन्य भंगोंमें भी स्वविवक्षित धर्मकी प्रधानता होती है और अन्य धर्मोंके प्रति उदासीनता, न तो उनका विधान ही होता है और न उनका प्रतिषेध ही।

प्रश्न--जब आप 'अस्त्येव' इस तरह विशेषण-विशेष्यके नियमनको एवकार देते हो तब अर्थात् ही इतरकी निवृत्ति हो जाती है ? उदासीनता कहाँ रही ?

उत्तर--इसीलिए शेष धर्मोंके सद्भावको द्योतन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। एवकारसे जब इतरनिवृत्तिका प्रसंग प्रस्तुत होता है तो सकल लोप न हो जाय इसलिए 'स्यात्' शब्द विवक्षित धर्मके साथ ही साथ अन्यधर्मोंके सद्भावकी सूचना दे देता है। इस तरह अपुनरुक्त रूपसे अधिकसे अधिक सात प्रकारके वचन हो सकते है। यह सब द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंकी विवक्षासे होता है। ये नय संग्रह और व्यवहार रूप होते हैं शब्द नय और अर्थनय रूपसे भी इनके विभाग हैं। संग्रह व्यवहार और ऋजुसूत्र अर्थनय है तथा शब्द समभिरूढ़ और एवंभूत शब्दनय है। संग्रहनय सत्ताको विषय करता है, वह समस्त वस्तुतत्त्वका सत्तामें अन्तर्भाव करके अभेद रूपसे संग्रह करता है। व्यवहारनय असत्त्वको विषय करता है क्योंकि वह उन परस्पर भिन्न सत्त्वोंको ग्रहण करता है जिनमें एक दूसरेका असत्त्व अन्तर्भूत है। ऋजुसूत्रनय वर्तमान क्षणवर्ती पर्यायको जानता है। इसकी दृष्टिमें अतीत और अनागत चूंकि विनष्ट और अनुत्पन्न हैं, अतः उनसे व्यवहार नहीं हो सकता। ये तीनों अर्थनय मिलकर तथा एकाकी रहकर सात प्रकारके भंगोंको उत्पन्न करते हैं। पहिला संग्रह दूसरा व्यवहार, तीसरा अविभक्त (युगपद् विवक्षित) संग्रह व्यवहार, चौथा समुच्चित (क्रम विवक्षित समुदाय) संग्रह व्यवहार, पांचवां संग्रह और अविभक्त संग्रह व्यवहार, छठवां व्यवहार और अविभक्त संग्रह व्यवहार तथा सातवां समुदित संग्रह व्यवहार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और अविभक्त संग्रह व्यवहार। शब्दनय व्यंजन पर्यायोंको विषय करते हैं। वे अभेद तथा भेद दो प्रकारके वचन प्रयोगको सामने लाते हैं। शब्दनयमें पर्यायवाची विभिन्न शब्दोंका प्रयोग होनेपर भी उसी अर्थका कथन होता है, अतः अभेद है। समभिरूढ़नयमें घटनक्रियामें परिणत या अपरिणत, अभिन्न ही घटका निरूपण होता है। एवंभूतमें प्रवृत्तिनिमित्तसे भिन्न ही अर्थका निरूपण होता है। अथवा एक अर्थमें अनेक शब्दोंकी प्रवृत्ति या प्रत्येकमें स्वतंत्र शब्दोंका प्रयोग, इस तरह भी दो प्रकार हैं। शब्दनयमें अनेक पर्यायवाची शब्दोंका वाच्य एक ही होता है। समभिरूढ़में चूंकि शब्द नैमित्तिक है अतः एक शब्दका वाच्य एक ही होता है। एवंभूत वर्तमान निमित्तको पकड़ता है अतः उसके मतसे भी एक शब्दका वाच्य एक ही है।

§ २७ इन परस्पर विरुद्ध सरीखे दिखनेवाले धर्मोंमें नयदृष्टिसे योजना करनेपर कोई विरोध नहीं रहता। विरोध तीन प्रकारका है-१ वध्यघातक भाव, २ सहानवस्थान, ३ प्रतिबन्ध्य प्रतिबन्धक भाव। वध्यघातक भाव विरोध सर्प और नकुल या अग्नि और जलमें होता है। यह दो विद्यमान पदार्थोंमें संयोग होनेपर होता है, संयोगके बाद जो बलवान् होता है वह निर्बलको बाधित करता है। अग्निसे असंयुक्त जल अग्निको नहीं बुझा सकता। परन्तु आप अस्तित्व और नास्तित्वकी एक वस्तुमें क्षणमात्र भी वृत्ति नहीं मानना चाहते अतः यह विरोध कैसे होगा? यदि दोनोंकी एक वस्तुमें युगपत् वृत्ति स्वीकार करते हो तो जब दोनों धर्म तुल्य हेतुक और समान बलशाली हैं तब एक दूसरेको कैसे बाध सकता है? जिससे इनमें बध्यघातक विरोध माना जाय। दूसरा सहानवस्थान विरोध एक वस्तुकी क्रमसे होनेवाली दो पर्यायोंमें होता है। नयी पर्याय उत्पन्न होती है तो पूर्वपर्याय नष्ट हो जाती है। जैसे आमका हरा रूप नष्ट होता है और पीतरूप उत्पन्न होता है। किन्तु अस्तित्व और नास्तित्व वस्तुमें क्रमिक नहीं हैं। यदि ये क्रमभावी होते तो अस्तित्वकालमें नास्तित्व और नास्तित्वकालमें अस्तित्वका अभाव प्राप्त होगा। ऐसी दशामें नास्तित्वका अभाव होनेपर जीवमात्र जगत् हो जायगा। और अस्तित्वके अभावमें शून्यताका प्रसङ्ग आयगा, और समस्त बन्ध मोक्षादि व्यवहारका उच्छेद हो जायगा। सर्वथा असत्की उत्पत्ति और सत्का सर्वथा विनाश नहीं हो सकता। अतः यह विरोध भी अस्तित्व-नास्तित्वमें नहीं हो सकता। प्रतिबन्ध्य प्रतिबन्धक भाव विरोध भी इनमें नहीं है। जैसे आमका फल जब तक डालमें लगा हुआ है तब तक फल और डंठलका संयोग रूप प्रतिबन्धकके रहनेसे गुरुत्व मौजूद रहने पर भी आमको नीचे नहीं गिराता। जब संयोग टूट जाता है तब गुरुत्व फल को नीचे गिरा देता है। 'संयोग' के अभावमें गुरुत्व पतनका कारण होता है, यह सिद्धान्त है। परन्तु यहाँ न तो अस्तित्व नास्तित्वके प्रयोजनका प्रतिबन्ध करता है और न नास्तित्व अस्तित्व के। अस्तित्वकालमें ही परकी अपेक्षा 'नास्ति' बुद्धि होती है तथा नास्तित्वके समय ही स्वापेक्षया अस्तित्व बुद्धि और व्यवहार होता है। इस तरह विवक्षाभेदसे जीवादिपदार्थ एकानेकात्मक हैं।

चतुर्थ अध्याय समाप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुद्रक—जय्यद प्रेस, बल्लीमारान, दिल्ली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org